ध्वन्यालोकः

आचार्य जगन्नाथ पाठक

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

९७

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचितः

ध्वन्यालोकः

श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित-'लोचन'-सहितः

सटिप्पण 'प्रकाश'-हिन्दीव्याख्योपेतश्च

हिन्दी व्याख्याकार—

आचार्य जगन्नाथ पाठक एम० ए०

(साहित्यशास्त्राचार्य, साहित्यरत्न)

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी २२१००१

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पोस्ट बाक्स नं० ६९

वाराणसी २२१००१

दूरभाष : {३२०४०४ दूकान
{३३३४३१ निवास

पुनर्मुद्रित संस्करण २००३

मूल्य	सम्पूर्ण	१८०.००
	प्रथम उद्योत	६०.००
	१-२ उद्योत	१००.००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक

फूल प्रिन्टर्स

वाराणसी

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

97

DHVANYALOKA

OF

SRI ANANDAVARDHANACHARYA

with

THE LOCHANA SANSKRIT COMMENTARY

OF

Sri Abhinavagupta

and

THE PRAKASA HINDI TRANSLATION

OF BOTH THE TEXTS

&

EXHAUSTIVE NOTES

By

Acharya Jagannath Pathak

M. A.

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

कविता और तर्क के विलक्षण सामरस्य

प्रातःस्मरणीय गुरुवर

श्री स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज

[पूर्वाश्रम के : कवितार्किक चक्रवर्ती श्रीयुत पं० महादेवशास्त्री जी]

को

सविनय

अन्योन्यस्मिन् स्फुरदभिनवाद्वैतसम्बन्धभावं
तत्त्वं साक्षान्मिलितमिव वागर्थयोस्तत्त्वदृष्ट्या ।
यद्वा साम्यं हिमगिरिसुताशर्वयोर्भूतये न-
स्तत् सम्भूयात् किमपि कवितातर्कयोः सामरस्यम् ॥

पश्यन्ती

'ध्वनिनाऽतिगभीरेण काव्यतत्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः'॥

राजशेखर : जल्हणसंकलित 'सूक्तिमुक्तावली'

'ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्'—

पण्डितराज : रसगङ्गाधर

ध्वन्यालोक

ध्वन्यालोक भारतीय साहित्यशास्त्र का महनीयतम निर्माण है। यह एक आलोक-स्तम्भ की भांति अपने चतुर्दिक् आलोक विकीर्ण करके काव्य के अनुन्मीलितपूर्व आभ्यन्तर पक्षों को आलोकित करता हुआ आज भी चिरनवीन बना हुआ है। जैसा कि पण्डितों का कहना है, ध्वन्यालोक का अलङ्कार-साहित्य में वही स्थान है जो व्याकरण में पाणिनि के सूत्रग्रन्थ का और वेदान्त में वेदान्तसूत्र का।

यह प्रमाणित सत्य है कि चाहे विचार का कोई क्षेत्र हो, जब भी स्थूल का आधिपत्य हुआ, तभी सूक्ष्म ने उसके विपरीत या विरोध में क्रान्ति की। दर्शन में कभी स्थूलदर्शी चार्वाकों का बहुत जोर था, इसके विरोध में आचार्य शङ्कर द्वारा सूक्ष्म वैदान्तिक आत्मवाद की प्रतिष्ठा हुई। इसी प्रकार साहित्य में भामह, दण्डी, उद्भट, वामन प्रभृति आचार्यों के सामने काव्य का स्थूल शरीर-पक्ष प्रधान बना रहा। जब आचार्य भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कह कर स्पष्टतः शब्द-अर्थ को काव्य का शरीर स्वीकार किया, तब इस काव्य-शरीर के शोभाधायक तत्त्वों में गुण, अलङ्कार, रीति तथा वृत्तियाँ स्वीकार की गईं। इन सभी में अलङ्कार को काव्य के सौन्दर्य के लिए अनिवार्य स्वीकार किया गया (काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्···सौन्दर्यमलङ्कारः—वामन)। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के बल पर ही व्यापक अर्थ में समग्र साहित्यशास्त्र को 'अलङ्कार-शास्त्र' एवं साहित्यिक आचार्यों को 'आलङ्कारिक' कहने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। 'साहित्य' शब्द काव्य के क्षेत्र में भामह के 'सहितौ' प्रयोग से शब्द और अर्थ के सहभाव या साहचर्य के आधार पर प्रचलित हुआ जान पड़ता है। इस प्रकार साहित्य में शरीरवाद के विपक्ष में आत्मवाद की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से ध्वन्यालोक का निर्माण हुआ। इसका आकलनीय सङ्केत 'लोचन' टीका में आचार्य अभिनवगुप्त ने कर दिया है—'वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे।' (पृ० ४४) अर्थात् चार्वाक लोग जिस प्रकार आत्मा का शरीर से पृथग्भाव मानने में विरुद्ध आपत्तियाँ उठाते हैं, उसी प्रकार जिन लोगों का हृदय वाच्य अर्थमात्र के सम्मिश्रण में विमोह की स्थिति प्राप्त कर चुका है वे वाच्य के अतिरिक्त किसी अर्थ के पृथग्भाग में सन्देह करते हैं।

ध्वन्यालोक काव्य के जिस आत्मतत्त्व की महती प्रतिष्ठापना के उद्देश्य से लिखा गया वह है, ध्वनि अर्थात् शब्द का चतुर्थकक्ष्यानिविष्ट व्यङ्ग्य अर्थ। कवि-वाणी की समग्र सार्थकता उसीके प्राधान्यतः स्फुरण में निहित होती है। यह बात भामह, उद्भट प्रभृति प्राचीन आलङ्कारिकों को उतनी स्पष्टता से विदित न थी। यद्यपि उन्हें व्यङ्ग्य अर्थ का आभास पर्यायोक्त आदि अनेक अलङ्कारों में मिल चुका था, तथापि वे वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य के चारुत्व में विश्वास न रखते थे। इस कारण उनके यहाँ व्यङ्ग्य की स्थिति वाच्यानुगत ही बनी रही। यहाँ तक कि वाच्यता के स्पर्शलेश से भी शून्य रस-भावादि तत्त्व भी उन प्राचीन आलङ्कारिकों के यहाँ रसवदादि अलङ्कार के रूप में वाच्य के शोभाहेतु ही बने रहे।

तब किसी ऐसे विशिष्ट महामेधावी आचार्य की साहित्य को आवश्यकता थी जो काव्य-शरीर के केवल शोभाहेतु तत्त्वों के निरूपण की बोझिल और बेजान परम्परा को धक्का देकर आत्मा के भास्वर रूप को आलोकित करता और काव्य के प्रकीर्ण एवं व्याकीर्ण तत्त्वों को संगत करते हुए काव्यालोचन को नई वाणी, नया वेग, नया जीवन प्रदान करता। निश्चित ही यह महनीयतम कार्य भारतीय साहित्यशास्त्र के सबसे अधिक महत्त्वशाली ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तक, ध्वन्यालोक के रचयिता श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य (नवम शताब्दी) द्वारा समग्रता के साथ सम्पन्न हुआ। साहित्य के क्षेत्र में 'ध्वनि' शब्द एक नया प्रयोग था, किन्तु स्वरूपतः उसे 'ध्वनि' के आधारभूत प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ की स्वीकृति द्वारा प्राचीन आचार्यों ने आक्षेप, अप्रस्तुत-प्रशंसा, समासोक्ति, व्याजस्तुति आदि अलङ्कारों में (अप्रधान रूप से ही) सङ्केतित कर दिया था। 'रसगङ्गाधर' के पर्यायोक्त-प्रकरण में पण्डितराज ने इसे पूर्णतः स्वीकार किया है—

'ध्वनिकारात् प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यतः समासोक्ति-व्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलङ्कारनिरूपणे कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः। अपरश्च सर्वोऽपि व्यङ्ग्यप्रपञ्चः पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्तः। न ह्यनुभवसिद्धोऽर्थो बालेनाप्यपह्नोतुं शक्यते। ध्वन्यादिशब्दैः परं व्यवहारो न कृतः। न ह्येतावतानङ्गीकारो भवति। प्राधान्यादलङ्कार्यो हि ध्वनिरलङ्कारस्य पर्यायोक्तस्य कुक्षौ कथङ्कारं निविशतामिति तु विचारान्तरम्।'

स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ने भी इसका सङ्केत इन शब्दों में कर दिया है—

'यद्यपि ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षितः।' (पृ० ३४)

इस अंश पर 'लोचन' भी सर्वथा आकलनीय है। जैसा कि लोचनकार ने स्पष्ट करते हुए लेखा है कि उद्भट और वामन आदि आचार्यों ने ध्वनि का दिगुन्मीलन कर दिया था, क्योंकि भामहविवरण' (अप्राप्त) नामक अपने ग्रन्थ में भट्ट उद्भट ने भामह के 'शब्दाश्छन्दोभिधानार्थाः' के व्याख्यान में कहा है—'शब्दों का अभिधान या अभिधा व्यापार दो प्रकार का होता है, मुख्य और गुणवृत्ति।' इसी प्रकार 'वामन' भी लिखते हैं—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' अर्थात् सादृश्य के कारण (सादृश्य से गर्भित होने से) लक्षणा 'वक्रोक्ति' कहलाती है। इस प्रकार अमुख्य व्यापार और सादृश्य की ओर प्रवृत्ति से विदित होता है कि प्राचीन आचार्य व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति गतिशील हो चुके थे, वाच्य अर्थ की सीमा उन्हें पसंद न थी, फिर भी वे उस सीमा को तोड़ न सके।

प्राचीनों के यहाँ एकमात्र वाच्य को मूल केन्द्र में रख कर ही तथा उसकी प्रायः सीमा में ही काव्य के विविध तत्त्वों की सार्थकता का परीक्षण किया गया। इसलिए वाच्य के प्राधान्य में चमत्कार का कुछ इस प्रकार उन्हें व्यामोह था कि वे काव्य के बाह्य शरीर के अलङ्करण को ही काव्य का सर्वस्व समझ बैठे थे, किन्तु जब कवि-वाणी के आभ्यन्तर चमत्कार पर ध्वनिकार की दृष्टि गई तब उनके यहाँ शब्द और अर्थ के बाह्य विधानों के सारे रूप एकबारगो शिथिल हो गए और रामायण, महाभारत प्रभृति ग्रन्थों में सर्वत्र अभिनव प्रतीयमान अर्थ स्फुरित होने लगा। ध्वनिकार को ऐसा अनुभव हुआ कि वह प्रतीयमान अर्थ कुछ इस प्रकार है जैसे घंटा का अनुरणन। बस, क्या था, उन्होंने इसी आधार पर उस अर्थ की संज्ञा 'ध्वनि' रख दी तथा इसके प्रमाणस्वरूप उन्हें विद्वान् वैयाकरणों के यहाँ अनुकूल संकेत भी मिल गया। वैयाकरण लोग श्रूयमाण वर्णों में 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार करते थे। इतना ही नहीं, शब्द और अर्थ के बाह्य समग्र रूपों और विच्छित्तियों को अतिशयित करके प्राधान्यतः स्फुरित होने वाला वह प्रतीयमान अर्थ उसी प्रकार उन्हें बाह्य तत्त्वों से पृथक् लगा जिस प्रकार अङ्गनाओं में उनका लावण्य उनके अङ्गसंस्थान से अभिव्यङ्ग्य होकर अङ्ग से व्यतिरिक्त होता है। 'लावण्य' के सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

अर्थात् मुक्ताओं में 'आब' के रूप में जो छाया की तरलता सी कुछ झलकती-दिपती रहती है वही अङ्गों में 'लावण्य' कहलाती है।

ध्वनिकार लिखते हैं—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥ पृ० ४७

अर्थात् महाकवियों की वाणियों में वह प्रतीयमान कुछ और ही है जो वह प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त रूप में अङ्गनाओं में लावण्य की भांति भासित होता है।

यही नहीं, उस प्रतीयमान अर्थ की छाया, स्त्रियों की लज्जा की भांति, महाकवियों की अलङ्कार-सम्पन्न वाणियों की मुख्य भूषण है—

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥ ध्व० ३।३७

(यद्यपि आचार्य कुन्तक इस पद्य में 'लावण्य' के स्थान पर 'सौभाग्य' पद को अभिषिक्त करते हैं, क्योंकि इस प्रकार सहृदयों के ही संवेद्य प्रतीयमान के साथ सकललोकलोचनसंवेद्य 'लावण्य' का समीकरण नहीं हो सकता और 'सौभाग्य' के वहां नियोजन से काव्यपरमार्थज्ञ सहृदयों के ही अनुभव-गोचर और कामिनियों के विलक्षण 'सौभाग्य', जो तदुपभोगोचित नायक-जनों के ही संवेद्य के साथ समीकृत हो जाता है, तथापि जो 'लावण्य' को प्रसिद्धावयवव्यतिरेकिता के साथ प्रतीयमान की प्रसिद्धालंकृत या प्रतीत अवयवों से व्यतिरेकित्व की बात अधिक संगत लगती है और साथ ही जो 'लावण्य' में आकर्षण और स्वारस्य है वह 'सौभाग्य' में नहीं। अस्तु)

ध्वन्यालोककार इस प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ के तीन भेद करते हैं—वस्तु, अलङ्कार और रसादि। इनमें वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि, शब्दाभिधेय होने के कारण लौकिक हैं किन्तु

रसादि ध्वनि किसी भी स्थिति में, बल्कि स्वप्न में भी अभिहित नहीं होती, इसलिए अलौकिक है। इस प्रकार ध्वनिकार के मत में रस ही वस्तुतः आत्मा है, वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों का पर्यवसान सर्वथा रस के प्रति होता है, इसलिए वाच्य से उत्कृष्ट होते हैं। अतः सामान्यतः तीनों के लिए 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहा है (दे० लोचन, पृ० ४०, ४५, ५०, ५१, ७९, ८६, ९२)। स्वयं आचार्य आनन्दवर्धन ने रस की स्वशब्दवाच्यता का प्रत्याख्यान विस्तार के साथ किया है (पृ० ८१-८४)।

मथितार्थ यह कि ध्वनि की प्रतिष्ठा प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ पर है। ध्वनि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता की स्थिति में होता है। वाच्य अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतिष्ठा या भूमि है, इसलिए वह सर्वथा ध्वनि के प्रकरण में उपेक्ष्य नहीं। इसी कारण द्वितीय कारिका में ध्वनिकार ने प्रतीयमान अर्थ के साथ वाच्य अर्थ का समशीर्षिकया गणन किया है, यद्यपि प्रतीयमान अर्थ ही काव्य का आत्मा या सर्वस्व है।

'ध्वनि' का अर्थ

ध्वन्यालोक में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग पाँच अर्थों में किया गया है—व्यङ्ग्य अर्थ, वाचक शब्द, वाच्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार और समुदाय रूप काव्य। जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त लिखते हैं—

अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम्। व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्। पृ० १०४-५

तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। सम्मिश्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वनिः। काव्यमिति-व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः, उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्। पृ० १४१-१४२

पञ्चधाऽपि ध्वनिशब्दार्थे येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुव्रीह्यर्थाश्रयेण यथोचितं सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम्। पृ० १४३

'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार उक्त पाँचों अर्थों में इस प्रकार योजना होगी —

१ ध्वनतीति ध्वनिः; (२) ध्वन्यत इति ध्वनिः; (३) ध्वननं ध्वनिः।

प्रथम के अनुसार वाच्य अर्थ और वाचक शब्द 'ध्वनि' शब्द से अभिहित होते हैं, द्वितीय के अनुसार केवल व्यङ्ग्य रूप अर्थ ध्वनि है और तृतीय के अनुसार व्यञ्जना व्यापार ध्वनि है। 'ध्वनि' शब्द का पाँचवाँ विषय 'समुदाय रूप काव्य' है, क्योंकि ये चारों प्रकार उसमें होते हैं। इसलिए 'काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः' यहाँ समुदाय रूप काव्य में 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार है और प्रथम कारिका में 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' व्यङ्ग्य अर्थ की दृष्टि से कहा गया है।

अन्य सभी अर्थों में व्युत्पत्तितः और व्यवहारतः 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग होने पर भी मुख्यतः व्यङ्ग्य अर्थ ही 'ध्वनि' शब्द से अभिहित होता है और वह भी शब्द और अर्थ को अतिशयित करके चारुत्वातिशय के कारण प्रधान रूप से प्रतीयमान हो तब 'ध्वनि' कहलाता है। व्यङ्ग्य अर्थ की स्थिति में ही वाच्यादि भी 'ध्वनि' शब्द से वाच्य हो सकते हैं।

साथ ही यह भी समझ लेना आवश्यक है कि 'ध्वनि' को काव्य का आत्मा स्वीकार करते हुए भी ध्वनिकार काव्य में अभिव्यञ्जनीय रस के औचित्य के आधार पर शब्द और अर्थ के अलङ्कार तथा गुणों का समावेश अनिवार्य मानते हैं। इसी उद्देश्य से काव्य का विशेषण देते हुए उन्होंने लिखा है—'विविधवाच्यवाचकरचना-प्रपञ्चचारुणः काव्यस्य०' (पृ० ८९) और भी, 'काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः०' (पृ० ४५)। प्रथम उद्धरण पर लोचनकार का स्पष्ट निर्देश है कि 'तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः, आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहार इत्युक्तं प्रागेव' (पृ० ९०)। केवल ध्वनन रूप आत्मा के होने पर काव्यत्व का निषेध इससे भी और स्पष्ट रूप में लोचनकार लिखते हैं—नन्वेवं 'सिंहो वटुः' इत्यत्रापि काव्यरूपता स्यात् ; ध्वननलक्षणस्यात्मनोऽत्रापि समनन्तरं वक्ष्यमाणतया भावात्। ननु घटेऽपि जीवव्यवहारः स्यात् ; आत्मनो विभुत्वेन तत्रापि भावात्। शरीरस्य खलु विशिष्टाधिष्ठानयुक्तस्य सत्यात्मनि जीवव्यवहारः, न यस्य कस्यचिदिति चेत्—गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि काव्यरूपताव्यवहारः। न चात्मनोऽसारता काचिदिति च समानम्। पृ० ५७; काव्यग्रहणात् गुणालङ्कारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षण 'आत्मे'त्युक्तम्। पृ० १०३

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य के बाह्य तत्वों का उचित रूप से आदर करते हुए ध्वनि को काव्य के आत्मा के रूप में ध्वनिकार ने प्रतिष्ठित किया। इतना होते हुए भी वे स्वयं इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक बनने को तत्पर नहीं। उनका ध्वनि-सिद्धान्त बुधजनों द्वारा 'समाम्नातपूर्व' था। केवल उस 'ध्वनि' के सम्बन्ध की विप्रतिपत्तियों का निराकरण तथा उसका उदाहरणों आदि द्वारा स्पष्टीकरण सहृदयजनों के मन की प्रसन्नता के लिए उन्होंने यहाँ किया (तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्)।

ध्वनि : मूल प्रेरणा

किसी 'यथाकथञ्चित् प्रवृत्त' कल्पना पर यह ध्वनि-सिद्धान्त प्रवृत्त नहीं हुआ। इसके मूल में प्राचीन वैयाकरणों की उक्ति विद्यमान है। चूँकि व्याकरणशास्त्र सभी विद्याओं का मूल है अतः प्रथम विद्वान् वैयाकरण ही हुए। जैसा कि महावैयाकरण भर्तृहरि ने कहा है—

उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम्॥

अर्थात् महान् व्याकरणशास्त्र की यत्नपूर्वक उपासना करनी चाहिए, क्योंकि यह सभी विद्याओं के प्रदीप रूप में अवस्थित है (इसी से सभी विद्यायें प्रकाशित होती हैं)।

वैयाकरणों ने श्रूयमाण वर्णों को 'ध्वनि' कहा है और यह ध्वनि (श्रूयमाण वर्ण) चूँकि व्यञ्जक होते हैं, इसी आधार पर काव्य-तत्त्वदर्शी विद्वानों ने वाच्यवाचक-सम्मिश्र शब्द रूप काव्य को भी 'ध्वनि' के अभिधान से संकेतित किया और ध्वनिकार ने इसी पक्ष के काव्यशास्त्रीय आधार पर समर्थन एवं प्रकाशन के लिए ध्वन्यालोक के रूप में अपना संरम्भ प्रस्तुत किया।

लोचनकार ने ध्वनिकार के कथन को महान् वैयाकरण भर्तृहरि के श्लोक उद्धृत करते हुए 'ध्वनि' को व्यङ्ग्य, व्यञ्जक शब्द-अर्थ एवं व्यञ्जना व्यापार में चरितार्थ बताया है। इसके पूर्व कि हम

यहां लोचनकार के कथन को और भी पल्लवित रूप दे सकें, वैयाकरणों के 'ध्वनि' के आधारभूत स्फोटवाद पर विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं क्योंकि स्फोटवाद शब्द की सृष्टिप्रक्रिया से सम्बन्ध रखता है और हम बिना इसको समझे लोचन के निर्देश को समझ नहीं सकते।

स्फोटवाद—यह वह दर्शन है जिसमें शब्द के रूप तथा उससे अर्थ के विकास का निर्णय हुआ है। इस दर्शन का प्रारम्भ कब से हुआ यह निश्चित नहीं, फिर पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' ग्रन्थ में एक सूत्र मिलता है—'अवङ् स्फोटायनस्य' (६, १, १२३)। यहाँ किन्हीं 'स्फोटायन' नामक आचार्य का निर्देश है। इनके नाम में 'स्फोट' शब्द है और प्रथमतः उल्लेख के रूप में यही मिलता है अतः कल्पना की जाती है कि स्फोटवाद के प्रतिपादक यह स्फोटायन ही थे। जैसा कि काशिका की टीका 'पदमञ्जरी' में हरदत्त ने लिखा है—

'स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः।'

स्फोटवाद शब्द की नित्यता को स्वीकार करता है और यास्क, पाणिनि ने इसी सिद्धान्त को माना है। शब्द के नित्यत्व पर 'संग्रह' नामक ग्रन्थ में व्याडि ने भी विचार किया था ऐसा निर्देश मिलता है। कात्यायन और पतञ्जलि भी स्फोटवाद के समर्थक हैं। वैयाकरणों ने स्फोटवाद में शब्द को नित्य, एक तथा अखण्ड माना। उस शब्द की अभिव्यक्ति ध्वनि से होती है जिसके दो भेद हैं प्राकृत एवं वैकृत। उनके अनुसार वर्ण और पद सार्थक नहीं, बल्कि वाक्य सार्थक होता है, अर्थात् अर्थ की प्रतीति वाक्य से होती है। पतञ्जलि ने अपना मत स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

नित्याश्च शब्दाः। नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः। महाभाष्य, आ० २

पतञ्जलि ने जिस शब्द का लक्षण-निर्देश किया है वह स्फोट शब्द का ही है—

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। एकं च पुनराकाशम्। महाभाष्य, अ० २

अर्थात् शब्द की उपलब्धि श्रोत्र के माध्यम से होती है। श्रोत्र एक इन्द्रिय है जो कर्णशष्कुलयवच्छिन्न आकाशरूप है। तात्पर्य यह कि हमारे कर्ण देश में जितना आकाश है उसी में शब्द की उपलब्धि होती है। श्रोत्रेन्द्रिय एक आकाश ही है। फिर यहां प्रश्न होता है कि जब शब्द में निहित वर्ण अपने उच्चारण के दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं तब शब्द का ग्रहण कैसे सम्भव हो ? इसके समाधान में बुद्धिनिर्ग्राह्य कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्व-पूर्व ध्वनि से उत्पन्न संस्कार का परिपाक होने पर अन्त्य वर्ण के ज्ञान से शब्द का ग्रहण होता है। बुद्धि शब्दों का ग्रहण करती है। बुद्धि में ध्वनियां संस्कार छोड़ती जाती हैं और अन्तिम वर्ण से शब्द का ज्ञान होता है। प्रयोग से अभिज्वलित या प्रकाशित का तात्पर्य यह है कि शब्द तो सर्वदा सर्वत्र विद्यमान रहता है। किन्तु उसकी उपलब्धि उच्चारण से ही होती है। जो विद्यमान शब्द है वही ध्वनि, वर्ण या प्रयोग है। आकाश जो शब्द का आश्रय है वह जब एक है तब उसमें रहने वाला शब्द भी एक ही है। शब्द में वस्तुतः भेद नहीं होता बल्कि उसको व्यक्त करने वाली ध्वनि के तथा देश के भेद के कारण उसमें भेद आरोपित कर लेते हैं, जिस प्रकार एक ही आकाश घटाकाश, मठाकाश आदि रूप में भिन्न हो जाता है।

पतञ्जलि का यह शब्द 'स्फोट' रूप है। ध्वनि स्फोट का गुण है। जिस प्रकार भेरी के आघात में एक अनुरणन होता है, वही ध्वनि है। स्फोट और ध्वनि में प्रथम व्यङ्ग्य है और दूसरा व्यञ्जक। तात्पर्य यह कि ध्वनि से स्फोट रूप शब्द अभिव्यक्त होता है और अभिव्यक्त स्फोट रूप शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है।

'वाक्यपदीय' ग्रन्थ में भर्तृहरि ने 'स्फोट' का यथावत् विवेचन किया है। वही आगे के सभी वैयाकरणों का आधार हुआ है।

वैयाकरणों ने 'स्फोट' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया है—'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः' अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित होता है वह शब्द स्फोट कहलाता है। इस प्रकार यह एक यौगिक शब्द है। 'स्फोटचन्द्रिका' में श्रीकृष्ण ने इसे योगरूढ बताया है। कहा जा चुका है कि वैयाकरणों के अनुसार स्फोट और ध्वनि शब्द के दो भेद माने गए हैं। आचार्य भर्तृहरि ने उसे ही कहा है—

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥

पुण्यराज के अनुसार इसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि स्फोट ध्वनि रूप शब्द का उपादान कारण है क्योंकि उससे अर्थ का ज्ञान होता है, और दूसरे ध्वनिरूप शब्द का अर्थों में प्रयोग किया जाता है, अथवा वह शब्द-समुदाय (उपादान) जिसे ध्वनि कहते हैं, स्फोट का निमित्त अर्थात् व्यञ्जक होता है तत्पश्चात् दूसरे स्फोट रूप शब्द के अभिव्यक्त होने पर अर्थ की प्रतीति होती है। अभिप्राय यह कि श्रोता की बुद्धि में स्थित क्रमरहित शब्द स्फोट या ध्वनि शब्द के सुनते ही अभिव्यक्त होता है और वह अर्थ का बोध कराता है। इस प्रकार स्फोट व्यङ्ग्य है और ध्वनि व्यञ्जक।

जिस प्रकार कारण और कार्य को कुछ दार्शनिक भिन्न मानते हैं तो कुछ अभिन्न, इसी प्रकार का मतभेद स्फोट और ध्वनि के सन्दर्भ में भी प्राचीन दार्शनिकों में हुआ।

स्फोट की स्थिति बुद्धि में उस प्रकार की होती है जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि की। उस स्थिति में वह अज्ञात रहता है। किन्तु जब कण्ठ, तालु आदि करणों के आश्रय से विवर्त की स्थिति में आता है तब ध्वनि रूप से प्रतीत होने लगता है। व्यञ्जक ध्वनि के भेद से उसमें भी भेद हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अन्य घटादि वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ध्वनि द्वारा व्यञ्जित स्फोट शब्द भी अपने को प्रकाशित करता हुआ अर्थ को भी प्रकाशित करता है। स्फोट और ध्वनि में तादात्म्य माना जाता है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो किसी भी ध्वनि से किसी अर्थ का ज्ञान होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। फिर भी स्फोट में कोई क्रम नहीं होता तथा भेद भी नहीं होता। उसमें क्रम और भेद की प्रतीति ध्वनि की अभिव्यक्ति के क्रम से होती है। जिस प्रकार चन्द्रमा में चञ्चलता नहीं, किन्तु तरल जल में उसके प्रतिविम्ब को देखकर उसमें भी चञ्चलता आरोपित करते हैं उसी प्रकार स्फोट में क्रम और भेद वास्तविक नहीं हैं, प्रत्युत आरोपित हैं।

मनुष्य की बुद्धि में वह ब्रह्माण्डव्यापी शब्द अपने क्रमरहित एवं निर्विभाग रूप में विद्यमान रहता है और जब उच्चारण की इच्छा होती है तब उसमें एक क्रियारूपा वृत्ति होती है, फिर वह

उस वृत्ति के कारण वाक्य, पद आदि के रूप में आता है। स्वतः अखण्ड है, फिर भी वृत्ति के कारण भागों की तथा क्रम की उसमें सत्ता होती है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पक्षी के अण्डे के भीतर केवल अरूप अविभक्त एक तरल पदार्थ होता है वही विशेष स्थिति में एक रूप में आने लगता है।

वैयाकरणों ने ध्वनि के दो भेद किए हैं—प्राकृत एवं वैकृत। प्राकृत अर्थात् मौलिक ध्वनि तथा वैकृत ध्वनि अर्थात् प्राकृत ध्वनि का अनुरणन रूप। प्राकृत ध्वनि में स्वभाव भेद रहता है उसी के कारण ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत होता है। स्फोट शब्द इस काल-भेद से रहित है किन्तु इसे आरोपित करते हैं। प्राकृत ध्वनि के काल का शब्द में आरोप करके उसे व्यवहार का विषय बनाते हैं।

प्राकृत ध्वनि में ह्रस्व, दीर्घ आदि गुण हैं और वैकृत ध्वनि में द्रुत, मध्य एवं विलम्बित वृत्तियाँ रहती हैं। प्राकृत ध्वनि के पश्चात् वृत्तिभेद होने पर यह ध्वनि उत्पन्न होते हैं। और जैसा कि भगवान् भर्तृहरि का कहना है—

स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥

स्फोट का ग्रहण प्राकृत ध्वनि से होता है। प्राकृत को स्फोट का प्रतिबिम्ब माना जाता है। यद्यपि प्राकृत ध्वनि में नित्यता नहीं है, तथापि स्फोट की नित्यता उसमें भी मान ली जाती है। प्राकृत ध्वनि के पश्चात् उत्पन्न होने वाली ध्वनि को मूल का विकार कहा जाता है और उससे ही सब प्रकार की वृत्तियों का भेद होता है।

संक्षेप में इस विस्तारगम्य विषय को प्रस्तुत में इतना ही समझ लेने की आवश्यकता है। लोचनकार ने वैयाकरणों के ध्वनि को काव्य-सिद्धान्तीय ध्वनि-विचार में संगत करते हुए भगवान् भर्तृहरि के कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं।

काव्य में 'ध्वनि' शब्द से मुख्यतः व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द-अर्थ एवं व्यञ्जनाव्यापार इन सब का ग्रहण होता है। प्रथम जो व्यङ्ग्य अर्थ 'ध्वनि' कहा जाता है वह घण्टादि के शब्द के स्थान पर अनुरणन रूप होता है और व्याकरण-दर्शन में उत्पत्तिवादियों के मतानुसार स्फोट वह शब्द है जो स्थान, प्रयत्न आदि से वायु में संयोग या विभाग के कारण उत्पन्न होता है और उस शब्द से उत्पन्न होने वाले (शब्दज शब्द अर्थात् घण्टानुरणन रूप शब्द) ध्वनि कहे जाते हैं। (ये उत्पत्तिवादी आचार्य स्फोट को नित्य नहीं मानते, बल्कि इनके अनुसार स्फोट उत्पन्न होता है अतएव अनित्य है।) श्लोक इस प्रकार है—

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥ वाक्यपदीय, १।१०२

जैसा कि वैयाकरणों का अभिमत है, नाद अर्थात् श्रूयमाण वर्ण स्फोट के अभिव्यञ्जक होते हैं और स्फोट अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य होता है। इस प्रकार श्रूयमाण वर्ण या नाद, जिन्हें 'ध्वनि' कहते हैं, क्रमशः स्फोट को बुद्धि में प्रकाशित या अभिव्यक्त करते जाते हैं। भर्तृहरि कहते हैं—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा । ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

वाक्यपदीय, १।८४

इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ के व्यञ्जक शब्द-अर्थ भी प्रस्तुत काव्य-सिद्धान्त में 'ध्वनि' शब्द से अभिहित हैं।

फिर ऐसा होता है कि वर्णों के परिमित होने से अल्पतर यत्न से उच्चारित शब्द को जब बुद्धि नहीं ग्रहण कर पाती, उस स्थिति में वक्ता का जो प्रसिद्ध उच्चारण-व्यापार से अधिक द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तियों का भेदरूप व्यापार है उसे भी ध्वनि कहते हैं—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥ वाक्यपदीय, १।७८

कहा जा चुका है कि ये वृत्तियां वैकृत ध्वनि में होती हैं और उच्चारण-व्यापार से ये अतिरिक्त व्यापार हैं। इसी आधार पर प्रस्तुत में ध्वनिकार ने प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा व्यापारों से अतिरिक्त व्यञ्जना व्यापार को भी 'ध्वनि' कहा है।

और व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द और अर्थ, व्यञ्जना-व्यापार ये चार ध्वनि हैं तो इनके योग से समुदायरूप काव्य भी 'ध्वनि' पदवाच्य होता है।

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का अन्तर

ध्वनिकार ने स्वयं वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का अन्तर स्पष्ट करते हुए जिन भेदों का निर्देश किया है वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

स्वरूपभेद—इसके कारण जो वाच्य और व्यङ्ग्य का भेद है वह यह है कि कहीं वाच्य विधिरूप है तो व्यङ्ग्य निषेधरूप (उदाहरण, पृ० ५२); कहीं वाच्य प्रतिषेधरूप है तो व्यङ्ग्य विधिरूप (पृ० ७१) इत्यादि। विधि और प्रतिषेध के भिन्न होने में किसको संशय हो सकता है ?

विषयभेद—वाच्य अर्थ का विषय एक व्यक्ति होता है तो व्यङ्ग्य अर्थ का विषय उससे भिन्न व्यक्ति (उदा० पृ० ७६)।

भिन्नसामग्रीवेद्यत्व (निमित्तभेद)—वाच्य अर्थ को शब्द-अर्थ के नियमों के ज्ञानमात्र से, कोश-व्याकरणादि के परिचय रखने मात्र से प्रत्येक व्यक्ति जान सकता है और व्यङ्ग्यार्थ को काव्यार्थ के तत्त्वज्ञ ही, अर्थात् सहृदयजन ही जान सकते हैं।

इनके अतिरिक्त 'काव्यप्रकाश' के पञ्चम उल्लास में आचार्य मम्मट ने अनेक कारणों का इस सन्दर्भ में निर्देश किया है, जैसे—

संख्याभेद—वाच्य सभी व्यक्तियों के प्रति एकरूप होने से नियत है। किन्तु व्यङ्ग्य अर्थ नानाविध होता है, अतः अनियत है।

कालभेद—पहले वाच्य अर्थ अवगत होता है पश्चात् व्यङ्ग्य अर्थ।

आश्रय—वाच्य शब्द पर आश्रित है, व्यङ्ग्य शब्द, शब्द के एकदेश, उसके अर्थ, वर्ण, संघटना पर आश्रित है।

कार्यभेद—वाच्य का कार्य प्रतीतिमात्र होता है और व्यङ्ग्य का कार्य चमत्कृति है।

इन सभी पार्थक्य के हेतुओं को एक कारिका में साहित्य-दर्पणकार ने संगृहीत कर दिया है—

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधीयते व्यङ्ग्यः॥

यहाँ तक हम ध्वन्यालोक के मुख्य प्रतिपाद्य ध्वनि तत्त्व से सम्बद्ध अनेक तथ्यों से अवगत हो गए। साथ ही ध्वनि, जो स्वरूपतः काव्य में प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ के प्राधान्य की स्थिति में माना जाता है, हमने यह भी देखा, कि वह केवल वाच्य की कक्ष्या से आगे नहीं, वरन्, तात्पर्य, लक्ष्य की कक्ष्याओं से भी आगे चतुर्थ कक्ष्या में रहने वाले व्यङ्ग्य अर्थ में सम्पन्न होता है। लोचन में बड़े विस्तार से व्यङ्ग्य अर्थ की चतुर्थकक्ष्यानिविष्टता पर आचार्य अभिनवगुप्त ने विचार किया है। व्यङ्ग्य अर्थ के विरोध में उपस्थित तात्पर्यवृत्ति, लक्षणा, अभिहितान्वयवादी, अन्विताभिधानवादी और भट्टनायक के मत का खण्डन तर्कपूर्ण ढंग से किया है (पृ० ५४-७०)।

हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं कि ध्वनिकार ने रस को अलङ्कार के संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकाल कर मुख्यतः काव्य के आत्मा के योग्य आसन पर प्रतिष्ठित किया। किन्तु रसमात्र के ग्रहण से काव्य की उत्तमता का सर्वाङ्गीण संस्पर्श नहीं हो पाता था, क्योंकि ऐसे भी पद्य मिलते हैं जो रस से कुछ न्यून ही सही, अतिशय चमत्कार उत्पन्न करते हैं, इस दृष्टि से आचार्य आनन्द-वर्धन ने ध्वनि के रूप में उन्हें भी संगृहीत किया जिनमें वस्तु और अलङ्कार प्राधान्यतः प्रतीयमान या व्यङ्ग्य होते हैं। और साथ ही, इन ध्वनियों में भी रस-चमत्कार की ही आचार्य ने पार्यन्तिकता दी। इस प्रकार एक ओर रस अनिवार्य भी रह गया और दूसरी ओर अपनी साधारण स्थिति में काव्य की उत्कृष्टता का बाधक भी नहीं हुआ। भारतीय साहित्य-शास्त्र में रस को इस प्रकार विस्तृत भूमि देने का समग्र रूप से एकमात्र श्रेय ध्वनिकार आनन्दवर्धन को है।

रस के चमत्कार को ध्वनिकार काव्य की सर्वोत्कृष्ट भूमि मानते हैं, उनके अनुसार क्रौञ्च के जोड़े के वियोग से उत्पन्न वाल्मीकि का 'शोक' जो 'श्लोक' बन गया वह दुःख की भूमि नहीं वरन् आनन्द की अलौकिक भूमि है, 'मा निषाद०' को पढ़कर सहृदय का मन रस की अलौकिक चर्वणा करने लगता है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ १।५

ध्वनि के सम्बन्ध में विरुद्ध आपत्तियां

यद्यपि ध्वनिकार स्वयं को ध्वनिसिद्धान्त का पुरस्कर्ता नहीं कहते, बल्कि उनके अनुसार बुधजनों ने जिस ध्वनि को काव्य के आत्मा रूप में पहले से समाम्नात (समाम्नातपूर्वः, सम्यग् आ समन्तात् म्नातः प्रकटितः) किया है वह सहृदय जनों के मन की प्रीति के लिए उसके लक्षण का निरूपण करते हैं। इससे यह लक्षित होता है कि ध्वनि का सिद्धान्त ध्वनिकार से पहले भी प्रचलित था, हां उसे पुस्तक रूप देने का प्रयास सर्वप्रथम ध्वनिकार द्वारा हुआ। जैसा कि लोचन में स्पष्ट निर्देश भी किया है—'बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाऽभिधानं स्यात्, न तु भूयसां तद् युक्तम्।

तेन बुधैरिति बहुवचनम्। तदेव व्याचष्टे—परम्परयेति। अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः।' (पृ० ११) इससे सम्भावित किया जा सकता है कि जब ध्वनिकार से पूर्व ध्वनि की मौखिक रूप में स्थिति थी तब उसका विरोध भी अवश्य रहा होगा। जैसा कि ध्वनिकार के समानकालिक मनोरथ कवि का ध्वनि-विरोधी श्लोक भी (पृ० २९) प्राप्त होता है। ध्वनिकार ने प्रथम कारिका में ध्वनि के विरोध में प्रचलित तीन विमतियों का निर्देश किया है—अभाववाद, भाक्तवाद और अनिर्वचनीयतावाद। अभाववाद सर्वथा सम्भावना पर आधारित है, अर्थात् ध्वनिकार ने ध्वनि के सम्बन्ध में अभाववादियों की सम्भावना करके इसका निर्देश किया है। दूसरा भाक्तवाद प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित है, यद्यपि किसी प्राचीन आचार्य ने ध्वनि को मान कर भक्ति या लक्षणा का अवलम्बन नहीं किया है, फिर भी काव्य में अमुख्य वृत्ति से व्यवहार का निर्देश किया है। तीसरा अनिर्वचनीयतावाद एक रूप से ध्वनि की स्वीकृति ही है, इसलिए यह कोई प्रबल विरोधी वाद नहीं कहा जा सकता। ध्वन्यालोक में प्रथम अभाववाद को तीन रूपों में विभक्त किया है, तदनुसार अभाववादियों के प्रथम पक्ष का कहना है कि शब्द-अर्थ रूप काव्य के चारुत्वाधायक अनुप्रास-उपमा आदि अलङ्कार और माधुर्य आदि गुण तथा इन गुणों से अभिन्न वृत्तियां एवं रीतियां प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त ध्वनि कुछ भी नहीं है। दूसरे पक्ष का कहना है कि यदि मान भी लिया जाय कि कोई ध्वनि है तो वह निर्दिष्ट प्रस्थानों में किसी रूप में अन्तर्गत है न कि इनसे सर्वथा भिन्न रूप। इसी क्रम में तृतीय अभाववादियों का कहना है यह स्वीकार करते हुए भी कि ध्वनि किसी निर्दिष्ट अलङ्कार या गुण आदि के अन्तर्गत नहीं है, तो क्यों नहीं ऐसा समझा जाय कि ध्वनि कोई ऐसा अलङ्कार आदि था जिस पर किसी का अब तक ध्यान नहीं गया। वाग्विकल्प अनन्त हैं, फिर किसी तत्त्व का अनिर्दिष्ट रह जाना कोई आश्चर्य का विषय नहीं। इस प्रकार तीनों अभाववादियों के अनुसार ध्वनि कोई भिन्न पदार्थ नहीं है।

भाक्तवाद में भक्ति या लक्षणा शब्द का अमुख्य व्यापार मानी जाती है। गुणवृत्ति भी इसे कहते हैं। ध्वनि को ये लोग लक्षणा या भक्ति से अभिन्न मानते हैं और ध्वन्यर्थ को लक्ष्यार्थ की कोटि में लाते हैं। ये दूसरे विरोधी ध्वनि के विरोधी नहीं, ध्वनि के लक्षण के विरोधी हैं। इनके अनुसार ध्वनि का लक्षण भक्ति या लक्षणा के लक्षण से भिन्न नहीं।

तृतीय विरोधी जो अनिर्बचनीयतावादी हैं उनके अनुसार ध्वनि कोई विलक्षण पदार्थ है।

ध्वनि की स्थापना करते हुए इन तीनों विरोधों का ध्वनिकार ने प्रबल तर्कों द्वारा युक्तिसङ्गत खण्डन प्रस्तुत किया है।

सबसे पहले ध्वनिकार ने प्रतीयमान व्यङ्ग्य अर्थ को वाच्य अर्थ में, अङ्गनाओं में लावण्य की भांति, सहृदय जनों के लिये आनन्ददायक निर्देश किया, तत्पश्चात् वह किस प्रकार वाच्य से भिन्न एवं उत्कृष्ट है इसका निर्देश स्वरूपभेद, विषयभेद आदि युक्तियों से किया। तब ध्वनि का लक्षण किया—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ १।१३ पृ० १०२

जैसा कि अभाववादियों का कहना था कि जब ध्वनि कमनीयता की दृष्टि से कोई अतिरिक्त नहीं तो वह उक्त अलङ्कारों में ही अन्तर्भूत हो जाता है, इसके उत्तर में आनन्दवर्धन ने कहा कि

उक्त अलङ्कार तो वाच्य-वाचक मात्र पर आश्रित हैं और ध्वनि व्यङ्गय व्यञ्जकभाव पर, ऐसी स्थिति में कैसे अन्तर्भाव हो सकता है, साथ ही वे अलङ्कार आदि तो वाच्य और वाचक के चारुत्वहेतु होने के कारण उस ध्वनि के अङ्गभूत हैं और यह अङ्गी है।

लक्ष्यार्थ को ध्वन्यर्थ मानने वाले भाक्तवादियों का खण्डन करते हुए ध्वनिकार का पक्ष है कि जिस प्रकार वाच्यार्थ नियत होता है उस प्रकार लक्ष्यार्थ भी एक सीमा में होता है, जब कि ध्वन्यर्थ के लिए कोई नियमन अनिवार्य नहीं। तात्पर्य यह कि लक्ष्यार्थ जब भी होगा वाच्यार्थ से सम्बद्ध होगा। गङ्गा का लक्ष्यार्थ तट अवश्य ही प्रवाहरूप वाच्यार्थ से सम्बद्ध होना चाहिए। इस प्रकार लक्ष्यार्थ भी एक होता है, जब कि व्यङ्गयार्थ अनेक भी हो सकता है। दूसरे यह कि (प्रयोजनवती) लक्षणा में प्रयोजन का अंश सर्वथा व्यङ्गय ही होता है, यदि उसे भी लक्ष्य मान लिया जाय तो उसका प्रयोजन क्या होगा ? अनवस्था होगी। तीसरे यह कि रसादि किसी स्थिति में लक्ष्य नहीं हो सकते, क्योंकि मुख्यार्थ की बाधा में लक्षणा होती है। रसादि वाच्यार्थ के अवगत होने के पश्चात् मुख्यार्थबाध के अभाव में भी वाच्यार्थ से भिन्न रूप में व्यञ्जित होने के कारण सर्वथा व्यङ्गय ही होते हैं, ऐसी स्थिति में सर्वथा लक्ष्य अर्थ से नहीं काम चल सकता। व्यङ्गय अर्थ और उसके लिए व्यञ्जना शक्ति अवश्य स्वीकार करनी होगी।

इस प्रकार ये तीन पक्ष ध्वनि के विरोध में ध्वन्यालोक में ही निर्दिष्ट हैं। किन्तु ध्वन्यालोक के निर्माण के पश्चात् भी उसका प्रबल विरोध हुआ। फिर भी आचार्य आनन्दवर्धन का प्रभाव परवर्ती शास्त्रीय विचारधारा पर अप्रतिहत रूप से लक्षित होता है, यह उनकी स्थापनाओं की सर्वाङ्गपूर्णता का ही ज्वलन्त प्रमाण है। आगे हम ध्वनि के विरोधी आचार्यों की चर्चा करेंगे।

ध्वन्यालोक : स्वरूपस्थिति

ध्वन्यालोक तीन भागों में विभक्त है—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। काव्यमाला प्रथम सं० के अनुसार कारिकाएँ १२६ हैं, किन्तु काशी चौखम्बा संस्करण के अनुसार उनकी व्यवस्थित संख्या ११६ है। कारिकाओं के व्याख्यान रूप में वृत्ति-भाग है जो गद्य में है, कहीं-कहीं वृत्ति में परिकर-श्लोक, संक्षेप-श्लोक, संग्रह-श्लोक भी हैं। उदाहरण भाग पूर्ववर्ती कवियों के ग्रन्थों से उद्धृत और आनन्दवर्धन के स्वनिर्मित ग्रन्थों के पद्यों का है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार उद्योतों में विभक्त है। प्रथम उद्योत की प्रथम कारिका मन्दाक्रान्ता में, चतुर्थ और षष्ठ उपजाति में, त्रयोदश आर्या में है; तृतीय उद्योत में चार आर्याएँ हैं। इनके अतिरिक्त प्रथम तीन उद्योतों में श्लोक छन्द है। किन्तु चतुर्थ उद्योत की १७ कारिकाओं में अन्तिम तीन पद्य क्रमशः रथोद्धता, मालिनी और शिखरिणी-छन्दों में हैं।

अब भी मूल ध्वन्यालोक, उसकी कारिका और वृत्ति के शुद्ध पाठों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद बना हुआ है, जैसा कि प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य ने चतुर्थ उद्योत की कारिकाओं को बाद का निर्माण बताया है तथा और अनेक अटकल लगाये हैं। काव्यमाला संस्करण के पृ० १४४ (अथवा १७८) पर वृत्ति ग्रन्थ में यह आर्या मुद्रित है—

'इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः॥' इति।

काव्यमाला संस्करण के मूलाधार तीन पाण्डुलिपियों में से दो में यह आर्या नहीं है, जैसा कि वहाँ सम्पादकों का निर्देश है (इयमार्या क-ख पुस्तकयोर्नास्ति)। म० म० काणे महाशय के अनुसार उन्हें प्राप्त अन्य पाँच पाण्डुलिपियों में यह आर्या नहीं है। इसलिए यह निश्चित ही Spurious है।

ध्वन्यालोक का संक्षिप्त विषय-निर्देश

ध्वन्यालोक का लक्ष्य ध्वनि का सर्वाङ्गीण प्रतिपादन एवं स्थापना है। प्रथम उद्योत में, ध्वनि के सम्बन्ध में तीन विमतियों की सम्भावना करके उनका निराकरण किया है। वाच्य अर्थ से प्रतीयमान का भेद और प्राधान्य प्रतिपादित करके ध्वनि काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय उद्योत में, ध्वनि काव्य के भेदों का निरूपण है। इसी क्रम में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में रसादि ध्वनि की चर्चा की गई है। रसवदलङ्कार से रसध्वनि का भेद-निर्देश किया है एवं गुण और अलङ्कार का लक्षण प्रस्तुत किया है। रस के अनुसार गुणों की व्यवस्था की गई है। रस की दृष्टि से, विशेष रूप से शृङ्गार में रूपक आदि अलङ्कारों के ग्रहण और त्याग की समीक्षा उदाहरणों द्वारा की है। शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के प्रसङ्ग में श्लेष और शब्दशक्तिमूल ध्वनि का भेद निर्देश किया है। विस्तार से ध्वनि के अन्य भेदों का सोदाहरण प्रतिपादन किया है।

तृतीय उद्योत में ध्वनि के द्वितीय उद्योत में व्यङ्ग्य के प्रकार से लक्षित भेदों का व्यञ्जक के प्रकार से सोदाहरण निर्देश किया है। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का वर्ण, पद, पदावयव, वाक्य, सङ्घटना और प्रबन्ध में भी लक्षित होने का निर्देश किया है। सङ्घटना का स्वरूप-निरूपण और गुणों के साथ उसका सम्बन्ध विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। प्रबन्धरूप अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के नियोजन का प्रकार रसादि की व्यञ्जकता के अनुसार बताया है। कथा-शरीर के निर्माण में औचित्य के ध्यान की अनिवार्यता का निर्देश करते हुए औचित्यबन्ध का रस का उपनिषद् कहा है और अनौचित्य का रसभङ्ग का प्रकार कारण बताया है। फिर रस के विरोधियों का परिहार बताया है। मीमांसक के साथ वाक्य के व्यञ्जकत्व को लेकर विचार, व्यञ्जकत्व एवं गौणत्व का स्वरूपतः और विषयतः भेद, व्यङ्ग्य और व्यञ्जक का स्वरूप-विवेक आदि विषयों का विस्तार से चर्चा है।

पुनः, काव्य के दूसरे प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य का स्वरूप-निर्देश करते हैं। ध्वनि में व्यङ्ग्य की स्थिति प्राधान्यतः होती है और द्वितीय भेद में गुणीभावतः। इनके अतिरिक्त काव्य का तृतीय भेद है, जो चित्र कहलाता है।

चतुर्थ उद्योत में, प्रतिभा के आनन्त्य का विस्तार से निरूपण है। ध्वनि के भेदों के आधार पर प्रतिभावान् कवि प्राचीन अर्थ भाव, उक्ति आदि में नवीन चमत्कार उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार आचार्य ने काव्यक्षेत्र की अनन्तता निर्दिष्ट की है।

आनन्दवर्धनाचार्य

ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन का समय बहुत कुछ निर्धारित है। 'राजतरङ्गिणी' में कल्हण ने अवन्तिवर्मा के साम्राज्य में प्रसिद्ध होने वाले कवि के रूप में उनका उल्लेख किया है—

> **मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।**
> **प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥** ५।३४

बूहलर और जैकोबी के अनुसार अवन्तिवर्मा का राज्यकाल ८५५-८८३ ई० था। अब कुछ विद्वानों ने अवन्तिवर्मा के पुत्र शङ्करवर्मा (८८३-९०२ ई०) के साथ भी आनन्दवर्धन की समसामयिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। क्योंकि आनन्दवर्धन के जीवनकाल का ठीक सङ्केत प्राप्त नहीं। वह तो अवन्तिवर्मा के राज्यकाल के आधार पर निश्चित होता है। कवि के रूप में आनन्दवर्धन ने प्रसिद्धि अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में प्राप्त की थी। और जब उन्होंने ध्वन्यालोक का निर्माण किया तब निश्चित ही वह प्रौढ़ एवं वयःप्राप्त हो चुके होंगे, क्योंकि उन्होंने अपने सभी काव्य-निर्माणों का उल्लेख 'ध्वन्यालोक' में किया है। इसलिए उनका शङ्करवर्मा के काल में भी विद्यमान रहना युक्तिसङ्गत है। और भी, जैसा कि आनन्दवर्धन ने राजा यशोवर्मा द्वारा रचित 'रामाभ्युदय' नाटक का उल्लेख एवं उसके एक पद्य 'कृतककुपितैः०' का उल्लेख किया है (पृ० ३३३), और यशोवर्मा को विद्वानों ने शङ्करवर्मा से अभिन्न माना है। न्यायमञ्जरी के रचयिता भट्टजयन्त शङ्करवर्मा के समसामयिक थे। जयन्तभट्ट ने आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन 'न्यायमञ्जरी' में किया है—

एतेन शब्दसामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारितः।
यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम् ॥
विधेर्निषेधावगतिर्विधिबुद्धिर्निषेधतः ।

यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो मा स्म पान्थ गृहं विश।
मानान्तरपरिच्छेद्यवस्तुरूपोपदेशिनाम् ॥
शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा।
अथवा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते।
विद्वांसोऽपि विमुह्यन्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनि ॥ पृ० ४५

यह सम्भव है कि आनन्दवर्धन जयन्त के पहले, किन्तु समकालिक थे और साथ ही शङ्करवर्मा के भी समकालिक थे। इस प्रकार आनन्दवर्धन का समय ९०२ ई० माना जा सकता है (दे० ध्व० प्रथम उद्योत, विष्णुपद भट्टाचार्य की भूमिका)।

और भी, ध्वन्यालोक में उद्भट का उल्लेख है जिनका समय ८०० ई० माना जाता है, तथा आनन्दवर्धन का राजशेखर (लगभग ९००-९२५) ने उल्लेख किया है। इस प्रकार उनके साहित्यिक निर्माणों का समय ८६०-८९० ई० के बीच होना चाहिए (दे० म० म० काणे, History of Sanskrit poetics तृ० सं०, पृ० २०२)

आनन्दवर्धन के वंश के सम्बन्ध में कुछ भी विदित नहीं है। केवल 'देवीशतक' के अन्त में उल्लेख है कि वह 'नोण' के पुत्र थे, वह स्वयं लिखते हैं—

देव्या स्वप्नोद्गमादिष्टदेवीशतकसंज्ञया।
देशितानुपमामाधादतो नोणसुतो नुतिम् ॥ का० मा० नवम : निर्णय सा०

'देवीशतक' की रचना उन्होंने 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' के बाद में की थी, जैसा कि इस पद्य से विदित होता है—

येनानन्दकथायां त्रिदशानन्दे च लालिता वाणी ।
तेन सुदुष्करमेतत् स्तोत्रं देव्याः कृतं भक्त्या ॥

'काव्यानुशासनविवेक' में हेमचन्द्र ने भी आनन्दवर्धन के 'देवीशतक' का उद्धरण देते हुए उन्हें 'नोणसुत' कहा है (पृ० २२५)। श्री विष्णुपद भट्टाचार्य के अनुसार 'India office Library' की पाण्डुलिपि को तृतीय उद्योत के अन्त की पुष्पिका में आनन्दवर्धन के पिता नोण या नाणोपाध्याय प्रमाणित होते हैं, और चतुर्थ उद्योत की भूमिका में 'जोणोपाध्याय' नाम मिलता है।

आनन्दवर्धन के ग्रन्थ—देवीशतक, विषमबाणलीला, अर्जुनचरित ये तीन काव्यग्रन्थ हैं। अन्तिम दो का उल्लेख 'ध्वन्यालोक' में मिलता है (२।१, २।२७; पृ० ३८८)। देवीशतक के अन्तिम उपर्युक्त श्लोक के व्याख्यान में कैयट ने भी आनन्दवर्धन की विषमबाणलीला और अर्जुनचरित, दोनों कृतियों का निर्देश किया है। तथा पीटर्सन की द्वितीय रिपोर्ट के अनुसार, जैसा कि श्री विष्णुपद भट्टाचार्य ने लिखा है, 'सारसमुच्चय' नामक ग्रन्थ में आनन्दवर्धन की 'विषमबाणलीला' का उल्लेख है।

आनन्दवर्धन के दार्शनिक निर्माणों का सङ्केत वृत्तिग्रन्थ एवं उस पर लोचन से मिलता है। जैसा कि आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि की अनिर्वचनीयता मानने वालों ('केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं') को उत्तर देते हुए लिखा है—'यत्तु अनिर्देश्यत्वं सर्वलक्षणविषयं बौद्धानां प्रसिद्धं तत्तन्मतपरीक्षायां ग्रन्थान्तरे निरूपयिष्यामः' (पृ० ५५५)। इस पर लोचनकार लिखते हैं—'ग्रन्थान्तर इति विनिश्चयटीकायां धर्मोत्तर्यां या वृत्तिरमुना ग्रन्थकृता कृता तत्रैव तद्व्याख्यातम्।' इससे निश्चित होता है कि आचार्य ने बौद्धदार्शनिक आचार्य धर्मोत्तर की 'विनिश्चयटीका' पर 'वृत्ति' रूप से व्याख्यान प्रस्तुत किया था। 'प्रमाणविनिश्चय' आचार्य धर्मकीर्ति द्वारा लिखित बौद्धन्याय का एक ग्रन्थ है, और आचार्य धर्मोत्तर ने उस पर 'प्रमाणविनिश्चयटीका' लिखी थी। आचार्य धर्मोत्तर का समय म० म० सतीशचन्द्र विद्याभूषण के अनुसार ८४७ ई० है। आचार्य धर्मकीर्ति का उल्लेख ध्वन्यालोक में मिलता है—'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः... तथा चायं धर्मकीर्तेः श्लोक इति प्रसिद्धिः। सम्भाव्यते च तस्यैव। यस्मात् अनध्यवसितावगाहन०' (पृ० ५२१)। इसके अतिरिक्त, जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त ने निर्देश किया है, आनन्दवर्धन का एक और दार्शनिक ग्रन्थ 'तत्त्वालोक' था, जो अद्वैतसिद्धान्तसम्बन्धी निर्माण लगता है—'तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न न विदितं तत्त्वालोकग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्।' (पृ० ६७); 'एतच्च ग्रन्थकारेण तत्त्वालोके वितत्योक्तमिह त्वस्य न मुख्योऽवसर इति नास्माभिर्दर्शितम्' (पृ० ५३३)। इस प्रकार यह अत्यन्त विलक्षण बात है कि हमारे आचार्य कवि-आलोचक के साथ प्रथम श्रेणी के दार्शनिक भी थे। यह बात स्वयं उनके इस पद्य से भी पूर्णतः प्रमाणित होती है—

यथा ममैव—

'या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा,
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन, त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥ पृ० ५४१

लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त

जिस अभिनवगुप्त को यहाँ हम चर्चा करने जा रहे हैं उन्हें माधवाचार्य के 'शङ्कर-दिग्विजय' में निर्दिष्ट किसी शाक्त भाष्यकार अभिनवगुप्त नामक व्यक्ति से भिन्न समझना चाहिए, जिनका शास्त्रार्थ शङ्कराचार्य से हुआ था और वह पराजित हुए थे।[1] वह कामरूप (आसाम) के निवासी थे। हमारे लोचनकार एवं अभिनवभारतीकार आचार्य अभिनवगुप्त काश्मीरनिवासी तथा शैव थे।

विद्वानों ने अनेक प्रामाणिक परिशीलनों के पश्चात् काश्मीर आचार्य अभिनवगुप्त का काल ९५० ई० से लेकर १०२५ ई० तक निश्चित किया है। कहा जाता है कि 'अभिनवगुप्त' नाम उनका गुरुओं का दिया हुआ है, अपना नाम कुछ और ही था। इस सम्बन्ध में कुछ आख्यान भी बताये जाते हैं। आचार्य मम्मट ने इन्हें 'श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः' कहा है। इस पर काव्यप्रकाश की 'बालबोधिनी' टीका में वामनाचार्य ने एक आख्यान भी दिया है (उस व्याख्यान का आधार कोई प्राप्त नहीं है)। यद्यपि यह बात बहुत कुछ मान्य है कि आचार्य का नाम 'अभिनवगुप्त' उनके गुरुओं द्वारा प्रदत्त होगा, जैसा कि वे 'तन्त्रालोक' में लिखते हैं—

"अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या ॥" १-१५०

दक्षिण-भारत के नृत्य-शास्त्रियों में 'गुप्तपाद' (सर्प) के आधार पर आचार्य को 'शेषावतार' समझा जाता है।

पूर्वज—आचार्य अभिनवगुप्त के पूर्वज मूलतः काश्मीर के निवासी न थे। इनके जन्म से प्रायः २०० वर्ष पूर्व अर्थात् अष्टम शताब्दी में कन्नौज से वहाँ गये थे। यशोवर्मा (७३०-७४०) अष्टम शताब्दी में कन्नौज का और ललितादित्य (७२५-७६१) काश्मीर का, समकालीन शासक थे। जैसा कि 'राजतरङ्गिणी' में वर्णन है, दोनों में युद्ध हुआ था और यशोवर्मा पराजित हुआ था। अन्तर्वेदी (गङ्गा-यमुना के बीच के प्रदेश) के विद्वान् अत्रिगुप्त की विद्वत्ता से प्रभावित होकर ललितादित्य ने उन्हें काश्मीर में बसाया। अन्तर्वेदी के अन्तर्गत ही कन्नौज का राज्य था।[2]

फिर आचार्य अभिनवगुप्त ने अन्य पूर्वजों का निर्देश न कर अपने पितामह वराहगुप्त का उल्लेख किया है। वराहगुप्त के पुत्र एवं अभिनवगुप्त के पिता नृसिंहगुप्त थे, जिन्हें लोग 'चुखुलक' भी कहते थे। चाचा थे वामन गुप्त (इनका उल्लेख 'अभिनवभारती' में इनके रचित एक श्लोक के साथ किया है)। क्षेमगुप्त, उत्पलगुप्त, अभिनवगुप्त, चक्रकगुप्त और पद्मगुप्त ये चचेरे भाई थे।

गुरु—आचार्य ने अपने विभिन्न शास्त्र के विभिन्न गुरुओं का स्मरण अतिशय श्रद्धापूर्वक अपने ग्रन्थों में किया है। कुछ उनके प्रसिद्ध गुरुओं के नाम इस प्रकार हैं—१. नृसिंहगुप्त (पिता, व्याकरणशास्त्र के गुरु), २. वोमनाथ (द्वैताद्वैत तन्त्र के गुरु), ३. भूतिराजतनय (द्वैतवादी शैव सम्प्रदाय के गुरु), ४. लक्ष्मणगुप्त (प्रत्यभिज्ञा, क्रम तथा त्रिक दर्शन के गुरु), ५. भट्ट इन्दुराज (ध्वनि-सिद्धान्त के गुरु) ६. भूतिराज (ब्रह्मविद्या के गुरु), ७. भट्टतोत (नाट्यशास्त्र के गुरु)।

---

१. तदनन्तरमेष कामरूपानधिपत्याभिनवोपशब्दगुप्तम्।
अजयत् किल शाक्तभाष्यकारं स च भग्नो मनसेदमालुलोचे ॥ 'शङ्करदिग्विजय' १५।१५८

२. अन्तर्वेधामत्रिगुप्ताभिधानः प्राप्योत्पत्तिं प्राविशत् प्राग्र्यजन्मा।
श्रीकाश्मीरांश्चन्द्रचूडावतारैर्निःसंख्याकैः पावितोपान्तभागान् ॥ परात्रिंशिका विवरण, २८०

भट्ट इन्दुराज आचार्य अभिनवगुप्त के काव्यशास्त्रीय गुरु थे। सम्भवतः आचार्य को इन्होंने ध्वन्यालोक पढ़ाया था और उन्हें अपने विचारों से अवगत किया था। आचार्य ने इनकी अनेक रचनाएँ उद्धृत की हैं और 'लोचन' के आरम्भ में इन्हें सादर स्मरण किया है। आचार्य के अनुसार ये 'विद्वत्कविसहृदयचक्रवर्ती' थे। बूहलर महाशय की काश्मीर-रिपोर्ट के अनुसार भगवद्गीता की अपनी व्याख्या में अभिनवगुप्त ने भट्ट इन्दुराज को कात्यायन गोत्र से सम्बद्ध, सौचुक का पौत्र तथा भूतिराज का पुत्र कहा है। लोचन में 'ध्वनिरत्र श्लोकेऽस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातः'; 'इत्याशयोऽत्र ग्रन्थेऽस्मद्गुरुभिर्निरूपितः'; 'अस्मद्गुरवस्त्वाहुः' आदि निर्देशों से विद्वानों का अनुमान है कि आचार्य के गुरु ने कोई ध्वन्यालोक पर व्याख्यान ही लिखा होगा।

कुछ विद्वानों ने उद्भट के व्याख्याता प्रतीहारेन्दुराज से इन भट्ट इन्दुराज को अभिन्न समझा है। महामहोपाध्याय काणे महाशय ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि एक तो प्रतीहारेन्दुराज ने ध्वनि-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है, जब कि भट्टेन्दुराज ध्वनि-सिद्धान्त के व्याख्याता के रूप में 'लोचन' में निर्दिष्ट हैं। दूसरे अपने गुरु भट्ट इन्दुराज के लिए अभिनवगुप्त ने कहीं भी 'प्रतीहार' की उपाधि का प्रयोग नहीं किया है। प्रतीहारेन्दुराज के गुरु मुकुल ('अभिधावृत्तिमातृका' के रचयिता) थे। अभिनव ने अपने गुरु के गुरु उत्पलदेव की चर्चा की है किन्तु मुकुल की नहीं की। और भी, प्रतीहारेन्दुराज की टीका में उनका रचित एक श्लोक भी नहीं है, जबकि 'लोचन' में उनके अनेक श्लोक उद्धृत हैं। 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्त ने भट्ट इन्दुराज की गणना वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के नामों के साथ की है (भाग २, पृ० २९३)। इस प्रकार प्रतीहारेन्दुराज कोई मात्र आलोचक ही सिद्ध होते हैं, कवि नहीं।

आचार्य के दूसरे और एक साहित्यिक गुरु थे भट्ट तौत, जिनसे उन्होंने नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था। 'लोचन' के उल्लेख के अनुसार भट्ट तौत ने 'काव्यकौतुक' नाम का ग्रन्थ लिखा था तथा उस पर व्याख्यान 'विवरण' नाम से आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत किया था—

'स चायमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयपूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यलं बहुना।' पृ० ४३४

'लोचन' में भट्टतौत के नाम से यह श्लोकार्ध भी उद्धृत है—

'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।' पृ० ९२

'अभिनवभारती' के अन्त में आचार्य कहते हैं—

'द्विजवरतोतनिरूपित-सन्ध्यध्यायार्थतत्त्वघटनेयम्।
अभिनवगुप्तेन कृता शिवचरणाम्भोजमधुपेन'॥

जीवन—आचार्य अभिनवगुप्त, जैसा कि जयरथ ने 'तन्त्रालोक' की टीका में निर्देश किया है, अपने माता-पिता के 'योगिनोभू' पुत्र थे। बाल्यकाल में माता के गत हो जाने, फिर पितृ-वियोग से आचार्य का जीवन अतिशय नीरस हो गया और फलतः वे दार्शनिक हो गए।

यह एक बहुत बड़े साधक थे और काश्मीर की किंवदन्ती के अनुसार श्रीनगर और गुलमर्ग के बीच मगम नाम के स्थान से पांच मील की दूरी पर स्थित 'भैरवगुफा' में साधना करते थे। सम्भवतः उन्होंने अन्तिम श्वास भी वहीं ली।

आचार्य अभिनवगुप्त के जीवन, ग्रन्थ आदि विषयों पर विस्तृत मौलिक अनुसन्धान के लिए आकलनीय है डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय का अंग्रेजी में लिखा—'अभिनवगुप्त' (चौखम्बा प्रकाशन)

'लोचन'—'ध्वन्यालोक' पर आचार्य अभिनवगुप्त की यह टीका इसी नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु विभिन्न पाण्डुलिपियों में इसे सहृदयालोकलोचन और काव्यालोकलोचन भी कहा है। आचार्य को परवर्ती ग्रन्थकारों ने 'लोचनकार' के नाम से स्मरण किया है, स्वयं आचार्य ने 'लोचन' नाम की सार्थकता इन शब्दों में निर्दिष्ट की है—

किं लोचनं विनाऽऽलोको भाति चन्द्रिकयाऽपि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥ पृ० १७१

साहित्यशास्त्र में 'लोचन' व्याख्यान का स्थान 'महाभाष्य' के सदृश है।

'लोचन' से पूर्व 'ध्वन्यालोक' पर 'चन्द्रिका' नाम की व्याख्या लिखी गई थी, जैसा कि ऊपर उद्धृत श्लोक में आचार्य ने उसका संकेत किया है—भाति चन्द्रिकयाऽपि हि। उन चन्द्रिकाकार का उल्लेख 'लोचन' में अनेक स्थलों पर है (पृ० ४३४; ४५१)। चन्द्रिकाकार सम्भवतः अभिनवगुप्त के ही कोई सम्बन्धी थे। 'इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन' कहते हुए कई स्थलों पर लोचनकार ने अपने पूर्व के किसी टीकाकार की आलोचना भी की है। महिमभट्ट ने भी 'व्यक्तिविवेक' में चन्द्रिका' व्याख्या की सूचना दी है—

ध्वनिवर्त्मन्यतिगहने स्खलितं वाण्याः पदे पदे सुलभम्।
रभसेन यत्प्रवृत्ता प्रकाशकं चन्द्रिकाद्यदृष्ट्वैव॥

'चन्द्रिका' ईसा की ९००-९५० शती में लिखी गई होगी।

कारिकाकार और वृत्तिकार

ध्वन्यालोक का कारिकाभाग और वृत्तिभाग भिन्न कर्ताओं द्वारा रचित हैं अथवा दोनों एक कर्ता के निर्माण हैं, इस सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों का बहुत पहले से तीव्र मतभेद है। इस समस्या का श्रीगणेश डॉ० बूह्लर ने 'कश्मीर रिपोर्ट' में इन शब्दों में किया था—

"From अभिनवगुप्त's tīkā it appears that verses (कारिका) are the composition of Some older writer, whose name is not given. But it is remarkable that they contain no मङ्गलाचरण" (पृ० ६५, श्री विष्णुपद भट्टाचार्य के ध्व० पर introduction से उद्धृत)।

तत्पश्चात् ध्वन्यालोक के काव्यमाला संस्करण (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई) के सम्पादकों (श्री पं० दुर्गाप्रसाद आदि) ने भी अपने वक्तव्य में कारिकाभाग का नाम 'ध्वनि' और वृत्तिभाग का नाम 'आलोक' मानते हुए दोनों ग्रन्थों को आचार्य अभिनवगुप्त के 'लोचन' के उल्लेखों के आधार पर भिन्नकर्तृक ही स्वीकार किया है। फिर महामहोपाध्याय (अब भारतरत्न) श्री पी० वी० काणे महाशय ने अपने सुप्रसिद्ध अलङ्कार-साहित्य के इतिहास में भिन्नकर्तृकत्व की समस्या उठाई है और अनेक अन्तर्बाह्य प्रमाणों के आधार पर भिन्नकर्तृकत्व के पक्ष का स्थापन किया है। डॉ० सुनीलकुमार डे महाशय ने भी अपने अलङ्कार-साहित्य के इतिहास में कारिका भाग को

किसी प्राचीन लेखक का निर्माण माना है, जिसकी वृत्ति आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा लिखी गई है। और भी, जिन विद्वानों ने कारिका और वृत्ति भागों का भिन्नकर्तृकत्व माना है उनमें प्रसिद्ध हैं—श्री सोवानी (Sovani) प्रो० शिव प्रसाद भट्टाचार्य, श्री के० गोडा वर्मा आदि।

इसके विपरीत, दोनों भागों को अभिन्नकर्तृक मानने वाले विद्वानों का एक प्रबल दल भी हुआ, जिसमें प्रसिद्ध हैं—स्व० म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री, डॉ० सातकरी मुकर्जी, डॉ० शङ्करन्, डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, डॉ० कृष्णमूर्ति और प्रो० मनकद आदि।

जैसा कि ऊपर डॉ० बूहलर और काव्यमाला सं० के सम्पादकों का निर्देश किया गया है, इस समस्या का मूल कारण है आचार्य अभिनवगुप्त का 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' व्याख्यान, जिसमें अनेक स्थलों में कारिकाकार (कृत) और वृत्तिकार (˚कृत) को भिन्न रूप में निर्देश किया गया है और साथ ही वृत्तिग्रन्थ के रचयिता को 'ग्रंथकार' और कारिकाग्रन्थ के रचयिता को मूलग्रन्थकार (˚कृत) तथा कारिकाग्रन्थ को 'मूलकारिका' कहा गया है।

म० म० काणे महाशय ने अपने 'History of Sanskrit Poetics' (तृतीय सं० पृ० १६५) में 'लोचन' टीका के महत्त्वपूर्ण स्थलों को, जिनसे कारिकाकार और वृत्तिकार का भेद प्रतीत होता है, इस क्रम से उद्धृत किया है—

१. **'अत एव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति—येऽपीत्यादिना।''' तत्र (तेनात्र) प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम्। द्वितीयोद्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदधदनुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान्। तदाशयानुसारेण तु वृत्तिकृदत्रैवोद्योते मूलविभागमवोचत्०'** । पृ० १७०

२. **'न चैतन्मयोक्तम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह तत्रेति। भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति भावः।'** पृ० १७३

(इस सं० में काशी चौखम्बा सं० के अनुसार 'न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तम्' पाठ है।)

३. **'उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति।'** पृ० ३०९

४. **'एतत्तावत्त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतम्। वृत्तिकारेण तु दर्शितम्। न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति। ततश्चेदं कृतमिदं क्रियत इति कर्तृभेदे का सङ्गतिः?'** पृ० ३१२

५. **'कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेक उक्तः। न च सर्वथा न कर्तव्योऽपि तु बीभत्सादौ कर्तव्य एवेति पश्चादन्वयः। वृत्तिकारेण त्वन्वयपूर्वको व्यतिरेक इति शैलीमनुसर्तुमन्वयः पूर्वमुपात्तः।** पृ० ३२९

६. **'प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्'** ध्व० के इस कथन पर 'लोचन' का निर्देश है—**'अस्मन्मूलग्रन्थकृतेत्यर्थः।'** पृ० ३४०

७. **'एवमादौ विषये यथौचित्यात्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे'** इस ध्व० पर 'लोचन' का कथन है—**'दर्शितमेवेति। कारिकाकारेणेति भूतप्रत्ययः।'** पृ० ३४७

८. 'यद्यप्यर्थानन्त्यमात्रे हेतुर्वृत्तिकारेणोक्तः, तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति भावः।' पृ० ५६५

इनके अतिरिक्त भी 'लोचन' में अनेक स्थल हैं, जिनमें 'वृत्तिकार' शब्द का उल्लेख है, किन्तु उनसे कारिकाकार और वृत्तिकार के भेद का विचार गतिशील नहीं होता, जितना कि इन उद्धरणों से होता है।

अपने पक्ष की पुष्टि में इन स्थलों को दोनों दल के पण्डितों ने अपने अनुसार लगाया है। प्रधान रूप से यहाँ भिन्नकर्तृकत्ववादियों में म० म० काणे के अनुसार तथा अभिन्नकर्तृकत्ववादियों में डॉ० सातकरी मुकर्जी के अनुसार हम विचार करेंगे।

डॉ० सातकरी मुकर्जी (भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, वर्तमान में डाइरेक्टर, नालन्दा पालि इन्स्टिच्यूट, बिहार) का लेख 'A dissertations on the identity of the author of the Dhvanyaloka' B. C. vol. I Part पृ० १७९ में प्रकाशित है (१९४५)। म० म० काणे के पक्षों का विशेषतः खण्डन करते हुए डॉ० मुकर्जी ने ध्वन्यालोक के कारिका और वृत्ति भागों के अभिन्नकर्तृकत्व पक्ष का बड़ी दृढ़ता से समर्थन किया है, यद्यपि वे अपने पक्ष के समर्थन में 'आग्रह' का अवलम्बन नहीं करते और न कि चाहते हैं कि यह प्रश्न स्थगित हो जाय (I do not think the question to be a closed one and I propose to record the results of my reflections which may serve to stress the need of re-consideration and re-assessment of the problem with all its relevent issues)। इसी प्रकार म० म० काणे भी अपने पक्ष के विपरीत अभिन्नकर्तृकत्व के प्रमाणित हो जाने पर प्रसन्न होना चाहते हैं ('I should be glad if ultimately it be proved that the same person is the author of both Karikas and Vṛtti')। अस्तु,

यह प्रथमतः निर्देश करना आवश्यक है कि भेदवादियों अर्थात् कारिका और वृत्ति के भिन्न-कर्तृकत्ववादियों के पक्ष के मूल में 'लोचन' के भेद-निर्देश के स्थल हैं और अभेदवादियों के पक्ष के मूल में आनन्दवर्धन के परवर्ती ग्रन्थकारों के वक्तव्य हैं, जिनके अनुसार आचार्य आनन्दवर्धन ही 'ध्वनिकार' हैं तथा कारिका और वृत्तिग्रन्थ के प्रणेता हैं। इस प्रकार 'लोचन' के जिस भेद-व्यवहार को म० म० काणे भिन्नकर्तृकत्व की सिद्धि का साधन समझते हैं उसे डॉ० मुकर्जी 'functional' मानते हैं। 'लोचन' इस निर्णय में इसलिए सबसे अधिक महत्त्व रखता है कि वह 'ध्वन्यालोक' के निर्माण के १५० वर्ष पश्चात् निर्मित हुआ है।

म० म० काणे ने सबसे पहले 'लोचन' के उन स्थलों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिनमें वृत्तिकार को 'ग्रन्थकृत्' या 'ग्रन्थकार' निर्देश किया गया है और कारिका के रचयिता के लिए 'मूलग्रन्थकृत्' (ऊपर निर्दिष्ट 'अस्मन्मूलग्रन्थकृता') कहा गया है।

ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका की वृत्ति में लिखा है—'तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः— यस्मिन्नस्ति न वस्तु०' इत्यादि। पृ० २७-२९

इस पर 'लोचन' का निर्देश है—'तथा चान्येनेति। ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना।'

जाकोबी महाशय ने कारिकाओं के लेखक ध्वनिकार को इस प्रमाण के आधार पर कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' (४।४९७ और ६७१) के अनुसार कश्मीर के जयापीड़ और उसके उत्तराधिकारी ललितापीड़ (७८०-८१३ ई०) के राज्यकाल में हुए मनोरथ कवि का समसामयिक माना है। 'राजतरङ्गिणी' का श्लोक इस प्रकार है—

मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥ ४९७

यदि यह विचार मान लिया जाय तो आचार्य आनन्दवर्धन का, जिनका समय नवम शताब्दी के अन्तिम चरण में निश्चित माना गया है, मनोरथ का समकालीन होना असम्भव है। दूसरे यह कि अवन्तिवर्मा के समय आचार्य आनन्दवर्धन कवि के रूप में प्रसिद्ध थे, ध्वन्यालोक उनकी निश्चित रूप से अनेक काव्य-रचनाओं के पश्चात् की कृति है, जैसा कि उसमें उद्धृत उनकी काव्य-रचनाओं के नाम तथा श्लोकों से अवगत होता है। इस प्रकार कितना भी मनोरथ का जीवनकाल अधिक होगा, आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' के निर्माणकाल तक उसे पहुँचाना हास्यास्पद होगा। इस प्रकार जाकोबी महाशय और म० म० काणे के अनुसार वृत्तिकार आनन्दवर्धन के पूर्व किसी ध्वनिकार (मूल कारिकाओं के रचयिता) का होना प्रमाणित होता है। किन्तु 'ध्वन्यालोक' के 'मनोरथ' को जयापीड़ के समकालिक 'मनोरथ' से अभिन्न स्वीकार करने में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है, बल्कि इसके विपरीत यह तथ्य उद्धृत किया गया है कि प्रायः 'लोचन' में वृत्तिकार को 'ग्रन्थकृत्' या 'ग्रन्थकार' भी कहा गया है[1] (और कारिकाकार को मूल ग्रन्थकार), इस स्थिति में जब लोचनकार 'ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना' लिखते हैं तब निश्चित ही उनका संकेत वृत्तिकार आनन्दवर्धन से है। इसका स्पष्टीकरण डॉ० सुशीलकुमार डे ने अपने अलङ्कार-शास्त्र के इतिहास के अध्ययन में प्रस्तुत किया है। डॉ० डे के अनुसार इस कठिनाई के निराकरण के लिए दो बातें माननी होंगी—१. कि कल्हण ने, जैसा कि पिशेल तर्क करते हैं, जयापीड़-ललितापीड़ के राज्यकाल में मनोरथ को निर्दिष्ट करते हुए गलती की है, अथवा २. कि अभिनवगुप्त ने कारिकाकार को वृत्तिकार के साथ गड़बड़ा दिया है। अस्तु, कल्हण की मनोरथ के मूल किसी ध्वनिकार के समकालिक होने की कल्पना निश्चित रूप से प्रमाणित नहीं की जा सकी है। अतः इस आधार को दृढ़ नहीं कहा जा सकता।

हम ऊपर कह चुके हैं कि लोचनकार के भेदक उल्लेखों के आधार पर ही ध्वन्यालोक के कारिका भाग को भिन्नकर्तृक समझने का झगड़ा खड़ा हुआ और इसी आधार पर ही यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न म० म० काणे आदि विद्वानों ने किया कि केवल अभिनवगुप्त ही दोनों ग्रन्थों को भिन्न और भिन्नकर्तृक नहीं मानते थे, बल्कि अभिनवगुप्त ने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि स्वयं वृत्तिकार भी कारिकाकार को अपने से भिन्न समझ कर लिखते हैं, जब कि सम्पूर्ण ध्वन्यालोक को आनन्दवर्धनकृत मानने वाले वाले विद्वानों के अनुसार लोचनकार अभिनवगुप्त के भेदसाधक उल्लेख वस्तुतः अपने व्याख्यानों को सुगम करने के लिए हैं ('In order to faciliate

---

१. 'आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम तेन स एवानन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण०' (पृ० ४१); 'समासोक्त्याक्षेपयोरेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्' (पृ० ११५); 'एवमभिप्रायद्वयमपि साधारणोक्त्या ग्रन्थकृन्न्यरूपयत्' (पृ० ११७); 'अत एव ग्रन्थकारः सामान्येन०' (पृ० १६६)।

his coments')। और डॉ० मुकर्जी समझते हैं कि कारिकाकार को वृत्तिकार से भिन्न समझने का विश्वास परम्परागत हो गया है। जो भी हो, ध्वन्यालोक के सम्बन्ध में यह विवाद अब तक किसी उभयसम्मत तर्क के अभाव में समाप्त नहीं हुआ है।

(१) म० म० काणे ने 'लोचन' के जिन अंशों को उद्धृत किया उनमें द्वितीय, षष्ठ और सप्तम अंशों को वे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। द्वितीय अंश (पृ० १७३) का प्रसंग यह है कि प्रथम उद्योत में वृत्तिभाग में ध्वनि के दो भेदों (अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य) की चर्चा की गई है (पृ० १४३), कारिका भाग में इनका निर्देश नहीं है। और, द्वितीय उद्योत के आरम्भ में प्रथम कारिका में ध्वनि के प्रथम भेद को दो प्रभेदों में विभक्त किया गया है। अभिन्नकर्तृकत्ववादी डॉ० मुकर्जी अभिनवगुप्त के निरूपण को पृथक् करके, इससे समझते हैं कि कारिका प्रथम उद्योत में दिए गए विभाग को पहले से मानती है और साथ ही मुकर्जी साहब इस अनुमान को स्वाभाविक बताते हैं कि कारिकाकार वृत्तिकार से अभिन्न हैं। दूसरे शब्दों में, ग्रन्थकार वृत्ति और कारिका को एक दूसरे से भिन्न नहीं करते हैं। यही कारण है कि द्वितीय उद्योत की प्रथम कारिका में एकाएक अविवक्षितवाच्य का भेद ही करने लगे, इसके पूर्व कुछ नहीं संकेत किया। यदि हम द्वितीय उद्योत की प्रथम कारिका के अवतरण के रूप में दिए गए आनन्दवर्धन के निर्देशों की परीक्षा करें तो यह स्पष्ट होगा कि उन्होंने कारिका और वत्ति को भिन्न नहीं किया है बल्कि प्रथम उधोत में प्रस्तुत भेद की संगति बैठाते हैं—'इस प्रकार अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य के रूप से ध्वनि दो प्रकार से प्रकाशित (हो चुका) है, उनमें (वहां) अविवक्षितवाच्य के प्रभेद के प्रतिपादन के लिए यह कहते हैं (पृ० १७३)।'

डॉ० मुकर्जी प्रस्तुत में 'लोचन' के आधार पर अपने पक्ष की पुष्टि में 'मया वृत्तिकारेण सत्ता' पर अधिक जोर देते हैं और इसका अर्थ करते हैं—'by me in the capacity of वृत्तिकार।' इस प्रकार मुकर्जी साहब के अनुसार आचार्य अभिनवगुप्त 'सता' द्वारा भिन्नकर्तृकत्व के बजाय अभिन्नकर्तृकत्व का संकेत करते हैं, अन्यथा यह प्रयोग अधिक (redundant) था।

इसके विपरीत, भिन्नकर्तृकत्ववादी म० म० काणे प्रस्तुत लोचनांश के 'अभिप्राय' और 'कारिकाकार-सम्मत' प्रयोगों को अपने पक्ष की पुष्टि के अनुकूल समझते हैं, उनके अनुसार 'न चैतन्मयोक्तम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह—तत्रेति' इसका अर्थ होगा 'This is not what I, the वृत्तिकार, have stated out of my own head, but I have stated it in accordance with the intention of the author of the Karikas'; 'भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति' (ध्वनि is first of two kinds, and this is also approved of by the कारिकाकार)। यदि कारिकाकार और वृत्तिकार एक हैं तो वृत्तिकार को क्या कहने की आवश्यकता थी कि वे कारिकाकार के अभिप्राय का अनुसरण करते हैं और उन वृत्तिकार ने जो कहा है वह कारिकाकार का सम्मत है। एक ही व्यक्ति जब दो बातें कह रहा है तब सम्मति' का प्रश्न नहीं उठता है। इसी प्रकार एक दूसरे प्रसंग में, जहाँ शङ्का होती है कि यदि संघटना गुणों का आश्रय नहीं है तो किस आधार पर ये रहते हैं ?, समाधान करते हुए कहा है कि प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्' अर्थात् 'इनका आलम्बन (आश्रय, आधार) प्रतिपादित हो ही चुका है' (पृ० ३४०), इस वृत्ति पर लोचन है 'अस्मन्मूलग्रन्थकृतेत्यर्थः' अर्थात् (वृत्तिकार का तात्पर्य है

कि) 'हमारे मूल ग्रन्थ के रचयिता द्वारा (प्रतिपादित हो चुका है) ।' यहाँ यदि वृत्तिकार कारिका कार भी होते तो कहते 'मत्कृतकारिकायां०' अर्थात् मेरी कारिका में यह प्रतिपादित हो चुका है।

अपने इस मन्तव्य की पुष्टि में म० म० काणे महाशय लोचन के उन स्थलों को उद्धृत करते हैं जिनमें वृत्तिकार ने अपने कहे हुए के सम्बन्ध में 'मया' का प्रयोग किया है, (जैसे, 'उक्तमिति, मयैवेत्यर्थः' पृ० ५२८; 'उक्तमिति संग्रहार्थं मयैवेत्यर्थः' पृ० ५५५)। इसी प्रकार प्रस्तुत में भी कारिकाकार से अभिन्न वृत्तिकार को 'मत्कृतकारिकायां' लिखना चाहिए था।

अपने निबन्ध में डॉ० मुकर्जी ने विस्तार के साथ यह सिद्ध किया है कि 'लोचन' में जो कारिकाकार और वृत्तिकार को पृथक् निर्देश किया गया है वह एक नियम का विषय है, जिससे च्युत होना अक्षम्य अपराध माना जाता था। म० म० काणे जानना चाहते हैं कि यह नियम उन्होंने कहाँ पाया, जिसे वे इतनी सशक्त भाषा में प्रस्तुत करते हैं। डॉ० कृष्णमूर्ति डॉ० मुकर्जी के विचार से पूर्णतया सहमत हैं। इन दोनों डाक्टरों से काणे महोदय यह प्रार्थना करते हैं कि वे अपने विस्तृत अध्ययन से कम से कम एक भी स्थल निर्देश करें जहाँ सूत्र या कारिका तथा उस पर वृत्ति एक ही व्यक्ति द्वारा लिखे गए हैं और टीकाकार 'प्रतिपादितमिवैषामालम्बनं' जैसे वृत्ति-ग्रन्थ का व्याख्यान 'अस्मन्मूल-ग्रन्थकृता' से करता है। म० म० काणे इस 'अस्मन्मूलग्रन्थकृता' के निर्देश को एक महत्त्वपूर्ण निर्णायक अंश मानते हैं, क्योंकि 'लोचन' में कहीं भी 'ग्रन्थकृत' शब्द का प्रयोग कारिकाकार के लिए असन्दिग्ध रूप से नहीं हुआ है। मेरे विचार में यद्यपि इस विवाद का इतने निर्देश मात्र से निराकरण नहीं होता है, क्योंकि अभिन्नकर्तृकत्ववादी डॉ० मुकर्जी जिस भेद को 'Matter of form' समझते हैं, भिन्नकर्तृकत्ववादी म० म० काणे उसे ही अपना साधक प्रमाण समझते हैं फिर भी 'लोचन' का 'अस्मत्' प्रयोग एक निर्णय की ओर अवश्य अनुधावन करता है और यह सही है कि 'ग्रन्थकार' का प्रयोग 'लोचन' में केवल वृत्तिकार के लिए आया है। ('ग्रन्थकृत्समकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना' इस अंश में प्रयुक्त 'ग्रन्थकार' शब्द सन्दिग्ध है, क्योंकि 'मनोरथ' कवि को निश्चित रूप से नहीं कहा जा सका है कि वह जयापीड़-ललितापीड़ के समय का मनोरथ था)

म० म० काणे अपने पक्ष के साधक प्रमाण के रूप में ध्व० के मंगल-श्लोक 'स्वेच्छाकेसरिणः०' को उद्धृत करते हैं, जिसे 'लोचन' में 'वृत्तिकार' का कहा गया और प्रथम कारिका 'काव्यस्यात्मा०' को 'आदिवाक्य' कहा गया है। काणे महाशय के अनुसार यदि कारिका और वृत्तिग्रंथ का कर्ता एक है तो 'लोचन' ने मङ्गल-श्लोक को 'कारिकाकार' अथवा 'ग्रंथकार' शब्द के साथ क्यों नहीं सूचित किया ? और यह अनेक स्थलों से विदित होता है कि 'ग्रंथकार' शब्द से लोचनकार का अभिप्राय वृत्तिकार से है और वह भी आनन्दवर्धनाचार्य से (आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्द-वर्धनाचार्य एतच्छास्त्र०, पृ० ४१)।

(२) सप्तम अंश 'दर्शितमेवाग्रे०' (पृ० ३४७) है, इसे आचार्य आनन्दवर्धन ने 'औचित्य के (अ)त्याग' के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है। तात्पर्य यह कि 'इसे आगे (ऊपर) दिखा चुके हैं' (Has been dealt with), इस पर व्याख्यान करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं 'कारिकाकारेणेति भूतप्रत्ययः' अर्थात् कारिकाकार ने इसे दिखा दिया है, इसी कारण यहाँ 'भूतकाल' का प्रयोग है, (भविष्य का नहीं)। काणे महाशय का कहना है कि यदि कारिका और वृत्ति दोनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति की कृतियाँ होतीं तो 'दर्शितं' के स्थान पर वृत्तिकार को 'दर्शयिष्यते'

लिखना चाहिए था, क्योंकि आगे 'विभावभावानुभाव०' (३।१०) इत्यादि कारिकाओं में उक्त विषय की चर्चा मिलती है। किन्तु यहाँ 'भूतकाल' के प्रयोग से यही विदित होता है कि कारिकाएँ अन्य प्राचीन की रचना हैं और ठीक ही वृत्तिकार के पहले की हैं। काणे महोदय की इस व्याख्या से डॉ० मुकर्जी बिलकुल सहमत नहीं हैं, क्योंकि जब वृत्तिकार व्याख्यान के नियमानुसार स्वयं भिन्न रूप से निर्देश करते हैं तो काणे महोदय का यह कहना कि दोनों के अभिन्न होने की स्थिति में भविष्यत्काल 'दर्शयिष्यते' का प्रयोग होता, प्रमाणित न करने योग्य (unjustifiable) है। काल के प्रयोग पर आधारित तर्क पूर्णरूप से अनिर्णायक है (absolutely inconclusive)। डॉ० मुकर्जी का विचार है कि आनन्दवर्धन ने अनेक स्थलों में भविष्यत्काल का प्रयोग किया है, जो कि आगे की कारिका में कहा गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह निर्देश वृत्तिग्रन्थ के लिए है, कारिका के लिए नहीं। डॉ० मुकर्जी ने वृत्तिग्रन्थ के भविष्यत्काल के अनेक प्रयोगों को उद्धृत किया है—(१) स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते (पृ० ५१); (२) द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते (पृ० ७६); (३) वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते (पृ० ८४); ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः (पृ० १०५)। 'दर्शयिष्यामः' यह उत्तमपुरुष का प्रयोग महत्त्व का है। किन्तु म० म० काणे महाशय ने इन स्थलों को आगे के वृत्तिग्रन्थ के लिए ही निर्देश के रूप में समझाने का प्रयत्न किया है, जैसा कि प्रथम उद्धरण किसी कारिका के निर्देश के रूप में नहीं है, क्योंकि ऐसी कोई भी कारिका नहीं जो ध्वनि को वस्तु आदि तीन भागों में विभक्त करती हो। दूसरा उद्धरण भी वृत्तिग्रन्थ के लिए ही है, जैसा कि 'सप्रपञ्चं' शब्द स्पष्ट करता है। तृतीय उद्धरण का भी, ३।४१, ४२ कारिकाओं की वृत्ति के रूप में विस्तार से व्याख्यान है और वृत्तिकार ने वहाँ स्वयं कुछ अपने श्लोक दिए हैं।

डॉ० मुकर्जी का पक्ष यहां उनके बहुत कुछ निर्णीत सिद्धान्त, कि कारिका और वृत्ति का पृथक्करण 'Formal' है, पर आधारित है, किन्तु यहां काणे महाशय युक्तिसंगत तर्क देते हुए प्रतीत होते हैं। किन्तु ऐसा क्या सम्भव नहीं कि आनन्दवर्धन ने कारिकाओं का निर्माण करने के पश्चात् उस पर वृत्ति लिखी और इस प्रकार 'दर्शितमेवाग्रे' का भूतकालिक प्रयोग किया?

डॉ० मुकर्जी ने अपने निबन्ध में 'न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तम्' (लो० पृ० १७३) पर विचार करते हुए 'उत्सूत्रव्याख्यान' की चर्चा की है, उनके अनुसार 'वृत्ति' का तरीका यह है कि जो कुछ मूल ग्रन्थ में बिना सन्देह के कहा है उसका व्याख्यान करना और मूल के विरुद्ध वस्तु सूचित करना भाष्य के नियमों के अपराध (offence) है। इस 'अपराध' को पारिभाषिक रूप से 'उत्सूत्रव्याख्यान' कहा जाता है। यह अपराध वृत्तिकार के लिए अक्षम्य माना जाता है। मूलकार और वृत्तिकार दोनों भिन्न हों अथवा अभिन्न, सूत्र या कारिका के अनुसार ही वृत्तिग्रन्थ को होना चाहिए। 'यो हि उत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत' (महाभाष्य), 'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके' (नागेश), इनसे भी 'उत्सूत्रव्याख्यान' अपराध प्रमाणित होता है। भाष्य या वृत्तिग्रन्थ को अधिकार नहीं, कि वह उन तत्त्वों का भी निरूपण करे जो सूत्र या कारिका से सम्बन्ध नहीं रखते। मुकर्जी साहब के अनुसार यदि वृत्ति का कर्ता मूल ग्रन्थ के कर्ता से अभिन्न होता है, तो वह स्वयं को मूलकार से भिन्न व्यक्ति के रूप में निश्चित रूप से प्रकट करता

है और मूलकार को 'अन्य पुरुष' (Third person) में सूचित करता है। इस प्रकार प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ ध्वन्यालोक में भी कारिकाकार और मूलकार के अभिन्न होने की स्थिति में भी 'उत्सूत्रव्याख्यान' से बचने का निर्देश 'लोचन' में आचार्य अभिनवगुप्त ने वृत्तिकार के अभिप्राय से किया है।

इस प्रकार डॉ० मुकर्जी के अनुसार वे सभी अन्तःप्रमाण, जो मूल या वृत्ति में व्यक्तिगत (Personal) भेद के तात्पर्य के हैं इन rules of the game के विरुद्ध एक 'अपराध' समझे जायेंगे। किन्तु म० म० काणे महाशय इस कथन के सर्वथा भिन्न विचार प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि वृत्तिकार' के लिए ऐसा कोई प्राचीन नियम नहीं है जिसका उल्लङ्घन एक 'अपराध' हो। जैसा कि ध्वन्यालोक के लगभग सौ वर्ष पूर्व वामन ने कहा है कि उन्होंने सूत्र और वृत्ति दोनों लिखे हैं। हेमचन्द्र ने भी ऐसा ही किया है। 'कौटिलीय' के अन्त में यह प्रसिद्ध है—'स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च।' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकार के विरुद्ध कोई ऐसी मनाही नहीं है कि वह कहे कि स्वयं उसने सूत्र और वृत्ति दोनों को निबद्ध किया है, जब कि वह स्वयं को वृत्ति में 'अन्यपुरुष' में कहता है तो, भिन्न व्यक्ति (जैसे अभिनवगुप्त) को क्यों यह कहने से रुकावट होगी कि कारिका और वृत्ति के कर्ता भिन्न हैं अथवा अभिन्न ?

इस प्रकार काणे महाशय के विचार में यह सब कुछ आधारहीन है, क्योंकि उनकी दृष्टि में rules of the game' कोई हैं ही नहीं जिनके आधार पर भिन्न प्रतीत होते हुए कारिका और वृत्ति के कर्ताओं को अभिन्न समझा जाय। जिस प्रकार वामन, हेमचन्द्र, कौटिलीय से सिद्ध हो जाता है कि उनके मूलकार और वृत्तिकार एक हैं वैसी स्थिति यहां नहीं है, लोचन ने तो सर्वत्र दोनों को भिन्न ही प्रतिपादित किया है। डॉ० के० सी० पाण्डेय का मत है कि नवीं शताब्दी में कश्मीर में ऐसा चल पड़ा था कि एक ही व्यक्ति कारिका और उस पर वृत्ति का कर्ता हुआ करता था। इस विचार से भी काणे महाशय सहमत नहीं, क्योंकि ध्वन्यालोक में दोनों के अभिन्नकर्तृकत्व का निर्देश हुआ होता, जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट शब्दों में प्राप्त होता है। फिर प्रश्न उठता है कि क्यों लोचनकार ने आरम्भ में ही नहीं निर्देश किया कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक हैं, जब कि उन्होंने 'विमर्शिनी' में ऐसा किया है ? इससे निश्चित है कि यदि ऐसी परिस्थिति होती कि दोनों एक हैं तो पहले ही यह स्पष्ट कर देते ताकि शिष्यों को भ्रम न हो।

ऊपर उद्धृत तृतीय अंश 'उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदती-त्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति' (पृ० ३०९) को ध्वन्यालोक के भिन्नकर्तृकत्व की सिद्धि में विशेष सहायक समझा गया है, क्योंकि वृत्तिकार, लोचन के अनुसार 'यतश्च' के द्वारा इस अभिप्राय से उपस्कार (Supplement or embelishment) देते हैं कि कारिकाकार अनुवाद करते हैं। यदि वृत्तिकार कारिकाकार से अभिन्न होते तो कारिकाकार के कथन का उपस्कार देने की उन्हें आवश्यकता क्यों होती।

अभेदवादी विद्वान् कहते हैं कि ग्रन्थकार ने कारिकाओं के आरम्भ में मङ्गल-श्लोक नहीं लिखा और वृत्ति का आरम्भ करते हुए लिखा, इससे यही लगता है कि जब वृत्तिग्रन्थ में मङ्गल सम्पन्न हो गया तब कारिकाग्रन्थ में उसकी आवश्यकता न हुई, यदि वृत्तिकार से कारिकाकार कोई भिन्न व्यक्ति था तो अवश्य ही वह कारिकाओं का आरम्भ करते हुए मङ्गल-श्लोक लिखता।

इस तर्क के विरुद्ध म० म० कागे का कहना है कि प्राचीन ग्रन्थकारों के यहाँ मङ्गल की प्रथा नित्यरूप से मान्य नहीं थी, जैसा कि जैमिनि-सूत्रोंपर शावर के भाष्य के आरम्भ में, वेदान्त-सूत्रों पर शङ्कराचार्य के भाष्य के आरम्भ में, नाटय-सूत्रों पर वात्स्यायन के भाष्य में और उद्योतकर के न्याय-वार्तिक में मङ्गल नहीं है। जहाँ एक ही व्यक्ति सूत्र या कारिका और वृत्ति का कर्ता है वहाँ यह प्रवृत्ति अधिक है। वामन ने अपने सूत्रों में मङ्गल नहीं किया, किन्तु वृत्ति के आरम्भ में किया। मम्मट ने काव्यप्रकाश के आरम्भ में मङ्गल-कारिका रखी, किन्तु वृत्ति में नहीं। उद्भट ने अपना अलङ्कार-ग्रन्थ बिना मङ्गल के आरम्भ किया है। अलङ्कारसर्वस्व में सूत्रों में मङ्गल नहीं है, किन्तु वृत्ति में है। हेमचन्द्र ने अपने सूत्र और अपनी वृत्ति सौदामिनी दोनों में मङ्गल रखा है। कोई विशेष नियम उल्लिखित नहीं है। जैसा कि पाणिनि ने अष्टाध्यायी के आरम्भ में प्रथम सूत्र में 'वृद्धि' का प्रयोग किया उसी प्रकार यहाँ 'काव्यस्यात्मा' का प्रयोग करते हुए मङ्गल किया गया है। हम समझते हैं कि मङ्गलश्लोक के होने या न होने के आधार पर कारिकाकार और वृत्तिकार के भेदाभेद-निर्णय को कोई गति नहीं मिलती है।

मुकुलभट्ट और प्रतीहारेन्दुराज के प्रमाणों के आधार पर म० म० काणे का निर्णय है कि 'सहृदय' नाम के किसी व्यक्ति ने ध्वनि-कारिकाओं का निर्माण किया था, जिस पर आनन्दवर्धन ने वृत्ति लिखी। 'अभिधावृत्तिमातृका' में मुकुल लिखते हैं—'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्' (पृ० २१); 'तथा हि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता' (पृ० १९)। मुकुल के शिष्य प्रतीहारेन्दुराज कहते हैं—'ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः' इन उद्धरणों के सम्बन्ध में अभिन्नकर्तृकत्ववादी पण्डितों का कहना है कि 'सहृदय' प्रयोग व्यक्तिपरक नहीं है, बल्कि ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन को सूचित करता है, क्योंकि लोचनकार ने भी आनन्दवर्धन को 'सहृदयचक्रवर्ती' कहा है (पृ० ४२)। किन्तु अपने मन्तव्य की पुष्टि में म० म० काणे महाशय लिखते हैं कि ऐसी प्रवृत्ति मालूम होती है कि प्राचीन ग्रन्थकारों को एकवचन में निर्देश किया गया है जब कि समसामयिक अथवा कुछ पूर्व के ग्रन्थकारों का निर्देश बहुवचन में किया गया है। उदाहरण के लिए, मम्मट ने भरत (मुनि), रुद्रट और ध्वनिकार को प्रथमपुरुष में निर्देश किया है जब कि अभिनवगुप्त को बहुवचन में करते हैं। इसी आधार पर मुकुल, जो आनन्द के बाद के हैं, किन्हीं 'सहृदय' को बहुवचन में निर्देश करते हैं। स्वयं आनन्दवर्धन ने उद्भट आदि को, जिनसे काव्य के आत्मा के सम्बन्ध में उनका पूर्ण मतभेद था, बहुवचन में सम्मानित किया है (तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः, २।२६)। किन्तु काणे महाशय का यह पक्ष अपने आप में सर्वथा दुर्बल है, क्योंकि यह बिलकुल सम्भावना पर आधारित है। मुकुल ने अथवा प्रतीहारेन्दुराज ने कारिकाकार को ही 'सहृदय' कहा है, आनन्दवर्धन को नहीं (जब कि लोचन के अनुसार आनन्दवर्धन भी सहृदय-चक्रवर्ती थे), इसमें कोई विनिगमक प्रमाण नहीं है, साथ ही, लोचन में आनन्दवर्धन को 'शास्त्रकार' भी कहा गया है (पृ० ६७), इसका संकेत यही है कि ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ही ध्वनिशास्त्र के प्रवर्तक हैं। पण्डितराज ने भी ध्वनिकार को 'आलङ्कारिकसरणिव्यवस्थापक' कहा है। और बहुवचन प्रयोग से ऐसा भी

अनुमान लगाना युक्तिसंगत नहीं कि सहृदयों की मण्डली (circle) ने कारिकाओं का निर्माण किया था।

डॉ० कृष्णमूर्ति ने लोचन से उन अंशों को उद्धृत किया है जिनसे कारिकाकार और वृत्तिकार का अभेद प्रतीत होता है—(१) 'एवं कारिकां व्याख्याय तदसङ्गृहीतमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं प्रपञ्चयितुमाह यस्त्विति' (पृ० ३२७); (२) 'एवं व्यङ्ग्यस्वरूपं निरूप्य सर्वथा यत्तच्छून्यं तत्र का वार्तेति निरूपयितुमाह प्रधानेत्यादिना कारिकाद्वयेन' (पृ० ५२५)। इन दोनों स्थलों में क्रमशः 'व्याख्याय' और 'निरूप्य' ये ल्यबन्त प्रयोग कारिकाकार और वृत्तिकार के अभिन्न होने का निर्देश करते हैं। क्योंकि जिस व्यक्ति ने कारिका का व्याख्यान किया उसने ही कारिका में असंगृहीत अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का प्रपञ्च करने के लिए कहा—'यस्तु०' इत्यादि। दूसरे उद्धरण की भी यही स्थिति है। परन्तु म० म० काणे का कहना है कि यहाँ, कारिका वृत्ति का भाग हो गई है तथा 'व्याख्याय' और 'निरूप्य' शब्द वृत्तिकार को सूचित करते हैं तथा 'आह' भी उन्हें ही सूचित करता है, क्योंकि वृत्तिकार ने 'यस्तु०' कारिका के प्रमाण एवं व्याख्यान द्वारा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का निरूपण आरम्भ किया है। दूसरे यह कि कोई यह नित्य नियम नहीं है कि एक वाक्य में ल्यबन्त का और प्रधान क्रिया का कर्ता एक ही होना चाहिए। जैसा कि महाकवि कालिदास आदि ने इस नियम को नहीं माना है—'अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति। मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥' (रघु० १।७७); किरातार्जुनीय ३।२१, तीसरे यह कि जब कि ऊपर निर्दिष्ट आठ अंश भिन्नकर्तृकत्व सिद्ध कर चुके हैं तब ये दो अंश उस प्रकार अभेद सद्ध नहीं करते हैं। अन्त में, कारिकाकार और वृत्तिकार अभिनवगुप्त से पहले पहचाने जा चुके हैं, ऐसी स्थिति में अभिनवगुप्त ने दोनों के भेद के वारे में बात दुहराई नहीं है।

हम मानते हैं कि काणे महाशय का मत बहुत अंश में तर्कसमन्वित है, किन्तु जिनके विचार से दोनों का लोचन में भेद formal अथवा व्याख्यान के स्पष्टीकरणार्थ है उनके लिए ये दोनों उद्धरण अपने स्वाभाविक अर्थ में अनुपेक्षणीय नहीं हैं।

अभिन्नकर्तृकत्ववादी विद्वान् अभिनवगुप्त की भरत मुनि के नाट्यशास्त्र पर लिखी व्याख्या 'अभिनवभारती' से कुछ अंश अपने मत की पुष्टि में उद्धृत करते हैं, जैसा कि अभिनवगुप्त ने वहाँ लिखा है—

"स्वशब्दानभिधेयत्वं हि रसादीनां ध्वदिकारादिभिर्दर्शितम्। तच्च मदीयादेव तद्विवरणात् सहृदयालोकलोचनादवधारणीयमिह तु यथावसरं वक्ष्यत एव" (भरत, अध्याय ७, भाग १ पृ० ३४४);

"एतमेवार्थं सम्यगानन्दवर्धनाचार्योऽपि विविच्य न्यरूपयत्। 'ध्वन्यात्मभूते०' (ध्व० २।१७) **इत्युक्त्वा क्रमेण 'विवक्षा तत्परत्वेन०'** (ध्व० २।१८) **इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण सोदाहरणेन। तच्चास्माभिः सहृदयालोकलोचने तद्विवरणे विस्तरतो व्याख्यातमिति।"** (भरत, १६, भाग २. पृ० २९९–३००)

इन अंशों में प्रथम में वृत्तिग्रन्थ के रचयिता को 'ध्वनिकार' कहा गया है और ध्वन्यालोक का प्राचीन नाम 'सहृदयालोक' अवगत होता है। कुछ पाण्डुलिपियों की पुष्पिकाओं में तथा राघवभट्ट

द्वारा ध्वन्यालोक का नाम 'सहृदयहृदयालोक' भी निर्देश किया गया है। दूसरे अंश में स्पष्ट ही आनन्दवर्धनाचार्य का नाम लेकर कारिकाग्रन्थ को उनके कथन के रूप में निर्देश किया गया है।

इस पर भिन्नकर्तृकत्व पक्ष से म० म० काणे महाशय का कहना है कि जैसा कि उपर्युक्त अंश से विदित होता है अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती को लोचन के पश्चात् लिखा था। लोचन में अभिनवगुप्त के मान्य गुरु थे इन्दुराज, जिनकी व्याख्याओं का लोचनकार ने पूर्ण रूप से अनुसरण किया है तथा नाट्यशास्त्र का अध्ययन उन्होंने भट्टतौत से किया था, जैसा कि अभिनवभारती की प्रस्तावना के पद्य से एवं और भी स्थलों से प्रतीत होता है तथा अभिनवगुप्त ने भट्टतौत-रचित 'काव्यकौतुक' नाम के ग्रन्थ पर 'विवरण' लिखा था, यह लोचन से विदित होता है (पृ० ४३४)। इसलिए यह सम्भव है कि अभिनव कारिका और वृत्ति के कर्तृत्व के सम्बन्ध में अपने गुरु भट्टतौत का विचार साधारणतः प्रस्तुत किया है, क्योंकि बाद के सभी ग्रन्थकारों ने कारिकाकार और वृत्तिकार को अभिन्न समझा है।

म० म० काणे का पक्ष यहाँ कुछ दुर्बल लगता है, क्योंकि वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि ध्वन्यालोक की कारिका और वृत्ति के कर्तृत्व के सम्बन्ध में विवाद अभिनवगुप्त के पहले से चल रहा है, किन्तु मैं नहीं समझता कि यह विवाद प्राचीन है, बल्कि जब से डॉ० बूहलर ने लिखा और काव्यमाला के सम्पादकों ने दोनों को भिन्न मान लिया तभी से यह विवाद चल पड़ा है।

'मया वृत्तिकारेण सता' (लो० पृ० १७३) इस अंश पर डॉ० मुकर्जी के अनुसार काणे महाशय ने ठीक ध्यान नहीं दिया है। डॉ० मुकर्जी ने इसका अनुवाद किया है 'by me, in the capacity of vṛttikār'। काणे महाशय का कहना है कि यदि कोई अपना दिमाग पूर्ण रूप से बना ले कि कारिका और वृत्ति के कर्ता अभिन्न है, तब केवल यह अनुवाद ठीक हो सकता है। (capacity) के लिए मूल में कोई शब्द नहीं है। शाब्दिक अनुवाद (Literal translation) है—'by me who am वृत्तिकार'। म० म० काणे महाशय प्रस्तुत प्रकरण के 'अभिप्राय' और 'सम्मत' प्रयोगों पर विशेष ध्यान देते हैं और इन्हें अपने पक्ष भिन्नकर्तृकत्व के अनुकूल मानते हैं। (चौ० काशी संस्करण में 'न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तम्' पाठ है, किन्तु इस काव्यमाला सं० में 'उत्सूत्रं' का प्रयोग नहीं मिलता, जो तीन प्रतियों पर आधारित है, काशी संस्करण का आधार विदित नहीं)।

तृतीय उद्योत के आरम्भ का वृत्तिग्रन्थ इस प्रकार है—"एवं व्यङ्ग्यमुखेनैव ध्वनेः प्रदर्शिते सप्रभेदे स्वरूपे पुनर्व्यञ्जकमुखेन तत्प्रकाश्यते।" इस पर लोचन का अंश है—"यस्तु व्याचष्टे व्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्काररसानां मुखेन' इति स एवं प्रष्टव्यः—एतत्तावत्त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतम्। वृत्तिकारेण तु दर्शितम्। न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति। ततश्चेदं कृतमिदं क्रियत इति कर्तृभेदे का सङ्गतिः ? न चैतावता सकलप्राक्तनग्रन्थसङ्गतिः कृता भवति। अविवक्षितवाच्यादीनामपि प्रकाराणां दर्शितत्वादित्यलं निजपूज्यजनसगोत्रैः साकं विवादेन।" (पृ० ३१२)

वृत्तिग्रन्थ में यह कहा गया है कि व्यङ्ग्य के प्रकार से (व्यङ्ग्यमुखेन) ध्वनि का प्रभेदों-सहित स्वरूप दिखाया जा चुका, फिर व्यञ्जक के प्रकार से (व्यञ्जकमुखेन) उसे प्रकाशित करते हैं।

लोचन के अनुसार लोचन के पहले लिखी हुई 'चन्द्रिका' व्याख्या में 'व्यङ्ग्यमुखेन' का अर्थ

किया है, वस्तु, अलङ्कार और रस इन तीन व्यङ्ग्यों के प्रकार से। लोचनकार इस व्याख्यान पर आपत्ति करते हैं तथा प्रश्न करते हैं कि इन तीन भेदों को वृत्तिकार ने निर्देश किया है, कारिकाकार ने नहीं। फिर अब वृत्तिकार भेद का प्रकाशन नहीं कर रहे हैं। जब कि कर्ता का भेद है (कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न मानते हैं) तो यह कहने में क्या सङ्गति है 'कि (वृत्तिकार) यह कर चुके हैं और (कारिकाकार) यह कर रहे हैं ?

म० म० काणे को यह स्पष्ट है कि चन्द्रिकाकार कर्तृभेद का विचार रखते थे, और लोचन का कहना है कि 'व्यङ्ग्यमुखेन' का जो व्याख्यान 'चन्द्रिका' ने किया है उसकी सङ्गति नहीं बैठती। जब तक 'चन्द्रिका' व्याख्या नहीं मिल जाती, इसे स्पष्ट रूप से कहना सम्भव नहीं कि चन्द्रिकाकार कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न मानते थे अथवा अभिन्न। डॉ० मुकर्जी प्रस्तुत वृत्तिग्रन्थ के लोचन व्याख्यान को क्लिष्ट एवं गलत समझते हैं और 'चन्द्रिका' के व्याख्यान को बहुत कुछ सन्तोषजनक एवं दृढ़ (consistent) मानते हैं। क्योंकि ऐसा नहीं कि वस्तु, अलङ्कार और रस का विभाग कारिका में नहीं हुआ है, बल्कि २।३ कारिका में रस ध्वनि का निर्देश है, २।२१ में शब्दशक्त्युद्भव पर आधारित अलङ्कारध्वनि पर विचार किया है, २।२२-२४ कारिकाओं में वस्तु-ध्वनि का निरूपण किया गया है। ऐसी स्थिति में अभिनवगुप्त का यह कहना कि ये तीनों व्यङ्ग्यभेद केवल वृत्तिकार ने किया है, कारिकाकार ने नहीं, सङ्गत नहीं। और, डॉ० मुकर्जी के अनुसार अभिनवगुप्त यह भूल गए हैं कि वृत्तिकार एक भी वस्तु प्रस्तुत नहीं कर सकते जो कारिकाकार की अभिप्रेत अथवा उनको पोषित नहीं है। अन्यथा व्याख्यान 'उत्सूत्र' होगा। डॉ० मुकर्जी के इस विचार से डॉ० कृष्णमूर्ति सहमत नहीं हैं। यद्यपि डॉ० मुकर्जी ने अपने निबन्ध में 'कर्तृभेदे' के कर्ता को ग्रन्थकार ही माना था किन्तु अब उन्होंने 'Indian Culture' (भाग १२, पृ० ५७-६०) में दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की है जिसमें कर्तृ का अर्थ है केवल कर्ता (grammatical agent of an action), न कि ग्रन्थ का कर्ता।

अस्तु, यह मानते हुए कि 'कर्तृभेदे' का अर्थ अभी तक कोई स्थिर रूप से नहीं प्रस्तुत किया जा सका है, फिर हम विद्वानों पर ही इसका निर्णय छोड़ते हैं।

वृत्तिग्रन्थ में 'परिकरश्लोक', 'संग्रहश्लोक' और 'संक्षेपश्लोक' के साथ और 'तदयमत्र परमार्थः', 'तदिदमुक्तं', और 'तदिदमुच्यते' के साथ अनेक श्लोकों को प्रस्तुत किया गया है। जिनमें बहुत से श्लोक कुछ कारिकाओं से अधिक अर्थगर्भित हैं। म० म० काणे महाशय का कहना है कि यदि दोनों (कारिकाकार और वृत्तिकार) अभिन्न हैं तो क्यों उस व्यक्ति ने उन उत्तम श्लोकों को कारिकाओं में न रख कर वृत्ति में अप्रधान स्थिति में रखा ? काणे महाशय के अनुसार अभिन्नकर्तृकत्ववादी डॉ० मुकर्जी, डॉ० कृष्णमूर्ति और डॉ० के० सी० पाण्डेय में किसी ने इसका सन्तोषजनक व्याख्यान नहीं किया है। आचार्य मम्मट ने जो अपने काव्यप्रकाश के कारिकाकार और वृत्तिकार भी हैं इसी प्रकार वृत्ति में परिकरश्लोक अथवा संग्रहश्लोक क्यों नहीं दिया ? डॉ० कृष्णमूर्ति के अनुसार आनन्दवर्धन ने पहले कारिकाएं लिखीं और अपने शिष्यों को उन्हें पढ़ाया, तब कुछ समय बाद वृत्ति का निर्माण किया। काणे महाशय इसे नहीं मानते, क्योंकि यदि यह माना भी जाय तो लेखक को क्या बाधक हुआ कि उसने इन पद्यों को कारिकाओं के रूप में नहीं लिखा।

लोचन के इस वाक्य को भी अभिन्नकर्तृकत्व की सिद्धि में उपस्थापित किया जाता है—'प्रक्रान्तप्रकारद्वयोपसंहारं तृतीयप्रकारसूचनं चैकेनैव यत्नेन करोमीत्याशयेन साधारणमवतरणपदं प्रक्षिपति वृत्तिकृत्—तथा चेति' (पृ० २७१)। म० म० काणे इसे भी अभिन्नकर्तृकत्व की सिद्धि का प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि यहाँ भी कारिका वृत्ति का भाग बन गई है। यहाँ लोचन कहता है कि कारिका (२।२३) ने दो प्रकारों (varieties) का निर्देश किया है और वृत्ति ने तृतीय को भी संलग्न कर दिया है। यदि अभिन्नकर्तृकत्व है तो कारिका में क्यों नहीं तीनों का निर्देश किया गया और क्यों वृत्ति उत्सूत्र व्याख्यान के अपराध से युक्त हुई ?

किन्तु यदि विचार किया जाय तो यह लगता है कि एक ही कारिका वाक्य से दो प्रकारों का उपसंहार और तृतीय प्रकार का सूचन करता हूँ इस आशय से वृत्तिकार साधारण रूप से अवतरण देते हैं—'तथा च'। अर्थात् 'तथा च' यह वृत्तिग्रन्थ कारिकाग्रन्थ को अपनी कुक्षि में ले लेता है, इसे ही म० म० काणे कारिका का वृत्ति का भाग हो जाना कहते हैं। इतने मात्र से अभिन्नकर्तृकत्व का पक्ष निराकृत नहीं हो जाता है।

डॉ० के० सी० पाण्डेय ने प्रश्न उठाया है कि लोचन केवल वृत्तिग्रन्थ का व्याख्यान है अथवा कारिका और वृत्ति दोनों का। इस प्रकार यदि यह सिद्ध हो जाता है कि लोचन दोनों का व्याख्यान है तब दोनों के एककर्तृक मानने में आपत्ति नहीं होगी। किन्तु म० म० काणे लोचन को केवल वृत्तिग्रन्थ का व्याख्यान सिद्ध करते हैं, क्योंकि 'काव्यालोक', जिसके व्याख्यान के लिए लोचनकार प्रवृत्त हैं वह वृत्तिग्रन्थ है न कि कारिकाग्रन्थ। कारिकाग्रन्थ को केवल ध्वनिकारिका या ध्वनि कहते थे। यही कारण है कि लोचनकार ने आरम्भ में वृत्तिग्रन्थ के मङ्गलाचरण के व्याख्यान से 'लोचन' का आरम्भ किया और 'आदिवाक्य' के रूप में प्रथम कारिका का निर्देश मात्र करके उस पर के वृत्तिग्रन्थ के व्याख्यान में लग जाते हैं। हाँ, जहाँ कारिकाग्रन्थ पर वृत्ति बहुत संक्षिप्त है वहाँ लोचन कारिका के कुछ शब्दों का व्याख्यान करता है, किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

साथ ही, काणे महाशय का यह भी तर्क है कि यदि कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की रचनाएं हैं तो कारिकाओं के टुकड़े और उनमें वृत्ति का छिटफुट नियोजन समान रूप से होना चाहिए था, किन्तु ऐसी समानता नहीं है, वृत्ति की किसी पाण्डुलिपि में कारिकाएं टुकड़ों में पढ़ी गई हैं और किसी में पूरी कारिकाएँ पढ़ी गई हैं। यद्यपि 'काव्यप्रकाश' में कारिकाएं तोड़-तोड़ कर बीच में वृत्ति के साथ भी रखी गई हैं, तथापि वहाँ ऐसी अव्यवस्था नहीं है।

ध्वन्यालोक के अन्त में दो पद्य हैं—'इत्यक्लिष्ट०' और 'सत्काव्यतत्त्व०'। 'इति' पर टिप्पणी करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं—'इतीति कारिकातद्वृत्तिनिरूपणप्रकारेणेत्यर्थः', अर्थात् कारिका और उसकी वृत्ति के निरूपण के प्रकार से। डॉ० मुकर्जी के अनुसार यह टिप्पणन सूचित करता है कि अभिनवगुप्त कारिका और वृत्ति को एक व्यक्ति की रचना मानते हैं। दूसरा श्लोक आनन्दवर्धन को सुधियों के मन में काव्य के चिरप्रसुप्तकल्पतत्त्व को प्रवृत्त करने वाला बताता है, इसका अर्थ है कि आनन्दवर्धन ने ही पहले पहल ध्वनिमार्ग का आलोकन कारिका और वृत्ति द्वारा किया, और भी, ठीक इसी प्रकार तृतीय उद्योत की ४६वीं कारिका के अनुसार जो यह काव्यतत्त्व अस्फुट रूप से स्फुरित था उसका व्याख्यान करने में असमर्थ लोगों ने रीतियों का मार्ग प्रवर्तित किया, दोनों

बातें सिद्ध करती हैं कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक व्यक्ति है और वह हैं आचार्य आनन्दवर्धन।

किन्तु म० म० काणे महाशय को भाण्डारकर संस्थान की सभी प्रतियों तथा ध्वन्यालोक के प्राप्त तीनों संस्करणों में 'इत्यक्लिष्ट०' के स्थान पर 'नित्याक्लिष्ट०' मिलता है, जबकि डॉ० डे द्वारा प्रकाशित चतुर्थ उद्योत के लोचन में 'इति' पर टिप्पणन मिलता है तब वही सबसे अधिक प्रामाणिक पाठ मानने योग्य है। फिर भी म० म० काणे डॉ० मुकर्जी के विचारों से सहमत नहीं। उनके अनुसार आनन्दवर्धन ने प्राचीन कारिकाग्रन्थ का व्याख्यान किया है, इसका निर्देश 'व्याकरोत' शब्द (तद् व्याकरोत सहृदयोदयलाभहेतोः) सूचित करता है।

कारिका २।५ में 'मे मतिः' की वृत्ति है—'मामकीनः पक्षः' इस पर भी अभिन्नकर्तृकत्ववादियों और भिन्नकर्तृकत्ववादियों का विचार-वैषम्य है। प्रथम के अनुसार यदि कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न होते तो 'मे मतिः' का व्याख्यान 'मामकीनः पक्षः' न करके कुछ भिन्न ही करते, इसके विपरीत दूसरे पक्ष का कहना है कि वृत्तिकार ने केवल यहाँ व्याख्यान के रूप में 'मामकीनः पक्षः' लिखा है, इससे दोनों का अभेद सिद्ध नहीं होता।

न्यायमञ्जरी के रचयिता जयन्तभट्ट ने ध्वनिसिद्धान्त की आलोचना की है। जयन्त अवन्तिवर्मा के, जिनकी सभा में आनन्दवर्धन थे, अव्यवहित उत्तराधिकारी शङ्करवर्मा के समसामयिक थे। वह लिखते हैं—

'यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम्।
विधेर्निषेधावगतिर्विधिबुद्धिर्निषेधतः॥

यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो मा स्म पान्थ गृहं विश।
मानान्तरपरिच्छेद्यवस्तुरूपोपदेशिनाम्॥
शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा।
अथवा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते॥'

(न्यायमञ्जरी, चौ० सं०, भाग १, पृ० ४५)

डॉ० मुकर्जी के अनुसार यह स्पष्ट है कि जयन्त यहाँ ध्वन्यालोक की वृत्ति (स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः-यथा-भम धम्मिअ०, क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—अत्ता एत्थ०, पृ० ५१, ७१) का निर्देश करते हैं और समझते हैं कि वह सिद्धान्त एक व्यक्ति द्वारा प्रकाशित किया गया। डॉ० मुकर्जी के यह समझने का आधार इस उद्धरण में प्रयुक्त 'प्रपेदे' शब्द है, जिसका अनुवाद उन्होंने 'propounded' किया है, किन्तु म० म० काणे महाशय के अनुसार अनुवाद होगा—'Restorted to or adopted'। इस प्रकार इनके अनुसार प्रस्तुत उक्ति का अर्थ होगा ध्वनि का सिद्धान्त पहले से था जिसे एक पण्डितम्मन्य ने स्वीकार किया। श्री काणे ने यह भी सम्भावना की कि जयन्त आनन्दवर्धन के समसामयिक थे, जैसा कि उनके पुत्र अभिनन्द ने कादम्बरीकथासार में कहा है कि जयन्त कर्कोट वंश के राजा मुक्तापीड के मन्त्री शक्तिस्वामी के परनाती थे।

श्री गौडा वर्मा ने कुछ ऐसे कारिका और वृत्ति के विरोधी स्थलों का निर्देश किया है जिनसे कारिकाकार और वृत्तिकार के भिन्न होने का अनुमान होता है, उनके द्वारा निर्दिष्ट कुछ स्थल काणे महाशय के अनुसार विचारणीय हैं। (क) कारिका १।४ 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव०' (पृ० ४७) में वृत्ति ने 'प्रसिद्ध' की दो व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं—'यत्तत्सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वाऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते'; 'लोचन' का भी निर्देश है—'प्रसिद्धशब्दस्य सर्वप्रतीतत्वमलङ्कृतत्वं चार्थः' (पृ० ४८)। यदि कारिकाकार और वृत्तिकार एक व्यक्ति थे तो वह वृत्ति में एक अर्थ करते। (ख) कारिका २।१० है—'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति। स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥' (पृ० २२४) इसमें 'सर्वरसान् प्रति' के अनुसार 'सर्वसाधारणक्रियः' का 'सर्व' शब्द 'सर्वरस' का निर्देशक है, किन्तु वृत्ति में 'सर्वरससाधारणो गुणः सर्वरचनासाधारणश्च' है, इस प्रकार दूसरी व्याख्या अनावश्यक है और (डॉ० मुकर्जी ने जैसा कि कहा है) 'उत्सूत्रव्याख्यान' है। (ग) ३।१९ कारिका का उत्तरार्ध है—'रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव वा।' इसकी वृत्ति में 'वृत्ति' शब्द के तीन अर्थ हैं। (श्री वर्मा के लेख का यह उद्धरण श्री काणे महाशय ने अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है)।

म० म० काणे महाशय ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध में निर्देश करते हैं कि ग्रन्थ की पुष्पिकाओं (Colophons) में इसे प्रायः सहृदयालोक, सहृदयहृदयालोक, काव्यालोक, काव्यालङ्कार और ध्वनि कहा गया है। लोचन के आरम्भिक दूसरे पद्य में ग्रन्थ का नाम 'काव्यालोक' निर्दिष्ट है (यत्किञ्चिदप्यनुरणन् स्फुटयामि काव्यालोकं सुलोचननियोजनया जनस्य)। लोचन (चतुर्थ उद्योत) के अन्त का द्वितीय श्लोक आनन्दवर्धन के ग्रन्थ का नाम 'काव्यालोक' कहता है (आनन्दवर्धनविवेकविकासिकाव्यालोकार्थतत्त्वघटनादनुमेयसारम्)। अभिनवभारती में स्वयं अभिनवगुप्त ने इसे 'सहृदयालोक' कहा है। चतुर्थ उद्योत के वृत्तिग्रन्थ के अन्त में 'काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः' के अनुसार 'काव्य' शब्द मूलग्रन्थ के नाम का भाग है, अथवा स्वयं नाम है, जिस पर आनन्दवर्धन ने वृत्ति लिखी (सम्भवतः उसे काव्यध्वनि कहा जाता हो अथवा काव्य या ध्वनि)। ३।४७ कारिका के अनुसार कारिकाएं 'काव्यलक्षण' हैं (वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे)। इस प्रकार वृत्ति को 'काव्यालोक' या 'ध्वन्यालोक' कहा गया। कहना कठिन है कि 'सहृदयालोक' इस ग्रन्थ को कैसे कहा गया। डॉ० सोवानी का विचार है कि 'सहृदय' कारिकाओं के रचयिता का नाम है।

मुकुल की 'अभिधावृत्तिमातृका', जो 'लोचन' से लगभग सौ वर्ष पूर्व लिखी गई थी, लक्षणा में ध्वनिमार्ग को अन्तर्भूत करते हुए 'ध्वनि' को नूतन रूप से किन्हीं सहृदय द्वारा उपवर्णित बताती है—'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्' (पृ० २१); इसी प्रकार मुकुल लिखते हैं—'तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता' (पृ० १९)। यह स्पष्ट रूप से निर्देश करता है कि जब मुकुल ने (लगभग ९००–९२५ ई०) लिखी उस समय ध्वनि नया सिद्धान्त था और 'सहृदय' ने उसे प्रतिपादित किया था। इसी प्रकार, मुकुल के शिष्य प्रतीहारेन्दुराज कहते हैं—'ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः' (पृ० ७९)। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि बहुत सम्भव है, सहृदय रचयिता का नाम है

जिसने ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, अथवा बहुत अधिक सम्भव है कि यह उसके प्रशंसकों की दी हुई उपाधि हो।

राजशेखर ने 'आनन्द' का नाम लेते हुए 'काव्यमीमांसा' में 'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः०' इस श्लोक को उद्धृत किया है जो ध्वन्यालोक के वृत्तिग्रन्थ का परिकर श्लोक है (पृ० ३४६)। इससे प्रतीत होता है कि ९००-९२५ ई० के लगभग यह सर्वविदित था कि आनन्दवर्धन वृत्ति के रचयिता थे। इससे अभिन्नत्व सिद्ध नहीं होता। जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर के नाम से यह श्लोक उद्धृत है—

'ध्वनिनाऽतिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥'

इससे प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' की स्थापना की। प्रतीहारेन्दुराज के उद्धरणों से विदित होता है कि वह कारिका और वृत्ति दोनों के रचयिता को 'सहृदय' कहते हैं।

'वक्रोक्तिजीवित' (कुन्तकरचित) रूढ़िवक्रता के उदाहरण में आनन्दवर्धन के निजी श्लोक 'ताला जाअन्ति गुणा०' (पृ० १७८) को रखा तथा निर्देश किया—**'ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितः किं पौनरुक्त्येन।'** इस प्रकार वक्रोक्तिजीवित आनन्दवर्धन को 'ध्वनिकार' कहता हैं।

'लोचन' के बहुत कुछ समसामयिक महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' में कारिका और वृत्तिग्रन्थों के लेखक का पृथक्करण नहीं किया हैं। ध्वनिकार के नाम से कारिकाग्रन्थ और वृत्तिग्रन्थ दोनों को आचार्य कुन्तक ने उद्धृत किया है। यहाँ तक कि 'अर्थो वाच्यविशेष इति स्वयं विवृतत्वाच्च' (पृ० ८२) के द्वारा स्पष्ट कह दिया कि कारिकाओं के रचयिता ने ही स्वयं वृत्ति लिखी है। 'औचित्यविचारचर्चा' में क्षेमेन्द्र ने 'विरोधी वाविरोधी वा०' (३।२४) इस कारिका को आनन्दवर्धन के नाम के साथ उद्धृत किया है। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव०' (१।४) को आनन्दवर्धन को लिखा है। साहित्यदर्पणकार ने भी कारिका और वृत्तिग्रन्थों को ध्वनिकार की रचना बताई है।

इस परिस्थिति में जब कि कारिकाकार और वृत्तिकार के भिन्न होने और न होने, दोनों के विरोधी प्रमाण मिलते हैं, दो ही रचनाएं समस्या का समाधान कर सकती थीं, एक तो 'चन्द्रिका' व्याख्या, जो लोचन से पूर्व ध्वन्यालोक पर लिखी गई थी, दूसरी भट्टनायक का 'हृदयदर्पण', जिसमें ध्वन्यालोक की खूब आलोचना की गई थी, किन्तु दुर्भाग्य से दोनों रचनाएं अभी तक उपलब्ध नहीं की जा सकी हैं। म० म० काणे महाशय का खयाल है कि यदि लोचन का उपर्युक्त अंश 'चन्द्रिका' को ठीक रूप में उपस्थित करता है तो लगता है कि 'चन्द्रिका' कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न मानती है। काणे महाशय 'लोचन' के अंश को मुकुलभट्ट को ठीक मानते हैं तथा कुन्तक, महिमभट्ट और क्षेमेन्द्र आदि को कहते हैं कि उन्होंने ठीक परम्परा ग्रहण नहीं की।

ध्वन्यालोक में 'सहृदय' शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग मिलता है। प्रथम कारिका के 'सहृदयमनःप्रीतये' की वृत्ति है—'रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते' (पृ० ३७)। इसका दूसरा तात्पर्य यह भी हो सकता है कि आनन्द (आनन्दवर्धनाचार्य) ध्वनि के प्रतिष्ठापक 'सहृदय' के मन में प्रतिष्ठा

प्राप्त करें। 'सहृदयोदयलाभहेतोः' यह ग्रन्थान्त के श्लोक का शब्द भी सहृदय के उदयलाभ के लिए अर्थात् सहृदय द्वारा प्रवर्तित ध्वनि-सिद्धान्त की प्रगति के लिए आनन्दवर्धन का प्रयत्न निर्देश करता है। 'सहृदय' के पर्यायवाची 'सचेतस्' का प्रयोग कारिका, वृत्ति और लोचन में अनेक स्थलों पर मिलता है। लोचन ने 'सहृदय' का लक्षण भी प्रस्तुत किया है (पृ० ३९-४०)। लोचन ने आनन्दवर्धन को 'सहृदयचक्रवर्ती' कहा है (पृ० ४२)।

म० म० काणे लिखते हैं कि कारिकाकार के नाम का प्रश्न कारिका और वृत्ति के लेखक के प्रश्न से पृथक् है। जो विद्वान् भिन्नकर्तृकत्ववादी हैं, तर्क दे सकते हैं कि कारिकाकार का नाम ज्ञात नहीं है। प्रो० सोवानी ने कारिकाकार का नाम 'सहृदय' बताया। मुकुल के अनुसार सम्भव है कि कारिकाकार 'सहृदय' थे अथवा प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार समग्र ग्रन्थ के रचयिता थे। राघवभट्ट ने ग्रन्थ का नाम 'सहृदयहृदयालोक' निर्दिष्ट किया है। अभिनवभारती के उद्धरण के अनुसार अभिनवगुप्त भट्टनायक के ग्रन्थ को 'सहृदयदर्पण' कहते हैं ('भट्टनायकस्तु ब्रह्मणा परमात्मना यदुदाहृतं……इति व्याख्यानं सहृदयदर्पणे पर्यगृहीत' अ० भा० भाग १, पृ० ४-५)। लोचन में 'हृदयदर्पण' के नाम से यह ग्रन्थ उद्धृत है। म० म० काणे महाशय 'हृदयदर्पण' से अधिक 'सहृदयदर्पण' पसंद करते हैं। जैसा कि काणे महाशय समझते हैं अभिनवभारती (भाग १, पृ० १७३) में "अत एव सहृदयाः स्मरन्ति 'वध (स) य चूडामणिआ' " में 'सहृदय' का प्रयोग किसी ग्रन्थकार के लिए किया है। कारिकाकार का नाम 'सहृदय' था इसका निर्देश व्यक्तिविवेक के रुय्यककृत व्याख्यान में भी मिलता है, जैसा कि व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श के आरम्भ में लिखा है—'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेपु यो विनियोगस्तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते।' इस पर व्याख्यान है—'उक्तमिति सहृदयैः'। इस प्रकार 'सहृदयैः' कह कर कारिकाग्रन्थ का निर्देश किया है (ध्वनिकारिका ३।१०)।

अभिन्नकर्तृकत्ववादी डॉ० मुकर्जी का सबसे मूलभूत तर्क है कि परम्परा सम्पूर्ण ध्वन्यालोक को एक व्यक्ति की, वह भी आनन्दवर्धन की कृति मानती है। काणे महाशय का मूलभूत आधार है अभिनवगुप्त का 'लोचन', जिसमें कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न रूप से निर्देश किया गया है। दोनों पक्षों के विद्वानों के पास अपने-अपने पक्ष के समर्थन में अन्तः-बाह्य प्रमाण हैं, जिनका विस्तारपूर्वक ऊपर निर्देश किया गया। किन्तु नितान्त सन्देहरहित होकर किसी एक पक्ष में अपना निर्णय देना अत्यन्त कठिन है, जब कि अनुकूल तर्क दोनों पक्षों में संकलित मिलते हैं। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आगे के जिन आलङ्कारिकों ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक को ध्वनिकार या आनन्दवर्धन की कृति माना और निर्देश किया है उनकी दृष्टि से 'लोचन' भी अवश्य ही गुजरा होगा, ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि 'लोचन' द्वारा कारिकाकार और वृत्तिकार के पृथक्-करण के प्रति उनका ध्यान अवश्य आकर्षित होता, किन्तु ऐसा किसी ने नहीं किया। इस प्रकार के पृथक्करण की कल्पना डॉ० बूह्लर द्वारा प्रस्तुत की गई और काव्यमाला संस्करण के सम्पादकों ने उसे सर्वथा मान लिया। म० म० काणे महाशय ने उसकी प्रबल तर्कों से युक्तिसंगत पुष्टि की। फिर भी, तर्कों की पेचीदगी से कुछ हट कर सामान्यतः देखें तो अभी तक कारिकाकार और वृत्तिकार दोनों आनन्दवर्धन ही ठहरते हैं। जब तक 'चन्द्रिका' व्याख्या और भट्टनायक का 'हृदयदर्पण' ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आ जाते तब तक इस समस्या का पूर्णतः समाधान देना सम्भव नहीं। इसका

अर्थ यह नहीं कि विवाद व्यर्थ है, बल्कि इस प्रश्न पर और भी नवोद्भावित युक्तियों के प्रकाश में विचार करने की आवश्यकता है, हां, आग्रह छोड़ कर। सम्भव है इन सामग्रियों में से किसी एक पक्ष का प्रबल साधक प्रमाण प्राप्त हो जाय। संस्कृत के पण्डित-समाज में आचार्य आनन्दवर्धन ही कारिकाकार और वृत्तिकार दोनों समझे जाते हैं।

ध्वनि की मान्यता, विरोधी आचार्य और सम्प्रदाय

जैसा कि स्वयं आनन्दवर्धन ने स्वीकारा है, ध्वनि-सिद्धान्त पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में अपने स्वरूप में निर्दिष्ट हो चुका था, यद्यपि उसे इस नाम से अभिहित एवं मौलिक रूप से प्रतिपादित करने का श्रेय ध्वनिकार को है। एक प्रकार के गम्यमान या प्रतीयमान अर्थ की स्वीकृति पूर्ववर्तियों में मिलती है। भामह ने—'गुणसाम्यप्रतीति' (२।३५) का निर्देश किया है, यह सर्वथा गम्यमान औपम्य के सदृश है। 'समासोक्ति' में भी 'यत्रोक्ते गम्यमानोऽर्थः०' बताया है। 'पर्यायोक्त' में तो स्पष्ट लिखते हैं—'यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते'। इस प्रकार इनके और भी अलङ्कारों में अन्य गम्यमान अर्थ की स्वीकृति मिलती है।

दण्डी की रचना में भी ध्वनि के सिद्धान्त के संकेत मिलते हैं। 'उदात्त' अलङ्कार में दण्डी लिखते हैं—

> **पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम्।**
> **सुव्यञ्जितमिति व्यक्तमुदात्तद्वयमप्यदः॥** (काव्या० २।३०३)

इस प्रकार अन्यत्र भी ध्वनि के संकेत सुविधा से प्राप्त किए जा सकते हैं। उद्भट के 'पर्यायोक्त' में, रुद्रट के परिकर, समासोक्ति, अन्योक्ति आदि में भी यही स्थिति है।

जब आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ पर आधारित विचार को ध्वनि-सिद्धान्त रूप में स्थापित किया तब विशेष रूप से 'अलङ्कारान्तर्भूत' करने का प्रयत्न हुआ। इस विचार को प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के 'काव्यालङ्कारसंग्रह' पर लिखे गए अपने व्याख्यान में निर्दिष्ट किया है—

'स (प्रतीयमानः) कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एष्वेवालङ्कारेष्वन्तर्भावात्।' (पृ० ७९)

वस्तुध्वनि को पर्यायोक्त अलङ्कार के अन्तर्गत बताते हुए 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' को पदध्वनि मानकर पद में पर्यायोक्त का निर्देश किया है—'न खलु पदे पर्यायोक्तेन न भवितव्यमितीयं राज्ञामाज्ञा, सूत्रकारवचनं वा।' (पृ० ८२)

ध्वन्यालोक के निर्माण के पश्चात् ध्वनि-सिद्धान्त का प्रबल विरोध, उसमें निर्दिष्ट विरोधों के बावजूद भी हुआ। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रथम विरोधी आचार्य थे प्रतीहारेन्दुराज। इनके गुरु मुकुलभट्ट ने भी अपनी 'अभिधावृत्तिमातृका' में लिखा है—'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्' (पृ० २१)। इसके अनुसार मुकुलभट्ट ध्वनि को लक्षणा के अन्तर्गत स्वीकार करते थे, ध्वनि की नूतन उद्भावना उन्हें पसंद न आई। उद्भट के काव्यालङ्कारसंग्रह की टीका में मुकुल के शिष्य प्रतीहारेन्दुराज ने ध्वनि को अलङ्कार के अन्तर्गत माना और उसके तीनों भेदों—वस्तु, अलङ्कार और रस के ध्वन्यालोक में दिए उदाहरणों को अलङ्कारों के उदाहरण सिद्ध किया। प्रतीहारेन्दुराज अलङ्कारवादी आचार्य थे। इस प्रसंग को इस प्रकार वे प्रस्तुत करते हैं—

ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः। स कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एष्वेवालङ्कारेष्वन्तर्भावात्। (काव्यालङ्कारसारलघुवृत्ति, पृ० ७९)

ध्वनि का खण्डन इस प्रकार मुकुलभट्ट और प्रतीहारेन्दुराज द्वारा प्रसङ्गतः हुआ। किन्तु ऐसे भी आलङ्कारिक हुए जिन्होंने ध्वनि के खण्डन मात्र के उद्देश्य से अपने ग्रन्थ का निर्माण किया। वे थे—भट्टनायक, कुन्तक और महिमभट्ट। ये तीनों काश्मीरी आचार्य थे।

भट्टनायक—ये अभिनवगुप्त से कुछ प्राचीन थे। इन्होंने 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जो अब तक प्राप्त नहीं हो सका है। उसका अंशतः उल्लेख 'लोचन' में यत्र-तत्र मिलता है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट लिखते हैं कि मेरी बुद्धि दर्पण (हृदयदर्पण) को बिना देखे ही सहसा यश की ओर प्रवृत्त हो गई है—

सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यतादृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालङ्कारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्॥

'व्यक्तिविवेकव्याख्यान' में स्पष्ट ही लिखा है—'दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि'; इस प्रकार 'हृदयदर्पण' ग्रन्थ ध्वनिध्वंस के उद्देश्य से लिखा गया था, यह बात सिद्ध होती है। लोचन भी इस तथ्य की पूर्णतः पुष्टि करता है। जैसा कि लोचनकार भी भट्टनायक के 'भम धम्मिअ०' इस पद्य पर विचार का खण्डन करते हुए लिखते हैं—'किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्' (पृ० ६९)। भट्टनायक को व्यञ्जना शक्ति मान्य न थी, वे अभिधा के अतिरिक्त भावना और भोजकत्व ये दो नये व्यापारों की कल्पना करते थे। भट्टनायक रससिद्धान्त के युक्तिवादी व्याख्याता थे।

कुन्तक—इन्होंने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' का निर्माण ध्वनि की स्थापना के विरोध में अवश्य लिखा था, किन्तु इनका उद्देश्य ध्वनि का खण्डन करना न था बल्कि इनका ग्रन्थ वक्रोक्ति का मण्डन ही करता है। आनन्दवर्धन के प्रति इनका भाव सद्भावपूर्ण था और ध्वनि-सिद्धान्त से इनका पूर्ण परिचय था। इन्हें ध्वनि वक्रोक्ति के प्रकारान्तर के रूप में ही मान्य है और रस की उपयोगिता काव्य में स्वीकार करते हुए भी इन्होंने उसे स्वतन्त्र काव्यतत्त्व न मानकर वक्रोक्ति का भेदमात्र माना है। कुन्तक लोचनकार के सम्भवतः समकालिक थे।

महिमभट्ट—लोचनकार अभिनवगुप्त के कुछ ही पीछे इन्होंने 'व्यक्तिविवेक' का निर्माण किया। इनका मूल उद्देश्य ग्रन्थारम्भ के इस पद्य से ही विदित हो जाता है—

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

अर्थात् महिमभट्ट परा वाणी को प्रणाम करके अनुमान में सभी ध्वनि का अन्तर्भाव करने के लिए 'व्यक्तिविवेक' (व्यञ्जना का विवेचन) नाम के ग्रन्थ का निर्माण कर रहा है। ध्वनि के लक्षणवाली कारिका ('यत्रार्थः शब्दो वा०' ध्व० १।१३) को धज्जी-धज्जी उड़ाने का इन्होंने खूब ही प्रयत्न किया है। ये सर्वथा अभिधावादी थे, और व्यङ्ग्य को अनुमेय मानते थे तथा व्यञ्जना

इनके यहाँ पूर्वसिद्ध अनुमान ही थी। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के स्थान पर ये लिङ्गलिङ्गिभाव के समर्थक थे। इनका पक्ष बहुत कुछ बुद्धिसङ्गत होते हुए भी काव्य के उपयुक्त भावना के बल पर आधारित न होने के कारण इन्हीं तक सीमित रह गया। इन्होंने ध्वनि के उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध किया है।

जैसा कि कहा जा चुका है, आनन्दवर्धन ने ध्वनि-विरोधी पक्षों में तीन पक्षों का निर्देश एवं खण्डन प्रस्तुत किया है, वे हैं—अभाववाद, भाक्तवाद एवं अनिर्वचनीयतावाद। फिर साथ ही उन्होंने अलङ्कारवाद का भी निराकरण किया है।

इसके अतिरिक्त 'जयरथ' ने 'अलङ्कार-सर्वस्व' पर लिखे अपने व्याख्यान में किसी अनिर्दिष्ट ग्रन्थकार की दो कारिकाओं का उल्लेख किया है, जिनमें ध्वनि के सम्बन्ध में १२ विप्रतिपत्तियां निर्दिष्ट हैं—

> तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा।
> अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलङ्कृतिः॥
> रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्।
> द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः॥

इन बारहों को समझने में बड़ी कठिनाई पेश आती है, फिर भी विद्वानों ने इसे संक्षिप्त रूप में इस प्रकार समझाने का प्रयत्न किया है—

१. तात्पर्य—मीमांसकों की मान्यता, इसका खण्डन ध्वन्यालोक-लोचन में विस्तार से मिलता है।

२. अभिधा—यह अति प्राचीन मीमांसकों की मान्यता के अनुसार है।

३. ४. लक्षणा के दो भेद—जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था।

५–६. अनुमान के दो भेद—(ये दोनों ज्ञात नहीं)।

७. अर्थापत्ति—यह अनुमान पक्ष का ही परिष्कृत रूप है।

८. तन्त्र—यह श्लेषालङ्कार की मान्यता के सदृश प्रतीत होता है।

९. समासोक्ति आदि अलङ्कार—इसका खण्डन ध्वनिकार ने स्वयं प्रस्तुत किया है।

१०. रसकार्यता—यह रस के प्राचीन व्याख्याकारों की मान्यता है। भट्ट लोल्लट आदि का पक्ष।

११. भोग—यह भी रसध्वनि का विरोधी पक्ष है। यह भट्टनायक का पक्ष है।

१२. व्यापारान्तरबाधनम्—जैसा कि डॉ० राघवन् का विचार है, यह कुन्तक की वक्रोक्ति का निर्देश करता है, किन्तु प्रो० म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री समझते हैं कि वक्रोक्ति तो अलङ्कार-पक्ष में कह ही दी गई है। यह मान्यता अनिर्वचनीयतावाद की सूचिका है।

ध्वनि और अन्य प्रस्थान

ध्वनि और रस—ध्वन्यालोक में ध्वनि के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं—वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि। रस इस प्रकार एक ध्वनि है, किन्तु ध्वनिकार ने जिस ध्वनि को काव्य के आत्मा के रूप में स्वीकार किया है वह मुख्यतया रस ही है ('काव्यस्यात्मा स एवार्थः०', ध्व० १।५)। स्पष्ट ही, जैसा कि लोचनकार 'स एव' पर लिखते हैं—'स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय

एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च। तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।' (पृ० ८६) इस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त द्वारा रसतत्त्व की काव्य में सबसे उच्च पद पर प्रतिष्ठा की। इसका मात्र कारण यह था कि रस केवल व्यङ्ग्य ही होता है, वाच्य से उसका संस्पर्श बन ही नहीं सकता, इसी कारण वह अलौकिक भी है। काव्य के अन्य सभी तत्त्व रस की अभिव्यक्ति के साधन के रूप में ही आकर आदरणीय होते हैं। रस-सम्प्रदाय में रस को यह प्रतिष्ठा नहीं मिली और अलङ्कारवादियों ने तो इसे एक प्रकार के अलङ्कार के रूप में मान लिया था। ध्वनिकार का तो स्पष्ट कथन है—'अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद् रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानाञ्चोपनिबन्धनम्।' (पृ० ४४२)

ध्वनि और अलङ्कार—प्रतीयमान अर्थ से, जिसके आधार पर ध्वनि-सम्प्रदाय प्रवर्तित हुआ, अलङ्कारवादी भामह, उद्भट प्रभृति आचार्य अपरिचित न थे, साथ ही काव्य का प्राणभूत रस भी उन्हें अविदित न था, फिर भी उसे उन्होंने उचित स्थान न देकर अलङ्कार में ही अन्तर्भुक्त कर लिया। अलङ्कारवादियों ने एक ओर अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप प्रभृति अलङ्कारों में प्रतीयमान अर्थ के अनेक प्रकारों को अन्तर्निविष्ट कर लिया। जब ध्वनिकार ने रस को काव्य के आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया तब अलङ्कारों की स्थिति कुछ अपने रूप में स्पष्ट हुई। ध्वनिकार के अनुसार अलङ्कारों की सार्थकता अलङ्कार्य की शोभा बढ़ाने में है, जब उनका निवेशन काव्य में रसादि के तात्पर्य से होगा तभी वे 'अलङ्कार' भी कहलाएंगे—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥ पृ० २०८

काव्य में उस अलङ्कार का कुछ भी स्थान नहीं, जो रस की व्यञ्जना में सहयोग नहीं करता। रसाभिनिविष्ट कवि के समक्ष अलङ्कार स्वतः आने लगते हैं। और जब अलङ्कार रसभावादि के तात्पर्य से शून्य होकर कवि द्वारा निबद्ध किया जाता है तब चित्रकाव्य का विषय होता है—

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥ पृ० ५२८

ध्वनि और औचित्य—औचित्य-विचार, जो क्षेमेन्द्र में अपना पल्लवित रूप ग्रहण कर एक सम्प्रदाय बन गया, उसके विकास में ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन का विशेष योग था। आनन्दवर्धन ने औचित्य को काव्य के प्राणभूत रसध्वनि के साथ सम्बद्ध कर दिया। ध्वन्यालोक में अलङ्कारौचित्य, गुणौचित्य, सङ्घटनौचित्य, विषयौचित्य आदि का विस्तार से निरूपण मिलता है। औचित्यसिद्धान्त के प्रतिष्ठित होने का समग्र श्रेय आनन्दवर्धन के इस श्लोक को दिया जा सकता है—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

इस प्रकार यदि काव्य की आत्मा रस है तो निश्चय ही रस का परम गूढ़ रहस्य औचित्य है। यहां ध्वन्यालोक की यह कारिका भी उल्लेखनीय है—

वाच्यानां वाचकानाञ्च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ ३।३२

ध्वनि और रीति—ध्वनि की प्रतिष्ठा के पूर्व आचार्य वामन ने काव्य के आत्मा के रूप में रीति को प्रतिष्ठित कर दिया था। उनके अनुसार रीति विशिष्टा पदरचना है, पदरचना में वैशिष्ट्य का सम्पादन गुणों द्वारा होता है (विशेषो गुणात्मा)। आनन्दवर्धन ने पदरचना रूप रीति को 'संघटना' के नाम से अभिहित किया। उचित पदसंघटना से रस के उन्मीलन में सहायता पहुँचती है इस विचार से ध्वनिकार ने रीति को रस से उपकार्योपकारकभाव रूप से सम्बद्ध कर दिया। ध्वनिकार के अनुसार रीति का प्रवर्तन ध्वनितत्त्व के स्फुट रूप से स्फुटित न होने के कारण ही हुआ, जैसा कि यह निर्देश करती है—

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥ ध्व० ३।४६

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में रीति पर जो विचार किया है वह उनकी मौलिक प्रतिभा का संकेत करता है। ध्वनिकार का रीतिप्रकरण इस कारिका से आरम्भ होता है—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।
रसान्— ॥ ३।६

संघटना और गुणों के सम्बन्ध का तर्कपूर्ण विवेचन यहाँ ध्वनिकार ने प्रस्तुत किया है।

ध्वनि और वृत्ति—आनन्दवर्धन ने उपनागरिका आदि वृत्तियों को गुणों से अभिन्न माना है। वे दो प्रकार की वृत्तियों से परिचय रखते हैं, एक कैशिकी आदि वाच्याश्रय नाट्यवृत्तियां और दूसरी वाचकाश्रय उपनागरिका आदि वृत्तियाँ। इन्हें भी रस के अनुगुण होना चाहिए—(वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण सन्निवेशिताः कामपि काव्यस्य नाट्यस्य च छायामावहन्ति)। ध्वनिकार की कारिका है—

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः ॥ ३।३३

ध्वनिकार के अनुसार उपनागरिका आदि वृत्तियां शब्दतत्त्व पर आश्रित हैं और कैशिकी आदि वृत्तियाँ अर्थतत्त्व पर—

शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिद् अर्थतत्त्वयुजोऽपराः ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥ ३।४७

ध्वनि और वक्रोक्ति—वक्रोक्ति का प्रयोग सर्वप्रथम भामह द्वारा हुआ—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥

भामह के अनुसार अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है। यह समग्र अलङ्कारों का मूल है। आनन्दवर्धन भी इस विचार से सर्वथा सहमत हैं, जैसा कि उनका कथन है—'अतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया।...... तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालङ्काररूपेत्यय-

मैवार्थोऽवगन्तव्यः ।' (ध्व० पृ० ४९८) वक्रोक्ति का एक सम्प्रदाय के रूप में विकास आनन्दवर्धन के पश्चात् आचार्य कुन्तक ने किया, वह ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिक्रिया थी । इसी कारण कुन्तक द्वारा इतनी मौलिकता से वक्रोक्ति की स्थापना के होने पर भी ध्वनि का विजयस्तम्भ बिलकुल नहीं हिला, वह ज्यों का त्यों अडिग बना रहा ।

ध्वन्यालोक के संस्करण

सर्वप्रथम बम्बई के काव्यमाला सीरीज में ई० सन् १८९१ में ध्वन्यालोक के प्रथम तीन उद्योत अभिनवगुप्त के लोचन के साथ, और चतुर्थ टीकारहित, मुद्रित हुए, जिनके आधार तीन पाण्डुलिपियां थीं । चतुर्थ उद्योत का लोचन तब अप्राप्त था । इसके द्वितीय संस्करण का प्रकाशन ई० सन् १९११ में हुआ । इसके सम्पादकों (म० म० पं० दुर्गाप्रसाद, काशीनाथ परब और वासुदेव लक्ष्मणशास्त्री पणशीकर) के अनुसार तीन आधारभूत प्रतियों में प्रथम ('क' संज्ञक) प्रति कश्मीर महाराज के आश्रित ज्योतिर्विद् दयाराम शर्मा की पुस्तक का प्रायः अशुद्ध प्रतिरूपक थी । द्वितीय ('ख' संज्ञक) प्रति श्रीरामकृष्णभाण्डारकर के पुण्यपत्तनस्थ राजकीय पुस्तकालय की पुस्तक थी, यह भी काश्मीरिक पुस्तक का प्रतिरूपक है । तृतीय ('ग' संज्ञक) प्रति मैसूर के मरिमल्लप्पा स्कूल के संस्कृताध्यापक आ० अनन्ताचार्य पण्डित के दो सौ वर्ष प्राचीन किसी तालपत्र की प्रतिरूपक थी । यह निर्णय-सागरीय काव्यमाला सीरीज का संस्करण मूल की दृष्टि से प्रायः दोषपूर्ण है । अब कई पाण्डुलिपियां मिल चुकी हैं । जैसा कि म० म० काणे महाशय का कहना है, अकेले भाण्डारकर संस्थान में पाँच पाण्डुलिपियाँ देवनागरी अक्षरों में और दो शारदा लिपि में प्राप्त हैं । कलकत्ता संस्कृत सीरीज़ ने 'ध्वन्यालोक' का एक संस्करण मधुसूदनमिश्र लिखित 'अवधान' नामक आधुनिक टीका के साथ प्रकाशित किया । काणे महाशय के अनुसार इसका आधार काव्यमाला संस्करण है । डॉ० जाकोबी ने ध्वन्यालोक का जर्मन भाषा में अनुवाद किया । उन्होंने शुद्ध पाठों के सम्बन्ध में कुछ सुझाव भी दिए जो आगे चलकर अधिकांश मान्य हुए । डॉ० एस० के० डे महाशय ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत के लोचन का सर्वप्रथम सम्पादन किया । फिर काशी चौखम्बा से सम्पूर्ण ध्वन्यालोक तथा सम्पूर्ण लोचन श्री पट्टाभिरामशास्त्री के सम्पादकत्व में आधुनिक 'बालप्रिया' और 'दिव्याञ्जना' टिप्पणी के साथ १९४० ई० में प्रकाशित हुआ । काशी चौखम्बा से ही पं० बदरीनाथ झा की आधुनिक दीधिति टीका के साथ केवल ध्वन्यालोक प्रकाश में आया । मद्रास से ई० सन् १९४४ में ही ध्वन्यालोक-लोचन का प्रथम उद्योत उत्तुङ्गोदयराज की कौमुदी व्याख्या और म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री के 'उपलोचन' के साथ प्रकाशित हुआ ।

इसके पश्चात् १९५२ ई० में हिन्दी में सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का अनुवाद एवं व्याख्यान आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि ने प्रस्तुत किया । इसकी भूमिका डॉ० नगेन्द्र एम० ए०, डी० लिट्० ने लिखी । यह कार्य ध्वन्यालोक के मूल से अवगत होने के लिए अवश्य ही प्रशंसा के योग्य है, किन्तु इसमें पाठभेदसम्बन्धी कोई परिवर्तन नहीं हुआ बल्कि बालप्रिया संस्करण वाले पाठों का ही अनुगमन हुआ । १९५५ ई० में पूना ओरियण्टल सीरीज में डॉ० कृष्णमूर्ति ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया । तत्पश्चात् १९५६ ई० में श्रीविष्णुपद भट्टाचार्य ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत का इंग्लिश exposition के साथ सुन्दर संस्करण प्रस्तुत किया । १९५७ ई० में द्वितीय उद्योत भी इसी क्रम में प्रकाशित हुआ ।

प्रस्तुत अनुवाद और व्याख्यान का आधार-भूत संस्करण चौखम्बा का 'बालप्रिया' वाला संस्करण ही रहा, अतः उसके ही स्वीकृत पाठभेद बहुत कुछ अपरिवर्तनों के साथ यहां लिए गए हैं। व्याख्यान के बाद अनेक स्थलों पर पुनर्विचार के बाद मैं अनेक परिवर्तन और शोधन की दृष्टि से प्रवृत्त हुआ और कुछ मुझे सफलता भी मिली। किन्तु खेद है कि उन परिवर्तनों का निर्देश यहां नहीं कर सका। यत्र-तत्र मुझसे जो कुछ भ्रान्तियां हो गई हैं उनके संशोधन की विनम्र आशा विद्वज्जनों से करता हूँ। मेरे विचार में सलोचन ध्वन्यालोक अभी अपने शोधन, अर्थनिश्चायन एवं मूल्याङ्कन के लिए अनेक प्रतिभाशाली विचारकों की एकनिष्ठ साधना की प्रतीक्षा में है। मैं अपने इस छोटे से प्रयत्न द्वारा ध्वन्यालोक के अभीष्ट अर्थ तक पहुँचने में यदि जिज्ञासुजनों का सहायक हुआ तो यही मेरे श्रम की सार्थकता होगी।

मैंने अपने इस व्याख्यान एवं भूमिका में जिन विद्वानों की कृतियों से लाभ उठाया है उनका ऋणी हूँ। विशेषतः 'लोचन' के अर्थज्ञान में मुझे 'बालप्रिया' ने अधिक सहायता पहुँचाई है, अतः बालप्रियाकार श्री रामषारक महोदय का मैं विशेष ऋणी हूँ। पुनः अपनी त्रुटियों के प्रति विद्वानों से क्षमा-प्रार्थना के साथ—

जगन्नाथ पाठक

शुद्धिपत्र

(ध्वन्यालोक)

अशुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध
वर्णसंघटनाधर्माश्च	१७	३	सङ्घटनाधर्माश्च
तत्समतान्तःपातिनः	२३	४	तत्समयान्तःपातिनः
व्याप्यन्त	१६१	२	व्याप्यन्ते
धेप्पन्ति	१७८	२	घेप्पन्ति
रूपकादिर-	२३७	३	रूपकादेर-
वाच्यत्वे न	३००	१	वाच्यत्वेन
श्रृङ्गारे ते न	३२८	३	श्रृङ्गारे तेन
ते न वर्णा	३२८	५	तेन वर्णा
गुणरूपत्वे गुणरूपत्वे	३४७	४	गुणरूपत्वे
एतच्च एमदीये	४२८	६	एतच्च मदीये

(लोचन)

अशुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध
-भावेनार्थवत्त्वा-	१०	१	-भावेनार्थतत्त्वा-; -भावेनार्थत्वा-
शब्दार्थयोश्चारुत्वं	१८	१	शब्दार्थयोर्यतश्चारुत्वं
मधुरिवौ	८३	२	मधुरिपौ

विषय-सूची

(ध्वन्यालोक-लोचन)

प्रथम उद्योत

द्वितीय उद्योत

पृष्ठ

तृतीय उद्योत

चतुर्थ उद्योत

पृष्ठ

परिशिष्ट

—०:०:०—

॥ श्रीः ॥

ध्वन्यालोकः

'लोचन' 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

प्रथम उद्द्योतः

लोचनम्

श्रीभारत्यै नमः

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ॥

जो कारण-सामग्री के लेश के बिना, अपूर्व (सर्वथा नवीन) वस्तु को उत्पन्न करता—फैला देता है और पत्थर के समान (नीरस) जगत् को अपने रसभार से सारवान् बना देता है तथा क्रम से प्रख्या (कवि की प्रतिभा) और उपाख्या (वचन) के प्रसर से सुभग (हृद्य) होता हुआ (वस्तुजात को) भासित करता है, वह कवि और सहृदय द्वारा आख्यात सरस्वती का तत्त्व (काव्य) विजयी है (सबसे बढ़कर है)।[1]

१. श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने अपने 'लोचन' व्याख्यान के आरम्भ में नमस्कारात्मक मङ्गल 'सरस्वती के कविसहृदयाख्य तत्त्व' की विजय (उत्कर्ष) के रूप में प्रस्तुत किया है। 'सरस्वती का कविसहृदयाख्य तत्त्व' यहाँ काव्य ही प्रतीत होता है, क्योंकि कवि 'काव्य' का रचयिता होता है और सहृदय उसका विचारक या अनुशीलनकर्ता, इस प्रकार दोनों के अस्तित्व का एकमात्र आधार 'काव्य' है, अतः काव्य क्या है ? 'कविसहृदय' रूप है, 'लोचन' की टिप्पणी 'बालप्रिया' में एक दूसरे ढंग से यह भी कहा है कि कवि और सहृदय, दोनों जिसे आख्यान करते अर्थात् कहते हैं (कविसहृदयैराख्यायते उच्यते इति), अथवा कवि और सहृदय में जिसका 'निरन्तर ख्यान' अर्थात् स्फुरण होता है (कविसहृदययोराख्या, आभीक्ष्ण्येन ख्यानं स्फुरणं यस्य)। वाग्देवता सरस्वती ने अपने आपको 'काव्य' के स्वरूप में प्रकट किया है, जैसा कि राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में सरस्वती के पुत्र 'काव्यपुरुष' के कथानक का भी उल्लेख है। यह परम्परा से भारतीय साहित्य की परिनिष्ठित मान्यता है। इस प्रकार 'काव्य' सरस्वती का तत्त्व या पारमार्थिक रूप है। वह इस कारण उत्कर्ष या विजय को प्राप्त है कि उसकी सृष्टि दृश्यमान सृष्टि से सर्वथा अपूर्व है, इसी बात को आचार्य ने मंगल-श्लोक के पूर्व तीन चरणों से सिद्ध किया है। पहली बात यह कही है कि काव्य (कवि-सहृदय) वस्तुजात को, बिना किसी कारण के सम्बन्ध के, अपूर्व अर्थात् सर्वथा नवीन रूप में सामने ला देता है, परन्तु इससे न्यूनतम दृश्यमान जगत् की

लोचनम्

भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास-
हृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्।
यत्किंचिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्या-
लोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य ॥

भट्ट इन्दुराज के चरण-कमलों में रहकर शास्त्रों को हृदयस्थ करके मैं अभिनवगुप्त-पाद अपने 'लोचन' के नियोजन द्वारा जो कुछ भी कथन करके लोगों के समक्ष 'काव्या-लोक' (ध्वन्यालोक) को स्पष्ट करने जा रहा हूँ।[1]

सृष्टि उपादान कारणों के द्वारा होती है, इस दृश्यमान सृष्टि के कर्ता में यह सामर्थ्य नहीं कि बिना किसी कारण-सामग्री के सृष्टि कर दे, वह पदे-पदे नियति के नियमों से नियन्त्रित रहता है और दूसरे यह कि उसकी सृष्टि 'अपूर्व' नहीं होती, वही देखी-सुनी वस्तुएँ पैदा करता रहता है। उदाहरणार्थ, दृश्यमान कमल जल के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता किन्तु काव्य में मुखकमल का, जल के बिना ही अपूर्व रूप में उत्पन्न होना प्रसिद्ध है। काव्य की दूसरी विशेषता यह है कि दृश्यमान जगत्, जो पत्थर की भाँति नीरस और कठोर लगता है, को अपनी रस-सम्पत्ति से सारवान् बना देता है तथा अपनी तीसरी विशेषता से, जो प्रतिभा (प्रख्या) और वचन (उपाख्या) के क्रम में विद्यमान है, अपने सभी अपूर्व और सरस निर्माण को हृद्य बनाती है। यह अपूर्वता, सरसता और हृद्यता कविसहृदयाख्य सरस्वतीतत्त्व रूप 'काव्य' में एकान्ततः प्राप्त होती हैं, जब कि दृश्यमान जगत् में इन्हें एकान्ततः प्राप्त करना कदाचित् किसी के लिए भी संभव नहीं। इस प्रकार यहाँ दृश्यमान जगत् से काव्य-जगत् का उत्कर्ष रूप व्यतिरेक व्यङ्ग्य होता है। अभिनवगुप्त के इस मङ्गल-श्लोक का साक्षात् प्रभाव आचार्य मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के मङ्गल-श्लोक 'नियतिकृतनियम०' पर पड़ा प्रतीत होता है। क्योंकि उसमें भी कविनिर्मिति को ब्रह्मनिर्मिति से उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए उसे अनियन्त्रित, हृद्य, अनन्यपरतन्त्र तथा नवरसरुचिर कहा है। प्रस्तुत में यह कहना अनुचित न होगा कि आचार्य अभिनवगुप्त के समग्र साहित्य-दर्शन पर उनके स्वयंनिर्मित प्रत्यभिज्ञादर्शन का पुष्कल प्रभाव पड़ा है। वे 'शिव' में सुन्दर और सत्य के एकनिष्ठ साक्षात्कर्ता थे। सम्भवतः यहाँ 'सरस्वती' के रूप में 'स्वतन्त्र चिति शक्ति' अभिमत हो और 'कविसहृदयाख्य' काव्य स्वयं 'शिव' हो

१. आचार्य ने अपने विद्याश्रम को परम्परागत बताते हुए, क्योंकि ऐसा किसी को भ्रम न हो कि इनकी कल्पनाओं, विचारों में परम्परा नहीं है, अपने पूज्यपाद गुरु 'भट्ट इन्दुराज' का उल्लेख किया है। साथ ही अपने मन्तव्यों के पीछे वह अभिनिविष्ट नहीं हैं, बल्कि वह 'यत्किञ्चित्' अर्थात् जो कुछ भी कहते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ को 'स्फुट' करने की प्रवृत्ति रखते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' अपने प्राचीन सङ्केत के अनुसार 'काव्यालोक' के नाम से ही अभिहित रूप में प्राप्त होता है, इसकी 'ध्वन्यालोक' संज्ञा अर्वाचीन प्रतीत होती है। अपनी 'लोचन' टीका के अन्त में भी आचार्य ने इस ग्रन्थ का 'काव्यालोक' के ही नाम से उल्लेख किया है। 'स्वलोचननियोजनया' अर्थात् अपने 'लोचन' के नियोजन द्वारा; यहाँ 'लोचन' पद प्रस्तुत टीका, विचार तथा मन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह कि मैं 'लोचन' टीका के रूप में अपना 'विचार' या मन को प्रणिहित करके लोगों के समक्ष 'काव्यालोक' को स्फुट या स्पष्ट कर रहा हूँ। दूसरे यह कि 'लोचन' अर्थात् आँख, प्रस्तुत 'लोचन' के रूप में लोगों को 'आँख' दे रहा हूँ, ताकि 'आलोक' में 'काव्य' को वे स्पष्ट रूप से देख सकें। किसी भी विशेष वस्तु को देखने के लिए विशेष 'दृष्टि' की आवश्यकता होती है, बाह्य दृष्टि का उपयोग केवल सामान्य है। इसीलिए 'गीता' में भगवान्

ध्वन्यालोकः

श्रीनृहरये नमः

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥

अपनी इच्छा से केसरी (सिंह) का रूप धारण किये हुये भगवान् मधुरिपु (मधु नामक दैत्य के शत्रु विष्णु) के, स्वच्छ अपनी छाया (कान्ति) से इन्दु को आयासित (खिन्न) करने वाले तथा प्रपन्न (शरणागत) जनों की आर्ति का छेदन करने वाले नख आप लोगों की रक्षा करें ।

लोचनम्

स्वयमव्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपि व्याख्यातृश्रोतृणामविघ्नेनाभीष्टव्याख्याश्रवणलक्षणफलसम्पत्तये समुचिताशीःप्रकटनद्वारेण परमेश्वरसांमुख्यं करोति वृत्तिकारः—*स्वेच्छेति* ।

वृत्तिकार[1] स्वयं विच्छेद-रहित (निरन्तर) परमेश्वर के नमस्कार की सम्पत्ति (परम्परा, आधिक्य) से कृतार्थ होने पर भी व्याख्याता और श्रोताओं की बिना किसी विघ्न के अभीष्ट व्याख्या के श्रवण रूप फल-सम्पत्ति के लिये समुचित आशीर्वाद के प्रकाशन द्वारा परमेश्वर का आभिमुख्य करते हैं—अपनी इच्छा— ।

कृष्ण ने अपने 'ऐश्वर रूप' को दिखाने के लिए अर्जुन को 'दिव्य चक्षु' देते हुए कहा है—न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ (११।८) इसी प्रकार आचार्य अभिनव ने यहाँ 'लोचन' का एक विशेष 'दृष्टि' के अर्थ में प्रयोग किया है, जिसे प्राप्त करने के पश्चात् किसी को काव्य का रहस्य अदृष्ट नहीं रह जाता ।

१. वृत्तिकार अर्थात् मूल कारिकाग्रन्थ के वृत्तिग्रन्थ का रचयिता । प्रस्तुत 'लोचन' का आशय यह है कि वृत्तिकार को मङ्गल-श्लोक द्वारा परमेश्वर का नमस्कार करना प्रस्तुत में अभीष्ट न था, क्योंकि वह तो निरन्तर परमेश्वर को नमस्कार करते रहते हुए स्वयं कृतार्थ हो चुके थे, फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ के व्याख्याताओं और श्रोताओं को अभीष्ट व्याख्याश्रवण की फलसम्पत्ति निर्विघ्न रूप में प्राप्त होती रहे, यह उन्हें परम अभिप्रेत था । इसलिए यहाँ वृत्तिकार समुचित आशीर्वाद के प्रकाशन द्वारा परमेश्वर का साम्मुख्य या आभिमुख्य करते हैं, अर्थात् परमेश्वर से व्याख्याता और श्रोताओं के कल्याण की कामना करते हैं ।

यह प्राचीन भारतीय परम्परा से चला आ रहा है कि ग्रन्थकार अपनी ओर से किसी भी इष्ट देवता को अपने और अपने श्रोतृवर्ग के कल्याण के लिए मङ्गलाचरण के रूप में नमन करता है । अपने लिए प्रायः ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति उसे अभिप्रेत होती है । यह मङ्गलाचरण तीन प्रकार के होते हैं, आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक । प्रस्तुत मङ्गलाचरण 'आप लोगों की रक्षा करें' इस रूप में होने के कारण आशीर्वादात्मक शैली का है । इसे ग्रन्थकार अपने मन में भी कर ले सकता था; परन्तु प्राचीनकाल में शिष्यों के शिक्षार्थ मङ्गलाचरण को लिपिबद्ध करना अनिवार्य समझा जाता था ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि लोचनकार मङ्गल-श्लोक को प्रस्तुत करते हुए 'वृत्तिकार' का उल्लेख करते हैं, इससे यह प्रतीत होना स्वाभाविक है कि मङ्गल-श्लोक मूलग्रन्थ का नहीं अपितु वृत्तिग्रन्थ का है । ऐसी स्थिति में आचार्य आनन्दवर्धन यदि मूलग्रन्थकार हैं तो वृत्तिग्रन्थ का रचयिता कौन है अथवा आनन्दवर्धन वृत्तिग्रन्थ के यदि रचयिता हैं तो मूलग्रन्थ

लोचनम्

मधुरिपोर्नखाः वो युष्मान्व्याख्यातृश्रोतॄंस्त्रायन्ताम्, तेषामेव सम्बोधन-योग्यत्वात्; सम्बोधनसारो हि युष्मदर्थः, त्राणं चाभीष्टलाभं प्रति साहायका-चरणं, तच्च तत्प्रतिद्वन्द्विविघ्नापसारणादिना भवतीति, इयदत्र त्राणं विवक्षितम्, नित्योद्योगिनश्च भगवतोऽसम्मोहाध्यवसाययोगित्वेनोत्साहप्रतीतेर्वीररसो ध्व-न्यते, नखानां प्रहरणत्वेन प्रहरणेन च रक्षणे कर्तव्ये नखानामव्यतिरिक्तत्वेन

मधु के शत्रु (विष्णु) के नख आप सभी व्याख्याता और श्रोताओं की रक्षा करें, क्योंकि वे ही (व्याख्याता और श्रोता) सम्बोधन के योग्य हैं। 'सम्बोधन' युष्मत् शब्द के अर्थ का सार (प्राण) है (सम्बोध्य पदार्थ की उपस्थिति में ही 'युष्मत्' या आप–तुम का प्रयोग होता है)। और, त्राण (रक्षण) अभीष्ट के लाभ के प्रति सहायता प्रदान करना है और वह (सहायताप्रदान) उस (अभीष्ट लाभ) के प्रति-द्वन्द्वी विघ्नों के अपसारण आदि द्वारा होता है, इस रूप में यहाँ त्राण विवक्षित है।[1] नित्य उद्योगशील भगवान् के असम्मोह और अध्यवसाय से युक्त होने के कारण उत्साह की प्रतीति होने से वीररस ध्वनित होता है।[2] नखों के प्रहरण (प्रहार के साधन)

का रचयिता कौन है, ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं। यत्र-तत्र लोचनकार ने 'मूलकृत्', 'कारिकाकार' और 'वृत्तिकृत्' रूप में व्याख्यान किया है। लेकिन प्राचीन मान्यता यही रही है कि आनन्दवर्धन ही मूलकार और वृत्तिकार स्वयं हैं। लोचनकार के उल्लेख के अनुसार प्रस्तुत मङ्गलश्लोक को वृत्तिग्रन्थ के रूप में ही छापने की पद्धति चली आ रही है, मूल कारिका ग्रन्थ को मोटे अक्षरों में छापा जाता है।

कारिकाकार और वृत्तिकार को अभिन्न मानने वालों का एक तर्क यह भी है कि यदि कारिकाग्रन्थ का कर्ता कोई दूसरा होता तो निश्चय ही वह अपनी ओर से मङ्गलाचरण प्रस्तुत करता। यद्यपि इसके विपरीत एक यह भी युक्ति दी जा सकती है कि 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस प्रयोग से कारिकाग्रन्थ का आरम्भ करके निश्चय ही वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल किया गया है, क्योंकि 'काव्य' भी 'शब्दमूर्तिधर भगवान् विष्णु का अंश' माना जाता है। ऐसी स्थिति में यह भी एक प्रकार का मङ्गलाचरण हो जाता है। अस्तु, मूल कारिकाकार और वृत्तिकार के भिन्न अथवा अभिन्न होने का विचार प्रामाणिक और तर्कपूर्ण ढंग से 'भूमिका' में आकलनीय है।

१. अभीष्ट व्याख्याश्रवण ही प्रस्तुत प्रयास का फल है, और यह तभी सम्भव है जब व्याख्याता और श्रोतृवर्ग दोनों त्राण (रक्षा) प्राप्त करें। फलतः त्राण उनके अभीष्ट लाभ का सहायक सिद्ध होता है। वह भी इस अर्थ में कि उसके द्वारा समग्र प्रतिद्वन्द्वी विघ्नों का अपसारण आदि कार्य होते हैं। इस प्रकार यहाँ भगवान् मधुरिपु के नख त्राण या रक्षा करें, अर्थात् अभीष्ट व्याख्याश्रवण के प्रतिद्वन्द्वी रूप में उपस्थित होने वाले सभी प्रकार के विघ्नों का अपसारण करें, यह वृत्तिकार का अभिप्रेत अर्थ लोचनकार के मत में प्रकट होता है।

२. प्रस्तुत काव्य आत्मभूत ध्वनितत्त्व का मूलतः प्रतिपादन करता है, अतः यह स्वाभाविक है कि ग्रन्थकार अपने मङ्गलाचरण में ही 'ध्वनि' के प्रधान रूपों का निर्देश करें। इस उद्देश्य से लोचनकार ने यहाँ रस, वस्तु और अलङ्कार के ध्वनित होने का प्रकार बताया है। सर्वप्रथम ध्वनियों में प्रधान रसध्वनि की चर्चा में कहते हैं कि यहाँ वीररस ध्वनित होता है क्योंकि उत्साह की प्रतीति होती है, और उत्साह ही वीररस का स्थायी भाव है। उत्साह इसलिए कि भगवान् मधुरिपु अपने नखों द्वारा त्राण-कार्य में नित्य उद्योगशील हैं, एवं उनमें किसी प्रकार का

लोचनम्

करणत्वात्सातिशयशक्तिता कर्तृत्वेन सूचिता, ध्वनितश्च परमेश्वरस्य व्यतिरिक्तकरणापेक्षाविरहः, मधुरिपोरित्यनेन तस्य सदैव जगत्त्रासापसारणोद्यम उक्तः, कीदृशस्य मधुरिपोः ? स्वेच्छया केसरिणः, न तु कर्मपारतन्त्र्येण, नाप्यन्यदीयेच्छया, अपि तु विशिष्टदानवहननोचिततथाविधेच्छापरिग्रहौचित्यादेव स्वीकृतसिंहरूपस्येत्यर्थः; कीदृशा नखाः ? प्रपन्नानामार्तिं ये छिन्दन्ति; नखानां हि छेदकत्वमुचितम्; आर्तेः पुनश्छेद्यत्वं नखान्प्रत्यसम्भावनीयमपि तदीयानां नखानां स्वेच्छानिर्माणौचित्यात्सम्भाव्यत एवेति भावः।

अथ वा त्रिजगत्कण्टको हिरण्यकशिपुर्विश्वस्योत्क्लेशकर इति स एव वस्तुतः प्रपन्नानां भगवदेकशरणानां जनानामार्तिकारित्वान्मूर्तैवार्तिस्तं विनाशयद्भिरार्ति-

होने से और प्रहार के साधन द्वारा रक्षण के कर्तव्य होने से, अव्यतिरिक्त (अपृथग्भूत) रूप से करण (आभ्यन्तर करण) होने के कारण कर्ता रूप देकर अतिशययुक्त शक्तिमत्त्व को सूचित किया है। और, परमेश्वर को व्यतिरिक्त (अपने शरीर से पृथग्भूत) करण (साधन) की अपेक्षा नहीं होती है, यह ध्वनित किया। 'मधुरिपु' के द्वारा उस परमेश्वर का उद्योग संसार के त्रास के निवारणार्थ सदैव चलता रहता है, यह कहा है। किस प्रकार के मधुरिपु के ? अर्थात् जो अपनी इच्छा से केसरी (सिंह, नृसिंह) बन गये, न कि (पूर्व) कर्म की परतन्त्रता के कारण; और दूसरे किसी की इच्छा से भी नहीं, अपितु विशिष्ट दानव (हिरण्यकशिपु) के हनन के लिए उचित उस प्रकार की इच्छा के परिग्रह के औचित्य से ही जिन्होंने सिंह का रूप स्वीकार किया। किस प्रकार के नख ? जो प्रपन्नों (शरणागतों) की आर्ति (कष्ट) का छेदन करते—निवारण करते—हैं, क्योंकि नखों का छेदकत्व उचित है; फिर (नखों के द्वारा) छेद्य होना नखों के प्रति असम्भावनीय होकर भी उन (परमेश्वर) के नखों के अपनी इच्छा से निर्मित होने के औचित्य से सम्भावित होगा ही, यह भाव है।

अथवा, तीनों जगत् का कंटक हिरण्यकशिपु संसार को क्लेश पहुँचाने वाला था, इस प्रकार वही वस्तुतः प्रपन्न, भगवान् की एकमात्र शरण में आये हुये जनों का

सम्मोह नही तथा उन्होंने यही अध्यवसाय या निश्चय भी कर लिया है। 'दिव्याञ्जना' टिप्पणी में मेरे पूज्य गुरुजी ने 'लोचन' के 'उत्साहप्रतीति' प्रयोग को लेकर बताया है कि यहाँ वीररस के स्थायी भाव उत्साह के साथ अन्य विभावादि की नान्तरीयक रूप से पानकरसन्यायेन प्रतीति होती है। क्योंकि यह नियम है कि रस के उद्बोधक किसी एक के विद्यमान रहने पर झटिति अन्य तत्त्वों का आक्षेप कर लिया जाता है—

(सद्भावश्च विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते॥)

इस प्रकार यहाँ उत्साह का आलम्बन मधु दैत्य है, उसके निर्भीकत्वादि का ज्ञान रूप उद्दीपन तथा उसके प्रति अवहेला आदि अनुभाव एवं गर्व आदि सञ्चारियों की प्रतीति उत्साहप्रतीति के साथ हो जाती है। इस प्रकार यहाँ वीररस पूर्णतया ध्वनित होता है। लोचनकार ने 'उत्साह की प्रतीति' को सभी अन्य तत्त्वों की प्रतीति के उपलक्षण रूप में उल्लेख किया है।

लोचनम्

रेखोच्छिन्ना भगवतीति परमेश्वरस्य तस्यामप्यवस्थायां परमकारुणिकत्वमुक्तं, किं च ते नखाः स्वच्छेन स्वच्छतागुणेन नैर्मल्येन; स्वच्छमृदुप्रभृतयो हि मुख्यतया भाववृत्तय एव; स्वच्छायया च वक्रहृद्यरूपयाऽऽकृत्याऽऽयासितः–खेदित इन्दुर्यैः, अत्रार्थशक्तिमूलेन ध्वनिना बालचन्द्रत्वं ध्वन्यते, आयासनेन तत्सन्निधौ चन्द्रस्य विच्छायत्वप्रतीतिरहृद्यत्वप्रतीतिश्च ध्वन्यते, आयासकारित्वं च

आर्तिकारी (दुःखदायी) होने के कारण आर्ति का मूर्त रूप ही था, उसका विनाश करते हुये (नखों द्वारा) आर्ति ही उच्छिन्न की जाती है, इस प्रकार परमेश्वर का उस अवस्था में भी परमकारुणिकत्व कहा है।[1] और भी, वे नख स्वच्छ अर्थात् स्वच्छता गुण रूप निर्मलता के द्वारा, क्योंकि 'स्वच्छ' 'मृदु' प्रभृति शब्द मुख्य रूप से भाववृत्ति (स्वच्छता आदि धर्म के वाचक ही हैं; और अपनी छाया से, वक्र एवं हृद्य रूप आकृति से आयासित, खेदित (खेद को प्राप्त) इन्दु (चन्द्र) हैं जिनके द्वारा। यहाँ 'अर्थशक्तिमूलध्वनि' से इन्दु (चन्द्र) का बालत्व ध्वनित होता है। 'आयास पहुँचाने' से नखों के समीप चन्द्र के विच्छायत्व (कान्तिराहित्य) की प्रतीति

१. 'नखों के प्रहरण' से आरम्भ करके इस अङ्कित स्थल तक 'वस्तुध्वनि' का निरूपण किया है। श्लोक में ऐसा नहीं कहकर कि मधुरिपु आप लोगों की रक्षा करें, कहा गया है कि मधुरिपु के नख आप लोगों की रक्षा करें, यद्यपि कि मधुरिपु के नख मधुरिपु से भिन्न नहीं, तथापि वे नख मधुरिपु से अपृथक् होने के कारण त्राण के कार्य में असाधारण कारण रूप से प्रस्तुत किये गये हैं, क्योंकि नख एक प्रकार के प्रहरण अर्थात् प्रहार के साधन, किंवा आयुध हैं, आयुध द्वारा अपनी या अन्य की रक्षा ही मुख्य रूप से कर्तव्य होती है। दूसरे यह कि नखों को त्राण का कर्ता बनाकर उनकी सातिशयशक्तिता अर्थात् अतिशय शक्तिमान् होना, सूचित किया है। तात्पर्य यह कि भगवान् मधुरिपु के नख स्वयं ही अपने आप में इस प्रकार पूर्ण सामर्थ्य रखते हैं कि त्राण कर सकें। इससे एक और 'वस्तु' यह भी ध्वनित होती है कि परमेश्वर को जगत् के त्राण जैसे कार्य के लिए अपने से अतिरिक्त साधन (व्यतिरिक्त करण) की अपेक्षा नहीं, बल्कि उनका यह कार्य अपने ही शरीर के एक तुच्छ और साधारण तत्त्व नख से ही सम्पन्न हो जाता है।
अब इसी प्रसंग में क्रम से श्लोक के विशेषणों से ध्वनित 'वस्तु' का प्रतिपादन करते हैं। स्वयं विशेष्यभूत विशेषण 'मधुरिपु' की व्यञ्जना है कि भगवान् जगत् को त्रस्त करने वाले मधु दैत्य आदि के शत्रु होकर जगत्त्रासापसारणार्थ निरन्तर उद्योगशील हैं, अर्थात् उनका यह स्वभाव ही है कि संसार के भय का निवारण करते रहें। 'अपनी इच्छाशक्ति से केसरी (सिंह) का रूप धारण किए हुए' इस विशेषण की व्यञ्जना के अनुसार उन पर न तो किसी प्रकार कर्म की परतन्त्रता है और न दूसरे किसी की इच्छा का दबाव है, बल्कि हिरण्यकशिपु जैसे विशिष्ट दानव, जिसने किसी समय, किसी स्थान पर तथा किसी व्यक्ति से न मारे जाने का वर प्राप्त कर लिया था, के हनन को उचित इच्छा के परिग्रह के औचित्य से ही जिन भगवान् मधुरिपु ने नरसिंह का स्वरूप धारण किया। नखों के विशेषण रूप में कहते हैं 'प्रपन्न जनों की आर्ति का छेदन करने वाले'; नख का उचित कार्य छेदन ही होता है। यद्यपि 'आर्ति' या पीड़ा का छेद्य होना सम्भव नहीं, तथापि परमेश्वर के स्वेच्छानिर्मित नखों द्वारा उसका छेद्य होना भी यहाँ असम्भाव्य नहीं समझना चाहिए। अथवा भगवान् के प्रपन्न प्रह्लाद आदि जनों के आर्तिप्रद होने के कारण आर्ति का मूर्त रूप उस हिरण्यकशिपु का नखों द्वारा छेदन ही यहाँ अभीष्ट है। इस प्रकार ऐसी

लोचनम्

नखानां सुप्रसिद्धम्; नरहरिनखानां तच्च लोकोत्तरेण रूपेण प्रतिपादितम्, किंच तदीयां स्वच्छतां कुटिलिमानं चावलोक्य बालचन्द्रः स्वात्मनि खेदमनुभवति; तुल्येऽपि स्वच्छकुटिलाकारयोगेऽमी प्रपन्नार्तिनिवारणकुशलाः; न त्वहमिति व्यतिरेकालङ्कारोऽपि ध्वनितः, किंचाहं पूर्वमेक एवासाधारणवैशद्यहृद्याकारयोगात्समस्तजनाभिलषणीयताभाजनमभवम्, अद्य पुनरेवंविधा नखा दश बालचन्द्राकाराः सन्तापार्तिच्छेदकुशलाश्चेति तानेव लोको बालेन्दुबहुमानेन पश्यति, न तु मामित्याकलयन्बालेन्दुरविरतमायासमनुभवतीवेत्युत्प्रेक्षापह्नुतिध्वनिरपि, एवं वस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोकेऽस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातः।

और अहृद्यत्व की प्रतीति होती है। और नखों का आयासकारित्व सुप्रसिद्ध है, और नृसिंह के नखों का वह (आयासकारित्व) लोकोत्तर रूप से प्रतिपादित है। और भी,[1] उन नखों की स्वच्छता और कुटिलिमा (टेढ़ापन) को देखकर बालचन्द्र अपने आप में खेद अनुभव करता है, स्वच्छ एवं कुटिल आकार के सम्बन्ध के समान होने पर भी (अर्थात् जैसी स्वच्छता और कुटिलिमा नखों में है वैसी ही मुझ बालचन्द्र में है) ये (नख) प्रपन्न जनों की आर्ति के निवारण में कुशल हैं, मैं नहीं, यह 'व्यतिरेक अलङ्कार' भी ध्वनित होता है। और भी, मैं पहले एक अकेले ही असाधारण वैशद्य (स्वच्छता) एवं हृद्य आकार के योग से समस्त जनों की अभिलषणीयता का पात्र था, आज फिर इस प्रकार के नख दस बालचन्द्रों के आकार वाले और सन्ताप तथा आर्ति के छेदन में कुशल हैं, उन्हें ही संसार बालचन्द्र के बहुमान से देखता है न कि मुझे, इस प्रकार आकलन करता हुआ बालचन्द्र निरन्तर आयास को जैसे अनुभव करता है, यह 'उत्प्रेक्षा' और 'अपह्नुति' का ध्वनि भी है। इस प्रकार हमारे गुरुजी (भट्ट इन्दुराज) ने वस्तु, अलङ्कार और रस के भेद से तीन प्रकार के 'ध्वनि' का इस श्लोक में व्याख्यान किया है।

स्थिति में भी परमेश्वर की परमकारुणिकता अभिहित हो जाती है, जो प्रस्तुत विशेषण का मुख्य तात्पर्य है।

फिर नख का एक दूसरा विशेषण 'स्वच्छता और अपनी छाया (आकृति) से इन्दु (चक्र) को आयासित करने वाले'; यहाँ लोचनकार ने 'स्वच्छ' को 'स्वच्छाया' का विशेषण न मान कर स्वतन्त्र अर्थ 'स्वच्छता' या नैर्मल्य किया है, 'छाया' अर्थात् वक्र एवं हृद्य आकृति। इस प्रकार लोचनकार के अनुसार यहाँ अर्थशक्तिमूल ध्वनिव्यापार से नखों का बालचन्द्रत्व ध्वनित होता है, दूसरे, नखों द्वारा इन्दु के आयासन से यह प्रतीति ध्वनित हुई कि उन नखों के समीप चन्द्र शोभाहीन है एवं अहृद्य है; क्योंकि आयासकारी होना नखों के पक्ष में सर्वविदित है। अर्थात् भगवान् नृसिंह के नख अपनी निर्मलता और आकृति से बालचन्द्र को आयासित करते हैं मतलब यह कि उनके नजदीक बालचन्द्र विच्छाय (फीका) और अहृद्य (दिलकश न लगने वाला) प्रतीत होता है। नृसिंह के नखों के आयासकारित्व की लोकोत्तरता यह है कि अन्य लौकिक नख में उस प्रकार बालचन्द्र को आयासित करने वाली स्वच्छता एवं वक्र-हृद्य आकृति नहीं होती।

१. 'अलङ्कारध्वनि' का निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं कि एक तो बालचन्द्र को इस बात का

ध्वन्यालोकः

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥ १॥

बुधजनों ने काव्य के आत्मा को 'ध्वनि' यह पहले से समाम्नात किया है, दूसरे लोगों ने उसका अभाव कहा, अन्य लोगों ने उसे 'भाक्त' कहा, कुछ लोगों ने उसके तत्त्व को वाणी का अगोचर कहा, अतः सहृदय जनों के मन की प्रीति के लिये उस (ध्वनि) का स्वरूप कहते हैं॥ १॥

लोचनम्

अथ प्राधान्येनाभिधेयस्वरूपमभिदधदप्रधानतया प्रयोजनप्रयोजनं तत्सम्बद्धं प्रयोजनं च सामर्थ्यात्प्रकटयन्नादिवाक्यमाह—*काव्यस्यात्मेति*।

अब प्रधान रूप से (इस ग्रन्थ के) अभिधेय के स्वरूप की चर्चा करते हुये, अप्रधान रूप से प्रयोजन के प्रयोजन को और उससे सम्बद्ध प्रयोजन को सामर्थ्य से प्रकट करते हुये, प्रथम वाक्य कहते हैं—बुध जनों ने काव्य के आत्मा—

खेद था कि नखां जैसी स्वच्छता तथा कुटिलता उसमें नहीं हैं, और इस अंश में यदि किसी प्रकार दोनों की समानता हो भी जाय तब भी बालचन्द्र को अपनी यह कमी खलेगी ही कि नखों की भाँति प्रपन्न जनों की आर्ति के निवारण में वह कुशल नहीं हो सका; इस प्रकार उपमानभूत बालचन्द्र से उपमेयभूत नखों के आधिक्य की प्रतीति होने से 'व्यतिरेक' नामक अलङ्कार भी ध्वनित हुआ। 'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' (काव्यप्रकाश)।

फिर यहीं दूसरे प्रकार से आचार्य ने उत्प्रेक्षा और अपह्नुति अलङ्कारों के ध्वनि का निर्देश किया है। उत्प्रेक्षा यह है कि मानों बालचन्द्र निरन्तर आयास अनुभव करता है और 'अपह्नुति' का स्थल यह हुआ कि उन्हीं नखों को सारा संसार बालचन्द्र के बहुमान या गौरव से देखता है, जब कि मैं (बालचन्द्र) साक्षात् विद्यमान हूँ। यहाँ उत्प्रेक्षा अपह्नुति के बल पर होती है, क्योंकि जब संसार बालचन्द्र को बालचन्द्र न समझकर नखों को बालचन्द्र का गौरव देता है, तभी बालचन्द्र का आयासित होना भी सम्भावित है। इस प्रकार यहाँ दोनों का अङ्गाङ्गिभाव रूप 'संकर' ध्वनित है।

१. प्रस्तुत ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' का प्राधान्यतः अभिधेय या प्रतिपाद्य 'ध्वनि' तत्त्व है, ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान प्रयोजन है तथा इस प्रयोजन का प्रयोजन सहृदयजनों के मन की प्रतीति या प्रसन्नता है। इस प्रकार दूसरे प्रयोजन 'प्रीति' से सम्बद्ध प्रयोजन 'ध्वनिस्वरूप का ज्ञान' की चर्चा ग्रन्थकार 'मन्दाक्रान्ता' छन्द में निबद्ध प्रथम वाक्य में करते हैं, यह लोचनकार का निर्देश है। यहाँ आकलनीय बात यह है कि प्राचीन ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भ करते हुए यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते थे कि प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय क्या है, अधिकारी कौन हैं, सम्बन्ध क्या है तथा प्रयोजन क्या है, इन्हीं विषय-अधिकारी-सम्बन्ध-प्रयोजन को शास्त्रीय भाषा में 'अनुबन्धचतुष्टय' कहते थे। उन ग्रन्थकारों का ऐसा करने में यह तात्पर्य था कि पहले ही उनका ग्रन्थ उन लोगों से

ध्वन्यालोकः

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः। तदभावादिनां चामी विकल्पाः संभवन्ति।

बुध अर्थात् काव्य के तत्त्वज्ञ लोगों ने काव्य के आत्मा को 'ध्वनि' यह संज्ञा दी है और जिसे परम्परा से, पूर्व में ही समाम्नात, सम्यक् आ समन्तात् म्नात, प्रकटित किया है, सहृदय जनों के मन में प्रकाशमान भी उस (ध्वनि) का अन्य लोग अभाव कहते हैं। उसके अभाववादियों के ये विकल्प सम्भव हैं।

लोचनम्

काव्यात्मशब्दसंनिधानाद् बुधशब्दोऽत्र काव्यात्मावबोधनिमित्तक इत्यभिप्रायेण विवृणोति—*काव्यतत्त्वविद्भिरिति*। आत्मशब्दस्य तत्त्वशब्देनार्थं विवृण्वानः सारत्वमपरशाब्दवैलक्षण्यकारित्वं च दर्शयति। इतिशब्दः स्वरूपपरत्वं ध्वनि-

'काव्य के आत्मा' इस शब्द के समीप में रहने से 'बुध' शब्द यहाँ पर 'काव्य के आत्मा का अवबोध (ज्ञान)' इस प्रयोग के लिये है, इस अभिप्राय से विवरण करते हैं—काव्य के तत्त्वज्ञ[1] लोगों ने—। 'आत्मा' शब्द का 'तत्त्व' शब्द से अर्थ-विवरण करते हुये सारत्व और दूसरे शब्द (प्रतिपाद्यों) से वैलक्षण्यकारित्व को दिखाया है। 'यह' (इति) शब्द 'ध्वनि' का स्वरूप में तात्पर्य बतलाता है, क्योंकि उस (ध्वनि)

बच जायेगा, जो उसके अधिकारी होने की क्षमता नहीं रखते हैं तथा जो अधिकारी जन हैं उन्हें अपने प्रयोजन तक पहुँचने में सरलता भी हो जायगी। 'लोचन' में इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत ग्रन्थ की उपर्युक्त अवतरणिका दी है। यहाँ विषय 'ध्वनि' का स्वरूप है, अधिकारी सहृदयजन हैं ('सहृदय' की परिभाषा आगे 'लोचन' में स्पष्टता से मिलेगी), (विषय के साथ) सम्बन्ध प्रतिपाद्य-प्रतिपादक है, और सहृदय के साथ उपकार्योपकारक भाव रूप सम्बन्ध है तथा प्रयोजन प्रीति है। इस प्रयोजन से सम्बद्ध ध्वनिस्वरूप ज्ञान रूप प्रयोजन सामर्थ्य या आक्षेप से ही प्राप्त होता है, क्योंकि सहृदयों की प्रसन्नता ध्वनिस्वरूप के ज्ञान के बिना नहीं सिद्ध हो सकती।

१. कारिकाकार 'ध्वनि' के लिए (काव्य की) 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करते हैं और वृत्तिकार ने 'आत्मा' के स्थान पर 'तत्त्व' शब्द रखा है। लोचनकार के अनुसार वृत्ति में 'आत्मा' की 'तत्त्व' शब्द से अर्थ-विवृति की गई है। इस प्रकार प्रस्तुत 'बुध' शब्द से उन बोध रखनेवाले लोगों का अर्थ गृहीत है, जो काव्य के 'तत्त्व' को जानते हैं, न कि सभी प्रकार के बुध जन। 'आत्मा' की विवृति 'तत्त्व' से करके दो विशेष बातें निर्दिष्ट की हैं—एक तो 'सारत्व', अर्थात 'ध्वनि' काव्य का 'सारभूत' है तथा दूसरे शब्दप्रतिपाद्यों से वैलक्षण्यकारित्व, अर्थात 'ध्वनि'-शब्दप्रतिपाद्य वह तत्त्व है जो किसी भी अन्य शब्दप्रतिपाद्य से मेल नहीं खाता, बल्कि उनसे अत्यन्त वैलक्षण्यकारी है। यह यहाँ ध्यान देने की बात है कि लोचनकार इस 'ध्वनितत्त्व' को 'विलक्षण' न कहकर 'वैलक्षण्यकारी' कहते हैं। 'विलक्षण' कहने से लौकिक-वैदिक-शब्द-प्रतिपाद्यों से इसकी भिन्नतामात्र सिद्ध होती है और भिन्नता इसलिए अपेक्षित नहीं कि अनुत्कृष्ट तत्त्व भी तो

लोचनम्

शब्दस्याचष्टे, तदर्थस्य विवादास्पदीभूततया निश्चयाभावेनार्थवत्त्वायोगात्। एतद्विवृणोति–*संज्ञित इति*। वस्तुतस्तु न तत्संज्ञामात्रेणोक्तम्, अपि त्वस्त्येव ध्वनिशब्दवाच्यं प्रत्युत समस्तसारभूतम्। न ह्यन्यथा बुधास्तादृशमामनेयुरित्यभिप्रायेण विवृणोति–*तस्य सहृदयेत्यादिना*। एवं तु युक्ततरम्—इतिशब्दो भिन्नक्रमो वाक्यार्थपरामर्शकः, ध्वनिलक्षणोऽर्थः काव्यस्यात्मेति यः समाम्नात इति। शब्दपदार्थकत्वे हि ध्वनिसंज्ञितोऽर्थ इति का सङ्गतिः? एवं हि ध्वनिशब्दः काव्यस्यात्मेत्युक्तं भवेद्, गवित्ययमाहेति यथा। न च विप्रतिपत्तिस्थानमसदेव, प्रत्युत सत्येव धर्मिणि धर्ममात्रकृता विप्रतिपत्तिरित्यलमप्रस्तुतेन

के अर्थ के विवादास्पद होने के कारण निश्चय न होने से अर्थवत्त्व नहीं बनता। इसे विवरण करते हैं—संज्ञा[1] दी है—। वास्तव में, उसे संज्ञामात्र से नहीं कहा है, अपितु है ही ध्वनि शब्द का वाच्य, प्रत्युत वह सब का सारभूत (भी) है। अन्यथा बुध जन उस प्रकार के (ध्वनि-तत्त्व को) आम्नात नहीं करते, इस अभिप्राय से विवरण करते हैं—सहृदय जनों से—इत्यादि से। परन्तु इस तरह का व्याख्यान ज्यादातर ठीक होगा—'यह' (इति) शब्द भिन्न क्रम से पठित होकर वाक्यार्थ का परामर्शक है, अर्थ होगा—ध्वनि रूप अर्थ 'काव्य का आत्मा' यह जो समाम्नात है। यदि ('ध्वनि' शब्द को 'ध्वनि' इस) संज्ञा मात्र के अर्थ में मानते हैं तो 'ध्वनि, इस संज्ञा वाला अर्थ है' यह क्या सङ्गति बैठेगी? क्योंकि इस प्रकार, 'ध्वनि शब्द काव्य का आत्मा है' ऐसा कहा जायगा, जैसे 'गौ' ऐसा यह कहता है। यह नहीं कि विप्रतिपत्ति (आशङ्का) का स्थान बिलकुल है ही नहीं, बल्कि धर्मी के होते हुये ही धर्मपात्र के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति

उत्कृष्ट तत्त्व से भिन्न होता है! इसलिए वह 'ध्वनि तत्त्व' वैलक्षण्यकारी है, अर्थात् काव्य में वैलक्षण्य उत्पन्न करनेवाला है। वैलक्षण्य यहाँ कमाल या वैशिष्ट्य के अर्थ में ग्राह्य है।

१. 'काव्य के आत्मा को 'ध्वनि' यह संज्ञा दी है' इस वृत्तिग्रन्थ पर लोचनकार ने विचार किया है। मूल 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति=काव्य के आत्मा को ध्वनि यह' इस ग्रन्थ का 'यह' शब्द यहाँ 'ध्वनि' शब्द का स्वरूप में तात्पर्य बताता है, क्योंकि अभी तो यह निर्णय नहीं किया गया है कि ध्वनि आखिर किस अर्थ को कहते हैं, ऐसी स्थिति में तत्काल 'ध्वनि' इस संज्ञा शब्द को ही काव्य का आत्मा मान लेना चाहिए, फिर आगे चलकर ध्वन्यर्थ का स्पष्टीकरण होता रहेगा। वृत्तिकार ने मूलग्रन्थ को इसी उद्देश्य से लगाया है। लोचनकार इसी व्याख्यान के समर्थन में यह कहते हैं कि यद्यपि यहाँ संज्ञामात्र से ध्वनि तत्त्व का निर्देश किया गया है, तथापि यह किसी को गलतफहमी न होनी चाहिए कि ध्वनिशब्द का वाच्य कोई है ही नहीं, यदि ऐसा होता तो बुध जन इसे स्वीकार कैसे करते?

परन्तु इस प्रकार के व्याख्यान से स्वयं लोचनकार को सन्तोष नहीं है। यहाँ 'यह' ('इति') शब्द विचारणीय है, उसी के अर्थ का प्रश्न है। ऊपर उसे शब्दपरामर्शक मानकर 'ध्वनि' शब्द का स्वरूप में तात्पर्य बताया गया है, परन्तु लोचनकार कहते हैं कि इसे भिन्नक्रम और वाक्यार्थ-परामर्शक समझना चाहिए। इसके अनुसार 'यह' शब्द 'काव्य का आत्मा' के बाद चला जायगा और 'ध्वनि' का अर्थ होगा 'ध्वनि रूप अर्थ'; पूरा रूप होगा—'ध्वनि रूप अर्थ काव्य का आत्मा है, यह जो समाम्नात है। जैसा कि 'ध्वनि' शब्द को 'ध्वनि' पद का अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो किसी प्रकार ग्रन्थ की सङ्गति नहीं बैठेगी, तब तो 'ध्वनि' शब्द ही 'काव्यात्मा' के रूप में

लोचनम्

भूयसा सहृदयजनोद्वेजनेन । बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाभिधानं स्यात्, न तु भूयसां तद्युक्तम् । तेन बुधैरिति बहुवचनम् । तदेव व्याचष्टे—*परम्परयेति* ।

अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः । न च बुधा भूयांसोऽनादरणीयं वस्त्वादरेणोपदिशेयुः; एतत्त्वादरेणोपदिष्टम् । तदाह—*सम्यगाम्नातपूर्व* इति । पूर्वग्रहणेनेदम्प्रथमता नात्र सम्भाव्यत इत्याह, व्याचष्टे च—*सम्यगासमन्ताद् म्नातः प्रकटित* इत्यनेन । *तस्येति* । यस्याधिगमाय प्रत्युत यतनीयं, का तत्राभावसम्भावना । अतः किं कुर्मः, अपारं

है, अब सहृदय जनों को उद्विग्न करने वाली यह अप्रासङ्गिक चर्चा व्यर्थ है। एक 'बुध' का उस प्रकार कथन प्रामादिक भी हो सकता था, किन्तु बहुतों का वह (प्रामादिक कथन) नहीं बन सकता। इसलिये 'बुध' में बहुवचन है[1]। उसी की व्याख्या करते हैं—**परम्परा से**—।

अभिप्राय यह कि कभी विच्छिन्न न होने वाले प्रवाह के क्रम से उन (बुधों) ने इसे कहा है, विशिष्ट पुस्तकों में इसका स्थापन भी नहीं किया है। बहुत से बुध जन किसी अनादरणीय वस्तु को आदरपूर्वक उपदेश नहीं करते, इसे तो आदरपूर्वक उपदेश किया है। उसे कहते हैं—**पहले से समाम्नात किया है**—। 'पहले से' ('पूर्व') इस उल्लेख से, यह पहले-पहल नहीं सम्भावित किया है, यह कहते हैं और व्याख्या करते हैं—**सम्यक् आ समन्तात् म्नात, प्रकटित**—। **उसका**।—जिसे प्राप्त करने के लिये प्रत्युत यत्न करना चाहिये उसके अभाव की फिर सम्भावना क्या? इसलिये क्या करें,

गृहीत होने लगेगा, जो सर्वथा अनभीष्ट है। प्रस्तुत को यदि वाक्यार्थपरामर्शक स्वीकार कर लेते हैं तो एक प्रश्न और उठ सकता है जिसकी लोचनकार सम्भावना करके यह निराकरण भी देते हैं। प्रश्न होगा कि ध्वनि के सम्बन्ध में जो विप्रतिपत्तियाँ निर्दिष्ट की गई हैं, 'ध्वनि' रूप अर्थ को प्रस्तुत में स्वीकार करने पर उनकी सम्भावना नहीं रहेगी, क्योंकि जब कि 'ध्वनि' रूप अर्थ को प्रायः विप्रतिपत्तिकारों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया ही है, इसके समाधान में कहना है कि ध्वनि रूप अर्थ [धर्मी] के निर्विवाद होने पर भी धर्ममात्र में विप्रतिपत्तियाँ उपपन्न होंगी। अर्थात् 'ध्वनि' रूप अर्थ को स्वीकार करते हुए भी विप्रतिपत्तिकारों ने उसे गलत रूप में समझ लिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनकी गलतियों के निराकरणार्थ ही ग्रन्थकार प्रयत्नशील हैं। संक्षेप यह कि ध्वनि के सम्बन्ध में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं, प्रत्युत ध्वनि के स्वरूप के निर्णय में मतभेद अवश्य है। जिस प्रकार 'शब्द' के सम्बन्ध में किसी को सन्देह या विप्रतिपत्ति नहीं, किन्तु उसके नित्यत्व और अनित्यत्व धर्मों के सम्बन्ध में मतभेद अवश्य है। कोई नित्यत्ववादी है और कोई अनित्यत्ववादी। इसी प्रकार ध्वनि को गुण और अलङ्कार में अन्तर्भूतत्व, भाक्तत्व आदि धर्मों को लेकर विप्रतिपत्तियां अवश्य उपपन्न होंगी।

१. मूल कारिकाग्रन्थ में प्रयुक्त 'बुधैः' के 'बहुवचन' पर विचार करते हैं। यहाँ यह बात कही जा सकती है कि जब बुध काव्यतत्त्ववेत्ता होकर कुछ भी कहता है तो उसके वचन में अप्रामाण्य की सम्भावना हो ही नहीं सकती, ऐसी स्थिति में यह आवश्यक नहीं कि काव्यतत्त्ववेत्ता

लोचनम्

मौर्ख्यमभाववादिनामिति भावः। न चास्माभिरभाववादिनां विकल्पाः श्रुताः, किं तु सम्भाव्य दूषयिष्यन्ते, अतः परोक्षत्वम्। न च भविष्यद्वस्तु दूषयितुं युक्तम्, अनुत्पन्नत्वादेव। तदपि बुद्ध्यारोपितं दूष्यत इति चेत्; बुद्ध्यारोपितत्वादेव भविष्यत्त्वहानिः। अतो भूतकालोन्मेषात् पारोक्ष्याद्विशिष्टाद्यतनत्वप्रतिभानाभावाच्च लिटा प्रयोगः कृतः–*जगदुरिति*।

अभाववादियों की मूर्खता की कोई सीमा नहीं। हमने अभाववादियों के विकल्प नहीं सुने हैं, किन्तु (उनकी) सम्भावना करके दोष देंगे, इससे (उन विकल्पों का) परोक्षत्व (सिद्ध) होता है। जो भविष्य में होने वाली वस्तु है, उसमें दोष तो दिया नहीं जा सकता, क्योंकि वह सर्वथा उत्पन्न ही नहीं है। अगर कहें कि बुद्धि में आरोपित करके दोष देंगे तो बुद्धि में आरोपित होने के ही कारण भविष्य में होने की बात नहीं बनती। अतः भूतकाल के उन्मेष से, परोक्षत्व के कारण और विशिष्ट (कालविशेष रूप) अद्यतनत्व के प्रतिभान के न होने के कारण 'लिट् लकार' से प्रयोग किया है—**जगदुरिति'**—।

अनेक हों। इस पर लोचनकार का कहना है कि यद्यपि बुध 'काव्यतत्त्ववेत्ता' ही यहाँ विवक्षित है, किन्तु सही बात एक मुख से न निकलकर अनेक मुख से कही जाय तो उसकी प्रामाणिकता और भी पुष्ट हो जाती है, दूसरे, किञ्चित् प्रमाद होने की सम्भावना भी जाती रहती है। साथ ही, अन्य शब्द का प्रयोग न करके 'बुध' के प्रयोग का यह तात्पर्य है कि अत्यन्त जड प्रकृति के लोग अगर बहुत भी हों और एक ही बात को कहते हों तब भी उनकी बात आदरणीय नहीं होती, यहाँ ऐसी स्थिति नहीं। बल्कि 'ध्वनि' को 'काव्य का आत्मा' उन लोगों ने स्वीकार किया है जो काव्यतत्त्व के पूर्ण जानकार हैं, बुध हैं तथा एक परम्परा (अविच्छिन्न प्रवाह) से इस सिद्धान्त को समाम्नात करते आ रहे हैं। इस सिद्धान्त के समर्थन में। बुद्धजनों का कथन इस प्रकार व्यापक था कि किसी ने इसके लेखन का अनावश्यक श्रम स्वीकार नहीं किया। वह बात, जो साक्षात् उपदेशसिद्ध है, लिखकर व्यक्त करने का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? यह भी आकलनीय है कि अनेक बुध जन किसी अनादरणीय वस्तु का आदर के साथ उपदेश किसी भी अवस्था में नहीं कर सकते। प्रस्तुत ध्वनितत्त्व का उपदेश उन्होंने आदर के साथ किया है, सम्यगाम्नात किया है। यह भी उसके प्रामाणिक और आदरणीय होने का जबर्दस्त तर्क है।

१. मूल कारिका-ग्रन्थ 'तस्याभावं जगदुरपरे' के 'जगदुः' इस लिट् लकार के प्रयोग पर विचार करते हैं। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार 'लिट्' का प्रयोग भूतानद्यतनपरोक्ष के अर्थ में होता है, अर्थात् क्रिया के बहुत पहले परोक्ष भूतकाल में होने पर लिट् लकार प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत में, ध्वनि के अभाववाद का सिद्धान्त भी बहुत पहले भूतकाल में परोक्ष रूप से सम्भावित किया गया है, अतः आचार्य ने 'जगदुः' यह लिट् लकार का प्रयोग किया है (मैंने हिन्दी की प्रकृति में 'लिट्' लकार के कथञ्चित् अनुरूप प्रयोग 'जगदुः' के अनुवाद के रूप में 'कहा' लिखा है)। परोक्षत्व की पुष्टि के लिए सम्भावना के समर्थन में लोचनकार ध्वनिवादी आचार्य की ओर से लिखते हैं कि हमने ध्वनि के अभाव पक्ष को नहीं सुना है, इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि सर्वथा यह विकल्प कभी मौजूद ही नहीं था, ऐसी स्थिति में सम्भावना का आश्रय लेकर उन्हें उद्धृत किया गया है तथा उनमें दोष बताये गये हैं। इस प्रकार सम्भावित

लोचनम्

तद्व्याख्यानायैव सम्भाव्य दूषणं प्रकटयिष्यति। सम्भावनाऽपि नेयमसम्भवतो युक्ता, अपि तु सम्भवत एव, अन्यथा सम्भावनानामपर्यवसानं स्यात् दूषणानां च। अतः सम्भावनामभिधापयिष्यमाणां समर्थयितुं पूर्वं *सम्भवन्ती*-त्याह। सम्भाव्यन्त इति तूच्यमानं पुनरुक्तार्थमेव स्यात्। न च सम्भवस्यापि सम्भावना, अपि तु वर्तमानतैव स्फुटेति वर्तमानेनैव निर्देशः। ननु च सम्भवद्व स्तुमूलया सम्भावनया यत्सम्भावितं तद् दूषयितुमशक्यमित्याशङ्क्याह—*विकल्पा* इति। न तु वस्तु सम्भवति तादृक् यत इयं सम्भावना, अपि तु

उस (लिट्) के व्याख्यान के लिये ही (ग्रन्थकार) सम्भावना करके दोष प्रकट करेंगे। यह सम्भावना भी, जो सम्भव नहीं हो रहा है उसकी, नहीं बनती, अपितु सम्भव होते हुये की ही सम्भावना बनती है, अन्यथा[1] सम्भावनाओं का और दोषों का कभी अन्त ही न हो। अतः (ग्रन्थकार) आगे अभिहित कराई जाने वाली सम्भावना के समर्थन के लिये पहले 'सम्भव हो सकते हैं' यह कहते हैं। यदि 'सम्भावित होते हैं' ऐसा कहते तो पुनरुक्तार्थ ही[2] होता, सम्भव पदार्थ की सम्भावना नहीं होती, अपितु उसका वर्तमान होना ही स्पष्ट है, अतः वर्तमान से ही निर्देश किया है। सम्भव होते हुये वस्तुमूल वाली सम्भावना से जो सम्भावित है उसे दूषित करना शक्य नहीं है, यह आशङ्का करके कहते हैं—**विकल्प**—उस[3] प्रकार की वस्तु सम्भव नहीं है

होने के कारण ध्वनि के अभाव-विकल्प का परोक्ष होना उपपन्न हो जाता है। बुद्ध्यारोपित करके सम्भावना को भविष्य नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि बुद्ध्यारोपित वही विषय हो सकता है जो भूत में हो, न कि भविष्य में। स्वयं वृत्तिकार ने 'जगदुः' के स्थान पर आगे ही अभाववाद का उपन्यास करते हुए 'आचक्षीरन्' यह सम्भावनार्थक 'लिङ्' का प्रयोग किया है, साथ ही 'सम्भवन्ति' का भी प्रयोग करते हैं।

१. यदि यहाँ यही पक्ष स्वीकार्य हो जाय कि सम्भावना असम्भव की होती है तो सम्भावनाओं का कोई पर्यवसान या कोई हद नहीं मिलेगी। और दोषों की भी स्थिति वही होगी। इसलिए सम्भावना उसीकी होती है जो सम्भव होता है, यही सिद्धान्त पक्ष है। इसी कारण वृत्तिकार स्वयं 'सम्भवन्ति' शब्द से सम्भावना का अभिधान कर देते हैं, ताकि ऐसी कोई समस्या उपस्थित न हो।

२. वृत्तिकार 'हो सकते हैं' (सम्भवन्ति) कहकर आगे 'आचक्षीरन्' के पश्चात् वक्ष्यमाण सम्भावना का समर्थन करते हैं। तात्पर्य यह कि जो सम्भव है उसीकी सम्भावना हो सकती है, अर्थात् सम्भव सम्भावना का मूल या विषय होता है। ऐसी स्थिति में, यदि 'सम्भावित होते हैं' [सम्भाव्यन्ते] कह देते तो जो सम्भावना [आगे 'आचक्षीरन्' के रूप में] अभिहित होने वाली है वह यहीं उक्त हो जायगी और इस प्रकार पुनरुक्ति होगी। 'सम्भावित होते हैं' का स्पष्ट अर्थ है कि सम्भावना किये जाते हैं। दूसरे, इसके समर्थन में यह कहना भी गलत होगा कि 'सम्भव' की भी सम्भावना क्यों नहीं कर लेते हैं? बल्कि उस सम्भव का वर्तमान होना ही स्पष्ट है, इसी कारण वृत्तिकार ने उसे वर्तमान रूप (लट् लकार-सम्भवन्ति) से निर्देश किया है।

३. ऊपर जब यह निर्णय हो गया कि सम्भावना सम्भव की ही होती है तब प्रस्तुत में यह आशङ्का होती है कि जो वस्तु सम्भव है उसमें दोष देना कहाँ तक उचित होगा, अर्थात् प्रस्तुत में,

लोचनम्

विकल्पा एव। ते च तत्त्वावबोधवन्ध्यतया स्फुरेयुरपि, अत एव 'आचक्षीरन्' इत्यादयोऽत्र सम्भावनाविषया लिङ्प्रयोगा अतीतपरमार्थे पर्यवस्यन्ति। यथा—

यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत्।
दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत्॥

इत्यत्र। यद्येवं कायस्य दृष्टता स्यात्तदैवमवलोक्येतेति भूतप्राणतैव। यदि न स्यात्ततः किं स्यादित्यत्रापि, किं वृत्तं यदि पूर्ववन्न भवनस्य सम्भावनेत्ययमेवार्थ इत्यलमप्रकृतेन बहुना। तत्र समयोपेक्षणेन शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्यव्यतिरिक्तं नास्ति व्यङ्ग्यम्, सदपि वा तदभिधावृत्त्याक्षिप्तं शब्दावगतार्थबलाकृष्टत्वाद्भाक्तम्, तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं कुमारीष्विव भर्तृसुखमतद्वित्सु इति त्रय एवैते प्रधानविप्रतिपत्तिप्रकाराः। तत्राभावविकल्पस्य

जिस कारण यह सम्भावना होगी अपितु विकल्प ही हैं। और, वे (विकल्प) तत्त्व के ज्ञान के न होने के कारण ही स्फुरित होते हैं, अतएव 'आचक्षीरन्' इत्यादि यहाँ सम्भावनाविषयक लिङ्ग के प्रयोग अतीतपरमार्थ[1] में पर्यवसित होते हैं। जैसे—

'यदि इस शरीर के जो भीतर है वह बाहर हो जाय तो यह संसार डंडा लेकर कुत्तों और कौओं को ही डुलाता रहे।'

इस स्थल में। यदि शरीर इस प्रकार दृष्टिगोचर होता तो ऐसा देखा जाता—इस प्रकार (यहाँ भी) अतीतपरमार्थता ही है। 'यदि न होता तो क्या होता' इस स्थल में भी; क्या होता यदि पहले की तरह (बाहर) नहीं होने की सम्भावना है (इस प्रकार निषेध पक्ष में भी) यही अर्थ है। बहुत अप्रकृत चर्चा व्यर्थ है। समय (संकेत) की अपेक्षा से शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है, इस कारण वाच्य से अतिरिक्त कोई व्यङ्ग्य नहीं है, होता हुआ भी वह अभिधावृत्ति से आक्षिप्त होकर, शब्द से अवगत अर्थ के बल से आकृष्ट होने के कारण भाक्त (गौण) है, वह आक्षिप्त न हुआ भी किसी प्रकार वाणी से कहा नहीं जा सकता, क्वाँरियों के लिये पति के सुख के संबंध में कुछ कहना संभव नहीं, इस प्रकार तीन ही ये विप्रतिपत्ति के प्रधान

जब कि 'ध्वनि' के विरुद्ध पक्ष सम्भव हैं तब उनमें दोष दिखाना ठीक नहीं होगा, इस आशङ्का के उत्तर में वृत्तिकार 'विकल्प' शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसा कि लोचनकार कहते हैं: 'उस प्रकार की वस्तु सम्भव नहीं जिससे सम्भावना होगी, अपितु विकल्प ही (सम्भव) है' इसका तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत में जो वस्तु सम्भावना से सम्भावित है वह यहाँ अभिप्रेत नहीं, बल्कि वह अभिप्रेत है जो तत्त्वज्ञान के अभाव में उभर आई है, अर्थात् 'विकल्प' रूप वस्तु यहाँ सम्भावना करके दूषणीय हैं और उन्हें ही यहाँ 'सम्भव' कहा गया है—वह तो दूषणीय हो ही सकती है।

१. 'जगदुः' का व्याख्यान 'आचक्षीरन्' इस लिङ् के प्रयोग से करने से प्रतीत होता है कि सम्भावना के रूप में बुद्ध्यारोपित रूप अतीत (भूत) के तात्पर्य में उन (लिङ् प्रयोगों) का पर्यवसान है। अर्थात् 'ऐसा कुछ लोगों ने कहा हो' ऐसी सम्भावना को बुद्धि में आरोपित करते हैं। इस प्रकार अतीत परमार्थ में लिङ्-प्रयोगों के पर्यवसान में इस विचार का लोचनकार एक उदाहरण देते हैं—यदि इस०—। यहाँ अतीतपरमार्थता इस कारण है कि शरीर के भीतरी भाग के बहिर्भाव को सम्भावना का विषय करके बुद्धि में आरोपित किया गया है और यह निर्विवाद ही

लोचनम्

त्रयः प्रकाराः—शब्दार्थगुणालङ्काराणामेव शब्दार्थशोभाकारित्वाल्लोकशास्त्रातिरिक्तसुन्दरशब्दार्थमयस्य काव्यस्य न शोभाहेतुः कश्चिदन्योऽस्ति योऽस्माभिर्न गणित इत्येकः प्रकारः, यो वा न गणितः स शोभाकार्येव न भवतीति द्वितीयः, अथ शोभाकारी भवति तर्ह्यस्मदुक्त एव गुणे वाऽलङ्कारे वाऽन्तर्भवति, नामान्तरकरणे तु कियदिदं पाण्डित्यम्।

अथाप्युक्तेषु गुणेष्वलङ्कारेषु वा नान्तर्भावः, तथापि किंचिद्विशेषलेशमाश्रित्य नामान्तरकरणमुपमाविच्छित्तिप्रकाराणामसंख्यत्वात्। तथापि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभाव एव। तावन्मात्रेण च किं कृतम्? अन्यस्यापि वैचित्र्यस्य शक्यो-

प्रकार हैं[1]। उनमें अभाव-विकल्प के तीन प्रकार हैं—शब्दगुण और अर्थगुण एवं शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों के ही शब्द और अर्थ के शोभाकारी होने से लोक और शास्त्र से अतिरिक्त शब्दार्थमय काव्य का शोभाहेतु कोई दूसरा नहीं है, जिसकी हमने गणना नहीं की है, यह (अभाव-विकल्प का) एक प्रकार है; और जिसकी ('हमने) गणना नहीं की है वह शोभाकारी ही नहीं होगा, यह दूसरा (विकल्प) है; और वह शोभाकारी होता है तो हमारे कहे हुए ही गुण अथवा अलङ्कार में अन्तर्भूत हो जाता है। केवल दूसरा नाम बदल देने में यह कितना पाण्डित्य है!

माना कि उक्त गुणों अथवा अलङ्कारों में अन्तर्भाव नहीं है, तथापि कुछ विशेष के लेशमात्र को आश्रयण करके नामान्तरकरण है; क्योंकि उपमा के ही वैचित्र्य-(विच्छित्ति-) प्रकार ही असंख्य हैं। तथापि गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्तत्व (उस शोभाकारी तत्त्व का) नहीं बनता। और उतने मात्र से क्या होता है! क्योंकि

है कि जो वस्तु बुद्ध्यारोपित कर ली जाती है उसमें अतीतत्व आ ही जाता है। लोचनकार इस प्रकार विधिरूप से अतीतपरमार्थत्व का निर्देश करके निषेधरूप से भी निर्देश करते हुए लिखते हैं—'यदि न होता तो भी क्या होता'; अर्थात् उस प्रकार शरीर के भीतरी भाग के बाहर होने की सम्भावना न होती तो भी क्या होता, तात्पर्य यह कि तथापि शरीर जुगुप्सा और घृणा का पात्र बना ही रहता। सर्वथा शरीर के प्रति आसक्ति के निषेध में इस पद्य का पार्यन्तिक तात्पर्य निहित है। इस प्रकार यहाँ विधि और निषेध दोनों प्रकारों से 'लिङ्' का अर्थ सम्भावना है।

'लिङ्' के सम्भावना रूप अर्थ का प्रतिपादन प्रस्तुत ग्रन्थ के मूल विषय से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यह केवल लिट्प्रयोग का लिङ्प्रयोग से आचार्य द्वारा किए गए व्याख्यान के समर्थन में लोचनकार ने प्रपञ्चित किया है, अतः स्वयं यह कहते हुए विरत होते हैं कि बहुत अप्रस्तुत चर्चा व्यर्थ है।

१. यहाँ लोचनकार ने ध्वनि के सम्बन्ध में मूल कारिकाग्रन्थ में निर्दिष्ट तीन विकल्पों का संक्षेप में पहले इस प्रकार निर्देश किया है :—प्रथम अभाववादी विकल्प—इसके अनुसार 'ध्वनि' कोई तत्त्व नहीं; क्योंकि शब्द से उसी अर्थ का प्रतिपादन होता है जो संकेतित होता है, अर्थात् समय या संकेत के बल या सहकार से ही शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है और वह अर्थ 'वाच्य' कहलाता है। इसके अतिरिक्त जब शब्द का कोई अर्थ नहीं होता तब एक 'व्यङ्ग्य अर्थ' की कल्पना गलत पक्ष होगा। इस प्रकार सर्वथा 'ध्वनि' कोई तत्त्व नहीं। द्वितीय भाक्तवादी विकल्प—इसके अनुसार किसी प्रकार तथाकथित 'व्यङ्ग्य' अर्थ मान भी लिया जाय तो यह कहना होगा

लोचनम्

त्प्रेक्षत्वात्। चिरन्तनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे एव शब्दार्थालङ्कारत्वेनेष्टे, तत्प्रपञ्चदिक्प्रदर्शनं त्वन्यैरलङ्कारकारैः कृतम्। तद्यथा–'कर्मण्यण्' इत्यत्र कुम्भकाराद्युदाहरणं श्रुत्वा स्वयं नगरकारादिशब्दा उत्प्रेक्ष्यन्ते, तावता क आत्मनि बहुमानः। एवं प्रकृतेऽपीति तृतीयः प्रकारः। एवमेकस्त्रिधा विकल्पः, अन्यौ च द्वाविति पञ्च विकल्पा इति तात्पर्यार्थः।

दूसरे वैचित्र्य की भी तो उत्प्रेक्षा हो सकती है? जैसा कि प्राचीन भरतमुनि प्रभृति आचार्यों ने यमक और उपमा को ही शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप में माना है, उनके प्रपंच की दिशा का प्रदर्शन तो दूसरे अलङ्कारकारों ने किया। वह जैसे— 'कर्मण्यण्' इस सूत्र में 'कुम्भकार' आदि उदाहरण को सुनकर स्वयं 'नगरकार' आदि शब्दों की उत्प्रेक्षा कर ली जाती है, केवल उतने से, कौन अपने में बहुत गौरव की बात है? इस प्रकार प्रस्तुत में भी; यह (अभाव-विकल्प का) तीसरा प्रकार[1] है। इस प्रकार एक विकल्प तीन प्रकार का और दूसरे दो विकल्प मिलकर पाँच विकल्प हैं, यह तात्पर्यार्थ है।

अभिधावृत्ति से आक्षिप्त ('बालप्रिया' टिप्पणी के अनुसार अभिधा की पुच्छभूत वृत्ति अर्थात् लक्षणा से आक्षिप्त) होता है। इस प्रकार शब्द से अवगत अर्थ के बल से आकृष्ट होने के कारण 'भाक्त' (या गौण) है। तृतीय अलक्षणीयतावादी विकल्प—किसी प्रकार ('तुष्यतु दुर्जनः' इस न्याय से) उस व्यङ्ग्य अर्थ को लक्षणाशक्ति से आक्षिप्त न भी माना जाय, तथापि उसे शब्द से कहना सम्भव नहीं, वह उस प्रकार जैसे कुमारियों के लिए पति का सुख कहना सम्भव नहीं।

१. अब यहाँ अभाव-विकल्प के वृत्तिग्रन्थ में निर्दिष्ट तीन प्रकारों का संक्षेप में लोचनकार ने उपर्युक्त ढंग से निर्देश किया है। अभाव विकल्प के प्रथम प्रकार में यह कहा जाता है कि काव्यशरीर शब्दार्थमय होता है और गुण तथा अलंकार शब्द–और अर्थ के शोभाकारी तत्त्व के रूप में निर्दिष्ट किए गए हैं। इनके अतिरिक्त कोई ऐसा शोभाकारी तत्त्व ही नहीं सम्भव है जिसकी हमने गणना नहीं की है। अभाव विकल्प के दूसरे प्रकार में यह कहते हैं कि जिसकी हमने गणना नहीं की है वह किसी प्रकार शोभाकारी ही नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में, गुण और अलङ्कार के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की चर्चा करने का यहाँ कोई अर्थ ही नहीं निकलेगा। अभाव विकल्प के तृतीय प्रकार के अनुसार यदि ऐसा कोई शोभाकारी तत्त्व मान भी लिया जाय, तब भी उसका गुण तथा अलङ्कार में ही अन्तर्भाव हो जायगा, यदि लेशमात्र भिन्न कुछ विशेषता के कारण उक्त गुण तथा अलङ्कार में उस शोभाकारी तत्त्व का अन्तर्भाव न हुआ तो हम यह स्वीकार करेंगे उपमा आदि के असङ्ख्य विच्छित्ति-प्रकारों में यह भी होगा। फिर ऐसी स्थिति में कोई प्रश्न नहीं उठता जिसके समाधानार्थ किसी भिन्न ही शोभाकारी तत्त्व की कल्पना की जाय। यही क्या, बहुत से अन्य वैचित्र्यों की भी कल्पना की जा सकती है। जैसा कि प्राचीन आलङ्कारिक आचार्यों ने किया भी है। सबसे प्राचीन भरत मुनि प्रभृति आचार्यों ने यमक और उपमा को ही शब्द और अर्थ के अलङ्कार रूप से स्वीकार किया था, और फिर बाद में अन्य आलङ्कारिकों ने इस विषय को और भी प्रपञ्चित करके निर्दिष्ट किया। किसी ने अभी तक किसी भिन्न नये तत्त्व की उद्भावना का डिण्डिमघोष नहीं किया है, जैसा कि यहाँ 'ध्वनि' को लेकर किया जा रहा है। यह तो कुछ वैसी ही बात हुई कि किसी 'सूत्र' के निर्दिष्ट उदाहरण के आधार पर कोई दूसरा उदाहरण बना लिया गया (जैसे 'कुम्भकार' को देखकर नगरकार आदि)। इस

ध्वन्यालोकः

तत्र केचिदाचक्षीरन्—शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम्। तत्र च शब्द-गताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनि-र्नामेति।

वहाँ कुछ लोग कहें—काव्य का शरीर तो शब्द और अर्थ है, और, उसमें शब्दगत चारुत्वहेतु अनुप्रास आदि प्रसिद्ध ही हैं और अर्थगत उपमा आदि (प्रसिद्ध ही हैं)। और, वर्णसंघटनाधर्म जो माधुर्य आदि (गुण) हैं वे भी प्रतीत होते हैं। उन (अलंकार और गुणों) से अभिन्न रहने वाली वृत्तियाँ भी, जो किन्हीं के द्वारा उपनागरिका आदि (नामों से) प्रकाशित की गई हैं, वे भी सुनने में आई हैं और वैदर्भी प्रभृति रीतियाँ भी (सुनने में आई हैं)। उनके अतिरिक्त कौन यह 'ध्वनि' नाम का (नया पदार्थ) है ?

लोचनम्

तानेव क्रमेणाह—*शब्दार्थशरीरं तावदित्यादिना*। तावद्ग्रहणेन कस्याप्यत्र न विप्रतिपत्तिरिति दर्शयति। तत्र शब्दार्थौ न तावद् ध्वनिः, यतः संज्ञामात्रेण

उन्हीं (विकल्पों) को क्रम से कहते हैं—काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है इत्यादि द्वारा। (मूल—वृत्तिग्रन्थ में) 'तावत्' इस शब्द के ग्रहण से दिखाते हैं कि यहाँ किसी की भी विप्रतिपत्ति (विरुद्ध आशङ्का) नहीं[1] है। शब्द-अर्थ ध्वनि नहीं है, क्योंकि संज्ञामात्र[2] से क्या लाभ ? यदि शब्द और अर्थ का चारुत्व ध्वनि है !;

मात्र से यह गौरव का अनुभव करना कि हमने नई कल्पना की, अत्यन्त उपहसनीय बात है। यहाँ लोचनकार ने 'विच्छित्ति' और 'वैचित्र्य' का प्रयोग किया है, ये शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं, अलङ्कारों का भेद-निर्णय विशेष रूप से विच्छित्ति या वैचित्र्य के आधार पर ही साहित्य-शास्त्र में किया गया है।

१. अर्थात् सभी लोग इस सिद्धान्त के पक्षपाती हैं कि शब्द और अर्थ ही काव्य के शरीर हैं लोचनकार का कहना है कि यह तात्पर्य वृत्तिग्रन्थ में प्रयुक्त 'तावत्' शब्द से प्रकट होता है। यह भिन्न बात है कि आगे चलकर किसी आचार्य ने विशिष्ट शब्द को ही काव्य माना है और किसी ने विशिष्ट अर्थ को। कुछ आचार्यों ने शब्द-अर्थ उभय को काव्य माना है। इस प्रकार काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मतवादों के बावजूद भी, प्रायः काव्य के शरीर के रूप में शब्द और अर्थ को सभी ने स्वीकार किया है।

२. ध्वनि या व्यङ्गय तत्त्व का प्रतिपादन सर्वथा काव्य के आतमा के रूप में अभीष्ट है अतः काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ तो किसी प्रकार 'ध्वनि' नहीं कहला सकते, क्योंकि यह पक्ष स्वयं ध्वनिवादी आचार्य के अपने सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। ऐसी स्थिति में भी यदि 'ध्वनि' के

लोचनम्

हि को गुणः ? अथ शब्दार्थयोश्चारुत्वं स ध्वनिः। तथापि द्विविधं चारुत्वम्—स्वरूपमात्रनिष्ठं संघटनाश्रितं च। तत्र शब्दानां स्वरूपमात्रकृतं चारुत्वं शब्दालङ्कारेभ्यः, संघटनाश्रितं तु शब्दगुणेभ्यः। एवमर्थानां चारुत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठमुपमादिभ्यः। संघटनापर्यवसितं त्वर्थगुणेभ्य इति न गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो ध्वनिः कश्चित्।

संघटनाधर्मा इति। शब्दार्थयोरिति शेषः। यद्गुणालङ्कारव्यतिरिक्तं तच्चा-

तथापि, चारुत्व[1] दो प्रकार का होता है—स्वरूपमात्रनिष्ठ और संघटनाश्रित। शब्दों का स्वरूपमात्रकृत चारुत्व शब्दालङ्कारों से और संघटनाश्रित (चारुत्व) शब्दगुणों से (होता है)। इस प्रकार अर्थों का स्वरूपमात्रनिष्ठ चारुत्व उपमादि (अर्थालङ्कारों) से और संघटना में पर्यवसित (चारुत्व) अर्थगुणों से (होता है), इस प्रकार गुण और अलङ्कार से अतिरिक्त कोई ध्वनि नहीं है।

संघटनाधर्म—। 'शब्द और अर्थ के' यह शेष है। जो गुण और अलङ्कार से

सद्भाव के प्रति श्रद्धाजाड्य के कारण शब्द-अर्थ को ही 'ध्वनि' संज्ञा देते हों तो यह प्रयास भी व्यर्थ होगा, अर्थात् क्योंकि आत्मा को शरीर का रूप देकर कब तक आत्मा के सच्चे अस्तित्व का समर्थन किया जा सकता है ?

१. जब शब्द-अर्थ ध्वनि नहीं है तो शब्द-अर्थ का जिससे 'चारुत्व' हो वह (अर्थात् चारुत्व का हेतु) ध्वनि हो ही सकता है यह पक्ष अभ्युपगम करके अभाववादी का कहना है कि ऐसी स्थिति में चारुत्व-हेतु ध्वनि तत्त्व निर्दिष्ट शब्दालङ्कार-अर्थालङ्कार एवं शब्दगुण-अर्थगुण के अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं सिद्ध होता, क्योंकि शब्द और अर्थ के चारुत्व का विभाजन दो ही भागों में किया जा सकता है एक तो स्वरूप के दृष्टिकोण से, दूसरा सङ्घटना के आधार पर। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं—
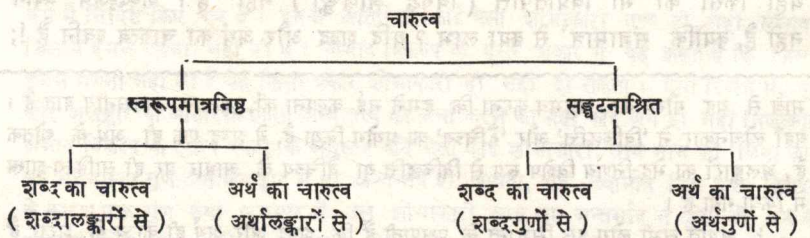
[उपर्युक्त लोचन में जहाँ 'अथ शब्दार्थयोश्चारुत्वं स ध्वनिः' लिखा है वहाँ सामान्यतः अनुवाद यही होगा कि 'यदि शब्द और अर्थ का चारुत्व ध्वनि है !' परन्तु ऐसा ही समझ लेने पर यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि जब शब्द-अर्थ ध्वनि नहीं है तो शब्द-अर्थ का चारुत्व ध्वनि हो सकता है। इस भ्रम से गड़बड़ी यह होती है कि जब इस चारुत्व को यहाँ ध्वनि स्वीकार कर लेते हैं तब आगे चलकर अलङ्कार और गुण, जो स्वयं चारुत्व न होकर चारुत्व के हेतु हैं, उनमें अन्तर्भाव विज्ञात चारुत्व रूप ध्वनि का करने लग जाते हैं। यह न तो मूल का अभीष्ट है न लोचनकार का। इस प्रकार इस भ्रम के निवारणार्थ, जैसा कि 'बालप्रिया' में भी लिखा है, 'लोचन' के उपर्युक्त वाक्य 'अथ शब्दार्थयोश्चारुत्वं स ध्वनिः' में 'यतश्चारुत्वम्, अर्थात् यश्चारुत्वहेतुः,

लोचनम्

रुत्वकारि न भवति, नित्यानित्यदोषा असाधुदुःश्रवादय इव। चारुत्वहेतुश्च ध्वनिः, तन्न तद्व्यतिरिक्त इति व्यतिरेकी हेतुः। ननु वृत्तयो रीतयश्च यथा गुणालङ्कारव्यतिरिक्ताश्चारुत्वहेतवश्च, तथा ध्वनिरपि तद्व्यतिरिक्तश्च चारुत्व-हेतुश्च भविष्यतीत्यसिद्धो व्यतिरेक इत्यनेनाभिप्रायेणाह—*तदनतिरिक्तवृत्तय* इति। नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्। तथा ह्यनुप्रासानामेव दीप्तमसृणमध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुषत्वललितत्वमध्यमत्वस्वरूपविवेचनाय वर्गत्रयसम्पादनार्थं तिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः, वर्तन्तेऽनुप्रासभेदा आस्विति। यदाह—

व्यतिरिक्त है वह चारुत्वकारी नहीं है, जैसे असाधु और दुःश्रव आदि नित्य-अनित्य दोष। और, ध्वनि चारुत्व का हेतु है अतः वह उनसे व्यतिरिक्त नहीं, यह व्यतिरेकी हेतु[1] है। शङ्का करते हैं कि वृत्तियाँ और रीतियाँ जैसे गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त हैं और साथ ही चारुत्व के हेतु हैं, उसी प्रकार ध्वनि भी गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त और चारुत्व का हेतु होगा। इस प्रकार व्यतिरेक असिद्ध है, इस अभिप्राय से कहते हैं—**उनसे अभिन्न रहने वाली**—। वृत्तियों और रीतियों का उनसे व्यतिरिक्तत्व सिद्ध[2] नहीं है। जैसा कि अनुप्रासों के ही दीप्त, मसृण और मध्यम वर्णनीयों की उपयोगिता के अनुसार परुषत्व, ललितत्व और मध्यमत्व ! स्वरूप के विवेचन के लिए तीन वर्गों के सम्पादनार्थ तीन अनुप्रास[3]-जातियां 'वृत्तियां' कही गई हैं, अर्थात् 'वर्तमान हैं अनुप्रास के भेद इनमें'। क्योंकि कहते हैं—

स ध्वनिः' इतना बढ़ाकर पहले ही संगतार्थ कर लेना चाहिए। इस प्रकार चारुत्व-हेतु रूप ध्वनि का चारुत्व-हेतु रूप गुण तथा अलङ्कारों में अन्तर्भाव बन जाता है, जो अभाववादी का पक्ष है]।

१. अभाववादी अपने उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिए 'केवलव्यतिरेकी अनुमान' का यहाँ प्रयोग करता है। अनुमान के प्रसङ्ग में तीन प्रकार के लिङ्ग या हेतु न्यायशास्त्र में बताये गये हैं—अन्वय-व्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी। जहाँ केवल व्यतिरेक से व्याप्तिग्रह होता है वह केवलव्यतिरेकी हेतु होता है। जैसे, 'पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्' यहाँ कहा जायगा—'यद् इतरेभ्यो न भिद्यते न तद् गन्धवत्, यथा जलम्।' इस प्रकार यहाँ व्यतिरेकदृष्टान्त जल होता है। 'यद् गन्धवत् तदितरभिन्नम्' यहाँ अन्वयदृष्टान्त नहीं प्राप्त हो सकता। इसी प्रकार प्रस्तुत में भी अनुमान-प्रयोग इस प्रकार होगा, जैसा कि मेरे पूज्यपाद गुरुजी (पं० महादेव शास्त्रीजी) ने अपनी 'दिव्याञ्जना' टिप्पणी में निर्देश किया है—'ध्वनिः गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभाववान्, चारुत्वहेतुत्वात्, यो हि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो भवति स चारुत्वहेतुर्न भवति, यथा असाधुत्वदुःश्रवत्वादिको दोषः।'

२. जैसा कि व्यतिरेक बताया गया कि ऐसा कोई चारुत्व का हेतु नहीं जो गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त है इसके विरुद्ध यह शङ्का है कि उपनागरिका प्रभृति वृत्तियाँ और वैदर्भी प्रभृति रीतियाँ तो अवश्य हैं जो गुण एवं अलङ्कार से भिन्न हैं एवं चारुत्व-हेतु हैं। इस परिस्थिति में उपर्युक्त व्यतिरेक कहाँ सिद्ध होता है? इस आशङ्का के निवारणार्थ कहते हैं वृत्तियाँ और रीतियाँ गुण एवं अलङ्कार से भिन्न नहीं हैं। वह कैसे? इसे स्वयं लोचनकार आगे की पंक्तियों में स्पष्ट करते हैं।

३. जैसा कि मूल वृत्तिग्रन्थ में वृत्तियों एवं रीतियों को अलङ्कार एवं गुण से अनतिरिक्तवृत्ति

लोचनम्

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ।। इति ।।

पृथक्पृथगिति । परुषानुप्रासा नागरिका । मसृणानुप्रासा उपनागरिका, ललिता । नागरिकया विदग्धया उपमितेति कृत्वा । मध्यममकोमलपरुष-मित्यर्थः । अत एव वैदग्ध्यविहीनस्वभावासुकुमारापरुषग्राम्यवनितासादृश्यादियं

'इन तीन वृत्तियों में सजातीय (समानरूप) व्यञ्जनों के उपनिबन्ध (के रूप में) पृथक् पृथक् अनुप्रास को सदा कवि लोग चाहते हैं ।'

पृथक् पृथक्— । परुष[1] अनुप्रास वाली (वृत्ति) नागरिका है, मसृण अनुप्रास वाली वृत्ति उपनागरिका या ललिता है। नागरिका या विदग्धा से उपमित, यह करके । मध्यम अर्थात् अकोमल एवं अपरुष । अत एव वैदग्ध्य से विहीन स्वभाव वाली होने के कारण असुकुमार एवं अपरुष ग्राम्य वनिता के सादृश्य से यह (तृतीया वृत्ति)

अर्थात् इन्हें छोड़कर न टिकने वाली बताया है, उन्हीं में पहले यह सिद्ध करते हैं कि किस प्रकार वृत्तियाँ अनुप्रास अलङ्कार की आश्रयभूत जातियाँ हैं । वर्णनीय या वर्णन के विषय अपने स्वभाव के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं—दीप्त (तीव्रता या तीखापन लिए हुए, रौद्र आदि रस में), मसृण (अर्थात् मधुर, जैसे शृङ्गार आदि रस में), मध्यम (दोनों निर्दिष्ट स्वभाव के बीच के स्वभाव का वर्णनीय, जैसे हास्य आदि रस में) । इस प्रकार दीप्त के परुषत्व स्वरूप, मधुर के ललितत्व-स्वरूप एवं मध्यम के मध्यमत्व-स्वरूप के विवेचन के लिए अनुप्रास की तीन जातियाँ बताई गई हैं । इस प्रकार अनुप्रास इन वृत्तियों का आधारित अलङ्कार हैं । इसी कारण 'अनुप्रास' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं—'वर्तन्ते अनुप्रासभेदा आसु' अर्थात् वर्तमान हैं अनुप्रास के भेद इनमें । इस तथ्य को लोचनकार ने आचार्य उद्भट के 'काव्यालङ्कार-सारसंग्रह' से वचन (१. ८) उद्धृत करके प्रमाणित किया है । आचार्य उद्भट के अनुसार अनुप्रास में वृत्तियों के अनुसार सजातीय (समानरूप) व्यञ्जनों का उपनिबन्धन पृथक्-पृथक् रूप से कवियों का अभिप्रेत होता है, अर्थात् कवि लोग वर्णनीय वस्तु के स्वभाव के अनुसार शब्दचयन करने का प्रयत्न करते हैं । इसी प्रसङ्ग में आचार्य उद्भट ने अपने ग्रन्थ में तीन वृत्तियों में किस-किस प्रकार के सजातीय व्यञ्जन प्रयुक्त होते हैं, इसका निर्देश किया है—

शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता । परुषा नाम वृत्तिः स्याद् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता ॥
सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः । स्पर्शैर्युतां च मन्यन्त उपनागरिकां बुधाः ॥
शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया । ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः ॥
(१. ५–७)

इसके अनुसार वृत्तियों में निम्न प्रकार के व्यञ्जनों का प्रयोग होता है—

परुषा—श, ष, रेफ के संयोग, टवर्ग, ह्ल, ह्व, ह्य आदि ।

उपनागरिका—समानरूप वर्णों के संयोग, वर्ग के अन्त्य अक्षर से शिरोभाग में युक्त स्पर्श वर्ण (क से लेकर म तक के वर्ण) ।

कोमला अथवा **ग्राम्या**—यथायोग शेष वर्ण ।

१. निर्दिष्ट तीन प्रकार की वृत्तियों के नामकरण की सार्थकता का निर्देश करते हैं । वह वृत्ति 'नागरिका' कहलाती है जो परुष वर्णों से आरब्ध होने के कारण परुष अनुप्रास से युक्त होती है । 'परुषा' वृत्ति ही 'नागरिका' कहलाती है । मसृण या स्निग्ध वर्णों के अनुप्रास वाली वृत्ति 'उप-नागरिका' कहलाती है । इसे 'ललिता' भी कहते हैं । 'उपमिता नागरिकया उपनागरिका' इस

लोचनम्

वृत्तिर्ग्राम्येति । तत्र तृतीयः कोमलानुप्रास इति वृत्तयोऽनुप्रासजातय एव । न चेह वैशेषिकवद् वृत्तिर्विवक्षिता, येन जातौ जातिमतो वर्तमानत्वं न स्यात्, तदनुग्रह एव हि तत्र वर्तमानत्वम् । यथाह कश्चित्—

लोकोत्तरे हि गाम्भीर्ये वर्तन्ते पृथिवीभुजः । इति ।

तस्माद् वृत्तयोऽनुप्रासादिभ्योऽनतिरिक्तवृत्तयो नाभ्यधिकव्यापाराः । अत एव व्यापारभेदाभावान्न पृथगनुमेयस्वरूपा अपीति वृत्तिशब्दस्य व्यापारवाचिनोऽभिप्रायः । अनतिरिक्तत्वादेव वृत्तिव्यवहारो भामहादिभिर्न कृतः ।

ग्राम्या है । वहाँ, तीसरा कोमलानुप्रास है । इस प्रकार वृत्तियां अनुप्रास की जातियां ही हैं । यहां वैशेषिक मत की भाँति वृत्ति (वर्तन, आधेयत्वरूप) विवक्षित नहीं है, जिससे जाति में जातिमान् का वर्तमानत्व न होगा, बल्कि उस (वृत्ति रूप जाति) द्वारा अनुग्रह ही वहां वर्तमानत्व है । जैसा किसी ने कहा है—

'लोकोत्तर गाम्भीर्य में राजा लोग रहते हैं' ।

इसलिए वृत्तियां अनुप्रासादि से अतिरिक्त होकर रहने वाली नहीं हैं एवं अधिक व्यापार वाली नहीं हैं । अत एव व्यापार के भेद के न होने के कारण पृथक् अनुमेय स्वरूप नहीं हैं, यह 'व्यापार' के वाची 'वृत्ति' शब्द का अभिप्राय है । अतिरिक्त न होने के कारण ही भामह आदि आचार्यों ने वृत्ति का व्यवहार नहीं किया । उद्भट आदि

प्रकार इसकी संज्ञा अन्वर्थ है । 'मध्यमा' नाम की तृतीया वृत्ति 'ग्राम्या' इसलिए कहलाती है कि ग्राम्य वनिता की भांति यह भी वैदग्ध्य-विहीन होती है, इसमें न तो सुकुमारता होती है और न परुषता ही । भट्ट उद्भट के अनुसार ग्राम्या वृत्ति की कोमल-संज्ञा भी है जो रूढ है ।

१. जैसा कि पहले ही से यह कहते आ रहे हैं कि वृत्तियाँ अनुप्रास की जातियाँ हैं और वृत्तियों के लक्षण में वृत्तियों को अनुप्रासों का आश्रय बनाया है; जैसे, जो वृत्ति परुष अनुप्रास को रखती है अर्थात् उसका आश्रयभूत है वह परुषा या नागरिका कहलाती है आदि और 'वर्तमान' हैं अनुप्रास के भेद इनमें' यह भी 'वृत्ति' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया है । ऐसी स्थिति में, वैशेषिक-मत, जो जाति में जातिमान् का वर्तमानत्व नहीं स्वीकार करता, से स्पष्ट विरोध होता है (क्यों कि वृत्ति रूप जाति में जातिमान् अनुप्रास का वर्तमानत्व उपपन्न नहीं है) । इस पर लोचनकार लिखते हैं कि प्रस्तुत में वृत्ति या आधेयत्व रूप वर्तन वैशेषिकमतानुसार विवक्षित ही नहीं है बल्कि वहाँ वर्तमानत्ववृत्तिरूप-जातिकर्तृक अनुग्रह ही है । वृत्तियों को 'जाति' इसी लिए कहा है कि वे गवादि से गोत्वादि जातियों की भाँति परुषत्वादि-विशिष्ट अनुप्रासों से अभिव्यक्त होती हैं।

'वृत्ति रूप जाति के द्वारा अनुग्रह' का स्पष्टीकरण यह है कि वृत्तियों के कारण ही अनुप्रास में परुषत्वादिभेदक धर्म एवं रसाभिव्यञ्जन की सामर्थ्य उत्पन्न होती है । इस प्रकार वृत्तियाँ अनुप्रासों के प्राणभूत तत्त्व हैं, अतः वे अनुप्रास की जातियाँ करके मानी गई हैं । यह अनुग्रह उसी प्रकार का है जैसे, 'लोकोत्तर गाम्भीर्य में राजाओं का वर्तमान होना' है । यहाँ गाम्भीर्यकर्तृक अनुग्रह है, बिना 'गाम्भीर्य' के राजा लोग कोई काम नहीं कर सकते । 'गाम्भीर्य' वह भाव है, जिसके प्रभाव से कोई विकार नहीं उत्पन्न होता । इस प्रकार पार्यन्तिक वक्तव्य यह है कि जो रसाभिव्यंजनविषयक व्यापार अनुप्रास आदि का है वही वृत्तियों का है । ऐसी स्थिति में वृत्तियों का पृथक् रूप से पूर्वोक्त अनुमान सिद्ध नहीं होता है ।

लोचनम्

उद्भटादिभिः प्रयुक्तेऽपि तस्मिन्नार्थः कश्चिदधिको हृदयपथमवतीर्ण इत्यभिप्रायेणाह—*गताः श्रवणगोचरमिति* । *रीतयश्चेति* । तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरमिति सम्बन्धः । तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः, तेषां च समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योन्यमेलनक्षमत्वेन पानक इव गुडमरिचादिरसानां सङ्घातरूपतागमनं दीप्तललितमध्यमवर्णनीयविषयं गौडीयवैदर्भपाञ्चालदेशहेवाकप्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधं रीतिरित्युक्तम् । जातिर्जातिमतो नान्या, समुदायश्च समुदायिनो नान्य इति वृत्तिरीतयो न गुणालङ्कारव्यतिरिक्ता इति स्थित

आचार्यों द्वारा प्रयुक्त होने पर भी कोई अधिक अर्थ हृदयपथ पर अवतीर्ण नहीं होता, इस अभिप्राय से कहते हैं—सुनने में आई हैं—। और रीतियाँ —। उससे अतिरिक्त होकर न रहने वाली (रीतियाँ) भी सुनने में आई हैं, यह सम्बन्ध है। यहाँ 'उस' (तत्) शब्द से माधुर्यादि गुण अभिप्रेत हैं; और उन[1] (माधुर्यादि गुणों) का समुचित वृत्ति में अर्पण होने पर, जो परस्पर मिलाने की क्षमता होने के कारण, पानक रस की भांति, गुड़, मरिचादि रसों का संघात (मिलित) रूप में आना है, दीप्त, ललित और मध्यम वर्णनीय विषय रूप, गौडीय, वैदर्भ और पाञ्चाल देश के स्वभाव (हेवाक) की प्रचुरता की दृष्टि से वही त्रिविध होकर 'रीति' कहा गया है। जाति जातिमान् से अन्य नहीं है और समुदाय ससुदायी से अन्य नहीं है; इस प्रकार वृत्ति-रीतियाँ गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त नहीं हैं; इस लिए वह व्यतिरेकी[2] हेतु तदवस्थ ही रहा।

---

१. जिस प्रकार ऊपर वृत्तियों की गतार्थता अनुप्रासों से बताई गई, उसी प्रकार अब रीतियों की गतार्थता को माधुर्य आदि गुणों से अभिहित करते हैं। आचार्य वामन, जो रीति-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं, के अनुसार 'विशिष्ट पदरचना' ही 'रीति' है, यहाँ 'वैशिष्ट्य' गुणों के द्वारा आहित होता है (विशिष्टा पदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा–वामन)इसी 'रीति' को लोचनकार ने 'समुचित वृत्ति में गुणों का अर्पण अर्थात् संघातरूपतागमन' कहा है और गुड-मरिचादि के रसों का संघात होने पर पानक रस का उदाहरण दिया है। 'समुचित वृत्ति' से तात्पर्य है दीप्त आदि वर्णनीय के औचित्य से युक्त वर्णरचना।' (जैसा कि 'बालप्रिया' में निर्देश है)। ऐसी वर्णरचना में 'गुण' आकर 'रीति' का रूप धारण कर लेते हैं। प्राचीन आचार्यों ने दीप्त, ललित और मध्यम वर्णनीय विषयों के अनुसार 'रीति' के गौडीय, वैदर्भ और पाञ्चाल, ये तीन दैशिक भेद किए हैं। माधुर्य आदि गुण समुचित वर्णरचना के साथ संहत या समूहताप्राप्त हो जाते हैं तब उनकी स्थिति 'रीति' के रूप में हो जाती है। इस प्रकार यह भी निश्चय हुआ कि रीतियाँ गुणों से व्यतिरिक्त तत्त्व नहीं हैं।

२. व्यतिरेकी हेतु—पहले जो यह कह चुके हैं कि निर्दिष्ट गुण और अलङ्कारों के अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं जो चारुत्वहेतु है, इसी प्रसंग में चारुत्वहेतु के रूप में प्राप्त वृत्ति और रीति की गतार्थता अलङ्कार और गुण में बताई गई। इस प्रकार 'ध्वनिः, गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभाववान्, चारुत्वहेतुत्वात्, यो हि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो भवति स चारुत्वहेतुर्न भवति' यह केवलव्यतिरेकी हेतु अपने रूप में अखण्डित रहा। और फिर वह बात अभाव वादी पक्ष के अनुसार फिर सामने आई कि आखिर यह 'ध्वनि' क्या है ?

ध्वन्यालोकः

अन्ये ब्रूयुः—नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति। न च तत्समतान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्धया ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।

अन्य लोग कहें—नहीं है ध्वनि, क्योंकि प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त काव्य के प्रकार (भेद) में काव्यत्व की हानि है। सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्व ही काव्य का लक्षण है। उक्त प्रस्थानों से अतिरिक्त मार्ग का वह सम्भव नहीं है। और उस सम्प्रदाय के (मानने वालों के) अन्तर्गत ही कुछ सहृदयों को तैयार करके उनके द्वारा प्रसिद्ध कर दिए जाने से ध्वनि में काव्य का व्यवहार प्रवृत्त किया भी जाय तब भी सभी विद्वानों का मनोग्राही नहीं हो सकता।

लोचनम्

एवासौ व्यतिरेकी हेतुः। तदाह—*तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति*। नैष चारुत्वस्थानं शब्दार्थरूपत्वाभावात्। नापि चारुत्वहेतुः, गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वादिति। तेनाखण्डबुद्धिसमास्वाद्यमपि काव्यमपोद्धारबुद्ध्या यदि विभज्यते, तथाप्यत्र ध्वनिशब्दवाच्यो न कश्चिदतिरिक्तोऽर्थो लभ्यत इति *नामशब्देनाह*।

ननु मा भूदसौ शब्दार्थस्वभावः मा च भूत्तच्चारुत्वहेतुः, तेन गुणालङ्कारव्यतिरिक्तोऽसौ स्यादित्याशङ्क्य द्वितीयमभाववादप्रकारमाह—*अन्य* इति।

उसे कहते हैं—उनसे व्यतिरिक्त कौन यह अतिरिक्त ध्वनि नाम[1] का (नया) पदार्थ है ? —। यह (ध्वनि) चारुत्व का स्थान नहीं हो सकता, क्योंकि न तो यह शब्द रूप है और न अर्थरूप। और यह चारुत्व का हेतु भी नहीं है, क्योंकि यह गुण तथा अलङ्कार से व्यतिरक्त है (उनकी सीमा में नहीं आता)। इसलिए अखण्ड बुद्धि द्वारा समास्वादन के योग्य भी काव्य का विभाग (-अपोद्धार) बुद्धि से यदि विभाग (खण्ड) करते हैं तथापि यहां 'ध्वनि' शब्द का वाच्य कोई अतिरिक्त अर्थ उपलब्ध नहीं होता, वह (वृत्ति ग्रन्थ में) 'नाम' शब्द से कहा है।

यह (ध्वनि) शब्द-अर्थ के स्वभाव का न हो और चारुत्व का हेतु भी न हो,

1. **कोऽयं ध्वनिर्नामेति**—यह पंक्ति अभाववाद के प्रथम विकल्प का निर्णीतार्थ व्यक्त करती है। इस पक्ष में ध्वनि को चारुत्व का स्थान या चारुत्व का हेतु मान कर ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार करने की बात उठी थी, परन्तु इसके विरुद्ध इस पक्ष ने सबल तर्क यह उपस्थित किया कि ध्वनि चारुत्व-स्थान तभी हो सकता था जब कि यह शब्द रूप या अर्थ रूप होता और दूसरे, यह चारुत्वहेतु भी तभी हो सकता था जब कि गुण अथवा अलङ्कार से व्यतिरिक्त होता। न तो यह शब्दार्थ रूप है और न तो यह गुणालङ्कार व्यतिरिक्त है, इस कारण यह स्पष्ट है कि 'ध्वनि' कोई पदार्थ या तत्त्व नहीं। इतना तात्पर्य उपर्युक्त 'किं' शब्द से द्योतित होता है।

लोचनम्

भवत्वेवम्; तथापि नास्त्येव ध्वनिर्यादृशस्तव लिलक्षयिषितः। काव्यस्य ह्यसौ कश्चिद्वक्तव्यः। न चासौ नृत्तगीतवाद्यादिस्थानीयः काव्यस्य कश्चित्। कवनीयं काव्यं, तस्य भावश्च काव्यत्वम्। न च नृत्तगीतादि कवनीयमित्युच्यते।

प्रसिद्धेति। प्रसिद्धं प्रस्थानं शब्दार्थौ तद्गुणालङ्काराश्चेति, प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत्प्रस्थानम्। *काव्यप्रकारस्येति*। काव्यप्रकारत्वेन तव स मार्गोऽभिप्रेतः, 'काव्यस्यात्मा' इत्युक्तत्वात्। ननु कस्मात्तत्काव्यं न भवतीत्याह—*सहृदयेति*। *मार्गस्येति*। नृत्तगीताक्षिनिकोचनादिप्रायस्येत्यर्थः। *तदिति*। सहृदयेत्यादिकाव्यलक्षणमित्यर्थः। ननु ये तादृशमपूर्वं

इससे वह गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त तो होगा! यह आशङ्का करके अभाव-वाद के दूसरे प्रकार[1] को कहते हैं—अन्य—। हो ऐसा; तथापि जैसा कि तुम्हें लक्षणयुक्त बनाना अभिलषित है वैसा ध्वनि तो है ही नहीं (क्योंकि) वह (ध्वनि) काव्य का कोई कहा जायगा। और, वह नृत्त, गीत, वाद्य आदि स्थानीय कुछ तो नहीं है! कवनीय काव्य होता है, उसका भाव काव्यत्व है। नृत्त, गीत आदि 'कवनीय' नहीं कहे जाते।

प्रसिद्ध—। प्रसिद्ध प्रस्थान, अर्थात् शब्द और अर्थ एवं उनके गुण और अलङ्कार। प्रतिष्ठित होते हैं, परम्परा से जिस मार्ग से व्यवहार करते हैं वह 'प्रस्थान' है। **काव्य के प्रकार में—**। काव्य के प्रकार के रूप में वह मार्ग तुम्हें अभिप्रेत है, क्योंकि 'काव्य का आत्मा' यह कहा है। शङ्का है कि कैसे वह काव्य नहीं हो सकता, इस पर कहते हैं—**सहृदय०—**। **मार्ग का—**। अर्थात् नृत्त, गीत, आँखों का मींचना आदि के सदृश (मार्ग का)। **वह—**। अर्थात् सहृदय० इत्यादि काव्य का लक्षण। जो उस

अब लोचनकार ने मूल वृत्तिग्रन्थ के 'नाम' शब्द का तात्पर्य इस प्रकार निकाला है—ध्वनि तत्त्व किसी प्रकार सिद्ध नहीं होना, अगत्या अखण्ड बुद्धि द्वारा समास्वाद्य भी काव्य को अपोद्धार या विभाग की बुद्धि से विभक्त करते हैं तब भी ध्वनि' शब्द का वाच्य कोई अतिरिक्त अर्थ नहीं प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में ध्वनि का अभाव ही मानना चाहिए।

१. अभाववाद के प्रथम विकल्प में यहां निर्णय हुआ कि ध्वनि न तो शब्द अथवा अर्थ के रूप में माना जा सकता और न तो चारुत्व के हेतु के रूप में स्वीकार किया जा सकता, इस लिए ध्वनि है ही नहीं। इस पर प्रतिपक्षी की ओर से यह शङ्का होती है कि क्यों न ध्वनि को गुण और अलङ्कार से अतिरिक्त कोई तत्त्व स्वीकार किया जाय। इस पर अभाववाद के दूसरे विकल्प में जोर देकर यह खण्डन उपस्थित किया गया है कि माना कि गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त ही कोई ध्वनि है, लेकिन ऐसे 'ध्वनि' को मानने से लाभ क्या होगा? क्यों कि 'ध्वनि' को काव्य का ही तत्त्व होना चाहिए, वही प्रस्तुत में लक्षणीय हो सकता है। और जब काव्य के रूप शब्द-अर्थ और चारुत्वहेतु गुण और अलङ्कार से ध्वनि को पृथक् कर देते हैं तब तो निश्चय ही ध्वनि काव्य का कोई तत्त्व नहीं हो सकता, नृत्त, गीत, वाद्य आदि के समान ही कोई तत्त्व हो सकता है जिसका काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं। काव्य 'कवनीय' (कवि के प्रयत्न का साध्य) होता है और नृत्त-गीतादि कवनीय नहीं, उसी प्रकार ध्वनि की स्थिति है।

लोचनम्

काव्यरूपतया जानन्ति, त एव सहृदयाः। तदभिमतत्वं च नाम काव्यलक्षण-मुक्तप्रस्थानातिरेकिण एव भविष्यतीत्याशङ्क्याह—*न चेति*। यथा हि खड्गलक्षणं करोमीत्युक्त्वा आतानवितानात्मा प्राव्रियमाणः सकलदेहाच्छादकः सुकुमार-श्चित्रतन्तुविरचितः संवर्तनविवर्तनसहिष्णुरच्छेदकः सुच्छेद्य उत्कृष्टः खड्ग इति ब्रुवाणः, परैः पटः खल्वेवंविधो भवति न खड्ग इत्ययुक्ततया पर्यनुयुज्यमान एवं ब्रूयात्—ईदृश एव खड्गो ममाभिमत इति तादृगेवैतत्। प्रसिद्धं हि लक्ष्यं भवति न कल्पितमिति भावः। तदाह—*सकलविद्वदिति*। विद्वांसोऽपि हि तत्समयज्ञा एव भविष्यन्तीति शङ्कां सकलशब्देन निराकरोति। एवं हि कृतेऽपि न किञ्चित्कृतं स्यादुन्मत्तता परं प्रकटितेति भावः।

यस्त्वत्राभिप्रायं व्याचष्टे—जीवितभूतो ध्वनिस्तावत्तवाभिमतः, जीवितं च नाम प्रसिद्धप्रस्थानातिरिक्तमलङ्कारकारैरनुक्तत्वात्तच्च न काव्यमिति लोके

प्रकार के अपूर्व को काव्य के रूप से जानते हैं, वे ही—'सहृदय' हैं और उन (सहृदयों) का जो अभिमत है वह काव्यलक्षण कहे हुए प्रस्थानों के अतिरिक्त का ही होगा, यह आशङ्का करके कहते हैं—उस ध्वनि—। क्योंकि जैसे, 'खड्ग का लक्षण करता हूँ' यह कह कर, 'आतान-वितान के स्वभाव वाला, प्रावरण किया जाता हुआ, सकल शरीर को ढँक देने वाला, सुकुमार, रंग-बिरंगे तन्तुओं से बना हुआ, संकोच और विकास को सह लेने वाला, सुख से छेदन के योग्य उत्कृष्ट खड्ग है' यह कहता हुआ, दूसरों के द्वारा 'ऐसा तो कपड़ा होता है खड्ग नहीं' इस प्रकार अयुक्त होने के कारण, पूछा गया (वह व्यक्ति) इस प्रकार कहे ऐसा ही खड्ग मेरा अभिमत है उसी तरह का यह है। भाव यह कि लक्ष्य प्रसिद्ध होता है, कल्पित नहीं। उसे कहते हैं—सकल विद्वानों के—। विद्वान् भी उस (ध्वनि) के समय (सङ्केत) के जानने वाले ही होंगे, इस शङ्का को 'सकल' शब्द से (वृत्तिकार) निकाकरण करते हैं। मतलब यह कि ऐसा करने पर भी कुछ नहीं किया, केवल पागलपन[1] ही प्रकट किया।

जो व्यक्ति यह (इस) अभिप्राय की व्याख्या[2] करता है—'तुम्हारा अभिमत है कि ध्वनि (काव्य का) जीवितभूत (अनुप्राणक) तत्त्व है और जीवित रूप (ध्वनि) प्रसिद्ध प्रस्थानों से अतिरिक्त है और इसे आलङ्कारिकों ने नहीं कहा है अत; वह

---

१. ध्वन्यभाववादी का दूसरा विकल्प संक्षेप में यह है कि ध्वनि चूंकि परम्परा से व्यवहृत मार्गों में नहीं आता, अतः काव्य के आत्मा या प्रकार के रूप में उसे स्वीकृत नहीं किया जा सकता। दूसरे 'सहृदयाह्लादकारिशब्दार्थमयत्व' रूप काव्य-लक्षण उसमें संघटित भी नहीं होता। अगर कुछ सहृदय एकत्रावय होकर ध्वनि को हृदयाह्लादी मान कर 'काव्य' नाम दे भी दें तब भी यह सकल विद्वज्जन-मनोग्राह्य तत्त्व नहीं हो सकता। इस प्रकार ध्वनि के सम्बन्ध में यह सब कुछ 'पागलपन' के अतिरिक्त कुछ नहीं।

२. लोचनकार ने द्वितीय अभाववादी के अभिप्राय को कुछ भिन्न रीति से बताने वाले का यह खण्डन किया है। उसके अनुसार अभिप्राय यह है कि पहले आलङ्कारिकों ने ध्वनि को आत्मा या जीवित रूप में स्वीकार नहीं किया है और यह 'जीवित'भूत ध्वनि तत्त्व प्रसिद्ध प्रस्थानों से

ध्वन्यालोकः

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः—न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित् । कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात् । तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात् ।

फिर अन्य लोग उस (ध्वनि) का अभाव अन्य प्रकार से कहें—'ध्वनि नाम का कोई अपूर्व सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि वह कामनीयक का अतिवर्तन नहीं करता, (इसलिए) उसका कहे गए चारुत्व के हेतुओं में ही अन्तर्भाव है । अथवा उन्हीं में से एक की अपूर्व समाख्या (नामकरण) की जाय तो जो-कुछ (तुच्छ) कथन होगा ।

लोचनम्

प्रसिद्धमिति । तस्येदं सर्वं स्ववचनविरुद्धम् । यदि हि तत्काव्यस्यानुप्राणकं तेनाङ्गीकृतं पूर्वपक्षवादिना तच्चिरन्तनैरनुक्तमिति प्रत्युत लक्षणार्हमेव भवति । तस्मात्प्राक्तन एवात्राभिप्रायः ।

ननु भवत्वसौ चारुत्वहेतुः शब्दार्थगुणालङ्कारान्तर्भूतश्च, तथापि ध्वनिरित्यमुया भाषया जीवितमित्यसौ न केनचिदुक्त इत्यभिप्रायमाशङ्क्य तृतीयमभाववादमुपन्यस्यति–पुनरपर इति । कामनीयकमिति कमनीयस्य कर्म । चारुत्वधीहेतुतेति यावत् ।

(जीवितभूत ध्वनि) काव्य नहीं है, 'लोक में प्रसिद्ध है ।' यह सब कथन उस (व्यक्ति) के अपने ही कथन के विरुद्ध ठहरता है, क्योंकि यदि उस पूर्वपक्षवादी ने यह स्वीकार कर लिया कि (ध्वनि) काव्य का अनुप्राणक (जीवितभूत) है तो प्राचीनों द्वारा उक्त न होने के कारण प्रत्युत वह लक्षणार्ह ही होगा । इस लिए पहला ही यहाँ अभिप्राय (ठीक) है ।

माना कि वह (ध्वनि चारुत्व का हेतु है और शब्द-अर्थ के गुण और अलङ्कारों के अन्तर्भूत (भी) है; तथापि 'ध्वनि' इस भाषा के द्वारा (अर्थात् यह कहकर) 'जीवित' ऐसा वह किसी के द्वारा नहीं कहा गया है इस अभिप्राय की आशङ्का करके तीसरे

अतिरिक्त है । अतः यह काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकता । इसे अभाववादी के अनुसार लोक में प्रसिद्ध होना चाहिए, जैसे शब्द, अर्थ, गुण, अलङ्कार लोक में प्रसिद्ध हैं ।

लोचनकार का कहना है कि इस व्याख्याकार का यह सब कथन 'स्ववचनविरुद्ध' है । क्योंकि, जबकि यह स्वयं पूर्वपक्षवादी (ध्वन्यभाववादी) ने स्वीकार कर लिया कि ध्वनि काव्य का जीवित या अनुप्राणक तत्त्व है तब तो उसे 'काव्य' होना ही चाहिए । उसे इस कारण न मानना कि प्राचीन किसी आलङ्कारिक ने उसे नहीं कहा है, यह कहाँ की दलील है । बल्कि, वह तो सर्वथा 'लक्षणार्ह' अर्थात् लक्ष बनाने के योग्य (लक्षयितव्य) है । अतः उपर्युक्त व्याख्यान स्वीकार्य नहीं । पूर्व व्याख्यान ही द्वितीय अभाववादी के अभिप्राय को ठीक व्यक्त करता है ।

ध्वन्यालोकः

किञ्च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्य-लक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेत-दलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्। तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः—

और भी, वाग्विकल्पों के अनन्त होने के कारण प्रसिद्ध काव्य-लक्षणकारों द्वारा अप्रदर्शित किसी प्रकार लेश के सम्भव होने पर भी, 'ध्वनि-ध्वनि' यह जो, सहृदयता की भावना से आंखें मूंद कर (ध्वनिवादी) नाच रहे हैं उसमें हेतु हम नहीं जानते। अन्य महात्माओं (विद्वानों) ने हजारों अलङ्कारों के भेद बताए हैं और बताते हैं उनको यह स्थिति नहीं सुनाई पड़ती। अतः ध्वनि प्रवादमात्र है। इसका कुछ भी विचारयोग्य तत्त्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता है। जैसा कि अन्य ने यहाँ श्लोक बनाया ही है—

लोचनम्

ननु विच्छित्तीनामसंख्यत्वात्काचित्तादृशी विच्छित्तिरस्माभिर्दृष्टा, या नानुप्रासादौ, नापि माधुर्यादावुक्तलक्षणेऽन्तर्भवेदित्याशङ्क्याभ्युपगमपूर्वकं परिहरति—*वाग्विकल्पानामिति*। वक्तीति वाक् शब्दः। उच्यत इति वागर्थः।

अभाववाद का उपन्यास करते हैं—फिर अन्य लोग—। 'कामनीयक'[1] अर्थात् कमनीय का कर्म मतलब कि चारुत्व बुद्धि का हेतुत्व।

विच्छित्तियों (वैचित्र्यों) के असंख्य होने के कारण कोई उस प्रकार की विच्छित्ति हमने देखी है जो न अनुप्रास आदि अलङ्कारों में और न माधुर्य आदि गुणों में, जैसा कि उसके लक्षण कहे गए हैं, अन्तर्भूत हो, यह आशङ्का करके अभ्युपगमपूर्वक (इसे स्वीकार

---

१. तृतीय अभाववाद के अवतरण में लोचनकार का कहना है कि ध्वनिवादी का यहाँ यह पक्ष होगा कि ध्वनि को चारुत्व का हेतु मान कर गुण और अलङ्कार के अन्तर्भूत मान लेते हैं, किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि अब तक किसी ने 'ध्वनि' का नाम लेकर उसे 'काव्य का जीवित' (काव्यस्यात्मा) बनाने का प्रयास किया हो अतः यह एक अभूतपूर्व बात है, इस प्रकार ध्वनि को स्वीकार करना चाहिए।

इस पर अभाववाद के पक्ष से यह कहना है कि किसी प्रकार ध्वनि उस सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता जिसमें कमनीयता या चारुता को उत्पन्न करते हैं, अर्थात् ध्वनि चारुत्वहेतु ही अन्ततः सिद्ध होकर रह जाता है। ऐसी स्थिति में उन्हीं चारुत्वहेतुओं में अन्तर्भूत एक तत्त्व को

लोचनम्

उच्यतेऽनयेति वागभिधाव्यापारः। तत्र शब्दार्थवैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः। अभिधावैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः। अभिधावैचित्र्यप्रकारोऽप्यसंख्येयः। *प्रकारलेश इति।* स हि चारुत्वहेतुर्गुणो वालङ्कारो वा। स च सामान्यलक्षणेन संगृहीत एव। यदाहुः—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति। तथा 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः' इति। *ध्वनिर्ध्वनिरिति* वीप्सया सम्भ्रमं सूचयन्नादरं दर्शयति—*नृत्यत इति।* तल्लक्षणकृद्भिस्तद्युक्तकाव्यविधायिभिस्तच्छ्रवणोद्भूतचमत्कारैश्च प्रतिपत्तृभिरिति शेषः। ध्वनिशब्दे कोऽत्यादर इति भावः। *एषा दशेति।* स्वयं दर्पः परैश्च स्तूयमानतेत्यर्थः। *वाग्विकल्पाः* वाक्प्रवृत्तिहेतुप्रतिभाव्यापारप्रकारा इति वा। *तस्मात्प्रवादमात्रमिति।* सर्वेषामभाववादिनां साधारण उपसंहारः। यतः शोभाहेतुत्वे गुणालङ्कारेभ्यो

करते हुए) परिहार[1] करते हैं—वाग्विकल्पों के—। ('वाक्' की तीन व्युत्पत्तियों के अनुसार) 'वक्तीति वाक्', जिसे कहता है वह वाक्, अर्थात् शब्द, 'उच्यत इति वाक्' जो कहा जाता है, अर्थात् अर्थ और 'उच्यतेऽनया', जिससे कहा जाता है अर्थात् अभिधा व्यापार (ये तीन अर्थ गृहीत होते हैं)। उनमें शब्द और अर्थ के वैचित्र्य का प्रकार अनन्त है। अभिधा के वैचित्र्य प्रकारों की भी कोई संख्या नहीं। प्रकारलेश—। वह चारुत्व का हेतु गुण हो अथवा अलङ्कार हो, वह सामान्य लक्षण के द्वारा संगृहीत ही (हो जायगा)। जैसा कि (वामन) कहते हैं—'काव्य के शोभाकारी धर्म गुण हैं, और उस (काव्य की शोभा) के अतिशयकारी हेतु अलङ्कार हैं'। तथा 'वक्र (विचित्र) अभिधेय (अर्थ) और शब्द की उक्ति वाणियों की अलङ्कृति है।' 'ध्वनि-ध्वनि' इस दो बार (वीप्सा) के कथन से (ध्वनिवादियों का) सम्भ्रम (हड़बड़ी) सूचित करते हुए (उनका ध्वनि में) आदर दर्शाते हैं—नाचते हैं—। शेष यह कि (ध्वनि) का लक्षण करने वाले; उससे युक्त काव्य का निर्माण करने वाले; उसके सुनने मात्र से उत्पन्न चमत्कार वाले प्रतिपत्तृजन। भाव यह कि 'ध्वनि' इस शब्द मात्र में आदर का क्या मतलब? ऐसी दशा—। अर्थात् स्वयं तो दर्प तथा दूसरों से स्तूयमान होना। वाग्विकल्प अर्थात् अथवा वाक्प्रवृत्ति के हेतुभूत प्रतिभा व्यापार के प्रकार। इसलिए प्रवाद मात्र—। समस्त अभाव-वादियों का यह सामान्य रूप से उपसंहार है। अर्थात्

आपने एक अपूर्व नाम से 'ध्वनि' के नाम से अभिहित कर दिया तो यह कोई महत्त्व का कथन नहीं कहा जा सकता।

१. ऐसा भी सम्भव है 'ध्वनि' कोई ऐसी विच्छित्ति या वैचित्र्य को लेकर कहा गया है जिसका अन्तर्भाव न किसी गुण में होता है और न किसी अलङ्कार में। ऐसी स्थिति में 'ध्वनि' को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यह पूर्वपक्षी की आशङ्का को सर्वथा अभाववादी मान लेता है और अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहता है कि पूर्वाचार्यों द्वारा अनन्त प्रकारों में से किसी अप्रदर्शित प्रकार को लेकर इतना प्रपञ्च खड़ा नहीं किया जा सकता। यह सर्वथा उपहसनीय बात होगी।

ध्वन्यालोकः

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालंकृति
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत् ।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ॥

भाक्तमाहुस्तमन्ये । अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुण-वृत्तिरित्याहुः ।

जिसमें अलङ्कारयुक्त, मन को आह्लादित करने वाला कोई अर्थ (वस्तु) नहीं है, जिसे व्युत्पन्न वचनों से नहीं रचा गया है और जो वक्रोक्ति से शून्य है, उस काव्य की 'ध्वनि से समन्वित' यह (मानकर) प्रेम से प्रशंसा करता हुआ जड़ (मूर्ख ध्वनिवादी) सुमति जन द्वारा ध्वनि का स्वरूप पूछे जाने पर, क्या कहता है, हम नहीं जानते ।

अन्य लोग उसे 'भाक्त' कहते हैं; अन्य लोग उस 'ध्वनि' नामक काव्यात्मा को 'गुणवृत्ति' कहते हैं ।

लोचनम्

न व्यतिरिक्तः, यतश्च व्यतिरिक्तत्वे न शोभाहेतुः, यतश्च शोभाहेतुत्वेऽपि नादरास्पदं तस्मादित्यर्थः । न चेयमभावसम्भावना निर्मूलैव दूषितेत्याह—*तथा चान्येनेति* । ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना । यतो न *सालङ्कृति*, अतो न *मनःप्रह्लादि* । अनेनार्थालङ्काराणामभाव उक्तः । *व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैरिति* शब्दालङ्काराणाम् । *वक्रोक्तिः* उत्कृष्टा संघटना, *तच्छून्यमिति* शब्दार्थगुणानाम् । वक्रोक्तिशून्यशब्देन सामान्यलक्षणाभावेन

क्योंकि (यदि ध्वनि) शोभा का हेतु है (तो) गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त नहीं है, और क्योंकि (यदि) वह गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त है तो वह शोभा का हेतु नहीं है, और क्योंकि (यदि वह शोभा का हेतु है (तो भी) आदरास्पद नहीं है, इस कारण । यह नहीं कि बिना किसी मूल के (यहां) अभाव की सम्भावना है, कहते हैं—जैसा कि दूसरे ने—। अर्थात् ग्रन्थकार के समसामयिक 'मनोरथ'[1] नाम के कवि ने । क्योंकि (वह) अलङ्कारयुक्त नहीं, अतः (वह) मन को आह्लादित करने वाला नहीं है, इससे अर्थालङ्कारों का अभाव कहा है । और व्युत्पन्न वचनों द्वारा रचित भी नहीं—इससे शब्दालङ्कारों का (अभाव कहा है)। वक्रोक्ति अर्थात् उत्कृष्ट सङ्घटना, उससे शून्य—इससे शब्द और अर्थ के गुणों का (अभाव कहा है)। कुछ लोग कहते हैं कि 'वक्रोक्तिशून्य' शब्द से (अलङ्कारों के इस 'वक्रोक्ति' रूप)

१. **मनोरथ कवि**—लोचनकार ने वृत्ति ग्रन्थ में उद्धृत अभाववाद के अनुकूल श्लोक को किसी 'मनोरथ' कवि, जो ग्रन्थकार का समसामयिक था, का कहा है । 'मनोरथ' के नाम से न

लोचनम्

सर्वालङ्काराभाव उक्त इति केचित्। तैः पुनरुक्तत्वं न परिहृतमेवेत्यलम्। *प्रीत्येति*। गतानुगतिकानुरागेणेत्यर्थः। *सुमतिनेति*। जडेन पृष्टो भ्रूभङ्गकटाक्षादिभिरेवोत्तरं ददत्तत्स्वरूपं काममाचक्षीतेति भावः।

एवमेतेऽभावविकल्पाः शृङ्खलाक्रमेणागताः, न त्वन्योन्यासम्बद्धा एव। तथा हि तृतीयाभावप्रकारनिरूपणोपक्रमे पुनःशब्दस्यायमेवाभिप्रायः, उपसंहारैक्यं च सङ्गच्छते। अभाववादस्य सम्भावनाप्राणत्वेन भूतत्वमुक्तम्। भाक्तवादस्त्वविच्छिन्नः पुस्तकेष्वित्यभिप्रायेण *भाक्तमाहुरिति*। नित्यप्रवृत्तवर्तमानापेक्षयाभिधानम्। भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति

सामान्य लक्षण के न होने के कारण समस्त अलङ्कारों का अभाव कहा है। उन (व्याख्याकारों ने) पुनरुक्ति का परिहार नहीं किया है, अतः (उनका कथन) ठीक नहीं। बड़े प्रेम से—। अर्थात् गतानुगतिक (लकीर के फकीर होने के प्रति) अनुराग के कारण। सुलझी बुद्धि वालों द्वारा—। अगर कोई मूर्ख उनसे प्रश्न करता तो वे भौं हिला कर और आंख मटका कर ही उस (ध्वनि) के स्वरूप को पूरा कह डालते—यह मतलब है।

इस प्रकार ये अभाव-वाद के विकल्प शृङ्खला के क्रम से प्राप्त हैं, न कि परस्पर असम्बद्ध[1] हैं, जैसा कि तीसरे अभाव-प्रकार के निरूपण के उपक्रम में 'पुनः' (फिर) शब्द का यही अभिप्राय है, और उपसंहार का एकत्व (साधारण्य) भी संगत होता है। अभाववाद के सम्भावना पर आधारित होने के कारण (उसमें) भूतकाल का प्रयोग किया है। किन्तु भाक्तवाद पुस्तकों में अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है, इस अभिप्राय से 'भाक्तमाहुः'[2] ('भाक्त' कहते हैं) यह नित्य-प्रवृत्त वर्तमान की अपेक्षा से अभिधान है। भज्यते = सेव्यते, अर्थात् प्रसिद्ध होने के कारण उत्प्रेक्षित होता है जो

कोई ग्रन्थ का पता चलता है और न कोई सङ्केत ही मिलता है। 'राजतरङ्गिणी' में कश्मीर के राजा जयापीड (अष्टम शताब्दी) के सभापण्डितों में 'मनोरथ' का उल्लेख है। और मनोरथ के कुछ श्लोकों को आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' में उद्धृत किया है। सम्भव है तीनों 'मनोरथ' किसी एक 'कवि' से सम्बद्ध हों।

१. अभाववाद के उपर्युक्त तीन विकल्प परस्पर असम्बद्ध नहीं, बल्कि एक शृङ्खलित रूप में प्रस्तुत किए गए हैं, इसी लिए सभी अभाववादियों के मतों का साधारण उपसंहार करते हुए वृत्तिग्रन्थ में आचार्य लिखते हैं—'इसलिए ध्वनि प्रवादमात्र है।' इस प्रकार तीनों विकल्पों की परस्पर सम्बद्धता का संकेत तृतीय अभाव-विकल्प के आरम्भ में 'पुनः' शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से देता है।

२. अभाववाद चूंकि सम्भावना पर आधारित था इस लिए ग्रन्थकार ने 'जगदुः' यह भूतार्थक प्रयोग किया था किन्तु प्रस्तुत भाक्तवाद अलङ्कार-शास्त्र के ग्रन्थों में अविच्छिन्न रूप से स्मरण किया गया है इसलिए उसके लिए 'आहुः' इस नित्यप्रवृत्त वर्तमान के अर्थ में आचार्य ने प्रयोग किया है। भाक्तवाद को प्राचीनों ने विशेष रूप से 'गुणवृत्ति' शब्द से अभिहित किया है, जो

लोचनम्

भक्तिर्धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः, तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः। यदाहुः—

अभिधेयेन सामीप्यात्सारूप्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥ इति॥

गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः, तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः। भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः, तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधा, निमित्तं, प्रयोजनमिति त्रयसद्भाव उपचारबीज-

वह 'भक्ति' है; अभिधेय के द्वारा (तटादि का) सामीप्यादि धर्म (उत्प्रेक्षित होता है), उस (सामीप्यादि निमित्त) से आगत (प्रतीत) लाक्षणिक अर्थ (लक्ष्य अर्थ) 'भाक्त' है। जैसा कि कहते हैं—

'अभिधेय के द्वारा सामीप्य, सारूप्य, समवाय, वैपरीत्य और क्रियायोग रूप सम्बन्ध से लक्षणा पांच प्रकार की मानी गई है।'

गुणों के समुदाय में वृत्ति वाले शब्द का अर्थांश तैक्ष्ण्यादि ('सिंहो माणवकः' इस स्थल में) 'भक्ति' है उससे आगत (प्रतीत) गौण अर्थ 'भाक्त' है [सामीप्य] और तैक्ष्ण्य आदि प्रतिपाद्य अर्थ में श्रद्धातिशय 'भक्ति' है। उस (श्रद्धातिशय रूप भक्ति) को प्रयोजन के रूप में उद्देश्य करके उससे आगत 'भाक्त' है, इस प्रकार (भाक्त) गौण और लाक्षणिक है। मुख्य अर्थ का भङ्ग 'भक्ति' है। इस प्रकार मुख्यार्थ की बाधा, निमित्त और प्रयोजन इन तीनों का सद्भाव उपचार का बीज[1] है यह बात

'लक्षणा' ही है। प्राचीनों में विवरणकार उद्भट लिखते हैं—'शब्दानामभिधानं अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।' आचार्य वामन लिखते हैं—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।' इस प्रकार आचार्य ने नित्य प्रवृत्त वर्तमान के अर्थ को सूचित करने वाला 'आहुः' इस लट् लकार का सार्थक प्रयोग किया है।

१. 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्तियाँ—यहाँ 'भक्ति' शब्द से आलङ्कारिकों की 'लक्षणा' (शुद्धा और गौणी) दोनों ग्राह्य हैं। जिस 'लक्षणा' को आलङ्कारिकों ने सादृश्येतर सम्बन्ध से शुद्धा और सादृश्य सम्बन्ध से गौणी माना है उसमें मीमांसकों ने केवल 'गौणी' को लक्षणा से भिन्न वृत्ति स्वीकार किया है। मीमांसक लोग 'गौणी' को एक अलग वृत्ति ही मानते हैं जो 'लक्षणा' से अतिरिक्त है। इस लिए 'भक्ति' शब्द से दोनों लक्षणा और गौणी (अर्थात् शुद्धा लक्षणा और गौणी) दोनों अभिहित होते हैं।

लक्षणा या गौणी के लिए एक दूसरा शास्त्रीय शब्द 'उपचार' भी प्रसिद्ध है। जब कि उपचार 'लक्षणा' के ये तीन बीज-मुख्यार्थ की बाधा, निमित्त और प्रयोजन—जहाँ होंगे वहीं लक्षणा होगी, और प्रस्तुत 'भक्ति' भी चूँकि 'लक्षणा' ही है तो सामान्यतः 'भक्ति' शब्द भी 'लक्षणा' के उक्त बीजों में संगत होना चाहिए, इस अभिप्राय से लोचनकार ने 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्तियाँ लक्षणा-बीज के अनुकूल की हैं।

(क) 'निमित्त' परक व्युत्पत्ति—भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिः।

(ख) 'प्रयोजन' परक व्युत्पत्ति—भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः।

लोचनम्

मित्युक्तं भवति। *काव्यात्मानं गुणवृत्तिरिति*। सामानाधिकरण्यस्यायं भावः—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये ध्वनिभेदे 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादावुपचारोऽस्ति,

कही गई। काव्यात्मा (ध्वनि) को 'गुणवृत्ति' (कहते हैं)—। सामानाधिकरण्य[1] का भाव यह है—यद्यपि 'अविवक्षितवाच्य' नामक ध्वनि के एक भेद 'निःश्वासान्ध इवादर्शः'

(ग) 'मुख्यार्थबाध' परक व्युत्पत्ति—मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्तिः।

इन तीनों की हिन्दी 'लोचन' के प्रस्तुत हिन्दी-अनुवाद में अक्षरशः कर दी गई है। साथ ही लोचनकार ने मीमांसकों के अनुसार अलग से 'गौणी' के लिए भी 'भक्ति' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः।

इस प्रकार 'भक्ति' शब्द से 'लक्षणा' और 'गौणी' दोनों वृत्तियाँ ग्राह्य हैं। और, 'तत आगतः' इस पाणिनीय नियम के अनुसार इस प्रकार की लक्षणारूप या गौणीरूप 'भक्ति' से प्रतीत होने वाला लाक्षणिक या गौण अर्थ प्रस्तुत में 'भाक्त' कहा गया है। यही है 'भाक्तमाहुस्तमन्ये', अर्थात् अन्य लोग उस ध्वनि को भाक्त अर्थात् लाक्षणिक या गौण अर्थ कहते हैं।

शुद्ध लक्षणा का प्रचलित उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है तथा 'गौणी' का प्रसिद्ध उदाहरण है 'अग्निर्माणवकः'। कहा जा चुका है 'उपचार' वहीं होता है जहाँ उपर्युक्त 'बीज' हों। गङ्गा में घोष इसलिए सम्भव नहीं कि गङ्गा एक जल का प्रवाह है, नदी है, इसलिए प्रवाह में घोष (गाँव या बथान) नहीं रह सकता, यह मुख्यार्थ की बाधा है। चूँकि गङ्गा के समीप गङ्गा का तट है और उस पर घोष रह सकता है इसलिए 'गङ्गा' का सामीप्यरूप निमित्त से तट अर्थ ग्रहण किया गया इस 'तट' रूप अर्थ के ग्रहण से वक्ता के 'प्रयोजन' रूप शैत्य और पावनत्व की सिद्धि होती है अर्थात् 'गङ्गायां घोषः' इसके वक्ता का प्रयोजन यह प्रतीत होता है कि गङ्गा के बिलकुल किनारे घोष है जिससे गङ्गा के सभी शैत्य, पावनत्व आदि गुण 'तट' में ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यहाँ लाक्षणिक या लक्ष्य अर्थ 'तट' माना गया।

यही स्थिति 'गौणी' में भी होती है। उदाहरण है—'अग्निर्माणवकः' अर्थात् बालक अग्नि है। यहाँ मुख्यार्थबाध होता है कि बालक अग्नि कैसे है? तब 'गौणी' द्वारा 'तीक्ष्णतारूप गुण' 'अग्नि' के अर्थभाग के रूप में माना गया (यहाँ यह स्वीकार करना पड़ता है कि अग्नि का गुणरूप अर्थ 'आक्षेप' से नहीं बल्कि 'गौणी' शक्ति से प्रतीत होता है। यहाँ 'तैक्ष्ण्य' रूप गुण 'प्रयोजन' है, जिसकी सिद्धि के लिए 'अग्नि' यह प्रयोग किया गया है। साहित्य-शास्त्र में प्रसिद्ध 'मुखं चन्द्रः' यह रूपक अलङ्कार का उदाहरण भी इस 'गौणी' का ही विषय है। ऊपर कहा जा चुका है कि यह मीमांसकों के अनुसार ही भिन्न वृत्ति है, अन्यथा इसे 'लक्षणा' का ही एक भेद साहित्य में माना गया है।

[ ] इस चिह्न से अङ्कित 'सामीप्य' शब्द 'लोचन' के विचारकों के अनुसार 'प्रामाणिक' पाठ है। यह लेखक-प्रमाद के कारण सर्वत्र मुद्रित मिलता है। पण्डितों का कहना है कि 'सामीप्य' लक्षणा के प्रसिद्ध स्थल 'गङ्गायां घोषः' में किसी प्रकार 'प्रतिपाद्य' या प्रयोजन नहीं हो सकता। क्योंकि उपर्युक्त कारिका को उद्धृत करते हुए लोचनकार ने स्वयं 'सामीप्य' आदि को 'निमित्त' ही माना है। कुछ लोगों ने इस 'सामीप्य' को भी 'पावनत्व' के अर्थ में घसीटने का प्रयत्न किया है जो अस्वाभाविक लगता है। इसके साथ का दूसरा प्रयोग 'तैक्ष्ण्य' गौणी के उदाहरण 'अग्निर्माणवकः' का प्रयोजन बन जाता है, अतः ठीक है।

१. 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इस मूल ग्रन्थ का व्याख्यान वृत्तिग्रन्थ में 'अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्या-

लोचनम्

तथापि न तदात्मैव ध्वनिः, तद्व्यतिरेकेणापि भावात्, विवक्षितान्यपरवाच्यप्रभेदादौ। अविवक्षितवाच्येऽप्युपचार एव न ध्वनिरिति वक्ष्यामः। तथा च वक्ष्यति—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तथा॥ इति॥
कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्। इति च।

गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च। तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य, तैरुपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा। गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः। एतदुक्तं भवति—ध्वनतीति वा, ध्वन्यत इति वा, ध्वननमिति वा यदि ध्वनिः, तथाप्युपचरितशब्दार्थव्यापा-

इत्यादि स्थल में 'उपचार' है, तथापि ध्वनि उपचारात्मा ही नहीं है, क्योंकि उपचार के अभाव में भी (ध्वनि) होता है। और विवक्षितान्यपरवाच्य रूप ध्वनि के प्रभेद आदि में। अविवक्षितवाच्य ध्वनि में भी उपचार ही होता है ध्वनि नहीं, यह हम कहेंगे। और उस प्रकार (मूलकार) कहेंगे—

'यह ध्वनि रूपभेद के कारण भक्ति के साथ एकत्व प्राप्त नहीं करता। अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण उस प्रकार यह लक्षित नहीं होता।

हाँ, ध्वनि के किसी भेद का वह (भक्ति) उपलक्षण हो सकती है।'

सामीप्यादि धर्म और तैक्ष्ण्यादि धर्म गुण हैं। उन निमित्त रूप उपायों द्वारा अर्थान्तर में जिसकी वृत्ति हो, अथवा उन उपायों द्वारा वृत्ति हो शब्द की जहाँ, वह 'गुणवृत्ति' शब्द अथवा अर्थ है। गुण के द्वारा वर्तन गुणवृत्ति, अमुख्य अभिधा व्यापार है। यह बात कही गई—यदि ध्वनन करता है (ध्वनतीति), अथवा ध्वनित होता है (ध्वन्यत इति), अथवा ध्वनन, यह ध्वनि है तथापि उपचरित शब्द, अर्थ और व्यापार के अतिरिक्त वह कुछ नहीं है। मुख्यार्थ में तो अभिधा ही होती है और अन्त में

त्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः' इन शब्दों में किया गया है। यहाँ प्रश्न उठता है कि 'ध्वनि' और गुणवृत्ति दोनों का सामानाधिकरण्य बताया गया है। इसका यह तात्पर्य समझना चाहिए कि जहाँ गुणवृत्ति होती है वहाँ ध्वनि होता है, इसका यह तात्पर्य नहीं कि गुणवृत्ति रूप ही ध्वनि है अर्थात् जहाँ गुणवृत्ति है वहाँ ध्वनि है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आगे चल कर ध्वनि के दो भेद बताये गये हैं—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षितवाच्य ध्वनि का उदाहरण दिया गया है—'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि। यहाँ तो उपचार या गुणवृत्ति है, अर्थात् यहाँ ध्वनि के साथ गुणवृत्ति का सामानाधिकरण्य (एक ही अधिकरण में उपस्थिति) बन जाता है किन्तु इस सामानाधिकरण्य का यह अर्थ नहीं कि ध्वनि को कोई उपचारात्मा ही कह डाले। कारण कि ध्वनि वहाँ भी होता है जहाँ उपचार बिलकुल नहीं होता, जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रभेद आदि में। इस प्रकार ध्वनि का गुणवृत्ति के साथ सामानाधिकरण्य तो बन सकता है तादात्म्य या एकरूपता नहीं बन सकती। इसी बात को 'भक्त्या बिभर्ति०' इत्यादि कारिका ग्रन्थ से भी निर्देश किया है। यह विषय आगे और भी स्पष्ट होगा।

ध्वन्यालोकः

यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्ति-रन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परि-कल्प्यैवमुक्तम्—'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति।

यद्यपि 'ध्वनि' शब्द का उल्लेख करके काव्य के लक्षण बनाने वालों ने गुणवृत्ति अथवा दूसरे किसी अन्य प्रकार को प्रकाशित नहीं किया है, तथापि अमुख्य वृत्ति (व्यापार) के द्वारा काव्य से व्यवहार दिखाते हुए (प्राचीन ने) ध्वनि-मार्ग को थोड़ा स्पर्श करके भी लक्षित नहीं किया है, ऐसी परिकल्पना करके इस प्रकार कहा—'अन्य लोग उसे भाक्त कहते हैं।'

लोचनम्

रातिरिक्तो नासौ कश्चित्। मुख्यार्थे ह्यभिधैवेति पारिशेष्यादमुख्य एव ध्वनिः, तृतीयराश्यभावात्।

ननु केनैतदुक्तं ध्वनिर्गुणवृत्तिरित्याशङ्क्याह—*यद्यपि चेति*। *अन्यो वेति*। गुणालङ्कारप्रकार इति यावत्। *दर्शयतेति*। भट्टोद्भटवामनादिना। भामहेनोक्तं—'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः' इति अभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे—'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' इति। वामनोऽपि 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति। *मनाक्स्पृष्ट इति*। तैस्तावद् ध्वनिदिगुन्मीलिता, यथालिखितपाठकैस्तु स्वरूपविवेकं कर्तुमशक्नुवद्भिस्तत्स्वरूपविवेको न कृतः-प्रत्युतोपालभ्यते, अभग्ननारिकेलवद् यथाश्रुततद्ग्रन्थोद्ग्रहणमात्रेणेति। अत एवाह—*परिकल्प्यैवमुक्तमिति*। यद्येवं न योज्यते तदा ध्वनिमार्गः स्पृष्ट इति पूर्वपक्षाभिधानं विरुध्यते।

केवल बच जाने से (पारिशेष्यात्) अमुख्य ही ध्वनि है, क्योंकि (मुख्य और अमुख्य इन दोनों के अतिरिक्त) तीसरी राशि का सर्वथा अभाव[१] है।

यह शङ्का करके कि किसने 'ध्वनि' को 'गुणवृत्ति' कहा है, कहते हैं—यद्यपि—। दूसरे किसी अन्य प्रकार—। गुण या अलङ्कार का कोई प्रकार। दर्शाते हुए—। भट्ट उद्भट और वामन आदि ने। भामह ने कहा है—'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः०।' यहाँ अभिधान का शब्द से भेद व्याख्यान करते हुए उद्भट ने कहा है—'शब्दों का अभिधान अभिधा व्यापार मुख्य और गुणवृत्ति है।' वामन ने भी कहा है—'सादृश्य से जो लक्षणा होती है वह 'वक्रोक्ति' कहलाती है। थोड़ा स्पर्श करके—। उन काव्य-लक्षणकारों ने ध्वनि की दिशा का उन्मीलन किया है। जैसा जो लिख दिया गया है उसे ही पढ़ लेने वाले, अत; स्वरूप का विवेक करने में असमर्थ उन्होंने स्वरूप का विवेक

१. 'भाक्त' शब्द का व्याख्यान वृत्ति ग्रन्थ में 'गुणवृत्ति' शब्द से किया गया है। 'गुणवृत्ति' शब्द भी 'ध्वनि' शब्द की भाँति शब्द, अर्थ एवं व्यापार इन तीनों में इस प्रकार सङ्गत हो

ध्वन्यालोकः

केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः। तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

फिर लक्षण बनाने में शालीनबुद्धि कुछ लोगों ने ध्वनि के तत्त्व को वाणी से परे, केवल सहृदय जनों के हृदय द्वारा संवेद्य, समाख्यान किया है। इस कारण, इस प्रकार की विमतियों के होने पर सहृदय जनों के मन की प्रसन्नता के लिए हम उस (ध्वनि) का स्वरूप कहते हैं।

लोचनम्

शालीनबुद्धय इति। अप्रगल्भमतय इत्यर्थः। एते च त्रय उत्तरोत्तरं भव्यबुद्धयः। प्राच्या हि विपर्यस्ता एव सर्वथा। मध्यमास्तु तद्रूपं जानाना अपि सन्देहेनापह्नुवते। अन्त्यास्त्वनपह्नुवाना अपि लक्षयितुं न जानत इति

नहीं किया, प्रत्युत उपालम्भ ही करने लगे। नहीं भग्न हुए नारियल की भाँति जैसा सुना वैसा ही उस ग्रन्थ का उद्ग्रहण (धारण) मात्र कर लिया। अत एव कहते हैं— परिकल्पना[1] करके इस प्रकार कहा है—। यदि इस प्रकार ग्रन्थार्थ की योजना नहीं करते हैं तो 'ध्वनि-मार्ग को स्पर्श करके' यह पूर्वपक्ष का कथन विरुद्ध हो जाता।

शालीनबुद्धि—। अर्थात् अप्रगल्भमति। ये तीनों (विप्रतिपत्तिकार उत्तरोत्तर भव्यबुद्धि हैं। क्योंकि पहले वाले (अभाववादी) सर्वथा विपर्यय में पड़ गए हैं। मझले (भाक्तवादी) उस (ध्वनि) का स्वरूप जानते हुए भी सन्देह के कारण छिपा देते हैं। और अन्त वाले नहीं छिपाते हुए भी (ध्वनि को) लक्षित करना नहीं जानते हैं। इस क्रम से इन (विप्रतिपत्तिकारों) का विपर्यास, सन्देह और अज्ञान का प्राधान्य है।

जाता है। 'गङ्गायां घोषः' आदि स्थल में सामीप्य आदि धर्म 'गुण' हैं, उन्हीं गुण रूप उपायों से जिस 'गङ्गा' आदि शब्द की अर्थान्तर 'तीर' आदि में वृत्ति हो, यह 'गुणवृत्ति' का शब्दपरक समास है। उन्हीं उपायों से तीरादि अर्थ में जिस शब्द की वृत्ति हो, यह उसका अर्थपरक समास है और 'गुण द्वारा वर्तन गुणवृत्ति है, यह अमुख्य अभिधा व्यापार-परक समास है। 'ध्वनति', 'ध्वन्यते', 'ध्वननम्' इस रूप में 'ध्वनि' शब्द भी शब्द, अर्थ और व्यापार इन तीनों में सङ्गत होता है। इस प्रकार भाक्तवादी के कहने का तात्पर्य है कि 'ध्वनि' तत्त्व उपचरित शब्द, अर्थ और व्यापार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। उनका दृढ़ पक्ष यह है कि किसी भी शब्द के दो ही अर्थ हो सकते हैं मुख्य या अमुख्य। जब मुख्य अर्थ में अभिधा को व्यापार स्वीकार किया गया, तब अमुख्य अर्थ हो शेष रहा, ऐसी स्थिति में ध्वनि 'भाक्त' ही सिद्ध होता है। क्योंकि अर्थ की कोई तृतीय राशि मुख्य और अमुख्य के अतिरिक्त सम्भव नहीं।

१. जैसा कि वृत्तिग्रन्थ में आचार्य ने जो कहा है कि प्राचीन आचार्यों ने काव्यों में अमुख्य व्यवहार का संकेत किया है उसका स्पष्टीकरण 'लोचन' में आचार्य अभिनवगुप्त ने भामह, भट्टोद्भट एवं वामन की उक्तियों को उद्धृत करके किया है। भामह और भट्ट उद्भट ने मुख्य के अतिरिक्त गुणवृत्ति व्यापार को और वामन ने सादृश्य से लक्षणा को 'वक्रोक्ति' के रूप में स्वीकार किया है।

लोचनम्

क्रमेण विपर्याससन्देहाज्ञानप्राधान्यमेतेषाम्। *तेनेति*। एकैकोऽप्ययं विप्रतिपत्तिरूपो वाक्यार्थो निरूपणे हेतुत्वं प्रतिपद्यत इत्येकवचनम्। *एवंविधासु विमतिष्विति* निर्धारणे सप्तमी। आसु मध्ये एकोऽपि यो विमतिप्रकारस्तेनैव हेतुना *तत्स्वरूपं ब्रूम इति,* ध्वनिस्वरूपमभिधेयम्, अभिधानाभिधेयलक्षणो

इस कारण—। विप्रतिपत्तिरूप एक भी वाक्यार्थ (ध्वनि के) निरूपण में हेतु बन जाता है इसलिए 'एकवचन'[1] का प्रयोग है। 'इस प्रकार की विमतियों में' यहाँ 'निर्धारण' में[2] सप्तमी है। इन (विमतियों के) बीच में एक भी जो विमति का प्रकार है उसी हेतु से 'उस (ध्वनि) का स्वरूप हम कहते हैं'; (इस ग्रन्थ का) [3]ध्वनि-स्वरूप अभिधेय

इस प्रकार उन्होंने ध्वनि की दिशा का उन्मीलन तो कर ही दिया, क्योंकि जब 'गङ्गायां घोषः' इस स्थल में आचार्य भामह को स्वीकार हो चुका कि 'गङ्गा' का अमुख्य अर्थ 'तीर' है तब वे प्रयोजन रूप शैत्य-पावनत्व तक, जो ध्वनि का अपना पक्ष है, पहुँच ही चुके थे, प्रायः स्पर्श तो उन्होंने कर ही लिया था। ऐसी अनुकूल स्थिति में भी, कुछ लोगों ने, जिन्हें स्वरूपविवेक का सामर्थ्य न था, इस प्राचीन 'ध्वनि' को 'भाक्त' कहा और ऊपर से उपालम्भ देना भी शुरू कर दिया। हम ध्वनिवादी 'भाक्त' पक्ष को अस्वीकार नहीं करते हैं। बल्कि हमारा कहना है कि भाक्तवादियों ने तो 'ध्वनि' को स्वीकार ही कर लिया, क्योंकि ध्वनि का एक भेद, जो अविवक्षित-वाच्य है वहाँ 'भक्ति' या लक्षणा, जिसे उपचार और गुणवृत्ति भी कहा है, बिलकुल प्राप्त होती है। किन्तु इन बीच के लोगों ने वही स्थिति अपनाई जो किसी नारियर के न फोड़े जाने पर उसके सम्बन्ध में होती है। जिस प्रकार नारियल के फल को ऊपर से छाल देने के बाद दूसरी स्थिति तक रह जाने से कोई लाभ नहीं, उसके बाद उसे फोड़ने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ध्वनि-पक्ष के अनुकूल भाक्त-वाद को स्वीकार करने पर भी एक कदम और आगे बढ़ने की आवश्यकता रह जाती है। वही न करके भाक्तवादियों ने 'ध्वनि' का उपालम्भ शुरू कर दिया, अतः उन्हें ध्वनि-पक्ष के प्रतिकूलवादियों में स्थान मिला। लोचनकार का कहना है कि प्रस्तुत वृत्ति ग्रन्थ को कुछ इसी प्रकार लगाना चाहिए।

१. एकवचन—वृत्तिग्रन्थ में तीनों ध्वनि की विप्रतिपत्तियों को उद्धृत करके ध्वनि के स्वरूप के प्रतिपादन में तीनों एक-एक करके हेतु हैं इस बात को सूचित करने के लिए आचार्य ने 'तेन' ('इस कारण') इस एकवचन का प्रयोग किया है, वस्तुतः बहुवचन प्रासङ्गिक था। ध्वनि का निरूपण केवल अनेक विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिए नहीं किया जा रहा है बल्कि प्रत्येक विप्रतिपत्ति इसके द्वारा निराकरणीय है।

२. 'निर्धारण' में सप्तमी वहाँ होती है जहाँ बहुतों में से किसी एक को निर्धारित करना होता है। प्रस्तुत में अनेक विमतियों में कोई एक भी ध्वनिस्वरूप के निरूपण का हेतु है। ऐसी स्थिति में यहाँ पाणिनीय सूत्र 'यतश्च निर्धारणम्' (२. ३. ४१) के अनुसार निर्धारण में सप्तमी का विषय है, न कि 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (पा. सू. २. ३. ३७) के अनुसार भावलक्षण में सप्तमी का, क्योंकि यहाँ क्रिया से क्रियान्तर के लक्षित होने का कोई प्रसङ्ग नहीं, इससे एक-एक विप्रतिपत्ति का निरूपणहेतुत्व सिद्ध नहीं होता।

३. यहाँ लोचनकार ने प्रस्तूतमान ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' के 'अनुबन्धचतुष्टय' का उल्लेख किया है। किसी भी ग्रन्थ के अध्ययन में श्रोता की प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब वह अनुभव करे कि इस ग्रन्थ के अध्ययन से उसका इष्टसिद्ध होगा, अर्थात् उसे पहले विदित करना चाहिये कि ग्रन्थ के

ध्वन्यालोकः

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ॥ १ ॥

उस ध्वनि का स्वरूप जो सकल सत्कवियों के काव्यों का उपनिषद्भूत, अतिरमणीय है, जो प्राचीन लक्षणकारों की अणुपरिमाण (सूक्ष्मतम) बुद्धि द्वारा भी उन्मीलित नहीं हुआ है, और, जिसका रामायण, महाभारत प्रभृति लक्ष्य (ग्रन्थों) में व्यवहार प्रसिद्ध है, लक्षित करते हुए सहृदय जनों के मन में आनन्द प्रतिष्ठित हो इस उद्देश्य से उसे प्रकाशित करते हैं।

लोचनम्

ध्वनिशास्त्रयोर्वक्तृश्रोत्रोर्व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावः सम्बन्धः, विमतिनिवृत्त्या तत्स्वरूपज्ञानं प्रयोजनम्, शास्त्रप्रयोजनयोः साध्यसाधनभावस्सम्बन्ध इत्युक्तम्।

अथ श्रोतृगतप्रयोजनप्रयोजनप्रतिपादकं 'सहृदयमनःप्रीतये' इति भागं व्याख्यातुमाह—*तस्य हीति*। विमतिपदपतितस्येत्यर्थः। ध्वनेः स्वरूपं लक्षयतां सम्बन्धिनि *मनसि* आनन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः, *प्रतिष्ठां* परैर्विपर्यासाद्युपहतैरनुन्मूल्यमानत्वेन स्थेमानं, *लभतामिति* प्रयोजनं सम्पादयितुं

(विषय) है, ध्वनि और शास्त्र में अभिधानाभिधेय रूप सम्बन्ध और वक्ता एवं श्रोता में व्युत्पाद्यव्युत्पादकभाव रूप सम्बन्ध है, विमतियों की निवृत्ति सहित उस (ध्वनि) का स्वरूपज्ञान प्रयोजन है, शास्त्र और प्रयोजन का सम्बन्ध साध्यसाधनभाव रूप है, यह बात कही गई।

अब श्रोतृगत प्रयोजन के प्रयोजन[1] का प्रतिपादन करने वाले 'सहृदय जनों के मन की प्रीति के लिए' इस भाग के व्याख्यान के लिए कहते हैं—उस ध्वनि का—। अर्थात् विमति के मार्ग में पड़े हुए ध्वनि का स्वरूप लक्षित करते हुए के मन में आनन्द, जो निर्वृति रूप और दूसरे शब्द में 'चमत्कार' है, प्रतिष्ठा को, अर्थात् विपर्यास आदि (कमजोरियों) से उपहत दूसरे (अभाववादी आदि) द्वारा अनुन्मूलित होने के कारण स्थिरता को, प्राप्त करे, इस प्रयोजन के सम्पादन के लिए उस (ध्वनि) का स्वरूप

विषय, सम्बन्ध, अधिकारी और प्रयोजन क्या है ? इन्हीं चारों को शास्त्रीय परिभाषा में 'अनुबन्धचतुष्टय' कहा गया है। इसका निर्देश ग्रन्थारम्भ में भी किया जा चुका है।

१. आरम्भ में भी कहा जा चुका है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन ध्वनिस्वरूप का ज्ञान है, किन्तु इस प्रयोजन का भी प्रयोजन है सहृदयजनों की मनःप्रीति। क्योंकि 'काव्य' के तत्त्वज्ञान के लिए ध्वन्यालोक का निर्माण अभीष्ट है और 'काव्य' का चरम लक्ष्य सहृदयजनों की मनःप्रीति

लोचनम्

तत्स्वरूपं प्रकाश्यत इति सङ्गतिः। प्रयोजनं च नाम तत्सम्पादकवस्तुप्रयोक्तृता-प्राणतयैव तथा भवतीत्याशयेन 'प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूम' इत्येकवाक्यतया

प्रकाशित करते हैं, यह सङ्गति है। और प्रयोजन, जो उस (प्रयोजन) के सम्पादक वस्तु की जो प्रयोक्तृता या प्रयोजकता रूप प्राण है जिसका, इस प्रकार का होता है,[1] इस आशय से 'प्रीति के लिए उस (ध्वनि) का स्वरूप हम कहते हैं' इस प्रकार एक वाक्य रूप से व्याख्या करनी चाहिए (अथवा यह व्याख्या है)। 'उसका स्वरूप'[2] इसकी

ही है। यश आदि साधारण कोटि के प्रयोजन हैं। इसीलिए ध्वन्यालोक का भी मुख्यभूत प्रयोजन अर्थात् प्रयोजन का प्रयोजन 'सहृदयमनःप्रीति' ही सूचित की गई।

१. ध्वनिस्वरूप के प्रस्तुत निरूपण के दो ही प्रयोजन हैं। एक तो 'ध्वनि' के सम्बन्ध में विमतियों का निराकरण और दूसरा सहृदयजनों की प्रीति। यदि 'प्रयोजन' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य' अर्थ देखा जाय तो प्रयोजन वही होता है जो प्रेरणा करता है (प्रेरयतीति प्रयोजनम्) इस आधार पर यहाँ वस्तुतः प्रयोजन 'प्रीति' ही है, क्योंकि ध्वनिस्वरूप का निरूपण सहृदयजनों को प्रसन्न करने के लिए ही आचार्य विमतियों के निराकरणपूर्वक करने जा रहे हैं। इसी लिए लोचनकार स्पष्टरूप से 'प्रयोजन' शब्द का प्रतिपादन करते हैं कि प्रयोजन अपने सम्पादक वस्तु की प्रयोजकता से प्रयोजन कहलाता है, प्रस्तुत में ध्वनिस्वरूप का निरूपण प्रीतिरूप प्रयोजन का सम्पादक है। इस प्रकार एक वाक्यरूप से कि प्रीति के लिए 'उसके स्वरूप को हम कहते हैं' व्याख्या करनी चाहिए--(अथवा यदि 'व्याख्येयम्' को 'व्याख्या इयम्' मानें तो यहाँ कहना होगा कि इस प्रकार एकवाक्य रूप से यह व्याख्या है)।

२. मूल कारिकाग्रन्थ के 'तत्स्वरूपम्' की व्याख्या वृत्ति-ग्रन्थ में अनेक विशेषणों से करते हुए आचार्य ने पूर्वनिर्दिष्ट पांचों विकल्पों के एक प्रकार से निराकरण का अभिप्राय सूचित किया है यह आचार्य अभिनव की सूक्ष्मेक्षिका है। इसे स्पष्टरूप से क्रमशः इस प्रकार समझना चाहिये—वक्ष्यमाण ध्वनिस्वरूप 'सकल सत्कवियों के काव्यों का उपनिषद्भूत है' अर्थात् ध्वनि सभी सत्कवियों के काव्यों का परम रहस्यभूत तत्त्व है, काव्यतत्त्वज्ञान से वञ्चित लोग उसे नहीं समझ सकते हैं। जैसा कि पहले अभाववादी के मत में कहा गया था कि वाग्विकल्पों के अनन्त होने के कारण प्रसिद्ध आलङ्कारिकों द्वारा किसी अप्रदर्शित प्रकारलेश को ही लेकर 'ध्वनि' कह दिया गया है, यह बात प्रस्तुत विशेषण के 'सकल' और 'सत्कवि' के प्रयोग से निराकृत हो जाती है। यह कोई ऐसा वाग्विकल्प नहीं जो अप्रदर्शित हो बल्कि यह तो सभी कवियों के काव्य में पाया जाता है, किन्तु इतना अवश्य है कि वह उपनिषद्भूत या परम रहस्य है उसे साधारण प्रतिभावाले नहीं समझ सकते हैं। दूसरे, इसे 'उपनिषद्भूत' कहने से 'अपूर्व समाख्या' (नया नामकरण) वाला जो दोष दिया गया था उसका निराकरण हो जाता है, क्योंकि जब यह सबसे उत्कृष्ट तत्त्व है ऐसी स्थिति में इसका अपूर्व समाख्यामात्र होना सम्भव नहीं। इसे 'अतिरमणीय' कह कर 'भाक्त' से इसकी विलक्षणता कही गई है। क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' आदि में कोई रमणीयता नहीं है। 'अणुपरिमाण बुद्धि' के कहने से इस बात को सूचित किया कि ध्वनिस्वरूप साधारणबुद्धि-संवेद्य गुण तथा अलङ्कारों में अन्तर्हित नहीं हो सकता, वह तो ऐसा है कि उसे सूक्ष्म परिमाण बुद्धि से भी समझ पाना कठिन है। जो कि शङ्का कर चुके हैं, कुछ विद्वानों सहृदयों) का दल बनाकर 'ध्वनि' को मान्यता दी जा सकती है, उसे चिरवकाश इस प्रकार प्रस्तुत में आचार्य ने किया है कि सर्वत्र रामायण-महाभारत-प्रभृति लक्ष्य में ध्वनिस्वरूप प्रसिद्ध है तथा आदिकवि से लेकर सभी सूरियों ने उसका आदर किया है। 'लक्षित करते हुए'

लोचनम्

व्याख्येयम् । तत्स्वरूपशब्दं व्याचक्षाणः संक्षेपेण तावत्पूर्वोदीरितविकल्पपञ्चकोद्धरणं सूचयति—*सकलेत्यादिना*। सकलशब्देन *सत्कवि*शब्देन च प्रकारलेशे कस्मिंश्चिदिति निराकरोति। *अतिरमणीयमिति* भाक्ताद्व्यतिरेकमाह। न हि 'सिंहो वटुः' 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र रम्यता काचित् *उपनिषद्भूत*शब्देन तु अपूर्वसमाख्यामात्रकरण इत्यादि निराकृतम्। *अणीयसीभिरित्यादिना* गुणालङ्कारानन्तर्भूतत्वं सूचयति। *अथ चेत्यादिना* 'तत्समयान्तःपातिन' इत्यादिना यत्सामयिकत्वं शङ्कितं तन्निरवकाशीकरोति। *रामायणमहाभारतशब्देनादिकवेः* प्रभृति सर्वैरेव सूरिभिरस्यादरः कृत इति दर्शयति। *लक्ष्यतामित्यनेन* वाचां स्थितमविषय इति परास्यति। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम्। लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति, तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयतामित्यर्थः। *सहृदयानामिति*। येषां

व्याख्या करते हुए, संक्षेप से, जो पहले पाँच विकल्प कहे जा चुके हैं, उनका निराकरण सूचित करते हैं—सकल इत्यादि द्वारा। 'सकल' शब्द द्वारा और 'सत्कवि' शब्द द्वारा 'किसी प्रकार लेश में' इसका निराकरण करते हैं। 'अतिरमणीय' इस विशेषण द्वारा 'भाक्त' से व्यतिरेक (वैलक्षण्य) कहा। क्योंकि 'सिंहो वटुः' और 'गङ्गायां घोषः' इस स्थल में कोई रम्यता नहीं है। 'उपनिषद्भूत' इस विशेषण शब्द द्वारा 'अपूर्व समाख्या (ध्वनि यह नया नाम) मात्र करना' इत्यादि का निराकरण किया है। अणुतर (अणीयसी) इत्यादि इस (बुद्धि के विशेषण) द्वारा (ध्वनि का) गुण और अलङ्कार में अन्तर्भाव का न होना सूचित करते हैं। 'और भी' इत्यादि से 'उस समय के होने वाले' इत्यादि द्वारा जो सामयिक होने की शङ्का की थी उसे निरवकाश करते हैं। 'रामायण-महाभारत' शब्द से यह दिखाते हैं कि आदिकवि से लेकर समस्त सूरियों (विद्वानों) ने इस ध्वनि का आदर किया है। 'लक्षित करते हुए' इससे 'वचनों के अविषय में स्थित' इसे निराकरण करते हैं। 'लक्षित करते हैं इससे, अतः 'लक्ष' लक्षण है। लक्ष के द्वारा निरूपण करते हैं, लक्षित करते हैं, उनका अर्थात् लक्षण द्वारा निरूपण करते हुए का। सहृदयों का—। काव्यों के अनुशीलन के अभ्यासवश जिनके विशदीभूत मन के दर्पण में वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय हो जाने की

कह कर आचार्य ने तीसरे अलक्षणीयतावादी के मत का निराकरण किया। इस प्रकार प्रायः सभी विप्रतिपत्तियाँ 'ध्वनिस्वरूप' के इन विशेषणों द्वारा निराकृत हो जाती हैं।

१. **'लक्षयताम्'** ('लक्षित करते हुए') इस शब्द का अर्थ करते हुए लोचनकार लिखते हैं—'लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम्, लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति, तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयतामित्यर्थः।' यहाँ लोचनकार ने 'करण' में घञ् करके 'लक्ष' को 'लक्षण' के अर्थ में लिया है, किन्तु पाणिनीय शास्त्र के नियम के अनुसार 'करण' में 'घञ्' नहीं होता है क्योंकि 'ल्युट्' उसे बाध लेता है। फिर भी इसका साधारण समाधान यह है कि जब महाभाष्यकार ने स्वयं 'करण' में 'घञ्' बाहुलक के अनुसार मान लिया है। ऐसी स्थिति में यहाँ भी कोई विशेष त्रुटि नहीं कही जा सकती। किन्तु 'दिव्याञ्जना' में मेरे पूज्यपाद गुरु जी (महादेव शास्त्री जी) ने 'लक्षयताम्' इसका ही अर्थ 'निरूपयताम्' करके अगतिकगति 'बाहुलक' पक्ष को सुधीजनों के विचारणीय बताया है।

लोचनम्

काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। यथोक्तम्—

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ इति ॥

आनन्द इति। रसचर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्मत्वमिति दर्शयति। तेन यदुक्तम्—

ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्येंऽशत्वं न रूपता ॥

इति तदपहस्तितं भवति। तथा ह्यभिधाभावनारसचर्वणात्मकेऽपि त्र्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूतेति भवतोऽप्यविवादोऽस्ति। यथोक्तं त्वयैव—

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्। इति।

तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्यभिप्रायेणांशमात्रत्वमिति सिद्धसाधनम्। रसध्वन्यभि-

योग्यता हो वे, अपने हृदय के साथ संवाद[1] को भजन करने वाले जन 'सहृदय' हैं। जैसा कि कहा है—

'जो अर्थ (विभावादि रूप वस्तु) हृदय के साथ संवाद रखने वाला होता है उसका भाव (भावना) रस की अभिव्यक्ति का कारण होता है। वह (सहृदय के) शरीर को उस प्रकार व्याप्त कर लेता है जिस प्रकार सूखे काठ को अग्नि।'

आनन्द—। रसचर्वणा रूप प्राधान्य को दिखाते हुए, 'रसध्वनि' का ही सर्वत्र मुख्य रूप से आत्मत्व है—यह दिखाते हैं। इसलिए जो कि कहा है—

'ध्वनि नाम का जो भी अन्य व्यञ्जनात्मक व्यापार है उसका (अभिधा और भावना से) भेद सिद्ध होने पर भी उसका काव्य में अंशत्व होगा, रूपता नहीं।'

वह निराकृत हो जाता है, क्योंकि अभिधा, भावना और रसचर्वणा रूप तीन अंश वाले काव्य में रसचर्वणा प्राणभूत है, यह आपके मत में भी निर्विवाद है। जैसा कि तुमने ही कहा है—

'काव्य में रस लेने वाले सब हो जाते हैं पर जानने वाला नहीं होता और आज्ञा-पालन करने वाला (नियोगभाक्) नहीं होता।'

वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि के अभिप्राय से (उसका) अंशमात्रत्व[2] है तो

१. काव्य को पढ़ते हुए वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मयता होने पर ही 'आनन्द' स्थिति आती है, यही 'हृदय का संवाद' है अर्थात् समान हृदय ही सहृदय होता है।

२. आचार्य भट्टनायक ने काव्य के तीन अंश माने हैं—अभिधा, भावना और ध्वनि। उनका यह तात्पर्य है कि ध्वनि व्यञ्जनात्मक व्यापार है और अभिधा एवं भावना से भिन्न है तथापि उसे काव्य में 'अंशत्व' ही प्राप्त है 'रूपता' नहीं 'अंशत्व' से अभिप्राय शब्द के एक व्यापार का जो महत्त्व है वही है और 'रूपता' अर्थात् अंशित्व या आत्मत्व। कहने का तात्पर्य यह कि काव्य में 'ध्वनि' अंशी या आत्मा की स्थिति में आने के योग्य नहीं, बल्कि वह भी एक शब्द का व्यापार है जैसे अभिधा और भावना शब्द के व्यापार हैं। इस पर लोचनकार यह विचार करते हैं कि यदि

लोचनम्

प्रायेण तु स्वाभ्युपगमप्रसिद्धिसंवेदनविरुद्धमिति। तत्र कवेस्तावत्कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या। यदाह—'कीर्तिं स्वर्गफलामाहुः' इत्यादि। श्रोतॄणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः, यथोक्तम्—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ इति॥

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसंमितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसंमितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासंमितत्वलक्षणो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः। चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्।

आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां देवतायतनादिवदनश्वरीं स्थिति गच्छत्विति भावः। यथोक्तम्—

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः॥ इति॥

यह (कहना) सिद्धसाधन है। और यदि रसध्वनि के अभिप्राय से है तो अपने ही मानी हुई प्रसिद्धि रूप सहृदयानुभव संवेदन के विरुद्ध हो जाता है। कवि कीर्ति से भी प्रीति का ही सम्पादन करता है। जैसा कि कहा है—'कीर्ति को स्वर्ग रूप फल वाली कहते हैं' इत्यादि। और श्रोताओं को व्युत्पत्ति और प्रीति दोनों होती हैं, जैसा कि कहा है—

'साधु काव्य के निषेवण से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं में कुशलता तथा कीर्ति और प्रीति फल प्राप्त होते हैं।'

तथापि, वहां प्रीति ही प्रधान है। यदि ऐसा नहीं होता तो प्रभुसम्मित वेदादि और मित्रसम्मित इतिहासादि, जो व्युत्पत्ति के हेतु हैं, उनसे व्युत्पत्ति के हेतु काव्य रूप का जायासम्मितत्व रूप विशेष क्या रहेगा? अतः प्रधान रूप से आनन्द ही कहा है। धर्मादि चारों वर्गों की व्युत्पत्ति का भी आनन्द ही पार्यन्तिक मुख्य फल है।

और, 'आनन्द' यह ग्रन्थकार का नाम है। इससे यह भाव है कि वह आनन्दवर्धनाचार्य इस शास्त्र के द्वारा सहृदयों के हृदय में प्रतिष्ठा को, अर्थात् देवालय में देवता की भांति कभी नष्ट न होने वाली शाश्वत स्थिति को, प्राप्त करें। जैसा कि कहा है—

'स्वर्ग में पहुंचे हुए भी सत्काव्य का निर्माण करने वाले कवियों का, बिना किसी आतङ्क का, सुन्दर काव्यमय शरीर (प्रतिष्ठित) ही रहता है।'

भट्टनायक ने वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनि के अभिप्राय से 'ध्वनि' को 'अंश' ही माना है अंशी नहीं, वह तो स्वीकार्य है क्योंकि यह बात पहले से सिद्ध हो चुकी है। किन्तु यदि रसचर्वणा रूप ध्वनि को मन में रखकर उसके अंशित्व या रूपता (आत्मत्व) का निराकरण करते हैं तो यह उनके ही स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध होता है।

लोचनम्

यथा मनसि प्रतिष्ठा एवंविधमस्य मनः, सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृदिति यावत्। यथा—'युद्धे प्रतिष्ठा परमार्जुनस्य' इति। स्वनामप्रकटीकरणं श्रोतॄणां प्रवृत्त्यङ्गमेव सम्भावनाप्रत्ययोत्पादनमुखेनेति ग्रन्थान्ते वक्ष्यामः। एवं ग्रन्थकृतः कवेः श्रोतुश्च मुख्यं प्रयोजनमुक्तम्॥ १॥

ननु 'ध्वनिरूपं ब्रूम' इति प्रतिज्ञाय वाच्यप्रतीयमानाख्यौ द्वौ भेदावर्थस्येति वाच्याभिधाने का सङ्गतिः कारिकाया इत्याशङ्क्य सङ्गतिं कर्तुमवतरणिकां

जैसे 'मन में प्रतिष्ठा' उसी प्रकार इसका मन है, मतलब यह कि ग्रंथकार तो सहृदयचक्रवर्ती है। जैसे—'युद्ध में अर्जुन की परम प्रतिष्ठा है'। अपने नाम का प्रकटीकरण श्रोताओं की प्रवृत्ति का अङ्ग सम्भावना-प्रत्यय उत्पन्न करने के द्वारा है, यह हम ग्रन्थ के अन्त में कहेंगे। इस प्रकार ग्रन्थकार, कवि और श्रोता का मुख्य प्रयोजन[1] कहा गया॥ १॥

'ध्वनि का स्वरूप कहेंगे' यह प्रतिज्ञा करके 'वाच्य और प्रतीयमान ये अर्थ के दो भेद हैं' इस प्रकार 'वाच्य' के कहने में कारिका की क्या सङ्गति है? यह आशङ्का

१. यहाँ कवि, श्रोता और ग्रन्थकार तीनों का पार्यन्तिक उद्देश्य या फल प्रीति या आनन्द को ही आचार्य ने सिद्ध किया है। कारिका में 'प्रीति' शब्द और वृत्ति में 'आनन्द' शब्द का प्रयोग है। यद्यपि कवि के लिए कीर्ति आदि अनेक फलों का निर्देश किया गया है किन्तु कीर्ति से भी प्रीति ही कवि के द्वारा सम्पाद्य होती है। वचन भी है—'कीर्ति को स्वर्गरूप फल वाली कहते हैं' 'स्वर्ग' क्या है? निरतिशय आनन्द, जिस आनन्द से बढ़ कर कोई आनन्द की स्थिति नहीं रह जाती हो। जो कि श्रोताओं की बात है, उन्हें व्युत्पत्ति (निपुणता) और प्रीति ये दोनों फल प्राप्त होते हैं, उनमें भी प्रधानता प्रीति को ही है। क्योंकि व्युत्पत्ति तो इतिहास आदि के पढ़ने से भी प्राप्त हो जाती है। उपदेश तीन प्रकार के माने गये हैं—प्रभुसम्मित, मित्रसम्मित और जाया सम्मित। वेद प्रभुसम्मित उपदेश करता है, अर्थात् वेद जो आज्ञा कर दे उसमें तर्क करने का अवसर ही नहीं रहता जैसे कि स्वामी की आज्ञा में। इतिहास आदि मित्रसम्मित उपदेश करते हैं, अर्थात् मित्र की भाँति अच्छे बुरे को स्पष्टरूप से निर्देश कर देते हैं और स्वयं निर्णय कर लेने के लिए छोड़ देते हैं। किन्तु इन सब में विलक्षण काव्य जायासम्मित उपदेशक है, उसकी विशेषता यह है कि उसके उपदेश में व्युत्पत्ति के साथ प्राधान्य रूप से आनन्द भी रहता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति का भी पार्यन्तिक फल प्रीति या आनन्द ही है।

साथ ही आचार्य ने ग्रन्थकार का उद्देश्य भी 'आनन्द' इस नाम के प्रकटीकरण से प्रकट कर दिया। यहाँ ग्रन्थकार का उद्देश्य है कि वह सहृदयजनों के हृदयों में उस प्रकार प्रतिष्ठा या बहुमान लाभ करे जो किसी देवता के मन्दिर में देवता को प्राप्त होती है। मन्दिर में प्रतिष्ठा तो शाश्वत नहीं होती किन्तु मन में प्रतिष्ठा निश्चय ही शाश्वत होती है। इसप्रकार जब वह (ग्रन्थकार) सहृदयजनों के मन में प्रतिष्ठित रहेगा तो उसके इस सम्भावनाप्रत्यय अर्थात् बहुमान के प्रति विश्वास करके श्रोतृवर्ग अवश्य उसके नाम से प्रवृत्त होगा। इसी उद्देश्य से आचार्य ने प्रस्तुत ग्रंथ के अन्त में भी अपना नाम स्थापित किया है। प्रायः ऐसा होता है कि लोग परम्परा से जिस आचार्य के गौरव सुने होते हैं उसी के प्रति उसके नाम से आकृष्ट होकर उसके ग्रन्थ का श्रवण

ध्वन्यालोकः

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ २ ॥

अब लक्षित करने के लिए आरम्भ किए गए ध्वनि की ही भूमिका रचने के लिए यह कहते हैं—

'सहृदय जनों के द्वारा प्रशंसनीय जो अर्थ 'काव्य की आत्मा' के रूप में व्यवस्थित है उसके वाच्य और प्रतीयमान नाम के दो भेद माने गए हैं ॥ २ ॥

लोचनम्

करोति–*तत्रेति* । एवंविधेऽभिधेये प्रयोजने च स्थित इत्यर्थः । भूमिरिव *भूमिका* । यथा अपूर्वनिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिर्विरच्यते, तथा ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये निर्विवादसिद्धवाच्याभिधानं भूमिः । तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात् । वाच्येन समशीर्षिकया गणनं तस्याप्यनपह्नवनीयत्वं प्रतिपादयितुम् । *स्मृतावित्यनेन* 'यः समाम्नातपूर्व' इति द्रढयति । 'शब्दार्थशरीरं काव्यमि'ति यदुक्तं, तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मना तदनुप्राणकेन भाव्यमेव । तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव सन्निविशते सर्वजनसंवेद्यधर्मत्वात्स्थूलकृशादिवत् । अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति । न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात् । तदाह–*सहृदय*-

करके सङ्गति करने के लिए अवतरणिका देते हैं—अब—। अर्थात् इस प्रकार के अभिधेय और प्रयोजन के स्थित होने पर । भूमि के समान = भूमिका। जैसे अपूर्व (वस्तु) का निर्माण करना चाहें तो पहले भूमि बना ली जाती है, वैसे प्रतीयमान नायक ध्वनि-स्वरूप का निरूपण करिष्यमाण होने पर, उसके लिए निर्विवाद सिद्ध वाच्य का कथन यहां भूमि है, क्योंकि उस (वाच्य) की पीठ पर अधिक प्रतीयमान का उल्लेखन होगा । वाच्य के साथ बराबरी के सिरे से गणन का उद्देश्य है उसके अनपह्नवनीयत्व का प्रतिपादन । (कारिका में) 'स्मृतौ' इससे 'पहले कहे गए हैं' (यः समाम्नात-पूर्वः) इसे दृढ़ करते हैं। जैसा कि कहा है 'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं'; उसके अनुसार शरीर ग्रहण से ही उसे अनुप्राणित करने वाले किसी आत्मा को होना ही चाहिए । ऐसी स्थिति में, शब्द तो शरीर के भाग में ही सन्निवेश प्राप्त करता है क्योंकि (वह) स्थूल और कृश आदि (शरीर) की भाँति सभी लोगों द्वारा संवेद्य है । अर्थ सभी लोगों द्वारा संवेद्य नहीं होता । न कि अर्थ मात्र से काव्य का व्यपदेश (व्यवहार) होता है, क्योंकि लौकिक और वैदिक वाक्यों में वह (काव्य का व्यपदेश) नही होता । इस लिए कहते हैं—सहृदय जनों द्वारा प्रशंसनीय— । वह एक ही अर्थ

करते हैं । इसीलिए ग्रन्थकार अपना नाम दिया करते हैं । इस प्रकार ग्रन्थकार, कवि और श्रोता का मुख्य प्रयोजन आनन्द कहा गया ।

लोचनम्

श्लाघ्य इति। स एक एवार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्ध्या विभज्यते।

तथाहि—तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदयाः श्लाघन्ते। तद्भवितव्यं तत्र केनचिद्विशेषेण। यो विशेषः, स प्रतीयमानभागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते। वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे। अत एव *अर्थ* इत्येकतयोपक्रम्य *सहृदयश्लाघ्य* इति विशेषणद्वारा हेतुमभिधायापोद्धारदृशा *तस्य द्वौ भेदावंशावि*त्युक्तम्, न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति।

दो शाखाओं (अंशों) वाला होने के कारण विवेचनशील लोगों द्वारा विभाग-बुद्धि से विभाजित किया जाता[1] है।

जैसा कि—दोनों का अर्थरूप होना समान है तब क्यों किसी एक के लिए सहृदय जन प्रशंसा करते हैं ? अतः, वहाँ किसी विशेष को होना चाहिए। जो विशेष है वह प्रतीयमान भाग, विशेष होने के कारण विवेकी लोगों द्वारा आत्मा के रूप में व्यवस्थापित किया जाता है। वाच्य अर्थ की संवलना (वासना) से विमोहित हृदय वाले लोग उस (प्रतीयमान) के अलग होने में विप्रतिपत्ति करते हैं, जिस प्रकार चार्वाक लोग आत्मा को (शरीर से) अलग मानने में। अत एव 'अर्थः' इस एकवचन के रूप से उपक्रम करके 'सहृदयश्लाघ्य' (सहृदय जनों द्वारा प्रशंसनीय) इस विशेषण द्वारा हेतु कहकर विभाग (अपोद्धार) की दृष्टि से उसके दो भेद अर्थात् अंश हैं, यह कहा है; न कि काव्य के दोनों ही अर्थ आत्मा हैं।

---

१. प्रस्तुत 'कारिका' साधारण विचार वालों को भ्रम में डाल देने वाली है। कुछ लोग भ्रम में पड़ कर समझ जाते हैं कि आचार्य ने यहाँ 'ध्वनि' का ही भेद करना आरम्भ कर दिया है, फिर यह सोच कर और भी परेशानी होती है कि ध्वनि का भेद है तो 'वाच्य' अर्थ ध्वनि के भेद के अन्तर्गत कैसे आ सकता है ? इस भ्रम का निवारण 'लोचन' में बड़ी योग्यता से किया गया है। लोचनकार का कहना है कि यहाँ ग्रन्थकार अपने साध्य प्रतीयमान अर्थ को निर्विवाद सिद्ध वाच्य अर्थ की सामान्य कोटि में लाकर प्रतीयमान का भी वाच्य अर्थ की भाँति 'अनपह्नवनीयत्व' (प्रतिषेधनीयत्व) प्रतिपादन करना चाहते हैं। शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना गया है, ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि उस काव्य-शरीर का कोई आत्मा भी हो। शब्द और अर्थ में अर्थ की अपेक्षा शब्द अधिक स्थूल होता है, इसलिए साधारण लोग भी उसे जान लेते हैं किन्तु अर्थ को साधारण लोग नहीं समझ पाते। किन्तु केवल अर्थ के आधार पर कभी किसी रचना को 'काव्य' नहीं कहा गया है इसलिए अपेक्षित है कि वह अर्थ 'सहृदयजनों के द्वारा प्रशंसा के योग्य' हो--सहृदयश्लाघ्य हो। इस प्रकार सामान्य अर्थ और सहृदयश्लाघ्य अर्थ का भेद हर विचारशील व्यक्ति समझ सकता है। इसीलिए आचार्य ने एक ही अर्थ को दो भागों में विभक्त किया। किन्तु अर्थ की दृष्टि से वाच्य और प्रतीयमान दोनों एक होने पर भी जहाँ तक सहृदयश्लाघ्यत्व की बात है उसके अनुसार काव्य की आत्मा प्रतीयमान अर्थ ही होगा, वाच्य अर्थ नहीं। कुछ लोग अवश्य यह विप्रतिपत्ति खड़ी कर सकते हैं कि प्रतीयमान अर्थ ही क्यों, वाच्य अर्थ भी सहृदयश्लाघ्य हो सकता है ? जिस प्रकार चार्वाकों ने शरीर को लेकर ही पृथक् आत्मा स्वीकार करने का वाद

ध्वन्यालोकः

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ।

ललित और उचित सन्निवेश के कारण चारु काव्य का, शरीर की आत्मा की भाँति, सार रूप में स्थित होकर सहृदय जनों द्वारा प्रशंसा के योग्य जो अर्थ है, उसके वाच्य और प्रतीयमान, ये दो भेद हैं।

लोचनम्

कारिकाभागगतं काव्यशब्दं व्याकर्तुमाह—*काव्यस्य हीति*। *ललितशब्देन* गुणालङ्कारानुग्रहमाह। *उचितशब्देन* रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्ष्यैदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यत इति भावः। *योऽर्थ* इति यदानुवदन् परेणाप्येतत्तावदभ्युपगतमिति दर्शयति। *तस्येत्यादिना* तदभ्युपगम एव द्व्यंशत्वे सत्युपपद्यत इति दर्शयति। तेन यदुक्तम्–'चारुत्वहेतुत्वाद् गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो न ध्वनिः' इति, तत्र ध्वनेरात्मस्वरूपत्वाद्धेतुरसिद्ध इति दर्शितम्। न ह्यात्मा चारुत्वहेतुर्देहस्येति

कारिका-भाग में आए हुए 'काव्य' शब्द को व्याकृत करने के लिए कहते हैं—काव्य का—। 'ललित' शब्द से गुण और अलङ्कार का अनुग्रह (सहायकत्व) कहा है। 'उचित'[1] शब्द से रसविषयक ही औचित्य होता है यह दिखाते हुए रसध्वनि का जीवितत्व सूचित करते हैं। भाव यह कि उस (रस) के अभाव में किस अपेक्षा से इस औचित्य को सब जगह उद्घोषित करते हैं? 'योऽर्थः' यह 'यत्' शब्द द्वारा अनुवाद करते हुए यह दिखाते हैं कि दूसरे ने भी इसे माना है। 'तस्य' इत्यादि द्वारा उसका स्वीकार (अभ्युपगम) ही दो अंशों के होने पर उपपन्न हो सकता है, यह दिखाते हैं। उस कारण जो कि कहा है—'चारुत्व के हेतु होने के कारण ध्वनि, गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त (पृथक्) नहीं है'; वहाँ यह दिखा दिया कि 'ध्वनि' के आत्मस्वरूप होने के कारण हेतु असिद्ध है। आत्मा शरीर के चारुत्व का

खड़ा किया था। इस प्रकार प्रस्तुत कारिका में आचार्य ने 'अर्थ' के रूप में उपक्रम करके 'सहृदयश्लाघ्य' इस विशेषण 'विभाग' की दृष्टि से उस अर्थ के दो भेद बताये हैं न कि यह कहा है कि काव्य के दो आत्मा हैं।

१. यह 'काव्यलक्ष्मविधायिभिः' इस वृत्तिभाग का अनुवाद है। कुछ संस्करणों में इसे कारिकाभाग ही मानकर छापा है किन्तु 'लोचन' के अनुसार यह वृत्तिभाग है और 'ततो नेह प्रतन्यते' यह कारिका भाग।

ललित और उचित सन्निवेश से चारु काव्य—काव्य में ललित सन्निवेश की सिद्धि गुण और अलङ्कार के अनुग्रह से सम्भव होती है और उचित सन्निवेश तब बनता है जब 'रस' की स्थिति अनुकूल होती है। इसी से [illegible] होता है कि रसध्वनि आत्मा है, क्योंकि रस का औचित्य रस के

ध्वन्यालोकः

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।

बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः—

काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।

—ततो नेह प्रतन्यते ॥ ३ ॥

केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगमिति ॥ ३ ॥

अब जो वाच्य अर्थ उपमा आदि के प्रकारों से प्रसिद्ध है उसे अन्य लोगों ने बहुधा व्याख्यान किया है ।

काव्य के लक्षणकारों ने ।

उसकारण से यहाँ विस्तार नहीं करते हैं ॥ ३ ॥

केवल फिर उपयोग के अनुसार अनूदित करेंगे ॥ ३ ॥

लोचनम्

भवति । अथाप्येवं स्यात्तथापि वाच्येऽनैकान्तिको हेतुः । न ह्यलङ्कार्य एवालङ्कारः, गुणी एव गुणः । एतदर्थमपि वाच्यांशोपक्षेपः । अत एव वक्ष्यति—'वाच्यः प्रसिद्धः' इति ॥ २ ॥

तत्रेति । द्व्यंशत्वे सत्यपीत्यर्थः । *प्रसिद्ध इति* । वनितावदनोद्यानेन्दूदयादिर्लौकिक एवेत्यर्थः । 'उपमादिभिः प्रकारैः स व्याकृतो बहुधे'ति सङ्गतिः । *अन्यैरिति* कारिकाभागं *काव्येत्यादिना* व्याचष्टे । 'ततो नेह प्रतन्यत' इति विशेषप्रतिषेधेन शेषाभ्यनुज्ञेति दर्शयति—*केवलमित्यादिना* ॥ ३ ॥

हेतु नहीं होता है । अगर ऐसा हो भी जाता है तथापि वाच्य में हेतु 'व्यभिचारी (अनैकान्तिक) है, क्योंकि अलङ्कार्य ही अलङ्कार नहीं होता । गुणी ही गुण नहीं होता । इस लिए भी वाच्य-अंश का त्याग है । अत एव कहेंगे—, वाच्य अर्थ प्रसिद्ध है' ॥ २ ॥

अब— । अर्थात् दो अंशों वाला होने पर भी । **प्रसिद्ध—** । अर्थात् वनिता का मुख, उद्यान, चन्द्रोदय आदि लौकिक ही । 'उपमादि प्रकारों से वह बहुत प्रकार व्याकृत है' यह सङ्गति है । 'अन्य' इस कारिका-भाग की 'काव्य०' इत्यादि द्वारा व्याख्या करते हैं । 'उस कारण उसका यहाँ विस्तार नहीं करते हैं' इस प्रकार विशेष के प्रतिषेध द्वारा शेष की अभ्यनुज्ञा (अनुवाद) है, यह दिखाते हैं—केवल० इत्यादि ॥ ३ ॥

प्राधान्य में ही बन सकता है, अन्यथा जो ध्वनि नहीं स्वीकार करते हैं किसकी अपेक्षा करके औचित्य का उद्घोष करेंगे ? उनके यहाँ तो रस ही नहीं है ।

१. यहाँ भी वही प्रश्न है कि जब कारिका में वाच्य और प्रतीयमान दोनों एक अर्थ के भेद हैं फिर यह क्या कि वाच्य को काव्य की आत्मा की सीमा से बाहर कर देते हैं ? इसका समाधान पहले दिया जा चुका है, यहाँ केवल यह कहना है कि जो पहले अभाववाद के प्रसंग में चारुत्व का हेतु

ध्वन्यालोकः

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥४॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद्वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत्तत्सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वाऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु । यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ्निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः ।

महाकवियों के वचनों में प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है, जो वह प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त रूप में स्त्रियों में लावण्य की भाँति विशेष भासित होता है ॥४॥

प्रतीयमान (अर्थ) महाकवियों के वचनों में पुनः कोई अन्य ही वस्तु है। सहृदय जनों में सुप्रसिद्ध जो वह प्रसिद्ध अर्थात् अलङ्कृत अथवा प्रतीत अवयवों से सर्वथा अतिरिक्त रूप में स्त्रियों में लावण्य की भाँति प्रकाशित है। जैसे स्त्रियों में लावण्य पृथक् होकर दिखाई देता हुआ, सारे अङ्गों से व्यतिरेक (पार्थक्य) रखने वाला, कोई दूसरा ही सहृदय जनों की आँखों का अमृत, एक तत्त्व है उसी प्रकार वह (प्रतीयमान) अर्थ है।

लोचनम्

अन्यदेव वस्त्विति । पुनःशब्दो वाच्याद्विशेषद्योतकः । तद्व्यतिरिक्तं सारभूतं चेत्यर्थः । महाकवीनामिति बहुवचनमशेषविषयव्यापकत्वमाह । एतदभिधास्य-

दूसरी ही वस्तु— । 'पुनः' शब्द वाच्य से विशेष का द्योतक है, अर्थात् (प्रतीयमान अर्थ) उस (वाच्य) से व्यतिरिक्त और सारभूत है। 'महाकवियों की' यहां [illegible] सारे विषयों में (प्रतीयमान का) व्यापकत्व बताता है। भाव यह कि जिसकी चर्चा

होने के कारण ध्वनि गुण और अलङ्कार से अतिरिक्त नहीं है। यह बात तो ध्वनि के आत्मा सिद्ध होते ही स्वयं खण्डित हो गई, क्योंकि आत्मा कभी शरीर का चारुत्वहेतु नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार मान भी लिया जाय तो भी यहाँ वाच्य अंश को तो छोड़ना पड़ेगा, क्योंकि शरीरभूत वाच्य अर्थ अलङ्कार्य एवं गुणी होने से स्वयं किसी प्रकार अलंकार और गुण की कोटि में नहीं लाया जा सकता, अर्थात् वाच्य के अंश में चारुत्वहेतु रूप हेतु अनैकान्तिक (अर्थात् व्यभिचारी) हो जाता है, कहने का मतलब यह कि वाच्य को चारुत्व का हेतु बना कर गुण अथवा अलङ्कार के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता, क्योंकि वह स्वयं अलङ्कार्य एवं गुणी है। न्याय शास्त्र के अनुसार हेतु व्यभिचारी तभी होता है जब वह वहाँ भी चला जाय जहाँ साध्य का अभाव है, प्रस्तुत में वाच्य गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त है, किन्तु हेतु चारुत्वहेतुत्व प्रतीयमान के साथ सम्बद्ध होने के कारण वाच्य में भी प्राप्त है। कहने का तात्पर्य यह कि किसी प्रकार वाच्य को प्रतीयमान के समकोटिक नहीं बनाया जा सकता।

लोचनम्

मानप्रतीयमानानुप्राणितकाव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभाभाजनत्वेनैव महाकविव्यपदेशो भवतीति भावः। यदेवंविधमस्ति तद्भाति। न ह्यत्यन्तासतो भानमुपपन्नम्; रजताद्यपि नात्यन्तमसद्भाति। अनेन सत्त्वप्रयुक्तं तावद्भानमिति भानात्सत्त्वमवगम्यते। तेन यद्भाति तदस्ति तथेत्युक्तं भवति। तेनायं प्रयोगार्थः—प्रसिद्धं वाच्यं धर्मि, प्रतीयमानेन व्यतिरिक्तेन तद्वत्, तथा भासमानत्वात् लावण्योपेताङ्गनाङ्गवत्। प्रसिद्धशब्दस्य सर्वप्रतीतत्वमलङ्कृ-

आगे की जायगी उस प्रतीयमान अर्थ से अनुप्राणित काव्य के निर्माण में निपुण प्रतिभा का भाजन होने के कारण ही 'महाकवि' यह व्यपदेश (नाम) होता है। जिस कारण वह (प्रतीयमान) अर्थ इस प्रकार का (व्यतिरिक्त एवं सारभूत) है उस कारण प्रकाशित होता है। क्योंकि जो बिलकुल असत् है उसका भान उपपन्न नहीं, रजत आदि भी अत्यन्त असत् होकर भासित नहीं होता। इस कारण भान वस्तु के अस्तित्व से प्रत्युक्त होता है। इस प्रकार भान से (प्रतीयमान) का सत्त्व (अस्तित्व) अवगत होता है। इससे यह कहा गया कि जो प्रकाशित होता है वह उस प्रकार है। इसलिए यह प्रयोग रूप अर्थ हुआ—प्रसिद्ध जो वाच्य धर्मी है वह अपने से व्यतिरिक्त प्रतीयमान से युक्त है, क्योंकि वह उस प्रकार भासित होता है, जैसे लावण्य से युक्त अङ्गना का अङ्ग। 'प्रसिद्ध' शब्द का अर्थ 'सबको प्रतीत होना' तथा 'अलंकृत होना' है। जो[1] वह—। यह दो

---

१. प्रस्तुत में आचार्य के सामने प्रतीयमान को 'सत्' सिद्ध करना है। जब कि आचार्य ने उसे 'सत्' सिद्ध करने के लिए उसका 'भान' होना ही प्रमाण बताया तब उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि वह प्रतीयमान, जिसका 'भान' हो रहा है, क्या कोई अपने अस्तित्व की पुष्टि में कोई अपना दृष्टान्त भी रखता है? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य ने कामिनियों के अङ्ग के लावण्य को प्रतीयमान का दृष्टान्त बनाया उनका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लावण्य कामिनी के अङ्ग से अपृथग्भूत रहते हुए भी उससे भिन्न और कुछ विशेष चमत्कार की वस्तु सा प्रतीत होता है वही स्थिति यहाँ प्रतीयमान अर्थ की है, जो महाकवियों की वाणियों में वाच्य से कुछ अतिरिक्त ही भासित होता है। 'लावण्य' को केवल देख कर समझा जा सकता है, उसे व्यक्त करने के लिए किसी शब्द में सामर्थ्य नहीं, इसी लिए आचार्य ने उसके लिए दो सर्वनाम 'यत्-तत्' ('जो-वह') का प्रयोग किया और वृत्ति ग्रन्थ में 'किमपि' ('कुछ') के द्वारा उसकी व्याख्या की। इससे आचार्य को दो बातें लोचनकार के अनुसार अभिप्रेत है। एक तो यह कि जिस प्रकार लावण्य शब्द के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता, अर्थात् उसका व्यपदेश नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार प्रतीयमान भी वस्तुतः अव्यपदेश्य तत्त्व है (यह ध्यान रखना चाहिए कि यह बात 'रसध्वनि' के अभिप्राय से कही गयी है)। दूसरे, आचार्य यह निर्देश करना चाहते हैं कि जिस प्रकार अङ्गना के अङ्ग और लावण्य में लोगों को सामान्यतः अव्यतिरेक या अभेद का भ्रम हो जाता है उसी प्रकार वाच्य और प्रतीयमान में भी लोग भेदबुद्धि खो बैठते हैं और दोनों को एक ही समझने लगते हैं। इन दोनों बातों में प्रतीयमान को 'अव्यपदेश्य' निर्दिष्ट करने का लाभ यह है कि प्रतीयमान अर्थ लावण्य की भाँति ही एक चमत्कार सार तत्त्व है, बस उसे अनुभव ही किया जा सकता है।

लोचनम्

तत्त्वं चार्थः। यत्तदिति सर्वनामसमुदायश्चमत्कारसारताप्रकटीकरणार्थमव्यपदेश्यत्वमन्योन्यसंवलनाकृतं चाव्यतिरेकभ्रमं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दर्शयति। एतच्च *किमपीत्यादिना* व्याचष्टे। लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यङ्ग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। न चावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणयोगो वा लावण्यम्, पृथङ्निर्वर्ण्यमानकाणादिदोषशून्यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलङ्कृतायामपि लावण्यशून्येयमिति, अतथाभूतायामपि कस्याञ्चिल्लावण्यामृतचन्द्रिकेयमिति सहृदयानां व्यवहारात्।

ननु लावण्यं तावद् व्यतिरिक्तं प्रथितम्। प्रतीयमानं किं तदित्येव न जानीमः, दूरे तु व्यतिरेकप्रथेति। तथा भासमानत्वमसिद्धो हेतुरित्याशङ्क्य *स ह्यर्थ* इत्यादिना स्वरूपं तस्याभिधत्ते। *सर्वेषु चेत्यादिना* च व्यतिरेकप्रथां

सर्वनामों का (प्रतीयमान अर्थ का) चमत्कार का सार होना प्रकट करने के लिए व्यपदेश (नामकरण) की अशक्यता एवं परस्पर मिश्रण से उत्पन्न (वाच्य और व्यङ्ग्य तथा अङ्गना का अङ्ग और लावण्य) दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में अव्यतिरेक (अभेद) का भ्रम दिखाता है। और इसे 'कुछ' इत्यादि द्वारा व्याख्यान करते हैं। 'लावण्य'[1] तो वह धर्म-विशेष ही है जो अवयवों के संघटन (संस्थान) से अभिव्यक्त होकर अवयवों से व्यतिरिक्त (पृथक्) रहता है। अवयवों की निर्दोषता ही अथवा उनका भूषणों से संयोग 'लावण्य' नहीं है, क्योंकि जो पृथक् दिखाई देते हुए काणत्व आदि दोषों से शून्य स्त्री में सहृदय लोगों का व्यवहार 'यह लावण्यशून्य है' यह होता है और जो उस प्रकार की नहीं है उस किसी स्त्री में (उनका यह व्यवहार होता है कि) यह लावण्यरूपी अमृत की चन्द्रिका है।

लावण्य तो (अङ्गों से) व्यतिरिक्त रूप में प्रसिद्ध है, (किन्तु) वह प्रतीयमान क्या है, यही नहीं जानते, व्यतिरेक (भेद) की स्थिति तो दूर रहे! उस प्रकार भासमानत्व रूप हेतु असिद्ध[2] है, यह आशङ्का करके **'वह अर्थ'** इत्यादि द्वारा उस (प्रतीयमान) अर्थ का स्वरूप कहते हैं। **'और सब उनके प्रकारों में'** इत्यादि द्वारा

१. 'लावण्य' के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध श्लोक यहाँ स्मरणीय है—

मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

अर्थात् मुक्ताओं में जो छाया की तरलता की भाँति अङ्गों में कुछ झलकता या दिपता हुआ मालूम पड़ता है वह 'लावण्य' कहलाता है।

२. ऊपर प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिए 'भासमानत्व' को 'हेतु' दिया गया है, अर्थात् प्रतीयमान अर्थ इसलिए है क्योंकि वह भासित होता है, किन्तु हम यदि यहाँ यह कहें कि यह हेतु 'असिद्ध' है, अर्थात् प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि इससे नहीं होगी ऐसी स्थिति में क्या समाधान है? न्याय-शास्त्र में 'हेतु' के पाँच दोष बताये गये हैं जिनमें 'असिद्धि' भी एक दोष है। पाँच दोषों में किसी एक की भी हेतु में शङ्का मात्र के हो जाने पर उस 'हेतु' से साध्य का निर्णय नहीं किया जा सकता।

लोचनम्

साधयिष्यति । तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिकः, काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति । लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते, स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते । सोऽपि द्विविधः—यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलङ्कारभावमुपमादिरूपतयान्वभूत्, इदानीं त्वनलङ्काररूप एवान्यत्र गुणीभावाभावात्, स पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलंकारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन । तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते । मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम् । यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः, किं तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः, स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति ।

व्यतिरेक की स्थिति को सिद्ध करेंगे। प्रतीयमान के दो भेद हैं—लौकिक और काव्यव्यापारैकगोचर। लौकिक वह है जो कभी स्वशब्दवाच्य होने की स्थिति को प्राप्त करता है; वह विधि-निषेध आदि अनेक प्रकार का होता और 'वस्तु' शब्द से कहा जाता है। वह भी दो प्रकार का है—जो पहले (वाच्य की अवस्था में) किसी वाक्यार्थ में उपमादिरूप से अलङ्कारभाव को प्राप्त हुआ; इस समय (व्यङ्ग्य होने की अवस्था में) अलङ्काररूप नहीं ही है, क्योंकि अन्यत्र (वाक्यार्थ में) जो उसका गुणीभाव हो जाता था वह नहीं होता। वह पूर्व प्रत्यभिज्ञान (पूर्व ज्ञात का पुनः ज्ञान) के बल से 'अलङ्कारध्वनि' के नाम से 'ब्राह्मणश्रमणन्याय'[1] के अनुसार व्यपदिष्ट होता है। उस रूप के (अलङ्काररूप के) अभाव से उपलक्षित वह 'वस्तुमात्र' कहा जाता है। ('वस्तु' के साथ) 'मात्र' को ग्रहण करके दूसरे (अलङ्कार) रूप का निराकरण किया है। जो स्वप्न में भी स्वशब्द से वाच्य नहीं होता और लौकिक के अन्तर्गत नहीं आता। किन्तु शब्दों द्वारा समर्प्यमाण और सहृदयों के हृदय से संवाद (संगति) रखने के कारण सुन्दर विभाव-अनुभाव उनकी समुचित एवं पहले से (आत्मा में विशेषरूप से) रहनेवाली रत्यादि वासनाओं के अनुराग (उद्बोध) के द्वारा सुकुमार एवं सहृदय की संवित् (मन) का, आनन्दमय चर्वणारूप व्यापार के

१. ब्राह्मणश्रमणन्याय—ब्राह्मण जाति का कोई व्यक्ति जब श्रमण अर्थात् बौद्ध भिक्षु बन जाता है तब वह 'ब्राह्मण' नहीं रह जाता, फिर भी पूर्वज्ञान (प्रत्यभिज्ञान) के बल से उसे 'ब्राह्मण' कहते हैं। यही प्रस्तुत न्याय का अभिप्राय है। प्रस्तुत में 'अलङ्कारध्वनि' इस व्यपदेश को लेकर प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि जब प्रतीयमान उपमादिरूप से पहले कहीं वाच्य होकर भी अब वही चमत्कारी होने के कारण वाच्य की अपेक्षा प्रधान हो जाता है ऐसी स्थिति में वह किसी का अलङ्कार न होकर स्वयं अलङ्कार्य की स्थिति में पहुँच जाता है, फिर उसे 'अलङ्कारध्वनि' के नाम से क्यों व्यपदिष्ट किया जाता है ? प्रस्तुत 'ब्राह्मणश्रमण' न्याय इसी प्रश्न का समाधान है। कहने का तात्पर्य यह कि वह प्रधानभूत अलङ्कार्य ही यहाँ पूर्वप्रत्यभिज्ञान के बल से 'अलङ्कार' कहा गया है।

ध्वन्यालोकः

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलंकाररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्। तथा ह्याद्यस्तावत्प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान्। स हि कदाचिद्वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः। यथा—

वह अर्थ वाच्य के सामर्थ्य से वस्तुमात्र, अलङ्कार और रस आदि के, आक्षिप्त होकर अनेक प्रभेदों से प्रभिन्न रूप में दिखाया जायगा। और समस्त उन प्रकारों में वह वाच्य से अतिरिक्त है। जैसा कि पहला प्रभेद वाच्य से बहुत दूर तक का भेद रखने वाला है। क्योंकि वह कभी वाच्य अर्थ के विधि रूप होने पर प्रतिषेध रूप होता है। जैसे—

लोचनम्

यदूचे भट्टनायकेन—'अंशत्वं न रूपता' इति, तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्योरेव यदि नामोपलम्भः, रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाङ्गीकृतः, रसचर्वणात्मनस्तृतीयस्यांशस्याभिधाभावनांशद्वयोत्तीर्णत्वेन निर्णयात्, वस्त्वलङ्कारध्वन्यो रसध्वनिपर्यन्तत्वमेवेति वयमेव वक्ष्यामस्तत्र तत्रेत्यास्तां तावत्। *वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तमिति*

द्वारा रसन (आस्वादन) के योग्य रस[1] है। काव्य के व्यापार का एकमात्र गोचर 'रसध्वनि' है और वह ध्वनि ही (ध्वनिमात्र) है, वही मुख्यरूप से आत्मा है।

जो कि भट्टनायक ने कहा है—'अंशत्व है रूपता[2] नहीं' यदि वह वस्तुध्वनि और

१. 'आगे 'रस' का विशद रूप से सैद्धान्तिक विवेचन होगा, किन्तु प्रस्तुत 'रसध्वनि' के प्रसंग में 'रस' का सामान्य रूप आचार्य अभिनवगुप्त ने एक ही 'समास' में व्यक्त कर दिया है। यहाँ प्रयुक्त 'शब्दसमर्प्यमाण', 'हृदयसंवाद', 'सुन्दर', 'विभावानुभावसमुचित', 'प्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुराग', 'सुकुमार', 'स्वसंविदानन्द', 'चर्वणाव्यापार' ये शब्द 'रससिद्धान्त' की विशेष परिभाषा के अनुकूल हैं। जैसा कि आचार्य भरतमुनि का प्रसिद्ध 'रससूत्र' है—'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः', इसकी लोचनकार-सम्मत व्याख्या के अनुसार सहृदय के हृदय में जन्म-जन्मान्तर की वासना या संस्कार रूप से रति आदि स्थायी भाव विद्यमान होते हैं, काव्य के शब्दों से विभाव-अनुभाव को ग्रहण करके सहृदय अपने हृदय के साथ उनका संवाद कर लेता है, इस प्रकार सहृदय के रत्यादि और काव्य के द्वारा अर्पित विभावानुभाव आदि से सहृदय के सुकुमार आनन्दमय चित्त का उद्बोध होता है, इसे ही शास्त्रीय परिभाषा में चर्वणारूप व्यापार कहते हैं, इस स्थिति में पहुँचते ही सहृदय जो एक प्रकार का विशेष आस्वादन अनुभव करता है वही 'रस' कहलाता है। 'रस' की स्थिति में स्वशब्दवाच्यता का जरा भी सम्पर्क नहीं होता, इसलिए इसे सर्वथा अलौकिक ही कहते हैं, दूसरे यह 'ध्वनि' ही है, इसमें न तो वस्तु है और न अलंकार। अतः 'रसध्वनि' को ही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा का व्यवहार है, अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि में आत्मव्यवहार औपचारिक है।

२. भट्टनायक का यह पूरा श्लोक पहले 'लोचन' में आ चुका है—

ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्येंऽशत्वं न रूपता॥

ध्वन्यालोकः

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥

'बाबा जी, तुम इतमीनान से घूमो। वह कुत्ता गोदावरी नदी के लता गहन में रहने वाले पागल शेर द्वारा आज मार डाला गया।'

लोचनम्

भेदत्रयव्यापकं सामान्यलक्षणम्। यद्यपि हि ध्वननं शब्दस्यैव व्यापारः, तथाप्यर्थसामर्थ्यस्य सहकारिणः सर्वत्रानपायाद्वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्वम्। शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यङ्ग्येऽप्यर्थसामर्थ्यादेव प्रतीयमानावगतिः, शब्दशक्तिः केवलमवान्तरसहकारिणीति वक्ष्यामः। दूरं *विभेदवानिति*। विधिनिषेधौ विरुद्धाविति न कस्यचिदपि विमतिः। एतदर्थं प्रथमं तावेवोदाहरति—

'भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन॥'

कस्याश्चित्सङ्केतस्थानं जीवितसर्वस्वायमानं धार्मिकसञ्चरणान्तरायदोषा-

अलङ्कारध्वनि का ही सम्भवतः उपालम्भ है तो (ऐसी स्थिति में) उन्होंने ही 'रसध्वनि' को आत्मा के रूप में स्वीकार कर लिया, क्योंकि उनका निर्णय है कि रस-चर्वणारूप तीसरा अंश अभिधा और भावनारूप दो अंशों से अतिरिक्त (उत्तीर्ण) है। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि का रसध्वनि में ही पर्यवसान है यह हम ही उन-उन स्थलों में कहेंगे, बस। 'वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त' यह (वस्तु, अलङ्कार और रस) इन तीनों भेदों में व्याप्त रहनेवाला सामान्य लक्षण[1] है। यद्यपि ध्वनन शब्द का ही व्यापार है, तथापि सहकारी अर्थसामर्थ्य के सब जगह विद्यमान होने से वाच्य-सामर्थ्याक्षिप्तत्व है। शब्दशक्तिमूल अनुरणनव्यङ्ग्य में भी अर्थ की सामर्थ्य से ही प्रतीयमान का ज्ञान होता है, शब्दशक्ति केवल अवान्तर सहकारिणी होती है, यह कहेंगे। 'बहुत दूर तक भेद रखनेवाला–'। विधि और निषेध के परस्पर विरोध में किसी की विमति नहीं है। एतदर्थ पहले उन्हें ही उदाहृत करते हैं—

'बाबा जी, तुम इतमीनान से घूमो। वह कुत्ता गोदावरी नदी के लतागहन में रहनेवाले पागल शेर द्वारा आज मार डाला गया।'

प्राणों के सर्वस्व अपने सङ्केत स्थान की, धार्मिक (बाबाजी) के संचाररूप विघ्न के

अर्थात् ध्वनि नाम का जो अन्य व्यञ्जना रूप व्यापार है उसका (वाच्य से) भेद सिद्ध होने पर भी काव्य में अंशत्व होगा रूपता या अंशित्व (आत्मत्व) नहीं।

१. लोचनकार का तात्पर्य यह है कि यहाँ ग्रन्थ में 'वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त' को नपुंसक विशेषण समझ कर कोई भ्रम से केवल इसे 'वस्तुमात्र' में अन्वित न करने लग जाय, बल्कि यह वस्तु, अलङ्कार और रसादि इन तीनों में अनुगत सामान्य रूप है। लिङ्ग और वचन का विपरिणाम करके सबके साथ इसका अन्वय बैठा लेना चाहिए।

लोचनम्

त्तदवलुप्यमानपल्लवकुसुमादिविच्छायीकरणाच्च परित्रातुमियमुक्तिः। तत्र स्वतःसिद्धमपि भ्रमणं श्वभयेनापोदितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधाभावरूपः, न तु नियोगः प्रैषादिरूपोऽत्र विधिः; अतिसर्गप्राप्तकालयोर्ह्ययं लोट्। तत्र भावतदभावयोर्विरोधाद् द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापाराभावात्। 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादिनाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात्।

दोष एवं उसके तोड़े जाते हुए फूल-पत्तों से छायाहीन कर देने के कार्य से, रक्षा के निमित्त किसी स्त्री की यह उक्ति है। वहाँ, बाबाजी का स्वतःसिद्ध भी भ्रमण कुत्ते के भय से प्रतिषिद्ध होने से यहाँ विधि प्रतिप्रसवरूप[1], अर्थात् निषेधाभावरूप है, न कि प्रैषादिरूप नियोग है। ('भ्रम' पद का) जो यह 'लोट्' लकार है वह अतिसर्ग और प्राप्तकाल के अर्थ में हुआ है। भाव और अभाव में विरोध होने से दोनों की युगपत्[2] (एक समय में) वाच्यता नहीं है। एवं क्रम से (भी) नहीं, क्योंकि विराम होने पश्चात् व्यापार नहीं होता। जैसा कि '(विशेषण में क्षीणशक्ति हो जाने के कारण फिर) अभिधा विशेष्य तक नहीं पहुँचती' इत्यादि द्वारा अभिधा व्यापार के विरत हो जाने पर व्यापार का असम्भव कहा गया है।

---

१. नायिका पुंश्चली एवं प्रगल्भा है। उसके प्राणसमान प्रिय सङ्केतस्थान पर कोई धार्मिक बाबाजी अपनी असामयिक उपस्थिति से विघ्न तो उत्पन्न करने ही लगे साथ ही वहाँ की फूल-पत्तियाँ भी तोड़-तोड़ कर उस स्थान को नष्ट-भ्रष्ट करने लगे। उससे न रहा गया तो उसने चाल चलते हुए उनसे प्रार्थना की कि वे इतमीनान से अब घूमें, क्योंकि गोदावरी तट के रहने वाले मतवाले सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला है। बाबाजी एक तो कुत्ते से ही परेशान थे अब सिंह पहुँच आया। यहाँ घूमो या 'भ्रम' में लोट् लकार 'विधि' अर्थ का सूचक है, किन्तु यहाँ 'विधि' नियोग या आज्ञारूप नहीं है, क्योंकि वह पुंश्चली धार्मिक को आज्ञा नहीं दे रही है कि वह भ्रमण करे, बल्कि वह तो स्वयं भ्रमण कर रहा है, उसका भ्रमण स्वतः सिद्ध है। पुंश्चली धार्मिक के भ्रमण का विधान प्रतिषेधक तत्त्व जो कुत्ते का भय था, उसके अभाव द्वारा करती है. इसलिए यहाँ 'विधि' प्रतिषेधाभाव या 'प्रतिप्रसव' रूप है। इस प्रकार यहाँ 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' (३.३.१०३) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार अतिसर्ग या प्राप्तकाल में 'लोट्' हुआ है। 'अतिसर्ग' अर्थात् कामचार या स्वेच्छा-विहार।

२. प्रस्तुत उदाहरण में 'घूमो' इस विधिरूप अर्थ के बाद ही 'मत घूमो' यह जो निषेध रूप अर्थ की प्रतीति हो रही है, यहाँ यह कहना गलत होगा कि दोनों विधि-निषेध रूप अर्थ जब कि ये दोनों एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हैं, एक ही समय में (युगपत्) वाच्य हो रहे हैं, क्योंकि अभिधा जब एक विधिरूप अर्थ को बता चुकी तब उसकी प्रवृत्ति पुनः निषेध रूप अर्थ में नहीं होगी—यह नियम है कि कार्य करके विरत हो जाने पर व्यापार नहीं होता—**'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे।'** शब्द के सङ्केतित अर्थ के अभिधान में जो व्यापार होता है वह 'अभिधा' कहलाता है। इस प्रकार यहाँ यह बात सिद्ध हुई कि 'निषेध' रूप अर्थ (क्योंकि यह अर्थ 'संकेतित' नहीं है) के बोध के लिए किसी अतिरिक्त शक्ति की कल्पना आवश्यक है, वह 'शक्ति' व्यञ्जना हो सकती है और इससे प्रतीत निषेध रूप अर्थ 'व्यङ्ग्य' होगा।

लोचनम्

ननु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिकतदादिपदार्थानन्वयरूप-मुख्यार्थबाधबलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीभूतनिषेध-प्रतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः। एवमनेनोक्त-मिति हि व्यवहारः, तन्न वाच्यातिरिक्तोऽन्योऽर्थ इति।

नैतत्; त्रयो ह्यत्र व्यापाराः संवेद्यन्ते—पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधा-व्यापारः, समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा। समयश्च तावत्येव, न विशे-षांशे, आनन्त्याद्व्यभिचाराच्चैकस्य। ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते, 'सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्।

तात्पर्य-शक्ति[1] (भ्रमण की विधि में) पर्यवसित न होने के कारण विवक्षा होने से 'मतवाला', 'धार्मिक' (बाबाजी), 'वह' आदि पदार्थों के अनन्वयरूप मुख्यार्थ के बाध के बल से और विरोध के निमित्त वाली विपरीतलक्षणा से अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से वाक्यार्थीभूत निषेध की प्रतीति (उत्पन्न) करती है, इस प्रकार वह अर्थ शब्दशक्तिमूलक ही है। 'इस प्रकार इसने कहा' यह व्यवहार है। इसलिए अन्य अर्थ वाच्य से अतिरिक्त नहीं है!

यह[2] नहीं; क्योंकि यहाँ तीन व्यापार जाने जाते हैं। सामान्यरूप पदार्थों में अभिधा व्यापार होता है, क्योंकि समय (सङ्केत) की अपेक्षा से अर्थ के बोध की शक्ति 'अभिधा' है और 'समय' उतने में ही होगा, न कि विशेष अंश (व्यक्ति) में, क्योंकि एक (विशेष व्यक्ति) का आनन्त्य और व्यभिचार है। इस कारण परस्पर अन्वित विशेषरूप वाक्यार्थ में तात्पर्यशक्ति है, क्योंकि न्याय है—'विशेष के बिना सामान्य की

---

१. **अभिहितान्वयवाद और तात्पर्य-शक्ति**—यहाँ यह विचारणीय है कि भ्रमणनिषेध के अर्थ में यदि प्रकारान्तर से शब्द की शक्ति 'अभिधा' से ही काम चल सकता है तब भिन्न शक्ति की कल्पना अनावश्यक होगी। एक मीमांसक होते हैं जो 'अभिहितान्वयवादी' कहलाते हैं, उनके अनुसार वाक्यार्थ वही होता है जिसमें वक्ता का तात्पर्य हो। इस प्रकार 'तात्पर्य' शक्ति से वे लोग वाक्यार्थ का बोध करते हैं और पदार्थ-बोध के लिए 'अभिधा' का उपयोग करते हैं। प्रस्तुत में, वक्त्री कुलटा नायिका का तात्पर्य भ्रमण के निषेध में है, अर्थात् भ्रमण-निषेध यही वाक्यार्थ है। यहाँ मुख्य अर्थ का बाध इस प्रकार होता है कि 'मतवाला' 'धार्मिक' और 'वह' आदि का अन्वय मुख्य अर्थ के साथ नहीं बनता। इस प्रकार यहाँ पदार्थों के अन्वय का अभाव रूप मुख्य अर्थ का बाध हो रहा है, इस बल से विपरीतलक्षणा उपस्थित होती है और तात्पर्य-शक्ति को, जो भ्रमण-विधि में पर्यवसान नहीं प्राप्त कर रही थी, सहायता पहुचाती है और वह भ्रमण-निषेध की प्रतीति उत्पन्न करती है। तात्पर्यशक्ति और लक्षणा दोनों अभिधा के ही आश्रित शक्तियाँ हैं, अतः भ्रमण-निषेध रूप अर्थ अभिधामूलक ही है और इस प्रकार वह वाच्य से अतिरिक्त नहीं है यह बात सिद्ध हुई।

२. **विपरीतलक्षणा का ही अवसर नहीं, अतः तात्पर्य-शक्ति से 'भ्रमण-निषेध' का ज्ञान नहीं होगा**—उपर्युक्त 'अभिहितान्वयवाद' के अनुसार 'तात्पर्यशक्ति' का खण्डन करते हुए आचार्य ने 'विपरीतलक्षणा' को ही यहाँ अप्रसक्त बताया, क्योंकि लोक में तीन व्यापार—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा हैं। अभिधा से सामान्य या जाति का बोध होता है वह भी 'सङ्केत' (समय) की

लोचनम्

तत्र च द्वितीयकक्ष्यायां 'भ्रमे'ति विध्यतिरिक्तं न किञ्चित्प्रतीयते, अन्वयमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात्। न हि 'गङ्गायां घोषः' 'सिंहो वटुः' इत्यत्र यथान्वय एव बुभूषन् प्रतिहन्यते, योग्यताविरहात्; तथा तव भ्रमणनिषेद्धा स श्वा सिंहेन हतः, तदिदानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद् भ्रमणं तवोचितमित्यन्वयस्य काचित्क्षतिः। अत एव मुख्यार्थबाधा नात्र शङ्क्येति न विपरीतलक्षणाया अवसरः।

भवतु वाऽसौ। तथापि द्वितीयस्थानसंक्रान्ता तावदसौ न भवति। तथा हि–मुख्यार्थबाधायां लक्षणायाः प्रक्लृप्तिः। बाधा च विरोधप्रतीतिरेव। न चात्र

सिद्धि नहीं होने के कारण सामान्य विशेष का बोधन करते हैं'। उस दूसरी कक्ष्या में 'घूमो' इस विधि के अतिरिक्त कुछ नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि केवल अन्वय प्रतीत होता है। 'गङ्गायां घोषः' और 'सिंहो वटुः' इन स्थलों में जिस प्रकार अन्वय ही होना चाहता हुआ, योग्यता के अभाव के कारण प्रतिहत हो जाता है, उस प्रकार 'तुम्हारे भ्रमण का निषेध करनेवाला वह कुत्ता सिंह के द्वारा मार डाला गया, अतः इस समय भ्रमण-निषेध के कारण के अभाव में तुम्हारा भ्रमण उचित है' इस अन्वय में कोई क्षति (बाधा) नहीं है। अतएव मुख्यार्थबाधा की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार विपरीतलक्षणा का अवसर नहीं।

अथवा वह लक्षणा हो। तब भी वह दूसरे स्थान में संक्रान्त नहीं हो सकती। जैसा कि मुख्य अर्थ की बाधा होने पर लक्षणा की कल्पना होती है। और, बाधा-विरोध की प्रतीति ही है। यहाँ पदार्थों का अपने-आपमें विरोध नहीं है। अगर परस्पर

सहायता से। अर्थात् अभिधा से 'गोत्व' सामान्य का ज्ञान होगा न कि 'गौ' रूप विशेष का। विशेष में अभिधा को स्वीकार करने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष उपस्थित होते हैं, क्योंकि विशेष एक नहीं अनन्त होता है अतः सब में 'सङ्केत' सम्भव नहीं होगा और दूसरे, जिस गोविशेष के साथ सङ्केत का ग्रहण नहीं हुआ है उसका भी 'गो' पद से बोध होने की स्थिति में 'व्यभिचार' होगा। इसलिए 'सामान्य' या 'जाति' में ही अभिधा को माना गया है। दूसरी तात्पर्य-शक्ति विशेष रूप परस्पर अन्वित वाक्यार्थ में होती है। इस प्रकार तात्पर्य-शक्ति के द्वारा पदार्थों के परस्पर अन्वय के अतिरिक्त कुछ प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार 'गङ्गायां घोष' आदि लक्षणा के क्षग हैं उस प्रकार प्रस्तुत पद्य लक्षणा-विषय नहीं है, क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' आदि में परस्पर अन्वय ही नहीं बन पाता, क्योंकि प्रवाह रूप गङ्गा में 'घोष' के धारण करने की 'योग्यता' नहीं है, किन्तु प्रस्तुत में तो 'अन्वय' अप्रतिहत रूप से बन जाता है, क्योंकि जब सिंह के द्वारा कुत्ता मार डाला गया, जिसके कारण भ्रमण में बाधा होती थी, तब भ्रमण उचित ही है। इस प्रकार अन्वय के उपपन्न हो जाने की स्थिति में मुख्यार्थ-बाधा की शङ्का ही नहीं होनी चाहिए। 'विपरीत-लक्षणा' का यह तभी प्रसंग होता जब कि परस्पर अन्वय के प्रतिहत होने पर मुख्यार्थ की बाधा होती।

अन्ततः, 'भ्रमण-निषेध' रूप अर्थ की प्रतीति के लिए अतिरिक्त 'ध्वनन' व्यापार मानना ही पड़ेगा। (कुछ लोग भ्रम से तात्पर्य-शक्ति को 'तात्पर्या' शक्ति के नाम से लिखने लगे हैं, यह सर्वथा अमान्य है, जहाँ तक मैं समझता हूँ, किसी प्राचीन आचार्य ने 'तात्पर्या' प्रयोग नहीं किया है)।

लोचनम्

पदार्थानां स्वात्मनि विरोधः। परस्परं विरोध इति चेत्—सोऽयं तर्ह्यन्वये विरोधः प्रत्येयः। न चाप्रतिपन्नेऽन्वये विरोधप्रतीतिः, प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थप्रतिपत्त्युपक्षीणाया विरम्याव्यापारात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वयप्रतिपत्तिः।

नन्वेवं 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' इत्यत्राप्यन्वयप्रतीतिः स्यात्। किं न भवत्यन्वयप्रतीतिः दशदाडिमादिवाक्यवत्, किन्तु प्रमाणान्तरेण सोऽन्वयः प्रत्यक्षादिना बाधितः प्रतिपन्नोऽपि शुक्तिकायां रजतमिवेति तदवगमकारिणो वाक्यस्याप्रामाण्यम्। 'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकोल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत् तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति।

विरोध है तो वह विरोध अन्वय में प्रतीत होना चाहिए। और, अन्वय (सम्बन्ध) के ज्ञात न होने पर विरोध की प्रतीति नहीं हो सकती और अन्वय का ज्ञान अभिधा-शक्ति से नहीं होगा, क्योंकि पदार्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो जाने पर वह उपक्षीण (नष्ट) हो जाती है, फिर विरत होने पर व्यापार नहीं होता। इस प्रकार तात्पर्य-शक्ति से ही अन्वय की प्रतिपत्ति[1] होती है।

(शङ्का) इस प्रकार तो 'अंगुलि के अग्रभाग में सैकड़ों हाथी' इस वाक्य में भी अन्वय[2]-प्रतीति हो जायगी! (समाधान) क्या 'दशदाडिमादि' (महाभाष्य के) वाक्य की भाँति अन्वय की प्रतीति नहीं होगी? किन्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणान्तर से वह अन्वय ज्ञात होकर भी, शुक्ति में रजत की भाँति बाधित है, इस कारण उसके ज्ञान करानेवाले वाक्य का प्रामाण्य नहीं है। 'सिंहो माणवकः' यहाँ दूसरी कक्षा में रहनेवाली तात्पर्य-शक्ति से समर्पित अन्वय के बाधक (विरोध) के उल्लास के पश्चात् अभिधा और तात्पर्य इन दोनों शक्तियों से अतिरिक्त, लक्षणा नाम की तीसरी ही शक्ति उस बाधक के बाधन में निपुण समुल्लसित (प्रवृत्त) होता है।

१. किसी प्रकार मान भी लिया जाय कि यहाँ लक्षणा का अवसर है। परन्तु मुख्यार्थ की बाधा या विरोध-प्रतीति कहाँ हो रही है? आपस में यहाँ पदार्थों का विरोध नहीं है, परस्पर विरोध है तो अन्वय में विरोध होगा। परन्तु जब तक अन्वय की प्रतीति नहीं हो जाती तब तक विरोध की प्रतीति भी सम्भव नहीं। और यह पहले कहा ही जा चुका है कि अभिधा शक्ति 'अन्वय' में प्र नहीं हो सकती, फिर 'तात्पर्य-शक्ति' से ही अन्वय की प्रतीति करनी होगी। इस प्रकार तात्पर्य शक्ति भी अन्वय की प्रतीति अर्थात् वाक्यार्थ का ज्ञान ही करने में कृतकार्य हो जाती है फिर अतिरिक्त अर्थ 'भ्रमण-निषेध' उसकी सीमा से बाहर हो जाता है।

२. 'ऊपर' जो बाधित स्थल में भी तात्पर्य-शक्ति से अन्वय-प्रतीति को आपने स्वीकार किया है तब 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' में भी वही स्थिति आपको स्वीकार होगी। इस शङ्का का भी समाधान स्वीकृत्यात्मक ही है। आचार्य का कहना है कि जहाँ तक अन्वय या वाक्या का ज्ञान है वह तो महाभाष्य के 'दशदाडिमादि' वाक्य की भाँति होगा ही। 'दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डम्, अजाजिनम्, पललपिण्डः, अधरोरुकमेतत् कुमार्याः, स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः' इति (महाभाष्य, १. २. ४५)। किन्तु शुक्ति में रजत का ज्ञान हो जाने पर भी प्रत्यक्षादि प्रमाण से

लोचनम्

नन्वेवं 'सिंहो वटुः' इत्यत्रापि काव्यरूपता स्यात्; ध्वननलक्षणस्यात्मनोऽत्रापि समनन्तरं वक्ष्यमाणतया भावात्। ननु घटेऽपि जीवव्यवहारः स्यात्; आत्मनो विभुत्वेन तत्रापि भावात्। शरीरस्य खलु विशिष्टाधिष्ठानयुक्तस्य सत्यात्मनि जीवव्यवहारः, न यस्य कस्यचिदिति चेत्—गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि काव्यरूपताव्यवहारः। न चात्मनोऽसारता काचिदिति च समानम्। न चैवं भक्तिरेव ध्वनिः, भक्तिर्हि लक्षणाव्यापारस्तृतीयकक्ष्यानिवेशी। चतुर्थ्यां तु कक्ष्यायां ध्वननव्यापारः। तथा हि-त्रितयसंन्निधौ लक्षणा प्रवर्तत इति तावद्भवन्त एव वदन्ति। तत्र मुख्यार्थबाधा तावत्प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरमूला। निमित्तं च यदभिधीयते सामीप्यादि तदपि प्रमाणान्तरावगम्यमेव।

(शङ्का) इस प्रकार 'सिंहो वटुः' इस स्थल में भी काव्य की स्वरूपता[1] होगी, क्योंकि यहाँ भी ध्वननरूप आत्मा की, तुरत वक्ष्यमाण होने के कारण स्थिति है। तब तो घट में भी जीव का व्यवहार होगा, क्योंकि आत्मा के विभु (सर्वत्र व्याप्त) होने के कारण (उसमें) भी अस्तित्व है! (यदि कहिए कि) शरीर जब विशिष्ट प्रकार के (इन्द्रिय, मन, अङ्ग आदि) अधिष्ठानों से युक्त होता है और उसमें आत्मतत्त्व रहता है तब जीव का व्यवहार होता है, जिस किसी का नहीं—तो (इधर भी कह सकते हैं कि) गुण और अलङ्कार के औचित्य से सुन्दर शब्द और अर्थ के शरीर का ध्वननाख्य आत्मा के होने पर काव्यरूपता व्यवहार है। आत्मा की कोई असारता नहीं, यह दोनों में बराबर है। इस प्रकार भक्ति ही ध्वनि नहीं, क्योंकि 'भक्ति' रूप लक्षणा व्यापार तृतीय कक्ष्या में होता है। चौथी कक्ष्या में तो ध्वनन व्यापार होता है। जैसा कि, तीनों—मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग और प्रयोजन के सन्निधान में लक्षणा व्यापार प्रवृत्त है यह तो आप ही कहते हैं। वहाँ मुख्यार्थ का बाध प्रत्यक्ष आदि प्रमाणान्तर से होता है। और जो कि सामीप्य आदि निमित्त का अभिधान करते हैं वह भी प्रमाणान्तर के द्वारा ही बोध्य है।

बाधित हो जाता है उसी प्रकार 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्०' इत्यादि वाक्य अपने ज्ञात होने के पश्चात् उत्पन्न बाधज्ञान से विशिष्ट होने के कारण प्रमाण नहीं होंगे। पुनः शङ्का करते हैं कि तब तो 'सिंहो माणवकः' इत्यादि वाक्य भी प्रमाण नहीं होंगे, क्योंकि अन्वय-बोध के पश्चात् इनका भी बाध हो जायगा, इसके समाधान में आचार्य का कहना है कि द्वितीय कक्ष्या में जब तात्पर्य शक्ति के द्वारा अन्वय-बोध यहाँ होता है तब बाधक रूप विरोध की प्रतीति उत्पन्न होती है जिसके निराकरणार्थ तृतीय शक्ति 'लक्षणा' ही समुल्लसित होती है।

१. यहाँ शङ्का यह खड़ी हुई कि जब 'ध्वनन' को ही 'काव्यात्मा' माना जाय तो 'सिंहो वटुः' इस स्थल में भी 'काव्य' का व्यवहार होगा, क्योंकि 'प्रयोजन', जो 'प्रतीयमान' होने वाला है वह यहाँ भी है। इसका समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं कि तब 'घट' में भी जीव-व्यवहार प्रसक्त होना चाहिये, क्योंकि व्यापक आत्मा की स्थिति घट में भी है ही। तब यदि यह कहा जायगा कि मन और इन्द्रियों के अधिष्ठान से युक्त शरीर में आत्मा के होने पर जीव-व्यवहार होता है तब हम भी

लोचनम्

यत्त्विदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तर-वाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नम्, वटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं, तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः। तथाहि—तत्सामीप्यात्तद्धर्मत्वानुमानमनैकान्तिकम्, सिंह-शब्दवाच्यत्वं च वटोरसिद्धम्। अथ यत्र यत्रैवंशब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धर्मयोग

जो कि यह घोष का अतिपवित्रत्व, अतिशीतलत्व और अतिसेव्यत्व आदि प्रयोजन, (लाक्षणिक शब्द से) अतिरिक्त शब्द द्वारा अवाच्य एवं (शब्द से) अतिरिक्त प्रमाण के द्वारा अज्ञात है, अथवा 'वटु' का अतिशयपराक्रमशालित्व (प्रयोजन) है, वहाँ शब्द का व्यापार नहीं है ऐसा नहीं[1]। जैसा कि ('गङ्गायां घोषः' इस स्थल में) 'तत्सामीप्य' के हेतु से तद्धर्मत्व का अनुमान[2] अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है। और, 'वटु' का 'सिंह' शब्दवाच्यत्व हेतु असिद्ध (स्वरूपासिद्ध) है। (यदि कहते हैं कि) जहाँ-जहाँ इस प्रकार के शब्द का प्रयोग है वहाँ-वहाँ उसके धर्म का योग है, यह

यही उत्तर देंगे कि गुण और अलङ्कार के औचित्य से सुन्दर शब्दार्थ-शरीर जब ध्वनन रूप आत्मा से युक्त होता है तभी 'काव्य' व्यवहार है। इससे तो कोई आत्मा की असारता व्यक्त नहीं होती है। दूसरे यह भी कि भक्ति ही ध्वनि है, गलत पक्ष है, क्योंकि भक्ति लक्षणा-व्यापार है और तृतीय कक्ष्या में यह व्यापार होता है। अर्थात् प्रथम कक्ष्या में अभिधा-व्यापार दूसरी में तात्पर्य-शक्ति और तीसरी में लक्षणा और ध्वनन-व्यापार चतुर्थ कक्ष्या में होता है। इस प्रकार न तो 'सिंहो वटुः' इत्यादि 'काव्य' की श्रेणी में आयेंगे और न तो भक्ति या लक्षणा ही 'ध्वनि' सिद्ध होगी।

१. प्रसङ्ग यह प्राप्त है कि आखिर यहाँ 'प्रयोजन' को क्या समझा जाय? इसके उत्तर में आचार्य को सिद्ध करना है कि यह 'प्रयोजन' सर्वथा शब्द के व्यापार का विषय है। इसीलिये आचार्य दृढ़ होकर कहते हैं कि शब्द का व्यापार नहीं है ऐसा नहीं, अर्थात् सर्वथा शब्द का ही व्यापार है। इसके शब्द-व्यापार के विषय होने के दो मुख्य कारण हैं, पहला यह कि प्रयोजन 'अशब्दान्तर वाच्य' है, अर्थात् लाक्षणिक शब्द ही, जैसे प्रस्तुत में 'गङ्गा' 'सिंह' आदि शब्द, 'प्रयोजन' का प्रतिपादन कर सकते हैं, तथा दूसरा कारण यह है कि 'शब्द' के अतिरिक्त किसी प्रमाण से ज्ञात नहीं होता है। इसी उद्देश्य से आचार्य ने आगे की पंक्तियों में 'अनुमान' और 'स्मृति' की आशङ्का करके इनकी विषयता का निराकरण किया है तथा शब्द-व्यापारों में अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा का भी निराकरण करके इन शब्द-व्यापारों से अतिरिक्त चतुर्थ 'ध्वनन' व्यापार को माना है।

२. 'गङ्गायां घोषः' और 'सिंहो वटुः' इन स्थलों में प्रतीयमान 'प्रयोजन' को 'अनुमान' प्रमाण का विषय माना जा सकता है अथवा नहीं यह विचारणीय है। आचार्य का सिद्धान्त पक्ष यह है कि यहाँ 'अनुमान' नहीं हो सकता, क्योंकि पहले स्थल में 'व्यभिचार' है और दूसरे में 'असिद्धि' कैसे? प्रथम स्थल में 'अनुमान' का रूप यह होगा—'तीरं गङ्गागतातिपवित्रत्वादिधर्मवत्, गङ्गासामीप्यात्', इस प्रकार का 'अनुमान' करने वाला यह कहना चाहता है कि जो वस्तु गङ्गा के समीप होती है वह गङ्गा के समान ही पवित्र आदि होती है, गङ्गा के प्रायः सभी गुण उसमें संक्रान्त हो जाते हैं, इसका उदाहरण मुनिजन हैं, जो गङ्गा के समीप रहते हैं और पवित्र होते हैं। किन्तु यहीं यह प्रतिकूल तर्क क्यों न उपस्थित किया जाय कि शिर की खोपड़ी भी तो गङ्गा के समीप रह सकती है, किन्तु वह अति पवित्र नहीं है, ऐसी स्थिति में 'गङ्गा-सामीप्य' को हेतु मानकर अतिपवित्रत्व आदि को सिद्ध करना व्यभिचार-दोषग्रस्त है। इसी को आचार्य ने 'अनैकान्तिक' कहा है।

लोचनम्

इत्यनुमानम्, तस्यापि व्याप्तिग्रहणकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम्, न चास्ति। न च स्मृतिरियम्, अननुभूते तदयोगात्, नियमाप्रतिपत्तेर्वक्तुरेतद्विवक्षितमित्यध्यवसायाभावप्रसङ्गाच्चेत्यस्ति तावदत्र शब्दस्यैव व्यापारः। व्यापारश्च नाभिधात्मा, समयाभावात्। न तात्पर्यात्मा, तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात्। न लक्षणात्मा, उक्तादेव हेतोः स्खलद्गतित्वाभावात्। तत्रापि हि

अनुमान होगा। उसका भी व्याप्ति-ग्रहण के समय मौलिक प्रमाण कहना चाहिए, पर है नहीं। न कि यह स्मृति[1] है, अननुभूत में क्योंकि उसका योग नहीं और नियम का ज्ञान न होने के कारण 'वक्ता का यह विवक्षित है' इस अध्यवसाय का अभाव-प्रसङ्ग है। इसलिए यहाँ शब्द का ही व्यापार है। और (यहाँ) व्यापार अभिधारूप नहीं है, क्योंकि 'समय' (सङ्केत) का अभाव है। और तात्पर्यरूप व्यापार नहीं है, क्योंकि वह 'अन्वय' (सम्बन्ध) का बोध होने पर ही परिक्षीण हो जाता है। लक्षणा रूप (व्यापार) नहीं है, क्योंकि कहे हुए कारण से ही स्खलद्गतित्व[2] का अभाव है।

दूसरे स्थल में 'सिंहो माणवकः' में अनुमान का रूप यह होगा—वटुः सिंहधर्मवान् सिंहशब्दवाच्यत्वात्, सम्प्रतिपन्नसिंहवत्; यहाँ हेतु 'स्वरूपासिद्ध' है, क्योंकि 'सिंह' शब्द से 'वटु' वाच्य नहीं होता। इसी प्रकार इन स्थलों में कोई अन्य प्रकार का अनुमान भी, जैसे 'जहाँ-जहाँ ऐसा प्रयोग होता है वहाँ उसके धर्म का योग होता है' यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि अनुमान तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक कि व्याप्ति-ग्रहण के समय मौलिक प्रमाणान्तर नहीं हो। प्रस्तुत में, जो भी व्याप्ति सामान्य को लेकर की जायगी वह प्रामाणिक नहीं होगी, क्योंकि व्याप्ति-ग्रह का प्रयोजन कोई प्रत्यक्ष आदि प्रमाण नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अनुमान प्रमाण का विषय किसी प्रकार 'प्रयोजन' को नहीं बनाया जा सकता।

१. आचार्य लिखते हैं कि यह 'स्मृति' नहीं है, अर्थात् गङ्गागत शैत्य-पावनत्व आदि प्रयोजन के ज्ञान को 'स्मृति' भी नहीं कहा जा सकता, अर्थात् 'प्रयोजन' स्मृति का भी विषय नहीं बन सकता, क्योंकि स्मृति उसकी होती है जो पहले कभी अनुभूत हो चुका हो। यहाँ ऐसा कोई पूर्वानुभव विद्यमान नहीं है जिसके आधार पर 'स्मृति' होगी। कथञ्चित् भी स्मृति को यहाँ लाया नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा कोई यहाँ नियामक नहीं है जिसके बल से यह समझा जाय कि वक्ता का यही विवक्षित है। अन्ततः जब कि अनुमान भी नहीं और स्मृति भी नहीं, तो स्वीकार करना होगा कि यहाँ शब्द का ही व्यापार है।

२. यहाँ शब्द का व्यापार न 'अभिधा' है, न 'तात्पर्य' है और न 'लक्षणा' है। 'अभिधा' तो इसलिये नहीं है कि गङ्गा शब्द का 'समय' या संकेत शैत्य-पावनत्व में नहीं मिलता, 'तात्पर्य' इसलिये नहीं है कि वह केवल अन्वय या परस्पर सम्बन्ध की प्रतीति होते ही समाप्त हो जाता है और लक्षणा व्यापार भी यहाँ नहीं है क्योंकि मुख्यार्थ-बाध आदि हेतु, जो कहा जा चुका है सो यहाँ अवगमन रूप व्यापार स्खलित या प्रतिहत नहीं हो रहा है। 'स्खलद्गतित्व' अर्थात् स्वार्थ-भ्रंश। लक्षणा-व्यापार वहीं होता है जहाँ स्खलद्गतित्व या स्वार्थभ्रंश होता है। स्पष्टीकरण यह कि 'गङ्गायां घोषः' इस स्थल में 'गङ्गा' शब्द का प्रवाह रूप स्व अर्थ मुख्यार्थ-बाध आदि स्खलित होकर 'तीर' अर्थ को प्रकट करता है अतः 'तीर' अर्थ में लक्षणा-व्यापार है, किन्तु 'प्रयोजन' रूप शैत्य-पावनत्व के अंश में स्वार्थभ्रंश का अनुभव नहीं होता, क्योंकि मुख्यार्थबाध आदि की वहाँ प्रवृत्ति ही नहीं। ऐसी स्थिति में लक्षणा-व्यापार का विषय यह नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार

लोचनम्

स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधा निमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात्। अत एव यत्केनचिल्लक्षितलक्षणेति नाम कृतं तद्व्यसनमात्रम्। तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः। यद्वक्ष्यति—

'मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥' इति॥

तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः। तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः। मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः। तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रि-

यदि उस तीरादि अर्थ में भी स्खलद्गति (स्वार्थभ्रंश) होना मानते हैं तब पुनः मुख्यार्थबाधा और निमित्त रूप प्रयोजन होने से अनवस्था होगी। अतएव जो कि किसी ने (लक्षित तीरादि में पुनः पावनत्वादि प्रयोजन को लक्षित करते हुए) 'लक्षितलक्षणा' यह नाम रखा है वह तो व्यसनमात्र है। अतः अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा से व्यतिरिक्त चौथा यह व्यापार, जिसे ध्वनन, द्योतन, व्यंजन, प्रत्यायन, अवगमन आदि पर्याय शब्दों से निरूपित किया गया है, स्वीकार के योग्य है। जिसे कहेंगे—

'मुख्य वृत्ति (अभिधा व्यापार) को छोड़कर गुणवृत्ति (लक्षणारूप व्यापार) से (अमुख्य) अर्थ अमुख्य अर्थ का दर्शन (ज्ञान) जिस (प्रयोजनरूप) फल को उद्देश्य करके करते हैं उसमें शब्द स्खलद्गति नहीं है।'

इस प्रकार समय (सङ्केत) की अपेक्षा रखनेवाली, वाच्य अर्थ के बोधन की शक्ति 'अभिधाशक्ति' है। उसकी अन्यथानुपपत्तिरूप सहायवाली, अर्थावबोधन की शक्ति 'तात्पर्यशक्ति'[1] है। लक्षणाशक्ति मुख्यार्थबाध आदि तीन सहकारियों की अपेक्षा से,

इस प्रयोजन में भी स्खलद्गतित्व मान लिया जाय तो फिर मुख्यार्थ-बाधा, निमित्त और प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी और इस प्रकार अनवस्था होगी। इसलिये यही स्वीकार करना चाहिये कि 'प्रयोजन' में लक्षणा-व्यापार नहीं होता। इसी विषय को आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास में इन कारिकाओं द्वारा निरूपित किया है—

नाभिधा, समयाभावात्, हेत्वभावान्न लक्षणा।
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।
एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।

'काव्यप्रदीप' में 'स्खलद्गति' का अर्थ 'मुख्यार्थबाध आदि तीनों की अपेक्षा करके बोधक होना' किया है—'मुख्यार्थबाधादित्रयमपेक्ष्य बोधकत्वं स्खलद्गतित्वम्।'

१. यह वाक्य अत्यन्त उलझा हुआ है। जैसा कि इसका संस्कृत रूप है—'तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः'; एक अर्थ के अनुसार उसके अर्थात् अभिधा के अन्यथा अर्थात् बिना जिसकी अनुपपत्ति (असम्भव) सहायक है अर्थात् अभिधाशक्ति की सहायता प्राप्त करके ही तात्पर्यशक्ति क्रियाशील होती है, और जिस प्रकार अभिधा सङ्केतित अर्थ के अवबोधन की

लोचनम्

तत्प्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः; स च प्राग्वृत्तं व्यापारत्रयं न्यक्कुर्वन्प्रधानभूतः काव्यात्मेत्याशयेन निषेधप्रमुखतया च प्रयोजनविषयोऽपि निषेधविषय इत्युक्तम्। अभ्युपगममात्रेण चैतदुक्तम्; न त्वत्र लक्षणा, अत्यन्ततिरस्कारान्यसंक्रमणयोरभावात्। न ह्यर्थशक्तिमूलेऽस्या व्यापारः। सहकारि-

अर्थ के प्रतिभासन (बोधन) की शक्ति है। इन तीनों शक्तियों से उत्पन्न अर्थबोध के मूल से हुई, (उन अभिधेय आदि अर्थों) के प्रतिभास से पवित्रित प्रतिपत्ता (सहृदय) की प्रतिभा की सहायता से अर्थ के द्योतन की शक्ति 'ध्वननव्यापार'[1] है। और वह पहले हुए तीनों व्यापारों को अभिभूत करता हुआ, प्रधानभूत काव्यात्मा है इस आशय से (वृत्तिकार ने ही ध्वनिव्यापार को) निषेध के प्रमुख होने के कारण प्रयोजनविषयक होने पर भी 'निषेधविषयक'[2] कहा है। अभ्युपगम (प्रौढिवाद) मात्र से यह कहा है कि यहाँ लक्षणा नहीं है क्योंकि अत्यन्त तिरस्कार और अन्यसंक्रमण यहाँ नहीं हैं। अर्थशक्तिमूल में इस (लक्षणा) का व्यापार नहीं है। शक्ति का भेद सहकारी[3] के

शक्ति है उसी प्रकार तात्पर्यशक्ति अन्वय रूप अर्थ के अवबोधन की शक्ति है। दूसरे अर्थ के अनुसार उसकी अर्थात् अन्वय रूप अर्थ की अन्यथा अर्थात् तात्पर्य के अभाव में जो अनुपपत्ति है उसकी सहायता वाली यह तात्पर्यशक्ति है। इस प्रकार यहाँ आचार्य ने तात्पर्यशक्ति को 'व्यतिरेक' (तदभावे तदभावः = कारणाभावे कार्याभावः) के प्रकार से अनिवार्य सिद्ध किया है। मतलब यह कि तात्पर्यशक्ति के अभाव में वाक्यार्थ-बोध की अनुपपत्ति होगी यही कारण है कि तात्पर्यशक्ति को स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ वाक्यार्थ-बोधाभाव ही तात्पर्यशक्ति की सिद्धि का सहायक है।

१. पूरी एक पंक्ति में आचार्य ने 'ध्वननव्यापार' के प्रति अभिधा आदि तीनों शक्तियों के द्वारा प्रयोज्य अर्थावबोध को सहकारी कारण बताया है और साथ ही यह भी निर्देश किया है कि इस व्यापार से ध्वन्यमान अर्थ का ज्ञान उसी प्रतिपत्ता को हो सकता है जो काव्यार्थ के पुनः पुनः अनुसन्धान (प्रतिभास) से पवित्रित या संस्कृत होकर पूर्ण 'सहृदय' हो जाता है।

२. वृत्तिकार ने 'क्वचिद् वाच्ये विधिरूपे निषेधरूपः' अर्थात् कहीं पर वाच्य विधिरूप होता है तो व्यङ्ग्य निषेधरूप, यह कह कर 'भ्रम धार्मिक०' को उदाहृत किया है। यद्यपि 'प्रयोजन' जो सर्वथा 'व्यङ्ग्य' होता है यहाँ 'निषेध' नहीं बल्कि 'स्वच्छन्दविहार' आदि है, चूँकि इस 'प्रयोजन' की प्रतीति 'निषेध' की प्रतीति के द्वारा होती है इस कारण यहाँ वृत्तिकार ने 'निषेध' को व्यङ्ग्य कहा है। इससे यह समझना गलत होगा कि यहाँ 'निषेध' लक्षणा का विषय है, क्योंकि यहाँ न तो अत्यन्त तिरस्कार है और न अन्य सङ्क्रमण है।

३. अर्थशक्तिमूल ध्वनि का वह स्थल है जहाँ सहकारी के रूप में वक्तृ, बोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य की प्रतीति हो, परन्तु लक्षणा में मुख्यार्थ-बाध आदि सहकारी होते हैं इस कारण दोनों का स्थल एक नहीं हो सकता। सहकारिभेद से शक्ति का भेद होता है इस सिद्धान्त के उदाहरण में आचार्य का कहना है कि वही शब्द का, जो अर्थ-बोधन के लिए प्रयुक्त होता है, व्याप्तिस्मृति, पक्षधर्मताज्ञान आदि सहकारी की अपेक्षा के बल पर विवक्षा के ज्ञान के लिए अनुमापकत्व व्यापार होता है और जब इन्द्रियसन्निकर्ष आदि सहकारी की अपेक्षा होगी तो 'विकल्पकत्व' व्यापार (सविकल्पकज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति) होगा। जहाँ अनुमापकत्व व्यापार होगा वहाँ प्रयोग इस प्रकार होगा—'अयं वक्ता एतद्विवक्षुः एतच्छब्दप्रयोगात्'। शब्द श्रोत्र आदि के

लोचनम्

भेदाच्च शक्तिभेदः स्पष्ट एव, यथा तस्यैव शब्दस्य व्याप्तिस्मृत्यादिसहकृतस्य विवक्षावगतावनुमापकत्वव्यापारः। अक्षादिसहकृतस्य वा विकल्पकत्वव्यापारः। एवमभिहितान्वयवादिनामियदनपह्नवनीयम्।

योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुतः? भिन्नविषयत्वात्। अथानेकोऽसौ? तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिर्निषिद्धः। असजातीये चास्मन्नय एव।

अथ योऽसौ चतुर्थकक्षानिविष्टोऽर्थः, स एव झटिति वाक्येनाभिधीयत

भेद से होता है यह स्पष्ट है। जैसे उसी शब्द के सहकारी व्याप्तिस्मृति आदि हों और उनके द्वारा विवक्षा (वक्ता की इच्छा) का ज्ञान हो, तब अनुमापकत्व व्यापार होगा। अथवा चक्षु आदि सहकारी में तब विकल्पकत्व व्यापार होगा। इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों[1] के लिए यह ध्वनन व्यापार का अस्तित्व अनिराकरणीय है।

जो कि अन्विताभिधानवादी[2] 'शब्द का जिसमें तात्पर्य होता है वह शब्द का अर्थ होता है' इस बात को हृदय में रखकर, बाण की भाँति एक अभिधा व्यापार को ही दीर्घ-दीर्घ मानता है, उसका यदि वह दीर्घ व्यापार एक है सो कैसे? क्योंकि विषय के भिन्न होने से (व्यापार को भी भिन्न होना चाहिए)। यदि वह व्यापार अनेक है तो विषय और सहकारी के भेद से असजातीय ही है यह (मानना) ठीक होगा। और कार्य के सजातीय मानने पर पदार्थविद् लोगों ने शब्द, बुद्धि और कर्म के विराम हो जाने के बाद व्यापार का निषेध किया है। और यदि (व्यापार को) असजातीय मानते हैं तो हमारा नय (पक्ष) ही है।

(यदि कहें) जो वह चौथी कक्षा में रहने वाला अर्थ है वह भी झट से वाक्य के

सहकार से अपना प्रत्यक्ष उत्पन्न करता है। इस प्रकार एक ही शब्द के अर्थ-ज्ञान में सहकारी भेद को लेकर व्यापारभेद हो गया है।

१. अभिहितान्वयवादी—अन्वय या पदों के सम्बन्ध के अर्थ के पक्षपाती ये आचार्य मीमांसक हैं और ये 'भाट्ट' या 'तौतातिक' मत के अनुयायी माने जाते हैं।

२. अन्विताभिधानवादी—इसे प्राभाकर मत कहते हैं। यहाँ 'अभिधा' के अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं माना जाता। जिस प्रकार एक ही बाण दीर्घ-दीर्घ व्यापार के द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है उसी प्रकार एक ही अभिधा-व्यापार दीर्घ-दीर्घ होकर वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का ज्ञान करा देता है। किन्तु जब आचार्य इस सिद्धान्त को अपने तर्क की कसौटी पर लाते हैं। तब यह विशृङ्खल हो जाता है। क्योंकि किसी प्रकार एक ही व्यापार को नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस व्यापार से विधि रूप अर्थ का बोध होता है उसी से निषेध रूप अर्थ करना सम्भव नहीं, अतः मानना पड़ेगा कि व्यापार अनेक है, साथ ही विषय और सहकारी के भेद से उसे असजातीय भी मानना होगा। अनेक व्यापार को सजातीय इसलिए नहीं मान सकते कि शब्द, बुद्धि और कर्म का विरम्य व्यापार नहीं होता।

लोचनम्

इत्येवंविधं दीर्घदीर्घत्वं विवक्षितम्, तर्हि तत्र सङ्केताकरणात्कथं साक्षात्प्रतिपत्तिः। निमित्तेषु सङ्केतः, नैमित्तिकस्त्वसावर्थस्संकेतानपेक्ष एवेति चेत्-पश्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम्। यो ह्यसौ पर्यन्तकक्षाभाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिपथमवतीर्णः, तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तभावं गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम्।

अथोच्यते—पूर्वं तत्र सङ्केतग्रहणसंस्कृतस्य तथा प्रतिपत्तिर्भवतीत्यमुया वस्तुस्थित्या निमित्तत्वं पदार्थानाम, तर्हि तदनुसरणोपयोगि न किञ्चिदप्युक्तं

द्वारा अभिहित हो जाता है. इस प्रकार का दीर्घदीर्घत्व विवक्षित है, तब यदि 'वहाँ सङ्केत न करने के कारण कैसे उसकी साक्षात् प्रतिपत्ति हो सकती है? सङ्केत तो निमित्तों में होता है वह अर्थ तो नैमित्तिक होता है, अतः वह सङ्केत की अपेक्षा ही नहीं रखता' यदि यह कहें तब तो देखो जरा वैदिक की वचनचातुरी! जो कि यह (अर्थ) सबसे अन्त (पर्यन्त) की कक्षा में रहने वाला है वह पहले प्रतीति के पथ में अवतीर्ण होता है, उसके बाद में पदार्थज्ञान निमित्तभाव को प्राप्त करते हैं—इस प्रकार निश्चय ही मीमांसक को प्रपौत्र[1] के प्रति नैमित्तिकत्व अभिमत है!

यदि कहते हैं—'पहले वहां सङ्केतग्रह से संस्कृत (हो जाने पर) उस प्रकार की (पार्यन्तिक अर्थ की) प्रतीति होती है इस वस्तुस्थिति से पदार्थों का निमित्तत्व है।' तब तो फिर उसके अनुसरण[2] के उपयोग का कोई निमित्त नहीं बताया गया! दूसरे

१. ऊपर जो कि 'दीर्घ दीर्घ' की बात कही गई है उसमें यदि मीमांसक के पक्ष से यह स्वीकार किया जाय कि चतुर्थ कक्ष्या में रहने वाला प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ झटिति वाक्य द्वारा अभिहित कर दिया जाता है तब अनेक व्यापार की कल्पना की स्थिति नहीं रह जाती। इस स्थिति में आचार्य कहते हैं कि तब तो और भी गड़बड़ी उपस्थित होगी, क्योंकि चतुर्थ कक्ष्यानिविष्ट अर्थ की साक्षात् प्रतिपत्ति संकेत किए बिना कैसे हो सकती है? यदि नैमित्तिक रूप उस अर्थ को संकेत की अपेक्षा से रहित माना गया तब तो एक विचित्र बात होगी। क्योंकि जो चतुर्थ कक्ष्या का अर्थ है सबसे पहले प्रतीत होगा और उसके पश्चात् उत्पन्न होने वाले पदार्थज्ञान उसके निमित्त होंगे! मीमांसक महोदय अपने पक्ष के समर्थन में यहाँ तक आ पहुँचे कि वे अपने प्रपौत्र को भी अपना कारण बेहिचक स्वीकार कर लेंगे। स्पष्ट यह कि जब कि मीमांसक के अनुसार चतुर्थ कक्ष्या में रहने वाला अर्थ अपने निमित्त रूप पदार्थज्ञान से पहले उत्पन्न होता है तब मीमांसक अपने प्रप्रौत्र के उत्पन्न होने के बाद में उत्पन्न हुए होंगे यह उन्हें अवश्य अभिमत होगा! इस प्रकार यहाँ आचार्य ने मीमांसकों की लिहाड़ी ली है।

२. पुनः अन्विताभिधानवादी मीमांसक का कहना है कि जहाँ तक यहाँ पदार्थों के निमित्त होने का प्रश्न है वह पहले पदार्थों में संकेतग्रह के मान लेने पर हल हो जाता है। इस प्रकार चतुर्थ कक्ष्या में रहने वाला अर्थ पहले पदार्थों में संकेतग्रह से संस्कृत रूप में उत्पन्न होता है। ऐसा मान लेने पर पदार्थ निमित्त बन जाते हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि उसके **अनुसरण** का यहाँ आपने कोई उपयोग नहीं कहा! अर्थात् पहले पार्यन्तिक अर्थ को संकेतग्रह से संस्कृत करने का उपयोग तो यही होना चाहिए कि पहले पदार्थों का ज्ञान हो तत्पश्चात् चतुर्थ कक्ष्यानिविष्ट अर्थ का ज्ञान हो। इस प्रकार पदार्थों का निमित्तत्व भी सार्थक होगा। दूसरे आपके मत में

लोचनम्

स्यात्। न चापि प्राक्पदार्थेषु सङ्केतग्रहणं वृत्तम्, अन्वितानामेव सर्वदा प्रयोगात्। आवापोद्वापाभ्यां तथाभाव इति चेत्–सङ्केतः पदार्थमात्र एवेत्यभ्युपगमे पाश्चात्यैव विशेषप्रतीतिः।

अथोच्यते—दृष्टैव झटिति तात्पर्यप्रतिपत्तिः किमत्र कुर्म इति। तदिदं वयमपि न नाङ्गीकुर्मः। यद्वक्ष्यामः—

तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां झटित्येवावभासते॥ इति॥

यह कि पहले पदार्थों में सङ्केतग्रह भी नहीं हुआ है, क्योंकि सर्वदा अन्वितों का ही प्रयोग है। यदि कहिए—आवापोद्वाप[1] के द्वारा उस प्रकार (पृथक् पदार्थों में सङ्केतग्रह) होगा, तब तो सङ्केत को पदार्थमात्र में ही स्वीकार करने पर विशेष (वाक्यार्थ) की प्रतीति बाद में ही होगी।

यदि कहते हैं—'झट-से तात्पर्य (पार्यन्तिक अर्थ) की प्रतीति देखी गई है तो हम क्या करें?' तो हम भी इसे अस्वीकार नहीं करते! क्योंकि हम कहेंगे—

'उस प्रकार वाक्यार्थ से विमुख स्वभाव वाले सहृदय जनों की तत्त्वावभासिनी बुद्धि में वह अर्थ (पार्यन्तिक अर्थ) झट से अवभासित हो जाता है।'

पदार्थों में संकेतग्रह होता ही नहीं, क्योंकि अन्वित पदार्थों का ही सर्वदा आप प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में संकेतग्रह को पहले मानने का पक्ष सर्वथा अन्विताभिधानवादी मीमांसक के मत में गलत होगा।

१. आवापोद्वाप = प्रक्षेप-निक्षेप; ग्रहण-त्याग। यहाँ अन्विताभिधानवाद का स्पष्टीकरण आवश्यक है। जैसा कि 'अभिहितान्वयवाद' में पहले 'अभिधा' शक्ति द्वारा पदार्थों का ज्ञान, तत्पश्चात् तात्पर्य शक्ति द्वारा अन्वय रूप वाक्यार्थ का ज्ञान है वह प्रस्तुत 'अन्विताभिधानवाद' में सर्वथा [illegible] है। इसके अनुसार 'अभिधा' से अन्वित पदार्थ का ही ज्ञान होता है अर्थात् जो वाक्यार्थ है वही वाच्यार्थ है। ये लोग अन्वयांश में अतिरिक्त शक्ति की कल्पना नहीं करते। जैसे 'गामानय' इस वाक्य में 'गो' शब्द का कोई अर्थ नहीं, बल्कि यहाँ 'गौ' की प्रतीति 'आनयन' से अन्वित होकर, एवं 'आनयन' की प्रतीति 'गौ' से अन्वित होकर होती है। यह मत प्रभाकर-मत या गुरुमत के नाम से प्रसिद्ध है। प्रभाकर ने 'व्यवहार' को संकेतग्रह का प्रधान उपाय माना है। व्यवहार में देखा जाता है कि कोई बड़ा आदमी (उत्तम वृद्ध) अपने से छोटे आदमी (मध्यम वृद्ध) से 'गामानय' कहता है, उस समय वह दूसरा आदमी 'गौ' को लाकर उपस्थित करता है। समीप में स्थित बालक उत्तम वृद्ध के कथन और मध्यम वृद्ध के कार्य दोनों को सुनता और देखता है। इस प्रकार वह बालक 'गामानय' इस अखण्ड वाक्य का अर्थ-ज्ञान करता है। तत्पश्चात् उत्तम वृद्ध के द्वारा 'गां बधान, अश्वमानय' (गौ को बाँधो और अश्व को लाओ) यह कहे जाने पर बालक 'गाम्' और 'आनय' का अलग-अलग अर्थ ग्रहण करता है। यही 'आवापोद्वाप' के द्वारा संकेत का ग्रहण है। इस पर आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि ऐसी स्थिति में आप भी यही स्वीकार कर रहे हैं कि संकेत पदार्थ मात्र में ही होगा, फिर वाक्यार्थ रूप विशेष की प्रतीति पश्चात् ही होगी, पहले नहीं। इसलिये 'दीर्घदीर्घतरव्यापार' का पक्ष किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता।

लोचनम्

किं तु सातिशयानुशीलनाभ्यासात्तत्र सम्भाव्यमानोऽपि क्रमः सजातीयतद्विकल्पपरम्परानुदयादभ्यस्तविषयव्याप्तिसमयस्मृतिक्रमवन्न संवेद्यत इति। निमित्तनैमित्तिकभावश्चावश्याश्रयणीयः, अन्यथा गौणलाक्षणिकयोर्मुख्याद् भेदः 'श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणषट्कस्य पारदौर्बल्यम्' इत्यादिप्रक्रियाविघातः, निमित्तता-

किन्तु, पर्यालोचन का अभ्यास इतना अधिक हो जाता है कि वहाँ सम्भाव्यमान भी क्रम सजातीय उन (पदार्थविषयक) विकल्पों की परम्परा के उदित न होने से पहले से अभ्यस्त-विषय वाले व्याप्ति और समय (सङ्केत) की स्मृति के क्रमों की भाँति मालूम नहीं होता। और निमित्तनैमित्तिकभाव का अवश्य आश्रयण करना चाहिए। अन्यथा गौण और लाक्षणिक अर्थों का मुख्य अर्थ से भेद (मुख्यामुख्यरूपभेद) एवं (मीमांसाशास्त्र में उक्त) 'श्रुति'[1] लिङ्ग आदि छः प्रमाणों का क्रमशः दौर्बल्य है' इत्यादि

---

१. मीमांसाशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि का यह पूरा सूत्र इस प्रकार है—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'; इस सूत्र को प्रस्तुत 'लोचन' में उद्धृत करते हुये आचार्य का यह तात्पर्य है कि जब 'दीर्घ-दीर्घ' रूप से प्रतीत होने वाले अर्थों के क्रम में यदि निमित्त-नैमित्तिकभाव (कार्यकारणभाव) स्वीकार नहीं करते हैं तब उक्त मीमांसासूत्र में महर्षि जैमिनि ने श्रुति की अपेक्षा जो लिङ्ग आदि के दौर्बल्य का प्रतिपादन किया है, इस प्रक्रिया का विघात होगा, क्योंकि श्रुतिस्थल की भांति लिङ्ग आदि स्थल में भी शब्दश्रवण के पश्चात् प्रतीयमान सभी अर्थों की अभिधा से ही प्रतीति होने पर लिङ्ग आदि के दौर्बल्य का कारण नहीं रह जाता। इसलिये इस प्रक्रिया का समर्थन एकमात्र—निमित्तता-वैचित्र्य के मानने पर ही हो सकता है। और जब निमित्तता-वैचित्र्य स्वीकार कर लिया गया तो व्यापार का भिन्न होना लाजिमी है। इस प्रकार 'दीर्घ-दीर्घ' रूप से प्रतीत होने वाले सभी अर्थों में केवल अभिधा व्यापार से काम नहीं चलेगा, अतिरिक्त व्यापार मानना ही होगा।

यहाँ हम स्पष्टीकरण के उद्देश्य से 'काव्यप्रदीप' के उल्लेख के आधार पर उक्त मीमांसा-सूत्र का अर्थ-निर्देश करते हैं—

श्रुति आदि का समवाय अर्थात् एकत्र प्राप्ति होने पर उनके बीच जिसकी अपेक्षा जो पर (बाद) में होगा उसकी अपेक्षा वह दुर्बल होगा, क्योंकि अर्थविप्रकर्ष है; अर्थात् पूर्व की अपेक्षा पर विलम्ब से अर्थ का प्रत्यायन करता है।

श्रुति—'निरपेक्षो रवः श्रुतिः', अर्थात् वह शब्द 'श्रुति' कहलाता है जो अपने द्वारा किसी के अङ्गत्व-बोध के कार्य में प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखता है। दूसरे प्रकार से यह भी कह सकते हैं कि अपने अर्थ के बोध में अन्य शब्द की अपेक्षा न रखने वाला शब्द 'श्रुति' कहलाता है; जैसे 'व्रीहीनवहन्ति'; क्रिया के फल को प्राप्त करने वाला ही कर्म होता है, इस प्रकार यहाँ 'व्रीहि' में कर्मत्व का प्रकार करती हुई द्वितीया विभक्ति किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा के विना ही व्रीहियों को 'अवघात' का शेष (अङ्ग) प्रतिपादन करती है।

लिङ्ग—'अर्थविशेषप्रकाशनसामर्थ्यं लिङ्गम्'; अर्थात् शब्द का वह सामर्थ्य, जिससे अर्थविशेष का प्रकाशन होता है 'लिङ्ग' कहलाता है। यह 'सामर्थ्य' रूढि ही है। जैसे—'बर्हिर्देवसदनं दामि' (देवों के आवास रूप बर्हि-कुश को काटता हूँ) इस मन्त्र का 'दामि' (लवन करता हूँ, काटता हूँ) इस श्रुत पद के सामर्थ्य से कुशच्छेदन में विनियोग है।

वाक्य—'परस्पराकांक्षावशात् क्वचिदेकस्मिन् अर्थे पर्यवसितानि पदानि वाक्यम्'; अर्थात् वह

लोचनम्

वैचित्र्येणैवास्याः समर्थितत्वात्। निमित्ततावैचित्र्ये चाभ्युपगते किमपरमस्मास्वसूयया। येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः

प्रक्रिया का विघात होगा, क्योंकि निमित्तता के वैचित्र्य से इसका समर्थन किया जा चुका है। जब कि निमित्तताप्रयुक्त वैचित्र्य आप मान लेते हैं तो हम पर असूया[1]

पदसमूह 'वाक्य' है जो परस्पर आकांक्षाके वश किसी एक अर्थ में पर्यवसित होता है। जैसे—'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि'; इस मन्त्र का 'निर्वपामि' इस 'लिङ्ग' द्वारा निर्वाप में विनियोग के साथ ही समवेत अर्थभाग की एकवाक्यता के बल से 'देवस्य त्वा०' इत्यादि भाग का भी निर्वाप में ही विनियोग है।

प्रकरण—'लब्धवाक्यभावानां पदानां कार्यान्तरापेक्षावशाद् वाक्यान्तरेण सम्बन्ध आकांक्षा-पर्यवसन्नं प्रकरणम्' अर्थात् जब पदसमूह 'वाक्य' की स्थिति में होता है तब दूसरे कार्य की अपेक्षा से दूसरे वाक्य के सम्बन्ध में आकांक्षा को 'प्रकरण' कहते हैं। जैसे—'समिधो यजति'। यह मन्त्र दर्शपूर्णमास यागों के प्रकरण में पढ़ा जाता है। जब यह आकांक्षा उपस्थित होती है कि दर्शपूर्णमास याग कैसे हों तब पाठवश इसका विनियोग होता है।

स्थान—'स्थानं क्रमः', अर्थात् अनेक में आम्नात मन्त्र का सन्निधिविशेष में आम्नात रूप क्रम को 'स्थान' कहते हैं। जैसे—'दब्धिरसि' इस मन्त्र में आग्नेय, अग्नीषोमीय और उपांशु याग क्रम से ब्राह्मण भाग में पढ़े गए हैं। मन्त्रभाग में भी क्रम से तीनों अनुमन्त्रण पठित हैं। आग्नेय और अग्नीषोमीय यागों में लिङ्ग के ही द्वारा दोनों का विनियोग सिद्ध है, किन्तु 'दब्धिरसि' में लिङ्ग आदि कोई विनियोजक नहीं है। किन्तु 'ब्राह्मण' में जिस स्थान पर 'उपांशु' याग का विधान किया है उसी स्थान पर मन्त्र में भी इसका पाठ है, इस 'क्रम' से 'उपांशु याग' के अनुमन्त्रण में इसका विनियोग है।

समाख्या—'योगबलम्'; अर्थात् यौगिक शब्द 'समाख्या' है। जैसे—'हौत्रम् औद्गात्रम्' इत्यादि। 'होतुरिदं हौत्रम्' इस 'योग' के बल से हौत्रादि रूप से समाख्यात कर्म होत्रादि द्वारा अनुष्ठेय होते हैं।

विरोध के उदाहरण—श्रुति और लिङ्ग के विरोध में लिङ्ग का दौर्बल्य; जैसे—'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' (हे इन्द्र तुम कभी भी हिंसक नहीं होते हो, किन्तु आहुति देने वाले यजमान पर प्रसन्न होते हो); 'अग्निहोत्र' के प्रकरण में यह ऋक् सुनी जाती है। इस ऋक् का विनियोग करने वाली यह 'श्रुति' है—'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते':; अर्थात् इन्द्रसम्बन्धिनी ऋक् के गार्हपत्य नाम के अग्नि का आराधन करता है। इस प्रकार इन्द्रप्रकाशन-सामर्थ्य रूप लिङ्ग से 'गार्हपत्य' की ही 'इन्द्र' के अर्थ में लक्षणा आदि कारक विनियोग होगा। इस प्रकार श्रुति और लिङ्ग में विरोध होने पर श्रुति द्वारा लिङ्ग दुर्बल होने के कारण बाध लिया जायगा, क्योंकि 'गार्हपत्यम्' में द्वितीया विभक्ति अभिधा द्वारा पहले ही इस ऋक् को गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग कर देगी। प्रकाशक 'इन्द्र' पद के सामर्थ्य रूप लिङ्ग के द्वारा विलम्ब से इन्द्रोपस्थान में ऋक् का विनियोग सूचित होता है अतः यह पक्ष दुर्बल है। इसी प्रकार अन्य बाध्य और बाधकों का विचार 'काव्य-प्रकाश' के टीका-ग्रन्थों से कर लेना चाहिए। अब रस-प्रसङ्ग को हम अधिक विस्तार के भय से यहाँ ही छोड़ देते हैं।

१. सर्वथा आप (मीमांसक) को भी निमित्ततावैचित्र्य के आधार पर अनेक व्यापारों की कल्पना करनी ही होगी तब मैंने जो ऐसी कल्पना की है उससे आपको असूया क्यों है? केवल यही न, विवश होकर आपको जिसे स्वीकार करना पड़ता है उसे हमने अपना पक्ष बना लिया है!

लोचनम्

सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न न विदितं तत्त्वालोकग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्।

यत् तु भट्टनायकेनोक्तम्—इह दृप्तसिंहादिपदप्रयोगे च धार्मिकपदप्रयोगे च भयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः तदीयभीरुवीरत्वप्रकृतिनियमावगममन्तरेणैकान्ततो निषेधावगत्यभावादिति तन्न केवलार्थसामर्थ्यं निषेधावगतेर्निमि-

करने से क्या लाभ ? जो लोग[1] वाक्य और उसके अर्थ को अखण्ड, स्फोट रूप कहते हैं वे भी जब अविद्या या व्यवहार में आयेंगे तब उन्हें इस प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा। उस (अविद्या या व्यवहार) की स्थिति को पार (उत्तीर्ण) होने के बाद तो सब कुछ परमेश्वराद्वय ब्रह्म हो जाता है, इसे हमारे शास्त्रकार नहीं जानते हैं ? जब कि उन्होंने 'तत्त्वालोक' नामक ग्रन्थ की रचना की है ! अस्तु।

जो कि भट्टनायक ने कहा है—यहाँ ('भ्रम धार्मिक०' इस स्थल में) निषेध का ज्ञान दृप्तसिंहादि पद के प्रयोग और 'धार्मिक' पद के प्रयोग में होनेवाले भयानक रस के आवेश[2] के द्वारा ही होता है, क्योंकि उनकी (धार्मिक और सिंह की, क्रमशः) भीरुता और वीरतारूप प्रकृति के नियम (अविनाभाव) के ज्ञान के विना एकान्ततः निषेध का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए केवल अर्थ का सामर्थ्य निषेध के ज्ञान का

१. व्याकरण-दर्शन में स्फोट रूप शब्द-ब्रह्म का सिद्धान्त है उसके अनुसार वाक्य और वाक्यार्थ दोनों अखण्ड होते हैं। शब्द अकेले होकर अनर्थक होता है और समस्त अखण्ड वाक्य से अखण्ड अर्थ का बोध होता है। इसी प्रकार वेदान्ती लोग भी अखण्ड वाक्य और वाक्यार्थ को मानते हैं। पद-पदार्थविभाग के विना किए ही ये लोग 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि अखण्ड वाक्य को अखण्ड ब्रह्म का वाचक मानते हैं। इस प्रकार इन दोनों सम्प्रदायों के अनुसार अखण्ड वाक्य का अखण्ड वाक्यार्थ बोध सम्पन्न हो जायगा, इतने व्यापारभेद की कल्पना अनावश्यक है यह कहकर प्रस्तुत कार्य का अपलाप नहीं किया जा सकता। आचार्य का कहना है कि हम दोनों मतों को अस्वीकार नहीं करते, बल्कि समर्थन करते हैं, किन्तु जब व्यवहार का प्रसंग है तब तो किसी भी अखण्ड वाक्य को विना क्रिया-कारक-भेद आदि से खण्ड-खण्ड किए अर्थज्ञान नहीं होगा, यहाँ तक कि वैयाकरण को भी नहीं होगा। तथा दूसरे वेदान्ती भी तो 'अविद्या' की स्थिति या व्यावहारिक दुनियाँ में आकर व्यावहारिक सत्य को स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें भी पद-पदार्थ की कल्पना अवश्य करनी होगी। हाँ जब वे 'विद्या' की स्थिति की बात करेंगे तब उनका अखण्ड-वाक्य-वाक्यार्थवाद हमें स्वीकार्य होगा, क्योंकि उस स्थिति में एक अद्वैत ब्रह्म को छोड़ कर और कुछ रह ही नहीं जाता यह विषय क्या 'ध्वन्यालोक' के रचयिता आचार्य आनन्दवर्धन को विदित नहीं है ? इस प्रकार व्यवहार-क्षेत्र में वैयाकरण और वेदान्ती दोनों को हमारी सब बातें माननी होंगी। इस विषय का स्पष्टीकरण 'काव्यप्रकाश' के टीका-ग्रन्थों में है।

२. भ्रम धार्मिक० में भट्टनायक के कथनानुसार 'दृप्तसिंह' आदि और 'धार्मिक' पद के प्रयोग के होने पर प्रतिपत्ता (बोद्धा) को जो निषेध का ज्ञान होता है वह सर्वथा भयानकरस के आवेश के कारण ही होता है, क्योंकि बिना धार्मिक की भीरुता और सिंह की वीरता के ज्ञान के 'निषेध' रूप अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। केवल अर्थ के सामर्थ्य से निषेध का ज्ञान नहीं होता है। तात्पर्य यह कि प्रतिपत्ता को भयानक रस की अभिव्यक्ति से प्रस्तुत में निषेध की प्रतीति होती है।

लोचनम्

त्तमिति। तत्रोच्यते—केनोक्तमेतत् 'वक्तृप्रतिपत्तृविशेषावगमविरहेण शब्दगत-ध्वननव्यापारविरहेण च निषेधावगतिः' इति। प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं ह्यस्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम्। भयानकरसावेशश्च न निवार्यते, तस्य भयमात्रोत्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रतिपत्तुश्च रसावेशो रसाभिव्यक्त्यैव। रसश्च व्यङ्ग्य एव, तस्य च शब्दवाच्यत्वं तेनापि नोपगतमिति व्यङ्ग्यत्वमेव। प्रतिपत्तुरपि रसावेशो न नियतः, न ह्यसौ नियमेन भीरुधार्मिकसब्रह्मचारी सहृदयः।

अथ तद्विशेषोऽपि सहकारी कल्प्यते, तर्हि वक्तृप्रतिपत्तृप्रतिभाप्राणितो

निमित्त नहीं।' इस पर कहते हैं—'यह किसने कहा है कि वक्ता विशेष और प्रतिपत्ता विशेष के विना जाने और विना शब्दगत ध्वनन व्यापार के, निषेध का ज्ञान होता है? प्रतिपत्ता की प्रतिभा की (व्यंग्यार्थावगति में) सहकारिता को तो हमने द्योतन (ध्वनन-व्यापार) का प्राण कहा है। भयानक रस के आवेश का हम निवारण नहीं करते क्योंकि सिर्फ हम उसे भयमात्र की उत्पत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रतिपत्ता को रस का आवेश रस की अभिव्यक्ति से ही होगा। और रस व्यंग्य ही होता है, क्योंकि रस का शब्दवाच्यत्व किसी ने भी नहीं माना है, अतः वह व्यंग्य ही होता है। प्रतिपत्ता को भी नियत रसावेश नहीं होता। क्योंकि वह सहृदय डरपोंक धार्मिक जैसा नियमतः नहीं होता है।

यदि उस (प्रतिपत्ता) विशेष को सहकारी[1] कल्पित करते हैं तो वक्ता और

इसके खण्डन में लोचनकार का कहना है कि भट्टनायक को समझने में भ्रम हो गया है कि वक्ता और प्रतिपत्ता के वैशिष्ट्य के ज्ञान के विना और शब्दगत ध्वनन-व्यापार के विना ही हम 'निषेध' रूप अर्थ का ज्ञान करते हैं। बल्कि हम तो यह कहते हैं कि प्रतिपत्ता की प्रतिभा रूप विशेषता द्योतन या व्यञ्जना का प्राण है। दूसरी उपेक्षणीय बात जो भट्टनायक कहते हैं वह यह कि प्रतिपत्ता को भयानकरस का आवेश होता है, अर्थात् सुनने वाला सहृदय भयानकरस से आविष्ट होकर प्रस्तुत पद्य के 'निषेध' रूप अर्थ का ज्ञान करता है। यहाँ भयानकरस का आवेश भयमात्र की उत्पत्ति ही हमें स्वीकार्य है। क्योंकि रसावेश रसाभिव्यक्ति ही से रस का आवेश हो सकता है। और रस सर्वथा व्यङ्ग्य ही होता है, शब्द द्वारा वाच्य कदापि नहीं होता है। इसलिए 'दृप्तसिंह' आदि और 'धार्मिक' पद के प्रयोग से जो भयानक रस का आवेश भट्टनायक ने कहा है वह उनकी मूलतः गलत धारणा है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि धार्मिक के समान प्रतिपत्ता सहृदय नियमतः भीरु नहीं हो सकता है, वह वीरप्रकृति भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में भयानक-रस का आवेश हो यह आवश्यक नहीं है। तब तो आप ऐसे सहृदय के लिए 'निषेध' रूप अर्थ का ज्ञान नहीं होना ही बताएँगे? इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि भयानक रस की अभिव्यक्ति से 'निषेध' की प्रतीति नहीं होती।

१. ऊपर ध्वनन-व्यापार-खण्डन में भट्टनायक का जो यह मन्तव्य है कि प्रतिपत्ता अर्थात् बोद्धा को भयानक-रस के आवेश के कारण ही यहाँ 'निषेध' का ज्ञान होता है, उस पर जो आचार्य अभिनवगुप्त ने यह कहा कि यह कोई नियम नहीं हो सकता कि सहृदय प्रतिपत्ता सर्वथा इस पद्य को सुन कर भयानक रस से आविष्ट होता है; क्योंकि प्रत्येक सहृदय उस 'धार्मिक' के

लोचनम्

ध्वननव्यापारः किं न सह्यते ! किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम् । यदाह—'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः' इति । अथ रसस्यैवेयता प्राधान्यमुक्तम् ; तत्को न सहते । अथ वस्तुमात्रध्वनेरेतदुदाहरणं न युक्तमित्युच्यते, तथापि काव्योदाहरणत्वाद् द्वावप्यत्र ध्वनी स्तः, को दोषः ।

यदि तु रसानुवेधेन विना न तुष्यति, तद् भयानकरसानुवेधो नात्र सहृदयहृदयदर्पणमध्यास्ते; अपि तु उक्तनीत्या सम्भोगाभिलाषविभावसङ्केतस्थानोचितविशिष्टकाकाद्यनुभावशबलनोदितशृङ्गाररसानुवेधः । रसस्यालौकिकत्वा-

प्रतिपत्ता की प्रतिभा से प्राणित ध्वननव्यापार को क्यों नहीं सहन करते ? दूसरे यह कि वस्तुध्वनि को तो दूषित करते हैं, रसध्वनि का, 'जो उस (वस्तुध्वनि) का अनुग्राहक है, समर्थन करते हैं, तो खूब यह ध्वनि का ध्वंस है ! जो कि कहा है— 'देवता का क्रोध भी वर के जैसा होता है।' यदि कहिए कि अब तक रस का ही प्राधान्य कहा है, तो इस बात को कौन नहीं सहन करता है ? यदि वस्तुमात्र ध्वनि का यह उदाहरण ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं तथापि काव्य के उदाहरण होने से दोनों ध्वनि यहाँ हैं तो क्या दोष है ?

यदि (सहृदय) विना रसानुवेध (रसावेश) के सन्तुष्ट नहीं होता है, तो (कहना यह है कि) सहृदय के हृदय-दर्पण में भयानक रस का आवेश अधिष्ठित नहीं होता, बल्कि उक्त प्रकार से सम्भोग की अभिलाषा का उद्दीपन-विभाव जो सङ्केत-स्थान है उसके उचित जो विशिष्ट काकु आदि अनुभाव हैं, उनके शबलन (सम्मिश्रण) से शृङ्गाररस का अनुवेध (आवेश) उदित होता है। रस के अलौकिक होने से और उतने मात्र से ही उसका अवगम सम्भव नहीं है, अतएव प्रथम जिनका भेद निर्विवाद

समान 'भीरु' नहीं होता है, बल्कि वीरप्रकृति भी होता है। इस पर भट्टनायक के पक्ष का यह कथन है कि यदि प्रतिपत्ता के प्रतिभाविशेष अर्थात् भीरुत्व को यहाँ भयानकरस के आवेश के होने में सहकारी कारण कल्पित कर लिया जाय तो नियम बन सकता है और उस तरह का प्रत्येक प्रतिपत्ता भयानकरस के आवेश से 'निषेध' का ज्ञान कर सकता है। इस पर लोचनकार का कहना है कि जब आपने प्रतिपत्ता के प्रतिभाविशेष तक को स्वीकार कर लिया तब ध्वननव्यापार को क्यों नहीं सह लेते हैं, क्योंकि ध्वनन में भी तो प्रतिपत्ता का प्रतिभाविशेष सहकारी होता है ? आश्चर्य तो इस पर होता है कि वस्तुध्वनि को स्वीकार नहीं करते और रसध्वनि को स्वीकार करते हैं, जब कि रसध्वनि वस्तुध्वनि का अनुग्राहक है। यदि आप इस पर अड़े हुए हैं कि यहाँ रसध्वनि का प्राधान्य है तो हम आपकी बात को अमान्य नहीं ठहराते। हमें तो बस यही कहना है कि किसी प्रकार 'ध्वनि' का निराकरण नहीं होना चाहिए। प्रस्तुत में यदि रसध्वनि और वस्तुध्वनि दोनों हों, तो क्या हर्ज है !

लोचनम्

त्तावन्मात्रादेव चानवगमात्प्रथमं निर्विवादसिद्धविविक्तविधिनिषेधप्रदर्शनाभिप्रायेण चैतद्वस्तुध्वनेरुदाहरणं दत्तम् ।

यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वननमवोचत्, स नास्माकं हृदयमावर्जयति । यदाहुः—'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इति । तदेतदग्रे यथायथं प्रतनिष्याम इत्यास्तां तावत् । *भ्रमेति* । अतिसृष्टोऽसि प्राप्तस्ते भ्रमणकालः । *धार्मिकेति* । कुसुमाद्युपकरणार्थं युक्तं ते भ्रमणम् । *विस्रब्ध* इति शङ्काकारणवैकल्यात् । *स* इति यस्ते भयप्रकम्प्रामङ्गलतिकामकृत । *अद्येति* । दिष्ट्या वर्धस इत्यर्थः । *मारित* इति पुनरस्यानुत्थानम् । *तेनेति* । यः पूर्वं कर्णोपकर्णिकया त्वयाप्याकर्णितो गोदावरीकच्छगहने प्रतिवसतीति । पूर्वमेव हि तद्रक्षायै तत्तयोपश्रावितोऽसौ; स चाधुना तु दृप्तत्वात्ततो गहनान्निस्सरतीति प्रसिद्धगोदावरीतीरपरिसरानुसरणमपि तावत्कथाशेषीभूतं का कथा तल्लतागहनप्रवेशशङ्कयेति भावः ।

सिद्ध है उन विधि और निषेध के प्रदर्शन के अभिप्राय से यह वस्तुध्वनि[1] का उदाहरण दिया है ।

जिसने ध्वनि का व्याख्यान करने के लिए उद्यत हो, तात्पर्य शक्ति को ही अथवा विवक्षा के सूचकत्व (अनुमापकत्व) को ही ध्वनन कहा है, वह हमारे हृदय को आकृष्ट नहीं करता । जैसा कि कहते हैं—'लोग भिन्न रुचि के होते हैं ।' तो इसे आगे यथावत् विस्तार करेंगे । घूमो—। तुम अतिसृष्ट हो (तुम्हारी इच्छा पर है घूमो अथवा न घूमो), तुम्हारे घूमने का यह समय है । धार्मिक (बाबाजी)—। फूल आदि सामग्री के लिए तुम्हारा घूमना ठीक है । इतमीनान से—। क्योंकि शङ्का करने का अब कोई कारण नहीं रह गया । वह—। जिसने तुम्हारे अङ्गों को भय से कम्पित कर डाला था । आज—। अर्थात् तुम्हारे भाग्य की वृद्धि है । मार डाला गया—। अब फिर वह नहीं आएगा । उस (सिंह ने)—। जिसे पहले से तुमने भी कानोंकान सुन रखा है कि गोदावरी के गहन कच्छ में रहता है । पहले से ही उस स्वैरिणी ने सङ्केत स्थान की रक्षा के लिए सिंह के गोदावरी के गहन कच्छ में निवास करने का वृत्तान्त धार्मिक को सुना रखा है । भाव यह कि (पहले तो कच्छ गहन में रहता मात्र था) अब तो वह दृप्त (मत्त, पागल) हो जाने के कारण गहन से निकल जाता है, इसलिए प्रसिद्ध गोदावरी नदी के तीर की भूमि के आस-पास घूमना भी बिलकुल बन्द हो गया है (सिर्फ चर्चा का विषय बन कर रह गया है) वहाँ के लतागहन में प्रवेश की शङ्का की तो बात ही नहीं ।

१. सहृदय पर भयानक रस का आवेश तो कतई नहीं माना जा सकता, बल्कि यह कह सकते हैं कि यहाँ शृङ्गार रस का अनुवेध है । परन्तु इसे वस्तुध्वनि का उदाहरण देते हुए आचार्य का अभिप्राय यह है कि पहले निर्विवादसिद्ध विधि-निषेध का प्रदर्शन हो जाय ।

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥

कहीं वाच्य के प्रतिषेधरूप होने पर व्यंग्य विधिरूप; जैसे—

सास यहाँ गहरी सोती है, यहाँ मैं (सोती हूँ), दिन में ही देख लो । रात के अन्धे (रतौंधी के रोगी) हे पथिक ! कहीं हमारी खाट पर न गिर पड़ना ।

लोचनम्

अत्ता इति ।

श्वश्रूरत्र शेते अथवा निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः ॥

मह इति निपातोऽनेकार्थवृत्तिरत्रावयोरित्यर्थे न तु ममेति । एवं हि विशेषवचनमेव शङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात् । कांचित्प्रोषितपतिकां तरुणीमवलोक्य प्रवृद्धमदनाङ्कुरः संपन्नः पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाभ्युपगत इति निषेधाभावोऽत्र विधिः । न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रवृत्तप्रवर्तनास्वभावः सौभाग्याभिमानखण्डनाप्रसङ्गात् । अत एव *रात्र्यन्धेति* समुचितसमय-

(प्राकृत गाथा में) 'मह' यह निपात अनेकार्थवृत्ति होने के कारण यहाँ 'हमारी' (अर्थात् मेरी और सास की) इस अर्थ में है न कि 'मेरी' इस अर्थ में । ऐसा करने पर ('मम' यह) विशेष वचन ही श्वश्रू को शङ्कित कर देने वाला[1] हो जायगा, ऐसी स्थिति में नायिका द्वारा किया गया पथिक का प्रच्छन्नाभ्युपगम (छिपे ढंग से साथ सोने की स्वीकृति) नहीं बनेगा । किसी प्रोषित-पतिका (जिसका पति परदेश चला गया है) तरुणी को देखकर कोई पथिक विशेष कामासक्त हो गया, तब इस निषेध के प्रकार से उस तरुणी ने उसे शयन के लिए वचन दिया, इस प्रकार यहाँ निषेधाभावरूप विधि है, न कि अप्रवृत्त में प्रवर्तन स्वभाव का निमन्त्रणरूप[2] (विधि) है; क्योंकि (तब तो) सौभाग्य के अभिमान के खण्डित हो जाने का प्रसंग होगा । इसीलिए 'रात के अन्धे' इसके द्वारा योग्य समय में सम्भावित होने वाले विकारों से उसका आकुलित

१. यदि नायिका 'मम' इस विशेष वचन का प्रयोग करेगी तब सुनती हुई उसकी सास को यह शंका हो सकती है यह (बहू) अपनी ही खाट पर पथिक के गिर जाने की बात क्यों करती है ?, जब कि रतौंधी वाला पथिक मेरी भी खाट पर गिर सकता है । हो न हो यहाँ दाल में कुछ काला है !

२. प्रस्तुत गाथा में प्रतीयमान विधि को निषेध का अभाव रूप समझना चाहिए, क्योंकि नायिका ने 'खाट पर गिर न जाना' इस निषेध के प्रकार से पथिक को मिलन का वचन दिया है । यहाँ आचार्य का निर्देश है कि 'विधि' को निमन्त्रण स्वरूप नहीं समझ लेना चाहिए, अर्थात नायिका ने यहाँ अप्रवृत्त पथिक को निमन्त्रण के द्वारा प्रवृत्त नहीं किया है, क्योंकि यदि ऐसा माना जायगा तब उसे अपने सौभाग्य का अभिमान क्या रह जायगा । पथिक तो स्वयं नायिका से

लोचनम्

सम्भाव्यमानविकाराकुलितत्वं ध्वनितम्। भावतदभावयोश्च साक्षाद्विरोधाद्वाच्याद्व्यङ्ग्यस्य स्फुटमेवान्यत्वम्।

यत्त्वाह भट्टनायकः—'अहमित्यभिनयविशेषेणात्मदशावेदनाच्छाब्दमेतदपी'-ति। तत्राहमिति शब्दस्य तावन्नायं साक्षादर्थः; काक्वादिसहायस्य च तावति ध्वननमेव व्यापार इति ध्वनेर्भूषणमेतत्। अत्तेति प्रयत्नेनानिभृतसम्भोगपरिहारः। अथ यद्यपि भवान्मदनशरासारदीर्यमाणहृदय उपेक्षितुं न युक्तः, तथापि किं करोमि पापो दिवसकोऽयमनुचितत्वात्कुत्सितोऽयमित्यर्थः। प्राकृते पुंनपुंसकयोरनियमः। न च सर्वथा त्वामुपेक्षे, यतोऽत्रैवाहं तत्प्रलोकय नान्यतोऽहं गच्छामि, तदन्योन्यवदनावलोकनविनोदेन दिनं तावदतिवाहयाव इत्यर्थः। प्रतिपन्नमात्रायां च रात्रावन्धीभूतो मदीयायां शय्यायां मा श्लिषः, अपि

होना ध्वनित होता है। भाव और अभाव इन दोनों में साक्षात् विरोध होने के कारण वाच्य से व्यंग्य का भिन्नत्व स्पष्ट ही है।

जो कि भट्टनायक ने कहा है—(गाथा में प्रयुक्त) 'अहं' ('मैं') इस पद के द्वारा अभिनय विशेष के बल से अपनी दशा के आवेदन करने के कारण यह (निषेध के द्वारा जो अभ्युपगमन) भी वह शाब्द (शब्दाभिधेय) है।' इस पर (कहते हैं कि) 'अहं' ('मैं') इस शब्द का यह (अभिनय विशेषरूप अभ्युपगमन) साक्षात् अर्थ नहीं है, बल्कि काकु की सहायता से ऐसा होता है, ऐसी स्थिति में ध्वनन ही व्यापार (यहाँ ठहरता) है; यह ध्वनि का भूषण है, दूषण नहीं। (गाथा में) 'अत्ता' ('श्वश्रू') के प्रयोग द्वारा प्रयत्नपूर्वक सम्भावित अपने अनिभृत (एकान्त) सम्भोग का परिहार है। यद्यपि तुम काम के बाणों की वर्षा से फटे हृदय वाले किसी प्रकार उपेक्षणीय नहीं हो तथापि यह पापी दिन सम्भोग के लिए अनुचित होने के कारण बड़ा खराब है—यह अर्थ हुआ। प्राकृत में पुंल्लिङ्ग-नपुंसक का नियम[1] नहीं है। अर्थात् मैं सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर रही हूँ, क्योंकि देखो कहीं अन्यत्र नहीं जाती हूँ, अतः हम एक दूसरे का मुख देखने के विनोद से इस दिन को बितायें। रात के होते ही अन्धे होकर

मिलने के लिए प्रवृत्त है, उत्सुक है; इसी कारण ही नायिका ने उसे 'रात्र्यन्ध' (रतौंधी का रोगी या रात का अन्धा) कह कर उसके सम्भाव्यमान विकारों के कारण आकुलता को सूचित किया है! अन्यथा नायिका को क्या पड़ी थी कि उसे 'रात्र्यन्ध' कहती, जब कि वह किसी प्रकार पहुँचता स्वयं वह मिल ही लेती। किन्तु ऐसी स्थिति ही नहीं है।

१. तात्पर्य यह कि कोई भी शब्द, जो पुंल्लिङ्ग है वह नपुंसक भी हो सकता है और जो नपुंसक है वह पुंल्लिङ्ग भी हो सकता है, जैसा कि पुंल्लिङ्ग 'दिवसक' शब्द नपुंसक पढ़ा गया है। किन्तु मेरा विचार है कि 'दिवसकं प्रलोकय'—प्रस्तुत इस स्थल में 'दिवसकम्' यह प्रयोग 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' के नियम के अनुसार 'द्वितीया' विभक्ति का प्रयोग हुआ है। इसलिए यहां प्राकृत-शब्द के पुंनपुंसकत्व का विचार ही कोई आवश्यक नहीं है। फिर भी, सम्भव है आचार्य का यह कहना ठीक हो।

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा—

वच्च मह व्विअ एक्केइ होन्तु णीसासरोइअव्वाइं ।
मा तुज्झ वि तीअ विणा दक्खिण्णहअस्स जाअन्तु ॥

कहीं वाच्य के विधिरूप होने पर (व्यङ्ग्य) अनुभय रूप (न विधिरूप तथा न निषेधरूप) होता है। जैसे—

तू जा, मुझ ही अकेली के निश्वास और रुदन भाग में हों, उसके विना दाक्षिण्य (समानुरागिता) से रहित तेरे भी ये (निश्वास, रुदन) मत पैदा हों।

लोचनम्

तु निभृतनिभृतमेवात्ताभिधाननिकटकण्टकनिद्रान्वेषणपूर्वकमितीयदत्र ध्वन्यते।

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि ।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ॥

अत्र व्रजेति विधिः । न प्रमादादेव नायिकान्तरसंगमनं तव, अपि तु गाढानुरागात्, येनान्यादृङ्मुखरागः गोत्रस्खलनादि च, केवलं पूर्वकृतानुपालनात्मना दाक्षिण्येनैकरूपत्वाभिमानेनैव त्वमत्र स्थितः, तत्सर्वथा शठोऽसीति गाढमन्युरूपोऽयं खण्डितनायिकाभिप्रायोऽत्र प्रतीयते । न चासौ व्रज्याभावरूपो निषेधः, नापि विध्यन्तरमेवान्यनिषेधाभावः ।

मेरी शय्या पर मत गिर जाओ, बल्कि बहुत कायदे से यह पता कर लो कि 'श्वश्रू' नाम का निकट वाला काँटा नींद में है, यह इतना ध्वनित होता है।

यहाँ 'जा' यह विधि है। प्रमादवश ही तू दूसरी नायिका से नहीं मिलता, अपितु गाढ़ अनुरागवश तू (उससे) मिलता है, जिससे यह तेरा मुखराग कुछ भिन्न-सा है और गोत्रस्खलन (दूसरी नायिका का नामोच्चारण) आदि हो रहे हैं। सिर्फ तू यहाँ मेरे पालन का जो पहले वचन कर चुका है उसी दाक्षिण्य के कारण जो एकरूपता का अभिमान तुझे है उसी से तू यहाँ ठहरा है तो तू सर्वथा 'शठ'[1] निकला, इस प्रकार यहाँ 'खण्डिता'[2] नायिका का अधिक कोपरूप अभिप्राय प्रतीत होता है। न तो यहाँ गमनाभावरूप निषेध है और न तो कोई दूसरा विधि (विध्यन्तर) निषेध का अभाव ही (व्यंग्य होता है)।

---

१. 'शठ' वह नायक कहलाता है जो एक नायिका में बाहर से अनुराग प्रकट करता है और छिपे-छिपे दूसरी से अनुराग करते हुए उसका विप्रिय या अहित करता है—गूढविप्रियकृच्छठः ।

२. 'खण्डिता' वह नायिका कहलाती है जिसका प्रिय पराई के साथ सम्पन्न मिलन के चिह्न से चिह्नित होकर प्रातःकाल उपस्थित होता है और वह उसे देख कर ईर्ष्या से भर जाती है—

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिह्नितः ।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥ साहित्यदर्पण ३।११७

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह्णाविलुत्ततमणिवहे।
अहिसारिआणँ विग्घं करोसि अण्णाणँ वि हआसे॥

कहीं वाच्य के प्रतिषेधरूप होने पर व्यङ्ग्य अनुभयरूप होता है। जैसे—

प्रार्थना करता हूँ, प्रसन्न हो, लौट आओ, अरी, अपने मुखचन्द्र की चाँदनी से अन्धकार-समूह को दूर करनेवाली, इन आशाओं वाली, तू दूसरी अभिसारिकाओं के भी विघ्न करती है।

लोचनम्

दे इति निपातः प्रार्थनायाम्। आ इति तावच्छब्दार्थे। तेनायमर्थः—

प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे॥

अत्र व्यवसिताद्गमनान्निवर्तस्वेति प्रतीतेर्निषेधो वाच्यः। गृहागता नायिका गोत्रस्खलिताद्यपराधिनि नायके सति ततः प्रतिगन्तुं प्रवृत्ता, नायकेन चाटूपक्रमपूर्वकं निवर्त्यते। न केवलं स्वात्मनो मम च निर्वृतिविघ्नं करोषि, यावदन्यासामपि; ततस्तव न कदाचन सुखलवलाभोऽपि भविष्यतीत्यत एव हताशासीति वल्लभाभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः।

यदि वा सख्योपदिश्यमानापि तदवधीरणया गच्छन्ती सख्योच्यते—न केवलमात्मनो विघ्नं करोषि, लाघवादबहुमानास्पदमात्मानं कुर्वती, अत एव हताशा; यावद्वदनचन्द्रिकाप्रकाशितमार्गतयान्यासामप्यभिसारिकाणां विघ्नं

(गाथा में) 'दे' यह निपात प्रार्थना के अर्थ में है। 'आ' यह निपात 'तावत्' शब्द के अर्थ में है। इसलिए यह अर्थ हुआ—

प्रार्थना करता हूँ……।

यहाँ व्यवसित गमन से 'लौट आओ' इस प्रतीति के कारण गमन का निषेध वाच्य है। जब नायिका घर आई तब नायक गोत्रस्खलन आदि अपराध कर बैठा और वह (नायिका) लौट जाने के लिए प्रवृत्त हुई, तब नायक प्रशंसा की भाषा का उपक्रम करके उसे निवृत्त करता है। न केवल तू अपने-आपके और मेरे सुख में विघ्न डालती है, बल्कि दूसरी स्त्रियों के भी; इसलिए तुझे कभी भी सुखलेश का लाभ भी नहीं होगा, अतएव तू हताशा है, इस प्रकार नायक का अभिप्रायरूप चाटु विशेष व्यंग्य है।

अथवा सखी के द्वारा उपदेश दिए जाने पर भी उसे न मानकर जाती हुई नायिका के प्रति सखी कहती है—न केवल तू अपना विघ्न करती है—इस प्रकार के छुटपन (लघुता) से अपने को अबहुमान का आस्पद बनाती हुई—अतएव हताशा, बल्कि तू अपने मुखचन्द्र की चाँदनी से मार्ग को प्रकाशित करके अन्य अभिसारिकाओं के भी विघ्न करती है, यह सखी का अभिप्रायरूप चाटुविशेष व्यंग्य है। इन दोनों व्याख्यानों में

लोचनम्

करोषीति सख्यभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः। अत्र तु व्याख्यानद्वयेऽपि व्यवसितात्प्रतीपगमनात्प्रियतमगृहगमनाच्च निवर्तस्वेति पुनरपि वाच्य एव विश्रान्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदस्य प्रेयोरसवदलङ्कारस्योदाहरणमिदं स्यात्, न ध्वनेः।

तेनायमत्र भावः—काचिद्रभसात्प्रियतममभिसरन्ती तद्गृहाभिमुखमागच्छता तेनैव हृदयवल्लभेनैवमुपश्लोक्यतेऽप्रत्यभिज्ञानच्छलेन, अत एवात्मप्रत्यभिज्ञापनार्थमेव नर्मवचनं *हताश* इति। अन्यासाञ्च विघ्नं करोषि तव चेप्सितलाभो भविष्यतीति का प्रत्याशा। अत एव मदीयं वा गृहमागच्छ, त्वदीयं वा गच्छावेत्युभयत्रापि तात्पर्यादनुभयरूपो वल्लभाभिप्रायश्चाटुवात्मा व्यङ्ग्य इयत्येव व्यवतिष्ठते। अन्ये तु—'तटस्थानां सहृदयानामभिसारिकां प्रतीयमुक्तिः' इत्याहुः। तत्र *हताशे* इत्यामन्त्रणादि युक्तमयुक्तं वेति सहृदया एव प्रमाणम्।

भी (नायिका द्वारा) व्यवसित प्रतीपगमन (अपने घर के प्रति गमन) और प्रियतम के गृह के गमन से 'लौट आओ' (निवृत्त हो) यह जो वाच्य है उसमें ही (सखीगत नायिकाविषयकभावरूप रति अथवा नायकगत नायिकाविषयक रति के) विश्रान्त होने के कारण गुणीभूतव्यंग्य के भेद जो क्रमशः प्रेयोऽलङ्कार और रसवदलङ्कार हैं उनका यह उदाहरण होगा, न कि ध्वनि का।

इसलिए[1] यहाँ यह भाव है—कोई नायिका झटपट प्रियतम के घर के प्रति अभिसार करती है, उसी समय मार्ग में उसके घर की ओर आता हुआ वही प्रियतम अप्रत्यभिज्ञान (नायिका को न पहचानने) के बहाने उसे इस प्रकार प्रशंसा करता है। इसीलिए अपने को पहचानने के लिए ही नर्मवचन 'हताशे' (का प्रयोग) है। दूसरी (अभिसारिकाओं) के विघ्न पहुँचाती है, फिर तेरा ईप्सित लाभ होगा, इसकी क्या प्रत्याशा है ? अतएव 'मेरे घर आ, या हम दोनों तेरे घर चलें' इन दोनों में तात्पर्य होने के कारण अनुभयरूप चाटुगर्भित प्रिय का अभिप्राय व्यंग्य इतने में ही व्यवस्थित होता है। दूसरे तो यह कहते हैं कि यह तटस्थ सहृदयों का अभिसारिका के प्रति वचन है। वहाँ 'हताशे' यह आमन्त्रणादि ठीक है अथवा ठीक नहीं, सहृदयजन ही प्रमाण हैं।

---

१. प्रस्तुत गाथा 'दे आ पसिअ०' को आचार्य ने वक्ता के भेद के आधार पर तीन-चार प्रकार से लगाया है। पहले व्याख्यान के अनुसार नायक के घर पर नायिका पहुँची तब नायक उसके समक्ष गोत्रस्खलन आदि अपराध कर बैठा। इस पर तुनक कर जब वह चल पड़ने के लिए उद्यत हुई तब नायक उसकी प्रशंसा के द्वारा उसे निवृत्त करने का प्रयत्न करने लगा। उसने कहा कि वह अपने और मेरे सुख में तत्काल विघ्न तो कर ही रही है अन्य अभिसारिकाओं के सुख में भी विघ्न डाल रही है। 'अभिसारिका' वह नायिका कहलाती है जो अन्धकार आदि में प्रिय का अभिसरण करती है'। यहाँ नायक का चाटुरूप अभिप्राय व्यङ्ग्य है। दूसरे व्याख्यान के अनुसार यह नायिकाकी सखी का वचन है, नायिका को सखी ने मना किया कि वह तत्काल अभिसार न करे,

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—

कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआएँ सव्वणं अहरम् ।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्निम् ॥

अन्ये चैवंप्रकारा वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति । तेषां दिङ्मात्रमेतत्प्रदर्शितम् । द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते ।

कहीं वाच्य से विभिन्न-विषय रूप में व्यवस्थापित व्यङ्ग्य, जैसे—

अथवा प्रिय के व्रणयुक्त अधर को देखकर किसे क्रोध नहीं होता, री, मना करने पर भी भौंरे सहित कमल को सूंघने वाली, अब तू उसका दुष्परिणाम भुगत !

वाच्य से भेद रखने वाले प्रतीयमान के दूसरे इस प्रकार के भेद सम्भव हैं। उन्हें दिङ्मात्र यहाँ प्रदर्शित किया है । वाच्य से विभिन्न दूसरा भी प्रभेद आगे प्रपञ्च के साथ दिखायेंगे ।

लोचनम्

एवं वाच्यव्यङ्ग्ययोर्धार्मिकपान्थप्रियतमाभिसारिकाविषयैक्येऽपि स्वरूपभेदाद्भेद इति प्रतिपादितम् । अधुना तु विषयभेदादपि व्यङ्ग्यस्य वाच्याद्भेद इत्याह—*क्वचिद्वाच्यादिति* । *व्यवस्थापित* इति । विषयभेदोऽपि विचित्ररूपो व्यवतिष्ठमानः सहृदयैर्व्यवस्थापयितुं शक्यत इत्यर्थः ।

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥

इस प्रकार (इन निर्दिष्ट उदाहरणों में) धार्मिक, पान्थ, प्रियतम और अभिसारिका के वाच्य और व्यंग्य के एकविषय होने पर भी स्वरूप के भेद से भेद है यह प्रतिपादन

किन्तु जब यह नायिका ने नहीं माना तब सखी ने कहा कि हताशा वह अपना विघ्न तो करती ही है साथ ही अपने मुखचन्द्र की चन्द्रिका से मार्ग को प्रकाशित करके अन्य अभिसारिकाओं के भी विघ्न करने के लिए प्रस्तुत है । यहाँ सखी का चाटु रूप अभिप्राय व्यङ्ग्य है ।

आचार्य के कथनानुसार इन दोनों व्याख्यानों में प्रस्तुत गाथा 'ध्वनि' का उदाहरण न होकर गुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण हो जाती है । सखी के वचन के पक्ष में 'प्रेयोऽलङ्कार' है । भाव के पराङ्ग होने पर 'प्रेयोऽलङ्कार' होता है । यहाँ सखी की नायिका में 'रति' व्यङ्ग्य है एवं 'लौट आओ' (निवर्तस्व) इस वाच्य के प्रति अङ्ग हो रहा है । इसी प्रकार नायक के वचन के पक्ष में यह रसवदलङ्कार है । क्योंकि रस जब पराङ्ग होता है तब 'रसवदलङ्कार' होता है । यहाँ नायक की नायिकागत रति प्रस्तुत वाच्य के प्रति अङ्ग हो रही है ।

इसलिए आचार्य ने तृतीय व्याख्यान किया कि नायिका को उस समय अभिसार करते हुए नायक अंधेरे में मार्ग में पाता है जब वह स्वयं नायिका के घर उससे मिलने के लिए जा रहा था । नायिका को पहचान कर भी न पहचानने का बहाना करके नायक ने प्रस्तुत वचन कहा ।

लोचनम्

कस्य वेति । अनीर्ष्यालोरपि भवति रोषो दृष्ट्वैव; अकृत्वापि कुतश्चिदेवापूर्वतया प्रियायाः सव्रणमधरमवलोक्य । *सभ्रमरपद्माघ्राणशीले* शीलं हि कथंचिदपि वारयितुं न शक्यम् । वारिते वारणायां, वामे तदनङ्गीकारिणि । *सहस्वेदानी*मुपालम्भपरम्परामित्यर्थः । अत्रायं भावः—काचिदविनीता कुतश्चित्खण्डिताधरा निश्चिततत्सविधसंनिधाने तद्भर्तरि तमनवलोकमानयेव कयाचिद्विदग्धसख्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते *सहस्वेदानीमिति* वाच्यमविनयवतीविषयम् । भर्तृविषयं तु—अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम् । सहस्वेत्यपि च तद्विषयं व्यङ्ग्यम् । तस्यां च प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायां तद्व्यलीकशङ्कितप्रातिवेशिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम् । तत्सपत्न्यां च तदु-

किया गया । अब विषय के भेद से भी व्यंग्य का भेद[1] है, यह कहते हैं—**कहीं पर—। व्यवस्थापित—।** अर्थात् विषय का भेद भी विचित्ररूप से रहता हुआ सहृदयजनों के द्वारा व्यवस्थापित किया जा सकता है ।

अथवा प्रिया के व्रणयुक्त……

ईर्ष्या से रहित व्यक्ति के भी क्रोध देखकर ही चढ़ आता है । न करके भी किसी कारण अपूर्व भाव से प्रिया के व्रणयुक्त अधर को देखकर । **भौंरे सहित कमल को सूँघने के शील वाली—।** शील किसी प्रकार हटाया नहीं जा सकता । वारित में, निवारण में, वामा अर्थात् निवारण को अङ्गीकार न करनेवाली । **अब सहन कर (दुष्परिणाम भुगत)—।** अर्थात् उलहनों की परम्परा को सहन कर (अपने किए का दुष्परिणाम भुगत) । यहाँ भाव यह है—कोई चालाक (विदग्ध) सखी किसी अविनीत नायिका से, जो कहीं से (जार आदि के द्वारा) अपना अधर-खण्डित करा चुकी है, उसके पति को निश्चितरूप से सन्निहित जानकर, उसे (उसके पति को) न देखती हुई-सी, पति के द्वारा उपालम्भ मिलने के परिहार के लिए (जिससे कि उसका पति खण्डित-अधर देखकर उसे न डाँटे) कहती है । 'सहन कर' (दुष्परिणाम भुगत) यह वाच्य अविनयवती उस नायिका के प्रति है । पति के प्रति तो—'इसका अपराध नहीं है' यह आवेद्यमान (निरपराधत्व) व्यंग्य होता है । प्रियतम के द्वारा अधिक उपालम्भ प्राप्त उस नायिका के होने पर पति का अप्रिय करने से शंकित आस-पास के लोगों के प्रति नायिका के अविनय के प्रच्छादन के द्वारा (नायिका के निरपराध

यहाँ 'निवर्तस्व' वाच्य है, किन्तु नायक का यह तात्पर्य व्यङ्ग्य है कि मेरे घर आ अथवा हम दोनों ही तुम्हारे घर चलें, इस प्रकार यह अनुभय रूप व्यङ्ग्य है । चतुर्थ व्याख्यान के अनुसार यहाँ तटस्थ सहृदयों का किसी अभिसारिका के प्रति वचन है । आचार्य के कथनानुसार इस अंश में 'हताशे' यह आमन्त्रण आदि ठीक बैठ जाता है या नहीं इसका निर्णय तो सहृदय स्वयं कर सकते हैं !

१. व्यङ्ग्य और वाच्य में विषयभेद और स्वरूपभेद इन दो ही भेदों का दिङ्मात्र प्रदर्शन 'ध्वन्यालोक' में किया गया है । मम्मट आदि अन्य आचार्यों ने और भी कई भेद बतलाए हैं । 'साहित्यदर्पण' में सबका संग्रह एक कारिका में किया गया है—

लोचनम्

पालम्भतदविनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं प्रियाया इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम्। सपत्नीमध्ये इयता खलीकृतास्मीति लाघवमात्मनि ग्रहीतुं न युक्तं; प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्व शोभस्वेदानीमिति सखीविषयं सौभाग्यप्रख्यापनं व्यङ्ग्यम्। अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभेत्थं रक्षिता, पुनः प्रकटरदनदंशनविधिर्न विधेय इति तच्चौर्यकामुकविषयसम्बोधनं व्यङ्ग्यम्। इत्थं मयैतदपह्नुतमिति स्ववैदग्ध्यख्यापनं तटस्थविदग्धलोकविषयं व्यङ्ग्यमिति। तदेतदुक्तं *व्यवस्थापितशब्देन*। *अग्र* इति द्वितीयोद्द्योते 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः क्रमेणोद्द्योतितः परः' इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीय-

होने का) बोधन व्यंग्य है। उसकी सपत्नी के प्रति जो उसे उपालम्भ मिलने के कारण और उसके अविनय से प्रसन्न है, 'प्रियायाः' इस शब्द के बल से नायिका के अतिशय सौभाग्य का ख्यापन व्यङ्ग्च है। 'सपत्नियों के बीच इस तरह (अविनय के साफ जाहिर करने से) मैं गौरवहीन कर दी गई हूँ' इस प्रकार का लघुभाव अपने में रखना ठीक नहीं है, बल्कि यह (बहुमान—गौरव) की बात है, 'सहस्व' अर्थात् इस समय शोभित हो, इस प्रकार सखी के प्रति सौभाग्य का प्रख्यापन व्यङ्ग्च है। 'आज तो तुम्हारी इस प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभा को इस प्रकार बचा लिया, फिर कहीं स्पष्ट रूप से दन्तक्षत नहीं करना' इस प्रकार उस नायिका के चौर्य-कामुक के प्रति सम्बोधन व्यङ्ग्च है। और तटस्थ विदग्ध लोगों के प्रति 'अपना यह वैदग्ध्य-ख्यापन कि मैंने इस प्रकार इसे छिपा लिया' व्यङ्ग्च है। इसीलिए वृत्तिग्रन्थ में 'व्यवस्थापित'[1] कहा है। आगे—। दूसरे 'उद्द्योत' में 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्चः क्रमेणोद्द्योतितः परः' इस प्रकार

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधीयते व्यङ्ग्यः॥

(क) बोद्धृभेद; वाच्य अर्थ को तो पद-पदार्थ की व्युत्पत्ति रखने वाले वैयाकरण आदि भी समझ लेते हैं, किन्तु व्यङ्ग्य को वही समझता है जो सर्वथा 'सहृदय' है ('सहृदय' वैयाकरण आदि भी हो सकते हैं !)। (ख) स्वरूपभेद; वाच्य विधि रूप होता है तो व्यङ्ग्य निषेध रूप आदि। स्वरूपभेद के कई उदाहरण 'ध्वन्यालोक' में दिए गए हैं। (ग) संख्याभेद; यदि वाच्य एक है तो व्यङ्ग्य अनेक भी हो सकते हैं, जैसे 'गतोऽस्तमर्कः' में वाच्य अर्थ एक है और व्यङ्ग्य अर्थ अनेक हैं। (घ) निमित्तभेद; वाच्य अर्थ के ज्ञान के कारण (निमित्त) संकेत-ग्रह आदि हैं किन्तु व्यङ्ग्य अर्थ के बोध के लिए निर्मल प्रतिभा होनी चाहिए, सहृदयता आदि होनी चाहिए। (ङ) कार्यभेद; वाच्य अर्थ केवल प्रतीति को उत्पन्न करता है और व्यङ्ग्य चमत्कार को भी उत्पन्न करता है। (च) कालभेद; वाच्य अर्थ पहले प्रतीत होता है और व्यङ्ग्य अर्थ बाद में। (छ) आश्रयभेद; वाच्य अर्थ शब्द के आश्रित होता है किन्तु व्यङ्ग्य शब्द के एक देश प्रकृति, प्रत्यय, वर्ण, संघटना आदि के भी आश्रित हो सकता है। (ज) विषयभेद; इसका उदाहरण मूल में 'कस्य न वा भवति०' इस गाथा में दिया है, यहाँ वाच्यार्थ-बोध का विषय नायिका है और व्यङ्ग्यार्थ का विषय नायक है।

१. प्रस्तुत गाथा में व्यङ्ग्य विषय के भेद से भिन्न रूप में 'व्यवस्थापित' है। 'व्यवस्थापित' कहने का तात्पर्य है कि यहाँ कोई आचार्य के द्वारा अपनी ओर से नहीं जोड़ा गया है, बल्कि ऐसा है

लोचनम्

प्रभेदवर्णनावसरे। यथा हि विधिनिषेधतदनुभयात्मना रूपेण संकलय्य वस्तुध्वनिः संक्षेपेण सुवचः, तथा नालङ्कारध्वनिः, अलङ्काराणां भूयस्त्वात्। तत एवोक्तम्–*सप्रपञ्चमिति*।

तृतीयस्त्विति। तुशब्दो व्यतिरेके। वस्त्वलंकारावपि शब्दाभिधेयत्वमध्यासाते तावत्। रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति। तत्र ध्वननव्यापारादृते नास्ति कल्पनान्तरम्। स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थबाधादेर्लक्षणानिबन्धनस्यानाशङ्कनीयत्वात्। औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या

'विवक्षितान्यपरवाच्य' नामक दूसरे प्रभेद के वर्णन के अवसर में। जिस प्रकार विधि, निषेध और विधिनिषेधानुभय रूप प्रकार के द्वारा सङ्कलित करके वस्तुध्वनि को संक्षेप में कहा जा सकता है, उस प्रकार अलङ्कारध्वनि को नहीं कह सकते, क्योंकि अलङ्कारों की संख्या बहुत है। उसी कारण से कहा—**प्रपञ्च के साथ**—।

तीसरा प्रभेद तो—। 'तो' ('तु') शब्द व्यतिरेक में प्रयुक्त है। अभिप्राय यह कि वस्तु और अलङ्कार शब्द के द्वारा अभिधेय होते भी हैं, लेकिन रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम कभी-कभी शब्द के द्वारा अभिहित नहीं होते और केवल प्राण रूप में विद्यमान जो उनकी आस्वाद्यमानता है उसी के कारण वे प्रकाशित होते हैं। वहाँ ध्वनन व्यापार को छोड़ कोई दूसरी कल्पना नहीं है। स्खलद्गतित्व के न होने से मुख्यार्थबाध आदि लक्षणा के कारणों की आशङ्का नहीं की जा सकती। औचित्यपूर्वक प्रवृत्ति के होने पर जब चित्तवृत्ति का आस्वाद होता है तब स्थायिनी चित्तवृत्ति से रस, व्यभिचारिणी से भाव, एवं (स्थायिनी चित्तवृत्ति से) अनौचित्य-पूर्वक प्रवृत्त होने पर रसाभास

ही। नायिका किसी जार से अपना अधर खण्डित करा कर पहुँची है। यह स्वाभाविक है कि उसका 'अपराध' प्रकट हो जायगा और उसका पति उस पर बेहद कुपित होगा। उसकी सखी ने उसे निरपराध सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत 'वचन' कहा, जिसका व्यङ्ग्य उसके पति, सुनने वाले आस-पड़ोस के लोग, सौत, स्वयं नायिका, चौर्यकामुक जार एवं तटस्थ विदग्ध जन के प्रति विभिन्न रूप में प्रतीत होता है। नायिका की सखी उसके पति से यह कहना चाहती है कि इसका कोई अपराध नहीं है, अन्यथा समझ कर कहीं क्रोध मत कर बैठना। आस-पड़ोस के लोगों से उसके इस कथन का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि यदि इसका पति इसे उपालम्भ भी दे तो भी इसका अविनय नहीं समझना चाहिए। सपत्नी, जो नायिका के उपालम्भ और अविनय से प्रसन्न है, के प्रति 'प्रियायाः' इस शब्द के बल से नायिका का सौभाग्यातिशय ख्यापन व्यङ्ग्य है। नायिका के प्रति व्यङ्ग्य है कि यह न समझना कि सपत्नियों के बीच वह इस तरह हल्की कर दी गई ही है बल्कि 'सहस्व' का दूसरा अर्थ यह है कि अब उनके बीच शोभा को प्राप्त कर। 'प्राकृत' में 'सहसु' का दूसरा रूप 'शोभस्व' भी हो सकता है। चौर्यकामुक के प्रति व्यङ्ग्य यह प्रतीत होता है कि आज तो किसी प्रकार प्रसन्नानुरागिणी तेरी इस प्रियतमा की रक्षा मैंने कर दी, अब फिर कहीं स्पष्ट रूप से इसका अधर मत काट देना। तटस्थ सहृदय लोगों के प्रति इस नायिका-सखी का व्यङ्ग्य प्रतीत होता है कि मैंने सफेद झूठ बोल कर किस प्रकार जाहिर बात को छिपा दिया!

लोचनम्

भावः, अनौचित्येन तदाभासः, रावणस्येव सीतायां रतेः। यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतैव, 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः' इति वचनात्। तथापि पाश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति शृङ्गारतैव भाति पौर्वापर्यविवेकावधारणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्' इत्यादौ। तदसौ शृङ्गाराभास एव। तदङ्गं भावाभासश्चित्तवृत्तेः प्रशम एव प्रक्रान्ताया हृदयमाह्लादयति यतो विशेषेण, तत एव तत्संगृहीतोऽपि पृथग्गणितोऽसौ। यथा—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दंपत्योः शनकैरपाङ्गवलनामिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहम्॥

इत्यत्रेर्ष्यारोषात्मनो मानस्य प्रशमः। न चायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः' इत्यतो यथा हर्षो जायते तथा। नापि लक्षणया। अपि तु सहृदयस्य हृदय-

होता है, जैसे रावण की सीता में रति से। यद्यपि वहाँ 'हास्यरस' का ही ढंग है, जैसा कि वचन है—'शृङ्गार से हास्य होता है'; तथापि यह सामाजिकों की पाश्चात्य (अन्त में होने वाली) स्थिति है। तन्मय होने की स्थिति में तो रति का ही आस्वाद होता रहता है, इस प्रकार शृङ्गारता ही भासित होती है, पौर्वापर्य (क्रम) के विवेक के अभाव के कारण—जैसे 'दूर ही से आकर्षण करनेवाले मोहमन्त्र के समान उसके नाम के कर्णगोचर होने पर०' इत्यादि में। तो यह शृङ्गाराभास ही[1] है। उस (शृङ्गार आदि रसाभास का) अङ्ग जो भावाभास है, चित्तवृत्ति जब प्रशम की अवस्था में प्रक्रान्त होती है तभी विशेष रूप से हृदय को आह्लादित करता है, इसी लिए 'भाव' शब्द से वह संगृहीत हुआ भी अलग से गणित है। जैसे—

'एक ही सेज पर एक दूसरे से मुँह फेर लेने के कारण निद्रा के समाप्त हो जाने के बाद सन्तप्त होते हुए, परस्पर एक दूसरे के प्रति अनुनय उनके हृदय में मौजूद था, तब भी गौरव की रक्षा करते हुए पति और पत्नी के नेत्र जब धीरे से अपाङ्ग की ओर झुकने के कारण मिल गए, तभी उनका प्रणय-रोष भग्न हो गया और वे हँस कर वेग-पूर्वक एक दूसरे का कण्ठग्रह कर पड़े।'

यहाँ ईर्ष्या-रोष रूप मान का प्रशम है। यह रसादि अर्थ 'तुम्हें लड़का हुआ है' इस वाक्य के श्रवण से जैसे हर्ष होता है, उस प्रकार नहीं है। और न लक्षणा से (वह प्रकाशित होता है)। अपितु, सहृदय जनों के हृदय के संवाद के बल से

---

१. क्योंकि रावण की सीताविषयक रति जब सहृदयों की रति से तन्मयीभाव प्राप्त करेगी तब शृङ्गार की चर्वणा होगी। तत्पश्चात् उन्हें यह मालूम होगा कि यह रति अनुचित आलम्बन में हो रही है। तभी हास का उद्बोध होगा, तभी शृङ्गार की चर्वणा शृङ्गाराभास-चर्वणा का रूप ले लेगी।

ध्वन्यालोकः

तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद्विभिन्न एव। तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्। विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः।

रसादिरूप तीसरा प्रभेद तो वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त हो प्रकाशित होता है, न कि वह साक्षात् शब्द-व्यापार का विषय होता है, इसलिए वह भी वाच्य विभिन्न ही है। जैसा कि उसका वाच्यत्व अपने शब्दों से निवेदित होने के रूप से अथवा विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा हो सकता है। पहले पक्ष में यदि अपने शब्द (रस अथवा श्रृङ्गार आदि नामों) के द्वारा निवेदित न होने पर रसादिकों की अप्रतीति का प्रसङ्ग होगा।

लोचनम्

संवादबलाद्विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति। तदाह—*प्रकाशत* इति। तेन तत्र शब्दस्य ध्वननमेव व्यापारोऽर्थसहकृतस्येति। विभावाद्यर्थोऽपि न पुत्रजन्म-हर्षन्यायेन तां चित्तवृत्तिं जनयतीति जननातिरिक्तोऽर्थस्यापि व्यापारो ध्वनन-मेवोच्यते। *स्वशब्देति*। श्रृङ्गारादिना शब्देनाभिधाव्यापारवशादेव निवेदित-त्वेन। *विभावादीति*। तात्पर्यशक्त्येत्यर्थः।

विभाव-अनुभाव की प्रतीति होने पर तन्मयीभाव के प्रकार से आस्वादित होता हुआ ही, सर्वथा रस्यमान रूप, सिद्ध स्वभाव वाला एवं सुखादिकों से विलक्षण (वह रसादि अर्थ) परिस्फुरित[1] होता है। उसे कहा है—प्रकाशित होता है—। इससे वहाँ अर्थ-सहकृत शब्द का ध्वनन ही व्यापार है। पुत्रजन्म से हुए हर्ष के समान विभावादि अर्थ भी उस चित्तवृत्ति को उत्पन्न नहीं करता इस लिए 'जनन' से अतिरिक्त अर्थ का भी व्यापार 'ध्वनन' ही कहा जाता है। अपना शब्द—। 'श्रृङ्गार' आदि शब्द द्वारा अभिधा व्यापार के वश निवेदित होने के कारण। विभाव आदि—। अर्थात् तात्पर्य-शक्ति के द्वारा।

१. रसादि अर्थ उत्पन्न नहीं होता ह बल्कि प्रकाशित होता है। सहृदय के हृदय में स्थित रत्यादि स्थायीभाव ही रस रूप में परिणत हो जाते हैं। स्थायीभावों की रस रूप में परिणति के पूर्व सहृदय के हृदय का संवाद द्वारा जब विभाव आदि की प्रतीति हो जाती है तब तन्मयीभाव होता है, ऐसी स्थिति में रस आस्वाद्यमान होने लगता है, यह सुखादि से विलक्षण आत्मिक आनन्दानुभूति है।

उसके रहने पर कार्य हो, यह 'अन्वय' है (दे० पृ० ८२) और उसके अभाव में कार्य न हो यह 'व्यतिरेक' है—'तत्सत्त्वे कार्यसत्त्वमन्वयः, तदभावे कार्याभावो व्यतिरेकः।' प्रस्तुत में आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वशब्द के अन्वयव्यतिरेक का निराकरण किया है अर्थात् 'श्रृङ्गार' आदि शब्द के रहने पर रसादि की प्रतीति नहीं होती है और उसके अभाव में भी रसादि की प्रतीति हो जाती है। किन्तु जहाँ ध्वनन व्यापार होता है वहीं रसादि की प्रतीति होती है।

ध्वन्यालोकः

न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः।

स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्।

किन्तु सर्वत्र उन (रसादिकों) का अपने शब्दों द्वारा निवेदितत्व नहीं। जहाँ कहीं भी वह है, वहाँ भी विशेष प्रकार से विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा ही उनकी प्रतीति है।

अपने शब्द से वह प्रतीति केवल अनूदित हो जाती है, उस (शब्द के बदौलत) कृत नहीं होती। क्योंकि विषयान्तर में उस प्रकार उसे नहीं देखते।

लोचनम्

तत्र स्वशब्दस्यान्वयव्यतिरेकौ रस्यमानतासारं रसं प्रति निराकुर्वन्ध्वननस्यैव ताविति दर्शयति—*न च सर्वत्रेति*। यथा भट्टेन्दुराजस्य—

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥

इत्यत्रानुभावविभावावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्या तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा स्फुरत्येवाभिलाषचिन्तौत्सुक्यनिद्राधृतिग्लान्यालस्यश्रमस्मृतिवितर्कादिशब्दाभावेऽपि।

एवं व्यतिरेकाभावं प्रदर्श्यान्वयाभावं दर्शयति—*यत्रापीति*। *तदिति*। स्वशब्दनिवेदितत्वम्। *प्रतिपादनमुखेनेति*। शब्दप्रयुक्तया विभावादिप्रतिपत्त्येत्यर्थः।

वहाँ स्वशब्द (शृङ्गार आदि शब्द) के अन्वयव्यतिरेक को रस्यमानताप्राण रूप रस के प्रति, निराकरण करते हुए वे दोनों (अन्वय और व्यतिरेक) हैं यह दिखाते हैं—सर्वत्र वे शब्द द्वारा निवेदित नहीं होते हैं—। जैसे भट्ट इन्दुराज का—

'जो कि रुक-रुक कर विलोकनों में बहुत बार आँखें स्थैर्यरहित हो जाती हैं, जो कि अङ्ग-अङ्ग कटे हुए कमिलिनी के नाल की भाँति प्रतिदिन सूखते जा रहे हैं, जो कि गालों पर दूर्वाकाण्ड का अनुकरण करने वाला घना पीलापन छाया हुआ है, युवक कृष्ण के प्रति युवतियों की यही वेषरचना है।'

यहाँ अनुभाव-विभाव के बोधन के बाद ही तन्मयीभाव की युक्ति से उस विभाव-अनुभाव के अनुरूप वासना रूप चित्तवृत्ति से अनुरञ्जित स्वसंविदानन्द की चर्वणा का गोचर रस रूप अर्थ अभिलाष, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, धृति, ग्लानि, आलस्य, श्रम, स्मृति, वितर्क आदि शब्द के अभाव में भी स्फुरित होता ही है। इस प्रकार व्यतिरेक का अभाव दिखाकर अन्वय का अभाव दिखाते हैं—जहाँ भी—। वह—। अर्थात् स्वशब्द द्वारा निवेदितत्व। प्रतिपादन के जरिए—। अर्थात् शब्द से प्रयुक्त विभाव की प्रतिपत्ति के द्वारा।

लोचनम्

सा केवलमिति । तथाहि—

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां
कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया ।
तद्गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥

इत्यत्र विभावानुभावावम्लानतया प्रतीयेते । उत्कण्ठा च चर्वणागोचरं प्रतिपद्यत एव । सोत्कण्ठाशब्दः केवलं सिद्धं साधयति, उत्कमित्यनेन तूक्तानुभावानुकर्षणं कर्तुं सोत्कण्ठाशब्दः प्रयुक्त इत्यनुवादोऽपि नानर्थकः, पुनरनुभावप्रतिपादने हि पुनरुक्तिरतन्मयीभावो वा न तु तत्कृतेत्यत्र हेतुमाह—*विषयान्तर* इति । 'यद्विश्रम्य' इत्यादौ । न हि यदभावेऽपि यद्भवति तत्कृतं तदिति भावः ।

वह केवल— । जैसा कि—

'कृष्ण के द्वारिका चले जाने पर उनके आस्फालनों के कारण झुकी हुई, कालिन्दी-तट में उत्पन्न वेतसलता को आलिङ्गन करके उत्कण्ठायुक्त राधा ने अधिक बाष्प के कारण गद्गद एवं स्खलित होती हुई आवाज में वह गान किया जिससे कि भीतर पानी में रहने वाले जीव उत्कण्ठित हो शब्द करने लगे ।'

यहाँ विभाव-अनुभाव अम्लान रूप से प्रतीत होते हैं और उत्कण्ठा चर्वणा का गोचर बनती है । 'सोत्कण्ठा' शब्द केवल सिद्ध का साधन करता है । 'उत्क' के द्वारा उक्त अनुभावों को खींचने के उद्देश्य से 'सोत्कण्ठा'[१] शब्द का प्रयोग है, इस लिए अनुवाद भी अनर्थक नहीं । क्योंकि पुनः अनुभाव के प्रतिपादन के होने पर पुनरुक्ति अथवा अतन्मयीभाव होगा । जो कि (वृत्तिग्रन्थ में) 'न तु तत्कृता' (उसके द्वारा नहीं की गई है) कहा है उसका हेतु कहते हैं—विषयान्तर में— । 'जो कि

१. 'याते द्वारवतीं' इस पद्य में विभाव का भी वर्णन है और अनुभाव का भी वर्णन है । मधुरिपु और कालिन्दीतट आदि यहाँ क्रमशः आलम्बन और उद्दीपन विभाव हैं । और साथ ही उत्कण्ठा भी चर्वणा का गोचर हो रही है । किन्तु यहाँ भ्रम नहीं होना चाहिए कि उत्कण्ठा की प्रतीति स्वशब्द 'सोत्कण्ठा' से हो रही है, बल्कि पूर्वसिद्ध उत्कण्ठा की प्रतीति का यह शब्द अनुवादक मात्र है अर्थात् यह केवल सिद्ध का साधन करता है । ऐसी स्थिति में अनुवाद को अनर्थक समझना ठीक न होगा, क्योंकि कवि ने आगे उत्कण्ठित होकर जलचारियों के कूजन का जिक्र किया है और पहले जो 'उत्कण्ठा' का प्रयोग करता है उससे दोनों स्थानों के अनुभावों का समन्वय कवि का यहाँ अभीष्ट है । इसलिए आचार्य लिखते हैं कि आगे के 'उत्क' से उक्त अनुभाव के अनुकर्षणार्थ 'सोत्कण्ठा' शब्द का प्रयोग किया है । अन्यथा केवल पुनः अनुभाव का प्रतिपादन मात्र यहाँ कवि को अभी माना जाय तो पुनरुक्ति होगी और तन्मयीभाव भी नहीं सिद्ध होगा । यह सारी बातें जिस तात्पर्य से कही गई हैं वह यह है कि स्वशब्द के साथ रसादि की प्रतीति के अन्वय-व्यतिरेक का अभाव है । प्रस्तुत में 'सोत्कण्ठा' रूप स्वशब्द के निवेदन होने पर भी उत्कण्ठा की प्रतीति लतालिङ्गन आदि रूप अनुभाव के प्रतिपादन के द्वारा ही होती है । 'सोत्कण्ठा' शब्द केवल इस प्रतीति का अनुवादक मात्र है । यह अनुवाद भी, जैसा कि आचार्य का कहना है, अनर्थक नहीं ।

ध्वन्यालोकः

न हि केवलशृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथञ्चित्, इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते।

उस काव्य में, जहाँ केवल शृङ्गार आदि शब्दमात्र प्रयुक्त हों और विभावादि का प्रतिपादन न हुआ हो, थोड़ी मात्रा में भी रसवत्ता की प्रतीति नहीं होती। क्योंकि स्वशब्द का अभिधान न हो तो भी केवल विशिष्ट विभाव आदि द्वारा रसादि की प्रतीति होती है। केवल स्वशब्द के अभिधान से प्रतीति नहीं होती। इस कारण अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा रसादिकों का अभिधेय (वाच्य) के सामर्थ्य से आक्षिप्तत्व ही सिद्ध होता है, न कि किसी प्रकार अभिधेयत्व (वाच्यत्व) है। इस प्रकार तीसरा भी प्रभेद वाच्य से भिन्न ही है, यह ठहरा। वाच्य से इसकी साथ ही जैसी प्रतीति होती है, इसे आगे चलकर दिखायेंगे।

लोचनम्

अदर्शनमेव द्रढयति—*न हीति*। केवलशब्दार्थं स्फुटयति—*विभावादीति*। *काव्य इति*। तव मते काव्यरूपतया प्रसज्यमान इत्यर्थः। *मनागपीति*।

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

इत्यत्र। एवं स्वशब्देन सह रसादेर्व्यतिरेकान्वयाभावमुपपत्त्या प्रदर्श्य तथैवोपसंहरति—*यतश्चेत्यादिना कथञ्चिदित्यन्तेन*। अभिधेयमेव सामर्थ्यं सहकारिशक्तिरूपं विभावादिकं रसध्वनने शब्दस्य कर्तव्ये, अभिधेयस्य च

रुक-रुक करके' इत्यादि स्थल में। भाव यह कि उसके अभाव में भी जो होता है वह उसके द्वारा किया नहीं जाता है। (विषयान्तर में होनेवाले) अदर्शन पर ही जोर देते हैं—न कि—। 'केवल' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं—विभावादि—। काव्य में—। अर्थात् तुम्हारे मत में काव्य के रूप में प्रसज्यमान। थोड़ा भी—।

'शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत नाम के ये आठ रस नाट्य में माने गए हैं।'

यहाँ। इस प्रकार स्वशब्द के साथ रसादि का व्यतिरेकाभाव और अन्वयाभाव उपपत्तिपूर्वक दिखाकर उसी प्रकार उपसंहार करते हैं—क्योंकि से लेकर—किसी प्रकार—तक के ग्रन्थ से। जब शब्द का रसध्वनन व्यापार कर्तव्य होगा तब

लोचनम्

पुत्रजन्महर्षभिन्नयोगक्षेमतया जननव्यतिरिक्ते दिवाभोजनाभावविशिष्टपीनत्वानुमितरात्रिभोजनविलक्षणतया चानुमानव्यतिरिक्ते ध्वनने कर्तव्ये सामर्थ्यं शक्तिः विशिष्टसमुचितो वाचकसाकल्यमिति द्वयोरपि शब्दार्थयोर्ध्वननं व्यापारः। एवं द्वौ पक्षावुपक्रम्याद्यो दूषितः, द्वितीयस्तु कथञ्चिद् दूषितः कथञ्चिदङ्गीकृतः, जननानुमानव्यापाराभिप्रायेण दूषितः, ध्वननाभिप्रायेणाङ्गीकृतः।

यस्त्वत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वननं मन्यते, स न वस्तुतत्त्ववेदी। विभावानुभावप्रतिपादके हि वाक्ये तात्पर्यशक्तिर्भेदे संसर्गे वा पर्यवस्येत्; न तु रस्यमानतासारे रसे इत्यलं बहुना। इतिशब्दो हेत्वर्थे। 'इत्यपि हेतोस्तृतीयोऽपि प्रकारो वाच्याद्भिन्न एवे'ति सम्बन्धः। *सहेवेति*। इवशब्देन विद्यमानोऽपि क्रमो न संलक्ष्यत इति तद्दर्शयति—*अग्र* इति। द्वितीयोद्द्योते ॥ ४ ॥

अभिधेय (वाच्य अर्थ) ही सामर्थ्य सहकारिशक्ति रूप विभाव आदि होगा। और जब अभिधेय का ध्वनन रूप कार्य होगा, ऐसी स्थिति में पुत्रजन्म के हर्ष से भिन्न होने के कारण जो ध्वनन होगा वह उत्पत्ति से अतिरिक्त होगा, तथा दिन में भोजनाभावविशिष्ट पीनत्व द्वारा अनुमित रात्रिभोजन से विलक्षण होने के कारण 'अनुमान' से भी ध्वनन व्यापार अलग होगा, फिर सामर्थ्य अर्थात् शक्ति, विशिष्ट एवं समुचित अर्थात् वाचक से परिपूर्णत्व रूप सिद्ध होती है। इसलिए ध्वनन व्यापार शब्द और अर्थ दोनों का है।[1] इस प्रकार दो पक्षों को उपक्रम करके पहले पक्ष को दूषित किया और कुछ अंश में अङ्गीकार किया। जनन (उत्पत्ति) और अनुमान के व्यापार के अभिप्राय से दूषित किया और 'ध्वनन' के अभिप्राय से अङ्गीकार किया।

जो कि यहाँ 'तात्पर्य-शक्ति' को 'ध्वनन' मानता है वह वस्तुतत्त्व (यथार्थ) को जानने वाला नहीं है, क्योंकि विभावानुभाव के प्रतिपादक वाक्य में तात्पर्य-शक्ति भेद में अथवा संसर्ग में पर्यवसित होगी, न कि रस्यमानतासार रस में। इस पर अब ज्यादा कहना व्यर्थ है। 'इति' (इस प्रकार) शब्द हेत्वर्थक है। सम्बन्ध यह है कि इस हेतु से भी तीसरा प्रकार भी वाच्य से भिन्न ही ठहरता है। 'साथ की तरह'—। 'इव' ('तरह') शब्द के द्वारा यह दिखाते हैं कि रहता हुआ भी क्रम संलक्षित नहीं होता—आगे—। दूसरे उद्योत में।

---

१. वृत्तिग्रन्थ में रसादि को जो अभिधेय के सामर्थ्य से आक्षिप्त कहा है वह सर्वथा ध्वनन व्यापार से ही गम्य है। जब शब्द से रस का ध्वनन होता है तब अभिधेय या वाच्य ही विभावादि रूप से सहकारि शक्ति रूप सामर्थ्य होता है और इससे होने वाला ध्वनन न तो पुत्रजन्म से उत्पन्न हर्ष जैसा उत्पन्न होता है और न तो उसे दिन के भोजन के अभाव में रात्रि के भोजन के अनुमान जैसा अनुमान कहा जा सकता है। ध्वनन शब्द और अर्थ दोनों का व्यापार है। इस प्रकार आचार्य ने यहाँ रसादि का शब्द-शब्दनिवेदितत्व को दूषित किया है और विभावादि प्रतिपादन के ढंग को जनन और अनुमान के अभिप्राय से दूषित करके भी ध्वनन के अभिप्राय से स्वीकार किया है, क्योंकि ध्वनन इन दोनों से भिन्न व्यापार है।

यहाँ पुरानी शंका पुनः खड़ी होती है कि जब आप यह स्वीकार कर रहे हैं कि रसादि

ध्वन्यालोकः

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ५ ॥

काव्य का आत्मा वही अर्थ है, जैसा कि पुराकाल में क्रौञ्च-पक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न शोक आदिकवि का श्लोक बन गया ॥ ५ ॥

लोचनम्

एवं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इतीयता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम् । अधुना काव्यात्मत्वमितिहासव्याजेन च दर्शयति—*काव्यस्यात्मेति* । स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च । तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मे'ति सामान्येनोक्तम् । *शोक* इति । क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरी-

इस प्रकार 'प्रतीयमान फिर दूसरा ही' इतने से ध्वनि के स्वरूप का व्याख्यान किया । अब ध्वनि का काव्यात्मत्व इतिहास के व्याज से दिखाते हैं—काव्य का आत्मा— । 'वही' यह (कथन) यद्यपि प्रतीयमान मात्र में प्रक्रान्त है तथापि तीसरा 'रसध्वनि' ही (काव्यात्मा) रूप मन्तव्य है । एक तो इतिहास के बल से और दूसरे प्रक्रान्त वृत्तिग्रन्थ के अर्थ के बल से । इस लिए रस ही वस्तुतः आत्मा है, वस्तुध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि सर्वथा रस के प्रति पर्यवसित होते हैं अतः वे वाच्य से उत्कृष्ट हैं । इस अभिप्राय से 'ध्वनि काव्य का आत्मा है' यह सामान्य रूप से कहा है । शोक— । क्रौञ्च के द्वन्द्ववियोग से अर्थात् सहचरी क्रौञ्ची के मारे जाने से, साहचर्य

वाच्य-सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं, तो ऐसा क्यों न माना जाय कि 'ध्वनन' तात्पर्य शक्ति ही है । इस प्रकार चतुर्थ कक्षा में रहने वाले अतिरिक्त व्यापार की कल्पना का गौरव नहीं करना पड़ता है ? क्योंकि तात्पर्य शक्ति वही है जो अभिधेय या वाच्य के अविनाभाव की सहायता से अर्थबोधन की शक्ति है । इस पर आचार्य का कहना है कि जैसा हम पहले कह चुके हैं तात्पर्य शक्ति या तो भेद में पर्यवसित होती है, अर्थात् कर्मान्तर और क्रियान्तर के भेद रूप वाक्यार्थ में पर्यवसित होती है, या तो संसर्ग में, अर्थात् परस्पर पदार्थों के संसर्ग में पर्यवसित होती है और रस को सर्वथा आस्वाद्यमान रूप है ऐसी स्थिति में उसका रस में पर्यवसान असम्भव है । इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के अतिरिक्त यह भी एक हेतु है जिससे रसादि तृतीय प्रकार वाच्य से सर्वथा भिन्न ही ठहरता है ।

वाच्य की प्रतीति और रसादि रूप व्यङ्ग्य की प्रतीति कुछ इस शीघ्रता से होती है जिससे उन दोनों का क्रम अभिलक्षित नहीं होता । इसलिए रसादि को 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' कहा गया है । इसी लिए वृत्तिकार ने वाच्यादि के साथ इसकी प्रतीति 'साथ की तरह' होती है यह कहा है । ऐसा नहीं कि वाच्यादि के साथ रस की प्रतीति होती है । यह विषय 'द्वितीय उद्योत' में निर्दिष्ट होगा ।

लोचनम्

हननोद्भूतेन साहचर्यध्वसनेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भशृङ्गारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्तिनिःष्यन्दस्वभाववाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतयैवावेशवशात्समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः—

(साथ) के ध्वंस हो जाने के कारण उत्पन्न जो शोक रूप स्थायीभाव, निरपेक्षभाव होने के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार के उचित रतिरूप स्थायीभाव से अतिरिक्त ही है। वही (शोक) उस प्रकार के विभाव और उससे उत्पन्न आक्रन्द आदि अनुभाव की चर्वणा द्वारा, हृदय के संवाद और फिर तन्मयीभाव के क्रम से आस्वाद्यमान अवस्था को प्राप्त, लौकिक शोक के अतिरिक्त, चर्वयिता के अपने चित्त की द्रुति के द्वारा समास्वाद्य-सार करुणरसरूपता को प्राप्त, जैसे जल से भरा घड़ा झलकता है और जैसे चित्तवृत्ति के निष्यन्द रूप वाग्विलाप आदि होते हैं उसी प्रकार 'समय' (शब्द के सङ्केत) की अपेक्षा न रखने पर भी (वचन) चित्तवृत्ति के व्यञ्जक होते हैं' इस न्याय से अकृत्रिम रूप से ही, आवेश के कारण, समुचित शब्द, छन्द, वृत्त आदि से नियन्त्रित हुआ, 'श्लोक' की अवस्था को प्राप्त होता है'—

१. 'शोक श्लोक की अवस्था को प्राप्त है' आचार्य आनन्दवर्धन का यह निर्देश एक ऐतिहासिक घटना को सूचित करता है, जो 'वाल्मीकीय रामायण' से विदित होती है। किसी समय वाल्मीकि अपने आश्रम से समित्कुशाहरण के लिए निकल कर वनप्रान्त में घूम रहे थे। तभी उन्होंने व्याध के द्वारा बाण से बिधे एक क्रौञ्च को देखा, जिसके वियोग-व्यथा से व्याकुल होकर क्रौञ्ची अत्यन्त कातर होकर चिल्ला रही थी। तत्काल ऋषि के मुख से शापयुक्त छन्दोमयी वाणी निकल पड़ी, जो निर्दिष्ट 'मा निषाद' के रूप में प्रसिद्ध है। इसे ही 'शोकः| श्लोकत्वमागतः' कहा गया है। महाकवि कालिदास ने भी 'रघुवंश महाकाव्य' के चौदहवें सर्ग में इस घटना का स्मरण किया है—

तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः **श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः** ॥

प्रस्तुत में आचार्य ने 'रस' को काव्य का आत्मा सिद्ध करने के उद्देश्य से इस प्रसंग का उल्लेख किया है। लोचनकार ने इस प्रसंग का जो व्याख्यान किया है उसका स्पष्टीकरण यह है— यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि विप्रलम्भ शृङ्गार का स्थायीभाव रति तब होती है जब नायक-नायिका दोनों विद्यमान रहते हैं, केवल दोनों का एकमिलन न सम्पन्न होने के कारण दोनों में सापेक्षता रहती है अर्थात् विप्रलम्भ शृङ्गार की रति सापेक्ष भाव है। इसके विपरीत शोक रूप स्थायीभाव में आलम्बन विभाव नायिका और नायक में कोई एक दिवङ्गत हो जाता है और पुनर्मिलन की आशा समाप्त हो जाती है अर्थात् शोक रूप स्थायीभाव निरपेक्ष होता है। प्रस्तुत पद्य 'मा निषाद' में क्रौञ्च के जोड़े में से एक व्याध के बाण से मारा गया है इस प्रकार साहचर्य के ध्वंस होने से यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार का स्थायीभाव रति न होकर करुण का स्थायी भाव शोक ही माना गया है।

लोचनम्

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ इति ।

न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम् । एवं हि सति तद्दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत् । न च दुःखसन्तप्तस्यैषा दशेति । एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्चलनस्वभावत्वात्स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशाब्दवैलक्षण्यकारकः ।

एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे—'यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्' इति ।

'हे व्याध, काम से मोहित क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक को तू ने मार डाला है इसलिए अनन्तकाल तक प्रतिष्ठा को प्राप्त न हो ।'

न कि मुनि का शोक है यह मानना चाहिए[1] । क्योंकि ऐसा होने पर उस (क्रौञ्च) के दुःख से वह भी दुखित हो जाते हैं, फिर रसात्मकता की बात नहीं बनेगी । दुःख से जो प्राणी सन्तप्त हो उसकी ऐसी दशा (कि शाप देने के लिए श्लोक का निर्माण करे) नहीं होती । इस प्रकार चर्वणा के योग्य शोकरूप स्थायीभाव वाले करुणरस से प्रवाहित होने के स्वभाव के कारण वही काव्य का आत्मा अर्थात् सारभूतस्वभाव एवं दूसरे शाब्दबोध से वैलक्षण्य करने वाला है ।

'हृदयदर्पण' में इसे ही कहा है—'जब तक इस रस से भर नहीं जाता तब तक

यहाँ क्रौञ्च रूप आलम्बन में उत्पन्न शोक आक्रन्दन आदि अनुभावों की चवणा से अलौकिक स्थिति में हृदय-संवाद और तन्मयीभाव के क्रम से आ जाता है । इस प्रकार ऋषि ने उस अलौकिक शोक को चित्त की द्रुति द्वारा आस्वादन किया । यह आस्वादन उस शोक का परिवर्तित रूप 'करुण रस' ही है । इस प्रकार जब ऋषि ने करुण रस का अनुभव किया तभी उनके मुख से छन्दोमयी वाणी अनायास निकल पड़ी, यह उसी प्रकार हुआ जैसे की भरा हुआ घड़ा छलक पड़ता है अथवा जैसे दुःख आदि की चित्तवृत्ति के होने पर अनायास मुँह से शब्द निकल पड़ते हैं । इस प्रकार शोक करुण रस की स्थिति में पहुँच कर श्लोक बन गया ।

क्रौञ्च — वाल्मीकि
| — |
शोक (लौकिक) — शोक (अलौकिक)
|
(हृदयसंवाद और तन्मयीभाव)
|
करुणरस
|
छन्दोमयी वाणी

१. आचार्य का यह भी निर्देश है कि शोक को भ्रम से मुनि का नहीं समझ लेना चाहिए । अन्यथा क्रौञ्च के दुःख से सन्तप्त ऋषि के मुख से इस प्रकार श्लोक-रचना अस्वाभाविक प्रतीत होती है । अतः वह शोक वस्तुतः ऋषि के द्वारा आस्वाद्यमान होकर अलौकिक हो गया और ऋषि ने चित्तद्रुति के द्वारा उसे करुण रस की स्थिति में अनुभव किया, जो सर्वथा आनन्दमयता की स्थिति है । इस प्रकार इस युक्ति से करुण रस ही प्रस्तुत छन्दोमयी वाणी का सार होने के कारण 'काव्य का आत्मा' निश्चित होता है ।

ध्वन्यालोकः

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः। चादिकवेर्वाल्मीकेः निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्द-जनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः।

विविध वाच्य, वाचक और रचना के प्रपञ्च से सुन्दर काव्य का वही अर्थ सारभूत है। जैसा कि आदिकवि वाल्मीकि का निहत[1] सहचरी के वियोग से कातर क्रौञ्च की चीख (आक्रन्द) से उत्पन्न शोक ही श्लोकरूप से परिणत हो गया।

लोचनम्

अगम इति च्छान्दसेनाडागमेन। *स एवेत्येवकारेणेदमाह*—नान्य आत्मेति। तेन यदाह भट्टनायकः—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्।

इति तदपास्तम्। व्यापारो हि यदि ध्वननात्मा रसनास्वभावस्तन्नापूर्व-मुक्तम्। अथाभिधैव व्यापारस्तथाप्यस्याः प्राधान्यं नेत्यावेदितं प्राक्।

श्लोकं व्याचष्टे—*विविधेति*। विविधं तत्तदभिव्यञ्जनीयरसानुगुण्येन विचित्रं कृत्वा वाच्ये वाचके रचनायां च प्रपञ्चेन यच्चारु शब्दार्थालङ्कारगुणयुक्त-

उसे वमन नहीं करता है।' (वाल्मीकि के पद्य में) 'अगमः में वैदिक नियमानुसार अडागम हुआ है। 'वही' इस 'एव' ('ही') कहने से यह कहा है—दूसरा आत्मा नहीं है। इस लिए जो कि 'भट्टनायक' कहते हैं—

'शब्द के प्राधान्य का आश्रयण करके शास्त्र को अलग मानते हैं, अर्थतत्त्व से युक्त को 'आख्यान' कहते हैं और इन दोनों (शब्द-अर्थ) के गुणीभूत होने की स्थिति में व्यापार का प्राधान्य होने पर काव्य की धी होती है।

वह निरस्त हो जाता है। यदि ध्वनन रूप व्यापार रसना-स्वभाव है आपने अपूर्व नहीं कहा। यदि अभिधा ही व्यापार है तथापि उसका प्राधान्य नहीं है, यह पहले बताया जा चुका है।

श्लोक की व्याख्या करते हैं—विविध—। विविध अर्थात् उस-उस अभिव्यञ्जनीय रस के आनुगुण्य से विचित्र बनाकर, वाच्य, वाचक और रचना में प्रपञ्च जो चारु

१. वाल्मीकि रामायण' में उल्लिखित 'क्रौञ्चवध' घटना के अनुसार क्रौञ्च के जोड़े में से नर क्रौञ्च का ही वध निर्दिष्ट है और उसके वियोग में क्रौञ्ची रुदन करती है—**'तं शोणितपरीताङ्ग चेष्टमानं महीतले। दृष्ट्वा क्रौञ्ची रुरोदार्ता करुणं खे परिभ्रमा॥'** प्रस्तुत ग्रन्थ में क्रौञ्चयुगल में सहचरी के वध और क्रौञ्च के आक्रन्द का उल्लेख है, इतना ही नहीं, 'लोचन' से भी सहचरी क्रौञ्ची का वध ही सिद्ध होता है। साथ ही 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर ने भी 'निषादनिहतसह-चरीकं क्रौञ्चयुवानम्' उल्लेख द्वारा क्रौञ्ची का वध माना है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है

लोचनम्

मित्यर्थः। तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः। आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहार इत्युक्तं प्रागेव। तेनैतन्निरवकाशम्; यदुक्तं हृदयदर्पणे—'सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यात्' इति। *निहतसहचरीति* विभाव उक्तः। *आक्रन्दितशब्देनानुभावः। जनित* इति। चर्वणागोचरत्वेनेति शेषः।

अर्थात् शब्द और अर्थ के अलङ्कार और गुणों से युक्त है। इस लिए सर्वत्र ध्वनन के होते हुए भी काव्य का व्यवहार नहीं होता है।[1] पहले ही कह चुके हैं कि आत्मा के सद्भाव में भी कहीं-कहीं पर ही 'जीव' का व्यवहार होता है। इस लिए इस बात का कोई अवकाश ही नहीं जो कि 'हृदयदर्पण' में कही गई है—'तब तो सर्वत्र काव्य का व्यवहार होगा।' 'निहतसहचरी' के द्वारा विभाव कहा है, 'आक्रन्दित' से अनुभाव। उत्पन्न—। शेष यह कि चर्वणा के गोचर होने से।

कि यदि वृत्तिकार, लोचनकार एवं राजशेखर तीनों ने यह जानते हुए कि 'रामायण' में क्रौञ्च के ही वध का निर्देश है, प्रस्तुत में जो विरुद्धार्थ का प्रतिपादन किया है, उसमें निमित्त क्या है ?

दीधितिकार ने मूल वृत्तिग्रन्थ और लोचन का पाठ ही परिवर्तित कर दिया है, उनका पाठ है—'निहतसहचर-विरहक्रौञ्च्याक्रन्दजनितः।' परन्तु कुछ लोगों ने क्लिष्ट समास करके मूल का परिवर्तन न करते हुए भी व्याख्यान किया है जिससे उनका अभिमत क्रौञ्च का वध और क्रौञ्ची का आक्रन्द सिद्ध हो जाता है, इसके अनुसार—'निहतः सहचरीविरहकातरः यः क्रौञ्चः तदुद्देश्यकः क्रौञ्चीकर्तृको यः आक्रन्दः तज्जनितः' होगा। इस प्रकार रामायण का विरोध भी नहीं होता और न यथास्थित मूल का परिवर्तन ही करना पड़ता है। कुछ विद्वानों का तीसरा पक्ष यह है कि क्यों न यही माना जाय कि रामायण का विरोध होने पर भी यथास्थित मूल का पाठ ही ठीक है ? यह इस लिए भी कह सकते हैं कि ध्वन्यालोक और लोचन की प्रायः सभी प्रतियों में ऐसा ही पाठ मिलता है। उसे सर्वथा 'गलत' करार देना ठीक नहीं कहा जा सकता। दूसरे, उपपत्ति यह मिलती है कि 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ प्रधान रूप से ध्वनि का प्रतिपादन करता है, अतः इसे ध्वन्यर्थ ही अभिप्रेत है। 'मा निषाद०' का भी ध्वन्यर्थ है कि 'हे निषाद ! (रावण !) राम और सीता के जोड़े में से एक को (अर्थात् सीता को) जो तू ने वध किया (बल्कि वध से भी अधिक पीड़ा दी) उस कारण तू (लङ्का में अधिष्ठान रूप) प्रतिष्ठा को न प्राप्त कर।' तो, यहीं स्वीकार किया जाय कि ध्वन्यालोककार ने जानबूझ कर रामायण की घटना को अपने अनुकूल ढालकर ध्वन्यर्थ के उचित यह उदाहरण प्रस्तुत किया है ! यह ध्वन्यर्थ 'रामायण' के प्राचीन टीकाकारों के अनुसार एवं करुण रस के अनुकूल है। अतः यह पक्ष बहुत अंश में मन्तव्य प्रतीत होता है।

१. यह तो सिद्धान्त ही है कि ध्वनि काव्य का आत्मा है, सारभूत तत्त्व है। किन्तु सारभूत उस ध्वनि तत्त्व के रहने मात्र से काव्य की पूर्णता नहीं होती, किन्तु उसके साथ ही उस काव्य को अभिव्यञ्जनीय रस के आनुगुण्य से वाच्य, वाचक और रचना के प्रपञ्च से 'चारु' होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि रस के अनुकूल शब्द और अर्थ के अलङ्कार और गुण का भी वहाँ योग होना चाहिए। अन्यथा ध्वनि तो बिलकुल साधारण किसी वाक्य में भी हो सकता है, ऐसी स्थिति में सर्वत्र 'ध्वनि' के व्यवहार की आपत्ति का वारण नहीं हो सकता। जैसा कि लोक में भी देखते हैं कि आत्मा के सद्भाव होने पर भी जीव का व्यवहार सर्वत्र नहीं, बल्कि कहीं-कहीं पर ही होता है। वही स्थिति प्रस्तुत में समझनी चाहिए। इसी उद्देश्य से मूल वृत्तिग्रन्थ में 'काव्य' के विशेषण रूप में 'विविधवाच्यवाचक-रचनाप्रपञ्चचारु' कहा है।

ध्वन्यालोकः

शोको हि करुणस्थायिभावः । प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात् ।

शोक करुण का स्थायीभाव है। प्रतीयमान के अन्य भेदों के रहते हुए भी प्राधान्य के कारण रस और भाव द्वारा ही उनका उपलक्षण (बोधन) है।

लोचनम्

ननु शोकचर्वणातो यदि श्लोक उद्भूतस्तत्प्रतीयमानं वस्तु काव्यस्यात्मेति कुत इत्याशङ्क्याह—*शोको हीति*। करुणस्य तच्चर्वणागोचरात्मनः स्थायिभावः। शोके हि स्थायिभावे ये विभावानुभावास्तत्समुचिता चित्तवृत्तिश्चर्व्यमाणात्मा रस इत्यौचित्यात्स्थायिनो रसतापत्तिरित्युच्यते। प्राक्स्वसंविदितं परत्रानुमितं च चित्तवृत्तिजातं संस्कारक्रमेण हृदयसंवादमादधानं चर्वणायामुपयुज्यते यतः। ननु प्रतीयमानरूपमात्मा तत्र त्रिभेदं प्रतिपादितं न तु रसैकरूपम्, अनेन चेतिहासेन रसस्यैवात्मभूतत्वमुक्तं भवतीत्याशङ्क्याभ्युपगमेनैवोत्तरमाह—*प्रतीयमानस्य चेति*। अन्यो भेदो वस्त्वलङ्कारात्मा। *भावग्रहणेन*

यदि शोक की चर्वणा से श्लोक उद्भूत हुआ तो प्रतीयमान (रसरूप) वस्तु 'काव्य का आत्मा' कैसे है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—**शोक**। उस (शोक) की चर्वणा के विषय रूप करुण का स्थायीभाव। शोक के स्थायीभाव होने पर जो विभाव, अनुभाव हैं उनके समुचित चित्तवृत्ति चर्व्यमाण रूप रस हो जाती है, इस औचित्य के बल से स्थायीभाव रस की अवस्था को प्राप्त करता है, ऐसा कहा जाता है। पहले अपने में संविदित (अनुभूत) और दूसरे में अनुमित चित्तवृत्तिसमूह संस्कार के क्रम से हृदय-संवाद को प्राप्त करता हुआ चर्वणा[1] में उपयोगी होता है। जब कि प्रतीयमान रूप आत्मा है, उसमें तीन भेदों का प्रतिपादन हुआ है न कि एकमात्र रस रूप प्रतीयमान (ही प्रतिपादित है) और इस इतिहास से रस का ही आत्मभूतत्व कहा गया है, यह आशङ्का करके अभ्युपगम द्वारा ही उत्तर कहते हैं—**प्रतीयमान के—**। अन्य भेद अर्थात् वस्तु और अलङ्कार रूप भेद। 'भाव' के ग्रहण से चर्वणा के गोचर व्यभिचारीभाव की उतने मात्र में विश्रान्ति न होने पर भी, स्थायी-

१. 'चर्वणा' एक पुनः पुनः आस्वादन रूप अलौकिक व्यापार है। इसी के द्वारा चित्तवृत्ति का रसानुभूति की अवस्था में आस्वादन होता है। इसके पूर्व चित्तवृत्ति हृदय-संवाद की स्थिति में आकर तन्मयीभाव को प्राप्त करती है। तभी उसकी 'चर्वणा' होती है। यह प्रसंग पहले भी आ चुका है।

२. रस के साथ भाव के उल्लेख का तात्पर्य यह है कि भाव के व्यञ्जित होने पर भी काव्यात्मत्व सुरक्षित रहता है। यद्यपि व्यभिचारी भाव, चर्वणा की स्थिति में न तो स्वरूप मात्र में विश्रान्त होगा और न रस की प्रतिष्ठा को, जो स्थायी भाव की चर्वणा से प्राप्त होती है, प्राप्त करेगा। तथापि उस व्यभिचारी भाव की चर्वणा से भी चमत्कार अवश्य होता है इस लिए भाव आदि भी संग्राह्य हैं।

ध्वन्यालोकः

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥६॥

उस स्वादु (रसस्वभावरूप) अर्थ वस्तु को प्रवर्तित करती (प्रवाहित करती) हुई महाकवियों की सरस्वती (वाणी) अलौकिक, परिस्फुरित होते हुए प्रतिभा-विशेष को अभिव्यक्त करती है ॥ ६ ॥

लोचनम्

व्यभिचारिणोऽपि चर्व्यमाणस्य तावन्मात्रविश्रान्तावपि स्थायिचर्वणापर्यवसानोचितरसप्रतिष्ठामनवाप्यापि प्राणत्वं भवतीत्युक्तम् । यथा—

नखं नखाग्रेण विघट्टयन्ती विवर्तयन्ती वलयं विलोलम् ।
आमन्द्रमाशिञ्जितनूपुरेण पादेन मन्दं भुवमालिखन्ती ॥

इत्यत्र लज्जायाः । रसभावशब्देन च तदाभासतत्प्रशमावपि संगृहीतावेव; अवान्तरवैचित्र्येऽपि तदेकरूपत्वात् । *प्राधान्यादिति* । रसपर्यवसानादित्यर्थः । तावन्मात्रविश्रान्तावपि चान्यशाब्दवैलक्षण्यकारित्वेन वस्त्वलङ्कारध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुक्तमिति भावः ॥ ५ ॥

एवमितिहासमुखेन प्रतीयमानस्य काव्यात्मतां प्रदर्श्य स्वसंवित्सिद्धमप्येतदिति दर्शयति—*सरस्वतीति* । वाग्रूपा भगवतीत्यर्थः । वस्तुशब्देनार्थशब्दं तत्त्वशब्देन च वस्तुशब्दं व्याचष्टे—*निःष्यन्दमानेति* । दिव्यमानन्दरसं स्वयमेव प्रस्नुवानेत्यर्थः । यदाह भट्टनायकः—

भाव की चर्वणा के पर्यवसान रूप उचित रस की प्रतिष्ठा को न प्राप्त करके भी प्राणत्व बन जाता है, यह कहा है। जैसे—

'नख को नखाग्र से लिखती, चंचल वलय को घुमाती और गम्भीर स्वर में बजते नूपुरों से युक्त अपने पैर से धीरे-धीरे जमीन पर लिखती हुई ।'

यहाँ लज्जा का । 'रसभाव' शब्द से उनके आभास और प्रशम भी संगृहीत ही हुए; क्योंकि अवान्तर वैचित्र्य होने पर भी वे एक ही रूप के हैं । प्राधान्य से— । अर्थात् रस में पर्यवसान से । भाव यह कि वस्तु अलङ्कार के स्वरूप मात्र में विश्रान्ति के न होने पर भी दूसरे शाब्द से वैलक्षण्यकारी होने के कारण वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनि का भी जीवितत्व औचित्य से कहा है ।

इस प्रकार इतिहास के प्रकार से 'प्रतीयमान' का काव्यातमत्व प्रदर्शित करके (सहृदय जनों के) अपने अनुभव से भी सिद्ध है' यह दिखाते हैं—सरस्वती— । वस्तु' शब्द से 'अर्थ शब्द की और 'तत्त्व' शब्द से 'वस्तु' शब्द की व्याख्या करते हैं[1]—प्रवाहित करती हुई— । अर्थात् दिव्य आनन्द को स्वयं ही प्रस्तुत करती हुई । जैसा कि भट्टनायक ने कहा है—

१. कारिकाग्रन्थ में 'अर्थवस्तु' का प्रयोग है और वृत्तिग्रन्थ में उसकी व्याख्या 'वस्तु' शब्द से

लोचनम्

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः॥

तदावेशेन विनाप्याक्रान्त्या हि यो योगिभिर्दुह्यते। अत एव—

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्॥

इत्यनेन साराग्र्यवस्तुपात्रत्वं हिमवत उक्तम्। 'अभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तमि'ति। प्रतिपत्तॄन् प्रति सा प्रतिभा नानुनीयमाना, अपि तु तदावेशेन भासमानेत्यर्थः। यदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन—'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।' इति। 'प्रतिभा' अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा; तस्या

'(सहृदय जन रूप) वत्स में स्नेह के कारण वाणीरूप धेनु इस रस को जो कि प्रस्तुत करती है, इस लिए इसके समान वह (रस) रस नहीं हो सकता जिसे योगी लोग दुहा करते हैं।'

जिसे योगी लोग रसावेश के बिना ही केवल बलात्कारपूर्वक दुहा करते हैं। अत एव'—

'दोहन कार्य में चतुर दुहने वाले मेरुपर्वत के विद्यमान रहने पर सारे पर्वतों ने जिस हिमालय को वत्स बनाकर पृथु के द्वारा प्रदर्शित पृथिवी से प्रदर्शित चमकदार रत्नों और महौषधियों का दोहन किया।'

इससे सारवस्तुओं का पात्रत्व हिमवान् का कहा है। 'परिस्फुरित होते हुए को अभिव्यञ्जित करती है।' अर्थात् प्रतिपत्ता (सहृदय) जनों के प्रति वह प्रतिभा अनुमीयमान नहीं होती, बल्कि उसके (प्रतिभा के विषयीभूत रस के) आवेश से भासित होता है। जैसा कि हमारे उपाध्याय भट्ट तौत ने कहा है—'नायक, कवि और श्रोता का उससे (उस कारण) समान अनुभव होता है।' अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा 'प्रतिभा' (कहलाती) है, उसका 'विशेष' रसावेश के कारण

की गई है। लोचनकार का कहना है कि 'वस्तु' शब्द 'अर्थ' की व्याख्या है और 'तत्त्व' शब्द 'वस्तु' की व्याख्या है। तात्पर्य यह कि वस्तु, अलङ्कार और रस रूप अर्थों अर्थात् वस्तुओं में जो वस्तु अर्थात् तत्त्व या सार।

१. आचार्य ने महाकवियों की वाणी को व्यङ्ग्यार्थ को प्रवाहित करने वाली कहा है। यह एक प्रकार की धेनु है जो सहृदयरूपी वत्सों को स्वयं दिव्य रस पिलाकर आनन्दित करती है। यहाँ लोचनकार ने 'वचन' उद्धृत करके यह निर्देश किया है कि वह आनन्द, जो सहृदयों को कविता से प्राप्त होता है, तथा वह आनन्द, जो योगियों को समाधि में मिलता है, दोनों में बहुत अन्तर है। इस प्रकार कवियों के प्रतिभा-विशेष का पता चलता है। जो कविता जितना ही रस का अनुभव कराती है उतना ही उससे कवि की प्रतिभाविशेष का अन्दाजा मिलता है। और उसी अभिव्यक्त प्रतिभा-विशेष के आधार पर ही कवि की महाकवि को कोटि में गणना होती है। संसार में हजारों की संख्या में कवि होते आए हैं, किन्तु वह प्रतिभा-विशेष का ही चमत्कार है जो कालिदास प्रभृति कुछ ही कवि महाकवि की श्रेणी में आते हैं।

ध्वन्यालोकः

तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीना भारती अलोसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति। येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥ ७ ॥

उस वस्तुतत्त्व को प्रवाहित करती हुई महान् कवियों की सरस्वती (वाणी) परिस्फुरित होते हुए अलोकसामान्य प्रतिभा-विशेष को अभिव्यक्त करती है। जिससे अतिविचित्र कवियों की परम्परा से युक्त इस संसार में कालिदास प्रभृति दो-तीन अथवा पाँच-छः महाकवि गिने जाते हैं।

और यह दूसरा प्रतीयमान अर्थ के सद्भाव का साधन प्रमाण है—

केवल शब्द-अर्थ के शासनों (नियमों) के ज्ञानमात्र से नहीं जाना जाता है, बल्कि केवल वह तो काव्यार्थ के तत्त्वज्ञ लोगों द्वारा ही जाना जाता है ॥ ७ ॥

लोचनम्

'विशेषो' रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम्। यदाह मुनिः—'कवेरन्तर्गतं भावम्' इति। *येनेति*। अभिव्यक्तेन स्फुरता प्रतिभाविशेषेण निमित्तेन महाकवित्वगणनेति यावत् ॥ ६ ॥

इदं *चेति*। न केवलं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्येतत्कारिकासूचितौ स्वरूपविषयभेदावेव; यावद्भिन्नसामग्रीवेद्यत्वमपि वाच्यातिरिक्तत्वे प्रमाणमिति यावत्। *वेद्यत* इति। न तु न वेद्यते, येन न स्यादसाविति भावः। काव्यस्य तत्त्वभूतो योऽर्थस्तस्य भावना वाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा तत्र विमुखानाम्।

उत्पन्न वैशद्यप्रयुक्त सौन्दर्य रूप काव्य-निर्माण की क्षमता है। जैसा कि मुनि ने कहा है—'कवि के अन्तर्गत भाव को।' जिससे—। मतलब यह कि अभिव्यक्त या स्फुरित होते हुए प्रतिभा विशेष रूप निमित्त से महाकवित्व की गणना (कहाकवियों में गणना) होती है।

और यह—। न केवल 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इस कारिका से सूचित स्वरूप और विषयगत भेद, बल्कि भिन्न सामग्री द्वारा वेद्यत्व भी (प्रतीयमान = व्यङ्ग्य के) वाच्य से अतिरिक्त (पृथक्) होने में प्रमाण है। जाना जाता है—। भाव यह कि न कि नहीं जाना जाता है जिससे वह नहीं होता। काव्य का तत्त्वभूत जो अर्थ उसकी भावना, वाच्य के अतिरेकपूर्वक निरन्तर चर्वणा उसमें विमुख। स्वर, षड्ज

ध्वन्यालोकः

सोऽर्थो यस्मात्केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाऽप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः।

वह अर्थ जिस कारण काव्यार्थ के तत्त्वज्ञ लोगों द्वारा ही जाना जाता है। और, यदि वह अर्थ वाच्यरूप ही होता तो वाच्य और वाचक के रूप के परिज्ञान से ही उसकी प्रतीति होती। और भी, वाच्य-वाचक के लक्षणमात्र में जिन्होंने श्रम किया है तथा काव्यतत्त्वार्थ की भावना से पराङ्मुख हैं उनके लिए यह अर्थ, गाने में असमर्थ किन्तु सङ्गीतशास्त्र (गान्धर्व) के लक्षणों को जाननेवालों के लिए स्वर और श्रुति आदि के तत्त्व की भाँति, अगोचर ही है।

लोचनम्

स्वराः षड्जादयः सप्त। श्रुतिर्नाम शब्दस्य वैलक्षण्यमात्रकारि यद्रूपान्तरं तत्परिमाणा स्वरतदन्तरालोभयभेदकल्पिता द्वाविंशतिविधा। आदिशब्देन जात्यंशकग्रामरागभाषाविभाषान्तरभाषादेशीमार्गा गृह्यन्ते। प्रकृष्टं गीतं गानं येषां ते प्रगीताः, गातुं वा प्रारब्धा इत्यादिकर्मणि क्तः। प्रारम्भेण चात्र फलपर्यन्तता लक्ष्यते॥ ७॥

आदि सात। शब्द का वैलक्षण्यकारी जो रूपान्तर है उसके परिमाण की 'श्रुति' होती है वह स्वर, स्वरान्तराल, और उभय के भेद से बाईस[1] प्रकार की होती है। 'आदि' शब्द से जात्यंश, ग्राम, राग, भाषा, विभाषा, अन्तरभाषा, देशी मार्ग गृहीत होते हैं। प्रकृष्ट गीत या गान है जिनका वे 'प्रगीत' हैं अथवा गाने के लिए 'प्रारब्ध' इस प्रकार 'आदिकर्म' में 'क्त' प्रत्यय है। यहाँ 'प्रारम्भ' से फलपर्यन्तता लक्षित होती है।

---

१. मूल में अप्रगीत' और 'प्रगीत' दोनों पाठ हैं। लोचनकार ने दोनों के अनुसार व्याख्यान किया है; 'अप्रगीत' का अर्थ करते हैं कि वे लोग प्रगीत नहीं अर्थात् प्रकृष्ट गान नहीं करते हैं। 'प्रगीत' का व्याख्यान है कि जिन्होंने गान का प्रारम्भ ही किया है अर्थात् जो अभी गाने में सफल नहीं हैं। स्पष्टार्थ यह कि जिस प्रकार गान-विद्या में निपुणता हासिल कर लेने वाला यदि गान का अभ्यास न करने पर स्वर और श्रुति आदि के तत्त्वों से अपरिचित रहता है उसी प्रकार केवल वाच्य-वाचक मात्र में श्रम करने वाले तथा काव्यतत्त्वार्थ की भावना से विमुख लोग उस प्रतीयमान अर्थ को नहीं समझ सकते। स्वर और श्रुति आदि सङ्गीत-शास्त्रीय तत्त्वों का विशकलन ग्रन्थान्तर से अवगत करना चाहिए। 'सङ्गीतरत्नाकर' में इनका विवेचन विशद रूप से मिलता है।

ध्वन्यालोकः

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति—

इस प्रकार वाच्य से व्यतिरेक (पार्थक्य) रखनेवाले व्यंग्य का सद्भाव प्रतिपादन करके 'प्राधान्य उसका ही है' यह दिखलाते हैं—

लोचनम्

एवमिति । स्वरूपभेदेन भिन्नसामग्रीज्ञेयत्वेन चेत्यर्थः । प्रत्यभिज्ञेयावि त्यर्हार्थे कृत्यः, सर्वो हि तथा यतते इतीयता प्राधान्ये लोकसिद्धत्वं प्रमाण-मुक्तम् । नियोगार्थेन च कृत्येन शिक्षाक्रम उक्तः । प्रत्यभिज्ञेयशब्देनेदमाह—

'काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित्प्रतिभावतः ।'

इस प्रकार— । अर्थात् स्वरूप-भेद और भिन्न सामग्री द्वारा ज्ञेय होने के कारण । 'प्रत्यभिज्ञेय' यहाँ अर्हार्थ में 'कृत्य' प्रत्यय हुआ है, सब लोग इस अंश में प्रयत्न करते हैं, 'सहृदयों द्वारा प्रत्यभिज्ञेय है' इतने से व्यङ्ग्य के प्राधान्य के सम्बन्ध में लोकसिद्धत्व को प्रमाण कहा है । नियोगार्थक 'कृत्य' प्रत्यय द्वारा शिक्षा का क्रम सूचित किया है ।[1] 'प्रत्यभिज्ञेय[2]' शब्द से यह कहते हैं—

'काव्य तो कदाचित् किसी प्रतिभावान् से उत्पन्न होता है ।'

---

१. 'उन अर्थ और शब्द महाकवि के प्रत्यभिज्ञेय हैं' आचार्य के इस कथन का एक अभिप्राय यह भी हो सकता है कि सहृदय लोगों द्वारा महाकवि के शब्द-अर्थ प्रत्यभिज्ञेय या पहचानने योग्य हैं और दूसरा यह भी हो सकता है कि महाकवि को स्वयं उन्हीं शब्द-अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करना चाहिए । 'प्रत्यभिज्ञेय' 'अर्हार्थ' में 'कृत्य' प्रत्यय मानने पर प्रथम पक्ष के अनुकूल व्याख्यान होगा । इसलिए लोचनकार ने यहाँ यह अर्थ उद्भावित किया है कि व्यङ्ग्य अर्थ का प्राधान्य इसलिए है कि सभी लोग उस प्रकार के शब्द अर्थ के ज्ञान की इच्छा से प्रयत्न करते हैं । इस प्रकार तथाविध अर्थ और शब्द के प्राधान्य में लोकसिद्धत्व यह प्रमाण या हेतु कहा गया । किसी भी अप्रधान वस्तु के लिए लोकप्रवृत्ति नहीं होती । यहाँ 'लोक' शब्द से 'सहृदय' ही समझना चाहिए । दूसरे अभिप्राय के अनुसार यहाँ कृत्य-प्रत्यय नियोगार्थक है । अर्थात् आचार्य कवियों को यह शिक्षा देते हैं कि उन्हें पूर्वोक्त शब्द-अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करना चाहिए । क्योंकि जैसा वृत्तिग्रन्थ भी निर्देश करता है कि व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्द का ही सुप्रयोग करके महाकवि महाकवि बनता है अतः उसके लिए उनका प्रत्यभिज्ञान अनिवार्य है ।

२. 'प्रत्यभिज्ञेय —लोचनकार की दृष्टि में ग्रन्थकार का यह प्रयोग विशेष तात्पर्य रखता है । ग्रन्थकार का कहना है कि शब्द अर्थ जो सामान्य रूप से व्यवहार में विदित होते हैं उन्हें काव्य के क्षेत्र में उसी रूप में नहीं जानना चाहिए । यद्यपि 'प्रत्यभिज्ञान' ज्ञात वस्तु का ही पुनः ज्ञान होता है, तथापि यहाँ ज्ञान का विशेष रूप से अनुसन्धान को ही 'प्रत्यभिज्ञान' से समझना चाहिए । जब तक लोकव्यवहार की स्थिति है, शब्द-अर्थ अपने साधारण रूप से होते हैं किन्तु काव्य के क्षेत्र में उनकी सीमा का विस्तार हो जाता है और उनका स्वरूप भी बहुत कुछ निखर जाता है अतः केवल ज्ञात का पुनः ज्ञान न करके ज्ञात का पुनः पुनः अनुसन्धान रूप विशेष निरूपण या प्रत्यभिज्ञान करना चाहिए । यह प्रतिभावान् महाकवि के लिए उतना ही अपेक्षित है जितना सहृदय के लिए । लोचनकार ने प्रस्तुत वक्तव्य को अपने रंग में ढालते हुए

ध्वन्यालोकः

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥ ८ ॥

व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम् । तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ।

'वह अर्थ है और उसकी अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखनेवाला कोई शब्द है । वे शब्द और अर्थ महाकवि के यत्नपूर्वक प्रत्यभिज्ञेय हैं' ॥ ८ ॥

व्यंग्य अर्थ है और उसकी अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखनेवाला कोई शब्द है, न कि शब्दमात्र । वे ही शब्द-अर्थ महाकवि के प्रत्यभिज्ञान के योग्य हैं । क्योंकि, व्यंग्य और व्यंजक के ही सुन्दर ढङ्ग से प्रयोग करने पर महाकवियों को महाकवित्व का लाभ है, न कि वाच्य-वाचक-रचनामात्र से ॥ ८ ॥

लोचनम्

इति नयेन यद्यपि स्वयमस्यैतत्परिस्फुरति, तथापीदमित्थमिति विशेषतो निरूप्यमाणं सहस्रशाखीभवति । यथोक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीमदुत्पलपादैः—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥ इति ॥

तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं, न तु तदेवेदमित्येतावन्मात्रम् । *महाकवेरिति* । यो महाकविरहं भूयासमित्याशास्ते ।

इस न्याय से यद्यपि स्वयं उसे (कवि को) यह स्फुरित होता है, तथापि 'यह इत्थं है' इस प्रकार विशेष रूप से निरूपण करने पर हजारों शाखाओं का हो जाता है । जैसा कि हमारे परमगुरु श्रीमदुत्पलपाद ने कहा है—

'अपरिज्ञात एवं उन-उन प्रार्थनाओं द्वारा कृशाङ्गी के समीप में आया हुआ भी कान्त साधारण व्यक्ति के समान जिस प्रकार रमणकार्य नहीं कर पाता उस प्रकार जिसके गुण पहले नहीं देखे गए हैं ऐसा स्वात्मरूप भी विश्वेश्वर लोक के (समक्ष) अपना वैभव (विकास) नहीं कर पाता; इस कारण यह उसकी प्रत्यभिज्ञा बताई गई है ।'

इस लिए ज्ञात का भी विशेष रूप से अनुसन्धानात्मक निरूपण यह 'प्रत्यभिज्ञान पदार्थ है, न कि 'वही यह है' केवल इतना ही । महाकवि के— । जो आशा करता है

अपने गुरु श्रीमदुत्पलाचार्य का जो श्लोक उद्धृत किया है । कल्पना कीजिए कि कोई नायिका किसी व्यक्ति को बिना देखे ही उसके रूप का वर्णन सुन कर अपना 'प्रिय' मान लेती है और

ध्वन्यालोकः

इदानीं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद्वाच्यवाचकावेव प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥ ९ ॥

अब जो कि व्यंग्य और व्यंजक के प्राधान्य में भी कवि लोग पहले वाच्य और वाचक का ही उपपादन करते हैं वह भी ठीक ही है, यह कहते हैं—

जिस प्रकार आलोक चाहनेवाला व्यक्ति उसका उपाय होने के कारण दीपशिखा के लिए यत्न करता है, उसी प्रकार उस (व्यंग्य अर्थ) के प्रति आदरयुक्त जन वाच्य अर्थ के लिए यत्न करता है ॥ ९ ॥

लोचनम्

एवं व्यङ्ग्यस्यार्थस्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं वदता व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्यापि प्राधान्यमुक्तमिति ध्वनति, ध्वन्यते, ध्वननमिति त्रितयमप्युपपन्नमित्युक्तम् ॥ ८ ॥

ननु प्रथमोपादीयमानत्वाद्वाच्यवाचकतद्भावस्यैव प्राधान्यमित्याशङ्क्योपायानामेव प्रथममुपादानं भवतीत्यभिप्रायेण विरुद्धोऽयं प्राधान्ये साध्ये हेतुरिति दर्शयति–*इदानीमित्यादिना* । आलोकनमालोकः; वनितावदनारविन्दादिविलोकनमित्यर्थः । तत्र चोपायो दीपशिखा ॥ ९ ॥

कि मैं महाकवि होऊं। इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्द का प्राधान्य कहते हुए व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव (व्यञ्जना व्यापार) का भी प्राधान्य सूचित किया। इस तरह 'ध्वनन करता है', ध्वनित होता है' और 'ध्वनन' ये तीनों उपपन्न हो जाते हैं, यह कहा गया।

प्रथम उपादीयमान होने के कारण वाच्य, वाचक और उनके व्यापार (भाव) का ही प्राधान्य है, यह आशङ्का करके उपायों का ही पहले प्राधान्य होता है, इस अभिप्राय से प्राधान्य रूप साध्य में यह हेतु (प्रथमोपादीयमानत्व रूप)

पत्र-लेखनादि उपायों द्वारा उसे अपने पास बुलाने के लिए प्रयत्नशील रहती है। अकस्मात् वह कान्त उसके समक्ष पहुँच आता है। ऐसी स्थिति में क्या सम्भव है कि नायिका उसके साथ रमण करे ? नहीं। क्योंकि जब तक नायिका को यह विशेष रूप से ज्ञान नहीं हो जाता कि जिस व्यक्ति के मिलन के लिए वह बहुत दिनों से प्रयत्न कर रही है वही यह उपस्थित है तब तक वह व्यक्ति उसके लिए अन्य साधारण व्यक्ति के समान ही रहता है। यही बात आध्यात्मिक क्षेत्र में भी है कि ईश्वर आत्मा से अभिन्न होकर भी अपना विशेष रूप से प्रत्यभिज्ञान न किए जाने पर अपना वैभव नहीं प्रकट करता। यह यहाँ ज्ञातव्य है कि आचार्य अभिनवगुप्त 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' के परमान्य आचार्य हैं अतः स्वाभाविक है कि उनके प्रायः प्रस्तुत साहित्यिक विवेचनों में उनके दार्शनिक सिद्धान्त का भी प्रभाव पड़ा है।

ध्वन्यालोकः

यथा ह्यालोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवाञ्जनो भवति तदुपायतया। न हि दीपशिखामन्तरेणालोकः सम्भवति। तद्वद्व्यङ्ग्यमर्थं प्रत्यादृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति। अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः ॥ ९ ॥

प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥ १० ॥

जैसे प्रकाश को चाहने वाला होता हुआ भी व्यक्ति दीपशिखा के लिए उस (आलोक) का उपाय होने के कारण यत्नवान् होता है, क्योंकि दीपशिखा के बिना आलोक सम्भव नहीं, उसी प्रकार व्यंग्य अर्थ के प्रति आदरयुक्त जन वाच्य अर्थ में यत्नवान् होता है। इससे प्रतिपादक (वक्ता) कवि का व्यंग्य अर्थ के प्रति व्यापार दिखाया ॥ ९ ॥

प्रतिपाद्य के भी उस (व्यापार) को दिखाने के लिए कहते हैं—

जिस प्रकार पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ प्रतीत किया जाता है उसी प्रकार उस वस्तु की प्रतिपत् (प्रतीति) वाच्यार्थपूर्विका होती है ॥ १० ॥

लोचनम्

प्रतिपदिति भावे क्विप्। 'तस्य वस्तुन' इति व्यङ्ग्यरूपस्य सारस्येत्यर्थः। अनेन श्लोकेनात्यन्तसहृदयो यो न भवति तस्यैष स्फुटसंवेद्य एव क्रमः।

विरुद्ध[1] है यह दिखाते हैं—अब इत्यादि द्वारा। आलोकन (देखना) आलोक है, अर्थात् वनिता के मुखारविन्द आदि का विलोकन। उसके लिए उपाय दीपशिखा है ॥९॥

'प्रतिपत्[2]' इसमें भाव में 'क्विप्' प्रत्यय है। 'उस वस्तु की' अर्थात् व्यङ्ग्य रूप

---

१. आशङ्का होती है कि जब वाच्य, वाचक और अभिधा व्यापार का पहले उपादान किया जाता है तब इसी कारण क्यों नहीं इन्हें ही प्रधान मानते हैं? व्यङ्ग्य के प्राधान्य का पक्ष इस प्रकार ठीक नहीं। इसके समाधान में यह कहना है कि जो आप प्रथम उपादान को प्राधान्य का हेतु मानते हैं वह विरुद्ध है, अर्थात् इस हेतु द्वारा अप्राधान्य भी सिद्ध हो जाता है। मतलब यह कि किसी वस्तु को प्रधान इस लिए माना नहीं जा सकता कि उसका उल्लेख पहले होता है। तब तो जो उपाय होता है वह उपेय से पहले उल्लिखित होता है, ऐसी स्थिति में आप उपाय को भी प्रधान कहेंगे! प्रस्तुत में वाच्य-वाचक-भाव भी प्रधानभूत व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव के उपाय हैं अतः उनका पहले उपादान होता है। इस प्रकार प्रथम उपादान मात्र से उन्हें प्रधान नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार आदमी जब किसी वस्तु को रात्रि में देखना चाहता है तब वह दीपशिखा के लिए यत्नवान् होता है। इस प्रकार दीपशिखा प्रथम उपादीयमान होने पर भी उपेयभूत वस्तु के दर्शन का उपाय होने के कारण अप्रधान है।

२. निर्णयसागरीय संस्करण में 'प्रतिपत्तव्यस्य' पाठ माना है, किन्तु 'लोचन' के प्रस्तुत

ध्वन्यालोकः

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः ॥ १० ॥

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेर्व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न व्यालुप्यते तथा दर्शयति—

जिस प्रकार पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ का अवगम होता है उसी प्रकार व्यंग्य अर्थ की प्रतिपत्ति वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका होती है ॥ १० ॥

अब, उस (व्यंग्य) की प्रतीति के वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वक होने पर भी, व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य जिस प्रकार व्यालुप्त नहीं होता, वह दिखाते हैं—

लोचनम्

यथात्यन्तशब्दवृत्तज्ञो यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रमः। काष्ठाप्राप्तसहृदयभावस्य तु वाक्यवृत्तकुशलस्येव सन्नपि क्रमोऽभ्यस्तानुमानाविनाभावस्मृत्यादिवदसंवेद्य इति दर्शितम् ॥ १० ॥

न व्यालुप्यत इति। प्राधान्यादेव तत्पर्यन्तानुसरणरणरणकत्वरिता मध्ये विश्रान्तिं न कुर्वत इति क्रमस्य सतोऽप्यलक्षणं प्राधान्ये हेतुः। स्वसामर्थ्यसार पदार्थ की। इस श्लोक से यह दिखाया कि जो व्यक्ति अत्यन्त सहृदय नहीं है उसके लिए यह क्रम स्फुट[1]संवेद्य है। जिस प्रकार जो व्यक्ति अत्यन्त शब्दवृत्तज्ञ (वाक्य को जानने वाला) नहीं है उसके लिए पदार्थ और वाक्यार्थ का क्रम है। और जो सहृदयता की काष्ठा (उत्कर्ष) तक पहुँचा है, उस वाक्यवृत्त-कुशल पुरुष की भाँति होता हुआ भी क्रम उस प्रकार असंवेद्य है जिस प्रकार अनुमान, व्याप्तिस्मृति आदि के अभ्यस्त व्यक्ति के लिए ॥ १० ॥

व्यालुप्त नहीं होता—। प्राधान्य के कारण ही उस (व्यङ्ग्य अर्थ) तक अनुसरण के रणरणक (औत्सुक्य) से त्वरित हुए (सहृदय लोग) बीच में विश्राम

निर्देश से वह प्रामादिक समझना चाहिए। दूसरे यदि निर्णयसागरीय पक्ष को ही मानते हैं तो मूल कारिका में 'वाच्यार्थपूर्विका' इस विशेषण के लिए 'प्रतिपत्तिः' इस विशेषण के आक्षेप का गौरव करना पड़ता है।

१. नियमतः पदार्थ के ज्ञान के द्वारा वाक्यार्थ का ज्ञान होता है अर्थात् पहले पदार्थ का ज्ञान होता है तब वाक्यार्थ का यह क्रम है। किन्तु जो व्यक्ति वाक्यवृत्तकुशल है उसे यह क्रम स्पष्ट रूप से संवेद्य नहीं होता है। उसी प्रकार पहले वाच्य अर्थ की प्रतीति होती है और तब व्यङ्ग्य अर्थ की, यह क्रम है। किन्तु जो अत्यन्त सहृदय व्यक्ति है उसे यह क्रम नहीं प्रतीत होता है। इस लिए आगे ध्वनि को 'असंलक्ष्यक्रम' भी कहा गया है। अनुमान आदि में भी जिसे विषय का अभ्यास होता है उसे व्याप्तिस्मृति और अनुमिति का क्रम स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। 'संकेत'-ज्ञान और 'अर्थ' ज्ञान के क्रम के सम्बन्ध में भी यही बात है।

ध्वन्यालोकः

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन्।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥ ११ ॥

यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि पदार्थो व्यापार-निष्पत्तौ न भाव्यते विभक्ततया ॥ ११ ॥

अपनी सामर्थ्य के वश ही वाक्यार्थ का प्रतिपादन करता हुआ पदार्थ जिस प्रकार व्यापार के निष्पन्न (पूर्ण) हो जाने पर विभावित नहीं होता (अलग प्रतीत नहीं होता) ॥ ११ ॥

जिस प्रकार अपनी सामर्थ्य के वश ही वाच्यार्थ को प्रकाशित करता हुआ भी पदार्थ व्यापार की निष्पत्ति की स्थिति में विभक्तरूप से भावित (प्रतीत) नहीं होता।

लोचनम्

माकाङ्क्षायोग्यतासन्निधयः। *विभाव्यत* इति। विशब्देन विभक्ततोक्ता; विभक्ततया न भाव्यत इत्यर्थः। अनेन विद्यमान एव क्रमो न संवेद्यत इत्युक्तम्। तेन यत्स्फोटाभिप्रायेणासन्नेव क्रम इति व्याचक्षते तत्प्रत्युत विरुद्धमेव। वाच्येऽर्थे विमुखो विश्रान्तिनिबन्धनं परितोषमलभमान आत्मा हृदयं येषामित्यनेन सचेतसामित्यस्यैवार्थोऽभिव्यक्तः। सहृदयानामेव तर्ह्ययं महिमास्तु,

नहीं करते हैं, इस प्रकार होते हुए भी क्रम का लक्षित नहीं होना (व्यङ्ग्य अर्थ के) प्राधान्य में हेतु है। अपनी सामर्थ्य[1] अर्थात् आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि। विभावित होता है—। 'वि' शब्द से 'विभक्तता' कही गई; अर्थात् विभक्त रूप में नहीं भावित (प्रतीत) होता है। इससे जो 'स्फोट के अभिप्राय से नहीं रहता हुआ भी क्रम' ऐसा व्याख्यान करते हैं, वह (व्याख्यान) प्रत्युत विरुद्ध ही है। वाच्य अर्थ में विमुख अर्थात् विश्रान्तिमूलक परितोष को न पाये आत्मा (हृदय) है जिनका, इससे 'सहृदयों का' इतने का ही अर्थ अभिव्यक्त है। तब तो यह सहृदयों की ही महिमा

१. पदार्थों में जब तक योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि ये तीनों विद्यमान नहीं रहते तब तक वाक्य स्वरूप-लाभ नहीं करता। 'योग्यता' पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का अभाव है। पदसमूह में इस 'योग्यता' के अभाव में किसी प्रकार वह वाक्य नहीं कहा जा सकता, जैसे 'वह्निना सिञ्चति'। यह पदसमूह योग्यतारहित है, क्योंकि सेचन कार्य की योग्यता अग्नि में नहीं है, इसलिए यह वाक्य नहीं है। पदसमूह को वाक्य बनने में 'आकांक्षा' भी होनी चाहिए, अर्थात् एक पद से दूसरे पद के अन्वय का अनुभावन होना चाहिए, आकांक्षारहित पदसमूह, जैसे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मणः' इत्यादि। यहाँ एक पद से दूसरे का अन्वय प्रतीत नहीं होता। 'सन्निधि' या 'आसत्ति' बुद्धि का अविच्छेद है, अर्थात् एक पद का दूसरे से सामयिक व्यवधान नहीं होना चाहिए। जैसे कोई पदसमूह अंशतः घण्टे-घण्टे के व्यवधान से कहा जाय तब उसमें सन्निधि का अभाव होता है अतः वह वाक्य नहीं कहला सकता। जैसे 'घटम्' कहने के एक घण्टे बाद यदि 'आनय' कहा तो यह पदसमूह वाक्य नहीं हो सकता। इस प्रकार ये तीनों ही पदसमूह के वे धर्म हैं जिनसे वाक्य स्वरूपलाभ करता है। यद्यपि 'आकांक्षा' श्रोता की

ध्वन्यालोकः

तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥ १२ ॥

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ १३ ॥

उसी प्रकार वह अर्थ वाच्यार्थ से विमुख आत्मा वाले सहृदयजनों की तत्त्वार्थ-दर्शिनी बुद्धि में झट से ही अवभासित हो जाता है ॥ १२ ॥

इस प्रकार वाच्यार्थ से अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ के सद्भाव का प्रतिपादन करके प्रकृत में उसका उपयोग करते हुए कहते हैं—

जहाँ अर्थ अपने-आपको अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके (प्रतीयमान) अर्थ को व्यक्त (अभिव्यक्त) करते हैं वह 'काव्यविशेष' विद्वान् लोगों द्वारा 'ध्वनि' कहा जाता है ॥ १३ ॥

लोचनम्

न तु काव्यस्यासौ कश्चिदतिशय इत्याशङ्क्याह—*अवभासत* इति। तेनात्र विभक्ततया न भासते, न तु वाच्यस्य सर्वथैवानवभासः। अत एव तृतीयोद्द्योते घटप्रदीपदृष्टान्तबलाद्व्यङ्ग्यप्रतीतिकालेऽपि वाच्यप्रतीतिर्न विघटत इति यद्वक्ष्यति तेन सहास्य ग्रन्थस्य न विरोधः॥ ११–१२ ॥

सद्भावमिति। सत्तां साधुभावं प्राधान्यं चेत्यर्थः। द्वयं हि प्रतिपिपादयि-

है, न कि यह, कोई काव्य का अपना अतिशय है, यह आशङ्का करके कहते हैं—अवभासित होता है—। इस लिए यहाँ विभक्त रूप से भासित नहीं होता, न कि वाच्य का सर्वथा ही अनवभास होता है। अत एव तृतीय 'उद्योत' में घट और प्रदीप के दृष्टान्त[1] के बल से जो यह कहेंगे कि व्यङ्ग्य की प्रतीति के काल में भी वाच्यप्रतीति नहीं विघटित होती है उसके साथ इस ग्रन्थ का विरोध नही है॥११–१२॥

सद्भाव[2]—। सत्ता अर्थात् साधुभाव और प्राधान्य। क्योंकि दोनों ही प्रतिपादन की

जिज्ञासा रूप है तथापि परम्परा-सम्बन्ध द्वारा पदार्थ का भी धर्म है। अपनी इस 'सामर्थ्य' के द्वारा ही पदार्थ वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।

१. वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ का द्योतन होता है। इसका मतलब है कि जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश से घट को प्रकाशित करता हुआ अपने को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार वाच्यार्थ भी व्यङ्ग्य अर्थ को प्रतीत कराता हुआ स्वयं भी प्रतीत होता है। वाच्यार्थ से विमुख सहृदय लोग झटिति उस व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञान करते हैं। इससे क्रम रहता हुआ भी उन्हें क्रम अभिलक्षित नहीं होता है। यहाँ यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि सहृदयों की विशेषता है जो इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञान करते हैं, बल्कि व्यङ्ग्यार्थ उन्हें इस प्रकार अवभासित होता है।

२. 'सद्भाव' शब्द सत्ता या अस्तित्व के अर्थ में प्रयुक्त होता है, साथ ही उस वस्तु की

लोचनम्

षितम्। प्रकृत इति लक्षणे। उपयोजयन् उपयोगं गमयन्। तमर्थमिति चायमुपयोगः। स्वशब्द आत्मवाची। स्वश्चार्थश्च तौ स्वार्थौ; तौ गुणीकृतौ याभ्याम्, यथासंख्येन तेनार्थो गुणीकृतात्मा, शब्दो गुणीकृताभिधेयः। तमर्थमिति। 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' इति यदुक्तम्। व्यङ्क्तः द्योतयतः। व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाह—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात्। विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननं व्यापारः। तेन यद्भट्टनायकेन द्विवचनं दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव। अर्थः शब्दो वेति तु विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण। काव्यं च तद्विशेषश्चासौ काव्यस्य वा विशेषः। काव्यग्रहणाद् गुणालङ्कारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनि-

इच्छा के विषय हैं। प्रकृत में—। अर्थात् लक्षण में। उपयोग बताते हुए—। 'उस प्रतीयमान अर्थ का' यह उपयोग है। स्व और अर्थ दोनों स्वार्थ हुए, वे स्वार्थ जिनके द्वारा गुणीभूत हुए। उस क्रम से अर्थ अपने आपको गुणीभूत करता है और शब्द अभिधेय (वाच्य) का गुणीभूत करता है। उस अर्थ को—। जिसे 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' कहा है। 'व्यक्त करते हैं' अर्थात् द्योतन करते हैं। 'व्यङ्क्तः' (व्यक्त करते हैं) इस द्विवचन से यह कहते हैं—यद्यपि 'अविवक्षितवाच्य' ध्वनि में शब्द ही व्यञ्जक है, तथापि अर्थ की भी सहकारिता नहीं टूटती है, अन्यथा जिस शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं है वह भी उसका व्यञ्जक हो जाता। और 'विवक्षितान्यपर-वाच्य' ध्वनि में शब्द भी सहकारी होता ही है, क्योंकि विशिष्ट शब्द द्वारा अभिधान नहीं किया जायगा तो ऐसी स्थिति में वह शब्द उस अर्थ का व्यञ्जक नहीं हो सकता। इस प्रकार सर्वत्र 'ध्वनन' शब्द और अर्थ दोनों का ही व्यापार है। इस लिए जो कि भट्टनायक ने 'द्विवचन' में दोष बताया था वह तो गजनिमीलिका के कारण ही। 'अर्थ अथवा शब्द' इस प्रकार जो विकल्प कहा है वह प्राधान्य[1] के अभिप्राय से।

अच्छाई और श्रेष्ठता भी इस शब्द से अभिहित होती है—सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। प्रस्तुत में बड़े विस्तार से आचार्य ने ध्वनि के सद्भाव का जो प्रतिपादन किया है उससे केवल ध्वनि का अस्तित्व या मवजूदगी ही सिद्ध नहीं की है बल्कि उसे साधु और प्रधान भी सिद्ध किया है।

१. 'अर्थ अथवा शब्द' यह विकल्प प्राधान्य के अभिप्राय से कहा है। अर्थात् जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में कह चुके हैं कि केवल शब्द या केवल अर्थ व्यञ्जक नहीं होते, बल्कि दूसरे की सहायता से व्यञ्जक होते हैं। इस प्रकार जब अर्थ प्रधान रूप से व्यङ्ग्य की व्यञ्जना करता है तब शब्द उसका सहकारी होता है और जब शब्द प्रधान रूप से व्यञ्जक होता है तब अर्थ उसका सहकारी होता है। इसी प्राधान्य के अभिप्राय से आचार्य ने 'विकल्प' का प्रयोग किया है और शब्द-अर्थ की इसी सम्मिलित व्यञ्जकता के कारण 'व्यङ्क्तः' इस द्विवचन के प्रयोग की भी सार्थकता है। भट्टनायक द्वारा 'द्विवचन' का दूषण उनका अज्ञान प्रकट करता है।

ध्वन्यालोकः

यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति ।

जहाँ अर्थ याने वाच्यविशेष अथवा वाचकविशेष शब्द उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं वह काव्यविशेष 'ध्वनि' (कहलाता) है ।

लोचनम्

लक्षण 'आत्मे'त्युक्तम् । तेनैतन्निरवकाशं श्रुतार्थापत्तावपि ध्वनिव्यवहारः स्यादिति । यच्चोक्तम्—'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा स्यात्' इति तदङ्गीकुर्म एव । नाम्नि खल्वयं विवाद इति । यच्चोक्तम्—'चारुणः प्रतीतिर्यदि काव्यात्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणादपि सा भवन्ती तथा स्यात्' इति । तत्र शब्दार्थमयकाव्यात्माभिधानप्रस्तावे क एष प्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत् । *स* इति । अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा । अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्ये-

'काव्य और उसका विशेष' इस प्रकार (कर्मधारय समास) है, या 'काव्य का विशेष' इस प्रकार (षष्ठी तत्पुरुष समास) है । 'काव्य' के ग्रहण से यह कहा कि जो ध्वनि रूप आत्मा है वह गुण और अलङ्कार से उपस्कृत शब्द और अर्थ का पृष्ठपाती है । इस लिए इस बात का कोई अवकाश नहीं कि (स्थूलकाय देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता' इस) 'श्रुतार्थापत्ति' में भी 'काव्य' का व्यवहार होने लगेगा । और जो कि कहा है—'तब तो चारुत्व की प्रतीति काव्य का आत्मा होगा' यह हम स्वीकार करते ही हैं । यह विवाद तो नाम में है ! और जो कि कहा है—'चारु की प्रतीति यदि काव्य का आत्मा है तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से भी चारु की होतीं हुई प्रतीति उस प्रकार (काव्य का आत्मा) होगी ।' वहाँ जब कि शब्दार्थरूप काव्यात्मा के कथन का प्रसङ्ग है, फिर यह कौन प्रसङ्ग है ? अतः यह कुछ भी नहीं । (कारिका में प्रयुक्त) वह—। अर्थ अथवा शब्द, अथवा व्यापार । 'ध्वनति' या ध्वनन करता है, (इस व्युत्पत्ति के अनुसार) वाच्य अर्थ 'ध्वनि' है, इस प्रकार शब्द भी । 'ध्वन्यते'

---

१. आचार्य का यह निर्देश पहले भी हो चुका है कि 'ध्वनि' काव्य का आत्मा अवश्य है किन्तु केवल ध्वनि से काव्य का व्यवहार नहीं होता । बल्कि 'ध्वनि' के साथ शब्द-अर्थ का गुण और अलङ्कार से उपस्कृत भी होना आवश्यक है । इस प्रकार प्रकृत 'कारिका' में 'काव्य' यह साभिप्राय है । यदि केवल ध्वनि के अस्तित्व मात्र से 'काव्य' मान लेने की छूट दे दी जाय तो मीमांसकों के यहाँ प्रसिद्ध 'श्रुतार्थापत्ति' का स्थल भी 'काव्य' के रूप में व्यवहृत होगा । जैसे 'यह मोटा ताजा देवदत्त दिन में नहीं खाता है' (पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते) इस श्रुत वाक्य से जो दिन में भोजन के अभाव में पीनत्व रूप अर्थ ज्ञात होता है उसकी अन्यथानुपपत्ति को लेकर 'रात्रि में भोजन करता है' (रात्रौ भुङ्क्ते) इस रात्रिभोजन रूप अर्थ के प्रतिपादक अन्य वाक्य की कल्पना करते हैं । परन्तु यहाँ 'ध्वनि' होते हुए भी गुण-अलङ्कार से उपस्कृत शब्द-अर्थ का अभाव है अतः यहाँ काव्य-व्यवहार नहीं हो सकता । इसका निर्देश 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' (१.५) कारिका की वृत्ति में 'विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य' में किया है । इस स्थल के लोचन में इसका स्पष्टीकरण दर्शनीय है ।

ध्वन्यालोकः

अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम्। यदप्युक्तम्—'प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्यहानेर्ध्वनिर्नास्ति' इति, तदप्ययुक्तम्। यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम्। ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः।

इससे वाच्य और वाचक की चारुता के हेतु उपमा आदि और अनुप्रास आदि से ध्वनि का विषय विभक्त ही है, यह दिखाया। जो कि कहा है—'प्रसिद्ध प्रस्थानों को अतिक्रमण करनेवाला मार्ग काव्यत्व से रहित होता है, अतः ध्वनि नहीं है।' वह भी ठीक नहीं; क्योंकि लक्षणकारों के लिए ही वह केवल प्रसिद्ध नहीं है, लक्ष्य की परीक्षा करने पर वही सहृदयजनों के हृदय को आह्लादित करनेवाला काव्यतत्त्व है। उससे दूसरा ही 'चित्र' है, यह आगे चलकर दिखायेंगे।

लोचनम्

वम्। व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्। *विभक्त इति*। गुणालङ्काराणां वाच्यवाचकभावप्राणत्वात्। अस्य च तदन्यव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसारत्वान्नास्य तेष्वन्तर्भाव इति। अनन्यत्र भावो विषयशब्दार्थः। एवं तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति निराकृतम्। *लक्षणकृतामेवेति*। लक्षण-

(इस व्युत्पत्ति के अनुसार) व्यंग्य 'ध्वनि' है, और शब्द और अर्थ का व्यापार 'ध्वननम्' (इस व्युत्पत्ति के अनुसार) 'ध्वनि' है। कारिका द्वारा तो प्रधानतया समुदाय[1] ही काव्यरूप मुख्यरूप से 'ध्वनि' है, ऐसा प्रतिपादन किया है। विभक्त—। क्योंकि गुण और अलङ्कार का प्राणभूत तत्त्व वाच्यवाचकभाव है, और इस ध्वनि का सार उसके अतिरिक्त व्यंग्यव्यञ्जकभाव है, इसलिए इसका उनमें अन्तर्भाव नहीं है। 'विषय'[2] शब्द का अर्थ है अन्यत्र सद्भाव का अभाव। इस प्रकार उन (गुण और अलङ्कार) से व्यतिरिक्त यह 'ध्वनि' क्या है, इसका निराकरण किया। लक्षणकारों के लिए ही—।

१. मूल कारिकाग्रन्थ में जिस काव्य विशेष को 'ध्वनि' कहा गया है वह मुख्य रूप से रूढि द्वारा समुदाय रूप ध्वनि है। 'ध्वनति', 'ध्वन्यते' और 'ध्वननम्' शब्द, वाच्य, व्यङ्ग्य और व्यञ्जन इनका समुदाय यहाँ 'ध्वनि' है। पहले भी 'लोचन' में ध्वनि की व्युत्पत्तियों का निर्देश हो चुका है।

२. व्युत्पत्ति के अनुसार 'विषय' शब्द का यह अर्थ है कि जो अपने सम्बन्ध के पदार्थ को बांध देता है, सीमित कर देता है (विशेषण सिनोति बध्नातीति विषयः)। प्रस्तुत में ध्वनि का भी अपनी सीमा से बाहर सद्भाव नहीं है, अर्थात् वह सीमा में बँधा हुआ है। अतः ध्वनि को उपमा आदि के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता है। उपमा आदि वाच्य और वाचक के चारुत्व के हेतु हैं किन्तु ध्वनि का प्राण व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव है और यहाँ स्वयं यह चारुत्व की प्रतीति है।

लोचनम्

काराप्रसिद्धता विरुद्धो हेतुः, तत एव हि यत्नेन लक्षणीयता। लक्ष्ये त्वप्रसिद्धत्वमसिद्धो हेतुः। यच्च नृत्तगीतादिकल्पं, तत्काव्यस्य न किञ्चित्। चित्रमिति। विस्मयकृद्वृत्त्यादिवशात्, न तु सहृदयाभिलषणीयचमत्कारसाररसनिःष्यन्दमयमित्यर्थः। काव्यानुकारित्वाद्वा चित्रम्, आलेखमात्रत्वाद्वा, कलामात्रत्वाद्वा। अग्र इति।

लक्षणकारों में अप्रसिद्धतारूप विरुद्ध[1] हेतु है; इसी कारण यत्नपूर्वक (आचार्य ने ध्वनि को) लक्षणीय किया है! लक्ष्य में 'अप्रसिद्धत्व' रूप हेतु असिद्ध है। और जो कि नृत्त, गीत आदि[2] के समान है, वह काव्य का (ध्वनि के रूप में लक्षित काव्य का) कुछ नहीं है। चित्र—। अर्थात् नृत्त[3] आदि के कारण विस्मय उत्पन्न करने वाला, न कि सहृदयजनों द्वारा अभिलषणीय चमत्कारसार रसका निष्यन्दमय। काव्य का अनुकरण करनेवाला होने के कारण 'चित्र' है, अथवा आलेखमात्र अथवा कलामात्र होने के कारण! आगे—।

१, पहले ध्वनि के निराकरण के प्रसङ्ग में यह कह चुके हैं कि प्रसिद्ध प्रस्थान (अर्थात् वह मार्ग जो परम्परा से व्यवहार में आता है, जैसे प्रस्तुत में शब्द-अर्थ तथा उनके गुण और अलङ्कार आदि) में 'ध्वनि' का निर्देश न होने के कारण उसे काव्य नहीं माना जा सकता। तात्पर्य यह कि ध्वनि इस कारण नहीं है कि वह प्रसिद्ध प्रस्थानों में नहीं आता उन्हें अतिक्रमण करने वाला है, इस प्रकार ध्वनि का विरोध किया गया है। इसी को 'न्याय' की भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं—ध्वनिर्नाम काव्यप्रकारो नास्ति, प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रामित्वात्। इस 'हेतु' के तात्पर्य के रूप में दो बातें प्रतीत होती हैं, एक यह कि प्राचीन अलङ्कार-शास्त्र के लक्षणकारों में यह 'ध्वनि' तत्त्व प्रसिद्ध नहीं था और दूसरी यह कि यह कोई अप्रसिद्ध लक्ष्य था। इन दोनों का निराकरण करते हुये मूल-वृत्ति ग्रन्थ में जैसा कहा है कि लक्षणकारों के लिये ही वह केवल प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु लक्ष्य की परीक्षा करने पर वही सहृदयों को आह्लादित करने वाला काव्य तत्त्व है। इस प्रकार 'लक्षणकाराप्रसिद्धता' रूप हेतु विरुद्ध है और 'लक्ष्याप्रसिद्धता' रूप हेतु असिद्ध है। ध्वनि लक्षणकारों के लिये अप्रसिद्ध है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह नहीं है, बल्कि इससे तो यह समझना चाहिये कि वह यत्नपूर्वक लक्षणीय है, क्योंकि वह सिर्फ 'काव्य' नहीं बल्कि 'काव्यविशेष' है। अतः यह हेतु विरुद्ध है। दूसरे यह कहना कि वह लक्ष्य में प्रसिद्ध नहीं, बिलकुल ठीक नहीं, क्योंकि परीक्षा करके लक्ष्य में देखने पर वही सहृदयहृदयाह्लादकारी तत्त्व दिखाई देता है। अतः यह हेतु असिद्ध है।

२. जैसे नाटक आदि में शोभा के लिये नृत्त, गीत आदि का आयोजन करते हैं उसी प्रकार यह ध्वनि भी कोई शोभाकारी तत्त्व हो सकता है। जिस प्रकार नृत्त-गीत कवनीय न होने के कारण काव्य नहीं हैं उसी प्रकार ध्वनि भी काव्य नहीं है यह पहले ध्वनि के काव्य के रूप में लक्षित करने के प्रसङ्ग में कह चुके हैं। प्रस्तुत में 'ध्वनि' को 'काव्यविशेष' रूप में सिद्ध करके यह निर्णय कर दिया कि वह एक कवनीय तत्त्व है अतः वह 'काव्य' है। ऐसी स्थिति में उसे नृत्त-गीतादि की समानता की कोटि में नहीं ला सकते हैं, क्योंकि नृत्त-गीत आदि काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, वे सर्वथा कवनीय नहीं हैं और ध्वनि कवनीय है, कवि के व्यापार का विषय है।

३. लोचन में 'वृत्तादि' छपा है, 'बालप्रिया' में 'वृत्त' शब्द से यमक-उपमा आदि का परिग्रह किया है। क्योंकि यमक-उपमा आदि अलङ्कारों के कारण 'विस्मय' होता है। परन्तु 'दिव्याञ्जना'

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तम्—'कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादिप्रकारेष्वन्तर्भावः' इति, तदप्यसमीचीनम्; वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः, वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः, स त्वङ्गिरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

जो कि कहा है—'कमनीयता का अतिक्रमण न करने के कारण (विशेष कमनीय न होने के कारण) उस ध्वनि का उक्त अलङ्कार आदि प्रकारों में अन्तर्भाव है।' वह भी समीचीन नहीं। (क्योंकि अलङ्कार आदि) प्रस्थान जब कि एकमात्र वाच्यवाचकभाव पर आश्रित हैं तो उनका ध्वनि, जो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव का आश्रयण करके व्यवस्थित है, में कैसे अन्तर्भाव होगा? क्योंकि यह प्रतिपादन करेंगे कि वाच्य और वाचक के चारुत्वहेतु (अलङ्कार आदि) उस (ध्वनि) के अङ्गभूत हैं, और वह (ध्वनि) तो अङ्गी रूप ही है।

लोचनम्

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थितम्।
द्विधा काव्यं ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते॥

इति तृतीयोद्द्योते वक्ष्यति। परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः

'इस प्रकार व्यंग्य का प्रधानभाव और गुणभाव के कारण' काव्य दो प्रकार से व्यवस्थित है, उससे जो अतिरिक्त है वह 'चित्र' कहलाता है।

यह 'तृतीयोद्योत' में कहेंगे। परिकर के लिए अर्थात् कारिका के अर्थ का अधिक आवाप (अर्थात् कारिका में नहीं कहे गए अधिक अर्थ का प्रक्षेप) करने के लिए जो

टिप्पणी में 'वृत्त्यादि' पाठ माना है और 'वृत्ति' शब्द से उपनागरिका आदि का ग्रहण किया है। इस पाठपरिवर्तन का अभिप्राय मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। 'वृत्त' के द्वारा अलङ्कारों का ग्रहण करना मुझे ठीक लगता है। क्योंकि चमत्कार या तो रस से होता है या अलङ्कार से। 'चमत्कार विस्मय की ही उत्कृष्ट भूमि है।

ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थलों में चमत्कार 'रस' के कारण अनुभव में आता है किन्तु जहाँ केवल अलङ्कारों के कारण चमत्कार होता है वह 'विस्मय' का ही एक रूप है अतः विस्मयकारी होने के कारण अलङ्कार-प्रधान काव्य को 'चित्रकाव्य' कहने की परम्परा है।

अलङ्कार-प्रधान काव्य को 'चित्र' कहने के और भी कारण हो सकते हैं जैसे वह वस्तुतः काव्य नहीं बल्कि काव्य का अनुकरण करता है। जैसे घोड़े के चित्र वस्तुतः घोड़ा नहीं, किन्तु घोड़े का अनुकरण करता है। इसी प्रकार आलेखमात्र अथवा कलामात्र होने के कारण यह 'चित्र' कहा गया है।

ध्वन्यालोकः

परिकरश्लोकश्चात्र—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः ॥

ननु यत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मा भूद् ध्वनेर्विषयः । यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा—समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालङ्कारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यतीत्यादि निराकर्तुमभिहितम्—'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति ।

अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति । तेषु कथं तस्यान्तर्भावः । व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः । न चैतत्समासोक्त्यादिष्वस्ति ।

और यहाँ एक परिकर श्लोक है—

'ध्वनि के मूल में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के सम्बन्ध के होने के कारण वाच्य और वाचक के चारुत्व के हेतुओं में उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ?'

जहाँ प्रतीयमान अर्थ की विशदतापूर्वक प्रतीति नहीं होती है वह ध्वनि का विषय मत हो, किन्तु जहाँ प्रतीति है, जैसे—समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति, अपह्नुति, दीपक, सङ्कर आदि में, वहाँ ध्वनि का अन्तर्भाव होगा, इत्यादि (शङ्का) के निवारण के लिए अभिहित किया है—'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।'

अर्थात् अर्थ अपने आपको (आत्मा को) गुणीभूत करके, जहाँ दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है वह 'ध्वनि' है । उनमें उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ के प्राधान्य में ध्वनि होता है । और यह समासोक्ति आदि में नहीं है ।

लोचनम्

परिकरश्लोकः । यत्रेत्यलङ्कारे । वैशद्येनेति । चारुतया स्फुटतया चेत्यर्थः । अभिहितमिति । भूतप्रयोग आदौ व्यङ्क्त इत्यस्य व्याख्यातत्वात् । गुणीकृतात्मेति । आत्मेत्यनेन स्वशब्दस्यार्थो व्याख्यातः । न चैतदिति । व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यम् । प्राधान्यं च यद्यपि ज्ञप्तौ न चकास्ति; 'बुद्धौ तत्त्वावभासिन्याम्'

श्लोक होता है वह परिकर श्लोक है । जहाँ—। अलङ्कार में । विशदतापूर्वक—। अर्थात् चारुतापूर्वक और स्फुटतापूर्वक । 'अभिहित' यह 'भूत' प्रयोग है, क्योंकि पहले 'व्यङ्क्तः' ('व्यञ्जित करते हैं') इसका व्याख्यान किया गया है । गुणीकृतात्मा—। 'आत्मा' द्वारा 'स्व' शब्द का अर्थ व्याख्यान किया है । यह······नहीं है—। व्यंग्य का प्राधान्य (नहीं है) । यद्यपि व्यंग्य का प्राधान्य ज्ञप्ति (ज्ञान) में नहीं भासित होता है, क्योंकि

ध्वन्यालोकः

समासोक्तौ तावत्—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥

समासोक्ति में—प्रवृद्धराग शशी ने निशा के मुख को इस प्रकार ग्रहण किया कि उस (निशा) ने राग के कारण (सामने = पूर्व दिशा में) ढले हुए पूरे अन्धकार के अंशुक को नहीं लक्षित किया।

लोचनम्

इति नयेनाखण्डचर्वणाविश्रान्तेः, तथापि विवेचकैर्जीवितान्वेषणे क्रियमाणे यदा व्यङ्ग्योऽर्थः पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव तस्यालङ्कारता। ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति। यद्यपि पर्यन्ते रसध्वनिरस्ति, तथापि मध्यकक्षानिविष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थो न रसोन्मुखीभवति स्वातन्त्र्येण, अपि तु वाच्यमेवार्थं संस्कर्तुं धावतीति गुणीभूतव्यङ्ग्यतोक्ता। *समासोक्ताविति*।

यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानैर्विशेषणैः।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः॥

इत्यत्र समासोक्तेर्लक्षणस्वरूपं हेतुर्नाम तन्निर्वचनमिति पादचतुष्टयेन क्रमादुक्तम्। *उपोढो रागः* सान्ध्योऽरुणिमा प्रेम च येन। *विलोलास्तारका* ज्योतींषि नेत्रत्रिभागाश्च यत्र। *तथेति*। झटित्येव प्रेमरभसेन च। *गृहीतमाभासितं* परिचुम्बितुमाक्रान्तं च। *निशाया मुखं* प्रारम्भो वदनकोकनदं चेति। *यथेति*। झटिति ग्रहणेन प्रेमरभसेन च। *तिमिरं चांशुकाश्च* सूक्ष्मांशवस्तिमि-

'बुद्धौ तत्त्वावभासिन्याम्' इस न्याय के अनुसार अखण्ड चर्वणा में विश्रान्ति होती है, तथापि विवेचक लोगों द्वारा जीवित (आत्मा) के अन्वेषण किए जाने पर जब व्यंग्य अर्थ फिर भी वाच्य ही को अनुप्राणन करता है तब उस (वाच्य) का उपकरण होने के कारण उसका अलङ्कारत्व माना जाता है। ऐसी स्थिति में, उस व्यंग्य के द्वारा उपस्कृत उस वाच्य से ही चमत्कार का लाभ होता है। यद्यपि पर्यवसान में रसध्वनि है, तथापि बीच वाली कक्षा में पड़ा व्यंग्य अर्थ रस की ओर उन्मुख नहीं होता, बल्कि स्वतन्त्रतापूर्वक वाच्य अर्थ को ही संस्कृत करने के लिए दौड़ लगाता है, इसलिए (उसका) गुणीभूतव्यंग्यत्व कहा है। समासोक्ति में—।

जिस उक्ति में अन्य अर्थ (प्रस्तुत से अतिरिक्त अप्रस्तुत अर्थ) समान विशेषणों से प्रतीत होता है उसे विद्वान् लोग संक्षिप्तार्थ होने से समास कहते हैं'

यहाँ श्लोक के चार चरणों द्वारा क्रम से समासोक्ति का लक्षण-स्वरूप, हेतु, नाम और उसका निर्वचन (व्युत्पत्ति) बताया गया है। प्रवृद्ध है राग अर्थात् सन्ध्याकाल की लाली और प्रेम जिससे। विलोल (चंचल) तारक अर्थात् तारे और नेत्रत्रिभाग हैं जहाँ। तथा—। झट ही और प्रेम के वेग से। गृहीत (ग्रहण किया) अर्थात् आभासित और

ध्वन्यालोकः

इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् ।

इत्यादि (उदाहरण) में व्यङ्ग्य से अनुगत वाच्य ही प्राधान्यतः प्रतीत होता है, क्योंकि जिस पर नायिका और नायक के व्यवहारों का आरोप किया गया है ऐसे निशा और शशी ही वाक्यार्थ हैं ।

लोचनम्

रांशुकं रश्मिशबलीकृतं तमःपटलं, तिमिरांशुकं नीलजालिका नवोढाप्रौढवधूचिता । रागाद्रक्तत्वात् सन्ध्याकृतादनन्तरं प्रेमरूपाच्च हेतोः । *पुरोऽपि* पूर्वस्यां दिशि अग्रे च । *गलितं* प्रशान्तं पतितं च । रात्र्या करणभूतया समस्तं मिश्रितम्; उपलक्षणत्वेन वा । न *लक्षितं* रात्रिप्रारम्भोऽसाविति न ज्ञातं, तिमिरसंवलितांशुदर्शने हि रात्रिमुखमिति लोकेन लक्ष्यते न तु स्फुट आलोके । नायिकापक्षे तु तयेति कर्तृपदम् । रात्रिपक्षे तु अपिशब्दो लक्षितमित्यस्यानन्तरः । अत्र च नायकेन पश्चाद्गतेन चुम्बनोपक्रमे पुरो नीलांशुकस्य गलनं पतनम् । यदि वा 'पुरोऽग्रे नायकेन तथा गृहीतं मुखमि'ति सम्बन्धः । तेनात्र व्यङ्ग्ये प्रतीतेऽपि न प्राधान्यम् । तथाहि नायकव्यवहारो निशाशशिनावेव

परिचुम्बन के लिए आक्रान्त । निशा का मुख अर्थात् प्रारम्भ और मुख-कमल । यथा—। झट पकड़ लेने से और प्रेम के वेग से । तिमिर और अंशुक (चन्द्र की सूक्ष्म किरणें) । तिमिरांशुक अर्थात् रश्मि से मिला-जुला अन्धकार-पटल, तिमिरांशुक अर्थात् नवोढा प्रौढवधू द्वारा पहनी हुई नीली साड़ी । राग अर्थात् सन्ध्या की लाली के कारण और प्रेमरूप राग के कारण । 'पुरोऽपि'—पूर्व दिशा में, और सामने । गलित अर्थात् प्रशान्त और पतित (ढला हुआ) । रात्रि करणभूत रात्रि द्वारा समस्त अर्थात् मिश्रित, अथवा उपलक्षण के रूप में रात्रि से । नहीं लक्षित किया—। यह रात्रि का प्रारम्भ है यह नहीं जाना, क्योंकि अन्धकार से मिश्रित किरणों को देखने पर ही 'रात्रिमुख' को लोग लक्षित करते हैं—समझते हैं, न कि स्फुट आलोक में । नायिका-पक्ष में 'तया' (उसने) यह कर्तृपद है । रात्रिपक्ष में 'अपि' (भी) शब्द 'लक्षितम्' के बाद है । यहाँ पीछे की ओर से पहुँचे हुए नायक के द्वारा चुम्बन का उपक्रम किए जाने पर सामने नीलांशुक का गलन या पतन है । यदि वा, 'आगे नायक ने उस प्रकार मुख को पकड़ा' यह सम्बन्ध करते हैं, ऐसी स्थिति में यहाँ व्यंग्य के प्रतीत होने पर भी उसका प्राधान्य नहीं बनेगा । क्योंकि नायक का व्यवहार शृंगार के विभावरूप निशा और शशी को ही उपस्कृत करता हुआ अलङ्कारभाव को प्राप्त कर रहा है, तब तो विभावीभूत वाच्य से रसनिष्यन्द होगा । जिसने व्याख्यान किया है—'तया निशया' यह कर्तृपद है, निशा के अचेतन होने के कारण उसका कर्तृत्व बन नहीं सकता, इस प्रकार यहाँ शब्द ही के द्वारा नायक का व्यवहार उन्नीत होने से अभिधेय ही है न कि व्यंग्य,

ध्वन्यालोकः

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तथाहि-तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन्मुख्यं काव्यशरीरम्।

'आक्षेप' अलङ्कार में भी व्यङ्ग्यविशेष का आक्षेप करने वाले वाच्य अर्थ की ही चारुता है, प्राधान्यतः वाक्यार्थ आक्षेपोक्ति की सामर्थ्य से ही जाना जाता है। जैसा कि—विशेष बात कहने की इच्छा से शब्द द्वारा वाच्य जो प्रतिषेध रूप आक्षेप है वही व्यङ्ग्य विशेष को व्यञ्जित करता हुआ मुख्य काव्यशरीर है।

लोचनम्

शृङ्गारविभावरूपौ संस्कुर्वाणोऽलङ्कारतां भजते, ततस्तु वाच्याद्विभावीभूताद्रसनिःष्यन्दः। यस्तु व्याचष्टे—'तया निशयेति कर्तृपदं, न चाचेतनायाः कर्तृत्वमुपपन्नमिति शब्देनैवात्र नायकव्यवहार उन्नीतोऽभिधेय एव, न व्यङ्ग्य इत्यत एव समासोक्तिः' इति। स प्रकृतमेव ग्रन्थार्थमत्यजद्व्यङ्ग्येनानुगतमिति। एकदेशविवर्ति चेत्थं रूपकं स्यात्, 'राजहंसैरवीज्यन्त शरदैव सरोनृपाः' इतिवत्, न तु समासोक्तिः; तुल्यविशेषणाभावात्। गम्यत इति चानेनाभिधाव्यापारनिरासादित्यलमवान्तरेण बहुना। नायिकाया नायके यो व्यवहारः स निशायां समारोपितः; नायिकायां नायकस्य यो व्यवहारः स शशिनि समारोपित इति व्याख्याने नैकशेषप्रसङ्गः। आक्षेप इति।

अतएव समासोक्ति है।' उस (व्याख्याता) ने 'व्यंग्येनानुगतम्' यह प्रस्तुत अर्थ छोड़ दिया है। इस प्रकार 'एकदेशविवर्ति' रूपक होगा, जैसा कि—'सरोवररूपी राजे राजहंसरूपी शरत्काल द्वारा ढ्वा दिए गए।' समासोक्ति नहीं है, क्योंकि समान विशेषण नहीं है। समासोक्ति में 'गम्यते' (प्रतीत होता है') इस पद का प्रयोग करके अभिधा व्यापार का निराकरण किया है। यह बहुत अवान्तर चर्चा व्यर्थ है! नायिका का नायक में जो व्यवहार है उसका निशा में समारोप किया है और जो व्यवहार नायिका में नायक का है उसका शशी में समारोप किया है, इस प्रकार व्याख्यान करने पर एकशेष[1] का प्रसंग नहीं उपस्थित होगा। आक्षेप—।

१. स्वय लोचनकार ने प्रस्तुत 'समासोक्ति' के उदाहरण 'उपोढरागेण' का विशद व्याख्यान प्रस्तुत कर दिया है। यहाँ वृत्तिग्रन्थ में 'नायिका और नायक' जो कहा गया है वहाँ पाणिनि के 'पुमान् स्त्रिया' इस नियम के अनुसार एकशेष होना चाहिए यह शङ्का उपस्थित होती है मतलब यह कि 'नायक' कह देने मात्र से स्वतः नायिका का भी ग्रहण हो सकता था। इस शङ्का के समाधान में आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार व्याख्यान किया है दोनों के उल्लेख की आवश्यकता हो जाती है। उनका कहना है कि कवि ने नायिका के नायक में नीलांशुक के गलन को लक्षित न करने आदि व्यवहार (व्यापार) को निशा में आरोपित किया हैं और नायिका में नायक के

लोचनम्

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥

तत्राद्यौ यथा—

अहं त्वां यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुका ततः।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते॥

इति वक्ष्यमाणमरणविषयो निषेधात्माक्षेपः। तत्रेयदस्त्वित्येतदेवात्र म्रिये इत्याक्षिपत्सच्चारुत्वनिबन्धनमित्याक्षेप्येणाक्षेपकमलङ्कृतं सत्प्रधानम्। उक्तविषयस्तु यथा ममैव—

भो भोः किं किमकाण्ड एव पतितस्त्वं पान्थ कान्या गति-
स्तत्ताद्दक्तृषितस्य मे खलमतिः सोऽयं जलं गूहते।
अस्थानोपनतामकालसुलभां तृष्णां प्रति क्रुध्य भो-
स्त्रैलोक्यप्रथितप्रभावमहिमा मार्गः पुनर्मारवः॥

अत्र कश्चित्सेवकः प्राप्तः प्राप्तव्यमस्मात्किमिति न लभ इति प्रत्यशाविशस्यमानहृदयः केनचिदमुनाक्षेपेण प्रतिबोध्यते। तत्राक्षेपेण निषेधरूपेण

विशेष कथन की इच्छा से इष्ट वस्तु का प्रतिषेध-सा किया जाय तो वह 'वक्ष्यमाण-विषय' और 'उक्तविषय' के भेद से दो प्रकार का 'आक्षेप' होता है।

उसमें पहला जैसे—

'यदि उत्सुक मैं क्षण भर भी तुझे न देखूँ तब''' इतना ही रहने दो, इसके बाद की दूसरी तेरी अप्रिय बात कहने से क्या लाभ ?'

यह वक्ष्यमाण मरणविषय निषेधरूप आक्षेप है। 'इतना रहने दो' केवल यही यहाँ 'मर जाऊँगी' इस बात को आक्षिप्त (व्यञ्जित) करता हुआ चारुत्व का निबन्धन (आधार) है। इस प्रकार आक्षेप्य द्वारा आक्षेपक अलंकृत होता हुआ प्रधान ठहरता है। 'उक्तविषय', जैसे मेरा ही—

'हे हे पथिक ! तुम क्यों गलत जगह में आ पहुँचे ?' 'मुझे ऐसी प्यास ही लगी है, मैं क्या करता ?' यह दुष्ट मार्ग तो जल को छिपा लेता है !' अरे गलत जगह में उत्पन्न हुई अकाल सुलभ मेरी तृष्णा के प्रति क्रोध करो, अन्यथा (किसे नहीं मालूम कि) यह तीनों लोकों में प्रसिद्ध प्रभाव और महिमा वाला मरु का मार्ग है (यहाँ जल की आशा व्यर्थ है)।'

यहाँ कोई सेवक अपने मालिक के पास पहुँचा है, इस प्रत्याशा से कि क्यों नहीं इससे वह अपने प्राप्तव्य का लाभ करेगा ? उसका हृदय विश्वास कर रहा है, तभी कोई उसे इस 'आक्षेप' के द्वारा प्रतिबोधन करता है। वहाँ निषेधरूप आक्षेप के द्वारा

मुखचुम्बनादि व्यापार को शशी में आरोपित किया है। यदि एकशेष कर दिया जायगा तब इस प्रकार नायिका और नायक के शशी और निशा में व्यवहार के समारोपण का स्पष्टीकरण नहीं हो सकेगा।

लोचनम्

वाच्यस्यैवासत्पुरुषसेवातद्वैफल्यतत्कृतोद्वेगात्मनः शान्तरसस्थायिभूतनिर्वेद-विभावरूपतया चमत्कृतिदायित्वम्। वामनस्य तु 'उपमानाक्षेपः' इत्याक्षेपलक्षणम्। उपमानस्य चन्द्रादेराक्षेपः; अस्मिन्सति किं त्वया कृत्यमिति। यथा—

तस्यास्तन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ यदि च तैः किं नाम नीलोत्पलैः।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे
ही धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः॥

अत्र व्यङ्ग्योऽप्युपमार्थो वाच्यस्यैवोपस्कुरुते। किं तेन कृत्यमिति त्वपहस्तनारूप आक्षेपो वाच्य एव चमत्कारकारणम्। यदि वोपमानस्याक्षेपः सामर्थ्यादाकर्षणम्। यथा—

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।

असत्पुरुष की सेवा और उसके वैफल्य तथा उससे उत्पन्न उद्वेगरूप वाच्य का शान्तरस के स्थायीभाव निर्वेद के (उद्दीपक) विभाव होने के कारण चमत्कृतिकारित्व[1] है। परन्तु वामन का 'आक्षेप' लक्षण 'उपमान का आक्षेप' है। उपमान चन्द्र आदि का आक्षेप, इसके रहते तुझसे क्या होगा ? जैसे—

'सौम्य एवं सुभग उस रमणी का वह मुख विद्यमान है तो पूर्णिमा के चन्द्र से क्या ? यदि सौन्दर्य का स्थानभूत उसकी आँखें हैं तब उन नीले कमलों से क्या ? वहाँ उसके अधर के रहते कोमल कान्ति वाले किसलयों से क्या ? ओह ! एक वस्तु के बाद पुनः उसी के समान दूसरी वस्तु के निर्माण में विधाता का अपूर्व आग्रह है !'

यहाँ उपमारूप अर्थ व्यंग्य होता हुआ भी वाच्य का ही उपस्कारक है। 'उससे क्या काम ?' यह 'अपहस्तना' (निराकरण) रूप 'आक्षेप' वाच्य होकर ही चमत्कार का कारण है। अथवा यदि उपमान का आक्षेप अर्थात् '(अर्थ की) सामर्थ्य से आकर्षण' है। जैसे—

'अपने पाण्डु वर्ण वाले पयोधर (मेघ, पक्ष में स्तन) से गीले नखक्षत की भाँति

१. पहले प्रस्तुत उदाहरण के मूल स्वरूप पर विचार कर लेना चाहिए। इसका दूसरा चरण, जैसा कि 'तत्तादृक् तृषितस्य मे खलमतिः सोऽयं जलं गूहते' मुद्रित है, अर्थ होगा 'उस प्रकार मुझ प्यासे की और दूसरी गति क्या हो सकती है ?' यह दुष्ट मति का (मार्ग अथवा व्यक्ति) जल को छिपा लेता है। किन्तु 'बालप्रिया' में इस चरण के अन्य पाठभेद को मानकर कि 'भे खल ! सृतिः सेयं' अर्थात् रे दुष्ट पथिक ! मुझ प्यासे के लिए और दूसरी गति क्या है ?' 'यह मार्ग (सृति) जल को छिपा लेता है।' व्याख्या किया है। मैंने इन दोनों पाठों से कुछ मिलता-जुलता अर्थ किया है। यहाँ असतपुरुष की सेवा की विफलता वाच्य हो रही है और शान्तरस व्यङ्ग्य है। 'अस्थान में पहुँचने से इष्ट का लाभ होनेवाला नहीं' इस 'आक्षेप' से वाच्य की शोभा हो रही है। चमत्कार के कम-वेश होने पर ही अप्रधानता और प्रधानता का निर्णय होता है यह सिद्धान्त मूल वृत्तिग्रन्थ में, इसी प्रसंग में आचार्य ने निर्देश कर दिया है। इस उदाहरण में 'आक्षेप' का विषय उक्त है।

ध्वन्यालोकः

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा। यथा—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः॥

अत्र सत्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्यविवक्षा।

क्योंकि, वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य की विवक्षा चारुत्व के उत्कर्ष के आधार पर होती है। जैसे—

सन्ध्या (नायिका) अनुराग (सन्ध्याकालीन लाली, अथवा प्रेम) से भरी है और दिवस (नायक) उसके सामने सरक रहा है। अहो, दैव की गति वैसी है कि तब भी समागम नहीं होता।

यहाँ व्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर भी वाच्य का ही चारुत्व उत्कर्षयुक्त है, अतः उसीके प्राधान्य की विवक्षा है।

लोचनम्

प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार॥

इत्यत्रेर्ष्याकलुषितनायकान्तरमुपमानमाक्षिप्तमपि वाच्यार्थमेवालङ्करोतीत्येषा तु समासोक्तिरेव। तदाह—*चारुत्वोत्कर्षेति*। अत्रैव प्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—*अनुरागवतीति*। तेनाक्षेपप्रमेयसमर्थनमेवापरिसमाप्तमिति मन्तव्यम्। तत्रोदाहरणत्वेन समासोक्तिश्लोकः पठितः। *अहो दैवगतिरिति*। गुरुपारतन्त्र्यादिनिमित्तोऽसमागम इत्यर्थः। *तस्यैवेति*। वाच्यस्यैवेति यावत्। वामनाभिप्राये-

इन्द्र-धनुष को धारण किए हुई और सकलंक चन्द्रमा को प्रसन्न करती हुई शरद् ने सूर्य के ताप को बढ़ा दिया।'

यहाँ ईर्ष्या से कलुषित अन्य [1]नायकरूप उपमान आक्षिप्त होकर भी वाच्यार्थ को ही अलंकृत करता है। इस प्रकार यह तो 'समासोक्ति' ही है। जैसा कि कहा है—चारुत्व के उत्कर्ष—। यहीं पर प्रसिद्ध दृष्टान्त को कहते हैं—सन्ध्या अनुराग से—। इसलिए यह मानना चाहिए कि 'आक्षेप' अलङ्कार के प्रमेय (उदाहरण) का समर्थन अभी पूरा समाप्त नहीं हुआ है। वहाँ उदाहरण के रूप में 'समासोक्ति' का श्लोक पढ़ा है। अहो दैवगतिः—। अर्थात् गुरुजनों की परतन्त्रता आदि के कारण समागम नहीं होता। उसी के—मतलब कि वाच्य की ही। वामन के अभिप्राय से यह 'आक्षेप'

१. शरद् नायिका है और चन्द्र उसका प्रिय नायक। सूर्य उसका ईर्ष्यालु नायक है। यह नायक-नायिका व्यवहार यहाँ जो श्लिष्ट प्रयोगों से व्यञ्जित हो रहा है उससे वाच्य की शोभा हो

ध्वन्यालोकः

यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम् ।

और, जैसे दीपक, अपह्नुति आदि में व्यङ्ग्य रूप से उपमा की प्रतीति होने पर भी प्राधान्यतः विवक्षित न होने के कारण उससे व्यपदेश नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी देखना चाहिए ।

लोचनम्

णायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोः युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्। एषापि समासोक्तिर्वाऽस्तु आक्षेपो वा, किमनेनास्माकम् । सर्वथालङ्कारेषु व्यङ्ग्यं वाच्ये गुणीभवतीति नः साध्यमित्यत्राशयोऽत्र ग्रन्थेऽस्मद्गुरुभिर्निरूपितः ।

एवं प्राधान्यविवक्षायां दृष्टान्तमुक्त्वा व्यपदेशोऽपि प्राधान्यकृत एव भवतीत्यत्र दृष्टान्तं स्वपरप्रसिद्धमाह—*यथा चेति । उपमाया इति ।* उपमानोपमेयभावस्येत्यर्थः तयेत्युपमया । दीपके हि 'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते' इति लक्षणम् ।

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितः
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना ।
मदक्षीणो नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ॥

है, किन्तु 'भामह' के अभिप्राय से समासोक्ति है, इस आशय को हृदय में रखकर ग्रन्थकार ने युक्ति से समासोक्ति और आक्षेप का यह एक ही उदाहरण दिया है। यह 'समासोक्ति' हो अथवा आक्षेप, इससे हमें क्या ? सर्वथा हमारा साध्य यह है कि अलङ्कारों में व्यंग्य वाच्य में गुणीभूत होकर रहता है—इस आशय को इस ग्रन्थ में हमारे गुरुदेव ने निरूपण किया है ।

इस प्रकार प्राधान्य की विवक्षा के सम्बन्ध में दृष्टान्त कहकर व्यपदेश (नाम का व्यवहार) भी प्राधान्य के कारण ही होता है, इसका यहाँ अपने और दूसरे के अनुसार प्रसिद्ध दृष्टान्त देते हैं—और जैसे—। उपमा की—। अर्थात् उपमानोपमेयभाव की । उससे—। अर्थात् उपमा से । 'दीपक' में, 'आदिविषय, मध्यविषय और अन्तविषय के भेद से तीन प्रकार का दीपक होता है' यह लक्षण है ।

शान पर निखारा हुआ मणि, शस्त्रों के प्रहार से आहत समरविजयी वीर, एक कलामात्र शेषवाला चन्द्र, सुरत के प्रसंग में मसली हुई बालललना, क्षीण मद वाला

रही है । इस प्रकार वामन के पक्ष से यहाँ 'आक्षेप' है किन्तु भामह के मान्य मत के अनुसार 'समासोक्ति' है । वामन का लक्षण सर्वमान्य नहीं हो सका ।

लोचनम्

इत्यत्र दीपनकृतमेव चारुत्वम्। 'अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा' इति। तत्रापह्नुत्यैव शोभा। यथा—

नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः॥ इति।

एवमाक्षेपं विचार्योद्देशक्रमेणैव प्रमेयान्तरमाह—*अनुक्तनिमित्तायामिति*।

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता॥

यथा—

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम्॥

इयं चाचिन्त्यनिमित्तेति नास्यां व्यङ्ग्यस्य सद्भावः। उक्तनिमित्तायामपि वस्तुस्वभावमात्रत्वे पर्यवसानमिति तत्रापि न व्यङ्ग्यसद्भावशङ्का। यथा—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै कुसुमधन्वने॥

हाथी, शरत्काल में सूखे पुलिन वाली सरिता और याचकों को दान देकर क्षीण धन वाले लोग अपनी कृशता से शोभित होते हैं।

यहाँ चारुत्व दीपन—(अनेक में एक धर्म का अन्वयरूप दीपन–) कृत है। 'अभीष्ट (अर्थात् वर्ण्यविषय) का निषेध, जिसमें उपमा व्यंग्य होती हो, अपह्नुति कहलाता है।' वहाँ अपह्नुति (निषेध) से ही शोभा होती है। जैसे—

'यह मदमुखर भ्रमर-पङ्क्ति बार-बार नहीं गुञ्जार कर रही है, बल्कि यह खींचे हुए कामदेव के धनुष की आवाज है।'

इस प्रकार 'आक्षेप' का विचार करके निर्दिष्ट क्रम के अनुसार ही प्रमेयान्तर को कहते हैं—अनुक्तनिमित्ता—।

'एकदेश के न रहने पर, कुछ अतिशय बात के ख्यापन के लिए जो गुणान्तर का कथन होता है उसे 'विशेषोक्ति' कहते हैं।'

जैसे—

'वह फूल को बाणों वाला कामदेव अकेले ही तीनों जगत् पर विजय प्राप्त करता है, जिसके शरीर को नष्ट करते हुए भी शिवजी ने बल को नष्ट नहीं किया।

यह विशेषोक्ति अचिन्त्यनिमित्ता है (क्योंकि शरीर के हरण होने पर भी बल के हरण न होने का कारण नहीं कहा जा सकता)। इसलिए इसमें व्यंग्य का सद्भाव नहीं है। 'उक्तनिमित्ता' (अर्थात् जिस विशेषोक्ति में निमित्त या कारण का कथन किया गया होता है) में भी वस्तु के स्वभावमात्र में पर्यवसान हो जाता है, इसलिए वहाँ भी व्यंग्य के सद्भाव की शंका नहीं। जैसे—

'कपूर के समान जला हुआ भी जो जन-जन में शक्तिमान् है उस फूलों के धनुषवाले अवार्यवीर्य कामदेव के लिए नमस्कार है।'

ध्वन्यालोकः

अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ—

आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।

गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति॥

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात्प्रतीतिमात्रं न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम्। पर्यायोक्तेऽपि यदि

अनुक्तनिमित्ता 'विशेषोक्ति' में भी—

'अपने साथियों द्वारा पुकारे जाने पर भी, 'हाँ' कहकर नींद छोड़ देने पर भी एवं जाने की इच्छा रखता हुआ भी पथिक अधिक संकोच को शिथिल नहीं करता है।'

इत्यादि (उदाहरण) में प्रकरण की सामर्थ्य से व्यङ्ग्य की प्रतीतिमात्र हो जाती है, न कि उस प्रतीति के कारण कोई चारुत्व की निष्पत्ति होती है अतः (व्यङ्ग्य का) प्राधान्य नहीं है। 'पर्यायोक्त' में भी यदि प्राधान्यतः व्यङ्ग्य है तो उसका 'ध्वनि' में

लोचनम्

तेन प्रकारद्वयमवधीर्य तृतीयं प्रकारमाशङ्कते—*अनुक्तनिमित्तायामपीति*। *व्यङ्ग्यस्येति*। शीतकृता खल्वार्तिरत्र निमित्तमिति भट्टोद्भटः, तदभिप्रायेणाह—*न तत्र काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति*। यत्तु रसिकैरपि निमित्तं कल्पितम्—'कान्तासमागमे गमनादपि लघुतरमुपायं स्वप्नं मन्यमानो निद्रागमबुद्ध्या सङ्कोचं नात्यजत्' इति तदपि निमित्तं चारुत्वहेतुतया नालङ्कारविद्भिः कल्पितम्, अपि तु विशेषोक्तिभाग एव न शिथिलयतीत्येवम्भूतोऽभिव्यज्यमाननिमित्तोपस्कृतश्चारुत्वहेतुः। अन्यथा तु विशेषोक्तिरेवेयं न भवेत्। एवमभिप्रायद्वयमपि साधारणोक्त्या ग्रन्थकृन्न्यरूपयन्न त्वौद्भटेनैवाभिप्रायेण ग्रन्थो व्यवस्थित इति मन्तव्यम्। *पर्यायोक्तेऽपीति*—

(यहाँ 'अवार्यवीर्य' इस निमित्त का कथन है, अतः यह 'उक्तनिमित्ता' है)।

अतः (विशेषोक्ति के इन) दोनों प्रकारों को छोड़कर तीसरे प्रकार की आशङ्का करते हैं—अनुक्तनिमित्ता में भी—। व्यङ्ग्य की—। 'भट्ट उद्भट' के अनुसार 'यहाँ शीत के कारण कष्ट निमित्त है।' इस अभिप्राय से कहते हैं—न कि उस व्यङ्ग्य की प्रतीति के कारण कोई चारुत्व की निष्पत्ति होती है—। जो कि रसिक जनों ने भी (यहाँ) 'निमित्त' की कल्पना की है, कि—'कान्ता के समागम के लिए गमन करने से भी लघुतर (शीघ्रतर) उपाय स्वप्न को मानते हुए पथिक ने, जिससे कि नींद लग जाय, इस बुद्धि से, सङ्कोच नहीं छोड़ा।' इस निमित्त को भी अलङ्कारज्ञों ने चारुत्वहेतु के रूप में नहीं स्वीकार किया है, बल्कि अभिव्यक्त होते हुए निमित्त के द्वारा उपस्कृत नहीं होता 'नहीं शिथिल करता है' इस प्रकार का विशेषोक्ति-अंश ही चारुत्व का हेतु है। अन्यथा, यह विशेषोक्ति ही न होगी। इस प्रकार (उद्भट और रसिकों के) दो अभिप्रायों को ग्रन्थकार ने सामान्य उक्ति ('व्यङ्ग्य की' यह उक्ति) द्वारा निरूपण

ध्वन्यालोकः

प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वने-

अन्तर्भाव हो भी जाय, परन्तु ध्वनि का उसमें अन्तर्भाव नहीं होगा। क्योंकि उसका

लोचनम्

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥

इति लक्षणम्। यथा—

शत्रुच्छेददृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः।
रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना॥ इति।

अत्र भीष्मस्य भार्गवप्रभावाभिभावी प्रभाव इति यद्यपि प्रतीयते, तथापि तत्सहायेन देशिता धर्मदेशनेत्यभिधीयमानेनैव काव्यार्थोऽलंकृतः। अत एव पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम्, अर्थालङ्कारत्वं सामान्यलक्षणं चेति सर्वं युज्यते। यदि त्वभिधीयत इत्यस्य बलाद्व्याख्यानमभिधीयते प्रतीयते प्रधानतयेति, उदाहरणं च 'भम धम्मिअ' इत्यादि, तदालङ्कारत्वमेव दूरे सम्पन्नमात्मतायां पर्यवसानात्। तदा चालङ्कारमध्ये गणना न कार्या। भेदान्तराणि चास्य वक्तव्यानि। तदाह—*यदि प्राधान्येनेति*। *ध्वनाविति*। आत्मन्यन्तर्भावादात्मैवासौ नालङ्कारस्स्यादि-

किया है, न कि उद्भट के ही अभिप्राय से ग्रन्थ व्यवस्थित है, ऐसा मानना चाहिए।

'जो प्रकारान्तर से अभिधान किया जाता है, अर्थात् और वाचक के व्यापारों से रहित, व्यञ्जन रूप व्यापार से जो कहा जाता है वह पर्यायोक्त (अलङ्कार) है।'

यह लक्षण है। जैसे—'शत्रु के विनाश की दृढ़ इच्छा वाले, उन्मार्गगामी मुनि (परशुराम) को (भीष्म के) इस धनुष ने धर्म-पालन की शिक्षा दी।'

यहाँ यद्यपि भीष्म का भार्गव–परशुराम के प्रभाव को अभिभूत करने वाला प्रभाव प्रतीत होता है, तथापि उस (प्रतीयमानार्थ) की सहायता से 'धर्म-पालन की शिक्षा दी' इस अभिधीयमान (वाच्यार्थ) से ही काव्यार्थ अलङ्कृत है। अत एव पर्याय अर्थात् प्रकारान्तर से अवगम रूप व्यङ्ग्य से उपलक्षित होकर जो अभिहित होता है वह अभिधीयमान उक्त ही होकर 'पर्यायोक्त' कहलाता है, यह लक्षण–पद है, एवं 'पर्यायोक्त' यह लक्ष्य–पद है। और इसका अर्थालङ्कारत्व रूप अलङ्कार का सामान्य लक्षण है। यह सब कुछ उसमें लग जाता है। यदि—'अभिधीयते' ('अभिहित होता है') इसका बलाद् व्याख्यान 'प्रधान रूप से प्रतीत होता है, यह करते हैं, और 'भम धम्मिअ' इत्यादि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं तब इसका अलङ्कारत्व ही दूर हट जायगा, क्योंकि 'आत्मा' के रूप में इसका पर्यवसान होगा। तब अलङ्कारों के बीच गणना न होगी। इसके भेदान्तर भी कहे जायेंगे। इसे कहते हैं—**यदि प्रधान रूप से—। ध्वनि में—**। अर्थात् आत्मा में अन्तर्भाव होने से वह आत्मा ही होगा,

ध्वन्यालोकः

स्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेनाङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न पुनः पर्यायो भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनाभावेनाविवक्षितत्वात्।

महाविषय रूप एवं अङ्गीरूप से प्रतिपादन करेंगे। ऐसा नहीं कि जैसा भामह ने जिस 'पर्यायोक्त' को कहा है उसके सदृश पर्यायोक्त में व्यङ्ग्य का ही प्राधान्य है, क्योंकि वहाँ वाच्य के उपसर्जनीभाव (गुणीभाव) की विवक्षा नहीं की गयी है।

लोचनम्

त्यर्थः। *तत्रेति*। यादृशोऽलङ्कारत्वेन विवक्षितस्तादृशे ध्वनिर्नान्तर्भवति, न तादृगस्माभिर्ध्वनिरुक्तः। ध्वनिर्हि महाविषयः सर्वत्र भावाद्व्यापकः समस्तप्रतिष्ठास्थानत्वाच्चाङ्गी। न चालङ्कारो व्यापकोऽन्यालङ्कारवत्। न चाङ्गी, अलङ्कार्यतन्त्रत्वात्। अथ व्यापकत्वाङ्गित्वे तस्योपगम्येते, त्यज्यते चालङ्कारता, तर्ह्यस्मन्नय एवायमवलम्ब्यते केवलं मात्सर्यग्रहात्पर्यायोक्तवाचेति भावः। न चेयदपि प्राक्तनैर्दृष्टमपि त्वस्माभिरेवोन्मीलितमिति दर्शयति—*न पुनरिति*। भामहस्य यादृक्तदीयं रूपमभिमतं तादृगुदाहरणेन दर्शितम्। तत्रापि नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं चारुत्वाहेतुत्वात्। तेन तदनुसारितया तत्सदृशं यदुदाहरणान्तरमपि कल्प्यते तत्र नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यमिति सङ्गतिः।

यदि तु तदुक्तमुदाहरणमनादृत्य 'भम धम्मिअ' इत्याद्युदाह्रियते, तदस्मच्छिष्यतैव। केवलं तु नयमनवलम्ब्यापश्रवणेनात्मसंस्कार इत्यनार्यचेष्टितम्।

अलङ्कार नहीं। वहाँ—। अलङ्कार के रूप में जैसा विवक्षित है वैसे में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होगा, हमने उस प्रकार 'ध्वनि' को नहीं कहा है। क्योंकि 'ध्वनि' महाविषय है, सर्वत्र होने से व्यापक और सबका प्रतिष्ठान (आधार) होने से अङ्गी है। अलङ्कार दूसरे अलङ्कारों की तरह व्यापक नहीं है और अङ्गी भी नहीं है, क्योंकि वह अपने अलङ्कार्य के अधीन होता है। अगर उस (अलङ्कार) का व्यापकत्व एवं अङ्गित्व मानते हैं और अलङ्कारता छोड़ देते हैं तो केवल मात्सर्यग्रह के कारण 'पर्यायोक्त' के कथन द्वारा भी हमारा पक्ष ही अवलम्बन किया जाता है—यह मतलब है। न कि इतना भी (व्यङ्ग्य का प्राधान्य भी) प्राचीनों ने देखा है, अपितु हमने ही उसका उन्मीलन किया है, इस बात को दिखाते हैं—ऐसा नहीं—। भामह को जैसा उसका (पर्यायोक्त का) रूप अभिमत था वैसा उदाहरण से दिखाया जा चुका है। वहाँ भी व्यङ्ग्य का प्राधान्य नहीं है, क्योंकि व्यङ्ग्य वहाँ चारुत्व का कारण नहीं है। इसलिए उसका अनुसरण करके जो कुछ दूसरा भी तत्सदृश उदाहरण देंगे वहाँ भी व्यङ्ग्य का प्राधान्य नहीं होगा—यह (ग्रन्थ की) सङ्गति है।

यदि उन (भामह) के कहे उदाहरण को हटाकर 'भम धम्मिअ०' इत्यादि को उदाहरण देते हैं तो हमारा शिष्य ही बनते हैं। केवल न्याय का अवलम्बन न करके

लोचनम्

यदाहुरैतिहासिकाः—'अवज्ञयाप्यवच्छाद्य शृण्वन्नरकमृच्छति' इति। भामहेन तूदाहृतम्—

'गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः।
विप्रा न भुञ्जते' इति।

एतद्धि भगवद्वासुदेववचनं पर्यायेण रसदानं निषेधति। यत्स एवाह—'तच्च रसदाननिवृत्तये' इति। न चास्य रसदाननिषेधस्य व्यङ्ग्यस्य किञ्चिच्चारुत्वमस्ति येन प्राधान्यं शङ्क्येत। अपि तु तद्व्यङ्ग्योपोद्बलितं विप्रभोजनेन विना यन्नभोजनं तदेवोक्तप्रकारेण पर्यायोक्तं सत्प्राकरणिकं भोजनार्थमलङ्कुरुते। न ह्यस्य निर्विषं भोजनं भवत्विति विवक्षितमिति पर्यायोक्तमलङ्कार एवेति

अपश्रवण द्वारा आत्मा का संस्कार यह अनार्य-चेष्टा है। जैसा कि ऐतिहासिकों ने कहा है—'(विद्या में एवं गुरु के प्रति) अवज्ञा से आत्मापह्लव करके सुनता हुआ व्यक्ति नरक जाता है।' भामह ने उदाहरण दिया है—

'जिस अन्न को स्वाध्याय करने वाले विप्रलोग नहीं खाते उसे हम लोग घरों में और मार्गों में नहीं खाते हैं।'

यह भगवान् वासुदेव का वचन 'पर्याय' द्वारा (प्रकारान्तर से) रसदान (विषदान) का निषेध करता है। जो कि वे ही कहते हैं—'रसदान (विषदान) की निवृत्ति के लिए।' इस विषदान के निषेध रूप व्यङ्ग्य का कोई चारुत्व नहीं है, जिससे उसके प्राधान्य की शङ्का होगी। बल्कि उस व्यङ्ग्य से उपोद्बलित 'विप्रभोजन के बिना जो नहीं भोजन है' वही उक्त (पर्याय के) प्रकार से पर्यायोक्त होकर प्राकरणिक भोजन के अर्थ को अलङ्कृत करता है। वासुदेव श्रीकृष्ण का (शिशुपाल के प्रति) यह विवक्षित नहीं है कि विषरहित भोजन हो इस[2] प्रकार पर्यायोक्त अलङ्कार ही

१. यह निर्देश पहले ही कर चुके हैं कि आचार्य भामह ने जो 'पर्यायोक्त' अलङ्कार का उदाहरण दिया है उसमें व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं है। स्वयं उन्होंने 'अभिधीयते' कह-कर व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य को प्रधानता दी है। यदि इस बात को न स्वीकार करके 'भम धम्मिअ' इत्यादि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं तब स्वयं ध्वनिमार्ग के पक्षपाती बनकर हमारी शिष्यता स्वीकार करते हैं। क्योंकि इस स्थल में व्यंग्य की प्रधानता है और तदपेक्षया वाच्य गुणीभूत है। इस प्रकार यह 'ध्वनि' का उदाहरण है। ऐसी स्थिति में 'पर्यायोक्त' कोई अलङ्कार नहीं रह जाता है बल्कि वह अलङ्कार्य होकर अलङ्कार-ध्वनि की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अनायास ध्वनि का यहाँ प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार वादी ने स्वयं ध्वनि को स्वीकार कर लिया और ध्वनिवादी आचार्य का बेढंगा 'शिष्य' हुआ। 'बेढंगा' इसलिए कि उसने परम्परा से गुरु के यहाँ उपस्थित होकर अध्ययन नहीं किया और स्वयं गुरु की बात तक जैसे-तैसे पहुँच गया। नियमतः शिष्य को गुरु के मुख से ही शास्त्रार्थ का श्रवण करना चाहिए, यही आर्य-परम्परा है। यदि शिष्य ने ऐसा न किया और विद्या ग्रहण कर लिया तो उसके इस प्रयत्न को 'अपश्रवण' और 'अनार्यचेष्टित' कहा जाता है।

२. भगवान् कृष्ण का यह अभिप्राय है कि शिशुपाल कहीं अन्न के साथ मुझे विष न दे दे, इस लिए वह पहले ब्राह्मणों को खिला कर स्वयं खाने की बात करते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में

ध्वन्यालोकः

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव ।

और फिर अपह्नति और दीपक (अलङ्कारों) में वाच्य का प्राधान्य और व्यङ्ग्य का अनुयायित्व प्रसिद्ध ही है ।

लोचनम्

चिरन्तनानामभिमत इति तात्पर्यम् । *अपह्नुतिदीपकयोरिति* । एतत्पूर्वमेव निर्णीतम् । अत एवाह—*प्रसिद्धमिति* । प्रतीतं प्रसाधितं प्रामाणिकं चेत्यर्थः । पूर्वं चैतदुपमादिव्यपदेशभाजनमेव तद्यथा न भवतीत्यमुया छायया दृष्टान्तयोक्तमप्युद्देशक्रमपूरणाय ग्रन्थशय्यां योजयितुं पुनरप्युक्तं 'व्यङ्ग्यप्राधान्याभावान्न ध्वनिरि'ति छायान्तरेण वस्तु पुनरेकमेवोपमाया एव व्यङ्ग्यत्वेन ध्वनित्वाशङ्कनात् । यत्तु विवरणकृत्—दीपकस्य सर्वत्रोपमान्वयो नास्तीति बहुनोदाहरणप्रपञ्चेन विचारितवांस्तदनुपयोगि निस्सारं सुप्रतिक्षेपं च ।

प्राचीनों का अभिमत है, यह तात्पर्य है। अपह्नुति और दीपक में—। यह पहले ही निर्णय कर चुके हैं। अत एव कहते हैं—प्रसिद्ध—। अर्थात् प्रतीत, प्रसाधित एवं प्रामाणिक है। पहले तो यह 'उपमादि के व्यपदेश का भाजन ही जिस प्रकार नहीं हो सकता' इस प्रकार से दृष्टान्त के रूप में उक्त होकर भी उद्देश क्रम की पूर्ति के लिए एवं ग्रन्थशय्या की योजना[1] के लिए फिर भी कहा है—'व्यङ्ग्य का प्राधान्य न होने के कारण ध्वनि नहीं है।' प्रकारान्तर से (अप्राधान्य रूप) वस्तु एक ही है इस प्रकार उपमा के व्यङ्ग्य होने से 'ध्वनि' की शङ्का नहीं। जो कि विवरणकार ने—'दीपक का सर्वत्र उपमा से सम्बन्ध नहीं है' यह बहुत से उदाहरण—प्रपञ्च द्वारा विचार किया है, वह उपयोगी नहीं, तथा निःसार एवं सहज ही निराकरणीय है।

रस अर्थात् विष के दान का निषेध पर्याय या प्रकारान्तर से है व्यंग्य, किन्तु यह व्यङ्ग्य आगे की 'तच्च रसदाननिवृत्तये' (विषदान की निवृत्ति के लिए) इस उक्ति से अभिहित हो जाता है। इस प्रकार यह पर्यायोक्त अलङ्कार है। क्योंकि अभिहित हो जाने के कारण व्यंग्य का चमत्कार जाता रहता है।

१. पहले 'समासोक्ति' और 'आक्षेप' के प्रसंग में यह भी सिद्धान्ततः आचार्य ने कहा था कि व्यंग्य और वाच्य में जो चारुत्वयुक्त होने के कारण प्रधान होता है उसी के आधार पर व्यपदेश भी होता है। इसके उदाहरणस्वरूप उन्होंने वहाँ दीपक और अपह्नति की चर्चा की थी, जिनमें उपमा व्यंग्य होती हुई भी प्राधान्यतः विवक्षित नहीं है। प्रस्तुत में पुनः अपह्नति और दीपक अलङ्कारों के उल्लेख पहले उल्लिखित अलङ्कारों के उद्देशक्रम की पूर्ति करने एवं ग्रन्थशय्या की योजना के उद्देश्य से ग्रन्थकार ने किया है। समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक और सङ्कर अलङ्कारों का नामोल्लेख किया है। इसी क्रम में पर्यायोक्त के बाद अपह्नुति और दीपक की यहाँ चर्चा हुई है।

ध्वन्यालोकः

सङ्करालङ्कारेऽपि यदालंकारोऽलंकारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम् ।

सङ्करालङ्कार में भी जब अलङ्कार दूसरे अलङ्कार की छाया (सौन्दर्य) को अनुगृहीत (पुष्ट) करता है तब व्यङ्ग्य के प्राधान्यतः विवक्षित न होने पर ध्वनि का विषय नहीं होता ।

लोचनम्

मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभङ्गनम् ।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां सासह्यां मनसः शुचम् ॥ इति ॥

अत्राप्युत्तरोत्तरजन्यत्वेऽप्युपमानोपमेयभावस्य सुकल्पत्वात् । न हि क्रमिकाणां नोपमानोपमेयभावः । तथा हि—

राम इव दशरथोऽभूद्दशरथ इव रघुरजोऽपि रघुसदृशः ।
अज इव दिलीपवंशश्चित्रं रामस्य कीर्तिरियम् ॥

इति न न भवति । तस्मात्क्रमिकत्वं समं वा प्राकरणिकत्वमुपमां निरुणद्धीति कोऽयं त्रास इत्यलं गर्दभीदोहानुवर्तनेन । *सङ्करालङ्कारेऽपीति* ।

'मद प्रीति उत्पन्न करता है, वह (प्रीति) मान को दूर करने वाले अनङ्ग को, वह (अनङ्ग) प्रियतमा के सङ्गम की उत्कण्ठा को और वह (उत्कण्ठा) मन के शोक को ।'

यहाँ उत्तरोत्तर उत्पन्न होने पर भी उपमानोपमेयभाव सहज ही बन सकता है । यह नहीं कि क्रमिकों का उपमानोपमेयभाव नहीं होता । जैसा कि—

राम के सदृश दशरथ हुए, दशरथ के सदृश रघु, रघु के सदृश अज एवं अज के समान दिलीप का वंश । इस प्रकार राम की कीर्ति आश्चर्ययुक्त है ।

यहाँ (उपमानोपमेयभाव) नहीं है यह नहीं । इस लिए क्रमिकत्व, सम अथवा प्राकरणिकत्व उपमा को रोक लेता है, यह कौन सा त्रास है ? अब गर्दभी को बार-बार दुहना ठीक नहीं । सङ्करा[1]लङ्कार में भी— ।

---

१. 'लोचन' में निर्दिष्ट 'सङ्करालङ्कार' के सम्बन्ध में संक्षिप्त किन्तु स्पष्टार्थं विचार यह है कि भामह आदि ने 'सङ्कर' के चार प्रकार गिनाए हैं, जब कि आगे चल कर उसके तीन ही प्रकार निर्दिष्ट किए जाते हैं । तीन प्रकार हैं—अङ्गाङ्गिभावसङ्कर, एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर और सन्देहसङ्कर । भामह ने एकाश्रयानुप्रवेश को एकवाक्यानुवर्तन और एकवाक्यांशसमावेश इन दो रूपों में विभक्त कर दिया है ।

जैसा कि 'सन्देह' सङ्कर का उदाहरण 'सरसिजवदना' आदि है वहाँ रूपक के अनुसार समास करने पर, कि 'शशी एव वदनं यस्याः सा' और उपमा के अनुसार समास करने पर, 'शशिवद् वदनं यस्याः सा' रूप होगें । तीनों विशेषण क्रमशः आकाश, जल और स्थल से सम्बन्ध होने से नायिका का उसमें सम्भव होना बोधित होता है । यहाँ पर कोई प्रमाण नहीं जिसके आधार पर

लोचनम्

विरुद्धालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसम्भवे ।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः ॥

इति लक्षणादेकः प्रकारः । यथा ममैव—

शशिवदनाऽसितसरसिजनयना सितकुन्ददशनपङ्क्तिरियम् ।
गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना ॥ इति ॥

अत्र शशी वदनमस्याः तद्वद्वा वदनमस्या इति रूपकोपमोल्लेखाद्युगपद् द्वयासम्भवादेकतरपक्षत्यागग्रहणे प्रमाणाभावात्सङ्कर इति व्यङ्ग्यवाच्यताया एवानिश्चयात्का ध्वनिसम्भावना । योऽपि द्वितीयः प्रकारः—शब्दार्थालङ्काराणामेकत्रभाव इति तत्रापि प्रतीयमानस्य का शङ्का । यथा—'स्मर स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात्' इति । अत्रैव यमकमुपमा च । तृतीयः प्रकारः—यत्रैकत्र वाक्यांशेऽनेकोऽर्थालङ्कारस्तत्रापि द्वयोः साम्यात्कस्य व्यङ्ग्यता । यथा—

सिरुद्ध दो अलङ्कारों के उपस्थित होने पर, एक ही स्थान में दोनों की स्थिति सम्भव न होने पर और उनमें से एक को छोड़कर दूसरे के ग्रहण करने में साधक एवं बाधक के अभाव में सङ्कर (सन्देह सङ्कर) होता है ।

इस लक्षण से एक प्रकार का सङ्कर हुआ । जैसे, मेरा ही—

'शशिवदना, नीलकमलनयना, उज्ज्वलकुन्ददन्तावली इस नायिका को विधाता ने आकाश, जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले मनोहर पदार्थों के आकार वाली बनाया है ।'

यहाँ शशी वदन है इसका, अथवा शशी के समान वदन है इसका, यह रूपक और उपमा दो अलङ्कारों के उल्लेख से एक स्थान में दोनों के सम्भव न होने के कारण तथा एकतर पक्ष के त्याग अथवा ग्रहण में प्रमाण के अभाव होने से 'सङ्कर' अलङ्कार है, इस प्रकार जब 'सङ्कर' के व्यङ्ग्य होने अथवा वाच्य होने में ही कोई निश्चय नहीं तब इसके 'ध्वनि' होने की सम्भावना कैसी ? जो कि दूसरा (सङ्कर अलङ्कार का) प्रकार है—शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का एकत्र भाव, वहाँ भी प्रतीयमान की सम्भावना कैसी ? जैसे—'काम के सदृश प्रिय को याद कर जिसे आलिङ्गन के द्वारा तू रमाती है ।' यहीं यमक और उपमा है । तीसरा प्रकार—जहाँ एक वाक्यांश में अनेक अर्थालङ्कार हैं, वहाँ भी दो के बराबर होने से किसकी व्यङ्ग्यता होगी ? जैसे—

यह माना जाय कि उपमा और रूपक में से कोइ एक है । इस प्रकार यहाँ दोनों का सन्देह रूप सङ्कर है ।

दूसरा प्रकार है, शब्द और अर्थ के अलङ्कारों का एक वाक्य में प्रवेश । तीसरा प्रकार है एक वाक्यांश में अनेक अर्थालङ्कार । द्वितीय प्रकार के उदाहरण में 'स्मर-स्मर' इस आवृत्ति से यमक (शब्दालङ्कार) है और 'स्मर' (काम) के सदृश' (स्मरमिव) यह उपमा (अर्थालङ्कार) । इस प्रकार दोनों का एकाश्रयानुवेश है । तीसरे प्रकार के उदाहरण में सूर्य स्वामी है और वासर सेवक है । सूर्य का अस्त होना स्वामी पर विपत्ति है और वासर का तमोगुहा में प्रवेश समुचित

लोचनम्

तुल्योदयावसानत्वाद्गतेऽस्तं प्रति भास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगुहाम् ॥ इति ॥

अत्र हि स्वामिविपत्तिसमुचितव्रतग्रहणहेवाकिकुलपुत्रकरूपणमेकदेशविवर्त्तिरूपकं दर्शयति। उत्प्रेक्षा चेवशब्देनोक्ता। तदिदं प्रकारद्वयमुक्तम्।

शब्दार्थवर्त्यलङ्कारा वाक्य एकत्र वर्त्तिनः।
सङ्करश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाऽभिधीयते ॥ इति च ॥

चतुर्थस्तु प्रकारो यत्रानुग्राह्यानुग्राहकभावोऽलङ्काराणाम्। यथा—

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः॥

अत्र मृगाङ्गनावलोकनेन तदवलोकनस्योपमा यद्यपि व्यङ्ग्या, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालङ्कारस्याभ्युत्थानकारिणीत्वेनानुग्राहकत्वाद् गुणीभूता, अनुग्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम्। यथोक्तम्—

'जिसका उदय और अस्त दोनों समान ही हैं ऐसे सूर्य के अस्तङ्गत होने पर म्लान वासर मानों अन्धकार की गुहा में प्रवेश कर रहा है।'

यहाँ ('अन्धकार की गुहा' इस स्थल का) एकदेशविवर्तिरूपक स्वामी की विपत्ति के समय समुचित व्रतग्रहण में प्रयत्नशील कुलपुत्र के रूपण को दर्शाता है। और 'इव' शब्द से उत्प्रेक्षा उक्त है। इस सङ्कर के दो प्रकार कहे गए।

एक ही वाक्य में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों होते हैं, यह सङ्कर है, अथवा एक ही वाक्यांश में अनेक अर्थालङ्कारों का प्रवेश होता है तब भी सङ्कर कहा जाता है।

चौथा प्रकार वह है अलङ्कारों का अनुग्राह्यानुग्राहकभाव होता है, जैसे—

'दीर्घ लोचनों वाली उस (पार्वती) ने वायु से हिलते हुए नीलोत्पल के सदृश अधीर दृष्टिपात को मृगाङ्गनाओं से ग्रहण किया है अथवा मृगाङ्गनाओं ने उससे ग्रहण किया।'

यहाँ मृगाङ्गनाओं के अवलोकन से पार्वती के अवलोकन की उपमा यद्यपि व्यङ्ग्य हो रही है, तथापि वाच्य सन्देहालङ्कार के अभ्युत्थान करने वाली होने के कारण वह (व्यङ्ग्य उपमा) गुणीभूत है। क्योंकि अनुग्राह्य होने के कारण सन्देह में उसका (अनुग्राहिका व्यङ्ग्य उपमा का) पर्यवसान है। जैसा कि कहा है—

व्रतग्रहण है। पर इनका आरोप नहीं हुआ है, केवल 'तमोगुहा' में एकदेशविवर्ती रूपक है। 'विशतीव' 'मानों प्रवेश करता है', यहाँ उत्प्रेक्षा है। यहाँ रूपक और उत्प्रेक्षा दोनों समानरूप से वाच्य हैं।

चतुर्थ प्रकार है अङ्गाङ्गिभावरूप सङ्कर। उदाहरण में जो पार्वती के चञ्चल नेत्रों और हरिणी के चञ्चल नेत्रों में जो अधीर-विप्रेक्षित के आदान-प्रदान का सन्देह कवि ने किया है वहाँ 'पार्वती की चञ्चल आँखें हरिणी की आँखों के समान हैं, यह उपमा व्यंग्य हो रही है, किन्तु वह वाच्य सन्देह अलङ्कार का अभ्युत्थान करती है अतः अनुग्राहक होने के कारण गुणीभूत हो गई है। उसका पर्यवसान सन्देह में होता है।

ध्वन्यालोकः

अलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम् । अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम् । पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायात् ।

दो अलङ्कारों की सम्भावना में तो वाच्य और व्यङ्ग्य का प्राधान्य बराबर है। यदि कहिये कि वाच्य को गुणीभूत करके व्यङ्ग्य का वहाँ अवस्थान है तब वह भी 'ध्वनि' का विषय हो सकता है, न कि वही 'ध्वनि' है, ऐसा कह सकते हैं। जैसा कि 'पर्यायोक्त' में ढंग दिखा चुके हैं।

लोचनम्

परस्परोपकारेण यत्रालङ्कृतयः स्थिताः ।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः ॥

तदाह-*यदालङ्कार* इत्यादि । एवं चतुर्थेऽपि प्रकारे ध्वनिता निराकृता । मध्यमयोस्तु व्यङ्ग्यसम्भावनैव नास्तीत्युक्तम् । आद्ये तु प्रकारे 'शशिवदने'त्याद्युदाहृते कथञ्चिदस्ति सम्भावनेत्याशङ्क्य निराकरोति—*अलङ्कारद्वयेति* । *सममिति* । द्वयोरप्यान्दोल्यमानत्वादिति भावः । ननु यत्र व्यङ्ग्यमेव प्राधान्येन भाति तत्र किं कर्तव्यम् । यथा—

होइ ण गुणाणुराओ खलाणँ णवरं पसिद्धिसरणाणम् ।
किर पहिणुसइ ससिमणं चन्दे पिआमुहे दिट्ठे ॥

अत्रार्थान्तरन्यासस्तावद्वाच्यत्वेनाभाति, व्यतिरेकापह्नुती तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रधानतयेत्यभिप्रायेणाशङ्कते—*अथेति* । तत्रोत्तरम्—*तदा सोऽपीति* । सङ्करा-

'जहाँ परस्पर उपकार-पूर्वक अलङ्कार स्थित हैं और स्वतन्त्र रूप से आत्मलाभ नहीं प्राप्त करते हैं, वह भी 'सङ्कर' है।'

उसे कहते हैं—जब अलङ्कार इत्यादि—। इस प्रकार (सङ्कर) के चौथे प्रकार में भी ध्वनित्व का निराकरणीय किया। बिचले दो प्रकारों में तो व्यङ्ग्य की सम्भावना ही नहीं है, यह कहा। 'शशिवदना०' इत्यादि उदाहृत (सङ्कर के) पहले प्रकार में किसी प्रकार सम्भावना है, यह आशङ्का करके निराकरण करते हैं—दो अलङ्कारों—। बराबर—। भाव यह कि क्योंकि दोनों ही आन्दोल्यमान (सन्दिह्यमान) हैं। जहाँ व्यङ्ग्य ही प्राधान्यतः मालूम होता है—वहाँ क्या करेंगे ? जैसे—

'केवल प्रसिद्धि पर ही ध्यान देने वाले (वस्तुतत्त्व का विचार न रखने वाले) खल जनों के गुणानुराग नहीं होता। चन्द्रकान्त मणि चन्द्र को देखकर प्रस्तुत होता है, प्रिया के मुख को देखकर नहीं प्रस्तुत होता।'

यहाँ[1] 'अर्थान्तरन्यास' वाच्यरूप से मालूम पड़ता है, किन्तु 'व्यतिरेक' और

१. सामान्य का विशेष से समर्थनरूप यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है, जो वाच्य है। क्योंकि

ध्वन्यालोकः

अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनि-सम्भावनां निराकरोति ।

दूसरे यह कि सर्वत्र 'सङ्करालङ्कार' में (कहीं भी सङ्करालङ्कार में) 'सङ्कर' यह कथन ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है ।

लोचनम्

लङ्कार एवायं न भवति, अपि त्वलङ्कारध्वनिनामायं ध्वनेर्द्वितीयो भेदः । यच्च पर्यायोक्ते निरूपितं तत्सर्वमत्राप्यनुसरणीयम् । अथ सर्वेषु सङ्करप्रभेदेषु व्यङ्ग्य-सम्भावनानिरासप्रकारं साधारणमाह—*अपि चेति* । 'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे चे'ति सम्बन्धः, सर्वभेदभिन्न इत्यर्थः । सङ्कीर्णता हि मिश्रत्वं लोलीभावः, तत्र कथमेकस्य प्राधान्यं क्षीरजलवत् ।

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्त्तिता ॥

'अपह्नुति' व्यङ्ग्य रूप से प्रधानतया मालूम पड़ते हैं, इस अभिप्राय से आशङ्का करते हैं—यदि कहिए कि— । उस सम्बन्ध में उत्तर है—तब वह भी— । सङ्करालङ्कार ही यह नहीं है, अपितु अलङ्कार-ध्वनि नाम का यह 'ध्वनि' का दूसरा भेद है । और पर्यायोक्त के प्रसङ्ग में जो निरूपण किया है वह सब यहाँ अनुसरणीय है । अब, 'सङ्कर' के समस्त प्रभेदों में व्यङ्ग्य की सम्भावना के साधारण निरास का प्रकार कहते हैं—'कहीं भी सङ्करालङ्कार में' यह वाक्य का सम्बन्ध है, अर्थात् सब भेदों से भिन्न (सङ्कर के किसी भेद में) । क्योंकि सङ्कीर्णता अर्थात् मिश्रित होना, लोलीभाव (बिलकुल एक में मिलकर एकाकार हो जाना) है । वहाँ क्षीर और जल की भाँति एक ही प्रधानता कैसे होगी ?

'अधिकार (प्रस्तुतत्व) से रहित (अप्रस्तुत) अन्य वस्तु की जो स्तुति (कथन या वर्णन) होती है उसे 'अप्रस्तुत[1] प्रशंसा' कहते हैं, वह तीन प्रकार की कही जाती है ।'

यहाँ प्रसिद्धि के पक्षपाती खलजनों का गुणों में अनुराग नहीं होता इस सामान्य अर्थ का समर्थन 'चन्द्रकान्त चन्द्र के दिखने पर पिघलता है, प्रियामुख के नहीं' इस विशेष अर्थ द्वारा समर्थन अभिहित हुआ है । इससे 'प्रियामुख चन्द्र से भी ज्यादा सुन्दर है' यह 'व्यतिरेक' तथा यह चन्द्र नहीं है प्रियामुख ही चन्द्र है यह 'अपह्नुति' व्यंग्य प्राधान्यतः प्रतीत होता है ।

१. अप्रस्तुत प्रशंसा अर्थात् अप्रस्तुत से प्रस्तुत का आक्षेप । तात्पर्य यह कि अप्रस्तुत अभिधीय-मान होता है और प्रस्तुत प्रतीयमान । किन्तु इतने से 'ध्वनि' का प्रसंग उपस्थित नहीं होता, बल्कि अभिधीयमान से प्रतीयमान में अधिक चारुत्व होना चाहिए, तत्प्रयुक्त प्राधान्य होना चाहिए । अप्रस्तुत प्रशंसा के तीन भेद हैं—सामान्यविशेषभावमूलक, कार्यकारणभावमूलक (निमित्तनिमित्तिभावमूलक) और सादृश्यमूलक । पहले दो भेदों के दो-दो रूप हैं—अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का आक्षेप और अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप तथा अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य का आक्षेप और अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का आक्षेप । ये चार

ध्वन्यालोकः

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धस्तदाभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम् ।

'अप्रस्तुतप्रशंसा' में भी जब सामान्य विशेष भाव से अथवा निमित्त-निमित्तिभाव से अभिधीयमान अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत से सम्बन्ध होता है तब अभिधीयमान और प्रतीयमान का प्राधान्य सम (बराबर) ही होता है ।

लोचनम्

अप्रस्तुतस्य वर्णनं प्रस्तुताक्षेपिण इत्यर्थः । स चाक्षेपस्त्रिविधो भवति—सामान्यविशेषभावात्, निमित्तनिमित्तिभावात्, सारूप्याच्च । तत्र प्रथमे प्रकारद्वये प्रस्तुताप्रस्तुतयोस्तुल्यमेव प्राधान्यमिति प्रतिज्ञां करोति—*अप्रस्तुतेत्यादिना प्राधान्यमित्यन्तेन* । तत्र सामान्यविशेषभावेऽपि द्वयी गतिः—सामान्यमप्राकरणिकं शब्देनोच्यते, गम्यते तु प्राकरणिको विशेषः स एकः प्रकारः । यथा—

अहो संसारनैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमापदाम् ।
अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधेः ।।

अत्र हि दैवप्राधान्यं सर्वत्र सामान्यरूपमप्रस्तुतं वर्णितं सत्प्रकृते वस्तुनि क्वापि विनष्टे विशेषात्मनि पर्यवस्यति । तत्रापि विशेषांशस्य सामान्येन व्याप्र-

अर्थात् प्रस्तुत का आक्षेप करने वाले अप्रस्तुत का वर्णन । वह 'आक्षेप' तीन प्रकार का होता है—सामान्यविशेषभाव से, निमित्तनिमित्तिभाव से और सारूप्य से । उनमें प्रथम दो प्रकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का प्राधान्य तुल्य (बराबर) ही है, यह प्रतिज्ञा करते हैं—अप्रस्तुत से लेकर प्राधान्य—इस अन्त तक । उनमें, सामान्यविशेषभाव में भी दो अवस्थाएं हैं—जहाँ सामान्य अप्राकरणिक है और शब्द से कहा जाता है, तथा विशेष प्राकरणिक है और व्यञ्जित होता है, वह एक प्रकार है । जैसे—

'उफ, संसार की यह कितनी कठोरता है, उफ, आपत्तियों की यह कितनी क्रूरता है, उफ स्वभावतः कुटिल दैव की गतियों का पार पाना कितना कठिन है !'

यहाँ दैव (विधाता) का प्राधान्य सामान्यरूप अप्रस्तुत कहा जाता हुआ किसी प्रकृत विनष्ट वस्तु के विशेष रूप में पर्यवसन्न होता है । वहाँ भी विशेष अंश के सामान्य से व्याप्त होने के कारण व्यङ्ग्य विशेष की भाँति वाच्य सामान्य का भी

भेद तथा एक सादृश्यमूलक भेद मिलकर अप्रस्तुतप्रशंसा पाँच प्रकार की होती है । सादृश्यमूलक के भी तीन प्रभेद किए गए हैं—श्लेषनिमित्तक, समासोक्तिनिमित्तक एवं सादृश्यमात्रनिमित्तक । इनमें सादृश्यमूलक भेद को छोड़कर अन्य चार भेदों में अप्रस्तुत (वाच्य) और प्रस्तुत (प्रतीयमान) दोनों सम-प्राधान्य होते हैं । इसलिए उनमें ध्वनि का अवसर ही नहीं । किन्तु सादृश्यमूलक भेद में जब अभिधीयमान अप्रस्तुत का अप्राधान्य और प्रतीयमान प्रस्तुत का प्राधान्य विवक्षित होगा तब अलङ्कारध्वनि का प्रसंग होगा और यदि विवक्षित नहीं होगा तब केवल अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होगा ।

ध्वन्यालोकः

यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात्सामान्यस्यापि प्राधान्यम्। यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम्।

और जब सामान्य अप्रस्तुत अभिधीयमान का प्राकरणिक विशेष प्रतीयमान के साथ सम्बन्ध होगा तब प्राधान्यतः विशेष की प्रतीति होने पर भी उसका सामान्य से अविनाभाव (व्याप्ति) होने के कारण सामान्य का भी प्राधान्य होगा। जब कि विशेष सामान्यनिष्ठ होगा तब भी सामान्य के प्राधान्य होने पर समस्त विशेषों का (सामान्य में) अन्तर्भाव होने के कारण विशेष का भी प्राधान्य होगा।

लोचनम्

त्वाद्व्यङ्ग्यविशेषवद्वाच्यसामान्यस्यापि प्राधान्यम्, न हि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्यं विरुध्यते। यदा तु विशेषोऽप्राकरणिकः प्राकरणिकं सामान्यमाक्षिपति तदा द्वितीयः प्रकारः। यथा—

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं पाथसो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनै-
स्तत्रोड्डीय गतो हहेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा॥

अत्रास्थाने महत्त्वसम्भावनं सामान्यं प्रस्तुतम्, अप्रस्तुतं तु जलबिन्दौ मणित्वसम्भावनं विशेषरूपं वाच्यम्। तत्रापि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्ये न विरोध इत्युक्तम्। एवमेकः प्रकारो द्विभेदोऽपि विचारितः, *यदा तावदित्या-*

प्राधान्य है। न कि सामान्य और विशेष में एक काल में प्राधान्य विरुद्ध है। जब कि विशेष अप्राकरणिक प्राकरणिक सामान्य का आक्षेप करता है तब दूसरा प्रकार है। जैसे—

(किसी मूर्ख के वृत्तान्त को कहीं से सुनकर बिस्मय से कहते हुए किसी के प्रति किसी का वचन—)

'उसके मुख से यही कितना सुना! जो कि उस मूर्ख ने कमलिनी के पत्ते पर स्थित जलकण को मोती समझ लिया। इससे भी ज्यादा और सुनो। जब वह जलकण को मोती समझकर उठाने लगा तब उंगली के स्पर्श होते ही शनैः उस जलकण के विलीन हो जाने पर 'हाय! हाय! उड़कर चला गया!' इस अन्तःशोक से वह कई दिनों से नहीं सोता है।'

यहाँ अस्थान (बेजगह) में महत्त्व का सम्भावन रूप सामान्य प्रस्तुत है और अप्रस्तुत जलबिन्दु में मणित्व का सम्भावन विशेष रूप वाच्य (या अभिधीयमान) है।

ध्वन्यालोकः

निमित्तनिमित्तिभावे चायमेव न्यायः ।

निमित्तनिमित्तिभाव में भी यही नियम लागू होगा ।

लोचनम्

दिना विशेषस्यापि प्राधान्यमित्यन्तेन । एतमेव न्यायं निमित्तनैमित्तिकभावेऽतिदिशंस्तस्यापि द्विप्रकारतां दर्शयति—*निमित्तेति* । कदाचिन्निमित्तमप्रस्तुतं सदभिधीयमानं नैमित्तिकं प्रस्तुतमाक्षिपति । यथा—

ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिं नोज्झन्ति व्यसनेषु च ।
ते बान्धवास्ते सुहृदो लोकः स्वार्थपरोऽपरः ॥

अत्राप्रस्तुतं सुहृद्बान्धवरूपत्वं निमित्तं सज्जनासक्त्या वर्णयति नैमित्तिकीं श्रद्धेयवचनतां प्रस्तुतामात्मनोऽभिव्यङ्क्तुम्; तत्र नैमित्तिकप्रतीतावपि निमित्त-

वहाँ भी, सामान्य और विशेष के युगपत् प्राधान्य[1] में विरोध नहीं है, यह कहा जा चुका है । इस प्रकार दो भेदों वाला भी पहला प्रकार विचार कर लिया गया, जब इत्यादि से लेकर विशेष भी प्राधान्य—तक । इसी नियम को निमित्तनैमित्तिकभाव में भी अतिदेश (लागू) करते हुए उसका द्विविधत्व दिखाते हैं—निमित्त''' । कभी निमित्त (कारण) अप्रस्तुत अभिधीयमान होकर नैमित्तिक कार्य (अप्रस्तुत) का आक्षेप करता है । जैसे—

'जो अभ्युदय होने पर प्रसन्न होते हैं और दुःख पड़ने पर त्याग नहीं करते वे बान्धव हैं, वे सुहृद हैं, दूसरे लोग स्वार्थपरायण हैं ।'

यहाँ अप्रस्तुत सुहृद्—बान्धव रूप निमित्त को प्रस्तुत नैमित्तिक श्रद्धेयवचनता के व्यञ्जनार्थ सज्जन के प्रति गौरव के कारण वर्णन करते हैं । वहाँ नैमित्तिक की

१. जैसा कि वृत्तिग्रन्थ का निर्देश है, अप्रस्तुतप्रशंसा के सादृश्यमूलक भेद के अतिरिक्त चार भेदों में ध्वनि का अवसर क्यों नहीं है उसे यहाँ स्पष्टरूप से अवगत कर लेना चाहिए । अप्रस्तुत से प्रस्तुत का आक्षेप ही 'अप्रस्तुतप्रशंसा' है । जब कोई अप्रस्तुत और प्रस्तुत अर्थात् अभिधीयमान और प्रतीयमान में सामान्यविशेषभावरूप या निमित्तनिमित्तिभावरूप सम्बन्ध होगा तब दोनों बराबर प्रधान होंगे । क्योंकि सम्बन्ध की स्थिति में दोनों का बराबर होना अनिवार्य है । और जब प्रधानता समानरूप से दोनों में रहेगी तो किसी प्रकार 'ध्वनि' का प्रसंग हो नहीं सकता, क्योंकि वाच्य के गुणीभाव और व्यंग्य के प्राधान्य की विवक्षा में ही 'ध्वनि' का प्रसंग होता है । सामान्य और विशेष के युगपत् प्राधान्य में विरोध नहीं है, अर्थात् एक स्थान में, एक समय में दोनों प्रधान हो सकते हैं । सम्बन्ध की बात को लेकर यह कह सकते हैं कि जब सामान्यरूप अप्रस्तुत अभिधीयमान होगा और विशेषरूप प्रस्तुत प्रतीयमान होगा तब, क्योंकि सामान्य के अन्तर्गत सभी विशेष आ जाते हैं (निर्विशेषं न सामान्यम् = विना विशेष के सामान्य नहीं होता), इस प्रकार 'अविनाभाव' होने के कारण जब सामान्यरूप अप्रस्तुत अभिधीयमान का भी प्राधान्य होगा । इसी प्रकार जब विशेषरूप अप्रस्तुत अभिधीयमान से सामान्यरूप प्रस्तुत का आक्षेप होगा तब जिस प्रकार सामान्य का प्राधान्य होगा उसी प्रकार विशेष का भी होगा, क्योंकि सामान्य में

लोचनम्

प्रतीतिरेव प्रधानीभवत्यनुप्राणकत्वेनेति व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्यम्। कदाचित्तु नैमित्तिकमप्रस्तुतं वर्ण्यमानं सत्प्रस्तुतं निमित्तं व्यनक्ति। यथा सेतौ—

सग्गं अपारिजाअं कोत्थुहलच्छिरहिअं महुमहस्स उरम्।
सुमरामि महणपुरओ अमुद्धअन्दं च हरजडापब्भारम्॥

अत्र जाम्बवान् कौस्तुभलक्ष्मीविरहितहरिवक्षःस्मरणादिकमप्रस्तुतनैमित्तिकं वर्णयति प्रस्तुतं वृद्धसेवाचिरजीवित्वव्यवहारकौशलादिनिमित्तभूतं मन्त्रितायामुपादेयमभिव्यङ्क्तुम्। तत्र निमित्तप्रतीतावपि नैमित्तिकं वाच्यभूतं प्रत्युत तन्निमित्तानुप्राणितत्वेनोद्धुरकन्धरीकरोत्यात्मानमिति समप्रधानतैव वाच्यव्यङ्ग्ययोः। एवं द्वौ प्रकारौ प्रत्येकं द्विविधौ विचार्य तृतीयः प्रकारः परीक्ष्यते सारूप्यलक्षणः। तत्रापि द्वौ प्रकारौ—अप्रस्तुतात्कदाचिद्वाच्याच्चमत्कारः, व्यङ्ग्यं तु तन्मुखप्रेक्षम्। यथास्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य—

प्रतीति में भी निमित्त की प्रतीति ही अनुप्राणक होने के कारण प्रधान हो जाती है, अतः व्यङ्ग्य और व्यञ्जक, दोनों का प्राधान्य[1] है। कभी तो नैमित्तिक अप्रस्तुत अभिधीयमान होता हुआ प्रस्तुत निमित्त को व्यक्त करता है। जैसे 'सेतुबन्ध' में—

'समुद्रमथन से पहले पारिजात वृक्ष से रहित स्वर्ग को, कौस्तुभ और लक्ष्मी से रहित मधुसूदन (विष्णु) के वक्ष को तथा सुन्दर चन्द्र से रहित शिवजी के जटाभार को स्मरण करता हूँ।'

यहाँ जाम्बवान् वृद्धसेवा, चिरजीवितत्व एवं व्यवहारकौशल आदि निमित्तभूत प्रस्तुत को मन्त्रित्व में उपादेय के रूप में व्यक्त करने के लिए कौस्तुभ और लक्ष्मी (अथवा कौस्तुभमणि की शोभा) से रहित विष्णु के वक्ष के स्मरण आदि अप्रस्तुत नैमित्तिक का वर्णन करते हैं। वहाँ नैमित्तिक की प्रतीति में भी वाच्यभूत नैमित्तिक (?) प्रत्युत उस निमित्त से अनुप्राणित होने के कारण अपने कन्धे को ऊपर उठाता है (अर्थात् प्रधान होता है)। अतः वाच्य और व्यङ्ग्य की समप्रधानता ही है। इस प्रकार दोनों प्रकारों को, प्रत्येक के दो-दो प्रभेदों के साथ विचार करके 'सारूप्य' नामक तीसरे प्रकार की परीक्षा करते हैं। वहाँ भी दो प्रकार हैं—कभी अप्रस्तुत वाच्य से चमत्कार होता है, व्यङ्ग्य तो वाच्य का मुँह ताकता है (अर्थात् अप्रधान होता है)। जैसे हमारे उपाध्याय भट्टेन्दुराज का—

सभी विशेषों का अन्तर्भाव हो जाता है। यही नियम अप्रस्तुत से प्रस्तुत के निमित्तनिमित्तिभाव अर्थात् कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध के होने पर लागू होगा।

१. प्रस्तुत उदाहरण में निमित्त या कारणरूप अप्रस्तुत सुहृद्-बान्धव का वर्णन है तथा उससे प्रस्तुत नैमित्तिक या कार्य 'सुहृद्-बान्धव का श्रद्धेय-वचनत्व' आक्षिप्त होता है अर्थात् व्यञ्जन से प्रतीत होता है। परन्तु व्यञ्जना प्रतीत होनेमात्र से ध्वनि का प्रसंग नहीं होता, बल्कि उसके प्राधान्य के साथ अभिधीयमान का गुणीभाव भी होना चाहिए। किन्तु यहाँ अभिधीयमान अप्रस्तुत निमित्त प्रतीयमान प्रस्तुत नैमित्तिक के अनुप्राणक होने के कारण गुणीभूत न होकर प्रधान हो जाता है। इस प्रकार यहाँ व्यंग्य और व्यञ्जक दोनों का प्राधान्य है। इसी प्रकार आगे के

लोचनम्

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद्येन त्वमुत्थापितः
स्कन्धे यस्य चिरं स्थितोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि।
तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन् प्राणापहारक्रियां
भ्रातः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताल लीलायसे॥

अत्र यद्यपि सारूप्यवशेन कृतघ्नः कश्चिदन्यः प्रस्तुत आक्षिप्यते, तथाप्यप्रस्तुतस्यैव वेतालवृत्तान्तस्य चमत्कारकारित्वम्। न ह्यचेतनोपालम्भवदसम्भाव्यमानोऽयमर्थो न च न हृद्य इति वाच्यस्यात्र प्रधानता। यदि पुनरचेतनादिनात्यन्तासम्भाव्यमानतदर्थविशेषणेनाप्रस्तुतेन वर्णितेन प्रस्तुतमाक्षिप्यमाणं चमत्कारकारि तदा वस्तुध्वनिरसौ। यथा ममैव—

भावव्रात हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे।
स त्वामाह जडं ततः सहृदयम्मन्यत्वदुःशिक्षितो
मन्येऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात्॥ (TA)

'भाई बेताल! जिसने तुम्हें बाणों को अर्पित किया, बलपूर्वक जिसने तुम्हें उठाया, जिसके कन्धे पर देर तक तुम बैठे रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, उस प्रकार के इसका स्थितमात्र में प्राणापहार करते हुए तुम प्रत्यपकार करने वालों के आगे पहुँच जाते हो।'

यहाँ यद्यपि सारूप्यवश कोई दूसरा कृतघ्न आक्षिप्त होता है, तथापि अप्रस्तुत वेताल-वृत्तान्त की ही चमत्कार-कारिता है। न कि अचेतन के उपालम्भ की भाँति यह अर्थ असम्भाव्यमान होने से हृद्य नहीं है, इस लिए वाच्य की प्रधानता है। फिर यदि अत्यन्त असम्भाव्यमान उस (अप्रस्तुत अर्थ) के विशेषण वाले वर्णित अचेतन आदि से प्रस्तुत आक्षिप्यमाण हो करके चमत्कारकारी हो तब वह वस्तुध्वनि होता है।[1] जैसे, मेरा ही—

'हे पदार्थसमूह, लोगों के हृदयों को हठपूर्वक आक्रान्त करके उन्हें विविध चेष्टाओं से नचाते हुए अपने रहस्य को ढंककर जो कि तुम खेला करते हो तब भी अपने आपको सहृदय मानने के कारण दुर्ललित जन तुम्हें 'जड़' कहता है, वस्तुत; वह जड़ है, पर मैं मानता हूँ कि उसे जड़ कहना भी उसकी स्तुति है क्योंकि इस अंश में तुमसे उसकी समानता की सम्भावना होती है।'

उदाहरण में अभिधीयमान अप्रस्तुत नैमित्तिक से प्रस्तुत निमित्त की प्रतीति में निमित्त के द्वारा अनुप्राणित होने के कारण वाच्यभूत नैमित्तिक की प्रधानता भी होने के कारण वाच्य और व्यंग्य का समप्राधान्य समझना चाहिए।

१. सारूप्य का सादृश्य के वश अप्रस्तुत से प्रस्तुत के आक्षेप में यदि अधिक चमत्कारकारी प्रस्तुत होता है तब वहाँ वस्तुध्वनि का प्रसंग होता है। वह अप्रस्तुतप्रशंसा का स्थल नहीं है। यह बात भी मान्य है कि जो बात अत्यन्त असम्भव होती है उसके कथन में स्वभावतः चमत्कार

लोचनम्

कश्चिन्महापुरुषो वीतरागोऽपि सरागवदिति न्यायेन गाढविवेकालोकतिरस्कृततिमिरप्रतानोऽपि लोकमध्ये स्वात्मानं प्रच्छादयल्ँलोकं च वाचालयन्नात्मन्यप्रतिभासमेवाङ्गीकुर्वंस्तेनैव लोकेन मूर्खोऽयमिति यदवज्ञायते तदा तदीयं लोकोत्तरं चरितं प्रस्तुतं व्यङ्ग्यतया प्राधान्येन प्रकाश्यते। जडोऽयमिति ह्युद्यानेन्दूदयादिर्भावो लोकेनावज्ञायते, स च प्रत्युत कस्यचिद्विरहिण औत्सुक्यचिन्तादूयमानमानसतामन्यस्य प्रहर्षपरवशतां करोतीति हठादेव लोकं यथेच्छं विकारकारणाभिर्नर्तयति। न च तस्य हृदयं केनापि ज्ञायते कीदृगयमिति, प्रत्युत महागम्भीरोऽतिविदग्धः सुष्ठु गर्वहीनोऽतिशयेन क्रीडाचतुरः स यदि लोकेन जड इति तत एव कारणात्प्रत्युत वैदग्ध्यसम्भावननिमित्तात्सम्भावितः, आत्मा च यत एव कारणात्प्रत्युत जाड्येन सम्भाव्यस्तत एव सहृदयः सम्भावितस्तदस्य लोकस्य जडोऽसीति यद्युच्यते तदा जाड्यमेवंविधस्य भावव्रातस्याविदग्धस्य प्रसिद्धमिति सा प्रत्युत स्तुतिरिति। जडादपि

'वीतराग भी सराग-जैसा' इस नियम के अनुसार कोई महापुरुष अपने अतिशय विवेक के आलोक से फैले अन्धकार को तिरस्कृत करके भी लोगों के बीच अपने को छिपाता हुआ, लोगों को मुखर करता हुआ, अपने में अज्ञान को स्वीकार करता हुआ, उन्हीं लोगों द्वारा 'यह मूर्ख है' कहकर जो तिरस्कृत होता है, ऐसी स्थिति में उसका प्रस्तुत लोकोत्तर चरित व्यङ्ग्य के रूप में प्राधान्यतः प्रकाशित होता है। क्योंकि उद्यान, चन्द्रोदय आदि भाव (पदार्थ) लोगों द्वारा 'यह जड़ है' कह कर तिरस्कृत होता है। बल्कि वह किसी विरही के मन को औत्सुक्य, चिन्ता से दुःखी करता है, दूसरे को खुश करता है, इस प्रकार स्वेच्छा से लोगों को विकार के प्रवर्तनों द्वारा नचाता रहता है। 'यह कैसा है' इस प्रकार कोई भी उसके भेद को नहीं समझता है, प्रत्युत महागम्भीर, अतिविदग्ध, शोभन, गर्वहीन, अतिशय क्रीड़ा में चतुर वह (भावव्रात = पदार्थ समूह) लोगों द्वारा 'जड़' रूप में उस कारण उसी वैदग्ध्य के सम्भावन रूप निमित्त से ही सम्भावित किया जाता है। जिस कारण से आत्मा को जड़ रूप से सम्भावन किया जाय उसी कारण यदि लोग 'सहृदय' सम्भावित हैं तो उन लोगों की, यदि 'तुम जड़ हो' तो इस प्रकार के अविदग्ध भावव्रात का जाड्य प्रसिद्ध है, इस प्रकार स्तुति[1] ही है। ध्वनित होता है कि यह लोक (संसार के लोग) जड़ से

नहीं होता। इस प्रकार जहाँ अत्यन्त असम्भाव्यमान के विशेषणों से युक्त अप्रस्तुत अर्थ द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप करते हैं वहाँ वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य अधिक चमत्कारकारी होगा ही।

१. 'भावव्रात' यह उदाहरण कुछ क्लिष्ट हो गया है। यह वस्तुध्वनि का उदाहरण है। यहाँ अभिधीयमान प्रस्तुत से अप्रस्तुत का आक्षेप है। जैसा कि अभिधीयमान प्रस्तुत है कि भावव्रात या चन्द्र, उद्यान आदि पदार्थसमूह को लोग 'जड़' कहा करते हैं और स्वयं को 'सहृदय' कहते हैं। उन्हें यह जब विदित नहीं कि ये पदार्थ संसार को अनेक प्रकार से बचाया करते हैं और इस प्रकार अत्यन्त वैदग्ध्यपूर्ण हैं, ऐसी स्थिति में उन्हें 'जड़' कहना अपने को 'जड़' कहना हुआ। दूसरे अजड़ को 'जड़' कहना अजड़रूप जड़ की निन्दा नहीं, बल्कि स्तुति है। यह उक्त श्लोक का

ध्वन्यालोकः

यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः। इतरथा त्वलङ्कारान्तरमेव। तदयमत्र सङ्क्षेपः—

जब कि केवल सारूप्यवश अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रकृत और प्रकृत का सम्बन्ध है तब अभिधीयमान अप्रस्तुत सरूप का प्राधान्यतः विवक्षा न करने पर ध्वनि में ही अन्तर्भाव है। इतरथा (ऐसा न होने पर) एक प्रकार का अलङ्कार ही है। तो यह यहाँ संक्षेप है—

लोचनम्

पापीयानयं लोक इति ध्वन्यते। तदाह—*यदा त्विति*। *इतरथा त्विति*। इतरथैव पुनरलंकारान्तरत्वमलङ्कारविशेषत्वं न व्यङ्ग्यस्य कथंचिदपि प्राधान्य इति भावः। उद्देशे यदादिग्रहणं कृतं समासोक्तीत्यत्र द्वन्द्वे तेन व्याजस्तुतिप्रभृतिरलङ्कारवर्गोऽपि सम्भाव्यमानव्यङ्ग्यानुवेशः सम्भावितः। तत्र सर्वत्र साधारणमुत्तरं दातुमुपक्रमते—*तदयमत्रेति*। कियद्वा प्रतिपदं लिख्यतामिति भावः। तत्र व्याजस्तुतिर्यथा—

> किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ-
> स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः।
> गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
> मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः॥

अधिक पापी है। तो कहते हैं—जबकि—। इतरथा—। भाव यह कि अन्यथा ही, किसी प्रकार व्यङ्ग्य का प्राधान्य न होने पर अलङ्कारान्तरत्व अर्थात् अलङ्कार-विशेषत्व होगा। नाम-निर्देश में जो 'आदि' ग्रहण किया है, समासोक्ति० के द्वन्द्व समास में उस कारण व्याजस्तुति प्रभृति अलङ्कार-वर्ग में भी सम्भाव्यमान व्यङ्ग्य का अनुवेश है। वहाँ, सबका साधारण उत्तर देने का उपक्रम करते हैं—तो यह यहाँ—। भाव यह कि अथवा कितना पद-पद पर लिखें ! वहाँ, व्याजस्तुति, जैसे—

'दूसरे आदमी के घर की बातों की चर्चा से क्या फायदा, फिर भी मैं चुपचाप बैठने में असमर्थ हूँ, क्योंकि बड़बड़ाना दाक्षिणात्यों का स्वभाव है। हन्त ! हे राजन् आपकी प्रिया कीर्ति घर-घर में, बाजारों में तथा मुहल्लों में, पानगोष्ठी में, पागल—जैसी घूमती रहती है !'

अप्रस्तुत अभिधीयमान हैं। इससे किसी महापुरुष का लोकोत्तर चरित प्रस्तुतरूप में प्रतीत हो रहा है। जैसे कोई वीतराग महापुरुष अपने विवेक के प्रकाश से अज्ञान के तिमिर को नष्ट कर देता है, फिर भी अपनी महानता को छिपाए रहता है। देखकर उसे लोग 'मूर्ख' कहा करते हैं और उसकी अवज्ञा करते हैं। यहाँ यह प्रस्तुत व्यंग्य अर्थ अप्रस्तुत वाच्य से निश्चय ही चमत्कारकारी है। क्योंकि अप्रस्तुत वाच्य अचेतन 'भावव्रात' को लेकर कहे जाने के कारण

लोचनम्

अत्र व्यङ्ग्यं स्तुत्यात्मकं यत्तेन वाच्यमेवोपस्क्रियते। यत्तूदाहृतं केनचित्—

आसीन्नाथ पितामही तव मही जाता ततोऽनन्तरं
माता सम्प्रति साम्बुराशिरशना जाया कुलोद्भूतये।
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समग्रनीतिविदुषां किं भूपतीनां कुले॥

इति, तदस्माकं ग्राम्यं प्रतिभात्यत्यन्तासभ्यस्मृतिहेतुत्वात्। का चानेन स्तुतिः कृता? त्वं वंशक्रमेण राजेति हि कियदिदम्? इत्येवंप्राया व्याजस्तुतिः सहृदयगोष्ठीषु निन्दितेत्युपेक्ष्यैव।

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबन्धस्तु हेतुना येन।
गमयति तमभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ॥ इति।

अत्रापि वाच्यप्राधान्ये भावालङ्कारता। यस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धी वाग्व्यापारादिर्विकारोऽप्रतिबन्धो नियतः प्रभवंस्तं चित्तवृत्तिविशेषरूपमभिप्रायं येन हेतुना गमयति स हेतुर्यथेष्टोपभोग्यत्वादिलक्षणोऽर्थो भावालङ्कारः। यथा—

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।

यहाँ जो स्तुति रूप व्यङ्ग्य है उससे वाच्य ही उपस्कृत होता है। जो कि किसी ने उदाहरण दिया है—

'हे राजन, पहले पृथ्वी तुम्हारी पितामही हुई, इसके बाद तुम्हारी माता हुई, इस समय समुद्र की रशना वाली यह कुलोत्पत्ति के लिए तुम्हारी पत्नी है और जब सौ वर्ष पूरे हो जायेंगे तब यह तुम्हारी अनिन्द्य पुत्रवधू (पतोहू) हो जायगी। क्या समग्र नीतियों के जानकार कुल में यह ठीक कहा जा सकता है?'

यह (उदाहरण) हमें ग्राम्य लगता है, क्योंकि यह अत्यन्त असभ्य स्मृति को उत्पन्न करता है। और भी, इससे स्तुति ही क्या की? 'तुम खान्दानी राजा हो' यह कितनी स्तुति है! इस प्रकार की व्याजस्तुति सहृदय जनों की गोष्ठियों में निन्दित होने के कारण उपेक्षणीय ही है।

'जिसका विकार अप्रतिबन्ध (नियत) होता हुआ जिस हेतु से उस अभिप्राय को तथा उसके प्रतिबन्ध को व्यञ्जित करता है वह 'भाव' है।'

यहाँ भी वाच्य का प्राधान्य होने पर भावालङ्कारता है। जिस चित्तवृत्ति विशेष का सम्बन्धी वाग्व्यापार आदि विकार अप्रतिबन्ध अर्थात् नियत होता हुआ उस चित्तवृत्ति विशेष रूप अभिप्राय को जिस हेतु से व्यञ्जित करता है वह हेतु अर्थात् यथेष्ट उपभोग्यत्वादि रूप अर्थ (मैं तुम्हारे यथेष्ट उपभोग के योग्य हूँ, कोई प्रतिबन्धक नहीं है, इस प्रकार का नायिका के मनोगत आदि अर्थ) 'भावालङ्कार' है। जैसे—

'इस घर में जो कि मैं अकेली अबला तथा तरुणी हूँ, घर के मालिक परदेस गये हैं।

गुणीभूत हो जाता है। इस प्रकार वाच्य के गुणीभाव और व्यंग्य के प्राधान्यतः प्रतीत होने के कारण यहाँ वस्तुध्वनि है, न कि अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते॥

वाच्य मात्र का अनुगमन करने वाले व्यङ्ग्य का जहाँ अप्राधान्य है, वहाँ समासोक्ति आदि अलङ्कार स्पष्ट हैं। व्यङ्ग्य की सिर्फ प्रतिभा (आभास) हो अथवा वह वाच्य अर्थ का अनुगम करे अथवा जहाँ व्यङ्ग्य का प्राधान्य प्रतीत नहीं होता

लोचनम्

कं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥

अत्र व्यङ्ग्यमेकैकत्र पदार्थे उपस्कारकारीति वाच्यं प्रधानम्। व्यङ्ग्यप्राधान्ये तु न काचिदलङ्कारतेति निरूपितमित्यलं बहुना॥

यत्रेति काव्ये। *अलङ्कृतय* इति। अलङ्कृतित्वादेव च वाच्योपस्कारकत्वम्। *प्रतिभामात्र* इति। यत्रोपमादौ म्लिष्टार्थप्रतीतिः। *वाच्यार्थानुगम* इति। वाच्येनार्थेनानुगमः समं प्राधान्यमप्रस्तुतप्रशंसायामिवेत्यर्थः। *न प्रतीयत* इति। स्फुटतया प्राधान्यं न चकास्ति, अपि तु बलात्कल्प्यते, तथापि हृदये नानुप्रविशति। यथा—'देआ पसिअणिआतासु' इत्यत्रान्यकृतासु व्याख्यासु। तेन चतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनिव्यवहारः सद्भावेऽपि व्यङ्ग्यस्य अप्राधान्ये म्लिष्ट-

हे मूढ़ पथिक! किससे रहने के लिए स्थान मांगते हो, यह मेरी सास अन्धी भी है और बहरी भी।'

यहाँ व्यङ्ग्य एक-एक पदार्थ में उपस्कारकारी है, अतः वाच्य प्रधान है, व्यङ्ग्य के प्रधान होने पर भी कोई अलङ्कारता नहीं, यह निरूपण कर चुके हैं, बहुत कहना व्यर्थ है!

जहाँ—। काव्य में। अलङ्कार—। अलङ्कार होने से ही वाच्य का उपस्कारकत्व है। प्रतिभामात्र—। जहाँ उपमा आदि में मलिन (अस्पष्ट) अर्थ की प्रतीति है। वाच्य अर्थ का अनुगम—। अर्थात् वाच्य अर्थ के साथ अनुगम; बराबर प्राधान्य, अप्रस्तुतप्रशंसा की भाँति। प्रतीत नहीं होता है—। स्फुट रूप से प्राधान्य भासित नहीं होता है, अपितु बलात् कल्पित किया जाता है, तथापि हृदय में अनुप्रविष्ट नहीं होता। जैसे 'प्रार्थये तावत् प्रसीद०' इस गाथा में दूसरों द्वारा की गई व्याख्याओं में। अतः चार प्रकारों में व्यङ्ग्य के रहते हुए भी 'ध्वनि' का व्यवहार नहीं होता है, (१) व्यङ्ग्य के अप्राधान्य में, (२) व्यङ्ग्य की मलिन या अस्पष्ट प्रतीति होने पर, (३) वाच्य के साथ बराबर प्राधान्य होने पर और (४) अस्फुट प्राधान्य के

ध्वन्यालोकः

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः ॥

तस्मान्न ध्वनेरन्यत्रान्तर्भावः। इतश्च नान्तर्भावः; यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः। तस्य पुनरङ्गानि–अलंकारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते। न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति

है, (वहाँ) ध्वनि नहीं है। जहाँ शब्द और अर्थ व्यङ्ग्य के प्रति तत्पर होकर ही स्थित हों उसी को संकर रहित ध्वनि का विषय मानना चाहिये।

इसलिये ध्वनि का अन्यत्र अन्तर्भाव नहीं है। और इस कारण भी अन्तर्भाव नहीं है, क्योंकि ध्वनि को काव्य विशेष रूप अङ्गी कहा है। उसके अङ्ग—अलङ्कार, गुण और वृत्तियाँ-प्रतिपादन किये जायेंगे। न कि अवयव ही पृथग्भूत होकर अवयवी के रूप में प्रसिद्ध है। पृथग्भाव न होने पर भी उस (अलङ्कारादि) का उस (ध्वनि) का

लोचनम्

प्रतीतौ वाच्येन समप्राधान्येऽस्फुटे प्राधान्ये च। क तर्ह्यसावित्याह—*तत्परावेवेति*। सङ्करेणालङ्कारानुप्रवेशसम्भावनया उज्झित इत्यर्थः। सङ्करालङ्कारेणेति त्वसत्, अन्यालङ्कारोपलक्षणत्वे ङि क्लिष्टं स्यात्। *इतश्चेति*। न केवलमन्योन्यविरुद्धवाच्यवाचकभावव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसमाश्रयत्वान्न तादात्म्यमलङ्काराणां ध्वनेश्च यावत्स्वामिभृत्यवदङ्गिरूपाङ्गरूपयोर्विरोधादित्यर्थः। *अवयव* इति। एकैक इत्यर्थः। तदाह-*पृथग्भूत* इति। अथ पृथग्भूतस्तथा मा भूत्, समुदाय-

होने पर। तब वह कहाँ होता है? इस प्रश्न पर कहते हैं—तत्पर होकर ही—। सङ्कर से अर्थात् (समासोक्ति आदि) अलङ्कार के अनुप्रवेश की सम्भावना से रहित। 'सङ्करालङ्कार' से यह व्याख्यान असत् है, क्योंकि दूसरे अलङ्कारों को उपलक्षण मानने पर व्याख्यान क्लिष्ट हो जायगा। और इस कारण भी—। अर्थात् न केवल अलङ्कारों का और ध्वनि का परस्पर विरुद्ध वाच्यवाचकभाव और व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के कारण तादात्म्य[1] (एकरूपता) नहीं, बल्कि स्वामी और भृत्य की भाँति अङ्गीरूप और अङ्गरूप के विरोध के कारण भी (तादात्म्य) नहीं है। अवयव—। अर्थात् एक-एक। इस लिए कहते हैं—पृथग्भूत'—। अगर उस प्रकार पृथग्भूत मत हो, समुदाय के

१. 'ध्वनि' सर्वथा अलङ्कारों से अतिरिक्त है। दोनों का तादात्म्य या एकरूपता किसी प्रकार सम्भव नहीं। इसीलिए वृत्तिग्रन्थ के परिकर श्लोक में ध्वनि के विषय को 'सङ्करोज्झित' कहा है। अर्थात् समासोक्ति आदि उक्त अलङ्कारों में ध्वनि के सङ्कर अर्थात् अनुप्रवेश की सम्भावना नहीं है। अलङ्कार वाच्यवाचकभाव पर आश्रित होते हैं और ध्वनि व्यंग्य-व्यञ्जकभाव पर आश्रित है, केवल यही कारण नहीं कि दोनों का तादात्म्य सम्भव नहीं, बल्कि स्वामी और भृत्य की तरह अङ्गिरूप और अङ्गरूप होने के कारण भी विरोध है अतः उन दोनों में तादात्म्य नहीं है। ध्वनि काव्यविशेष होने के कारण अङ्गी है और अलङ्कार, गुण तथा वृत्तियाँ उसके अङ्ग हैं।

२. यहाँ अलङ्कार आदि को ध्वनि के अङ्ग या अवयव कहने पर यह शङ्का उठ खड़ी हुई कि

ध्वन्यालोकः

प्रसिद्धः। अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य। न तु तत्त्वमेव। यत्रापि वा तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव। 'सूरिभिः कथित'

अङ्ग होना है, न कि अङ्गी ही होना। जहाँ कहीं भी अङ्गी होना है वहाँ भी ध्वनि के महाविषय होने के कारण उन (अलङ्कार आदि) में अन्तर्भाव नहीं है। 'सूरियों ने

लोचनम्

मध्यनिपतितस्तर्ह्यस्तु तथेत्याशङ्क्याह—*अपृथग्भावे त्विति*। तदापि न स एक एव समुदायः, अन्येषामपि समुदायिनां तत्र भावात्; तत्समुदायिमध्ये च प्रतीयमानमप्यस्ति, न च तदलङ्काररूपं, प्रधानत्वादेव। तत्त्वलङ्काररूपं तदप्रधानत्वान्न ध्वनिः। तदाह—*न तु तत्त्वमेवेति*। नन्वलङ्कार एव कश्चित्त्वया प्रधानताभिषेकं दत्त्वा ध्वनिरित्यात्मेति चोक्त इत्याशङ्क्याह—*यत्रापि वेति*। न हि समासोक्त्यादीनामन्यतम एवासौ तथास्माभिः कृतः, तद्विविक्तत्वेऽपि तस्य भावात्, समासोक्त्याद्यलङ्कारस्वरूपस्य समस्तस्याभावेऽपि तस्य दर्शितत्वात् 'अत्ता एत्थ' इति 'कस्स वा ण' इत्यादि; तदाह—*न तन्निष्ठत्वमेवेति*।

बीच रहे, यह आशङ्का करके कहते हैं—**पृथग्भाव न होने पर—**। तब भी वह एक ही समुदाय नहीं है, अन्य समुदायियों का भी वहाँ अस्तित्व है। और समुदायियों के बीच में प्रतीयमान भी है, न कि वह अलङ्कार रूप है, क्योंकि वह प्रधान है। जो कि अलङ्कार रूप है वह अप्रधान होने के कारण ध्वनि नहीं है। इस लिए कहा—**न कि अङ्गी ही होना—**। किसी अलङ्कार ही को तुमने प्रधानता का अभिषेक देकर 'ध्वनि' और 'आत्मा' कहा है, यह आशङ्का करके कहते हैं—**जहाँ कहीं भी—**। न कि यह ध्वनि समासोक्ति आदि अलङ्कार में कोई अन्यतम है जिसे उस प्रकार हमने किया है, क्योंकि समासोक्ति आदि के अभाव में भी उस (ध्वनि) का अस्तित्व है। समासोक्ति आदि अलङ्कार के स्वरूप के समान स्वरूप वाले अलङ्कार के अभाव में भी उसे (ध्वनि को) दिखाया है, 'अत्ता एत्थ०', 'कस्स वा ण०' इत्यादि। इस लिए

अवयव के अतिरिक्त जब कि कोई अवयवी नहीं प्राप्त होता तो क्यों नहीं यह स्वीकार किया जाय कि अवयवरूप अलङ्कार भी अवयवी ध्वनि है? इसका निराकरण करते हैं कि पृथक्-पृथक् रूप से अवयव किसी प्रकार अवयवी नहीं बन सकता, अर्थात् एक-एक अवयव को लेकर उसे अवयवी की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस पर पुनः शङ्का होती है कि क्यों नहीं तब समुदायमध्यपतित अवयव को ही अवयवी कहते हैं? इसके निराकरण में लोचनकार का स्पष्टीकरण यह है कि समुदाय किसी प्रकार एक को नहीं कहते हैं, क्योंकि समुदायी में अनेक और भी समुदायियों का अस्तित्व होता है जैसे कि प्रस्तुत में ही प्रतीयमान भी एक समुदायी है, वह अपनी प्रधानता की स्थिति में 'ध्वनि' हो जाता है। वह अलङ्काररूप अप्रधान होने के कारण होता है। इस प्रकार न तो पृथक्-पृथक् रूप से अवयव को अवयवी कह सकते हैं और न समुदायरूप से। तात्पर्य यह कि 'ध्वनि' सर्वथा अङ्गी एवं प्रधान तत्त्व है और अलङ्कार आदि अङ्ग या अप्रधान हैं। इसी अंश में अलङ्कार आदि ध्वनि के अङ्ग हैं कि वह काव्यविशेष है और अलङ्कार आदि उसमें रहा करते हैं, न कि वह ध्वनि स्वयं अलङ्कार आदि में अन्तर्भुक्त हो सकता है।

ध्वन्यालोकः

इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित्प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।

कहा है' अर्थात् यह उक्ति विद्वानों के मतानुसार (विद्वदुपज्ञा) है, न कि जिस किसी प्रकार चल पड़ी है, कि इसे प्रतिपादन कर रहे हैं। मुख्य विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि समस्त विद्याओं का मूल व्याकरण है। वे (वैयाकरण विद्वान्) श्रूयमाण वर्णों में 'ध्वनि' यह व्यवहार करते हैं।

लोचनम्

विद्वदुपज्ञेति। विद्वद्भ्य उपज्ञा प्रथम उपक्रमो यस्या उक्तेरिति बहुव्रीहिः। तेन 'उपज्ञोपक्रमम्' इति तत्पुरुषाश्रयं नपुंसकत्वं निरवकाशम्। *श्रूयमाणेष्विति*। श्रोत्रशष्कुली सन्तानेनागता अन्त्याः शब्दाः श्रूयन्त इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम्। तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं तावदस्ति; ते च ध्वनिशब्देनोक्ताः। यथाह भगवान् भर्तृहरिः—

कहा—उसमें अन्तर्भाव नहीं है—। विद्वदुपज्ञा—। विद्वानों से उपज्ञा अर्थात् सबसे पहले उपक्रम (आरम्भ) है जिस उक्ति का—यह बहुव्रीहि है। इस लिए 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' (पा. सू. २. ४. २१) इसके अनुसार तत्पुरुष में होने वाले नपुंसकत्व का कोई अवसर नहीं। श्रूयमाण[१]—। शष्कुली सदृश श्रोत्रदेश के आकाश में सन्तानक्रम से (वीचीतरङ्ग की भाँति) आकर अन्त वाले शब्द सुने जाते हैं, इस प्रक्रिया में शब्द से उत्पन्न शब्द 'श्रूयमाण' होते हैं, यह कहा गया है। उन (श्रूयमाण अन्त्य शब्दज शब्दों) का घण्टानुरणन का सादृश्य है। वे 'ध्वनि' शब्द से कहे गये हैं। जैसा कि भगवान् भर्तृहरि ने कहा है—

१. प्रस्तुत में विषय के स्पष्टीकरण के लिए संक्षेप में 'स्फोट' के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है। स्फोटवाद भारतीय वैयाकरणों की निजी कल्पना है। अलङ्कारशास्त्र में 'ध्वनि' की कल्पना का आधार व्याकरणों का स्फोट-सिद्धान्त ही है। 'स्फोट' का अर्थ है जिससे अर्थ का स्फुटन होता हो (स्फुटत्यस्मादर्थ इति स्फोटः)। इस 'स्फोट' को भी समझने के पूर्व हमें शब्द-श्रवण की प्रक्रिया से परिचित होना चाहिए। शब्द की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है—संयोग से, वियोग से एवं शब्द से। इस प्रकार उत्पत्ति के अनुसार शब्द तीन प्रकार के हैं—संयोगज, वियोगज (या विभागज) और शब्दज। किसी वस्तु का किसी वस्तु के साथ जोर से संयोग होने पर भी शब्द उत्पन्न होता है और कागज या किसी वस्तु के विभाग में भी शब्द उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जिह्वा आदि के संयोग-वियोग द्वारा भी शब्द की उत्पत्ति होती है। मूलतः उत्पन्न शब्द 'स्फोट' कहलाता है। किन्तु जो शब्द उत्पन्न होता है वही श्रोता को नहीं सुन पड़ता है। जैसे कुछ दूरी पर बैठ कर जो कोई बोलता है वही शब्द श्रोता को सुनाई नहीं देता बल्कि वह उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है और अपने नष्ट होने के पूर्व दूसरे शब्द को उत्पन्न कर देता है, इसी प्रकार दूसरा शब्द तीसरे शब्द को, तीसरा चौथे को एवं चौथा पांचवे को आदि। इसको 'वीचीसन्तान-न्याय' कहते हैं। अर्थात् जैसे सरोवर के स्थिर जल में ठिकरा डालने पर एक वर्तुलाकार छोटा

लोचनम्

य: संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाश्शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥ इति ।

एवं घण्टादिनिर्ह्रादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः । तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यस्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः । यथाह भगवान् स एव—

'करणों अर्थात् जिह्वादि स्थानों के साथ संयोग और वियोग के कारण जो उत्पन्न होता है वह 'स्फोट' है और (श्रूयमाण) शब्दों से उत्पन्न शब्दों को अन्यों (उत्पत्ति वादियों) ने 'ध्वनि' कहा है ।'

इस प्रकार घण्टा आदि की आवाज के समान अनुरणनरूपोपलक्षित व्यंग्य अर्थ 'ध्वनि' के नाम से व्यवहृत है । तथा श्रूयमाण जो 'नाद' शब्दवाच्य एवं अन्तिम बुद्धि से नितरां ग्राह्य स्फोट को व्यञ्जित करनेवाले जो वर्ण हैं वे 'ध्वनि' शब्द से कहे गए हैं । जैसा कि उन्हीं भगवान् भर्तृहरि ने कहा है—

सा घेरा पैदा हो जाता है, वही एक से दूसरी तरंग को उत्पन्न करते हुए समस्त सरोवर में व्याप्त हो जाता है । इसी प्रकार शब्द से उत्पन्न शब्द घण्टानुरणन रूप होने के कारण 'ध्वनि' कहलाते हैं । भर्तृहरि की यह कारिका इसी अभिप्राय को व्यक्त करती है—

य: संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥

यह भी कल्पना है कि 'स्फोट' एक नित्य शब्द के रूप में हमारे मन में विद्यमान रहता है । हम जिस अनित्य शब्द को सुनते हैं उससे उस नित्य 'स्फोट' रूप शब्द का उद्बोध होता है और उसके द्वारा हम अर्थ का ज्ञान करते हैं । वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट आदि भेद भी हैं ।

घण्टा के एक बार बज जाने के बाद उसमें जिस प्रकार ध्वनि रूप अनुरणन होता है उसी प्रकार अनुरणन रूप से उपलक्षित व्यङ्ग्य अर्थ भी अलङ्कार-शास्त्र में 'ध्वनि' कहा गया है । इस प्रकार वैयाकरणों के 'ध्वनि' को अनुरणनरूपता के आधार पर आलङ्कारिकों ने अपने अनुरूप बना लिया ।

केवल व्यङ्ग्य अर्थ ही 'ध्वनि' नहीं बल्कि 'व्यञ्जक' भी 'ध्वनि' कहा जाता है । इस प्रकार व्यञ्जक होने के कारण वाचक शब्द और वाच्य अर्थ भी 'ध्वनि' पद से वाच्य होते हैं । इस मन्तव्य को सिद्ध करने के लिए वैयाकरणों के 'नाद' को लिया है । 'नाद' श्रूयमाण वर्णों को कहते हैं । जिस क्रम से वर्ण श्रूयमाण होते हैं उसी क्रम से 'स्फोट' रूप नित्य शब्द की अभिव्यक्ति होती है । जैसे हमने 'घट' शब्द को सुना तो 'घ्' के पश्चात् 'अ' तब 'ट्' और तब 'अ' की हमें प्रतीति होती है । पूर्व वर्ण उत्पन्न होकर अपना संस्कार उत्पन्न करके अग्रिम वर्ण के उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है । नैयायिक लोग इसे वर्णों का नाश मानते हैं, किन्तु वैयाकरण लोग इसे 'तिरोभाव' कहते हैं । इस प्रकार 'स्फोट' को पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहयोग से, जो हमें अन्त्य वर्ण की बुद्धि होती है उसके द्वारा ग्रहण करते हैं । इस प्रकार 'स्फोट' रूप नित्य शब्द के ये वर्ण अभिव्यञ्जक होने के कारण 'ध्वनि' कहे जाते हैं । भर्तृहरि ने इसे इन शब्दों में कहा है—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

लोचनम्

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ।। इति ।

तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ । किञ्च वर्णेषु तावन्मात्रपरिमाणेष्वपि सत्सु । यथोक्तम्—

अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चारितं मतिः ।
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम् ।। इति ।

तेषु तावत्स्वेव श्रूयमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविलम्बितादिवृत्तिभेदात्मा प्रसिद्धादुच्चारणव्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः । यदाह स एव—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ।। इति ।

'अनिर्वचनीय एवं व्यक्तरूप स्फोट के ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययों से उस शब्द में, जो ध्वनियों द्वारा प्रकाशित होता है, स्फोट का स्वरूप ज्ञात होता है।'

इसलिए व्यञ्जक शब्द और अर्थ को भी 'ध्वनि' शब्द से कहा है। और भी, जिस रूप से श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत होते हैं उस परिमाण के वर्णों में भी ('ध्वनि' शब्द से व्यवहार होता है)। जैसा कि कहा है—

मति थोड़े भी प्रयत्न से उच्चरित शब्द को नहीं ग्रहण करती है, यदि वा सकल वर्ण को स्फुटरूप से ग्रहण कर लेती है।

उतने ही अंश में श्रूयमाण वर्णों में वक्ता का जो अन्य द्रुत, विलम्बित आदि वृत्ति भेद रूप प्रसिद्ध उच्चारण व्यापार से अधिक है वह 'ध्वनि' कहा गया है। जो कि उन्होंने ही कहा है—

'(स्फोटरूप) शब्द की अभिव्यक्ति के पहले जो वैकृत शब्द (द्रुत आदि) वृत्तियों के भेद में 'ध्वनि' मालूम पड़ते हैं, स्फोट उनसे भिन्न नहीं होता।'

अर्थात् अनिर्वचनीय, व्यक्तरूप स्फोट के ग्रहण के अनुकूल, प्रत्ययों से उस शब्द में, जो ध्वनियों द्वारा प्रकाशित होता है, स्फोट का स्वरूप ज्ञात होता है। मतलब यह कि जो शब्द श्रूयमाण वर्ण रूप ध्वनियों से ग्रहण के अनुकूल, अनिर्वचनीय प्रत्ययों द्वारा प्रकाशित होता है उसे ही स्फोट' का स्वरूप अवधारण किया जाता है। इस प्रकार जब वैयाकरणों ने 'व्यञ्जक' को 'ध्वनि' माना तब आलङ्कारिकों ने उसी समानता पर व्यञ्जक शब्द और अर्थ को भी अपने यहाँ 'ध्वनि' कहा। यहाँ तक 'ध्वनि' को लेकर व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द और व्यञ्जक अर्थ को 'ध्वनि' कहने की प्रवृत्ति की चर्चा हुई।

अब व्यञ्जकत्व रूप व्यापार को 'ध्वनि' कहने की प्रवृत्ति किस आधार पर है, इसे स्पष्ट करते हैं। वैयाकरणों के अनुसार जिन वर्णों का हम उच्चारण करते हैं उसकी अभिव्यक्ति में द्रुत एवं विलम्बित आदि प्रकारों से अन्तर पड़ जाता है। अर्थात् हम कभी धीरे धीरे और कभी शीघ्र उच्चारण करते हैं। इस प्रकार शब्द में अन्तर होते हुए भी अर्थ में अन्तर नहीं होता। वैयाकरणों ने शब्द के दो रूप माने हैं एक प्राकृत दूसरा वैकृत। हम जो उच्चारण करते हैं वे वैकृत शब्द हैं और प्राकृत शब्द उन वैकृत शब्दों के उच्चारण के बाद उत्पन्न होने वाला नित्य स्फोट रूप शब्द है। द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तियाँ या स्वरभेद वैकृत शब्दों में हुआ करते हैं। इस प्रकार वक्ता को

ध्वन्यालोकः

तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्य-

उसी प्रकार उनके मत का अनुसरण करने वाले, काव्य-तत्त्व के द्रष्टा सूरियों ने

लोचनम्

अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः। एवं चतुष्कमपि ध्वनिः। तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः। तेन व्यतिरेकाव्यतिरेकव्यपदेशोऽपि न न युक्तः। *वाच्यवाचकसंमिश्र इति*। वाच्यवाचकसहितः संमिश्र इति मध्यमपदलोपी समासः। 'गामश्वं पुरुषं पशुम्' इतिवत्समुच्चयोऽत्र चकारेण विनापि। तेन वाच्योऽपि ध्वनिः, वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। संमि-

हमने भी प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य, लक्षणारूप शब्दव्यापारों से अतिरिक्त व्यापार को 'ध्वनि' कहा है। इस प्रकार (व्यंग्यादि) चारों ध्वनि हैं। और उनके योग से समस्त काव्य भी 'ध्वनि' है। इस कारण भेदव्यपदेश और अभेदव्यपदेश भी अयुक्त नहीं है।[1] वाच्यवाचकसम्मिश्र—।[2] 'वाच्य'-वाचक सहित सम्मिश्र' यह मध्यमपदलोपी समास है। 'गौ, अश्व, पुरुष, पशु' की भाँति यहाँ 'चकार' (अर्थात् 'और') का प्रयोग न होने पर भी समुच्चय (सङ्कलन) है। इसलिए वाच्य अर्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि है, दोनों का व्यञ्जकत्व 'ध्वनन करता है' ('ध्वनती'ति) इस व्युत्पत्ति के

श्रूयमाण वर्णों के उच्चारण रूप प्रसिद्ध व्यापार के अतिरिक्त द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तिभेद रूप अधिक व्यापार करना पड़ता है। इस अतिरिक्त व्यापार को भी वैयाकरणों ने 'ध्वनि' माना है। इसी आधार पर आलङ्कारिकों ने भी प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा रूप शब्द व्यापारों के अतिरिक्त व्यञ्जकत्व व्यापार को भी 'ध्वनि' कहा है। इस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ और व्यञ्जकत्व व्यापार, इन चारों को 'ध्वनि' कहने के साथ ही आलङ्कारिकों ने इन चारों के समुदाय-रूप अर्थात् व्यङ्ग्य-वाच्य-वाचक-व्यापार समुदाय रूप काव्य को भी 'ध्वनि' की संज्ञा दी है।

१. प्रायः ध्वन्यालोक के सामान्य अध्येता को कहीं पर 'ध्वनि काव्य का आत्मा है' (काव्यस्यात्मा ध्वनिः) इस प्रकार के ध्वनि के साथ काव्य के भेद या व्यतिरेक के व्यपदेश को और कहीं पर 'वह काव्य-विशेष ध्वनि है' इस प्रकार के अभेद या अव्यतिरेक के व्यपदेश को देख कर भ्रम हो जाता है। कभी ध्वनि काव्य की आत्मा है तो कभी स्वयं काव्य ही है ? लोचनकार के उपर्युक्त पञ्चविध ध्वनि को देखकर इस प्रकार का ग्रन्थ में अभेद और भेद का व्यवहार ठीक लग जाता है। जहाँ पर ध्वनि को काव्य का आत्मा कहा गया है वहाँ समझना चाहिए कि 'ध्वनि' से 'व्यङ्ग्य' अर्थ अभिप्रेत है और जहाँ स्वयं ध्वनि को काव्य कहा गया है वहाँ समझना चाहिए कि यहाँ वाच्य, वाचक, व्यञ्जना और व्यङ्ग्य के समुदाय रूप काव्य यहाँ 'ध्वनि' से अभिप्रेत हैं।

२. ऊपर निर्दिष्ट पाँच प्रकार के ध्वनि को संक्षेप में वृत्तिकार ने 'वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यः' इन शब्दों से निर्देश किया है। 'ध्वनि' शब्द की विभिन्न व्युत्पत्ति से सभी को संगृहीत करके लोचनकार ने स्पष्टीकरण किया है। 'ध्वनतीति ध्वनिः' इससे वाच्य अर्थ और वाचक शब्द दोनों को संगृहीत किया है। 'ध्वन्यते इति ध्वनिः से व्यङ्ग्य अर्थ संगृहीत है एवं 'ध्वननं ध्वनिः' से व्यञ्जना रूप शब्द का व्यापार गृहीत है, जिसे वृत्तिकार ने यहाँ 'शब्दात्मा' कहा है।

ध्वन्यालोकः

वाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः । न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसंकलनया महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालंकारविशेषमात्रप्रतिपादनेन

वाच्य, वाचक, सम्मिश्र (अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ) शब्द रूप (व्यञ्जना व्यापार) और 'काव्य' कहे जाने वाले को (अर्थात् काव्य को) व्यञ्जकत्व की समानता के कारण 'ध्वनि' कहा है । वक्ष्यमाण भेद-प्रभेद के सङ्कलन से महाविषय (व्यापक) ध्वनि का जो प्रकाशन है वह अप्रसिद्ध किसी अलङ्कार मात्र के सदृश नहीं

लोचनम्

श्रयते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा । शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननं ध्वनिः । काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः, उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात् । अतएव साधारणहेतुमाह—*व्यञ्जकत्वसाम्यादिति* । व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सर्वेषु पक्षेषु सामान्यरूपः साधारण इत्यर्थः । यत्पुनरेतदुक्तं 'वाग्विकल्पानामानन्त्यात्' इत्यादि, तत्परिहरति—*न चैवं विधस्येति* । वक्ष्यमाणः प्रभेदो यथा—मुख्ये द्वे रूपे । तद्भेदा यथा—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इत्यविवक्षितवाच्यस्य, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्येति । तत्राप्यवान्तरभेदाः । *महाविषयस्येति*—अशेषलक्ष्यव्यापिन इत्यर्थः । विशेषग्रहणेनाव्यापकत्वमाह । मात्रशब्देनाङ्गित्वाभावम् । तत्र ध्वनिस्वरूपे भावितं प्रणिहितं चेतो येषां तेन वा

अनुसार है । विभावानुभाव के संवलन से जो सम्मिश्रित होता है, वह व्यंग्य भी 'ध्वनि' है । शब्दन शब्द, अर्थात् शब्द का व्यापार, वह अभिधादिरूप नहीं, बल्कि आत्मभूत है, वह भी 'ध्वननं' (व्युत्पत्ति के अनुसार) 'ध्वनि' है । और 'काव्य' शब्द से व्यपदेश्य जो अर्थ है वह भी 'ध्वनि' है, क्योंकि वह कथित प्रकार चार प्रकार के ध्वनियों से युक्त है । अतएव साधारण हेतु कहते हैं—व्यञ्जकत्व की समानता के कारण—। अर्थात् व्यंग्यव्यञ्जकभाव सब पक्षों में सामान्यरूप या साधारण है । जो कि यह कहा है—'वाणी के विकल्पों (भेदों) के आनन्त्य के कारण'—इत्यादि, उसका परिहार करते हैं—इस प्रकार के—। वक्ष्यमाण प्रभेद, जैसे--मुख्य दो रूप । उनके भेद, जैसे—'अविवक्षितवाच्य' के अर्थान्तिरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य; 'विवक्षितान्यपरवाच्य' के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य । उनके भी अवान्तर भेद । महाविषय—। अर्थात् पूरे लक्ष्यों में व्याप्त रहनेवाला । 'विशेष' ('किसी' अलङ्कार) इस कथन से (उसका) अव्यापकत्व कहा है । 'मात्र' शब्द से अङ्गित्व का अभाव कहा है । उस ध्वनि-स्वरूप में भावित अर्थात् प्रणिहित चित्त है जिनका,

ध्वन्यालोकः

तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः। न च तेषु कथञ्चिदीर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्वमाविष्करणीयम्। तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः।

अस्ति ध्वनिः। स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन।

है, ऐसी स्थिति में उस (ध्वनि) के प्रति भावित चित्त वालों का संरम्भ ठीक ही है। उन लोगों के प्रति ईर्ष्या से अपनी बुद्धि का कालुष्य आविष्कृत करना नहीं चाहिये। इस प्रकार ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण किया।

ध्वनि है। वह विवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य भेद से सामान्यतः दो प्रकार का है।

लोचनम्

चमत्काररूपेण भावितमधिवासितमत एव मुकुलितलोचनत्वादिविकारकारणं चेतो येषामिति। *अभाववादिन इति*। अवान्तरप्रकारत्रयभिन्ना अपीत्यर्थः।

तेषां प्रत्युक्तौ फलमाह—*अस्तीति*। उदाहरणपृष्ठे भाक्तत्वं सुशङ्कं सुपरिहरं च भवतीत्यभिप्रायेणोदाहरणदानावकाशार्थं भाक्तत्वालक्षणीयत्वे प्रथमं परिहरणयोग्ये अप्यप्रतिसमाधाय भविष्यदुद्द्योतानुवादानुसारेण वृत्तिकृदेव प्रभेदनिरूपणं करोति—*स चेति*। पञ्चधापि ध्वनिशब्दार्थे येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुव्रीह्यर्थाश्रयेण यथोचितं सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम्। वाच्येऽर्थे

अथवा उस चमत्काररूप से भावित अर्थात् अधिवासित चित्त है जिनका, अतएव मुकुलित-लोचन होना आदि विकारों का कारण चित्त है जिनका। अभाववादी—। अर्थात् अवान्तर तीन प्रकारों से भिन्न भी।

उनके निराकरण का फल कहते हैं—ध्वनि है—। उदाहरण देने पर भाक्तत्व की शङ्का और परिहार भी सुकर हो जायगा, इस अभिप्राय से उदाहरण देने के अवसर के लिए 'भाक्तत्व' और अलक्षणीयत्व के पहले परिहरण योग्य होने पर भी उनका प्रतिसमाधान न करके आगे के 'उद्योत' में अनुवाद (द्विरुक्ति) के अनुसार वृत्तिकार ही प्रभेदों[1] का निरूपण करते हैं—वह—। 'ध्वनि' शब्द से पञ्चविध अर्थ में 'जिससे',

---

१. ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण करके आचार्य ने 'ध्वनि है' यह कहकर ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया तब भाक्तत्ववादियों और अलक्षणीयतावादियों के निराकरण का प्रसंग क्रमप्राप्त है। किन्तु वृत्तिग्रन्थ में यहाँ ध्वनि के दो प्रभेदों की चर्चा करते हैं तथा उनके उदाहरण भी देते हैं, इसका क्या अभिप्राय है ? इस प्रश्न के समाधान में लोचनकार कहते हैं कि 'भाक्तवाद' का आधार 'लक्षणा व्यापार' है और ध्वनि के अविवक्षितवाच्यरूप प्रभेद में लक्षणा का परिचय जब प्राप्त हो जायगा तब आगे ध्वनि के भाक्तत्व की शङ्का भी सुविधा से बन जायगी और उसका परिहार भी सुविधा से हो जायगा। दूसरे यह भी कि आगे द्वितीय उद्योत में कारिका ग्रन्थ में ध्वनि के

लोचनम्

तु ध्वनौ वाच्यशब्देन स्वात्मा तेनाविवक्षितोऽप्रधानीकृतः स्वात्मा येनेत्यविवक्षितवाच्यो व्यञ्जकोऽर्थः। एवं विवक्षितान्यपरवाच्येऽपि। यदि वा कर्मधारयेणार्थपक्षे अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्चेति। विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्चेति। तत्रार्थः कदाचिदनुपपद्यमानत्वादिना निमित्तेनाविवक्षितो भवति। कदाचिदुपपद्यमान इति कृत्वा विवक्षित एव, व्यङ्ग्यपर्यन्तां तु प्रतीतिं स्वसौभाग्यमहिम्ना करोति। अत एवार्थोऽत्र प्राधान्येन व्यञ्जकः, पूर्वत्र शब्दः। ननु च विवक्षा चान्यपरत्वं चेति विरुद्धम्। अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात्को विरोधः? *सामान्येनेति*। वस्त्वलङ्काररसात्मना हि त्रिभेदोऽपि ध्वनिरुभाभ्यामेवाभ्यां

'जहाँ', 'जिससे', जिसका', 'जिसमें' इस प्रकार बहुव्रीहि समास के अर्थ के आधार से जहाँ जो उचित लगे उसका सामानाधिकरण्य[1] बना लेना चाहिए। वाच्य अर्थ में ध्वनि का प्रयोग होगा तब 'वाच्य' शब्द से 'स्वात्मा' (कहा जायगा), इस प्रकार अविवक्षित या अप्रधानीकृत है स्वात्मा जिससे, इस प्रकार अविवक्षितवाच्य व्यञ्जक अर्थ है। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य में भी। अथवा कर्मधारय-समास से अर्थ के पक्ष में 'अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्च' यह होगा। और 'विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्च' होगा। वहाँ अर्थ कभी अनुपपद्यमानत्व आदि निमित्त से अविवक्षित होता है, कभी उपपद्यमान करके विवक्षित होता है, किन्तु व्यंग्य-पर्यन्त प्रतीति को अपने सौभाग्य की महिमा से उत्पन्न करता है। अतएव यहाँ अर्थ प्राधान्यतः व्यञ्जक है, और पहले में शब्द।

शङ्का होती है कि 'विवक्षा' और 'अन्यपर' ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। तब प्रश्न यह होगा कि 'अन्यपर' रूप से ही विवक्षा करने पर कौन-सा विरोध होगा? (वस्तुतः कोई-कोई विरोध नहीं)। सामान्यरूप से—। भाव यह कि वस्तु, अलङ्कार और रस

इन दो भेदों का प्रतिपादन न करके उनका अवान्तर भेद आरम्भ कर दिया है। ऐसा करने से कारिकाकार का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि पहले जो ध्वनि के अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य भेद कर चुके हैं उनके अब अवान्तर प्रभेद के प्रतिपादनार्थ कहते हैं। इस प्रकार द्वितीयोद्योत का अनुवाद उपपन्न करने के उद्देश्य से भी यहाँ स्वयं वृत्तिकार कारिकाकार की जगह पर स्थित होकर ध्वनि के भेदों का पहले ही प्रतिपादन कर देते हैं।

१. पीछे 'ध्वनि' शब्द के पाँच अर्थों का निर्देश कर चुके हैं। प्रस्तुत में 'अविवक्षितवाच्य' आदि के द्वारा 'ध्वनि' शब्द के किस अर्थ को लेकर कहा गया है इसके समाधान में लोचनकार 'बहुव्रीहिसमास' के आश्रयण का उपाय निर्देश करते हैं। इस प्रकार 'ध्वनि' शब्द के जिस अर्थ के साथ सामानाधिकरण्य बैठ जाय उससे बना लेना चाहिए। उदाहरण के लिए, 'अविवक्षितः वाच्यो यस्य' इस बहुव्रीहि समास के द्वारा 'ध्वनि' के 'शब्द' रूप अर्थ के अनुसार यह भेद बन जाता है। इसी प्रकार अन्य अर्थों में समझ लेना चाहिए। 'बहुव्रीहि' में अन्य पदार्थ प्रधान होता है, ऐसी स्थिति में ध्वनि के अर्थ व्यङ्ग्य, व्यञ्जन और काव्य में तो बहुव्रीहि बन जाती है किन्तु, 'वाच्य' रूप अर्थ में नही बनती है क्योंकि यह अन्य पदार्थ नहीं बल्कि समास की कुक्षि में स्थित है। उसके समाधान में लोचनकार ने 'वाच्य' का अर्थ 'स्वात्मा' किया है, और समास किया है अविवक्षितः स्वात्मा येन (वाच्येन) ऐसा समास किया है।

ध्वन्यालोकः

तत्राद्यस्योदाहरणम्—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

उनमें प्रथम का उदाहरण—

तीन प्रकार के लोग सुवर्णपुष्पा पृथ्वी को चयन करते हैं, एक तो शूर, दूसरा विद्वान् और तीसरा जो सेवा करना जानता है ।

लोचनम्

सङ्गृहीत इति भावः। ननु तन्नामपृष्ठे एतन्नामनिवेशनस्य कि फलम्? उच्यते—अनेन हि नामद्वयेन ध्वननात्मनि व्यापारे पूर्वप्रसिद्धाभिधातात्पर्य-लक्षणात्मकव्यापारत्रितयावगतार्थप्रतीतेः प्रतिपत्तृगतायाः प्रयोक्त्रभिप्राय-रूपायाश्च विवक्षायाः सहकारित्वमुक्तमिति ध्वनिस्वरूपमेव नामभ्यामेव प्रोज्जीवितम् ।

सुवर्णपुष्पामिति । सुवर्णानि पुष्प्यतीति सुवर्णपुष्पा, एतच्च वाक्यमेवा-सम्भवत्स्वार्थमिति कृत्वाऽविवक्षितवाच्यम् । तत एव पदार्थमभिधायान्वयं च तात्पर्यशक्त्यावगमय्यैव बाधकवशेन तमुपहत्य सादृश्यात्सुलभसमृद्धिसम्भार-

रूप से तीन भेदों वाला भी यह ध्वनि इन्हीं दोनों से संगृहीत हो जाता है। शङ्का है कि 'ध्वनि' नाम के पश्चात् इस नाम के रखने का लाभ क्या है ? कहते हैं—इन दोनों नामों से ध्वननरूप व्यापार में पूर्वप्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य, लक्षणारूप तीनों व्यापारों से अवगत अर्थ की प्रतीति का और प्रतिपत्ता या ज्ञाता में रहनेवाली प्रयोक्ता के अभिप्रायरूप विवक्षा का सहकारित्व कहा है, इस प्रकार दोनों नामों से ध्वनि का स्वरूप ही प्रोज्जीवित[1] है ।

सुवर्णपुष्पा—। 'सुवर्णों को पुष्पित करती है, अतः 'सुवर्णपुष्पा'[2] यह वाक्य ही ऐसा है जिसका स्वार्थ सम्भव नहीं हो रहा है, इस कारण (यह वाक्य) 'अविवक्षित-वाच्य' है । उसी से पदार्थ का अभिधान करके और तात्पर्य-शक्ति से अन्वय को ज्ञात कराके बाधक के कारण उस अन्वय का उपहनन करके सादृश्य के बल से सुलभ

१. अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य इन दोनों नामों के निर्देश का अभिप्राय यह है कि केवल व्यञ्जना व्यापार से 'ध्वनि' की पूर्णता सिद्ध नहीं होती है बल्कि सहायक या सहकारी रूप से प्रतिपत्ता को अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा के अर्थों की एवं प्रयोक्ता के विवक्षा की भी आवश्यकता होती है। इसीलिए दोनों नाम आचार्य ने रखे हैं। अविवक्षितवाच्य ध्वनि लक्षणामूल होता है, अतः लक्षणा की सहकारिता के लिए एवं विवक्षितान्यपरवाच्य में प्रयोक्ता के विवक्षा की सहकारिता को व्यक्त किया है। क्योंकि इनके बिना केवल व्यञ्जना व्यापार से प्रतिपत्ता प्रतिपिपादिषित अर्थ का ज्ञान नहीं कर सकता। इसी उद्देश्य से लोचनकार लिखते हैं कि वस्तुतः यहाँ इन नामों से ध्वनि का स्वरूप प्रोज्जीवित हो गया है।

२. लोचनकार ने 'सुवर्णपुष्पा' का अर्थ 'सुवर्णानि पुष्प्यति' के अनुसार 'सुवर्णों को पुष्पित

ध्वन्यालोकः

द्वितीयस्यापि—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥१३॥

दूसरे का भी—

हे तरुणि, यह सुग्गे का बच्चा किस पर्वत पर, कितने दिनों तक कौन सा तप किया है जो तेरे अधर के समान लाल वर्ण वाले बिम्बफल को काट रहा है ॥ १३ ॥

लोचनम्

भाजनतां लक्षयति । तल्लक्षणाप्रयोजनं शूरकृतविद्यसेवकानां प्राशस्त्यमशब्दवाच्यत्वेन गोप्यमानं सन्नायिकाकुचकलशयुगलमिव महार्घतामुपयद् ध्वन्यत इति । शब्दोऽत्र प्रधानतया व्यञ्जकः, अर्थस्तु तत्सहकारितयेति चत्वारो व्यापाराः ।

शिखरिणीति । न हि निर्विघ्नोत्तमसिद्धयोऽपि श्रीपर्वतादय इमां सिद्धिं विदध्युः । दिव्यकल्पसहस्रादिश्चात्र परिमितः कालः । न चैवंविधोत्तमफलजन-

समृद्धि-सम्भार-भाजनता को लक्षणा द्वारा बोधन कराता है । उस लक्षणा का प्रयोजन शूर, कृतविद्य (विद्वान्) एवं सेवकों का जो प्राशस्त्य है, वह शब्द से वाच्य न होने के कारण गोप्यमान होकर नायिका के कुचकलशयुगल की भाँति चारुत्व (महार्घता) को प्राप्त करता हुआ ध्वनित होता है । यहाँ शब्द प्रधान रूप से व्यञ्जक है और अर्थ शब्द के सहकारी होने के कारण व्यञ्जक है, इस प्रकार (अभिधा आदि) चारो व्यापार हो जाते हैं ।

पर्वत पर—। जहाँ बिना किसी विघ्न के उत्तम सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ऐसे श्रीपर्वत आदि[1] भी इस सिद्धि को नहीं दे सकेंगे । (इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त करने के लिए) दिव्य कल्प-सहस्र आदि तो बहुत परिमित काल है । और इस काल के

करनेवाली' किया है । 'दिव्याञ्जना' टिप्पणी में मेरे गुरुजी का कहना है कि यह केवल आचार्य ने अर्थ का प्रदर्शनमात्र किया है, विग्रह नहीं । अन्यथा यहाँ उनके व्याख्यान के आधार पर 'कर्मण्यण्' इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय तथा 'टिड्ढाणञ्' इत्यादि से ङीप् होकर 'सुवर्णपुष्पी' रूप सिद्ध होगा । इसलिए 'सुवर्णमेव पुष्पं यस्याः' यह विग्रह संगत होगा ।

अभिधा से पदार्थ-ज्ञान के पश्चात् तात्पर्य-शक्ति से अन्वय-बोध होता है । फिर भी यहाँ मुख्यार्थ के बाध को स्पष्ट करने के लिए लोचनकार का ही ढंग ठीक लगता है । 'पृथ्वी' कोई ऐसी लता नहीं है जो सुवर्णों के फूल खिलाती है' यह इस प्रकार मुख्यार्थ का बाध होता है तत्पश्चात् सादृश्य के बल से शूर, कृतविद्य और सेवक, ये तीनों की सुलभसमृद्धिसम्भारभाजनता लक्षित होती है, अर्थात् जो लोग शूर, कृतविद्य एवं सेवक होते हैं उन्हें महती समृद्धि सुलभ हो जाती है यह लक्ष्यार्थ है और लक्षणा के प्रयोजन के रूप में तीनों का प्राशस्त्य प्रतीत होता है ।

१. 'श्रीपर्वत' यह दक्षिण देश का प्रसिद्ध पर्वत है । प्राचीन काल में, विशेषकर जब भारत में तान्त्रिक साधना का प्रचार था, यह पर्वत उसका महान् केन्द्र था । बौद्धों के वज्रयान का प्रचलन

लोचनम्

कत्वेन पञ्चाग्निप्रभृत्यपि तपः श्रुतम्। तवेति भिन्नं पदम्। समासेन विगलिततया प्रतीयेत, तव दशतीत्यभिप्रायेण। तेन यदाहुः—'वृत्तानुरोधात्त्वदधरपाटलमिति न कृतम्' इति, तदसदेव; दशतीत्यास्वादयति अविच्छिन्नप्रबन्धतया, न त्वौदरिकवत्परं भुङ्क्ते; अपि तु रसज्ञोऽत्रेति तत्प्राप्तिवदेव रसज्ञताप्यस्य तपःप्रभावादेवेति। शुकशावक इति तारुण्यादुचितकाललाभोऽपि तपस एवेति। अनुरागिणश्च प्रच्छन्नस्त्राभिप्रायख्यापनवैदग्ध्यचाटुविरचनात्मकविभावोद्दीपनं व्यङ्ग्यम्।

अत्र च त्रय एव व्यापाराः—अभिधा तात्पर्यं ध्वननं चेति। मुख्यार्थबाधा-

उत्तम फल के जनक के रूप में पञ्चाग्नि प्रभृति तप को भी नहीं सुना है। 'तुम्हारा' यह पद भिन्न[1] (असमस्त) है। समास से विगलित (साधारण) रूप में प्रतीत होगा, अतः 'तुम्हारा दशन करता है (काटता है)' इस अभिप्राय से (युष्मदर्थ को असमस्त या भिन्न करके रखा)। अतः, जो कि कहते हैं—'छन्द के अनुरोध से 'त्वदधरपाटलम्' ऐसा नहीं किया है, वह तो ठीक ही नहीं; दशन करता है (काटता है) अर्थात् अविच्छिन्न रूप से आस्वादन कर रहा है, न कि पेटू आदमी की तरह पूरा खा जाता है अपि तु रसज्ञ है, जिस प्रकार उस (अधर) की प्राप्ति तपस्या के प्रभाव से हुई उसी प्रकार उसकी रसज्ञता भी तपःप्रभाव से ही है। 'शुकशावक' की ही स्थिति में उचित काल का लाभ भी तप के कारण ही है। यहाँ अनुरागी का अपने प्रच्छन्न अभिप्राय के ख्यापन के वैदग्ध्य से चाटुरचना द्वारा विभाव (तरुणी रूप आलम्बन विभाव) का उद्दीपन व्यङ्ग्य है।

यहाँ तीन व्यापार हैं—अभिधा, तात्पर्य और ध्वनन। क्योंकि मुख्यार्थबाध आदि का

यहीं से हुआ था। प्राचीन साहित्य में इस पर्वत के सम्बन्ध में यह धारणा थी कि वहाँ पर जाकर तप करने से अलौकिक सिद्धियाँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं।

१. प्रस्तुत पद्य में 'तव अधरपाटलं दशति' पर ही विशेष रूप से विचार किया गया है। यहाँ लोचनकार ने 'तव' के प्रयोग को विशेष अर्थ का व्यञ्जक माना है। जिस नायिका से यह बात कही जा रही है उसके सम्बन्ध को 'अधर' पदार्थ के साथ बोधन वक्ता का अभीष्ट है। इसी कारण 'तव' को 'अधरपाटलम्' से यह भिन्न या समासरहित रखा है। समास कर देने पर नायिका के सम्बन्ध का बोध नहीं होता, बल्कि साधारणरूप से उसके अधरपाटल को शुकशावक काटता है यह अर्थ प्रतीत होता। इस प्रकार अविमृष्टविधेयांश दोष का यहाँ अभाव है। 'तव' इस असमस्त पद से नायिका के सम्बन्ध के प्रतीत होने से श्लोक के अर्थ में एक अद्भुत विशेषता झलकने लगती है तब मतलब यह हो जाता है कि तेरा अधर तेरे कारण और भी स्वादु हो गया है अतः उसके समान यह बिम्बफल शुकशावक और भी मस्ती से काट रहा है। ऐसा नहीं कि पेटू आदमी की तरह रसास्वादन का मजा लिए बिना काट-काट कर खाये जा रहा है। इससे शुक-शावक की रसज्ञता भी व्यञ्जित हो रही है। किसी ने 'त्वदधरपाटलम्' इस समस्तरूप से न कहने का कारण द्रुतबिलम्बित छन्द का अनुरोध बताया था, पर यह पक्ष ठीक नहीं।

इस पद्य से किसी कामुक नायक का नायिका के प्रति अभिलाष व्यङ्ग्य हो रहा है, मैं भी तेरे अधर को दशन करता।

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत्प्रतिसमाधीयते—

जो कि 'भक्ति ध्वनि है' यह कहा है उसका प्रतिसमाधान करते हैं—

लोचनम्

द्यभावे मध्यमकक्ष्यायां लक्षणायास्तृतीयस्या अभावात्। यदि वाऽऽकस्मिक-विशिष्टप्रश्नार्थानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधायां सादृश्याल्लक्षणा भवतु मध्ये। तस्यास्तु प्रयोजनं ध्वन्यमानमेव, तत्तुर्यकक्ष्यानिवेशि, केवलं पूर्वत्र लक्षणैव प्रधानं ध्वननव्यापारे सहकारि। इह त्वभिधातात्पर्यशक्ती। वाक्यार्थसौन्दर्यादेव व्यङ्ग्यप्रतिपत्तेः केवलं लेशेन लक्षणाव्यापारोपयोगोऽप्यस्तीत्युक्तम्। असंलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्ये तु लक्षणासमुन्मेषमात्रमपि नास्ति, असंलक्ष्यत्वादेव क्रमस्येति वक्ष्यामः। तेन द्वितीयेऽपि भेदे चत्वार एव व्यापाराः ॥ १३ ॥

अत एवोभयोदाहरणपृष्ठ एव भाक्तमाहुरित्यनुभाष्य दूषयति। अयं भावः—भक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं पर्यायवत्ताद्रूप्यम्? अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्या अन्यतो व्यावर्तकधर्मरूपतया लक्षणम्? उत काक इव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रादुप-लक्षणम्? तत्र प्रथमं पक्षं निराकरोति—

अभाव होने से बीच की कक्ष्या में तीसरी लक्षणा वृत्ति यहाँ नहीं है। अथवा आकस्मिक (असम्भावित) एवं विशिष्ट (शुक द्वारा तप करने के स्थान को लेकर) प्रश्नार्थ की उपपत्ति न बनने के कारण मुख्यार्थबाध के हो जाने पर सादृश्य से बीच में लक्षणा हो सकती है। उस (लक्षणा का) प्रयोजन ध्वन्यमान ही है, वह (ध्वन्यमान प्रयोजन) चौथी कक्ष्या में रहने वाला है। (अगर दोनों उदाहरणों में भेद करें तो) पहले उदाहरण में केवल लक्षणा ही प्रधान होकर ध्वनन व्यापार में सहकारिणी है, और यहाँ अभिधा या तात्पर्य ये दोनों शक्तियाँ (ध्वनन व्यापार में) सहकारिणी हैं। क्योंकि वाक्यार्थ के सौन्दर्य से ही व्यंग्य की जब प्रतीति हो जाती है, ऐसी स्थिति में केवल लेशरूप से यहाँ लक्षणा व्यापार का उपयोग भी है ऐसा कहा गया। 'असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य' (जहाँ व्यंग्य के बोध का क्रम संलक्षित नहीं होता) में लक्षणा का समुन्मेष मात्र भी, क्रम के संलक्ष्य न होने के कारण ही, नहीं है, यह कहेंगे। इस प्रकार दूसरे भी भेद में चार ही व्यापार हैं ॥ १३ ॥

इसीलिए दोनों के उदाहरणों के बाद ही 'भाक्तमाहुः' इसका अनुवाद करके दोष देते हैं। भाव यह है—'भक्ति[1] और ध्वनि' इस प्रकार क्या (इन्द्र, शक्र आदि) पर्याय की भाँति दोनों का ऐक्य या अभेद है? अथवा पृथिवी के 'पृथिवीत्व' की भाँति अतिरिक्त के व्यावर्तक धर्मरूप होने के कारण, लक्षण है? या कौए की भाँति देवदत्त के गृह का सम्भवमात्र से, उपलक्षण है? उनमे प्रथम पक्ष का निराकरण करते हैं—

१. 'भक्ति' और 'ध्वनि' को तीन प्रकार से अभिन्न कह सकते हैं—पर्याय, लक्षण और उपलक्षण। अर्थात् भाक्तवादी क्या ध्वनि और भक्ति को पर्याय मानते हैं, जैसे घट और कलश शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, अथवा 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण है, जैसे पृथिवीत्व पृथिवी का

ध्वन्यालोकः

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात् । वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः । उपचारमात्रं तु भक्तिः ।

'यह ध्वनि रूप भेद के कारण 'भक्ति' के साथ एकत्व (अभेद) को धारण नहीं करता।'

यह उक्त प्रकार का ध्वनि भिन्न रूप होने के कारण भक्ति से एकत्व (अर्थात् अभेद) प्राप्त नहीं करता। वाच्य से व्यतिरिक्त अर्थ का वाच्य और वाचक द्वारा तात्पर्य रूप से प्रकाशन जहाँ व्यङ्ग्य के प्राधान्य में हो वह 'ध्वनि' है। 'भक्ति' तो उपचार मात्र है।

लोचनम्

भक्त्या बिभर्तीति । उक्तप्रकार इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्—शब्देऽर्थे व्यापारे व्यङ्ग्ये समुदाये च । रूपभेदं दर्शयितुं ध्वनेस्तावद्रूपमाह—*वाच्येति* । *तात्पर्येण* विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेनेति यावत् । *प्रकाशनं* द्योतनमित्यर्थः । *उपचारमात्रमिति* । उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः ।

यह ध्वनि—। 'उक्त प्रकार' को पाँचो अर्थों में लगाना चाहिए—शब्द में, अर्थ में, व्यापार में; व्यंग्य में और समुदाय (रूप काव्य) में । रूपभेद को दिखाने के लिए ध्वनि का स्वरूप कहते हैं—वाच्य से—। 'तात्पर्यरूप से' अर्थात् विश्राम लेने का स्थान होने के कारण प्रयोजनरूप होने से । 'प्रकाशन' अर्थात् द्योतन । उपचारमात्र—।[1] उपचार

व्यावर्तक धर्म रूप लक्षण है। अथवा 'उपलक्षण' अर्थात् सूचक मात्र है, जैसे 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' अर्थात् देवदत्त का घर कौवे वाला है, यह उसी समय बात कही गई है जब देवदत्त के घर पर कौआ बैठा है, इस प्रकार 'काकवत्त्व' देवदत्त के घर का सूचक मात्र होने से 'उपलक्षण' है। इन तीनों विकल्पों में 'भक्ति' ध्वनि का क्या है? यह प्रश्न भाक्तवादी से स्वयं उद्भावित करते हैं। समाधान में, आचार्य ने तीनों विकल्पों का निराकरण कर दिया। प्रथम विकल्प 'पर्याय' के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि भक्ति और ध्वनि किसी प्रकार एक दूसरे के पर्याय नहीं हो सकते हैं, क्योंकि दोनों में रूपभेद है अर्थात् ध्वनि का स्वरूप भिन्न है और भक्ति का स्वरूप भिन्न। फिर प्रस्तुत कारिका के उत्तरार्ध में आचार्य ने भक्ति को ध्वनि का 'लक्षण' भी अमान्य ठहराया है, क्योंकि 'लक्षण' वही होता है जिसमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति आदि दोष नहीं होते। किन्तु 'भक्ति' को ध्वनि का लक्षण बनाने पर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष उत्पन्न होंगे। इसे आगे स्वयं स्पष्ट करेंगे। फिर तीसरे विकल्प 'उपलक्षण' को आचार्य ने १९ वीं कारिका के पूर्वार्ध में स्वीकार करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि इससे यह नहीं कह सकते हैं कि गुणवृत्ति या भक्ति से ही ध्वनि लक्षित होता है। यह विषय आगे के पृष्ठों में स्पष्ट होगा।

१. 'उपचार' का अर्थ लोचनकार ने 'अतिशयित व्यवहार' करके यह व्यक्त किया है कि जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेततः व्यवहार प्रसिद्ध है उसे छोड़ कर उससे सम्बद्ध अर्थ में

ध्वन्यालोकः

मा चैतत्स्याद्भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥ १४ ॥

नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। कथम्? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात्। यत्र हि व्यङ्ग्यकृतं महत्सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते। यथा—

'भक्ति' ध्वनि का लक्षण है, यह भी नहीं हो सकता, यह कहते हैं—

'अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण यह (ध्वनि) उस (भक्ति) से लक्षित नहीं हो सकता।' ॥ १४ ॥

भक्ति से ध्वनि नहीं ही लक्षित होता है। कैसे? अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण! वहाँ, ध्वनि से भिन्न स्थल में भी भक्ति का सम्भव है, यह अतिव्याप्ति है। जहाँ व्यंग्यकृत अधिक (महत्) सौष्ठव नहीं है वहाँ भी कविजन प्रसिद्धिवश उपचरित शब्द-व्यापार (गौणी वृत्ति) से व्यवहार करते देखे जाते हैं। जैसे—

लोचनम्

मात्रशब्देनेदमाह—यत्र लक्षणाव्यापारात्ततीयादन्यश्चतुर्थः प्रयोजनद्योतनात्मा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवन्नप्यनुपयुज्यमानत्वेनानाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः। 'यमर्थमधिकृत्य' इति हि प्रयोजनलक्षणम्। तत्रापि लक्षणास्तीति कथं ध्वननं लक्षणा चेत्येकं तत्त्वं स्यात्। द्वितीयं पक्षं दूषयति—*अतिव्याप्तेरिति*। असाविति ध्वनिः। तयेति भक्त्या। ननु ध्वननमवश्यम्भावीति कथं तद्व्यतिरिक्तोऽस्ति विषय इत्याह—*महत्सौष्ठवमिति*। अत एव प्रयोजनस्यानादरणीयत्वाद् व्यञ्जकत्वेन न कृत्यं किञ्चिदिति भावः। महद्ग्रहणेन गुणमात्रं तद्भवति। यथोक्तम्—

अर्थात् गुणवृत्ति, लक्षणा। 'उपचरण' अर्थात् अतिशयित व्यवहार। 'मात्र' शब्द से यह कह सकते हैं—जहाँ तीसरे लक्षणा व्यापार से अतिरिक्त प्रयोजन-द्योतनरूप चौथा व्यापार वस्तुस्थिति के साथ सम्भव होता हुआ भी उपयुज्यमान न होने के कारण आदर का पात्र न होकर नहीं के बराबर है। 'प्रयोजन' का लक्षण यह है—'जिस वस्तु को लेकर कोई प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन है' (यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्)। वहाँ भी लक्षणा है। इस प्रकार कैसे ध्वनन और लक्षणा एक तत्त्व हो सकते हैं?

दूसरे पक्ष में दोष देते हैं—अतिव्याप्ति होने के कारण—। 'यह' अर्थात् ध्वनि। उससे अर्थात् भक्ति से। शङ्का है कि (लक्षणा में) ध्वनन अवश्यम्भावी है, ऐसी स्थिति में कैसे उस (ध्वनि) से भिन्न-विषय है? इस पर कहते हैं—अधिक सौष्ठव (या

शब्द का व्यवहार ही अतिशयित व्यवहार है। यद्यपि इस उपचार रूप गुणवृत्ति या लक्षणा में 'प्रयोजन' भी होता है, किन्तु वहां उपयोगी न होने के कारण न होने के समान (असत्कल्प) ही माना जाता है। इसलिए वृत्तिग्रन्थ में 'उपचार' के साथ 'मात्र' का प्रयोग है।

ध्वन्यालोकः

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥

दोनों ओर मोटे स्तन और जघन के सम्पर्क से अधिक मुर्झाया हुआ, मध्यभाग (कटि) के बीच सम्पर्क प्राप्त न करके हरा ही बना हुआ एवं शिथिल भुजलता के फेंकने और मोड़ने की क्रियाओं से इधर-उधर अस्तव्यस्त, कमलिनी के पत्तों का यह शयन कृश अङ्गोंवाली का विरहसन्ताप कह रहा है ।

लोचनम्

'समाधिरन्यधर्मस्य काप्यारोपो विवक्षित' इति दर्शयति । ननु प्रयोजनाभावे कथं तथा व्यवहार इत्याह—*प्रसिद्धयनुरोधेति* । परम्परया तथैव प्रयोगात् ।

वयं तु ब्रूमः—प्रसिद्धिर्या प्रयोजनस्यानिगूढतेत्यर्थः । उत्तानेनापि रूपेण तत्प्रयोजनं चकासन्निगूढतां निधानवदपेक्षत इति भावः । वदतीत्युपचारे हि स्फुटीकरणप्रतिपत्तिः प्रयोजनम् । यद्यगूढं स्वशब्देनोच्येत, किमचारुत्वं स्यात् ? गूढतया वर्णने वा किं चारुत्वमधिकं जातम् ? अनेनैवाशयेन वक्ष्यति—

सौन्दर्य)—। अतएव भाव यह कि प्रयोजन के आदरणीय न होने के कारण व्यञ्जक होने से (व्यञ्जना व्यापार से) कुछ नहीं होता जाता । 'अधिक' (महत्) ग्रहण से (यह ज्ञात होता है कि वह (व्यञ्जकत्व या व्यञ्जना व्यापार), कोई गुणमात्र (अप्रधान) होता है । जैसा कि कहा है—'दूसरे के (अप्रस्तुत के) धर्म का कहीं पर जब आरोप विवक्षित हो तब 'समाधि' (नाम का गुण) कहते हैं' इसे दिखाते हैं । शङ्का है कि प्रयोजन के अभाव में कैसे उस प्रकार व्यवहार होगा ? इस प्रकार कहते हैं—प्रसिद्धिवश—। क्योंकि परम्परा से उसी प्रकार प्रयोग है ।

हम तो कहते हैं—प्रसिद्धि वह है जो प्रयोजन की अनिगूढता (प्रकटरूपता) है । भाव यह कि उत्तानरूप से प्रकाशित होता हुआ प्रयोजन खजाने की भाँति निगूढता की अपेक्षा करता है । 'वदति'[1] ('कह रहा है') इस 'उपचार' में स्फुटीकरण की प्रतीति प्रयोजन है । यदि अनिगूढ या प्रकटरूप से शब्दतः उक्त कर दिया जाए तो क्या

१. 'वदति' अर्थात् 'प्रकटयति' । 'वदति' का प्रयोजन है प्रकटन का ज्ञान । यदि कवि ने 'प्रकटयति' ही लिख दिया होता तब भी कोई अचारुत्व नहीं होता और 'वदति' इस उपचरित व्यवहार या गूढरूप से वर्णन से कोई अधिक चारुत्व भी सिद्ध नहीं होता । यह कभी भी ध्वनि का विषय नहीं हो सकता, किन्तु भक्ति का विषय तथापि माना जा सकता है । इस प्रकार अतिव्याप्ति के कारण भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं कहा जा सकता ।

ध्वन्यालोकः

तथा—

चुम्बिज्जइ असहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुत्तम्मि ।
विरमिअ पुणो रमिज्जइ पिओ जणो णत्थि पुनरुत्तम् ॥
(शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्रकृत्वश्चुम्ब्यते ।
विरम्य पुना रम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम् ॥
इति च्छाया)

तथा—

कुविआओ पसन्नाओ ओरण्णमुहीओ विहसमाणाओ ।
जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छिन्तमहिलाओ ॥

उसी प्रकार—

प्रिय को सौ बार चुम्बन करते हैं; हजार बार अवरोधन (आलिङ्गन) करते हैं, विराम करके रमण करते हैं, फिर भी पुनरुक्त नहीं होता !

उसी प्रकार—

खिसियानी, खुश, रुआंसी या हँसती, चाहे जिस रूप में ग्रहण करो मनचली औरतें दिल हर लेती हैं ।

लोचनम्

यत उक्त्यन्तरेणाशक्यं यदिति । अवरुन्धिज्जइ आलिङ्ग्यते । पुनरुक्तमित्यनुपादेयता लक्ष्यते, उक्तार्थस्यासम्भवात् ।

कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितवदना विहसन्त्यः ।
यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ॥

अचारुत्व हो जाता है ? अथवा गूढ या अप्रकटरूप से वर्णन करने पर क्या चारुत्व अधिक हो जाता है ? इसी आशय से कहेंगे—'क्योंकि 'दूसरी उक्ति से जो अशक्य है—' इत्यादि । अवरोधन करता है अर्थात् आलिङ्गन करता है । 'पुनरुक्त'[1] इससे अनुपादेयता लक्षित होती है, क्योंकि वचनरूप उक्त अर्थ का (प्रियजन के अर्थ में) सम्भव नहीं ।

१. पुनरुक्त और पुनर्वचन, किसी बात को दुबारा कहना । प्रिय तो कोई वचन नहीं है जो पुनरुक्त होता है, इस प्रकार यहाँ मुख्यार्थ का बाध होकर लक्षणा होती है और उससे लक्षित होती है अनुपादेयता, अर्थात् प्रिय की तब भी किसी प्रकार अनुपादेयता नहीं होती, बल्कि उसकी उपादेयता सब प्रकार से बनी रहती है । यहाँ पर अधिकफलशालित्व रूप प्रयोजन प्रतीत होता है किन्तु चमत्कारी न होने के कारण आदरणीय नहीं है । इसलिए पूर्ववत् यह भी ध्वनि का विषय नहीं है ।

ध्वन्यालोकः

तथा—

अज्ञाएँ पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे ।
मिउओ वि दूसहो व्विअ जाओ हिअए सवत्तीणम् ॥
(भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे ।
मृदुकोऽपि दुःसह इव जातो हृदये सपत्नीनाम् ॥
इति च्छाया)

उसी प्रकार—
'प्रिय ने नवलता से जब भार्या के स्तन पर प्रहार दिया तब वह (प्रहार) मृदु होकर भी सौतों के हृदय में दुःसह हो गया ।'

लोचनम्

अत्र ग्रहणेनोपादेयता लक्ष्यते । हरणेन तत्परतन्त्रतापत्तिः ।

तथा-अज्जेति । कनिष्ठभार्यायाः स्तनपृष्ठे नवलतया कान्तेनोचितक्रीडायोगेन मृदुकोऽपि प्रहारो दत्तः सपत्नीनां सौभाग्यसूचकं तत्क्रीडासंविभागमप्राप्तानां हृदये दुःसहो जातः, मृदुकत्वादेव । अन्यस्य दत्तो मृदुः प्रहारोऽन्यस्य च सम्पद्यते । दुस्सहश्च मृदुरपीति चित्रम् । दानेनात्र फलवत्त्वं लक्ष्यते ।

यहाँ 'ग्रहण'[1] से उपादेयता लक्षित होती है और 'हरण' से उसके परतन्त्र हो जाने की स्थिति (लक्षित होती है) ।

'उसी प्रकार' भार्या—। छोटी भार्या के स्तन पर नवलता से प्रिय द्वारा उचित क्रीड़ा के सम्बन्ध से दिया हुआ मृदु भी प्रहार सौभाग्य के सूचक उस क्रीड़ा-संविभाग को नहीं पाई हुई सौतों के हृदय में दुःसह हो गया मृदु होने के कारण ही । दूसरे को दिया हुआ मृदु प्रहार दूसरे को प्राप्त होता है । मृदु होकर भी दुःसह है यह आश्चर्य है । यहाँ (प्रहार के) 'दान'[2] या दिए जाने से फलवत्त्व (सफल होना) लक्षित होता है ।

---

१. 'गृहीताः' में ग्रहण से स्वैरिणी महिलाओं (मनचली औरतों) की उपादेयता लक्षित होती है और 'हरन्ति' में हरण से परतन्त्रता लक्षित होती है, हर लेती है अर्थात् अपने वश में कर लेती हैं । यहां भी व्यङ्ग्य अर्थ के प्राधान्य के अभाव में ध्वनि नहीं है ।

२. 'दत्तः में 'दान' तो किसी पदार्थ का होता है, यह 'दान' का मुख्य अर्थ प्रस्तुत में 'प्रहार के दान' में बाधित होने के कारण फलवत्त्व लक्षित होता है । पूर्ववत् यह भी ध्वनि का विषय नहीं ।

ध्वन्यालोकः

तथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः॥

इत्यत्रेक्षुपक्षेऽनुभवतिशब्दः। न चैवंविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः।

उसी प्रकार—

जो दूसरों के लिए पीड़ा (कष्ट या पीड़न अर्थात् रस निकालने के लिए यन्त्र में पीड़ित होने) का अनुभव करता है, टूट जाने पर भी मधुर (मीठा) बना रहता है, सबों को जिसका विकार (रस अथवा दोष) भी अच्छा लगता है वह ईख यदि ऊसर जमीन में पड़कर नहीं बढ़ा तो क्या यह ईख का दोष (अपराध) है, गुणहीन मरुभूमि का नहीं ?

यहाँ ईख के पक्ष में 'अनुभव करता है' यह शब्द (उपचरित है), इस प्रकार का शब्द कभी ध्वनि का विषय नहीं होता॥ १४॥

लोचनम्

तथा—परार्थेति। यद्यपि प्रस्तुतमहापुरुषापेक्षयानुभवतिशब्दो मुख्य एव, तथाप्यप्रस्तुते इक्षौ प्रशस्यमाने पीडाया अनुभवनेनासम्भवता पीडावत्त्वं लक्ष्यते; तच्च पीड्यमानत्वे पर्यवस्यति।

नन्वस्त्यत्र प्रयोजनं तत्किमिति न ध्वन्यत इत्याशङ्क्याह—*न चैवंविध इति*॥ *१४*॥

उसी प्रकार—दूसरों के लिए—। प्रस्तुत महापुरुष की अपेक्षा यद्यपि 'अनुभव करता है' शब्द मुख्य ही है, तथापि अप्रस्तुत इक्षु की प्रशंसा की जाने पर नहीं सम्भव होते हुए पीड़ा के अनुभव से पीड़ावान् होना लक्षित होता है, और वह पीड्यमान होने में पर्यवसित होता है।[1] शङ्का करते हैं कि यदि प्रयोजन यहाँ है तो क्यों नहीं ध्वनित होता है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—इस प्रकार का—।॥ १४॥

१. यद्यपि प्रकृत 'महापुरुष' के पक्ष में 'अनुभवति' शब्द उपपन्न है, तथापि अप्रकृत 'इक्षु' के पक्ष में असम्भव होता हुआ (क्योंकि जड़ पदार्थ इक्षु अनुभव करने की सामर्थ्य नहीं रखता) पीडावत्त्व को लक्षित करता है। यहाँ भी व्यङ्ग्य के अप्राधान्य में ध्वनि का अभाव है।

इन पाँचो उदाहरणों का यही अभिप्राय है कि अतिव्याप्त होने के कारण 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।

ध्वन्यालोकः

यतः—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥ १५ ॥

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः। किञ्च—

क्योंकि—

जो चारुत्व दूसरी उक्ति (उक्त्यन्तर) से प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसे प्रकाशित करने वाला एवं व्यञ्जकता (व्यञ्जनाव्यापार) को धारण करने वाला शब्द 'ध्वनि' इस उक्ति का विषय होता है ॥ १५ ॥

और यहाँ उदाहृत विषय में शब्द दूसरी शक्ति से अशक्य चारुत्व की व्यञ्जना का हेतु नहीं है। और भी,

लोचनम्

यत उक्त्यन्तरेणेति। उक्त्यन्तरेण ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थव्यापारविशेषेणेत्यर्थः। शब्द इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्। *ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेदिति*—ध्वनिशब्देनोच्यत इत्यर्थः। *उदाहृत इति*। वदतीत्यादौ ॥ १५ ॥

एवं यत्र प्रयोजनं सदपि नादरास्पदं तत्र को ध्वननव्यापार इत्युक्त्वा यत्र मूलत एव प्रयोजनं नास्ति, भवति चोपचारस्तत्रापि को ध्वननव्यापार इत्याह—*किञ्चेति*। लावण्याद्या ये शब्दाः स्वविषयाल्लवणरसयुक्तत्वादेः स्वार्थादन्यत्र हृद्यत्वादौ रूढाः, रूढत्वादेव त्रितयसन्निध्यपेक्षणव्यवधानशून्याः। यदाह—

'निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।'

इति। ते तस्मिन् स्वविषयादन्यत्र प्रयुक्ता अपि न ध्वनेः पदं भवन्ति; न

क्योंकि—दूसरी उक्ति से—। दूसरी उक्ति से अर्थात् ध्वनि से अतिरिक्त स्फुट शब्द और अर्थ के व्यापार-विशेष से। 'शब्द' को पाँचो अर्थों में लगाना चाहिए 'ध्वनि' इस उक्ति का विषय होता है—। अर्थात् 'ध्वनि' शब्द से कहा जाता है। उदाहृत—। 'वदति' इत्यादि में।

इस प्रकार जहाँ प्रयोजन रहता हुआ भी आदरास्पद नहीं है वहाँ ध्वनन-व्यापार क्या ? यहाँ कहकर जहाँ मूलतः ही प्रयोजन नहीं है किन्तु उपचार है, वहाँ भी ध्वननव्यापार क्या ? यह कहते हैं—और भी—। 'लावण्य' आदि जो शब्द 'लवणरस से युक्तत्व' आदि अपने विषयरूप स्वार्थ से अन्यत्र हृद्यत्व अर्थ आदि में रूढ़ हैं, रूढ़ होने के कारण ही त्रितय (अर्थात् मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग और प्रयोजन) के सन्निधान की अपेक्षारूप व्यवधान से रहित हैं। क्योंकि कहा है—

'कुछ निरूढ़ लक्षणाएँ प्रयोग की सामर्थ्य से अभिधान के सदृश ही होती हैं।' वे ('लावण्य' आदि प्रयुक्त शब्द) अपने विषय से अन्यत्र प्रयुक्त होकर भी 'ध्वनि' के

ध्वन्यालोकः

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ १६ ॥

तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति। तथाविधे च विषये क्वचित्सम्भवन्नपि ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते। न तथाविधशब्दमुखेन।

अपने विषय से भी अन्यत्र विषय में शब्द दूसरी उक्ति से अशक्य चारुत्व की व्यञ्जना का हेतु नहीं है। और भी, अपने विषय से भी अन्यत्र विषय में जो शब्द रूढ हो जाते हैं, जैसे कि 'लावण्य' आदि प्रयुक्त शब्द, वे ध्वनि के विषय नहीं होते ॥ १६ ॥

उनमें उपचरित शब्दवृत्ति है। उस प्रकार के विषय में कहीं पर सम्भव होता हुआ भी ध्वनि का व्यवहार प्रकारान्तर से होता है, उस प्रकार के शब्द के द्वारा नहीं।

लोचनम्

तत्र ध्वनिव्यवहारः। उपचरिता शब्दस्य वृत्तिर्गौणी; लाक्षणिकी चेत्यर्थः। आदिग्रहणेनानुलोम्यं प्रातिकूल्यं सब्रह्मचारीत्येवमादयः शब्दा लाक्षणिका गृह्यन्ते। लोम्नामनुगतमनुलोमं मर्दनम्। कूलस्य प्रतिपक्षतया स्थितं स्रोतः प्रतिकूलम्। तुल्यगुरुः सब्रह्मचारी इति मुख्यो विषयः। अन्यः पुनरुपचरित एव। न चात्र प्रयोजनं किञ्चिदुद्दिश्य लक्षणा प्रवृत्तेति न तद्विषयो ध्वननव्यवहारः।

ननु 'देवडिति लुणाहि पलुत्रम्मिगमिज्वालवणुज्वलं गुमरिफेझ्झपरण्य' (?) इत्यादौ लावण्यादिशब्दसन्निधानेऽस्ति प्रतीयमानाभिव्यक्तिः; सत्यम्, सा तु न लावण्यशब्दात्। अपि तु समग्रवाक्यार्थप्रतीत्यनन्तरं ध्वननव्यापारादेव। अत्र हि प्रियतमामुखस्यैव समस्ताशाप्रकाशकत्वं ध्वन्यत इत्यलं बहुना।

विषय नहीं होते हैं, 'ध्वनि' व्यवहार उनमें नहीं होता। उपचारिता शब्द-वृत्ति गौणी है अर्थात् लाक्षणिकी। 'आदि' ग्रहण से 'आनुलोम्य, प्रातिकूल्य, सब्रह्मचारी' इत्यादि प्रकार के लाक्षणिक शब्द गृहीत होते हैं। लोकों का अनुगत अनुलोम है अर्थात् मर्दन। कूल के प्रतिपक्ष होकर स्थित स्रोत प्रतिकूल होता है। तुल्यगुरु सब्रह्मचारी। इस प्रकार मुख्य विषय है। दूसरा फिर तो उपचरित ही है। यहाँ कोई प्रयोजन को उद्देश्य करके लक्षणा प्रवृत्त नहीं है, अतः तद्विषयक ध्वननव्यापार नहीं है।

शङ्का करते हैं कि 'देवडिति' (?) इत्यादि में 'लावण्य' आदि शब्द के सन्निधान में प्रतीयमान की अभिव्यक्ति है? ठीक है, परन्तु वह (अभिव्यक्ति) 'लावण्य' शब्द से नहीं है, अपितु समग्र वाक्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर ध्वननव्यापार से ही है। यहाँ प्रियतमा के मुख का ही समस्त आशा का प्रकाशकत्व ध्वनित होता है, इस प्रकार

ध्वन्यालोकः

अपि च—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ १७ ॥

और भी,

जिस फल को उद्देश्य करके मुख्य वृत्ति को छोड़ कर गुणवृत्ति से अर्थ का ज्ञान कराया जाता है वहाँ (उस फल के बोधन में) शब्द स्खलद्गति अर्थात् बाधितार्थ नहीं है।

लोचनम्

तदाह—*प्रकारान्तरेणेति*। व्यञ्जकत्वेनैव। न तूपचरितलावण्यादिशब्दप्रयोगादित्यर्थः ॥ १६ ॥

एवं यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरिति तावन्नास्ति। तेन यदि ध्वनेर्भक्तिर्लक्षणं तदा भक्तिसन्निधौ सर्वत्र ध्वनिव्यवहारः स्यादित्यतिव्याप्तिः। अभ्युपगम्यापि ब्रूमः—भवतु यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः। तथापि यद्विषयो लक्षणाव्यापारो न तद्विषयो ध्वननव्यापारः। न च भिन्नविषययोर्धर्मधर्मिभावः, धर्म एव च लक्षणमित्युच्यते। तत्र लक्षणा तावदमुख्यार्थविषयो व्यापारः। ध्वननं च प्रयोजनविषयम्। न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाव्यापारो युक्तः, लक्षणासामग्र्यभावादित्यभिप्रायेणाह—*अपि चेत्यादि*। मुख्यां वृत्तिमभिधाव्यापारं परित्यज्य परिसमाप्य गुणवृत्त्या लक्षणारूपयार्थस्यामुख्यस्य दर्शनं प्रत्यायना, सा यत्फलं कर्मभूतं प्रयोजनरूपमुद्दिश्य क्रियते, तत्र प्रयोजने

अधिक कहना व्यर्थ है। अतः कहते हैं—प्रकारान्तर से—। व्यञ्जनाव्यापार से ही। अर्थात् न कि उपचरित लावण्य आदि शब्द के प्रयोग से (ध्वनित होता है)।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ भक्ति है वहाँ-वहाँ ध्वनि है, ऐसा नहीं। इसलिअ ध्वनि का यदि 'भक्ति' लक्षण है तब तो 'भक्ति' के समीप सर्वत्र 'ध्वनि' का व्यवहार होना चाहिए (पर नहीं होता) अत; अतिव्याप्ति (अलक्ष्य में लक्षण का संक्रमण) है। अभ्युगम करके (मान करके) भी कहते हैं—जहाँ-जहाँ 'भक्ति' है वहाँ-वहाँ 'ध्वनि' हो, तथापि लक्षणाव्यापार जिस विषय का है उस विषय का ध्वननव्यापार नहीं है। भिन्न विषय वालों का धर्मधर्मिभाव नहीं होता। और धर्म ही 'लक्षण' भी कहा जाता है। लक्षणा अमुख्यार्थविषयक व्यापार है और ध्वनन प्रयोजनविषयक व्यापार। लक्षणाव्यापार को प्रयोजनविषयक मानना ठीक नहीं' क्योंकि लक्षणा की (मुख्यार्थबाध आदि) सामग्री का अभाव है, इस अभिप्राय से कहते हैं—और भी—। मुख्य वृत्ति अर्थात् अभिधा व्यापार को छोड़कर अर्थात् परिसमाप्त कर, लक्षणारूप गुणवृत्ति से अमुख्य अर्थ की प्रत्यायना (बोधन) है, वह जिस फल या कर्मभूत प्रयोजन को उद्देश्य करके की जाती

ध्वन्यालोकः

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात्। न चैवम्; तस्मात्—

क्योंकि वहाँ चारुत्वातिशय से विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन रूप प्रयोजन के कर्त्तव्य होने पर यदि शब्द की अमुख्यता ही रह गई तो उसके प्रयोग में दुष्टता ही होगी। परन्तु ऐसा नहीं है इस कारण—

लोचनम्

तावद् द्वितीयो व्यापारः। न चासौ लक्षणैव; यतः स्खलन्ती बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवबोधनशक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो व्यापारो लक्षणा। न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः। तथाभावे तत्रापि निमित्तान्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य चान्वेषणेनानवस्थानात्। तेनायं लक्षणलक्षणाया न विषय इति भावः। दर्शनमिति ण्यन्तो निर्देशः। *कर्तव्य* इति। अवगमयितव्य इत्यर्थः। *अमुख्यतेति*। बाधकेन विधुरीकृततेत्यर्थः। *तस्येति* शब्दस्य। *दुष्टतैवेति*। प्रयोजनावगमस्य सुखसम्पत्तये हि स शब्दः प्रयुज्यते तस्मिन्नमुख्यार्थे। यदि च 'सिंहो वटुः' इति शौर्यातिशयेऽप्यवगमयितव्ये स्खलद्गतित्वं शब्दस्य तर्हि तत्प्रतीतिं नैव कुर्यादिति किमर्थं तस्य प्रयोगः। उपचारेण करिष्यतीति चेत्तत्रापि प्रयोजनान्तरमन्वेष्यं तत्राप्युपचार इत्यनवस्था। अथ न तत्र स्खलद्गतित्वं, तर्हि प्रयोजनेऽवगमयितव्ये न लक्षणाख्यो व्यापारः तत्सा-

है, उस प्रयोजन में दूसरा व्यापार है। वह लक्षणा ही नहीं है, क्योंकि स्खलित होती हुई अर्थात् बाधक व्यापार से कुण्ठित हो रही गति अर्थात् अवबोधनशक्ति जिस शब्द की है, उसका व्यापार लक्षणा है। परन्तु जो शब्द प्रयोजन का बोध कर रहा है, उसका बाधक के साथ योग नहीं है। वैसा होने पर (अर्थात् यदि बाधक को स्वीकार करते हैं तो) वहाँ भी दूसरे निमित्त या दूसरे प्रयोजन का अन्वेषण किया जायगा, ऐसी स्थिति में अनवस्था होगी। तब (जब कि बाधकयोग नहीं है) यह लक्षणलक्षणा का विषय नहीं है, यह तात्पर्य है। 'दर्शन' यह ण्यन्त निर्देश है (अर्थात् दिखाना या बोधन करना)। कर्तव्य अर्थात् अवगमयितव्य। अमुख्यता—। अर्थात् बाधक से विधुर (कुण्ठित) हो जाना। उस शब्द के। दुष्टता ही—। सुखपूर्वक प्रयोजन का अवगम हो इसलिए वह शब्द अमुख्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। और यदि 'सिंहो बटुः' यहाँ बोधनीय शौर्यातिशय में भी शब्द का स्खलद्गतित्व (बाधकयोग) है, तब तो (लक्षक शब्द) उस शौर्यातिशय की प्रतीति को नहीं उत्पन्न करेगा, ऐसी स्थिति में उसका प्रयोग ही क्योंकर होगा? यदि कहिए कि 'उपचार' से करेगा, तब तो वहाँ भी दूसरा प्रयोजन ढूँढ़ना चाहिए, फिर वहाँ भी उपचार होगा, इस प्रकार अनवस्था होगी। जब स्खलद्गतित्व (बाधकयोग) नहीं है, तब तो प्रयोजन के बोधन में 'लक्षणा' नाम का

ध्वन्यालोकः

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥ १८ ॥

तस्मादन्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्तिः । अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य ।

'वाचकत्व (अर्थात् अभिधा व्यापार) के आश्रय से ही गुणवृत्ति (या लक्षणा) व्यवस्थित है, फिर व्यञ्जकत्व (व्यञ्जनाव्यापार) जिसका एकमात्र मूल है, उस ध्वनि का वह लक्षण कैसे हो सकती है ?

इस कारण ध्वनि भिन्न है और गुणवृत्ति भिन्न है। इस लक्षण की अव्याप्ति

लोचनम्

मग्रयभावात् । न च नास्ति व्यापारः। न चासावभिधा, समयस्य तत्राभावात् । यद्व्यापारान्तरमभिधालक्षणातिरिक्तं स ध्वननव्यापारः । *न चैवमिति* । न च प्रयोगे दुष्टता काचित्, प्रयोजनस्याविघ्नेनैव प्रतीतेः । तेनाभिधैव मुख्येऽर्थे बाधकेन प्रविवित्सुर्निरुध्यमाना सती अचरितार्थत्वादन्यत्र प्रसरति । अत एव अमुख्योऽस्यायमर्थ इति व्यवहारः । तथैव चामुख्यतया संकेतग्रहणमपि तत्रास्तीत्यभिधापुच्छभूतैव लक्षणा ॥ १७ ॥

उपसंहरति—*तस्मादिति* । यतोऽभिधापुच्छभूतैव लक्षणा, ततो हेतोर्वाचकत्वमभिधाव्यापारमाश्रिता तद्बाधनेनोत्थानात्तत्पुच्छभूतत्वाच्च गुणवृत्तिः गौणलाक्षणिकप्रकार इत्यर्थः। सा कथं ध्वनेर्व्यञ्जनात्मनो लक्षणं स्यात्? भिन्नविषयत्वादिति । एतदुपसंहरति—*तस्मादिति* ।

यतोऽतिव्याप्तिरुक्ता तत्प्रसङ्गेन च भिन्नविषयत्वं तस्मादित्यर्थः । एवम्

व्यापार नहीं है, क्योंकि उसकी सामग्री बहाँ नहीं है । ऐसा नहीं कह सकते कि (वहाँ) व्यापार ही नहीं । फिर वह व्यापार अभिधा नहीं, क्योंकि 'समय' (सङ्केत) का वहाँ अभाव है । जो अभिधा और लक्षणा से अतिरिक्त व्यापार है, वह ध्वनन व्यापार है । परन्तु ऐसा नहीं—। न कि प्रयोग में कोई दोष है, क्योंकि प्रयोजन की बिना किसी विघ्न के, प्रतीति हो जाती है । इसलिए अभिधा ही मुख्य अर्थ में बाधक के कारण बोध की इच्छा रखनेवालों द्वारा रोक दी गई होकर अचरितार्थं होने के कारण अन्यत्र (दूसरे अर्थ में) फैलती है । इसलिए 'यह इसका मुख्य अर्थ है' यह व्यवहार चलता है । उसी प्रकार अमुख्यरूप से संकेत ग्रहण भी वहाँ है, इस प्रकार लक्षणा अभिधा की पुच्छभूत ही है ।

उपसंहार करते हैं—इस कारण से—। जिस कारण लक्षणा अभिधा की पुच्छभूत ही है, उस कारण वाचकत्वरूप अभिधाव्यापार पर आश्रित, उसके (अभिधा को) पुच्छभूत होने के कारण गुणवृत्ति अर्थात् गौण-लाक्षणिक प्रकार है। वह (गुणवृत्ति) व्यञ्जनारूप 'ध्वनि' का लक्षण कैसे हो सकती है ? क्योंकि (उसका) विषय भिन्न है। इसका उपसंहार करते हैं—उस कारण—। अर्थात् जिस कारण अतिव्याप्ति कही गई

लोचनम्

'अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया' इति कारिकागतामतिव्याप्तिं व्याख्यायाव्याप्तिं व्याचष्टे—*अव्याप्तिरप्यस्येति*। अस्य गुणवृत्तिरूपस्येत्यर्थः। यत्र यत्र ध्वनिस्तत्र तत्र यदि भक्तिर्भवेन्न स्यादव्याप्तिः। न चैवम्; अविवक्षितवाच्येऽस्ति भक्तिः 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादौ। 'शिखरिणि' इत्यादौ तु सा कथम्। ननु लक्षणा तावद्गौणमपि व्याप्नोति। केवलं शब्दस्तमर्थं लक्षयित्वा तेनैव सह सामानाधिकरण्यं भजते-'सिंहो बटुः' इति। अर्थो वाऽर्थान्तरं लक्षयित्वा स्ववाचकेन तद्वाचकं समानाधिकरणं करोति। शब्दार्थौ वा युगपत्तं लक्षयित्वा अन्याभ्यामेव शब्दार्थाभ्यां मिश्रीभवत इत्येवं लाक्षणिकाद् गौणस्य भेदः। यदाह—'गौणे शब्दप्रयोगः, न लक्षणायाम्' इति, तत्रापि लक्षणास्त्येवेति सर्वत्र सैव व्यापिका। सा च पञ्चविधा। तद्यथा—अभिधेयेन संयोगात्; द्विरेफशब्दस्य हि योऽभिधेयो भ्रमरशब्दः द्वौ रेफौ यस्येति कृत्वा तेन भ्रमरशब्देन यस्य संयोगः सम्बन्धः षट्पदलक्षणस्यार्थस्य सोऽर्थो द्विरेफशब्देन लक्ष्यते, अभिधेयसम्बन्धं व्याख्यातरूपं निमित्तीकृत्य। सामीप्यात् 'गङ्गायां घोषः' समवायादिति सम्बन्धा-

और उसके प्रसंग से (गुणवृत्ति और ध्वनि का) भिन्न-विषयत्व है उस कारण। इस प्रकार 'अतिव्याप्ति' और अव्याप्ति के कारण वह ध्वनि उस (भक्ति) से लक्षित नहीं हो सकता (अर्थात् 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती)' इस 'कारिका' में आई हुई अतिव्याप्ति का व्याख्यान करके अव्याप्ति (लक्ष्य में लक्षण की अप्राप्ति) का व्याख्यान करते हैं—अव्याप्ति भी इसका—। इसका अर्थात् गुणवृत्तिरूप (लक्षण) का जहाँ-जहाँ 'ध्वनि' है वहाँ-वहाँ 'भक्ति' हो तो अव्याप्ति न हो। पर ऐसा नहीं है; अविवक्षितवाच्य में 'भक्ति' है; जैसे 'सुवर्णपुष्पाम्०' इत्यादि में। 'शिखरिणि०' इत्यादि में वह कैसे है ? शङ्का है कि लक्षणा गौण स्थल को भी व्याप्त करती है। केवल ('सिंह') आदि शब्द उस ('बटु' आदि) अर्थ को लक्षित करके उसी ('बटु' आदि शब्द) के साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त करता है। अथवा, ('सिंह' आदि) अर्थ ('बटु' आदि) अर्थान्तर को लक्षित करके अपने वाचक से उसके वाचक को समानाधिकरण कर देता है। अथवा शब्द और अर्थ दोनों एक ही काल में उस 'बटु' आदि अर्थ को लक्षित करके दूसरे शब्द और अर्थ के साथ मिल जाते हैं। इस प्रकार लाक्षणिक से गौण का भेद है। जैसा कि कहते हैं—'गौण में शब्दप्रयोग होता है, लक्षणा में नहीं।' उस (गौण स्थल) में भी लक्षणा है ही, इस प्रकार वही सर्वत्र व्याप्त रहनेवाली है। वह पाँच प्रकार की है, वह जैसे कि, अभिधेय के साथ संयोग होने से; 'द्विरेफ' शब्द का जो अभिधेय 'भ्रमर' शब्द है ('दो रेफ हैं जिसके' इसके अनुसार) उस 'भ्रमर' शब्द के साथ जिसका संयोग अर्थात् सम्बन्ध (वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध) 'षट्पद' रूप अर्थ का है, वह अर्थ व्याख्यात अभिधेय सम्बन्ध को निमित्त करके द्विरेफ' शब्द द्वारा लक्षित होता है। सामीप्य से; जैसे 'गङ्गा में घोष है'। समवाय

ध्वन्यालोकः

न हि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः। अन्ये च बहवः प्रकारा भक्त्या व्याप्यन्त; तस्माद्भक्तिरलक्षणम् ॥ १८ ॥

(अपने लक्ष्य में न संगत होना) भी है, क्योंकि विवक्षितान्यपरवाच्य रूप (अभिधामूल) ध्वनि का प्रभेद और अन्य बहुत से (ध्वनि के) प्रकार भक्ति (लक्षणा) से व्याप्त नहीं हैं, अतः भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं है ॥ १८ ॥

लोचनम्

दित्यर्थः, 'यष्टीः प्रवेशय' इति यथा। वैपरीत्यात् यथा—शत्रुमुद्दिश्य कश्चिद् ब्रवीति—'किमिवोपकृतं न तेन मम' इति। क्रियायोगादिति कार्यकारणभावादित्यर्थः। यथा–अन्नापहारिणि व्यवहारः प्राणानयं हरति इति। एवमनया लक्षणया पञ्चविधया विश्वमेव व्याप्तम्। तथाहि—'शिखरिणि' इत्यत्राकस्मिकप्रश्नविशेषादिबाधकानुप्रवेशे सादृश्याल्लक्षणास्त्येव। नन्वत्राङ्गीकृतैव मध्ये लक्षणा, कथं तर्ह्युक्तं विवक्षितान्यपरेति ? तद्भेदोऽत्र मुख्योऽसंलक्ष्यक्रमात्मा विवक्षितः। तद्भेदशब्देन च रसभावतदाभासतत्प्रशमभेदास्तदवान्तरभेदाश्च, न च तेषु लक्षणाया उपपत्तिः। तथाहि–विभावानुभावप्रतिपादके काव्ये मुख्येऽर्थे तावद्बाधकानुप्रवेशोऽप्यसम्भाव्य इति को लक्षणावकाशः ?

ननु किं बाधया, इयदेव लक्षणास्वरूपम्—'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।' इति। इह चाभिधेयानां विभावानुभावादीनामविनाभूता रसादय इति लक्ष्यन्ते, विभावानुभावयोः कारणकार्यरूपत्वात्, व्यभिचारिणां च तत्सह-

अर्थात् सम्बन्ध से, जैसे 'लाठियों को प्रवेश करो।' वैपरीत्य से, जैसे—शत्रु को उद्देश्य करके कोई कहता है 'क्या नहीं उसने मेरा उपकार किया है!' क्रियायोग से अर्थात् कार्यकारणभाव से; जैसे—अन्न को चुरानेवाले के प्रति यह व्यवहार करते हैं कि 'यह प्राणहरण करता है'। इस प्रकार इस पंचविध लक्षणा से सारा विश्व ही व्याप्त हो जाता है। जैसा कि 'शिखरिणि०' इस स्थल में आकस्मिक प्रश्न-विशेष आदि बाधक का योग करने पर (भी) सादृश्य से लक्षणा है ही। (इस पर पूछते हैं कि) अगर यहाँ मध्य में लक्षणा मान भी लिया तो यह कहिए कैसे फिर 'विवक्षितान्यपर' ऐसा कहा है (क्योंकि लक्षणा के होने पर वाच्य का विवक्षित होना सम्भव नहीं)। उस विवक्षितान्यपरवाच्य का मुख्य भेद असंलक्ष्यक्रमरूप विवक्षित है। 'तद्भेद' शब्द से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम आदि उसके अवान्तरभेद भी हैं, उनमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं है। इस प्रकार—विभावानुभाव का प्रतिपादन करनेवाले काव्य में मुख्य अर्थ में बाधक का योग भी सम्भावनीय नहीं, ऐसी स्थिति में लक्षणा का अवसर ही क्या है ?

शङ्का है कि बाधा की क्या जरूरत ? लक्षणा का इतना ही स्वरूप है—'अभिधेय के साथ अविनाभूत की (अर्थात् किसी भी सम्बन्ध से सम्बद्ध की) प्रतीति (या प्रतीति का हेतु) लक्षणा है।' और यहाँ रसादि विभाव-अनुभाव आदि अभिधेयों के अविनाभूत

लोचनम्

कारित्वादिति चेत्—मैवम् ; धूमशब्दाद् धूमे प्रतिपन्ने ह्यग्निस्मृतिरपि लक्षणाकृतैव स्यात्, ततोऽग्नेः शीतापनोदस्मृतिरित्यादिरपर्यवसितः शब्दार्थः स्यात्। धूमशब्दस्य स्वार्थविश्रान्तत्वान्न तावति व्यापार इति चेत्, आयातं तर्हि मुख्यार्थबाधो लक्षणाया जीवितमिति, सति तस्मिन्स्वार्थविश्रान्त्यभावात्। न च विभावादिप्रतिपादने बाधकं किञ्चिदस्ति।

नन्वेवं धूमावगमनानन्तराग्निस्मरणवद्विभावादिप्रतिपत्त्यनन्तरं रत्यादिचित्तवृत्तिप्रतिपत्तिरिति शब्दव्यापार एवात्र नास्ति। इदं तावदयं प्रतीतिस्वरूपज्ञो मीमांसकः प्रष्टव्यः—किमत्र परचित्तवृत्तिमात्रे प्रतिपत्तिरेव रसप्रतिपत्तिरभिमता भवतः? न चैवं भ्रमितव्यम्; एवं हि लोकगतचित्तवृत्त्यनुमानमात्रमिति का रसता? यस्त्वलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः काव्यगतविभावादिचर्वणाप्राणो नासौ स्मरणानुमानादिसाम्येन खिलीकारपात्रीकर्तव्यः। किं तु लौकिकेन कार्यकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमान एव न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते, अपि तु हृदयसंवादापरपर्यायसहृदयत्वपरवशीकृततया

हैं अतः लक्षित होते हैं, क्योंकि रसादि के विभाव और अनुभाव क्रमशः कारण एवं कार्य हैं, और व्यभिचारी भाव उस रसादि के सहकारी हैं। (इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—) इस प्रकार नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में 'धूम' शब्द से धूम के ज्ञात होने पर अग्नि की स्मृति भी लक्षणाकृत होने लगेगी, तब अग्नि के द्वारा शीतापनोद की स्मृति होने लगेगी, इस प्रकार ('धूम') शब्द का अर्थ पर्यवसित (विश्रान्त) नहीं होगा। यदि कहिए कि 'धूम' शब्द के अपने अर्थ (धूमत्व या धूमविशिष्ट अर्थ) में विश्रान्त होने के कारण अग्नि आदि के अर्थ में व्यापार नहीं है, तब तो मुख्यार्थबाध लक्षणा का जीवित है, यह बात आ गई, उस (मुख्यार्थबाध) के रहते अपने अर्थ में विश्रान्ति नहीं हो सकती। और विभाव आदि के प्रतिपादन में कोई बाधक नहीं है।

शङ्का है कि जिस प्रकार धूम के ज्ञान के पश्चात् अग्नि का स्मरण होता है उसी प्रकार विभाव आदि की प्रतीति के पश्चात् रत्यादि चित्तवृत्ति की प्रतीति होती है, इस प्रकार यहाँ शब्द का व्यापार ही नहीं है। (इस शंका पर) प्रतीति के इस स्वरूप को जानने वाले मीमांसक (विचारक) से यह पूछना चाहिये—क्या यहाँ आपको दूसरे की चित्तवृत्ति मात्र (के सम्बन्ध) में जो प्रतीति होती है वही इसकी प्रतीति के रूप में आपको अभिमत है? परन्तु इस प्रकार आपको भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये, क्योंकि ऐसी स्थिति में लोकगत चित्तवृत्ति का (यह) अनुमानमात्र है, रसता कैसी? जो कि अलौकिक चमत्कार रूप रसास्वाद, जिसका प्राण विभाव आदि की चर्वणा है, वह स्मरणजनित अनुमान के समान खिलीकार (असम्मान) का पात्र करना नहीं चाहिये। किन्तु लौकिक कार्य और कारण के अनुमान आदि से संस्कृत हृदय वाला व्यक्ति विभावादि को (काव्य या नाट्य से) अवगत करता हुआ तटस्थभाव से (अर्थात् ये दूसरे के हैं मेरे नहीं, इस भाव से) अवगम नहीं करता। अपितु हृदय-संवाद नामक

* could it be अनुभावनम्

लोचनम्

पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मरणादिसरणिमनारुह्यैव तन्मयीभवनोचितचर्वणाप्राणतया। न चासौ चर्वणा प्रमाणान्तरतो जाता पूर्वं, येनेदानीं स्मृतिः स्यात्। न चाधुना कुतश्चित्प्रमाणान्तरादुत्पन्ना, अलौकिके प्रत्यक्षाद्यव्यापारात्। अत एवालौकिक एव विभावादिव्यवहारः। यदाह—'विभावो विज्ञानार्थः लोके कारणमेवाभिधीयते न विभावः। अनुभावोऽप्यलौकिक एव। 'यदयमनुभावयति वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनयस्तस्मादनुभाव' इति। तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेव ह्यनुभवनम्। लोके तु कार्यमेवोच्यते नानुभावः। अत एव परकीया न चित्तवृत्तिर्गम्यत इत्यभिप्रायेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। स्थायिनस्तु रसीभाव औचित्यादुच्यते, तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिसंस्कारसुन्दरचर्वणोदयात्। हृदयसंवादोपयोगिलोकचित्तवृत्तिपरिज्ञानावस्थायामुद्यानपुलकादिभिः स्थायिभूतरत्याद्यवमगाच्च। व्यभिचारी तु चित्तवृत्त्यात्मत्वेऽपि मुख्यचित्तवृत्तिपरवश एव चर्व्यत इति विभावानुभावमध्ये गणितः। अत एव रस्यमानताया एषैव निष्पत्तिः, यत्प्रबन्धप्रवृत्त-

सहृदयत्व के परवश होने के कारण पूर्णता को प्राप्त करने वाले रसास्वाद के अंकुरीभाव से, अनुमान और स्मरण आदि की सरणि पर आरूढ़ हुये बिना ही, तन्मय होने के उचित चर्वणा के उपयोग से (विभावादि को अवगत करता है)। पहले वह 'चर्वणा' प्रमाणान्तर से उत्पन्न नहीं हो चुकी होती है, जिससे इस समय उसे 'स्मृति' कहते, और न कि इस समय प्रमाणान्तर से उत्पन्न हो रही है, क्योंकि अलौकिक वस्तु में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का व्यवहार नहीं होता। जैसा कि कहा है—विभाव विशेष ज्ञान की वस्तु है—वह लोक में 'कारण' ही कहा जाता है, विभाव नहीं। अनुभाव भी अलौकिक ही होता है। जो कि यह वाणी, अङ्ग और सत्त्व से किया हुआ अभिनय अनुभवन कराता है, उस कारण अनुभाव है।' उन चित्तवृत्तियों से तन्मय हो जाना ही अनुभवन है। उसे लोक में कार्य ही कहते हैं, न कि अनुभाव। इसीलिये परकीय चित्तवृत्ति को (सामाजिक लोग) नहीं अनुभव करते, इस अभिप्राय से 'विभाव' अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है' इस सूत्र में स्थायी का ग्रहण नहीं किया। उसका ग्रहण प्रत्युत शल्यभूत (विरुद्ध) हो जाता। स्थायी भाव का रसीभाव (रस के रूप में परिणत होना) औचित्य के कारण कहा जाता है, क्योंकि वह (औचित्य) विभाव, अनुभाव और उचित चित्तवृत्ति के संस्कार से सुन्दर चर्वणा के उदय से होता है। और हृदय-संवाद की उपयोगिनी लोक-चित्तवृत्ति के परिज्ञान की अवस्था में उद्यान और पुलक आदि द्वारा स्थायीभूत रति आदि के अवगम से (औचित्य) होता है। चित्तवृत्ति रूप होने पर भी व्यभिचारी मुख्य चित्तवृत्ति के परवश ही होकर चर्वित होता है, अतः उसकी गणना विभाव-अनुभाव के बीच ही की गई है। अतएव रस्यमानता की यही निष्पत्ति है कि जो समय से प्रवृत्त बन्धु-समागम आदि कारण से

लोचनम्

बन्धुसमागमादिकारणोदितहर्षादिलौकिकचित्तवृत्तिन्यग्भावेन चर्वणारूपत्वम्। अतश्चर्वणात्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनम्, प्रमाणव्यापारवत्। नाप्युत्पादनम्, हेतुव्यापारवत्।

ननु यदि नेयं ज्ञप्तिर्न वा निष्पत्तिः, तर्हि किमेतत् ? न न्वयमसावलौकिको रसः। ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापको हेतुः, उत कारकः ? न ज्ञापको न कारकः, अपि तु चर्वणोपयोगी। ननु क्वैतद् दृष्टमन्यत्र। यत एव न दृष्टं तत एवालौकिकमित्युक्तम्। नन्वेवं रसोऽप्रमाणं स्यात्; अस्तु, किं ततः ? तच्चर्वणात एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः किमन्यदर्थनीयम्। नन्वप्रमाणकमेतत्; न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। ज्ञानविशेषस्यैव चर्वणात्मत्वात् इत्यलं बहुना। अतश्च रसोऽयमलौकिकः। येन ललितपरुषानुप्रासस्यार्थाभिधानानुपयोगिनोऽपि रसं प्रति व्यञ्जकत्वम्; का तत्र लक्षणायाः शङ्कापि ? काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा दृश्यते। दृश्यते हि तदेव काव्यं पुनः पुनः पठंश्चर्व्यमाणश्च सहृदयो लोकः, न तु काव्यस्य; तत्र 'उपादायापि ये हेया' इति न्यायेन कृतप्रतीतिकस्यानुपयोग एवेति शब्दस्यापीह ध्वननव्यापारः। अत एवालक्ष्यक्रमता।

उत्पन्न हर्ष आदि लौकिक चित्तवृत्ति के न्यग्भाव से चर्वणा की स्थिति है। इसलिये चर्वणा यहाँ अभिव्यंजन ही है न कि ज्ञापन, (इन्द्रिय आदि) प्रमाणों के व्यापार की भाँति, और (चर्वणा) उत्पादन रूप (व्यापार) भी नहीं है, (दण्ड, चक्र आदि) हेतु के व्यापार की भांति।

शङ्का है कि यदि यह (रसचर्वणा) न ज्ञप्ति है और न तो निष्पत्ति है, तो फिर है क्या ? (उत्तर में कहते हैं कि) रस तो अलौकिक है। तब जब प्रश्न उठता है कि विभावादि यहाँ ज्ञापक हेतु है अथवा कारक हेतु ? (इसका उत्तर यह है कि) वह न तो ज्ञापक हेतु है और न तो कारक, बल्कि वह चर्वणा का उपयोगी है। (तब प्रश्न है कि) यह कहाँ देखा है ? (इसका उत्तर यह है कि) जिस कारण नहीं देखा उसी कारण 'अलौकिक' कहा। तब तो इस प्रकार रस अप्रमाण होगा ! (उत्तर है कि) हो, उससे क्या ? जब उसकी चर्वणा से ही प्रीति और व्युत्पत्ति सिद्ध हो जाती हैं तो और क्या चाहिये ? (शङ्का है कि) इस कथन का कोई प्रमाण नहीं, (समाधान है) कि नहीं, यह बात अपने संवेदन से सिद्ध है, क्योंकि चर्वणा ज्ञानविशेष रूप ही है। अब बहुत कहना व्यर्थ है। इसलिये यह रस आलौकिक है। जिस कारण अर्थ के अभिधान के उपयोगी न होने वाले ललित एवं परुष अनुप्रास का भी रस के प्रति व्यंजकत्व है फिर लक्षणा की शंका भी कैसे सम्भव है। काव्यात्मक शब्द के निष्पीडन से ही रस की चर्वणा देखी जाती है। क्योंकि सहृदय को बार-बार काव्य पढ़ते हुये और चर्वणा करते हुये देखते हैं, न कि काव्य रूप शब्द का (चर्वण करते हुये देखते हैं); इस प्रकार वहाँ 'उपादान करके भी जो त्याज्य हैं' इस न्याय के अनुसार जिसकी प्रतीति कर ली गई उसका उपयोग ही नहीं, इसलिये शब्द का भी 'ध्वनन' व्यापार

लोचनम्

यत्तु वाक्यभेदः स्यादिति केनचिदुक्तम्, तदनभिज्ञतया। शास्त्रं हि सकृदुच्चारितं समयबलेनार्थं प्रतिपादयद्युगपद्विरुद्धानेकसमयस्मृत्ययोगात्कथमर्थद्वयं प्रत्याययेत्। अविरुद्धत्वे वा तावानेको वाक्यार्थः स्यात्। क्रमेणापि विरम्य-व्यापारायोगः। पुनरुच्चारितेऽपि वाक्ये स एव, समयप्रकरणादेस्तादवस्थ्यात्। प्रकरणसमयप्राप्यार्थतिरस्कारेणार्थान्तरप्रत्यायकत्वे नियमाभाव इति तेन 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति श्रुतौ 'खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमे'ति प्रसज्यते। तत्रापि न काचिदियत्तेत्यनाश्वासता इत्येवं वाक्यभेदो दूषणम्। इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणाविषयतोन्मुखमिति समयाद्युपयोगाभावः। न च नियुक्तोऽहमत्र करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीयप्रतीतिसदृशमदः। तत्रोत्तरकर्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात्। इह तु विभावादिचर्वणाद्भुतपुष्पवत्तत्कालसारैवोदिता न तु पूर्वापरकालानुबन्धिनीति लौकिकादास्वादाद्योगिविषयाच्चान्य एवायं रसास्वादः। अत एव 'शिखरिणि' इत्यादावपि मुख्यार्थबाधादिक्रममनपेक्ष्यैव सहृदया वक्त्रभिप्रायं चाटुप्रीत्यात्मकं संवेदयन्ते।

है। अतएव उसकी अलक्ष्यक्रमता है। जो कि वाक्यभेद होगा (अर्थात् एक ही काव्य-वाक्य के वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थों के बोधक होने के कारण वाक्यभेद होगा) यह किसी ने कहा है, वह अनभिज्ञता के कारण है, क्योंकि शास्त्र एक बार उच्चरित होकर समय (संकेत) के बल से अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ एक ही काल में विरुद्ध अनेक संकेतों की स्मृति के न होने के कारण कैसे दो अर्थों का प्रत्यायन करेगा! अविरुद्ध होने पर उतना एक ही वाक्यार्थ होगा। क्रम से भी, एक व्यापार के विरत हो जाने के पश्चात् व्यापार नहीं होता। यदि पुनः वाक्य का उच्चारण कीजिएगा तब भी वही समय (संकेत) और प्रकरण आदि उसी प्रकार बने रहेंगे। प्रकरण और समय (संकेत) से प्राप्त होनेवाले अर्थ को तिरस्कार करके दूसरे अर्थ के प्रत्यायक (बोधक) होने में कोई नियम नहीं है। इस कारण 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वेदवाक्य में 'श्वमांस का भक्षण करे' यह अर्थ नहीं है, यहाँ कौन प्रमा है यह बात प्रसक्त होगी। वहाँ दूसरे अर्थ में भी कोई इयत्ता नहीं है, इस प्रकार (अनिश्चितार्थक होने के कारण वाक्य में बोधकता नहीं, इस प्रकार) वाक्यभेद दोष ठहरता है। यहाँ (काव्य में) विभावादि ही प्रतिपाद्यमान होकर चर्वणा के विषय होने के लिए उन्मुख हैं, ऐसी स्थिति में संकेत आदि का कोई उपयोग नहीं। 'मैं इसमें नियुक्त हूँ', 'मैं कर रहा हूँ', 'मैं कर चुका' इस प्रकार की शास्त्रीय प्रतीति के समान काव्यजन्य प्रतीति नहीं है, क्योंकि शास्त्रीय प्रतीति में उत्तरकाल में जो कर्त्तव्य है उसके प्रति उन्मुखता होने के कारण लौकिकता है। परन्तु यहाँ (काव्य में) ऐन्द्रजालिक पुष्प की भाँति विभावादि चर्वणा उसी समय ही पूर्णरूप से उदित होती है, न कि पूर्वापरकाल की अनुबन्धिनी है, इस प्रकार यह रसास्वाद लौकिक आस्वाद से और योगी के विषय से दूसरा ही है। इसीलिए 'शिखरिणि०' इत्यादि पद्य में भी मुख्यार्थ के बाध आदि की

लोचनम्

अत एव ग्रन्थकारः सामान्येन विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ भक्तेरभावमभ्यधात्। अस्माभिस्तु दुर्दुरूटं प्रत्याययितुमुक्तम्—भवत्वत्र लक्षणा, अलक्ष्यक्रमे तु कुपितोऽपि किं करिष्यसीति। यदि तु न कुप्यते 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादावविवक्षितवाच्येऽपि मुख्यार्थबाधादिलक्षणासामग्रीमनपेक्ष्यैव व्यङ्ग्यार्थविश्रान्तिरित्यलं बहुना। उपसंहरति—*तस्माद्भक्तिरिति* ॥ १८ ॥

अपेक्षा न करके ही सहृदय लोग चाटुप्रीतिरूप वक्ता के अभिप्राय को समझते हैं। अतएव ग्रन्थकार ने सामान्यरूप से विवक्षितान्यपरवाच्य[१] ध्वनि में भक्ति का अभाव कहा है। हमने तो नास्तिकता की वाणी के ग्रह से ग्रस्त व्यक्ति को समझाने के लिए कहा है—'हो यहाँ लक्षणा, परन्तु अलक्ष्यक्रमध्वनि में कुपित होकर भी क्या करोगे? यदि कुपित नहीं होते हो तो 'सुवर्णपुष्पाम्०' इत्यादि अविवक्षितवाच्य ध्वनि में भी मुख्यार्थबाध आदि लक्षणा की सामग्री की अपेक्षा न करके ही व्यङ्ग्य अर्थ की विश्रान्ति हो जाती है। बहुत कहना व्यर्थ है। उपसंहार करते हैं—**इसलिए भक्ति—।**

---

१. विस्तृत 'लोचन' का कुछ स्पष्टीकरण यह है कि लक्षणा का वही विषय हो सकता है जहाँ किसी प्रकार का बाधक उपस्थित होता है। जैसे 'गङ्गा में घोष' इस स्थल में गङ्गा और घोष में आधाराधेयभाव की अनुपपत्तिरूप बाधक का योग है अतः यहाँ लक्षणा व्यापार क्रियाशील होता है। अब यदि चतुर्थ व्यञ्जना व्यापार के विषय प्रयोजन को भी तृतीय लक्षणा व्यापार का विषय बनाने की चेष्टा करते हैं तो कहिए कि यहाँ बाधक का योग या स्खलद्गति क्या है? स्वयं 'प्रयोजन' शब्द ही इस बात का सूचक है कि यहाँ कोई बाधा नहीं, क्यों कि जिस उद्देश्य को सूचित करने के लिए कोई बाधित बात कही जाय तो स्वयं उद्देश्य कैसे बाधक-योग से युक्त होगा? किसी प्रकार यदि 'प्रयोजन' में भी लक्षणा को ही मानते हैं तब प्रयोजन के प्रयोजन की बात उपस्थित होती है, इस प्रकार अनवस्था होगी अतः 'प्रयोजन' को एक मात्र व्यञ्जना का ही विषय मानना होगा, न कि लक्षणा का। यह विषय 'काव्यप्रकाश' में भी निर्दिष्ट है।

लक्षणा को अभिधा का 'पुच्छभूत' कहा है। क्योंकि जब अभिधा मुख्य अर्थ में बाधक से रोक दी जाती है तब स्वयं एक प्रकार से अचरितार्थ होकर अन्य अर्थ की ओर चल पड़ती है। इस प्रकार लक्षणा उपस्थित होकर अमुख्य अर्थ को बोधित करती है। वहाँ भी अमुख्य रूप से संकेत ग्रहण होता है। ऐसी स्थिति में बिना अभिधा के लक्षणा का कोई अवसर ही नहीं, इस कारण लक्षणा अभिधापुच्छभूत कही जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि जब लक्षणा अभिधा की पूंछ बन कर रहती है तब वह व्यञ्जन रूप ध्वनि का मुकाबला क्या कर सकती है? अतः लक्षणा (भक्ति) को ध्वनि का लक्षण नहीं माना जा सकता। ध्वनि का विषय भिन्न होता है और लक्षणा का भिन्न। इस प्रकार लक्ष्य से अतिरिक्त स्थल में भी लक्षण की प्राप्तिरूप अतिव्याप्ति दोष ध्वनि का लक्षण 'भक्ति' को मानने पर होगा। तथा ऐसा करने पर लक्ष्य में अप्राप्तिरूप अव्याप्ति भी होगी। जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य रूप ध्वनि में लक्षणा का प्रसंग न होने के कारण ध्वनि का 'भक्ति' रूप लक्षण अव्याप्त होगा।

पुनश्च, 'लोचन' में लक्षणा के इन पाँच रूपों का निर्देश आचार्य ने उदाहरण के साथ किया है—

ध्वन्यालोकः

कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ।

वह ध्वनि के किसी भेद का उपलक्षण हो सकती है ।

लोचनम्

ननु मा भूद् ध्वनिरिति भक्तिरिति चैकं रूपम्। मा च भूद्भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणम्। उपलक्षणं तु भविष्यति; यत्र ध्वनिर्भवति, तत्र भक्तिरप्यस्तीति भक्त्युपलक्षितो ध्वनिः। न तावदेतत्सर्वत्रास्ति, इयता च किं परस्य सिद्धं ? किं वा नः त्रुटितम् ?

शङ्का है कि ध्वनि और भक्ति दोनों एकरूप न हों और 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण भी न हो, परन्तु उपलक्षण तो होगी ? जहाँ ध्वनि है वहाँ भक्ति भी है, इस प्रकार ध्वनि भक्ति से उपलक्षित है। (इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि) यह (उपलक्षण)

अभिधेयेन सामीप्यात् संयोगात्समवायतः ।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षगा पञ्चधा मता ॥

इस प्रकार 'शिखरिणि०' इस श्लोक में आकस्मिक प्रश्न-विशेष आदि रूप बाधक को लेकर सादृश्य से लक्षणा होगी, ऐसी स्थिति में लक्षणा या भक्ति को विवक्षितान्यपरवाच्य रूप में ध्वनि के स्थल में भी व्याप्त होने पर अव्याप्ति न होगी। इस पर 'लोचनकार' ने विशेष रूप से अन्त में यह कहा है कि यहाँ यद्यपि मुख्यार्थ का बाध सम्भव है किन्तु सहृदय को उसकी अपेक्षा ही नहीं होती, बल्कि वे लोग यहाँ वक्ता के—चाटु प्रीति रूप अभिप्राय को ही यहाँ विदित करते हैं। अतः यहाँ लक्षणा के प्रसंग की कल्पना अनावश्यक है। अस्ल में ध्वनि के जिस स्थल में लक्षणा का कोई सम्पर्क सम्भावित नहीं, वह है असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, अर्थात् रसादि ध्वनि। काव्य द्वारा विभावानुभाव का जो प्रतिपादन होता है वहाँ रंचमात्र भी बाधक का अनुप्रवेश नहीं। ऐसी स्थिति में 'भक्ति' रूप लक्षण अपने लक्ष्य में प्राप्त न होने से अव्याप्त होगा।

तब मीमांसक-पक्ष से शङ्का करते हैं, कि हमें 'लक्षणा' पूर्वोक्त स्वरूप की मान्य नहीं, बल्कि, लक्षणा अभिधेय की अविनाभूतप्रतीति है। अर्थात् अभिधेय के साथ किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध की प्रतीति ही लक्षणा है। इस प्रकार अभिधेय रूप विभाव-अनुभाव के अविनाभूत रसादि लक्षणा का विषय होंगे। फिर यह समस्या नहीं जाती है कि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में लक्षणा की प्राप्ति नहीं है।

उसके उत्तर में आचार्य ने पहले 'लक्षणा' के इस लक्षण का ही खण्डन किया। उनके अनुसार जब अभिधेय की अविनाभूतप्रतीति ही लक्षणा होगी तब तो 'धूम' शब्द से धूम के ज्ञान होने पर उससे अविनाभूत अग्निस्मृति को भी आप लक्षणा का कार्य ही स्वीकार करेंगे और तत्पश्चात् अग्नि से शीतापनोदन की स्मृति को भी 'धूम' का शब्दार्थ मानेंगे, इस प्रकार इतने शब्दार्थों की कल्पना करनी पड़ेगी कि जिसका कोई अन्त नहीं। अन्ततोगत्वा आपको मुख्यार्थ बाध को लक्षणा का बीज मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार विभाव आदि में बाधक का अभाव होने से लक्षणा का सम्पर्क नहीं है, यह बात तदवस्थ रहती है।

ध्वन्यालोकः

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत; यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः। किं च

वह भक्ति वक्ष्यमाण प्रभेदों में से किसी एक भेद के यदि उपलक्षण रूप से सम्भावित हो सके; और यदि 'गुणवृत्ति से ही ध्वनि लक्षित होता है' यह कहते हैं तो अभिधा व्यापार से ही समग्र अलङ्कार वर्ग लक्षित हो सकता है, ऐसी स्थिति में अलग-अलग अलङ्कारों का लक्षण करना व्यर्थ होगा। और भी,

लोचनम्

इति तदाह—*कस्यचिदित्यादि*। ननु भक्तिस्तावच्चिरन्तनैरुक्ता, तदुपलक्षणमुखेन च ध्वनिमपि समग्रभेदं लक्षयिष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च। किं तल्लक्षणेनेत्याशङ्क्याह—*यदि चेति*। अभिधानाभिधेयभावो ह्यलङ्काराणां व्यापकः; ततश्चाभि-

सर्वत्र नहीं है, इतने से (अर्थात् भक्ति के उपलक्षणमात्र हो जाने से) भक्तिवादी का क्या मतलब सिद्ध हो गया? और हमारा क्या बिगड़ गया? इसी को कहते हैं—वह ध्वनि के इत्यादि। फिर शङ्का करते हैं कि भक्ति को प्राचीनों ने कहा है, उसके उपलक्षणरूप से समग्र भेदसहित ध्वनि को भी लक्षित करेंगे और ज्ञान करेंगे। अतः उस (ध्वनि) के लक्षण से क्या? यह आशङ्का करके कहते हैं—और यदि—। अलङ्कारों का

इस प्रकार अपनी बात के कट जाने से चिढ़ कर मीमांसक यह कह उठता है कि रत्यादि चित्तवृत्ति के ज्ञान में हम शब्द-व्यापार को ही नहीं मानते, बल्कि जिस प्रकार धूम के ज्ञान से अग्नि का स्मरण करते हैं उसी प्रकार विभावादि की प्रतीति के पश्चात् रसादि चित्तवृत्ति की प्रतीति होती है।

इस पर लोचनकार का कहना है कि तब तो परचित्तवृत्तिज्ञान ही रस का ज्ञान आप स्वीकार करते हैं। किन्तु यह तो दूसरे की चित्तवृत्ति का अनुमान मात्र है इसमें रसत्व कैसा? बल्कि काव्यगत विभावादि की चर्वणा के कारण जो अलौकिक चमत्काररूप रसास्वाद है उसे स्मरण और अनुमान आदि की कोटि में लाकर हीन बनाना ठीक नहीं। रस की अनुभूति के लिए अनुमान और स्मरण आदि की कोई कैद नहीं है। केवल दर्शक दृश्यमान के साथ हृदयसंवाद का अनुभव करता हुआ चर्वणा के बल से बिलकुल तन्मय हो जाता है और तब उसे पता नहीं रहता कि वह किसी भिन्न या तटस्थ व्यक्ति के सुख से सुखी या दुःख से दुःखी हो रहा है। यही रसभूमि की अलौकिकता है। यहाँ दुःख का भी आनन्द के रूप में ही अनुभव होता है। इस प्रकार आलङ्कारिक आचार्यों ने 'चर्वणा' को रस की अनुभूति के लिए अनिवार्य माना है, बल्कि यहाँ तक वे लोग कहते हैं कि चर्वणा और रसानुभूति में कोई अन्तर नहीं होता। अब यदि कोई कहे कि 'चर्वणा' किसी प्रभाव से उत्पन्न होती है तब यही उत्तर है कि वह अलौकिक है अतः वहाँ लौकिक प्रत्यक्ष

ध्वन्यालोकः

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥ १९ ॥

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः; यस्माद् ध्वनिरस्तीति नः पक्षः। स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्नसम्पन्न-

अगर दूसरे लोगों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो हमारे पक्ष की सिद्धि ही होती है ॥ १९ ॥

पहले ही दूसरों द्वारा ध्वनि के लक्षण कर दिए जाने पर हमारे पक्ष की सिद्धि ही है, क्योंकि 'ध्वनि है' यह हमारा पक्ष है, और वह पहले से ही सिद्ध हो चुका, इस

लोचनम्

धावृत्ते वैयाकरणमीमांसकैर्निरूपिते कुत्रेदानीमलङ्कारकाराणां व्यापारः। तथा हेतुबलात्कार्यं जायत इति तार्किकैरुक्ते किमिदानीमीश्वरप्रभृतीनां कर्तृणां ज्ञातृणां वा कृत्यमपूर्वं स्यादिति सर्वो निरारम्भः स्यात्। तदाह—*लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति*। मा भूद्वाऽपूर्वोन्मीलनं पूर्वोन्मीलितमेवास्माभिः सम्यङ्निरूपितं, तथापि को दोष इत्यभिप्रायेणाह—*किं चेत्यादि*। *प्रागेवेति*। अस्मत्प्रय-

अभिधानाभिधेयभाव व्यापक है, ऐसी स्थिति में वैयाकरण और मीमांसक आचार्यों द्वारा अभिधा व्यापार के निरूपण कर दिये जाने पर आलंकारिक आचार्यों का व्यापार क्या महत्त्व रखता है। उसी प्रकार हेतु के बल से कार्य होता है ऐसा तार्किकों के कह देने पर ईश्वर प्रभृति कर्ताओं और ज्ञाताओं का कार्य क्यों अपूर्व होगा? इस प्रकार निरारम्भ होने लगेगा। उसे कहते हैं—लक्षण करना व्यर्थ होगा—। तब शङ्का करते हैं कि अपूर्व वस्तु का उन्मीलन न हो, जो पहले से उन्मीलित है उसे ही हमने सम्यक् प्रकार से निरूपण किया, तब भी क्या दोष है? इस अभिप्राय से कहते हैं—और भी—। इत्यादि। पहले ही—। अर्थात् हमारे प्रयत्न से। इस प्रकार तीन प्रकार के अभाववाद को, और ध्वनि के भक्ति में अन्तर्भूतत्व का निराकरण

आदि प्रमाणों का कोई उपयोग नहीं रह जाता। लोक में जो कारण और कार्य होते हैं वेही अलौकिक काव्य में विभाव और अनुभाव हो जाते हैं। चर्वणा स्थायी भाव को रस्यमान वनाती है, इसका यह अभिप्राय नहीं चर्वणा प्रमाण के व्यापार की भांति ज्ञापन अथवा हेतु के व्यापार की भांति उत्पादन रूप है, बल्कि वह अभिव्यञ्जन है। चर्वणा के माध्यम से विभावादि रस का हेतु अवश्य है कि अलौकिक है अतः उसे न तो ज्ञापक हेतु कह सकते और न तो कारक। रस जब कि स्वसंवेदनसिद्ध है तो उसकी सिद्धि के लिए किसी अतिरिक्त प्रमाणरहित कहने से कुछ भी बिगड़ता नहीं।

अस्तु, जब कि आप लक्षणा से रस के बोध की बात करते हैं तो यह कहना है कि जहाँ अर्थाभिधान का अनुपयोगी अनुप्रास भी रस का व्यञ्जक है वहाँ तो अभिधा का भी प्रसंग नहीं फिर लक्षणा की शङ्का भी क्या हो सकती है?

ध्वन्यालोकः

समीहितार्थाः संवृत्ताः स्मः। येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्य वादिनः। यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्ये-

प्रकार बिना यत्न के हमारा अभीष्ट कार्य सिद्ध हो गया। जिन लोगों ने सहृदय जनों के हृदय द्वारा संवेद्य एवं अनिर्वचनीय ध्वनि के स्वरूप को आम्नात किया है वे भी परीक्षा करके कहने वाले नहीं हैं। क्योंकि कथित और वक्ष्यमाण नीति के अनुसार ध्वनि के सामान्य एवं विशेष लक्षण के प्रतिपादित होने पर भी यदि उसका अनि-

लोचनम्

त्वादिति शेषः। एवं त्रिप्रकारमभाववादं, भक्त्यन्तर्भूततां च निराकुर्वता अलक्षणीयत्वमेतन्मध्ये निराकृतमेव। अत एव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति—*येऽपीत्यादिना*। उक्तया नीत्या 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति सामान्यलक्षणं प्रतिपादितम्। वक्ष्यमाणया तु नीत्या विशेषलक्षणं भविष्यति 'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्' इत्यादिना। तत्र प्रथमोद्द्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम्। द्वितीयोद्द्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदधदनुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान्। तदाशयानुसारेण तु

करते हुए उसके अलक्षणीयत्व का भी इसमें निराकरण किया ही। अत एव मूलकारिका साक्षात् रूप से अलक्षणीयत्व के निराकरण के सम्बन्ध की नहीं श्रुत है, परन्तु वृत्तिकार स्वतः निराकृत उस पक्ष को प्रमेय के सन्निवेश विशेष की पूर्ति के लिए कण्ठतः अनुवाद करके निराकरण करते हैं—जिन लोगों ने—। इत्यादि द्वारा। उक्त नीति के अनुसार 'यत्रार्थः शब्दो वा०' यह सामान्य लक्षण प्रतिपादित है, वक्ष्यमाण नीति के अनुसार विशेष लक्षण होगा—'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्०' इत्यादि द्वारा। प्रथम 'उद्योत' में कारिकाकार ने ध्वनि का सामान्य लक्षण ही किया है। दूसरे 'उद्योत' में कारिकाकार ने अवान्तर विभाग और विशेष लक्षण को करते हुए अनुवाद द्वारा मूल का द्विविध विभाग सूचित किया है। उनके आशय के अनुसार वृत्तिकार ने इसी उद्योत में

अन्त में, आचार्य ने किसी की यह शङ्का उद्भावित की है कि वाक्य को वाच्य और व्यङ्ग्य दो अर्थों का बोधक मानते हैं, इस प्रकार हम 'वाक्यभेद' करेंगे। इसके उत्तर में आचार्य अभिनव गुप्त का कहना है कि वाक्यार्थ कभी दो नहीं हो सकता, क्योंकि एक काल में दो वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रकरण आदि की सहायता दूसरे वाक्य में भी लेनी ही पड़ेगी, क्योंकि ऐसा न करने से काम नहीं चलेगा। और भी यदि आप प्रकरण आदि को नियामक स्वीकार नहीं करेंगे तो 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस श्रुति वाक्य का अर्थ 'कुत्ते के मांस को खाना चाहिए' यह

ध्वन्यालोकः

यत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव॥

वंचनीयत्व है तब तो वह (अनिर्मंचनीयत्व) समग्र वस्तुओं के सम्बन्ध में प्राप्त है। पुनः यदि वे लोग इस अतिशयोक्ति द्वारा ध्वनि का कोई दूसरे काव्यों से बढ़ कर स्वरूप कहते हैं तो वे भी ठीक ही कहते हैं।

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके प्रथम उद्द्योतः ॥

लोचनम्

वृत्तिकृदत्रैवोद्द्योते मूलविभागमवोचत्—'स च द्विविधः' इति। *सर्वेषामिति*। लौकिकानां शास्त्रीयाणां चेत्यर्थः। *अतिशयोक्त्येति*। यथा 'तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति' इतिवदतिशयोक्त्यानाख्येयतोक्ता साररूपतां प्रतिपादयितुमिति दर्शितमिति शिवम्॥ १९॥

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥

मूल का विभाग कहा है—'स च द्विविधः' ('और वह दो प्रकार का है')। समग्र वस्तुओं का—। अर्थात् लौकिक एवं शास्त्रीय वस्तुओं का। अतिशयोक्ति द्वारा—। जैसे—'तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति' ('वे अक्षर हृदय में कुछ स्फुरित हो रहे हैं) इसके समान अतिशयोक्ति द्वारा साररूपता के प्रतिपादनार्थ अनाख्येयता (अनिर्वचनीयत्व) कही गई है, यह दिखाया गया। (शिवम्)

क्या लोचन के बिना लोक (संसार) चन्द्रिका से भी उद्भासित होता है? (व्यङ्ग्य यह कि क्या 'लोचन' व्याख्या के बिना आलोक—ध्वन्यालोक—'चन्द्रिका' व्याख्या से स्फुरित होता है?) उस कारण अभिनवगुप्त ने यहाँ 'लोचन' का उन्मीलन किया है।

किया जाय तो आपके सामने क्या प्रमाण होगा? आपको विवश होकर प्रकरण को स्वीकार करके ही इसका अर्थ करना होगा। अतः 'वाक्यभेद' की बात दोषपूर्ण है। रसास्वाद की स्थिति में लौकिक स्थितियों की भाँति पूर्वापर-काल की चिन्ता नहीं होती, वह सर्वथा अलौकिक स्थिति है।

जैसा कि वृत्तिकारने सामान्यतः 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' में भक्ति के अभाव का निर्देश किया है उस पर लोचनकार कहते हैं कि माना कि विवक्षितान्यपरवाच्य के संलक्ष्यक्रम रूप भेद में लक्षणा को हम किसी प्रकार स्वीकार कर भी लें, किन्तु रसादि रूप अलक्ष्यक्रम में क्या उपाय निकालेंगे और यदि अपना हठ छोड़ कर वादी आचार्य की बात सुने तो वह भी कहते हैं कि

लोचनम्

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोकलोचने
ध्वनिसङ्केते प्रथम उद्द्योतः ॥

जिसकी उन्मीलन-शक्ति से ही क्षण में विश्व उन्मीलित हो जाता है उस अपने आयतम में स्थित शिवा प्रतिभा की वन्दना करता हूँ।[1]

महामाहेश्वराचार्यवर्य अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित सहृदयालोकलोचन
रूप ध्वनिसङ्केत में प्रथम उद्द्योत समाप्त हुआ।

विवक्षितान्यपरवाच्य ही क्या, अविवक्षितवाच्य ध्वनि, जो लक्षणामूल है, में भी मुख्यार्थ-बाध आदि लक्षणा की सामग्री की अपेक्षा न करके ही व्यङ्ग्य अर्थ में विश्रान्ति होती है।

यह बात सिद्ध हुई कि 'भक्ति' किसी प्रकार ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।

१. आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने शैव-दर्शन की कल्पनाओं के अनुसार यहाँ प्रतिभा रूप शिवाख्या परा शक्ति की वन्दना की है। शैव कल्पना के अनुसार परमशैव कूटस्थ तत्त्व हैं, किन्तु उन्हें आयतन बना कर विश्रान्त रहने वाली परा शक्ति ही अपनी उन्मीलन-शक्ति से विश्व का उन्मीलन क्षण भर में कर देती है। प्रस्तुत काव्य-पक्ष में इसका अर्थ यह व्यञ्जित होता है कि कवि की प्रतिभा या नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा है, उसे प्रणाम है; जो कि वह नित्य अपने आयतन कवि में विराजती है और अपनी शक्ति द्वारा एक अलग ही संसार का उन्मीलन करती रहती है।

यह आकलनीय है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी 'लोचन' टीका के प्रत्येक 'उद्योत' के अन्त में क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी को नमन किया है।
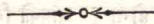
द्वितीय उद्द्योतः

ध्वन्यालोकः

एवमविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः। तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनायेदमुच्यते—

इस प्रकार अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य के रूप से ध्वनि दो प्रकार से प्रकाशित है। उनमें अविवक्षितवाच्य के प्रभेद के प्रतिपादन के लिए यह कहते हैं—

लोचनम्

या स्मर्यमाणा श्रेयांसि सूते ध्वंसयते रुजः।
तामभीष्टफलोदारकल्पवल्लीं स्तुवे शिवाम्॥

वृत्तिकारः सङ्गतिमुद्द्योतस्य कुर्वाण उपक्रमते—*एवमित्यादि*। *प्रकाशित इति*। मया वृत्तिकारेण सतेति भावः। न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह—*तत्रेति*। तत्र द्विप्रकारप्रकाशने वृत्तिकारकृते यन्निमित्तं बीजभूतमिति सम्बन्धः। यदि वा–तत्रेति पूर्वशेषः। तत्र प्रथमोद्द्योते वृत्तिकारेण प्रकाशितः अविवक्षितवाच्यस्य यः प्रभेदोऽवान्तरप्रकारस्तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते। तदवान्तरभेदप्रतिपादनद्वारेणैव चानुवादद्वारेणाविवक्षितवाच्यस्य यः प्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यात्प्रभिन्नत्वं तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते। भवति

जो शिवा (शिव की शक्ति) [लोगों द्वारा] स्मर्यमाण होकर कल्याणों को उत्पन्न करती है और आपदाओं को नष्ट करती है उस अभीष्ट फल की उदार कल्पलता को स्तवन करता हूँ।

वृत्तिकार उद्योत की सङ्गति बैठाते हुए आरम्भ करते हैं—इस प्रकार—। इत्यादि। प्रकाशित—। भाव यह कि मैंने वृत्तिकार के रूप में (ध्वनि के दो प्रकारों को प्रकाशित किया है)। मैंने इस सूत्र (कारिका) की सीमा के बाहर होकर नहीं कहा है, बल्कि कारिकाकार के अभिप्राय से कहा है—वहाँ—। सम्बन्ध (पूर्वापर की संगति) यह है कि वृत्तिकार द्वारा ध्वनि के दो प्रकारों के प्रकाशन में जो निमित्त है या बीजभूत है (उसे कहते हैं)। अथवा—'वहाँ' यह प्रथम उद्योत में कहे हुए का शेष है। वहाँ प्रथम उद्योत में वृत्तिकार ने अविवक्षित वाच्य का जो प्रभेद (विवक्षितान्यपरवाच्य से भिन्नत्व) प्रकाशित किया था उसके अवान्तर प्रकार के प्रतिपादनार्थ यह कहते हैं। उसके अवान्तर भेद के प्रतिपादन के द्वारा ही और अनुवाद के द्वारा अविवक्षित वाच्य का जो प्रभेद अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य से प्रभिन्नत्व है, उसके प्रतिपादन के लिए यह कहते हैं। भाव यह कि मूलरूप से दो भेद होना

ध्वन्यालोकः

अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ॥ १ ॥
तथाविधाभ्यां च ताभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव विशेषः ।

अर्थान्तर में सङ्क्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत, इस रूप से अविवक्षितवाच्य ध्वनि का वाच्य दो प्रकार का माना गया है ॥ १ ॥

क्योंकि उन (दोनों प्रकार के वाच्यों) से व्यङ्ग्य का ही विशेष (उत्कर्ष) है ।

लोचनम्

मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति भावः । सङ्क्रमितमिति णिचा व्यञ्जनाव्यापारे यः सहकारिवर्गस्तस्यायं प्रभाव इत्युक्तं तिरस्कृतशब्देन च । येन वाच्येनाविवक्षितेन सताऽविवक्षितावाच्यो ध्वनिर्व्यपदिश्यते तद्वाच्यं द्विधेति सम्बन्धः । योऽर्थ उपपद्यमानोऽपि तावतैवानुपयोगाद्धर्मान्तरसंवलनयान्यतामिव गतो लक्ष्यमाणोऽनुगतधर्मी सूत्रन्यायेनास्ते स रूपान्तरपरिणत उक्तः । यस्त्वनुपपद्यमान उपायतामात्रेणार्थान्तरप्रतिपत्तिं कृत्वा पलायत इव स तिरस्कृत इति । ननु व्यङ्ग्यात्मनो यदा ध्वनेर्भेदो निरूप्यते तदा वाच्यस्य द्विधेति भेदकथनं न सङ्गतमित्याशङ्क्याह—*तथाविधाभ्यां चेति* । चो यस्मा-

कारिकाकार को भी सम्मत ही है । 'सङ्क्रमित' इस 'णिच्' प्रत्यय से और 'तिरस्कृत' शब्द से व्यञ्जना व्यापार में जो सहकारी वर्ग है उसका प्रभाव है, यह कहा[1] है । सम्बन्ध यह है कि जिस वाच्य के अविवक्षित होने से अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहा जाता है वह वाच्य दो प्रकार का है । जो अर्थ उपपन्न होता हुआ भी, उतने ही अंश में उपयोग के न होने से धर्मान्तर के मिल जाने के कारण, दूसरा बना—जैसा मालूम पड़ता हुआ, धर्मी के अनुगत होने की स्थिति में सूत्र की भाँति, होता है, वह रूपान्तर-परिणत (अर्थान्तरसङ्क्रमित) कहा गया है । परन्तु जो कि अनुपपन्न होता हुआ, उपायमात्र होने के कारण (क्योंकि मुख्यार्थ का सम्बन्ध भी लक्षण का निमित्त है) दूसरे अर्थ की प्रतीति उत्पन्न करके जैसे पलायन कर जाता है, वह तिरस्कृत कहा जाता है । (शंका) जब कि व्यङ्ग्य रूप ध्वनि का भेद-निरूपण करते हैं, तब वाच्य का 'द्विधा' यह भेदकथन सङ्गत नहीं होता है, यह आशङ्का करके कहते हैं—उन दोनों प्रकार के— । 'च' 'और' का प्रयोग ('यस्मात्') या

---

१. वाच्य अर्थान्तर में सङ्क्रान्त नहीं होता, प्रत्युत सङ्क्रान्त कराया जाता है अर्थात् 'सङ्क्रमित' होता है, इस प्रकार यहाँ 'णिच्' प्रत्यय के प्रयोग से प्रयोजक कर्ता की अपेक्षा है, यहाँ प्रयोजक कर्ता है व्यञ्जना-व्यापार में सहकारिवर्ग, अर्थात् लक्षणा और वक्ता की विवक्षा आदि । बिना इनकी सहायता से वाच्य अर्थान्तर में सङ्क्रान्त नहीं होता । यही स्थिति 'तिरस्कृत' शब्द की भी है । प्रस्तुत अविवक्षित वाच्य ध्वनि को इसी कारण 'लक्षणामूल ध्वनि' भी कहते हैं ।

लक्षणा के आधार पर ही अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये दो भेद

ध्वन्यालोकः

तत्रार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथा—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।

अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य, जैसे—

स्निग्ध एवं श्यामल कान्ति से आकाश को लिप्त कर देने वाले और वेल्लित होती हुई बकपङ्क्तियों वाले मेघ, फुहारों वाले वायु और मेघ के साथ मयूरों की अव्यक्त-

लोचनम्

दर्थे। व्यञ्जकवैचित्र्याद्धि युक्तं व्यङ्ग्यवैचित्र्यमिति भावः। व्यञ्जके त्वर्थे यदि ध्वनिशब्दस्तदा न कश्चिद्दोष इति भावः।

भेदप्रतिपादकेनैवान्वर्थनाम्ना लक्षणमपि सिद्धमित्यभिप्रायेणोदाहरणमेवाह—*अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथेति*। अत्र श्लोके रामशब्द इति सङ्गतिः। स्निग्धया जलसम्बन्धसरसया श्यामलया द्रविडवनितोचितासितवर्णया कान्त्या चाकचक्येन लिप्तमाच्छुरितं वियन्नभो यैः। वेल्लन्त्यो विजृम्भमाणास्तथा चलन्त्यः परभागवशात्प्रहर्षवशाच्च बलाकाः सितपक्षिविशेषा येषु त एवंविधा

'क्योंकि' के अर्थ में है। भाव यह कि व्यञ्जक के वैचित्र्य से व्यङ्ग्य का वैचित्र्य बनता है। परन्तु यदि व्यञ्जक के अर्थ में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग हो, तब कोई दोष नहीं।

भेद का प्रतिपादन करने वाले यथार्थ नाम से लक्षण भी सिद्ध हो गया है, इस अभिप्राय से उदाहरण को ही कहते हैं—अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य, जैसे—। इस श्लोक में 'राम' 'शब्द' है, यह सङ्गति है। स्निग्ध अर्थात् जल के सम्बन्ध के कारण सरस, श्यामल अर्थात् द्रविड़ देश की स्त्रियों के समान वर्ग वाली कान्ति अर्थात् चाकचिक्य या चकमक उससे लिप्त अर्थात् आच्छुरित आकाश है जिन मेघों से। वेल्लित होती हुई अर्थात् विजृम्भमाण तथा परभाग के कारण (मेघों के श्याम वर्ण होने और अपने सित वर्ण होने के कारण) और प्रहर्ष के कारण चलती हुई बलाकायें

होते हैं। इसे स्पष्ट समझने के लिए प्रस्तुत में 'लक्षणा' के सम्बन्ध में कुछ और भी विदित करना आवश्यक है।

कहा जा चुका है कि 'लक्षणा' शब्द की वह आरोपित शक्ति है जिससे मुख्यार्थ के बाध, मुख्यार्थ के योग एवं रूढ़ि अथवा प्रयोजन में अन्यतर के होने पर अन्य अर्थ लक्षित होता है। यह लक्षणा दो प्रकार की है—उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा। जहाँ अपनी सिद्धि के लिए दूसरे का आक्षेप होता है वह उपादान लक्षणा और जहाँ दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का त्याग (समर्पण) होता है वह लक्षणलक्षणा है। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' यह उपादानलक्षणा है, क्योंकि कुन्त अपने प्रवेश की सिद्धि के लिये कुन्तधारी पुरुषों का आक्षेप करते हैं। 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण लक्षणलक्षणा का है, क्योंकि आधाराधेयभाव की सिद्धि के लिए यहाँ 'गङ्गा' शब्द अपने अर्थ का त्याग कर देता है। इस प्रकार पहले में कुन्तधारियों के आक्षेप से एवं दूसरे में 'गङ्गा' के प्रवाह रूप अर्थ के त्याग से अन्वयानुपपत्ति दूर होती है। ये दोनों लक्षणा के भेद क्रमशः

ध्वन्यालोकः

कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

मधुर केका, ये सब जितना चाहें खूब हों, मैं तो राम हूँ, सब कुछ सहन करता हूँ, परन्तु विदेहपुत्री सीता कैसे होगी ? हा हा, देवि, तुम धैर्य धारण करो ।

लोचनम्

मेघाः । एवं नभस्तावद् दुरालोकं वर्तते । दिशोऽपि दुःसहाः । यतः सूक्ष्मजलकणोद्गारिणो वाता इति मन्दमन्दत्वमेषामनियतदिगागमनं च बहुवचनेन सूचितम् । तर्हि गुहासु कचित्प्रविश्यास्यतामित्यत आह—पयोदानां ये सुहृदस्तेषु च सत्सु ये शोभनहृदया मयूरास्तेषामानन्देन हर्षेण कलाः षड्जसंवादिन्यो मधुराः केकाः शब्दविशेषाः ताश्च सर्वं पयोदवृत्तान्तं दुस्सहं स्मारयन्ति; स्वयं च दुस्सहा इति भावः । एवमुदीपनविभावोद्बोधितविप्रलम्भः परस्पराधिष्ठानत्वाद्रतेः विभावानां साधारणतामभिमन्यमानः इत एव प्रभृति प्रियतमां हृदये निधायैव स्वात्मवृत्तान्तं तावदाह—*कामं सन्त्विति* । दृढमिति सातिशयम् । *कठोरहृदय इति* । रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदयपदम् ।

अर्थात् उज्ज्वल पांखों वाली बकपंक्तियाँ जिनमें हैं वे, इस प्रकार के मेघ । इस प्रकार आकाश बिलकुल दिखाई नहीं देता है और दिशाएं भी दुःसह हो रही हैं । क्योंकि जब जल में फुहारों को फैलाने वाले वायु हैं, यह कह कर उनका मन्द-मन्द और अनियत दिशा से आगमन को 'बहुवचन' द्वारा सूचित किया । ऐसी स्थिति में कहीं कन्दराओं में घुस कर बैठना चाहिए, इस कारण से कहते हैं—मेघों के जो मित्र हैं, उनके विद्यमान होने पर जो शोभनहृदय वाले मयूर हैं उनके आनन्द या हर्ष से षड्जकायें स्वर से मेल खाती हुई अव्यक्त-मधुर के मांस (शब्द-विशेष), वे मेघ के समस्त दुःसह वृत्तान्त को याद दिलाती हैं और स्वयं दुःसह हैं, यह भाव है । इस प्रकार उद्दीपन विभाव के कारण विप्रलम्भ के उद्बोधित हो जाने पर एक-दूसरे नायक-नायिका में अधिष्ठित रति के होने से विभावों के साधारण्य को मानते हुए (नायक) यहाँ से ही लेकर प्रियतमा को हृदय में रखकर ही अपना वृतान्त कहता है—जो चाहे हो— । दृढ अर्थात् बहुत कुछ । कठोर हृदय वाला— । 'राम' शब्द के अर्थ को ध्वनि-विशेष के अवकाश देने के लिए 'कठोर हृदय' पद को रखा है । जैसे 'तद्गेहम्' यह कहकर भी

अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनियों के मूल में होते हैं । पहले में आक्षेप अर्थात् अर्थान्तर में सङ्क्रमण और दूसरे में अपना त्याग (तिरस्कार) होता है । इस प्रकार 'सङ्क्रमित' इस णिजन्त प्रयोग से व्यञ्जना की सहकारिणी लक्षणा के प्रभाव को ग्रन्थकार ने सूचित किया है,- यह लोचनकार के कथन का तात्पर्य है । आगे दोनों ध्वनियों के उदाहरणों से यह विषय और भी स्पष्ट हो जायगा । स्वयं लोचनकार ने दोनों ध्वनियों के स्वरूप को कण्ठोक्त कर दिया है ।

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र रामशब्दः। अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः सञ्ज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम्।

यह 'राम' शब्द। इस ('राम' शब्द) से व्यञ्जित होते हुए दूसरे धर्म से परिणत व्यक्ति प्रतीत कराया जाता है, केवल व्यक्ति नहीं।

लोचनम्

यथा 'तद्गेहम्' इत्युक्तेऽपि 'नतभित्ति' इति। अन्यथा रामपदं दशरथकुलोद्भवत्वकौसल्यास्नेहपात्रत्वबाल्यचरितजानकीलाभादिधर्मान्तरपरिणतमर्थं कथं न ध्वनेदिति। *अस्मीति*। स एवाहं भवामीत्यर्थः। भविष्यतीति क्रियासामान्यम्। तेन किं करिष्यतीत्यर्थः। अथ च भवनमेवास्या असम्भाव्यमिति। उक्तप्रकारेण हृदयनिहितां प्रियां स्मरणशब्दविकल्पपरम्परया प्रत्यक्षीभावितां हृदयस्फोटनोन्मुखीं ससंभ्रममाह—*हहा हेति*। *देवीति*। युक्तं तव धैर्यमित्यर्थः। *अनेनेति*। रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः। व्यङ्ग्यं धर्मान्तरं प्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनाद्यसङ्ख्येयम्। तच्चासङ्ख्यत्वादभिधाव्यापारेणाशक्यसमर्पणम्। क्रमेणार्प्यमाणमप्येकधीविषयभावाभावान्न चित्रचर्वणापदमिति न चारुत्वातिशयकृत्। प्रतीयमानं तु तदसङ्ख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूप न सहत इति चित्रपानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचर्वणापदं भवति यथोक्तम्—'उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्' इति। एष एव सर्वत्र प्रयोजनस्य प्रतीय-

'नतभित्ति' कहा है। अन्यथा 'राम' पद दशरथ के कुल में उत्पन्न होना, कौसल्या के स्नेह का पात्र होना, बाल्यचरित और जानकीलाभ आदि धर्मान्तर में परिणत अर्थ को कैसे नहीं ध्वनित करता! 'हूँ' अर्थात् वही मैं हूँ। 'होगी' यह क्रिया सामान्य है, इससे अर्थ है कि फिर क्या करेगी? और ऐसी स्थिति में उसका होना (अस्तित्व) ही असम्भव हो जायगा। कहे प्रकार के अनुसार (मेघ आदि उद्दीपकों का प्रियतमा के पास भी होने का) स्मरण, ('वैदेही' यह) शब्द और 'कैसे होगी' यह विकल्प या वितर्क, इन सबों की परम्परा से प्रत्यक्ष हुई एवं हृदय के स्फोटनार्थ उन्मुख प्रियतमा से सम्भ्रम-सहित कहते हैं—हा हा देवि—। अर्थात् तुम्हें धैर्य धारण करना ठीक है इससे—। भाव यह कि जिसका अर्थ उपयोग में नहीं आ रहा है ऐसे 'राम' शब्द व्यङ्ग्य धर्मान्तर अर्थात् राज्य से निर्वासन आदि असङ्ख्येय प्रयोजन रूप धर्मान्तर। और वह असंख्य होने के कारण अभिधाव्यापार से समर्पित (अवगत) होना सम्भव नहीं। क्रम से अर्प्यमाण (अवगत) होने पर भी, एक बुद्धि की विषयता के अभाव से चित्र (विलक्षण) चर्वणा के स्थान (विषय) को नहीं पहुँच सकता, ऐसी स्थिति में अतिशय चारुत्व को नहीं करता है। परन्तु वह असङ्ख्य प्रतीयमान अनुद्भिन्न होने की विशेषता के कारण ही क्या-क्या रूप नहीं सहन (धारण) करता? इस प्रकार वह चित्रपानकरस, अपूप, गुड़ और मोदक की भाँति विचित्र चर्वणा का पद (अधिष्ठान)

ध्वन्यालोकः

यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम्—

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति ।
रइकिरणानुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ ॥

(तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥ इति च्छाया)

इत्यत्र द्वितीयः कमलशब्दः ।

और जैसे, मेरा ही (उदाहरण श्लोक) 'विषमबाणलीला' में—

तब गुण होते हैं जब सहृदय लोग ग्रहण करते हैं, सूर्य की किरणों से अनुगृहीत होकर ही कमल कमल होते हैं ।

यहाँ दूसरा 'कमल' शब्द ।

लोचनम्

मानत्वेनोत्कर्षहेतुर्मन्तव्यः । मात्रग्रहणेन संज्ञी नात्र तिरस्कृत इत्याह । *यथा चेत्यादि* । *ताला तदा* । *जाला यदा* । *घेप्पन्ति गृह्यन्ते* । अर्थान्तरन्यासमाह—*रविकिरणेति* । *कमलशब्द इति* । लक्ष्मीपात्रत्वादिधर्मान्तरशतचित्रतापरिणतं संज्ञिनमाहेत्यर्थः । तेन शुद्धेऽर्थे मुख्ये बाधानिमित्तं तत्रार्थे तद्धर्मसमवायः । तेन निमित्तेन रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्षयति । व्यङ्ग्यान्यसाधारणान्यशब्दवाच्यानि धर्मान्तराणि । एवं कमलशब्दः । गुणशब्दस्तु संज्ञिमात्रमाहेति । तत्र यद्बलात्कैश्चिदारोपितं तदप्रातीतिकम् । अनुपयोगबाधितो ह्यर्थोऽस्य ध्वनेर्विषयो लक्षणा मूलं ह्यस्य ।

होता है । जैसा कि कहा है—दूसरी उक्ति से अशक्य जिस चारुत्व को०— । प्रयोजन के प्रतीयमान होने के कारण उत्कर्ष का हेतु इसे (अर्थात् विचित्र चर्वणा विषयत्व) ही मानना चाहिए । 'मात्र' ग्रहण से कहते हैं कि संज्ञी (राम) यहाँ तिरस्कृत नहीं है । और जैसे— । ताला तब । जाला जब । घेप्पन्ति ग्रहण किए जाते हैं (सामान्य के समर्थन रूप) 'अर्थान्तरन्यास' को कहते हैं—सूर्य की किरणों से— । 'कमल' शब्द— । अर्थात् लक्ष्मी या शोभा का पात्रत्व—आश्रय होना आदि धर्मान्तरों की सैकड़ों विचित्रताओं में परिणत संज्ञावान् (कमल) को कहता है । इस लिए शुद्ध मुख्य अर्थ में बाधा का कारण उस अर्थ में (अर्थात् 'राम' पद के मुख्यार्थ के धर्मी राम में) उन धर्मों का समवाय (सम्बन्ध) है । उस निमित्त से 'राम' शब्द धर्मान्तर में परिणत अर्थ को लक्षित करता है । असाधारण एवं अशब्दवाच्य धर्मान्तर (निर्वेद, ग्लानि आदि)—व्यङ्ग्य हैं । इसी प्रकार 'कमल' शब्द है । (दूसरे श्लोक में) 'गुण' शब्द केवल संज्ञी को अभिहित करता है । उक्त उदाहरणों में जो बल-पूर्वक कुछ

लोचनम्

यत्तु हृदयदर्पण उक्तम्—'हहा हेति संरम्भार्थोऽयं चमत्कारः' इति। तत्रापि संरम्भः आवेगो विप्रलम्भव्यभिचारीति रसध्वनिस्तावदुपगतः। न च रामशब्दाभिव्यक्तार्थसाहायकेन विना संरम्भोल्लासोऽपि। अहं सहे तस्याः किं वर्तत इत्येवमात्मा हि संरम्भः। कमलपदे च कः संरम्भ इत्यास्तां तावत्। अनुपयोगात्मिका च मुख्यार्थबाधात्रास्तीति लक्षणामूलत्वादविवक्षितवाच्यभेद-

लोगों ने आरोप करके कहा है', वह प्रतीतिसिद्ध नहीं। क्योंकि अनुपयोग रूप बाधा के कारण अर्थ रस ध्वनि का विषय होता है, उसका मूल लक्षणा है।

जो कि 'हृदयदर्पण' में कहा है—'हहा हा' यह 'संरम्भ'[२] के अर्थ में यह चमत्कार व्यक्त किया है।' वहाँ भी संरम्भ या आवेग विप्रलम्भ का व्यभिचारी है इस प्रकार 'रसध्वनि' स्वीकार किया है। 'राम' शब्द से अभिव्यक्त अर्थों की सहायता के बिना संरम्भ का उल्लास भी नहीं होगा। 'मैं तो सह लेता हूँ' परन्तु उसका क्या होगा? इस प्रकार का संरम्भ है। 'कमल' पद में कौन 'संरम्भ' है? अतः इसे रहने दीजिए! अनुपयोगरूप मुख्यार्थ बाधा यहाँ है, इस लिए लक्षणामूल होने के कारण इसका अविवक्षितवाच्य ध्वनि का भेद होना उपपन्न ही है क्योंकि शुद्ध (मुख्य अर्थ) की

१. जैसा कि प्रस्तुत उदाहरणों में 'राम' शब्द और 'कमल' शब्द अनुपयुक्त होने के कारण बाधितार्थ होकर लक्षणा के द्वारा धर्मान्तर में परिणत अर्थ को लक्षित करते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं कि व्यञ्जित होते-होते सभी धर्मान्तरों को लक्षणा के द्वारा ही प्रतीत किया जाय। कुछ लोगों ने बलात् लक्षणा द्वारा ही प्रतीत करने की कोशिश की थी। किन्तु यह प्रकार सहृदय जनों की प्रतीति के विरुद्ध है। कारण यह है कि लक्षणा से एक ही धर्म से अन्वित की प्रतीति हो सकती है, क्योंकि लक्षणा की इसी अंश में सार्थकता है कि वह शब्द के 'अनुपयोग' को हटा दे और उपयुक्त अर्थ को प्रस्तुत कर दे। किन्तु लक्षणा द्वारा उपयुक्त अर्थ के प्रतीत होने के पश्चात् भी जब अनेक धर्मान्तर प्रतीत होने लगते हैं तब उन्हें भी विरत-व्यापार लक्षणा का विषय किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। अतः यहाँ अनेक धर्मान्तरों को प्रस्तुत अविवक्षितवाच्यध्वनि का विषय मानते हैं, जिसका मूल लक्षणा है। इस प्रकार लक्षणा यहाँ सहकारिणी शक्ति है।

२. 'हहा हा' इस चमत्कार के प्रयोग से संरम्भ या आवेग व्यक्त होता है। यही श्लोक का विशेष लक्ष्य है। यह बात 'हृदयदर्पण' में कही गई है। इसका यह अभिप्राय है कि जो यहाँ 'राम' शब्द की व्यञ्जकता की चर्चा है वह अनावश्यक है। इस पर लोचनकार का कहना है कि जो यहाँ 'संरम्भ' या आवेग का आप अनुभव करते हैं, वह भी तो विप्रलम्भ-श्रृङ्गार का व्यभिचारी है! अतः आप ने स्वयं 'रसध्वनि' को स्वीकार कर लिया है। और साथ ही, यह संरम्भ भी 'राम' शब्द से अभिव्यक्त अर्थों की सहायता के बिना उल्लसित नहीं होगा। क्योंकि राम में आवेग तभी आ सकता है जब वह अपनी समर्थता को और सीता की असमर्थता को अनुभव करेंगे। अतः 'राम' पद की व्यञ्जना यह 'संरम्भ' के उल्लास की सहायिका है। और, माना कि यह यहाँ 'संरम्भ' है किन्तु दूसरे उदाहरण के 'कमल' पद में कौन सा 'संरम्भ' है? अन्ततः यह मानना ही पड़ेगा। कि इन उदाहरणों में अनुपयोगात्मक मुख्यार्थ बाधा है, अतः लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य ध्वनि का यह अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य रूप एक भेद है। यहाँ 'राम' और 'कमल' शब्द के केवल शुद्ध या वाच्य अर्थ की विवक्षा ही नहीं।

ध्वन्यालोकः

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो यथादिकवेर्वाल्मीकेः—

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ इति ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य, जैसे आदिकवि वाल्मीकि का—

सूर्य में जिसका सौभाग्य संक्रान्त हो गया है, एवं तुषार से जिसका मण्डल ढँक गया है, ऐसा चन्द्रमा निःश्वास से अन्ध आइने की भांति प्रकाशवान् नहीं है ।

लोचनम्

तास्योपपन्नैव, शुद्धार्थस्याविवक्षणात् । न च तिरस्कृतत्वं धर्मिरूपेण, तस्यापि तावत्यनुगमात् । अत एव च परिणतवाचोयुक्त्या व्यवहृतम्–*आदिकवेरिति* । ध्वनेर्लक्ष्यप्रसिद्धतामाह–*रवीति* । हेमन्तवर्णने पञ्चवट्यां रामस्योक्तिरियम् । *अन्ध इति चोपहतदृष्टिः* । जात्यन्धस्यापि गर्भे दृष्ट्युपघातात् । अन्धोऽयं पुरोऽपि न पश्यतीत्यत्र तिरस्कारोऽन्धार्थस्य न त्वत्यन्तम् । इह त्वादर्शस्यान्धत्वमारोप्यमाणमपि न सह्यमिति । अन्धशब्दोऽत्र पदार्थस्फुटीकरणाशक्तत्वं नष्टदृष्टिगतं निमित्तीकृत्यादर्शं लक्षणया प्रतिपादयति । असाधारणविच्छायत्वानुपयोगित्वादिधर्मजातमसंख्यं प्रयोजनं व्यनक्ति । भट्टनायकेन तु यदुक्तम्—

विवक्षा यहाँ नहीं है। (अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि में) धर्मी (व्यक्ति) रूप से तिरस्कार नहीं है, क्योंकि उस धर्मी (व्यक्ति) का भी अनुगम (ज्ञान) होता है। इसीलिए 'परिणत' इस वाचोयुक्ति[1] से व्यवहार किया है।

आदिकवि— । 'ध्वनि' की लक्ष्य में प्रसिद्धि को कहते हैं—सूर्य— । हेमन्तवर्णन के प्रसङ्ग में पञ्चवटी में राम की यह उक्ति है। 'अन्ध' अर्थात् जिसकी दृष्टि नष्ट हो गई हो । क्योंकि जो जात्यन्ध होता है, उसकी भी दृष्टि का गर्भ में उपघात (नाश) हो जाता है। 'यह अन्धा आगे भी नहीं देखता है' इस कथन में 'अन्ध' शब्द के अर्थ का तिरस्कार है, किन्तु अत्यन्त रूप से (तिरस्कार) नहीं है। किन्तु यहाँ आइने का अन्धत्व आरोप्यमाण होकर भी सह्य नहीं। यहाँ 'अन्ध' शब्द नष्टदृष्टि पुरुष में रहने वाले किसी पदार्थ के स्फुटीकरण में अशक्यत्वरूप धर्म को निमित्त करके, आदर्श की लक्षणा से प्रतिपादन करता है; इस प्रकार असाधारण छायाहीनत्व और अनुपयोगित्व आदि असङ्ख्य धर्म-समूह रूप प्रयोजन को (वह) व्यक्त करता है । परन्तु भट्टनायक ने जो कहा है—'इव' शब्द के योग के कारण गौणता[2] (गौणी

१. 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' का यह अर्थ नहीं है कि धर्मी का तिरस्कार होता है, बल्कि लक्ष्य और व्यङ्गय अर्थों के ज्ञान में धर्मी का भी ज्ञान अनुप्रविष्ट होता है, अतः 'तिरस्कार' धर्म का ही अभीष्ट है, न कि धर्मी का । इसी लिए 'परिणतः' शब्द का प्रयोग आचार्य ने किया है, अर्थात् धर्मी स्वयं स्थित रहता हुआ अनेक व्यङ्गय धर्मान्तरों से परिणत रूप में प्रतीत होता है ।

२. अन्धा वह होता है जिसकी दोनों आँखें फूट गई हों और जो जन्मान्ध होता है उसकी

ध्वन्यालोकः

अत्रान्धशब्दः।

गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइँ अ वणाइँ।
णिरहङ्कारमिअङ्का हरन्ति नीलाओ वि णिसाओ॥

अत्र मत्तनिरहङ्कारशब्दौ॥ १॥

यहाँ 'अन्ध' शब्द।

मत्त मेघों से भरा आकाश भी, धारावृष्टि से कम्पित अर्जुन वृक्षों वाले वन भी और निरहङ्कार चन्द्रवाली काली रातें भी मन को हर लेती हैं॥

यहाँ 'मत्त' और 'निरहङ्कार' शब्द।

लोचनम्

'इवशब्दयोगाद् गौणताप्यत्र न काचित्' इति, तच्छ्लोकार्थमपरामृश्य। आदर्शचन्द्रमसोर्हि सादृश्यमिवशब्दो द्योतयति। निःश्वासान्ध इति चादर्शविशेषणम्। इवशब्दस्यान्धार्थेन योजने आदर्शश्चन्द्रमा इत्युदाहरणं भवेत्। योजनं चैतदिवशब्दस्य क्लिष्टम्। न च निःश्वासेनान्ध इवादर्शः स इव चन्द्र इति कल्पना युक्ता। जैमिनीयसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपीत्यलम्। गअणमिति।

लक्षणा) भी यहाँ नहीं सम्भव है', वह श्लोकार्थ को विचार करके नहीं (कहा है)। आदर्श (आइना) और चन्द्रमा इन दोनों का सादृश्य 'इव' शब्द द्योतित करता है। और 'निःश्वासान्ध' यह आदर्श (आइना) का विशेषण है। 'इव' शब्द को 'अन्ध' अर्थ के साथ जोड़ने में 'आदर्श रूप चन्द्रमा' यह उदाहरण होगा। लेकिन 'इव' शब्द का यह योजना क्लिष्ट है। 'निःश्वास से अन्ध के समान आदर्श और उसके समान चन्द्रमा' यह कल्पना भी ठीक नहीं। 'जैमिनीयसूत्र' में इस प्रकार योजना होती है, न कि

आँखें गर्भ में ही फूट गई होती हैं। किन्तु आदर्श का अन्धत्व कदापि सम्भव नहीं, यदि आदर्श पर अन्धत्व का आरोप भी किया जाय तब भी सह्य नहीं। अतः इस अर्थ का तिरस्कार कर देते हैं और जिसके पास आँखें नहीं होती हैं वह किसी भी पदार्थ को नहीं स्पष्ट कर सकता इस पदार्थ-स्फुटीकरणाशक्यत्व रूप अर्थ को निमित्त करके वही 'अन्ध' शब्द आदर्श को लक्षणा से बोधन करता है। इस प्रकार यहाँ छायाहीनत्व, अनुपयोगित्व आदि अनेक धर्मसमूह प्रयोजन के रूप में प्रतीयमान हैं। यहाँ 'अन्ध' शब्द के अर्थ के तिरस्कृत हो जाने के कारण प्रस्तुत ध्वनि को 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' कहा है।

भट्टनायक ने 'अन्ध' अर्थ के से 'इव' शब्द को जोड़ कर यहाँ गौणी लक्षणा का भी निषेध किया है। क्योंकि आदर्श अन्धा के समान हो ही सकता है, ऐसी स्थिति में मुख्यार्थ-बाध न होने के कारण लक्षणा का प्रसंग नहीं होगा। किन्तु उन्होंने श्लोक के अर्थ का विचार नहीं किया है। यहाँ 'निःश्वासान्ध' शब्द आदर्श का विशेषण है, ऐसी स्थिति में 'इव' का योग उसके साथ नहीं होगा, यदि करते हैं तो यह योजना क्लिष्ट एवं अनुपयुक्त है। ऐसी कल्पना तो भट्टनायक अपने 'मीमांसा शास्त्र' में ही करें तो अच्छा है, काव्य में इसे अच्छा नहीं समझा जाता। अतः यहाँ

लोचनम्

गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः॥

इति च्छाया। चशब्दोऽपिशब्दार्थे। गगनं मत्तमेघमपि न केवलं तारकितम्। धारालुलितार्जुनवृक्षाण्यपि वनानि न केवलं मलयमारुतान्दोलितसहकाराणि। निरहङ्कारमृगाङ्का नीला अपि निशा न केवलं सितकरकरधवलिताः। हरन्ति उत्सुकयन्तीत्यर्थः। मत्तशब्देन सर्वथैवेहासम्भवत्स्वार्थेन बाधितमद्योपयोगक्षीबात्मकमुख्यार्थेन सादृश्यान्मेघाल्ँलक्षयताऽसमञ्जसकारित्वदुर्निवारत्वादिधर्मसहस्रं ध्वन्यते। निरहङ्कारशब्देनापि चन्द्रं लक्षयता तत्पारतन्त्र्यविच्छायत्वोज्जिगमिषारूपजिगीषात्यागप्रभृतिः॥ १॥

अविवक्षितवाच्यस्य प्रभिन्नत्वमिति यदुक्तं तत्कुतः? न हि स्वरूपादेव भेदो भवतीत्याशङ्क्य विवक्षितवाच्यादेवास्य भेदो भवति, विवक्षा तदभावयो-

काव्य में भी—। अलम्। आकाश—। 'और' (च) शब्द 'भी' (अपि) शब्द के अर्थ में है। मतवाले मेघों वाला भी आकाश, न केवल तारों भरा। धारावृष्टि से कम्पित अर्जुन वृक्षों वाले वन, न केवल मलयमारुत से कम्पित सहकार वृक्षों वाले। अहङ्कारहीन चन्द्रवाली काली भी रातें, न केवल चन्द्र की किरणों से धवलित। हर लेती हैं अर्थात् उत्सुक करती हैं। यहाँ 'मत्त' शब्द, जिसका अर्थ सर्वथा ही सम्भव नहीं हो रहा है और जिसका मुख्य अर्थ मद्य (मदिरा) के उपयोग से क्षीब (पागल) रूप होने के कारण बाधित है, सादृश्य सम्बन्ध से मेघों को लक्षित कर रहा है, जिससे असमञ्जसकारित्व दुर्निवारत्व आदि हजारों धर्म ध्वनित होते हैं। चन्द्र को लक्षित करता हुआ 'निरहङ्कार' शब्द भी उसमें पारतन्त्र्य, छायाहीनत्व, उदय लेने की इच्छा रूप जिगमिषा का त्याग प्रभृति को ध्वनित करता है॥ १॥

जो कि (आरम्भ के वृत्तिग्रन्थ में) 'अविवक्षितवाच्य का प्रभेद' यह कहा है वह कैसे? क्योंकि स्वरूप से ही (स्वयं अपने से ही अपना) भेद नहीं होता, ऐसी आशङ्का करके इस अभिप्राय से, कि विवक्षितवाच्य से ही इस (अविवक्षितवाच्य) का भेद है, क्योंकि विवक्षा के भाव और अभाव दोनों का विरोध है, कहते हैं—

लक्षणा सर्वथा उपपन्न है। तात्पर्य यह कि 'इव' शब्द 'चन्द्रमा' के साथ अन्वित होगा। यहाँ चन्द्रमा आदर्श के समान है, न कि अन्ध के समान आदर्श है। इस प्रकार 'अन्ध' शब्द अपने वाच्यार्थ के बाधित होने पर लक्षणा से आदर्श का बोधन करता है और प्रयोजन रूप छायाहीनत्व आदि अनेक धर्म प्रतीयमान होते हैं।

१. 'मत्त' और 'अहङ्कार' के मुख्य अर्थ प्रस्तुत में अनुपपन्न हैं, क्योंकि मेघ तो जड़ है मत्त कैसे होगा और चन्द्रमा भी अहङ्कार कैसे करेगा? इस प्रकार ये शब्द सादृश्य से लक्षणा द्वारा क्रमशः मेघ और चन्द्र को लक्षित करते हैं और तब उनसे अनेक निर्दिष्ट धर्म प्रतीयमान होते हैं। यहाँ भी मुख्यार्थ का तिरस्कार है।

ध्वन्यालोकः

असंलक्ष्यक्रमोद्द्योतः क्रमेण द्योतितः परः ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥ २ ॥

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा । स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते, कश्चित्क्रमेणेति द्विधा मतः ॥२॥

तत्र

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥ ३ ॥

जिसका अभिधेय विवक्षित है, ऐसा ध्वनि दो प्रकार का होता है, एक वह जिसके व्यङ्ग्य का क्रम संलक्षित नहीं होता है, दूसरी वह जिसके व्यङ्ग्य का क्रम संलक्षित होता है ॥ २ ॥

मुख्य रूप से प्रकाशमान व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि का आत्मा है । वह कोई वाच्य अर्थ की अपेक्षा अलक्ष्यक्रम रूप से प्रकाशित होता है और कोई क्रम से, इस प्रकार दो प्रकार भी माना गया है । वहाँ—

अङ्गी रूप से भासमान ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावशान्ति, आदि अक्रम (असंलक्ष्यक्रम) रूप से व्यवस्थित है ।

लोचनम्

विरोधादित्यभिप्रायेणाह—*असंलक्ष्येति* । सम्यङ् न लक्षयितुं शक्यः क्रमो यस्य तादृश उद्द्योत उद्द्योतनव्यापारोऽस्येति बहुव्रीहिः । ध्वनिशब्दसांनिध्याद्विवक्षिताभिधेयत्वेनान्यपरत्वमत्राक्षिप्तमिति स्वकण्ठेन नोक्तम् । *ध्वनेरिति* । व्यङ्ग्यस्येत्यर्थः । *आत्मेति* । पूर्वश्लोकेन व्यङ्ग्यस्य वाच्यमुखेन भेद उक्तः । इदानीं तु द्योतनव्यापारमुखेन द्योत्यस्य स्वात्मनिष्ठ एवेत्यर्थः । व्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्द्योतने स्वात्मनि कः क्रम इत्याशङ्क्याह—*वाच्यार्थापेक्षयेति* । वाच्योऽर्थो विभावादिः ॥

तत्रेति । तयोर्मध्यादित्यर्थः । यो रसादिरर्थः स एवाक्रमो ध्वनेरात्मा न

असंलक्ष्य— । सम्यक् प्रकार से लक्षित न किया जा सके क्रम जिसका उस प्रकार का उद्योत अर्थात् उद्योतनव्यापार वाला, यह 'बहुव्रीहि' समास है । 'ध्वनि' शब्द के सान्निध्य से, अभिधेय के विवक्षित होने के कारण 'अन्यपरत्व' आक्षेपतः यहाँ आ जाता है, अतः उसे कण्ठतः नहीं कहा है । ध्वनि का— । अर्थात् व्यङ्ग्य का । आत्मा— । पहले श्लोक से व्यङ्ग्य का वाच्य के प्रकार से भेद कहा है । किन्तु अब द्योतन व्यापार के प्रकार से द्योत्य अर्थात् व्यङ्ग्य का स्वात्मनिष्ठ भेद ही कहते हैं, यह अर्थ है । व्यङ्ग्य ध्वनि के द्योतन में, स्वयं में कौन—सा क्रम है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—वाच्य अर्थ की अपेक्षा से । वाच्य अर्थ विभाव आदि ।

वहाँ— । अर्थात् उन दोनों में से । जो रसादिरूप अर्थ है वही अक्रम होकर

लोचनम्

त्वक्रम एव सः। क्रमत्वमपि हि तस्य कदाचिद्भवति। तदा चार्थशक्त्युद्भवानुस्वानरूपभेदतेति वक्ष्यते। आत्मशब्दः स्वभाववचनः प्रकारमाह। तेन रसादिर्योऽर्थः स ध्वनेरक्रमो नाम भेदः। असंलक्ष्यक्रम इति यावत्। ननु किं सर्वदैव रसादिरर्थो ध्वनेः प्रकारः ? नेत्याह; किं तु यदाङ्गित्वेन प्रधानत्वेनावभासमानः। एतच्च सामान्यलक्षणे 'गुणीकृतस्वार्थौवि'त्यत्र यद्यपि निरूपितम्, तथापि रसवदाद्यलङ्कारप्रकाशनावकाशदानायानूदितम्। स च रसादिर्ध्वनिर्व्यवस्थित एव; न हि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति। यद्यपि च रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्, तथापि तस्य रसस्यैकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदंशात्प्रयोजकीभूतादधिकोऽसौ चमत्कारो भवति। तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति, तदा भावध्वनिः। यथा—

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः॥

अत्र हि विप्रलम्भरससद्भावेऽपीयति वितर्काख्यव्यभिचारिचमत्क्रियाप्रयुक्त आस्वादातिशयः। व्यभिचारिण उदयस्थित्यपायत्रिधर्मकाः। यदाह—'विविध-

ध्वनि का आत्मा है, न कि वह अक्रम ही है, क्योंकि उसका कभी क्रमत्व भी होता है। तब अर्थ रूप शक्ति से उत्पन्न अनुरणन रूप भेद होता है, यह कहेंगे। स्वभाव के अर्थ में 'आत्मा' शब्द प्रकार बताता है। उससे, रसादि रूप जो अर्थ है वह ध्वनि का अक्रम नामक भेद है, अर्थात् असंलक्ष्यक्रम है। शङ्का है कि क्या रसादि अर्थ हमेशा ही ध्वनि का प्रकार है ? उत्तर में कहते हैं कि, नहीं। किन्तु जब अङ्गी या प्रधान रूप से प्रतीत होता है, (तब ध्वनि का प्रकार है)। इस बात को यद्यपि (ध्वनि के) सामान्य लक्षण में 'गुणीकृतस्वार्थौ०' इस स्थल पर निरूपण कर दिया है, तथापि रसवत् आदि अलङ्कारों के प्रकाशन का अवकाश देने के लिए अनुवाद किया है। वह रस आदि ध्वनि के रूप में व्यवस्थित ही है, क्योंकि उससे शून्य काव्य कोई चीज नहीं है। यद्यपि रस से ही सारा काव्य जीवित रहता है, तथापि एकघन चमत्कार रूप भी उस रस के कहीं प्रयोजक अंश से अधिक चमत्कार होता है। वहाँ जब कोई व्यभिचारी भाव उद्रिक्त या निष्पन्न अवस्था को प्राप्त करके अतिशय चमत्कार का प्रयोजक होता है, तब भावध्वनि होता है। जैसे—

वह (उर्वशी) भले ही कुछ कोप से अन्तर्हित हो जाय पर वह अधिक कुपित नहीं होती, भले ही वह स्वर्ग चली गई हो, फिर भी उसका मन मेरे प्रति भावार्द्र है, मेरे सामने स्थित उसे असुर भी हरण नहीं कर सकते, और वह आँखों के अत्यन्त अविषय हो गई है, यह कैसा प्रकार है ?

यहाँ विप्रलम्भ रस के होने पर भी वितर्क नामक व्यभिचारी भाव के चमत्कार से प्रयुक्त अतिशय आस्वाद हो रहा है। व्यभिचारी भावों के तीन धर्म हैं—उदय,

लोचनम्

माभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिणः' इति। तत्रोदयावस्थाप्रयुक्तः कदाचित्। यथा—

याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथं शय्यामनुप्राप्तया
निर्ध्यातं परिवर्तनं पुनरपि प्रारब्धुमङ्गीकृतम्।
भूयस्तत्प्रकृतं कृतं च शिथिलक्षिप्तैकदोर्लेखया
तन्वङ्ग्या न तु पारितः स्तनभरः क्रष्टुं प्रियस्योरसः॥

अत्र हि प्रणयकोपस्योज्जिगमिषयैव यदवस्थानं न तु पारित इत्युदयावकाशनिराकरणात्तदेवास्वादजीवितम्। स्थितिः पुनरुदाहृता—'तिष्ठेत्कोपवशात्' इत्यादिना। क्वचित्तु व्यभिचारिणः प्रशमावस्थया प्रयुक्तश्चमत्कारः। यथोदाहृतं प्राक् 'एकस्मिन्न् शयने पराङ्मुखतया' इति। अयं तत्प्रशम इत्युक्तः। अत्र चेर्ष्याविप्रलम्भस्य रसस्यापि प्रशम इति शक्यं योजयितुम्। क्वचित्तु व्यभिचारिणः सन्धिरेव चर्वणास्पदम्। यथा—

ओसुरु सुम्ठि आइं मुहु चुम्बिउ जेण।
अमिअरसघोण्टाणं पडिजाणिउ तेण॥

इत्यत्र श्रुत्युक्ते तु कोपे कोपकषायगद्गदमन्दरुदिताया येन मुखं चुम्बितं

स्थिति और अपाय। जो कि कहते हैं—'विविध प्रकार (अर्थात् तीन प्रकार से) अभिमुख रूप से चरण करते हैं, अतः व्यभिचारी कहे जाते हैं'। उनमें कभी उदयावस्था से प्रयुक्त व्यभिचारी भाव होता है, जैसे—

सेज पर आई कृश अङ्गों वाली (नायिका) ने गोत्रविपर्यय (प्रिय द्वारा दूसरी नायिका के नामोच्चारण) कर दिए जाने पर सोचा कि करवट बदल ले और फिर करवट बदलना आरम्भ किया, फिर करवट बदलने का प्रयत्न किया, लेकिन एक हाथ को शिथिल करके अलग हटाया, किन्तु प्रिय के वक्ष से अपने स्तन के भार को खींच न पाई।

यहाँ नायिका का प्रणय-कोप उदय लेना ही चाहता है, ऐसी स्थिति को प्राप्त है 'नहीं वह खींच पाई' इस कथन द्वारा उसके हृदय के अवकाश का निराकरण कर देने से वही (उदय लेने की स्थिति में अवस्थान) आस्वाद का प्राण है। 'स्थिति' का उदाहरण दे चुके हैं—'तिष्ठेत् कोपवशात्०' इत्यादि से। कहीं पर व्यभिचारी भाव की प्रशम अवस्था से प्रयुक्त चमत्कार होता है। जैसा कि पहले उदाहरण दे चुके हैं—'एकस्मिन्न् शयने पराङ्मुखतया०।' यह व्यभिचारी भाव का प्रशम कहा गया है। यहाँ ईर्ष्याविप्रलम्भ रस का प्रशम है, ऐसी योजना कर सकते हैं। कहीं पर तो व्यभिचारी भाव की सन्धि ही चर्वणा (आस्वाद) प्रतिष्ठान होती है। जैसे—

ईर्ष्याजनित अश्रु से शोभित नायिका के मुख को जिसने चुम्बन किया है, उसने अमृत-रस के निगलने (रुक-रुक कर पीने) की तृप्ति को जान लिया। (?)

यहाँ 'ईर्ष्या' शब्द से अभिहित कोप में 'कोप के मिश्रण से गद्गद एवं मंद-मंद रोती हुई नायिका के मुख को जिसने चुम्बन किया उसने अमृतरस के निगलने की

लोचनम्

तेनामृतरसनिगरणविश्रान्तिपरम्पराणां तृप्तिर्ज्ञातेति कोपप्रसादसन्धिश्चमत्कार-स्थानम्। क्वचिद्व्यभिचार्यन्तरशबलतैव विश्रान्तिपदम्। यथा—

काकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति॥

अत्र हि वितर्कौत्सुक्ये मतिस्मरणे शङ्कादैन्ये धृतिचिन्तने परस्परं बाध्य-बाधकभावेन द्वन्द्वशो भवन्ती, पर्यन्ते तु चिन्ताया एव प्रधानतां ददती परमास्वादस्थानम्। एवमन्यदप्युत्प्रेक्ष्यम्। एतानि चोदयसन्धिशबलत्वादि-कानि कारिकायामादिग्रहणेन गृहीतानि।

नन्वेवं विभावानुभावमुखेनाप्यधिकश्चमत्कारो दृश्यत इति विभावध्वनिरनु-भावध्वनिश्च वक्तव्यः। मैवम्; विभावानुभावौ तावत्स्वशब्दवाच्यावेव। तच्च-र्वणापि चित्तवृत्तिष्वेव पर्यवस्यतीति रसभावेभ्यो नाधिकं चर्वणीयम्। यदा तु विभावानुभावावपि व्यङ्ग्यौ भवतस्तदा वस्तुध्वनिरपि किं न सह्यते। यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य

विश्रान्ति अर्थात् आनन्द की परम्पराओं की तृप्ति को जान लिया' इस प्रकार कोप और प्रसाद की सन्धि चमत्कार का स्थान है।

कहीं पर व्यभिचारी का एक–दूसरे व्यभिचारी में मिल जाना (शबलता) ही विश्रान्ति (आनन्द) का पद (प्रतिष्ठान) होता है। जैसे—

(यह ब्राह्मण-कन्या में आसक्ति रूप) अकार्य (ग़लत कार्य) कहाँ और चन्द्र का वंश कहाँ ? काश, वह फिर और भी दिख जाती ! मैंने दोषों के शमन करने के लिए शास्त्र पढ़ा है, अहो ! उसका मुख कोप की अवस्था में भी सुन्दर लगता है; मालिन्य से रहित एवं सुन्दर आचरण वाले लोग क्या कहेंगे ? वह स्वप्न में भी दुर्लभ है; हे चित्त, तू धीरज धारण कर, कौन धन्य युवक होगा जो उसके अधर का पान करेगा ?

यहाँ, वितर्क और औत्सुक्य, मति और स्मरण, शङ्का और दैन्य, धृति और चिन्तन भाव परस्पर बाध्य-बाधक रूप में रहते हुए पर्यन्त में चिन्ता को प्रधान करते हुए परम आस्वाद के प्रतिष्ठान हैं। इसी प्रकार और की भी उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिए। ये उदय, सन्धि, शबलता आदि कारिका में 'आदि' शब्द से ग्रहण किए गए हैं।

शङ्का है कि इस प्रकार विभाव और अनुभाव के प्रकार से भी अधिक चमत्कार देखा जाता है, ऐसी स्थिति में विभावध्वनि और अनुभावध्वनि को कहना चाहिए ! उत्तर है कि, ऐसा नहीं; विभाव और अनुभाव अपने शब्द से ही वाच्य होते हैं, उनकी चर्वणा भी चित्तवृत्तियों में ही पर्यवसित होती है, इस लिए रस और भावों से अधिक (दूसरा) चर्वणा के योग्य नहीं है। जब कि विभाव और अनुभाव व्यङ्ग्य होते हैं, तब वस्तुध्वनि को क्यों नहीं मान लेते हैं ? जब कि विभावाभाव से रत्याभास का उदय होगा तब विभाव के भी साथ भासित होने के कारण चर्वणाभास होगा,

लोचनम्

विषयः। यथा रावणकाव्याकर्णने शृङ्गाराभासः। यद्यपि 'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यः' इति मुनिना निरूपितं तथाप्यौत्तरकालिकं तत्र हास्यरसत्वम्।

दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं
चेतः कालकलामपि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना।

इत्यत्र तु न हास्यचर्वणावसरः। ननु नात्र रतिः स्थायिभावोऽस्ति। परस्परास्थाबन्धाभावात् केनैतदुक्तं रतिरिति। रत्याभासो हि सः। अतश्चाभासता येनास्य सीता मय्युपेक्षिका द्विष्टा वेति प्रतिपत्तिर्हृदयं न स्पृशत्येव। तत्स्पर्शे हि तस्याप्यभिलाषो विलीयेत। न च मयीयमनुरक्तेत्यपि निश्चयेन कृतं, कामकृतान्मोहात्। अत एव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्र स्थाप्यते शुक्तौ रजताभासवत्। एतच्च शृङ्गारानुकृतिशब्दं प्रयुञ्जानो मुनिरपि सूचितवान्। अनुकृतिरमुख्यता आभास इति ह्येकोऽर्थः। अत एवाभिलाषे एकतरनिष्ठेऽपि शृङ्गारशब्देन तत्र तत्र व्यवहारस्तदाभासतया मन्तव्यः। शृङ्गारेण वीरादीनामप्याभासरूपतोपलक्षितैव। एवं रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दाः। आस्वादे प्रधानं प्रयोजकमेवमंशं विभज्य पृथग्व्यवस्थाप्यते। यथा गन्धयुक्ति-

इस प्रकार रसाभास का विषय होगा। जैसे रावणकाव्य के श्रवण करने में शृङ्गाराभास होगा। यद्यपि भरत मुनि ने निरूपण किया है कि 'जो शृङ्गार का अनुकरण हो उसे हास्य कहना चाहिए', तथापि हास्यरस की स्थिति (शृङ्गार के) उत्तर काल में होती है।

'दूर ही से आकर्षण कर लेने वाले मोहमन्त्र की भाँति उसके नाम के कान में प्रवेश करते ही चित्त थोड़ी देर भी उसके बिना नहीं ठहर पाता है।'

यहाँ हास्यरस की चवंणा का अवसर नहीं है। जब कि रति स्थायिभाव यहाँ नहीं है क्योंकि एक-दूसरे के प्रति (परस्पर) आस्था बन्ध का अभाव है फिर किसने कहा कि यह रति है? क्योंकि वह रत्याभास है। इस कारण से भी रति की आभासता जाहिर होती है कि रावण के हृदय को यह ज्ञान छू तक नहीं सका है, कि सीता मेरे प्रति उपेक्षा का भाव रखती है या द्वेष का। यदि उसे ऐसा ज्ञान होता तो उसका अभिलाष विलीन हो जाता। 'मुझ में यह अनुरक्त है' यह निश्चय भी नहीं है, क्योंकि कामजनित मोह हो चुका है। इसलिए रति की आभासता को वस्तुतः वहाँ स्थापित करते हैं, जैसे शुक्ति में रजत का आभास होता है। इसे 'शृङ्गार की अनुकृति' इस शब्द का प्रयोग करते हुए मुनि ने भी सूचित कर दिया है। अनुकृति, अमुख्यता और आभास एक ही अर्थ है। इस लिए अभिलाष जब किसी एक (पक्ष) में ही रहे, तब 'शृङ्गार' शब्द से व्यवहार उसके आभास के रूप में मानना चाहिए। एक शृङ्गार के कहने से वीर आदि रसों की भी आभासरूपता उपलक्षित ही है। इस प्रकार ये भावध्वनि प्रभृति रसध्वनि के ही निष्यन्द हैं। आस्वाद के इस प्रकार प्रधान अंश को विभक्त करके अलग व्यवस्थापित करते हैं। जिस प्रकार गन्ध योजना की कला के जानकार लोग एक रस के आस्वाद से व्याप्त आमोद (गन्ध) के

ध्वन्यालोकः

रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येनावभासते। स चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा।

रसादि रूप अर्थ वाच्य के साथ हीसा प्रतीत होता है। और वह अङ्गी (प्रधान) रूप से प्रतीत होता हुआ ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) है।

लोचनम्

ज्ञै रेकरससम्मूर्च्छितामोदोपभोगेऽपि शुद्धमास्यादिप्रयुक्तमिदं सौरभमिति। रसध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतया विभावानुभावव्यभिचारिसंयोजनोदित-स्थायिप्रतिपत्तिकस्य प्रतिपत्तुः स्थाय्यंशचर्वणाप्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः। यथा—

कृच्छ्रेणोरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निःष्पन्दतामागता।
मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ
साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने॥

अत्र हि नायिकाकारानुवर्ण्यमानस्वात्मप्रतिकृतिपवित्रितचित्रफलकावलोकनाद्वत्सराजस्य पररूपरास्थाबन्धरूपो रतिस्थायिभावो विभावानुभावसंयोजनवशेन चर्वणारूढ इति। तदलं बहुना! स्थितमेतत्—रसादिरर्थोऽङ्गित्वेन भासमानोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रकार इति। *सहेवेति*। इवशब्देनासंलक्ष्यता विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्याता। *वाच्येनेति*। विभावानुभावादिना।

उपभोग में भी कहते हैं कि यह गन्ध शुद्ध मांसी (एक प्रकार का गन्ध द्रव्य) आदि से तैयार है। रसध्वनि तो वही है जो यहाँ मुख्य रूप से विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के संयोग से उत्पन्न स्थायी भाव की प्रतिपत्ति या ज्ञान वाले ज्ञाता या सहृदय का स्थायी के अंश की चर्वणा के कारण ही प्रकृष्ट आस्वाद है। जैसे—

'प्यासी हुई सी मेरी दृष्टि कठिनाई से प्रिया के ऊरुयुगल को पार कर, नितम्ब के स्थल में देर तक भ्रमण कर, इसके त्रिवली की तरङ्गों से विषम मध्यभाग में निश्चलभाव को प्राप्त कर गई, अब इन उन्नत स्तनों पर धीरे से चढ़ कर हसरत के साथ अश्रुजल को बरसने वाली आँखों को बार-बार देख रही है।'

यहाँ, नायिका (रत्नावली) के आकार रूप चित्र से देखी गई अपनी प्रतिकृति (चित्र) से पवित्र हुए फलक को देखने के कारण वत्सराज (उदयन) का परस्पर आस्थारूप रति-स्थायिभाव विभाव और अनुभाव के संयोजन के कारण चर्वणा की स्थिति तक आरूढ़ हो गया है। बहुत कहने से फायदा नहीं! बात यह हुई—रसादि अर्थ अङ्गी या प्रधान रूप से भासमान होकर असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का प्रकार है। साथ[1] जैसा—। 'जैसा' या 'सा' (इव) शब्द से क्रम के रहते हुए भी उसका संलक्ष्यता व्याख्यान की गई है। वाच्य के साथ—। अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि के साथ।

१. वृत्तिग्रन्थ के 'सहेव' का 'निर्णयसागर' के संस्करण का पाठ 'सहैव' है। इसके अनुसार

ध्वन्यालोकः

इदानीं रसवदलङ्कारादलक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो ध्वनेर्विभक्तो विषय इति प्रदर्श्यते—

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम् ।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः ॥ ४ ॥

अब रसवद् अलङ्कार से अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप ध्वनि का विषय अलग है, यह दिखाते हैं—

नाना प्रकार के वाच्य, वाचक और उनके चारुत्व-हेतुओं का जहाँ रस आदि में तात्पर्य हो, वह 'ध्वनि' का विषय माना गया है ॥ ४ ॥

लोचनम्

नन्वङ्गित्वेनावभासमान इत्युच्यते; तत्राङ्गत्वमपि किमस्ति रसादेर्येन तन्निराकरणायैतद्विशेषणमित्यभिप्रायेणोपक्रमते—*इदानीमित्यादिना*। अङ्गत्व-मस्ति रसादीनां रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितालङ्काररूपतायामिति भावः। अनया च भङ्ग्या रसवदादिष्वलङ्कारेषु रसादिध्वनेर्नान्तर्भाव इति सूचयति।

शङ्का है कि जब 'अङ्गी या प्रधान रूप से अवभासमान' (ध्वनि को) कहते हैं तो वहाँ रसादि का अङ्गत्व भी क्या है? जिससे उसके (अङ्गत्व) के निराकरण के लिए यह विशेषण है, इस अभिप्राय से उपक्रम करते हैं—'अब'इत्यादि द्वारा। भाव यह कि रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि, समाहित अलङ्कार के रूपों में रसादि का अङ्गत्व है। इस अङ्गी के द्वारा सूचित करते हैं कि रसवद् आदि अलङ्कारों में रसादि[1] ध्वनि का

'रसादि अर्थ वाच्य के साथ ही प्रतीत होता है' यह अर्थ होता है। किन्तु यह पाठ भ्रमपूर्ण ही है। क्योंकि वाच्य विभावादि और रसादि अर्थ की प्रतीति में क्रम अवश्य होता है किन्तु वह व्यङ्ग्य रसादि की प्रतीति इतनी शीघ्रता से होती है कि वह क्रम संलक्षित नहीं हो पाता। जैसे कमल के सैकड़ों पत्तों को एक बार सूचिका से छेदने पर क्रम की प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार वाच्य के साथ ही रसादि की प्रतीति न होकर वाच्य के साथ जैसी ही प्रतीति होती है, अतः 'एव' (ही) के स्थान पर 'इव' (जैसा) पाठ ही उचित है। दूसरे यह भी कि वाच्य के साथ ही व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कैसे सम्भव है? क्योंकि दो अर्थों का एक ही समय में ज्ञान मन की सामर्थ्य से बाहर है। लोचनकार ने 'सहेव' पाठ को ही निर्दिष्ट किया है।

१. जब रस प्रधान होता है अर्थात् अङ्गी होता है तब रसादि ध्वनि होती है, किन्तु जब रस की स्थिति अप्रधान या अङ्ग की होती है तब वह रसवत् आदि अलङ्कार की कोटि में आता है। अलङ्कारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का सम्भव न होने की बात पहले कह चुके हैं। समासोक्ति आदि अलङ्कारों में ध्वनि का सामान्यतः अन्तर्भाव तो है ही नहीं, इसी प्रकार रसवद् अलङ्कार में भी रसादि ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं है। यह भी बात पहले कही गई है कि वस्तुध्वनि का समासोक्ति आदि अलङ्कारों में अन्तर्भाव नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि ध्वनि तत्त्व सर्वथा एक अलग अस्तित्व रखता है।

लोचनम्

पूर्वं हि समासोक्त्यादिषु वस्तुध्वनेर्नान्तर्भाव इति दर्शितम्। वाच्यं च वाचकं च तच्चारुत्वहेतवश्चेति द्वन्द्वः। वृत्तावपि शब्दाश्चालङ्काराश्चार्थाश्चालङ्काराश्चेति द्वन्द्वः। *मत* इति। पूर्वमेवैतदुक्तमित्यर्थः। ननूक्तं भट्टनायकेन—'रसो यदा

अन्तर्भाव नहीं है। पहले दिखा चुके हैं कि समासोक्ति आदि अलङ्कारों में वस्तुध्वनि का अन्तर्भाव नहीं है। 'वाच्य और वाचक और उनके चारुत्वहेतु' यह द्वन्द्व समास है। वृत्ति में भी 'शब्द, अलङ्कार और अर्थालङ्कार' यह द्वन्द्व समास है। माना गया है।—अर्थात् पहले ही यह कहा जा चुका है। शङ्का—भट्टनायक[1] ने कहा है 'रस यदि परगत

१. इसके सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के सैद्धान्तिक विचारों के जानने के पूर्व सामान्यतः यहाँ भरत मुनि के 'रससूत्र' से परिचित होना आवश्यक है, क्योंकि प्राचीन सभी व्याख्याएँ उन्हीं के रस-सूत्र पर आधारित हैं। भरतमुनि कहते हैं—'विभावानुभावसञ्चारिसंयोगाद् रस-निष्पत्तिः।' अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी या व्यभिचारी भाव के संयोग से (स्थायीभाव) रस रूप में निष्पन्न होता है। इसके पूर्व कि हमें इस सूत्र की विभिन्न व्याख्याएँ विदित हों, विभाव आदि को समझ लेना आवश्यक है।

स्थायीभाव—वासना के रूप में बहुत काल तक प्राणियों के, विशेष रूप से मनुष्य के भीतर स्थिर रहने वाली चित्तवृत्तियाँ 'स्थायीभाव' कहलाती हैं। साहित्य-शास्त्र में आठ स्थायीभावों का निर्देश है—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥

कुछ लोगों ने 'निर्वेद' (वैराग्य) को भी एक स्थायीभाव माना है।

विभाव—वे पदार्थ, जिनसे स्थायीभाव उद्बुद्ध होते हैं 'विभाव' कहलाते हैं। वे दो प्रकार के हैं—आलम्बन और उद्दीपन। नायक-नायिका आलम्बन-विभाव हैं और उद्यान, चन्द्रोदय आदि उद्दीपन-विभाव हैं। आलम्बन-विभाव से स्थायीभाव उद्बुद्ध हो जाता है और उद्दीपन-विभाव से अङ्कुरित हो जाता है। अङ्कुरण भी उद्बोधन का ही एक रूप है।

अनुभाव—बाह्य कटाक्ष आदि चेष्टाएँ 'अनुभाव' कहलाती हैं। इनसे स्थायीभाव प्रतीत होने लगता है। विभाव स्थायीभाव के कारण माने जाते हैं अनुभाव कार्य। चेष्टाएँ स्थायीभाव या उद्बुद्ध वासना के अनुसार होती हैं अतः पश्चात् होने के कारण उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं (अनु पश्चाद् भवन्तीत्यनुभावाः)। इन कार्य रूप अनुभावों अर्थात् कटाक्षादि चेष्टाओं से रत्यादि स्थायीभाव शीघ्र अवगत हो जाते हैं।

सञ्चारी भाव या व्यभिचारी भाव—ये स्थिर न रहनेवाली चित्तवृत्तियाँ हैं। जब कि स्थायीभाव स्थायी होते हैं तो ये व्यभिचारीभाव अस्थायी होते हैं।

इस प्रकार आलम्बन और उद्दीपन विभावों से स्थायीभाव उद्बुद्ध होता है, अनुभावों से प्रतीति के योग्य होता है और व्यभिचारियों से परिपोष प्राप्त कर आस्वाद्यमान हो 'रस' हो जाता है। इस प्रकार साहित्यिक आचार्यों ने रस आठ माने हैं—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

जिन्होंने 'निर्वेद' को भी स्थायीभाव माना है, वे 'शान्त' को नवम रस मानते हैं।

लोचनम्

परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन रामादिच-रितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्यो-

रूप से (अर्थात् सहृदय से अतिरिक्त में) प्रतीत होता है, तब ताटस्थ्य (सहृदय से असम्बन्ध) ही होगा (अर्थात् स्वयं सहृदय को ऐसी स्थिति में रसप्रतीति नहीं होगी)।

भट्टनायक का रस-विचार—भरत के रस-सूत्र के अनुसार विभाव आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस पर भट्टनायक पहले 'प्रतीति' की दृष्टि से विचार करते हैं और तत्पश्चात् उसकी प्रक्रिया का अपने अनुसार निरूपण करते हैं। पहले यह विचार करते हैं कि रस की प्रतीति 'परगत' रूप से होती है या 'स्वगत' रूप से। अर्थात् सहृदय को रस का बोध अनुकार्य राम या अनुकर्ता नट में होता है अथवा अपने में। भट्टनायक के विचार में दोनों पक्षों में किसी को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि रस को अनुकार्य या अनुकर्ता में मानते हैं तो सहृदय एक तटस्थ व्यक्ति हो जाता है, ऐसी स्थिति में, उसे क्या आ पड़ी है कि वह भिन्न के रस से स्वयं आनन्द का अनुभव करे। और यदि 'स्वगत' रूप से अर्थात् सहृदय में रस को मानते हैं तब यह स्वीकार करना पड़ता है कि रस सहृदय में उत्पन्न होता है। किन्तु यह ठीक इसलिए नहीं है कि सीता तो सहृदय या सामाजिक का 'विभाव' नहीं है और रस जब भी उत्पन्न होगा तब विभाव से ही उत्पन्न होगा। सहृदय या सामाजिक को जब तक यह भावना है कि सीता राम की पत्नी है तब तक सीता की रामविषयक रति की चर्वणा कैसे कर सकता है? यदि साधारण कान्तात्व की भावना यहाँ मानते हैं तब भी जो कि सीता आदि में पूज्य-बुद्धि है वह किसी प्रकार सहृदय की रति का उद्बोध नहीं होने देगी। दूसरे यह भी नहीं कि सहृदय तत्काल अपनी पत्नी को स्मरण करने लगता है। पुनश्च राम आदि अलौकिक पात्रों के समुद्रबन्धन आदि विभावों का साधारण्य कैसे बन सकता है? इस प्रकार साधारणीकरण के सम्भव न होने के कारण स्वगतरूप से भी रस की प्रतीति नहीं होगी।

राम के उत्साह आदि के स्मरण यदि साधारणीकरण में सहायक मानते हैं तब भी पूर्व अनुभव के न होने के कारण स्मरण भी नहीं बनता है और काव्यरूप शब्द से यदि प्रतीति करते हैं तब तो लोक में प्रत्यक्ष नायिका-नायक को देखकर भी द्रष्टा को रस उत्पन्न होना चाहिए। सामाजिकों में रस की उत्पत्ति मानने में यह एक और कठिनाई है कि करुण रस के उत्पन्न होने पर दुःखी होने के कारण किसी प्रकार पुनः वे करुण-रस की प्रेक्षा में प्रवृत्त न होंगे। इन अनेक कारणों से सहृदयों में रस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार उनमें रस की अभिव्यक्ति भी नहीं होगी। क्योंकि शृङ्गार जो वासना या शक्ति के रूप में सहृदयों के अन्तःकरण में विद्यमान रहता है उसकी अभिव्यक्ति स्वीकार करने पर कान्ता आदि उपायों के तारतम्य की स्थिति में भी अभिव्यक्ति में भी तारतम्य होगा। जिस प्रकार अन्धकार में पड़ी वस्तु की अभिव्यक्ति अधिक से अधिक तभी होगी जब अधिक से अधिक उस अभिव्यक्ति के उपायभूत आलोक को सम्पादित करेंगे, उसी प्रकार रस की भी अभिव्यक्ति तारतम्य-युक्त होगी यह एक दोष, दूसरा दोष यह कि अभिव्यक्ति को परगत मानते हैं या स्वगत, यह झगड़ा तब भी रह ही जाता है।

इस प्रकार भट्टनायक काव्य से रस के प्रतीत, उत्पन्न या अभिव्यक्त होने के सिद्धान्तों का निराकरण करके अपने मत का प्रतिष्ठापन करते हैं कि काव्यात्मक शब्द, चूँकि अन्य शब्दों से विलक्षण होते हैं, के अभिधायकत्व, भावकत्व और भोजकत्व ये तीन अंशभूत व्यापार हैं। प्रथम अर्थविषयक व्यापार है, दूसरा रसादि-विषयक और तीसरा सहृदय-विषयक व्यापार है। और को न मानकर यदि केवल शुद्ध अभिधा को ही यहाँ मानते हैं तो शास्त्र के 'तन्त्र' आदि

लोचनम्

त्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता, सीतायाः सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्—देवतावर्णनादौ तदपि कथम्। न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते, अननुभूतत्वात्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद् दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्न उत्पत्तिरपि, नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृङ्गारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात्। तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः।

और स्वगत रूप से (अर्थात् सहृदय में) वह (रस) राम आदि के चरित रूप काव्य से नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि अपने आप में प्रतीति मान लेने पर सहृदय में रस की उत्पत्ति माननी होगी। परन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि सामाजिक (या सहृदय) के प्रति सीता विभाव नहीं है। यदि कहिए कि साधारण कान्तात्व रत्यादि वासना के विकास के हेतुभूत विभावना में प्रयोजक है। तो वह भी देवता के वर्णन आदि में कैसे होगा ? ऐसा नहीं कि बीच में अपनी कान्ता के स्मरण का संवेदन होता है। और, आलोक सामान्य. चरित वाले राम आदि में जो समुद्र के सेतुबन्ध आदि विभाव हैं, वे कैसे साधारण्य को प्राप्त कर सकते हैं ? और उत्साह आदि से युक्त राम का तत्काल स्मरण भी नहीं होता, क्योंकि उनका पहले कभी अनुभव नहीं हुआ रहता है। शब्द रूप काव्य से यदि उस रामगत उत्साह की प्रतीति करते हैं, तब भी (सहृदयों के) रस उत्पन्न नहीं होगा, जैसे नायक-नायिका को प्रत्यक्ष देखकर (किसी के रसोत्पत्ति नहीं होती)। रस की उत्पत्ति को (सहृदयों में) मान लेने पर करुण रस के उत्पन्न होने से दुःखी होने पर पुनः वे (सहृदय) करुण रस-प्रधान नाटकों में प्रवृत्त नहीं होंगे। इस लिए उत्पत्ति भी नहीं, अभिव्यक्ति भी नहीं। शक्ति या वासना रूप शृङ्गार (और वीर आदि अन्य रस) की अभिव्यक्ति में विषय के अर्जन (ग्रहण) में अनुभव के अंश में तारतम्य की

से और काव्य के 'श्लेष' अलङ्कार से भेद रह जायगा ? (अनेक अर्थ के बोध की इच्छा से एक पद का एक बार उच्चारण 'तन्त्र' कहलाता है 'हलन्त्यम्' में दो अर्थ हैं।) यदि कहिए कि शास्त्र के शब्दों में नागरिका आदि वृत्तियों का विचार नहीं होता और श्रुतिदुष्ट आदि दोषों का वर्जन नहीं होता, यही दोनों का भेद या अन्तर है। तो इतने मात्र से कुछ भी नहीं होगा। इसलिए रसभावनाख्य या भावकत्व रूप द्वितीय व्यापार की कल्पना करते हैं। इस व्यापार से अभिधा विलक्षण हो जाती है। यह व्यापार रसविषयक होकर विभावादि को 'साधारण' बना देता है। इस प्रकार रस के भावित होने पर सहृदय को भोजकत्व व्यापार से रस का 'भोग' होता है। वह 'भोग' अनुभव और स्मरण से विलक्षण, द्रुतविस्तरविकासरूप, रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमय, चित्स्वभाव, निर्वृति या आनन्दरूप, परब्रह्मास्वादसहोदर एवं विश्रान्ति या विगलितवेद्यान्तर-स्थिति रूप है। इस प्रकार भोजकत्ववादी भट्टनायक का मत है।

लोचनम्

तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः। किं त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्त्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूता व्यापाराः। तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात्तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः? वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम्? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः; यद्वशादभिधा विलक्षणैव। तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः। स एव च प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूप इति। व्युत्पत्तिर्नामाप्रधानमेवे'ति।

अत्रोच्यते—रसस्वरूप एव तावद्विप्रतिपत्तयः प्रतिवादिनाम्। तथाहि—

प्रवृत्ति करनी पड़ेगी। वहाँ भी, क्या स्वगत (सहृदयात्मगत) रस अभिव्यक्त होगा, या परगत, यह दोष पहले के समान ही है। इस लिए काव्य से रस न प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है, न अभिव्यक्त होता है। किन्तु तीन अंशों वाला होने के प्रसाद से काव्य रूप शब्द की अन्य शब्दों से विलक्षणता है। वहाँ अभिधायकत्व (अभिधा) वाच्यविषयक व्यापार है भावकत्व रसादिविषयक व्यापार है और भोगकृत्व (भोजकत्व) सहृदयविषयक व्यापार है, इस प्रकार काव्यरूप शब्द के ये तीन अंशभूत व्यापार हैं। वहाँ यदि अभिधा के अंश को शुद्ध (अर्थात् इतर व्यापार से अनालिङ्गित) मान लिया जाय तो तन्त्र आदि शास्त्र के प्रकारों से श्लेष आदि अलङ्कारों का क्या भेद होगा? उपनागरिका आदि वृत्तियों के भेदों का वैचित्र्य (विलक्षणता) कुछ नहीं कर सकती। और फिर श्रुतिदुष्ट आदि दोषों का वर्जन किस काम का होगा? इस लिए रसभावनारूप दूसरा व्यापार है, जिसके कारण अभिधा विलक्षण ही हो जाती है। वह यह भावकत्व रसों के प्रति जो काव्य के उन रसों के विभावादि के साधारणीकरणत्व आपादन है। रस के भावित होने पर, उसका भोग, जो अनुभव, स्मरण और प्रतिपत्ति से विलक्षण ही है, और वह द्रुति, विस्तार और विकास रूप है, तथा रजस् और तमस् के वैचित्र्य से अनुविद्ध स्वात्मचैतन्य रूप लोकोत्तर आनन्द है, अर्थात् विगलित वेद्यान्तररूप में अवस्थिति रूप वाला एवं परब्रह्म के आस्वाद का समीपवर्ती है। वही प्रधानभूत अंश सिद्धरूप है। (सहृदयों को) व्युत्पत्ति (चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति रूप फल) मिलता है, वह तो अप्रधान है।'

इस प्रसङ्ग में कहते हैं—रस के स्वरूप के सम्बन्ध में ही प्रतिवादियों के विभिन्न मत हैं। जैसा कि—कुछ लोग कहते हैं[1] 'पूर्व अवस्था' में जो 'स्थायी' है वही व्यभि-

१. भट्ट लोल्लट आदि का उत्पत्तिवाद—विभावादि के संयोग से रस की निष्पत्ति या उत्पत्ति होती है। यह रस की उत्पत्ति अनुकार्य राम में होती है। इस विचार को 'काव्य-प्रकाश' में इस

लोचनम्

पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरस इति केचित्। प्रवाहधर्मिण्यां चित्तवृत्तौ चित्तवृत्तेः चित्तवृत्त्यन्तरेण कः परिपोषार्थः? विस्मयशोकक्रोधादेश्च

चारी भावों के सम्पात आदि से परिपोष प्राप्त करके अनुकार्य (राम आदि) में ही 'रस' होता है। परन्तु नाट्य में प्रयोग किए जाने के कारण नाटच का रस होता है। कुछ लोग कहते हैं कि—"चित्तवृत्ति के प्रवाहधर्म होने से एक चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति से

प्रकार कहा है कि रत्यादि स्थायीभाव ललना आदि आलम्बन विभावों से उत्पन्न होता है, उद्यान आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीपित होता है, कटाक्ष आदि अनुभावों से प्रतीतियोग्य होता है और उत्कण्ठादि व्यभिचारियों से परिपोषित हुआ 'रस' रूप में अनुकार्य में होता है। और नट में सामाजिक लोग राम आदि के रूप के अनुसन्धान के कारण आरोप करते हैं। इस प्रकार अनुकार्यगत रस का अनुकर्ता नट में आरोप ही उनके चमत्कार का कारण होता है। मुख्यरूप से रामादि अनुकार्य में और गौणरूप से अनुकर्ता नट में रस की प्रतीति होती है, यह भट्टलोल्लट का मत 'लोचन' में बहुत संक्षिप्तरूप से कहा है। भरतमुनि ने नाट्य से सम्बद्ध होने के कारण 'नाट्यरस' कहा है। इसका यह अर्थ नहीं कि रस नाट्य में उत्पन्न होता है।

१. श्रीशङ्कुक का अनुमितिवाद—यद्यपि 'लोचन' में उपर्युक्त मत और प्रस्तुत मत के आचार्यों के नाम का उल्लेख नहीं है तथापि 'अभिनवभारती' और 'काव्यप्रकाश' आदि ग्रन्थों के अनुसार आचार्यों का मैंने नामोल्लेख किया है। अस्तु, प्रस्तुत मत के आचार्य श्रीशङ्कुक भट्टलोल्लट प्रभृति के 'अनुकार्यगत रस' के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार स्थायीभाव का व्यभिचारी आदि भावों से परिपोष जैसा कि उपर्युक्त मत में कहा गया है, सम्भव नहीं, क्योंकि जब कि चित्तवृत्तियाँ प्रवाहधर्म होती हैं, कभी एक सी नहीं रहतीं, फिर कैसे एक से दूसरी का परिपोष बन सकेगा। बल्कि इसके विपरीत क्रमशः चित्तवृत्तियाँ शिथिल ही हो जाती हैं। इसलिए व्यभिचारी आदि द्वारा स्थायीभाव के परिपोष के न बनने के कारण अनुकार्य में रस की बात गलत हो जाती है।

दूसरे यदि कहते हैं कि तब अनुकर्ता नट में रस की सत्ता मान लिया जाय तो यह भी बात नहीं, क्योंकि जब नट में रस की सत्ता ही सिद्ध हो गई तो उसके द्वारा लय आदि के अनुसरण की बात नहीं बनती। वह अनुकर्ता नट इसलिए लय आदि का अनुसरण करता है कि उससे रस का अनुभव हो; जब रस उसमें पहले से सिद्ध है तो उसका यह उद्योग व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। और तीसरे यदि सामाजिक में रस मानते हैं तो उसे चमत्कार क्या मिलता है? प्रेम किसी और ने किया, सुख किसी और को मिला, उससे सामाजिक को क्या मिला? बल्कि करुण आदि में तो सामाजिक को दुःख ही अनुभव होना चाहिए, क्योंकि रस उसमें उत्पन्न होता है! इस प्रकार यह भी पक्ष नहीं।

यदि 'स्थायी का अनुकरण रस है' यह कहेंगे तब भी स्थायी के अनन्त होने के कारण किसी नियत स्थायी का अनुकरण ही नहीं बन सकेगा और उसका न तो उस स्थायी के अनुकरण का कोई प्रयोजन ही प्रतीत होता है। और यदि सामाजिकों को यह प्रतीत होता है कि नट किसी विशिष्ट स्थायी का अनुकरण कर रहा है तो तटस्थ नट के प्रति उनकी उदासीनता होगी और इस प्रकार उन्हें चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति भी नहीं होगी।

अपने मत के अनुसार श्री शङ्कुक का यह कहना है कि रस नाट्य में रहता है। क्योंकि

लोचनम्

क्रमेण तावन्न परिपोष इति नानुकार्ये रसः। अनुकर्तरि च तद्भावे लयाद्यननुसरणं स्यात्। सामाजिकगते वा कश्चमत्कारः? प्रत्युत करुणादौ दुःखप्राप्तिः। तस्मान्नायं पक्षः। कस्तर्हि? इहानन्त्यान्नियतस्यानुकारो न शक्यः, निष्प्रयोजनश्च, विशिष्टताप्रतीतौ ताटस्थ्येन व्युत्पत्त्यभावात्।

तस्मादनियतावस्थात्मकं स्थायिनमुद्दिश्य विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयुज्यमानैरयं रामः सुखीति स्मृतिविलक्षणा स्थायिनि प्रतीतिगोचरतयास्वादरूपा प्रतिपत्तिरनुकर्त्रालम्बना नाट्यैकगामिनी रसः। स च न व्यतिरिक्तमाधारमपेक्षते। किं त्वनुकार्याभिन्नाभिमते नर्तके आस्वादयिता सामाजिक इत्येतावन्मात्रमदः। तेन नाट्य एव रसः, नानुकार्यादिष्विति केचित्।

परिपोषरूप फल क्या होगा? दूसरे यह कि विस्मय, शोक और क्रोध आदि का क्रम से परिपोष नहीं होता है, अतः अनुकार्य में रस नहीं हो सकता। यदि अनुकर्ता नट में रस को मानेंगे तो नट में रस जब सिद्ध ही है तब उसके द्वारा रसोपयोगी ताल-लय आदि का अनुसरण नहीं बनेगा। और यदि सामाजिक में रस स्वीकार करेंगे तब कौन-सा चमत्कार होगा? प्रत्युत करुण आदि रस में (सामाजिक को) दुःख की प्राप्ति होगी। अतः यह पक्ष नहीं हो सकता। फिर कौन होगा? तत्तद्गत रत्यादि भाव के अनन्त होने के कारण नियत (निश्चित, एक अवस्था वाले स्थायी) का अनुकरण नहीं किया जा सकता और वह निष्प्रयोजन भी है, क्योंकि स्थायी के वैशिष्य की प्रतीति में (नट के) तटस्थ होने के कारण (चतुर्वर्ग, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के उपाय रूप) व्युत्पत्ति नहीं होगी।

इस लिए जिसकी अवस्था नियत नहीं है ऐसे स्थायी को उद्देश करके संयोग प्राप्त करते हुए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी से 'यह राम सुखी है' यह स्मृति से विलक्षण, स्थायी के प्रतीतिगोचर होने के कारण आस्वादरूप, अनुकर्ता नट में आलम्बित, एकमात्र नाट्य में रहने वाली प्रतिपत्ति (ज्ञान) 'रस' है। वह रस दूसरे आधार की अपेक्षा नहीं करता किन्तु अनुकार्य (राम आदि) से अभिन्न रूप में मान लिए गए नर्तक में सामाजिक आस्वाद प्राप्त करता है, यह इतना मात्र है। इस लिए नाट्य में ही रस है अनुकार्य आदि में नहीं।'

अनियत अवस्था वाले स्थायी को उद्देश्य करके संयोग प्राप्त करते हुए विभावानुभावव्यभिचारी भावों के द्वारा अनुकर्त्ता नट को आलम्बन करके जो स्थायी की नाट्यगत प्रतीति है, वही रस है। सामाजिक अनुकर्ता नट को देख कर अनुभव करता है कि यह (नर्तक या नट) सीताविषयकरतिमान् राम है, इस प्रकार नर्तक को वह राम आदि अनुकार्य से अभिन्न मान लेता है। रस एक आस्वादरूप प्रतीति है जो सामाजिक की विशिष्ट बुद्धि के होने पर मानी जाती है। सामाजिक नट को देख कर अनुमान द्वारा अनुकार्य रामादि से उसे अभिन्न मान लेता है, उसके स्थायी का आस्वाद प्राप्त करता है। इस प्रकार श्री शङ्कुक के अनुसार 'रस' नट के आश्रित रूप में नाट्य के आश्रित है।

लोचनम्

अन्ये तु—अनुकर्तरि यः स्थाय्यवभासोऽभिनयादिसामग्र्यादिकृतो भित्ताविव हरितालादिना अश्वावभासः, स एव लोकातीततयास्वादापरसंज्ञया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति नाट्याद्रसा नाट्यरसाः। अपरे पुनर्विभावानुभावमात्रमेव विशिष्टसामग्र्या समर्प्यमाणं तद्विभावनीयानुभावनीयस्थायिरूपचित्तवृत्त्युचितवासनानुषक्तं स्वनिर्वृतिचर्वणाविशिष्टमेव रसः। तन्नाट्यमेव रसाः। अन्ये तु शुद्धं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम्,

अन्य लोग[1] कहते हैं—अनुकर्ता नट में अभिनयादि सामग्री आदि से उत्पन्न जो स्थायी का अवभास (मिथ्या ज्ञान), भीत पर हरिताल आदि से अश्व के मिथ्या ज्ञान की भाँति, है, वही लोकातीत होने के कारण 'आस्वाद' नामक प्रतीति से रस्यमान हो 'रस' है, इस प्रकार नाट्य से रस 'नाट्यरस' कहलाते हैं। और लोगों[2] के अनुसार विभाव-अनुभाव मात्र ही, विशिष्ट सामग्री के द्वारा (सामाजिकों) में समर्पित, उनसे विभावनीय एवं अनुभावनीय स्थायी रूप चित्तवृत्ति के उचित वासना में सम्बद्ध, एवं सामाजिक की निर्वृति या आनन्दरूप चर्वणा से विशिष्ट होकर ही रस है। इस प्रकार नाट्य ही रस[3] हैं। अन्य लोग शुद्ध विभाव को, दूसरे शुद्ध अनुभाव को, कुछ लोग स्थायी

सामाजिक नट को राम समझता है और नट के शिक्षाभ्यास से प्रदर्शित कृत्रिम विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी के द्वारा नट में रस का अनुमान करता है। श्री शङ्कुक रस की 'अनुमिति' मानते हैं। सामाजिक की नट में जो रामबुद्धि उत्पन्न होती है उसे 'स्मृति' आदि से विलक्षण मानते हैं, वह सम्यग् ज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशय और सादृश्य आदि सभी प्रतीतियों से विलक्षण चित्र के तुरग की जैसी प्रतीति है। चित्र का घोड़ा घोड़ा नहीं है तथापि सभी प्रतीतियों से उसकी प्रतीति विलक्षण होती है।

१. इस मत में अभिनयदि सामग्री द्वारा अनुकर्ता नट में स्थायी का मिथ्याज्ञान सामाजिक का आस्वाद रूप 'रस' है। जिस प्रकार हरिताल आदि से भीत पर अश्व आदि का चित्र बना दिया जाता है उससे अश्व का मिथ्या ज्ञान होता है उसी प्रकार स्थायी का मिथ्या ज्ञान अनुकर्ता नट में उत्पन्न होकर सामाजिक के चमत्कार को उत्पन्न करता है।

२. यहाँ विभाव-अनुभाव ही 'रस' होते हैं, नाट्यादि सामग्री से ये सामाजिकों में पहुँच जाते हैं और उनके द्वारा विभावनीय अनुभावनीय स्थायिरूप चित्तवृत्ति की वासना से सम्बद्ध हो जाते हैं और फिर सामाजिक की निर्वृति रूप चर्वणा से विशिष्ट होकर 'रस' की स्थिति को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इस मत में नाट्य से रस नहीं, बल्कि नाट्य ही रस है, यह माना गया है।

और भी, किसी ने शुद्ध विभाव को, किसी ने शुद्ध अनुभाव को, किसी ने स्थायी भाव मात्र को, किसी ने व्यभिचारी भाव को, किसी ने इनके संयोग को, किसी ने अनुकार्य को और किसी ने सकल समुदाय को 'रस' कहा है।

३. 'नाट्यरस' का प्रयोग भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में किया है। विभिन्न व्याख्याकारों ने अपने अपने अनुसार इसका अर्थ किया है। उत्पत्तिवादी लोल्लट के अनुसार अनुकार्यगत रस होने के कारण 'नाट्ये प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरसः' यह विग्रह है। श्री शङ्कुक के यहाँ अनुकार्य के रूप में अभिमत नर्तक या नट में सामाजिक विलक्षण अनुमान द्वारा रस का आस्वादन करता है अतः 'नाट्ये, नाट्याश्रये नटे रसः' यह विग्रह है। उपर्युक्त अन्य मतों में 'नाट्याद् रसः' और 'नाट्यमेव रसः' 'नाट्यरसः' यह विग्रह किये गए हैं।

लोचनम्

अन्ये तत्संयोगम्, एकेऽनुकार्यम्, केचन सकलमेव समुदायं रसमाहुरित्यलं बहुना।

काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेनालौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता। अस्तु वात्र नाट्याद्विचित्ररूपा रसप्रतीतिः; उपायवैलक्षण्यादियमेव तावदत्र सरणिः। एवं स्थिते प्रथमपक्ष एवैतानि दूषणानि, प्रतीतेः स्वपरगतत्वादिविकल्पनेन। सर्वपक्षेषु च प्रतीतिरपरिहार्या रसस्य। अप्रतीतं हि पिशाचवदव्यवहार्यं स्यात्। किं तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी आनुमानिकी आगमोत्था प्रतिभानकृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु। तन्निदानभूताया हृदयसंवादाद्युपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तररूपत्वात्। रसाः प्रती-

मात्र को, इतर लोग व्यभिचारी को, दूसरे लोग इनके संयोग को, कुछ लोग अनुकार्य को और कुछ लोग समुदाय रूप समस्त को 'रस' कहते हैं। अलं बहुना।

[1]काव्य में भी लोकधर्मी और नाट्यधर्मी के समान, (क्रम से) स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दोनों प्रकारों से अलौकिक, प्रसन्न, मधुर और ओजस्वी शब्द से समर्प्यमाण विभावादि के योग से इसी प्रकार रस की वार्ता (प्रतीति) है। यहाँ (काव्य में) नाट्य से रस की प्रतीति विचित्र[2] है, तथापि उपाय के विलक्षण होने के कारण यही यहाँ भी प्रकार है। इस प्रकार स्थित होने पर, पहले पक्ष में ही ये दोष हैं, क्योंकि प्रतीति स्वगत होती है या परगत होती है यह विकल्प करते हैं। सभी पक्षों में रस की प्रतीति का निराकरण नहीं है। क्योंकि अप्रतीत वस्तु पिशाच की भाँति, व्यवहार में नहीं आती। किन्तु जिस प्रकार प्रतीति मात्र होने से अवशिष्ट (समान) होने पर भी प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्था, प्रतिभानकृता, योगिप्रत्यक्षजा ये प्रतीतियाँ उपाय के विलक्षण होने से पृथक्-पृथक् हो जाती हैं, उसी प्रकार यह भी प्रतीति, जिसके नाम चर्वणा, आस्वादन, भोग आदि हैं, (अन्य प्रतीतियों से विलक्षण) है। क्योंकि इस प्रतीति का निदानभूत जो हृदयसंवाद आदि से उपकृत, विभावादि सामग्री है, वह लोकोत्तर है। 'रस प्रतीत होते हैं' यह 'ओदनं पचति' (भात को

१. नाट्य दो प्रकार के होते हैं—लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। जिसमें अभिनय स्वाभाविक होता है, अर्थात् पुरुष का अभिनय पुरुष करता है और स्त्री का अभिनय स्त्री, वह लोकधर्मी नाट्य है। और जिसमें स्वर, अलंकार और स्त्री-पुरुषादि अपने वेष का परिवर्तन करते हैं वह नाट्यधर्मी नाट्य है।

२. दृश्यकाव्य रूप नाट्य में जो रस की प्रतीति का प्रकार है उससे विचित्र प्रकार श्रव्यकाव्य में है। श्रव्यकाव्य में विभावादि उपाय दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, अपितु शब्द के द्वारा समर्पित होते हैं। इस प्रकार केवल विभावादि के उपस्थापन को लेकर दोनों का भेद हो जाता है, और बातें सब एक-सी हैं। जिस प्रकार नाट्य में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रूप भेद होते हैं उसी प्रकार काव्य में भी क्रमशः स्वभावोक्ति द्वारा और वक्रोक्ति द्वारा विभावादि का उपस्थापन होता है।

लोचनम्

यन्त इति ओदनं पचतीतिवद् व्यवहारः, प्रतीयमान एव हि रसः। प्रतीतिरेव विशिष्टा रसना। सा च नाट्ये लौकिकानुमानप्रतीतेर्विलक्षणा; तां च प्रमुखे उपायतया सन्दधाना। एवं काव्ये अन्यशाब्दप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतयापेक्षमाणा।

तस्मादनुत्थानोपहतः पूर्वपक्षः। रामादिचरितं तु न सर्वस्य हृदयसंवादीति महत्साहसम्। चित्रवासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः। यदाह—'तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात्। जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्' इति। तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा

पचाता है) के समान व्यवहार है, क्योंकि रस प्रतीयमान ही होता है, विशिष्ट प्रतीति ही 'रसना' है। वह नाट्य में लौकिक अनुमानजन्य प्रतीति से विलक्षण प्रतीति है। उस (लौकिक अनुमानजन्य प्रतीति) को (वह प्रतीति) पहले अपने उपाय के रूप में अपेक्षा करती है। इस प्रकार काव्य में अन्य (लौकिक-वैदिक) शब्दजन्य प्रतीति से विलक्षण प्रतीति है, उस (शब्दप्रतीति) को पहले में उपायरूप से अपेक्षा करती है।

इस लिए पूर्वपक्ष[1] न उत्थित होने के कारण उपहत हो गया। यह कहना बड़े साहस की बात है कि राम आदि का चरित सबका हृदयसंवादी नहीं है, क्योंकि चित्त नानाविध वासना से विशिष्ट होता है। जैसा कि (योगसूत्रकार कहते हैं)—'वे' (वासनाएँ) अनादि होती हैं क्योंकि आशिष या संकल्प विशेष (कि हमें सुख मिलता रहे कभी सुख के साधनों से वियोग न हो) नित्य होते हैं।' 'अतः जाति, देश और काल के व्यवधान होने पर भी (वासनाओं का) आनन्तर्य (क्रम) बना रहता है क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों एकरूप होते हैं।' उस कारण रस की प्रतीति सिद्ध

१. जैसा कि भट्टनायक ने कहा है कि रस प्रतीत नहीं होता है, यह बात निर्मूल हो जाती है। क्योंकि रस की प्रतीति को सभी ने अपने-अपने ढंग से स्वीकार किया है। जब वह प्रतीत नहीं होता है तो भट्टनायक उसे व्यवहार कैसे करेंगे? जिस प्रकार उपाय की विलक्षणता से विभिन्न प्रतीतियाँ होती हैं उसी प्रकार यह भी एक विलक्षण प्रतीति है। इस प्रतीति की चर्वणा आदि अनेक संज्ञाएं हैं। इसकी उपायसामग्री विभावादि हैं। 'रस की प्रतीति' यह उसी प्रकार का प्रयोग है जैसे 'भात को पकाता है' यह व्यवहार है; भात तो पका हुआ ही होता है, फिर भी ऐसा प्रयोग सुना जाता है। रस प्रतीयमान ही होता है, अतः रस की प्रतीति रस से भिन्न नहीं है। नाट्य के क्षेत्र में वह प्रतीति लौकिक अनुमान की प्रतीति से विलक्षण होती है, किन्तु उस लौकिक अनुमान-प्रतीति को वह अपना उपाय बनाती है और काव्य के क्षेत्र में वह प्रतीति अन्य शाब्द प्रतीति से विलक्षण होती है और उस शाब्द प्रतीति को अपना उपाय बनाती है।

२. मानव-चित्त में अनन्तानन्त संस्कार वासना के रूप में जन्मजन्मान्तर से एकत्र होते हैं। किन्तु जब उनकी अभिव्यञ्जक सामग्री एकत्र होती है तभी वे प्रकट होते हैं। इस प्रकार वासना को अनादि माना गया है। वासना रूप संस्कार, जो चित में विद्यमान होते हैं, अपनी अभिव्यञ्जक सामग्री के प्रत्यक्ष होते ही स्मृत हो उठते हैं। अनादि-अनन्त संस्कारों का आदि मूल है प्राणी के मन की सुखेच्छा। वही उसे कार्य के लिए प्रवृत्त करती है और वह कर्म द्वारा अनुभवों को संस्कार के रूप में अपने चित्त में आहित करता है। इस प्रकार आचार्य भट्टनायक ने उठाई है.

लोचनम्

प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत्किञ्चित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्। 'यत्रार्थः शब्दो

है। वह रसना रूप उत्पन्न होती है। उसमें वाच्य और वाचक (काव्य) का अभिधा से व्यतिरिक्त व्यञ्जना (ध्वनन) ही रूप व्यापार है। (भट्टनायक का अभिमत) भोगीकरण[1] (भोजकत्व) व्यापार काव्य का रसविषयक व्यापार होने के कारण ध्वनन रूप ही है, दूसरा कुछ नहीं। समुचित गुणों और अलङ्कारों का परिग्रह रूप भावकत्व व्यापार को भी हम ही विस्तार करके कहेंगे। फिर यह अपूर्व क्या है? यदि आप कहते हैं कि रसों के प्रति काव्य भावक होता है, वहाँ आप ही ने भावन करने (अर्थात् काव्य को रस का उत्पादक मान लेने) से उत्पत्तिपक्ष को पुनरुज्जीवित कर दिया है। केवल काव्य के शब्दों का भावकत्व नहीं बन सकता, क्योंकि अर्थ के परिज्ञान न होने से उनका भावकत्व नहीं बनेगा। केवल अर्थों का भी (भावकत्व) नहीं सम्भव है शब्दान्तर (लौकिक वाक्य) से भी उन अर्थों के उपस्थित होने पर उनमें भावकत्व का योग नहीं। दोनों का भावकत्व तो हमने ही कहा है 'जहाँ अर्थ अथवा शब्द उस

गलत सिद्ध होती है, क्योंकि प्राणियों का चित्त नानाविध वासनाओं से युक्त होता है। अतः लोकोत्तर चरित के पात्रों के साथ भी सामाजिकों का 'हृदयसंवाद' बन जाता है।

१. भट्टनायक ने काव्यरूप शब्द के तीन अंश (व्यापार) माने हैं—अभिधायकत्व, भावकत्व और भोगकृत्त्व। लोचनकार तृतीय व्यापार भोगकृत्त्व या भोजकत्व को 'ध्वनन' व्यापार रूप ही मानते हैं, क्योंकि 'रस' ध्वन्यमान तत्त्व है और भोगकृत्व उस ध्वन्यमान रस का साधन है। 'भोग' भी वह चमत्कार है जो रस की रस्यमानता से उत्पन्न होता है। द्वितीय व्यापार भावकत्व भी समुचित गुणालङ्कार का परिग्रह रूप है। क्योंकि जब तक काव्य समुचित गुण-अलङ्कार-परिगृहीत नहीं होता तब तक रस के प्रति भावक नहीं होता। यहाँ लोचनकार ने मीमांसकों की तीन अंशों वाली 'भावना' से प्रस्तुत में काव्य के द्वारा रसों के भावन को संगत किया है। जैसा कि मीमांसक लोग कहते हैं, जैसे 'यजेत' इस वैदिक प्रयोग में 'भावना' के ये तीन अंश साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता प्रत्यय के आख्यातत्व और लिङ्त्व रूप अंशों से प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह कि यहाँ 'यजेत' के द्वारा यह भावना प्रतीत होती है कि क्या करे, किससे करे और कैसे करे! इन आकांक्षाओं के उत्पन्न होने पर स्वर्गादि इष्ट को साध्य रूप से, स्वर्गादि को यागादि करण या साधन रूप से और प्रयाज आदि क्रियाकलाप को इतिकर्तव्यता रूप से भावन करे। इसी प्रकार प्रस्तुत में भी भावक काव्य व्यञ्जकत्व व्यापार रूप करण से, गुणालङ्कार के औचित्य रूप इतिकर्तव्यता द्वारा रसों को भावन करता है अर्थात् सहृदयों को रस का आस्वादन कराता है। शास्त्र से शासन और इतिहास से प्रतिपादन होता है, किन्तु इनसे भी विलक्षण काव्य का व्युत्पादन है। अर्थात् सहृदय को अपनी प्रतिभा से काव्य द्वारा

लोचनम्

वा तमर्थं व्यङ्क्तः' इत्यत्र। तस्माद्व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपि तु घनमोहान्ध्यसङ्कटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्। रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद्भोगस्येति। सत्त्वादीनां चाङ्गाङ्गिभाववैचित्र्यस्यानन्त्याद् द्रुत्यादित्वेनास्वादगणना न युक्ता। परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं चास्त्वस्य रसास्वादस्य। व्युत्पादनं च शासनप्रतिपादनाभ्यां शास्त्रेतिहासकृताभ्यां विलक्षणम्। यथा रामस्तथाहमित्युपमानातिरिक्तां रसास्वादोपायस्वप्रतिभाविजृम्भारूपां व्युत्पत्तिमन्ते करोतीति कमुपालभामहे। तस्मात्स्थितमेतत्—अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति। तत्राभिव्यक्तिः प्रधानतया भवत्वन्यथा वा।

अर्थ को व्यञ्जित करते हैं' इस कारिका में। इस लिए व्यञ्जकत्व नामक व्यापार से गुण और अलङ्कार के औचित्य आदि रूप इतिकर्तव्यता के द्वारा भावक काव्य रसों को भावित करता है। इस प्रकार तीन अंशों (साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता) वाली 'भावना' में करण (साधन) अंश में 'ध्वनन' ही आता है। भोग भी काव्य-शब्द से नहीं किया जाता है? (अर्थात् अवश्य किया जाता है)। अपि तु वह भोग, जो घने मोहान्धकार की आवृति (सङ्कटता) भग्न हो जाने के द्वारा आस्वाद नामधारी एवं द्रुत, विस्तर और विकास रूप है, जब (उत्पन्न) किया जाता है, उस स्थिति में लोकोत्तर 'ध्वनन' व्यापार ही मूर्धाभिषिक्त (प्रधान हेतु) होता है। वह यह भोगकृत्त्व (भोजकत्व व्यापार) रस की ध्वननीयता के सिद्ध हो जाने पर दैवसिद्ध (स्वयंसिद्ध) है, क्योंकि भोग रस्यमानता के कारण उत्पन्न चमत्कार से अनतिरिक्त (अभिन्न) है। सत्त्व आदि का अङ्गाङ्गिभावप्रयुक्त वैचित्र्य अनन्त हो जाता है, अतः द्रुति आदि रूप से आस्वाद की गणना ठीक नहीं। इस रसास्वाद का परब्रह्म के आस्वाद के समान होना माना गया है। (इस काव्य का) व्युत्पादन, शास्त्र के शासन और इतिहास के प्रतिपादन से विलक्षण है। 'जैसा राम वैसा मैं हूँ' इस प्रकार के उपमान से अतिरिक्त, रसास्वाद के उपायभूत अपनी प्रतिभा की विजृम्भा (विकास) रूप व्युत्पत्ति को पर्यन्त में (उत्पन्न) करता है, ऐसी स्थिति में हम किसे उलहना दें। इसलिए यह स्थिर हुआ—रस अभिव्यक्त होते हैं, और प्रतीति के द्वारा ही आस्वादित होते हैं, वह अभिव्यक्ति

रसास्वाद प्राप्त करने के पश्चात् पर्यन्त में एक विलक्षण व्युत्पत्ति अनुभव होती है, जिसे 'जैसे राम हैं वैसा मैं हूँ, इस उपमान से अतिरिक्त कहा गया है।

ध्वनिवादी लोचनकार का अभिमत यह है कि रस की अभिव्यक्ति होती है और उस अभिव्यक्ति का साधन है व्यञ्जना व्यापार। जब वही अभिव्यक्ति प्रधान होती है तब उसे 'ध्वनि' कहते हैं। और अप्रधान की स्थिति में रसादि अलङ्कार।

ध्वन्यालोकः

रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणं मुख्यमर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दार्थालङ्कारा गुणाश्च परस्परं ध्वन्यपेक्षया विभिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र काव्ये ध्वनिरिति व्यपदेशः ॥ ४ ॥

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ ५ ॥

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये

जहाँ रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम रूप मुख्य अर्थ का अनुगमन करते हुए शब्द, अर्थ और उनके अलङ्कार और गुण परस्पर ध्वनि की अपेक्षा भिन्न स्वरूप से व्यवस्थित होते हैं उस काव्य में 'ध्वनि' यह व्यपदेश (व्यवहार) होता है॥

अन्यत्र जहाँ वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रस आदि अङ्ग हो जाते हैं उस काव्य में रसादि अलङ्कार हैं, यह मेरी मति (सिद्धान्त) है।

यद्यपि रसवत् अलङ्कार का विषय दूसरों ने दिखाया है तथापि प्रधान रूप से

लोचनम्

प्रधानत्वे ध्वनिः, अन्यथा रसाद्यलङ्काराः। तदाह—*मुख्यमर्थमिति*। *व्यवस्थिता इति*। पूर्वोक्तयुक्तिभिर्विभागेन व्यवस्थापितत्वादिति भावः ॥ ४ ॥

अन्यत्रेति। रसस्वरूपे वस्तुमात्रेऽलङ्कारतायोग्ये वा। *मे मतिरित्यन्यपक्षं* दूष्यत्वेन हृदि निधायाभीष्टत्वात्स्वपक्षं पूर्वं दर्शयति—*तथापीति*। स हि परदर्शितो विषयो भाविनीत्या नोपपन्न इति भावः। *यस्मिन् काव्ये इति* स्पष्टत्वेनासङ्गतं वाक्यमित्थं योजनीयम्—यस्मिन् काव्ये ते पूर्वोक्ता रसादयोऽङ्गभूता वाक्यार्थीभूतश्चान्योऽर्थः, चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे; तस्य काव्यस्य सम्बन्धिनो ये रसादयोऽङ्गभूतास्ते रसादेरलङ्कारस्य रसवदाद्यलङ्कारशब्दस्य विषयाः; स एवालङ्कारशब्दवाच्यो भवति योऽङ्गभूतः, न त्वन्य इति यावत्। अत्रोदाहरण-

प्रधान रूप से हो अथवा अन्यथा (अप्रधान) रूप से। प्रधान होने पर 'ध्वनि' होगी; अन्यथा रसादि अलङ्कार। उसे कहते हैं—मुख्य अर्थ—। व्यवस्थित—। भाव यह कि पहले कही गई युक्तियों से विभाग के द्वारा व्यवस्थापित किए जा चुके हैं ॥ ४ ॥

अन्यत्र—। रसस्वरूप, वस्तुमात्र अथवा अलङ्कारता के योग्य वाक्यार्थ। मेरी मति—। इस कथन से दूसरे पक्ष को हृदय में दूषणीय मानकर, अभीष्ट होने के कारण अपने पक्ष को पहले दिखाते हैं—तथापि—। भाव यह कि वह परदर्शित विषय वक्ष्यमाण नीति के अनुसार उपपन्न नहीं है, जिस काव्य में यह स्पष्ट रूप से असङ्गत वाक्य इस प्रकार लगाना चाहिए—जिस काव्य में वे पूर्वोक्त रसादि अङ्गभूत हों और अन्य अर्थ वाक्यार्थीभूत (प्रधान अर्थ) हो, ('च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है); उस काव्य के सम्बन्धी जो रसादि अङ्गभूत हैं, वे रसादि अलङ्कार के—'रसवदादि-अलङ्कार' शब्द के—विषय हैं; वही 'अलङ्कार' शब्द का वाच्य होता है जो अङ्गभूत

* Here चमत्कार is used in a different sense -

ध्वन्यालोकः

प्रधानतयाऽन्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः। तद्यथा चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते।

अन्य अर्थ जिस काव्य में वाक्यार्थ हो और उसके जो रसादि अङ्ग हों वे रसादि अलङ्कार के विषय हैं यह मेरा पक्ष है। वह जैसा कि चाटु के विषयों में प्रेयोऽलङ्कार के मुख्य वाक्यार्थ होने पर भी रसादि अङ्गभूत देखे जाते हैं।

लोचनम्

माह—*तद्यथेति*। तदित्यङ्गत्वम्। यथात्र वक्ष्यमाणोदाहरणे, तथान्यत्रापीत्यर्थः। भामहाभिप्रायेण चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त इतीदमेकं वाक्यम्। भामहेन हि गुरुदेवनृपतिपुत्रविषयप्रीतिवर्णनं प्रेयोलङ्कार इत्युक्तम्। तत्र प्रेयानलङ्कारो यत्र स प्रेयोलङ्कारोऽलङ्करणीय इहोक्तः। न त्वलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वं युक्तम्। यदि वा वाक्यार्थत्वं प्रधानत्वम्। चमत्कार-

होता है, न कि दूसरा। यहाँ उदाहरण कहते हैं—वह, जैसा कि—। 'वह' अर्थात् अङ्गत्व। अर्थात् जैसे यहाँ वक्ष्यमाण उदाहरण में, उसी प्रकार अन्यत्र भी। भामह[1] के अभिप्राय से 'चाटु के विषयों में प्रेयोऽलङ्कार के वाक्यार्थ होने पर भी रसादि अङ्गभूत देखे जाते हैं' यह एक वाक्य है। क्योंकि भामह ने कहा है कि गुरु, देवता, नृपति, पुत्र के विषय में प्रीति का वर्णन 'प्रेयोऽलङ्कार' है, यह कहा है। 'प्रेयान् (प्रियतम) जहाँ अलङ्कार है वह 'प्रेयोऽलङ्कार' अलङ्करणीय यहाँ कहा गया है। क्योंकि 'अलङ्कार' का वाक्यार्थत्व ठीक नहीं। यदि वा वाक्यार्थत्व अर्थात् प्रधानत्व या चमत्कारकारिता। उद्भट[2] के मतानुयायी लोग (इस वाक्य को) टुकड़े करके व्याख्यान

१. भामह के अभिप्राय से यह एक ही वाक्य है कि चाटु या प्रशंसाविषयक स्थलों में प्रेयोलङ्कार की होती है अतः वहां रसादि अङ्गभूत हो जाते हैं। भामह के अनुसार गुरु, देवता, नृपति, पुत्र के सम्बन्ध में प्रीति का वर्ण 'प्रेयोलङ्कार' है। इसलिए भामह के अनुसार 'प्रेयोलङ्कार' का विग्रह होगा 'प्रेयान् अलङ्कारो यत्र' अर्थात् जहां अतिशय प्रिय प्राणी अलङ्कार या वर्णन का विषय हो वह 'प्रेयोलङ्कार' है। इसलिए प्रस्तुत में 'प्रेयोलङ्कार' वाक्यार्थ होने के कारण अलङ्कार नहीं बल्कि स्वयं अलङ्करणीय है। 'वाक्यार्थ' का दूसरा अर्थ प्रधानत्व है, अर्थात् चमत्कारकारी होना।

२. इस व्याख्यान के विपरीत उद्भट के मतानुयायी लोग इसका वाक्यभेद करके व्याख्यान करते हैं। उनका कहना है कि पूर्व वाक्य में रसवदलङ्कार के विषय होने की चर्चा है, यहां उत्तर वाक्य में चाटुओं के वाक्यार्थ होने की स्थिति में प्रेयोलङ्कार का भी विषय है, यह बात कही गई है। यह तात्पर्य 'अपि' या 'भी' शब्द के वाक्य में प्रयोग से प्रतीत होता है, अर्थात् केवल रसवदलङ्कार का ही नहीं, अपितु प्रेयोलङ्कार का भी विषय है। उद्भट के मत में 'भावालङ्कार' (जिसमें रत्यादि भावों का वर्णन हो) ही प्रेयोलङ्कार है।

ध्वन्यालोकः

स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः सङ्कीर्णो वा। तत्राद्यो यथा—

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनं
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः।

वह रसादि-अलङ्कार शुद्ध अथवा सङ्कीर्ण (दो प्रकार का) होता है। उनमें पहला, जैसे—

'मजाक से क्या लाभ ! बहुत देर के बाद दर्शन देकर फिर तुम मुझ से दूर नहीं जा सकते। हे निष्करुण, यह प्रवास में तेरी रुचि कैसी ? किसने तुम्हें दूर कर दिया ?'

लोचनम्

कारितेति यावत्। उद्भटमतानुसारिणस्तु भङ्क्त्वा व्याचक्षते—चाटुषु चाटुविषये वाक्यार्थत्वे चाटूनां वाक्यार्थत्वे प्रेयोलङ्कारस्यापि विषय इति पूर्वेण सम्बन्धः। उद्भटमते हि भावालङ्कार एव प्रेय इत्युक्तः, प्रेम्णा भावानामुपलक्षणात्। न केवलं रसवदलङ्कारस्य विषयः यावत्प्रेयःप्रभृतेरपीत्यपिशब्दार्थः। रसवच्छब्देन प्रेयःशब्देन च सर्व एव रसवदाद्यलङ्कारा उपलक्षिताः, तदेवाह—*रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त* इति। उक्तविषय इति शेषः।

शुद्ध इति। रसान्तरेणाङ्गभूतेनालङ्कारान्तरेण वा न मिश्रः, आमिश्रस्तु सङ्कीर्णः। स्वप्नस्यानुभूतसदृशत्वेन भवनमिति हसन्नेव प्रियतमः स्वप्नेऽवलोकितः। *न मे प्रयास्यसि पुनरिति*। इदानीं त्वां विदितशठभावं बाहुपाशबन्धान्न

करते हैं—चाटु अर्थात् चाटुविषय के वाक्यार्थ होने पर 'प्रेयोऽलङ्कार' का भी विषय है, यह पहले से सम्बन्ध (अन्वय) है। क्योंकि उद्भट के मत में भावालङ्कार ही 'प्रेयस्' कहा गया है, प्रेम से भाव का उपलक्षण है। 'अपि' (या 'भी') शब्द का अर्थ है कि न केवल रसवदलङ्कार का, अपितु प्रेयःप्रभृति अलङ्कार का भी विषय है। 'रसवत्' शब्द से और 'प्रेयस्' शब्द से सभी 'रसवदादि-अलङ्कार उपलक्षित हैं, उसी को कहते हैं—'रसादि अङ्गभूत देखे जाते हैं' यह उक्त विषय है।

शुद्ध—। अर्थात् अङ्गभूत किसी रस अथवा किसी अलङ्कार से न मिला हुआ; और जो मिला हुआ (आमिश्र) है वह 'सङ्कीर्ण' है। अनुभव किए हुए के सदृश ही स्वप्न होता है, अतः हंसता हुआ ही प्रियतम स्वप्न में देखा गया। फिर तुम मुझसे दूर नहीं जा सकते—। जब तुम्हारा शठभाव (छिपकर प्रतिकूल आचरण) जान लिया है, ऐसी स्थिति में बाहुपाश के बन्धन से नहीं छोड़ूंगी। अतएव रिक्तबाहु-

१. जहां शब्द का प्रयोग है उससे रस के साथ भाव, तदाभास (रसाभास और भावाभास) तथा भावशान्त्यादि (यहां 'आदि' पद से भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता गृहीत हैं) गृहीत होते हैं। ये रसादि किसी के अङ्ग के रूप में होने पर क्रमशः रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित अलङ्कार के नाम से अभिहित होते हैं। अर्थात् रस, अङ्ग होने पर 'रसवदलङ्कार', भाव, अङ्ग होने पर 'प्रेयोऽलङ्कार', तदाभास (रसाभास और भावाभास) अङ्ग होने

ध्वन्यालोकः

स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ॥

इस प्रकार स्वप्न में प्रिय के कण्ठ में बाहें डाले कहती हुई तुम्हारी रिक्तबाहुवलय वाली रिपु-स्त्रियाँ जग कर जोर से रुदन करती हैं।

लोचनम्

मोद्‌याभि । अत एव *रिक्तबाहुवलय इति* । स्वीकृतस्य चोपालम्भो युक्त इत्याह—*केयं निष्करुणेति* । *केनासीति* । गोत्रस्खलनादावपि न मया कदाचित्खेदितोऽसि। *स्वप्नान्तेषु* । स्वप्नायितेषु सुप्तप्रलपितेषु पुनःपुनरुद्भूततया बहुष्विति वदन्युष्माकं सम्बन्धी रिपुस्त्रीजनः प्रियतमे विशेषेणासक्तः कण्ठग्रहो येन तादृश एव सन् बुद्ध्वा शून्यवलयाकारीकृतबाहुपाशः सन् तारं मुक्तकण्ठं रोदितीति। अत्र शोकस्थायिभावेन स्वप्नदर्शनोद्दीपितेन करुणरसेन चर्व्यमाणेन सुन्दरीभूतो नरपतिप्रभावो भातीति करुणः शुद्ध एवालङ्कारः । न हि त्वया रिपवो हता इति यादृगनलङ्कृतोऽयं वाक्यार्थस्तादृगयम्, अपि तु सुन्दरतरीभूतोऽत्र वाक्यार्थः, सौन्दर्यं च करुणरसकृतमेवेति । चन्द्रादिना वस्तुना यथा वस्त्वन्तरं वदनाद्यलङ्क्रियते तदुपमितत्वेन चारुतयावभासात् । तथा रसेनापि वस्तु वा रसान्तरं वोपस्कृतं सुन्दरं भाति इति रसस्यापि वस्तुन इवालङ्कारत्वे को विरोधः ?

वलय— । अपने आदमी को उलहना उचित है, इसलिए कहते हैं—हे निष्करुण यह प्रवास में— । किस ने— । कभी मैंने गोत्रस्खलन (अन्य प्रिय का नामग्रहण) आदि द्वारा भी तुम्हें खिन्न नहीं किया है। स्वप्नान्त अर्थात् सपनाने की स्थिति के प्रलापों में, बार-बार उत्पन्न होने के कारण बहुत से, इस प्रकार प्रलाप करती हुई तुम्हारी रिपु-स्त्रियाँ, प्रियतम में विशेष रूप से आसक्त किया है कण्ठग्रह को जिन्होंने, ऐसी ही अवस्था में जग कर, वलय से शून्यता की स्थिति को प्राप्त बाहुपाश वाली वे अधिक स्वर में अर्थात् मुक्तकण्ठ, रुदन करती हैं। यहाँ शोक जिसका स्थायी भाव है, और जो स्वप्न-दर्शन से उद्दीपित है ऐसे चर्वित होते हुए करुणरस से सुन्दर बना राजा का प्रभाव शोभावान् होता है, इस प्रकार करुण शुद्ध अवस्था में ही अलङ्कार है। 'तुमने शत्रुओं को मार डाला है' यह जिस प्रकार का अलङ्कारहीन वाक्यार्थ है उस प्रकार का यह नहीं है, बल्कि यहाँ सुन्दरतर वाक्यार्थ बन पड़ा है, और सौन्दर्य करुणरस के द्वारा ही है। चन्द्रादि पदार्थों से उस प्रकार दूसरा पदार्थ मुख आदि अलङ्कृत होता है, क्योंकि चन्द्र द्वारा उपमित होने से वह चारुरूप से मालूम होने लगता है। उसी प्रकार रस से भी वस्तु अथवा रसान्तर उपस्कृत होकर सुन्दर हो जाता है, इस प्रकार रस का भी, वस्तु की भाँति, अलङ्कार होने में क्या विरोध है ?

पर 'ऊर्जस्वि' और भावशान्त्यादि, अङ्ग होने पर 'समाहित' कहलाते हैं। इस प्रकार 'रसादि' और 'रसवदाद्यलङ्कार' को प्राधान्य और अप्राधान्य मूलक रूप में सर्वत्र समझना चाहिए।

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र करुणरसस्य शुद्धस्याङ्गभावात्स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम्। एवमेवंविधे विषये रसान्तराणां स्पष्ट एवाङ्गभावः।

यहाँ शुद्ध करुण रस के अङ्ग हो जाने के कारण स्पष्ट ही रसवदलङ्कारता है। इस प्रकार ऐसे विषय में दूसरे रसों का भी स्पष्ट ही अङ्गभाव है।

लोचनम्

ननु रसेन किं कुर्वता प्रकृतोऽर्थोऽलङ्क्रियते। तर्हि उपमयापि किं कुर्वत्यालङ्क्रियेत। ननु तयोपमीयते प्रस्तुतोऽर्थः। रसेनापि तर्हि सरसीक्रियते सोऽर्थ इति स्वसंवेद्यमेतत्। तेन यत्केचिदचूचुदन्-'अत्र रसेन विभावादीनां मध्ये किमलङ्क्रियते' इति तदनभ्युपगमपराहतम्; प्रस्तुतार्थस्यालङ्कार्यत्वेनाभिधानात्। अस्यार्थस्य भूयसा लक्ष्ये सद्भाव इति दर्शयति-*एवमिति*। यत्र राजादेः प्रभावख्यापनं तादृश इत्यर्थः।

शङ्का—क्या करता हुआ रस प्रकृत अर्थ को अलङ्कृत करता है? (समाधान में प्रश्न करते हैं कि) क्या करती हुई उपमा अलङ्कृत करती है? (यदि कहिए कि) प्रस्तुत अर्थ उसके द्वारा उपमित किया जाता है! तब तो यह स्वयं ही समझा जा सकता है कि रस के द्वारा भी वह अर्थ सरस किया जाता है। इसलिए, जो कि कुछ लोगों ने कहा है—'यहाँ रस के द्वारा विभाव आदि के बीच किसे अलङ्कृत किया जाय?' वह अमान्य होने के कारण निराकृत है। क्योंकि प्रस्तुत[1] अर्थ को अलङ्कार्य कहा गया है। इस अर्थ का बहुत प्रकार से लक्ष्य में सद्भाव है, यह दिखाते हैं—**इस प्रकार—**। अर्थात् जहाँ राजा आदि के प्रभाव का व्यापन हो वैसा।

---

१. यहां ध्वनिकार के 'रसवदलङ्कार' को लेकर दो प्रकार के मतभेद उपस्थित हैं, जिनका संकेत कारिका में 'मे मतिः' (मेरी मति या सिद्धान्त है) तथा वृत्तिग्रन्थ में 'रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयः' (अन्य लोगों ने रसवदलङ्कार का विषय दिखाया है) विदित होता है।

प्रथम मतभेद यह है कि तथाकथित 'रसवदलङ्कार' को अलङ्कार की कोटि में गणना तभी हो सकती है जब कि 'अलङ्कार' का सामान्य लक्षण उसमें संगत हो। जैसा कि अलङ्कार को कहा जाता है कि वह कटक-कुण्डलादि के समान हैं, जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि शरीर के साक्षात् उपकारक होते हुए परम्परया आत्मा के उपकारक हैं उसी प्रकार काव्य-क्षेत्र में वाच्य-वाचक के साक्षात् उपकारक और परम्परया रस के उपकारक को अलङ्कार कहते हैं। 'काव्यप्रकाश' में यही कहा है—

> उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
> हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ १०।१ ॥

'अलङ्कार' का यह लक्षण 'रसवदलङ्कार' में संगत नहीं होता, क्योंकि रसवदलङ्कार वाच्य-वाचक का उपकारक नहीं होता है बल्कि साक्षात् रस का उपकारक होता है, अतः उसकी गणना अलङ्कारों में न होकर 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के 'अपराङ्ग' नामक प्रभेद में है।

तब प्रश्न उठता है कि जब 'रसवदलङ्कार' अलङ्कार नहीं है तो उसे 'अलङ्कार' क्यों कहा गया? इसके समाधान में कुछ लोग कहते हैं कि जब प्राचीनों ने इसे अलङ्कार के रूप में व्यवहार

ध्वन्यालोकः

सङ्कीर्णो रसादिरङ्गभूतो यथा—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥

सङ्कीर्ण रसादि अङ्गभूत, जैसे—

आर्द्रापराध कामी की भांति वह भगवान् शङ्कर का बाणाग्नि आप के पाप का दहन करे, जो सजलनेत्रकमलों वाली त्रिपुरयुवतियों द्वारा झटकने पर हाथ में लग गया, जोर से पीटने पर कपड़े के अन्त-भाग को पकड़ने लगा, तिरस्कृत होकर बाल पकड़ पड़ा, नहीं देखने पर चरणों पर धड़फड़ा कर पड़ गया, और आलिङ्गन करता हुआ तिरस्कार पाया।

लोचनम्

क्षिप्त इति। कामिपक्षेऽनादृतः, इतरत्र धुतः। अवधूत इति न प्रतीप्सितः प्रत्यालिङ्गनेन, इतरत्र सर्वाङ्गधूननेन विशरारूकृतः। साश्रुत्वमेकत्रेर्ष्यया अन्यत्र निष्प्रत्याशतया। कामीवेत्यनेनोपमानेन श्लेषानुगृहीतेनेर्ष्याविप्रलम्भो य आकृष्टस्तस्य श्लेषोपमासहितस्याङ्गत्वम्, न केवलस्य। यद्यप्यत्र करुणो रसो वास्तवोऽप्यस्ति तथापि स तच्चारुत्वप्रतीत्यै न व्याप्रियत इत्यनेनाभिप्रायेण श्लेषसहितस्येत्येतावदेवावोचत्, न तु करुणसहितस्येत्यपि। एतमर्थमपूर्वत-

क्षिप्त—। कामी के पक्ष में अनादृत और अन्यत्र (बाणाग्नि के पक्ष में) झटका गया। अवधूत, अर्थात् प्रत्यालिङ्गन द्वारा प्रत्यभिलषित न हुआ, अन्यत्र पक्ष में सभी अङ्गों के झकझोरने से विशीर्ण किया गया। सजल नेत्र होना, एक जगह ईर्ष्या के कारण और अन्यत्र प्रत्याशारहित होने के कारण। 'कामी की भाँति' इस श्लेष अलङ्कार-द्वारा अनुगृहीत उपमान से ईर्ष्याविप्रलम्भ, जो खिंचकर आता है, श्लेषोपमा सहित वह 'ईर्ष्याविप्रलम्भ' यहाँ अङ्ग बन रहा है, अकेला नहीं। यद्यपि यहाँ करुणरस भी वास्तव में है, लेकिन वह उस (विप्रलम्भ) के चारुत्व की प्रतीति के लिए, नहीं लगता है, इस अभिप्राय से 'श्लेषसहित' इतना ही कहा है न कि 'करुणसहित' यह भी

कर दिया है तब रसोपकारक होने मात्र से उसमें गौण 'अलङ्कार' का व्यवहार कथञ्चित् मान लेना चाहिए।

दूसरे लोग इसका समाधान यह देते हैं कि अलङ्कार का मुख्य लक्षण रसोपकारकत्व मात्र है अतः रसवदलङ्कार में गौणरूप से 'अलङ्कार' का व्यवहार नहीं।

'काव्यप्रकाश' में रसवदलङ्कारों को अलङ्कारों के प्रसंग में न रखकर गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रसंग में निर्दिष्ट किया है।

किन्तु ध्वनिकार और लोचनकार दोनों रसवदलङ्कारों को अलङ्कार के ही रूप में स्वीकार

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभाव इति, एवंविध एव रसवदाद्यलङ्कारस्य न्याय्यो

यहाँ त्रिपुर-शत्रु (शिवजी) का अतिशय प्रभाव वाक्यार्थ (अङ्गी) है, और श्लेषसहित ईर्ष्या विप्रलम्भ का अङ्गभाव है। इस प्रकार ही रसवद् आदि अलङ्कार का

लोचनम्

योत्प्रेक्षितं द्रढीकर्तुमाह-*एवंविध एवैति*। *अत एवैति*। यतोऽत्र विप्रलम्भस्यालङ्कारत्वं न तु वाक्यार्थता, अतो हेतोरित्यर्थः। *न दोष इति*। यदि ह्यन्यतरस्य रसस्य प्राधान्यमभविष्यन्न द्वितीयो रसः समाविशेत्। रतिस्थायिभावत्वेन तु सापेक्षभावो विप्रलम्भः, स च शोकस्थायिभावत्वेन निरपेक्षभावस्य करुणस्य

(कहा है)। अपूर्व ढंग से उत्प्रेक्षित इस बात को दृढ़ करने के लिए कहते हैं—इस प्रकार ही—। इसी लिए—। अर्थात् जिस कारण यहाँ विप्रलम्भ का अलङ्कारत्व है, न कि वाक्यार्थत्व है उस कारण। दोष नहीं है—। क्योंकि यदि दो में से किसी एक रस का प्राधान्य होता तो दूसरा रस समावेश प्राप्त नहीं करता। 'रति' जिसका स्थायिभाव है, इस कारण विप्रलम्भ सापेक्षभाव है और 'शोक' जिसका स्थायी है, ऐसा करुण निरपेक्षभाव है, अतः करुण विप्रलम्भ से विरुद्ध[1] ही है। इस प्रकार

करते हैं। इन लोगों का पक्ष है कि 'अलङ्कार' का प्रधान कार्य है सुन्दरता का सम्पादन, ऐसी स्थिति में रसादि को भी वस्तु की भाँति अलङ्कार मानने में कोई विरोध नहीं।

फिर, ध्वनिकार की दृष्टि में गुणीभूतव्यङ्ग्य और रसवदादि के भेद के समन्वय के लिए यह कहा जा सकता है कि रसादि ध्वनि के अपराङ्ग होने पर रसवत् और प्रेयोऽलङ्कार होंगे और वस्तु या अलङ्कार ध्वनि के अपराङ्ग होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य होगा।

द्वितीय मतभेद के अनुसार चेतन के वाक्यार्थीभूत होने पर रसादि-अलङ्कार का विषय और अचेतन के वाक्यार्थीभाव में उपमादि अलङ्कार का विषय है। रसादि, चूँकि चित्तवृत्ति रूप होते हैं, इसलिए अचेतन के वाक्यार्थीभाव की स्थिति में रसवदलङ्कार का विषय नहीं बन सकता। इस मत के विरुद्ध ध्वनिकार ने आगे की पङ्क्तियों में स्वयं स्पष्ट कर दिया है।

१. त्रिपुरदाह के वर्णनरूप प्रस्तुत पद्य में प्रधानरूप से शिवजी के प्रति कवि की भक्ति प्रकट होती है, यद्यपि शिवजी का उत्साह त्रिपुरदाह के कार्य में प्रतीत होता है। किन्तु वह अनुभाव-विभाव से परिपोष न प्राप्त करने के कारण 'वीररस' की स्थिति नहीं प्राप्त कर सका है। कामी के उपमान से यहाँ श्लेषोपमा के साथ ईर्ष्याविप्रलम्भ रूप शृङ्गार की प्रतीति अङ्गरूप से होती है, और साथ ही करुणरस भी प्रतीत होता है। 'लोचन' में ये सभी बातें स्पष्ट हो चुकी हैं। शृङ्गार और करुण दोनों विरोधी रस हैं, अतः इनका एकत्र अवस्थान यद्यपि दोषपूर्ण माना गया है, परन्तु प्रस्तुत में दोनों अङ्गरूप में अवस्थित हैं अतः यहाँ उनका विरोध अकिञ्चित्कर है। रसों के परस्पर विरोध-अविरोध का विचार अन्यत्र 'साहित्यदर्पण' आदि ग्रन्थों से अवगत कर लेना चाहिए। शृङ्गार सर्वथा सापेक्ष-भाव है, क्योंकि इसका स्थायीभाव 'रति' दूसरे जन के विद्यमान रहने पर ही हो सकती है और करुणरस का स्थायीभाव 'शोक' है उसमें प्रिय के विद्यमान रहने की अपेक्षा नहीं, अतः निरपेक्ष-भाव है, अतएव दोनों का परस्पर विरोध माना जाता है। चूँकि स्वयं

ध्वन्यालोकः

विषयः। अत एव चेर्ष्याविप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात्समावेशो न दोषः। यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वम्? अलङ्कारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः; न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः।

तथा चायमत्र संक्षेपः—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥

विषय उचित है। इसी लिए ईर्ष्या विप्रलम्भ और करुण के अङ्ग रूप से व्यवस्थित होने से कोई दोष नहीं है। क्योंकि जहाँ रस का वाक्यार्थीभाव (प्राधान्य) है वहाँ कैसे (उसका) अलङ्कारत्व होगा? क्योंकि अलङ्कार चारुत्व के हेतु के रूप में प्रसिद्ध है, वह स्वयं अपने से अपने चारुत्व का हेतु नहीं है।

और इस प्रकार यहाँ संक्षेप है—

रस, भाव आदि के तात्पर्य का आश्रयण करके सभी अलङ्कारों का रखना उनके अलङ्कारत्व का साधन है।

लोचनम्

विरुद्ध एव। एवमलङ्कारशब्दप्रसङ्गेन समावेशं प्रसाध्य एवंविध एवेति यदुक्तं तत्रैवकारस्याभिप्रायं व्याचष्टे—*यत्र हीति*। सर्वासामुपमादीनाम्।

अयं भावः—उपमादीनामलङ्कारत्वे यादृशी वार्ता तादृश्येव रसादीनाम्। तदवश्यमन्येनालङ्कार्येण भवितव्यम्। तच्च यद्यपि वस्तुमात्रमपि भवति, तथापि तस्य पुनरपि विभावादिरूपतापर्यवसानाद्रसादितात्पर्यमेवेति सर्वत्र रसध्वनेरेवात्मभावः। तदुक्तं—*रसभावादितात्पर्यमिति*। *तस्येति*। प्रधानस्यात्म-

'अलङ्कार' शब्द के प्रसङ्ग से समावेश की बात तय करके 'इस प्रकार ही' यह जो कहा है उसके 'ही' कहने के अभिप्राय की व्याख्या करते हैं—क्योंकि जहाँ—। सभी उपमा आदि का।

भाव यह है—उपमा आदि के अलङ्कार होने में जो बात है वही रसादि के (अलङ्कार होने में है)। इस लिए अवश्य कोई अन्य अलङ्कार्य होना चाहिए। और वह (अलङ्कार्य) यद्यपि वस्तुमात्र भी हो सकता है, तथापि उसके पुनः भी विभावादि-रूपता में पर्यवसान होने के कारण, रसादि तात्पर्य ही सिद्ध होता है ऐसी स्थिति में सर्वत्र 'रसध्वनि' का ही आत्मत्व है। इसलिए कहा है—रस, भाव आदि के तात्पर्य०।

ये दोनों प्रधान न होकर किसी तीसरे के अङ्ग हैं, अतः इनका विरोध एकत्र अवस्थान में भी नहीं है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि शृङ्गार या करुण यहाँ परिपुष्ट न होने के कारण परिपूर्ण रस की स्थिति में नहीं हैं, उनका यहाँ गौण व्यवहार है। यहाँ दोनों भावरूप हैं।

ध्वन्यालोकः

तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वो न रसादेरलङ्कारस्य विषयः; स ध्वनेः प्रभेदः, तस्योपमादयोऽलङ्काराः। यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते, स रसादेरलङ्कारताया विषयः।

इस लिए जहाँ रसादि वाक्यार्थ हैं, वह रसादि अलङ्कार का विषय नहीं है, बल्कि वह 'ध्वनि' का प्रभेद है, उसके उपमादि अलङ्कार हैं। और जहाँ प्रधान रूप से अर्थान्तर के वाक्यार्थ हो जाने पर रसादि द्वारा चारुत्व की निष्पत्ति की जाती है, वह रसादि की अलङ्कारता का विषय है।

लोचनम्

भूतस्य। एतदुक्तं भवति—उपमया यद्यपि वाच्योऽर्थोऽलङ्क्रियते, तथापि तस्य तदेवालङ्करणं यद्व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जनसामर्थ्याधानमिति वस्तुतो ध्वन्यात्मैवालङ्कार्यः। कटककेयूरादिभिरपि हि शरीरसमवायिभिश्चेतन आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतयालङ्क्रियते। तथाहि—अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्। न हि देहस्य किञ्चिदनौचित्यमिति वस्तुत आत्मैवालङ्कार्यः, अहमलङ्कृत इत्यभिमानात्। *रसादेरलङ्कारताया इति*। व्यधिकरणषष्ठ्यौ, रसादेर्यालङ्कारता तस्याः स एव विषयः। एतदनुसारेणैव पूर्वत्रापि वाक्ये योऽयम्, रसादिकर्तृकस्यालङ्करणक्रियात्मनो विषय इति।

उसका—। प्रधान, आत्मभूत का। बात यह कही गई—उपमा से यद्यपि वाच्य अर्थ अलङ्कृत होता है तथापि उस वाच्यार्थ का वही अलङ्करण है जो व्यङ्ग्य अर्थ के अभिव्यञ्जन-सामर्थ्य का आधान है, इस प्रकार वस्तुतः ध्वनि रूप ही अलङ्कार्य है (वाच्यार्थ रूप नहीं)। क्योंकि शरीर के साथ सम्बन्ध रखने वाले कटक, केयूर आदि अलङ्कार भी उस-उस विशेष चित्तवृत्ति के औचित्य के सूचक होने के कारण (क्योंकि जैसे किसी युवक के शरीर के अलङ्कार उसके चित्त के रागी होने के औचित्य के सूचक होते हैं, इसी प्रकार किसी साधु के दण्ड-कमण्डल आदि उसके विराग के सूचक होते हैं) चेतनस्वरूप आत्मा को ही अलंकृत करते हैं। जैसा कि—चेतनारहित शव-शरीर कुण्डल आदि अलङ्कारों से युक्त होकर भी नहीं शोभता, क्योंकि उसमें अलङ्कार्य (आत्मा) का अभाव है और साधु का शरीर कटक आदि अलङ्कारों से युक्त होकर खिल्ली का पात्र बनता है, क्योंकि अलङ्कार्य का वहाँ औचित्य नहीं है (वहाँ तो दण्ड-कमण्डल का ही रहना उचित है)। शरीर का कोई अनौचित्य नहीं। इस प्रकार वस्तुतः आत्मा ही अलङ्कार्य है, क्योंकि यह अभिमान होता है कि 'मैं अलङ्कृत हूँ'। 'रसादि की अलङ्कारता का' यहाँ व्यधिकरण षष्ठी विभक्ति है अर्थात् रसादि की जो अल-

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेरुपमादीनां रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति ।

इस प्रकार ध्वनि, उपमा आदि और रसवद् अलङ्कारों का अलग-अलग विषय

लोचनम्

एवमिति । अस्मदुक्तेन विषयविभागेनेत्यर्थः । *उपमादीनामिति* । यत्र रसस्यालङ्कार्यता रसान्तरं चाङ्गभूतं नास्ति तत्र शुद्धा एवोपमादयः । तेन संसृष्ट्या नोपमादीनां विषयापहार इति भावः । *रसवदलङ्कारस्य चेति* । अनेन भावाद्यलङ्कारा अपि प्रेयस्व्यूर्जस्विसमाहिता गृह्यन्ते । तत्र भावालङ्कारस्य शुद्धस्योदाहरणं यथा—

तव शतपत्रपत्रमृदुताम्रतलश्चरणश्चलकलहंसनूपुरकलध्वनिना मुखरः ।
महिषमहासुरस्य शिरसि प्रसभं निहितः कनकमहामहीध्रगुरुतां कथमम्ब गतः ॥

इत्यत्र देवीस्तोत्रे वाक्यार्थीभूते वितर्कविस्मयादिभावस्य चारुत्वहेतुतेति तस्याङ्गत्वाद्भावालङ्कारस्य विषयः । रसाभासस्यालङ्कारता यथा ममैव स्तोत्रे—

समस्तगुणसम्पदः सममलङ्क्रियाणां गणै-
र्भवन्ति यदि भूषणं तव तथापि नो शोभसे ।
शिवं हृदयवल्लभं यदि यथा तथा रञ्जये-
स्तदेव ननु वाणि ! ते भवति सर्वलोकोत्तरम् ॥

ङ्कारता वही विषय । इसी के अनुसार पहले वाक्य में भी योजना कर लेनी चाहिए— रसादिकर्तृक अलङ्करण क्रिया का विषय । इस प्रकार—अर्थात् जैसा कि हमने विषय-विभाग कहा है । उपमा आदि—। जहाँ रस की अलङ्कार्यता और रसान्तर अङ्गभूत नहीं होता उपमा आदि शुद्ध ही अलङ्कार हैं । इसलिए भाव यह कि संसृष्टि से उपमा आदि का विषयापहार (उच्छेद) नहीं । और रसवद् अलङ्कार का—। इससे प्रेयस्वि, ऊर्जस्वि, समाहित (आदि) भावालङ्कार भी गृहीत होते हैं । उनमें शुद्ध 'भावालङ्कार' का उदाहरण, जैसे—

'हे अम्ब, कमल के पत्र के समान कोमल एवं रक्त तलभाग वाला, चंचल कलहंस की भाँति नूपुर की आवाज से मुखर, तुम्हारा चरण महिषासुर के सिर पर बलात् रखा हुआ, कैसे सुमेरु महापर्वत की गुरुता को प्राप्त किया ?

यहाँ देवी का स्तोत्र प्रधान वाक्यार्थ है और वितर्क, विस्मय आदि भाव उसके चारुत्व के हेतु हैं, इस प्रकार उस (वाक्यार्थ रूप स्तोत्र) के अङ्ग होने के कारण 'भावालङ्कार' का विषय है । 'रसाभास' की अलङ्कारता, जैसे मेरे ही (रचे) स्तोत्र में—

हे वाणि, अलङ्कारों के साथ समस्त गुणों की सम्पत्तियाँ यदि तुम्हारा भूषण बनें तब भी तुम्हारी शोभा नहीं, यदि तुम जिस-किसी प्रकार मनभाये भगवान् शिव को प्रसन्न करो तभी तुम्हारा सब से लोकोत्तर भूषण हो ।

ध्वन्यालोकः

यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते तद्युपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात्। यस्मादचेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनया यथाकथ-

सिद्ध होता है। अगर यदि चेतन पदार्थों का वाक्यार्थीभाव रसादि-अलङ्कार का विषय है, यह कहते हैं तो उपमा आदि अलङ्कार का जहाँ-कहीं ही (अर्थात् बहुत कम) विषय मिलेंगे, अथवा उनका कोई विषय ही न रह जाता है। क्योंकि जहाँ अचेतन वस्तु का वृत्तान्त मुख्य वाक्यार्थ है वहाँ (विभावादि की प्रक्रिया से)

लोचनम्

अत्र हि परमेशस्तुतिमात्रं वाचः परमोपादेयमिति वाक्यार्थे शृङ्गाराभासश्चारुत्वहेतुः श्लेषसहितः। न ह्ययं पूर्णः शृङ्गारो नायिकाया निर्गुणत्वे निरलङ्कारत्वे च भवति। 'उत्तमयुवप्रकृतिरुज्ज्वलवेषात्मकः' इति चाभिधानात्। भावाभासाङ्गता यथा—

स पातु वो यस्य हतावशेषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु॥

अत्र रौद्रप्रकृतीनामनुचितस्त्रासो भगवत्प्रभावकारणकृत इति भावाभासः। एवं तत्प्रशमस्याङ्गत्वमुदाहार्यम्। मे मतिरित्यनेन यत्परमतं सूचितं तद्दूषणमुपन्यस्यति—*यदीत्यादिना*। परस्य चायमाशयः—अचेतनानां चित्तवृत्तिरूपरसाद्यसम्भवात्तद्वर्णने रसवदलङ्कारस्यानाशङ्क्यत्वात्तद्विभक्त एवोपमादीनां विषय इति। एतद् दूषयति—*तर्हीति*। तस्माद्वचनाद्धेतोरित्यर्थः। नन्वचेतन-

यहाँ 'परमेश्वर (शिव जी) की स्तुतिमात्र वाणी का परम उपादेय है' इस वाक्यार्थ में श्लेष-सहित शृङ्गाराभास चारुत्व का हेतु है। नायिका के निर्गुण और निरलङ्कार होने पर शृङ्गारपूर्ण नहीं है, (अपितु आभासमात्र है), क्योंकि कहा है 'उज्ज्वल वेषवाले उत्तम प्रकृति के युवति और युवक होते हैं'। 'भावाभास' की अङ्गता, जैसे—

वह भगवान् कृष्ण आपकी रक्षा करें, जिसके द्वारा मारे जाने से बचे हुए दैत्य उन (कृष्ण) के सदृश कृष्ण वर्ण के अंजन से रञ्जित, अपनी पत्नियों के लावण्ययुक्त भी नेत्रकमलों से डरते रहते हैं।

यहाँ रौद्र प्रकृति वाले दैत्यों का त्रास अनुचित है, (किन्तु) वह भगवान् के प्रभाव के कारण है, इस लिए 'भावाभास' है। इसी प्रकार 'भावप्रशम' का भी उदाहरण कर लेना चाहिए। 'मेरी मति है' इस कथन से जो परमत को सूचित किया है उसका दोष उपन्यस्त करते हैं—अगर—इत्यादि द्वारा। दूसरे का यह आशय है—'अचेतन पदार्थों का चित्तवृत्ति रूप रसादि सम्भव न होने के कारण, उनके वर्णन में रसवद् अलङ्कार के अनाशङ्क्य होने से रसवद् अलङ्कार से अलग ही उपमादि अलङ्कारों का विषय है।' इसमें दोष देते हैं—तो—। अर्थात् उस कथन के

ध्वन्यालोकः

श्चिद्भवितव्यम्। अथ सत्यामपि तस्यां यत्राचेतनानां वाक्यार्थीभावो नासौ रसवदलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते। तत् महतः काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात्। यथा—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥

चेतन वस्तु-वृत्तान्त की योजना किसी प्रकार होनी चाहिए। अगर यदि उस (चेतन-वृत्तान्त की योजना) के होने पर भी जहाँ अचेतनों का वाक्यार्थीभाव है, वहाँ रसवदलङ्कार नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं तो बहुत बड़े एवं रस के निधान रूप काव्य-भाग की नीरसता अभिहित होती है। जैसे—

तरंगें जिसको भ्रूभङ्ग हैं, खलबल पक्षि-समुदाय (की आवाज) जिसकी काञ्ची है, रगड़ से ढीले पड़े वस्त्र की भाँति फेन को धारण करती हुई एवं बहुत बार स्खलन को प्राप्त कर कुटिल चाल से चलती हुई वह निश्चय ही नदी के रूप से (मुझ पर) कोपवती हो गई है।

लोचनम्

वर्णनं विषय इत्युक्तमित्याशङ्क्य हेतुमाह—*यस्मादिति*। यथाकथञ्चिदिति विभावादिरूपतया। *तस्यामिति*। चेतनवृत्तान्तयोजनायाम्। *नीरसत्वमिति*। यत्र हि रसस्तत्रावश्यं रसवदलङ्कार इति परमतम्। ततो न रसवदलङ्कारश्चेन्नूनं तत्र रसो नास्तीति परमताभिप्रायान्नीरसत्वमुक्तम्। न त्वस्माकं रसवदलङ्काराभावे नीरसत्वम्, अपि तु ध्वन्यात्मभूतरसाभावे, तादृक्च रसोऽत्रास्त्येव।

तरङ्गेति। तरङ्गा एव भ्रूभङ्गा यस्याः। *विकर्षन्ती विलम्बमानं* बलादाक्षि-

कारण। 'अचेतन का वर्णन विषय है' यह आशङ्का करके हेतु कहते हैं—जिस कारण—। जिस किसी प्रकार अर्थात् विभावादि के प्रकार से। 'उसमें' अर्थात् चेतन पदार्थ के वृत्तान्त की योजना में। नीरसत्व—। दूसरे का यह मत है कि जहाँ रस है वहाँ अवश्य रसवद् अलङ्कार है। ऐसी स्थिति में जहाँ रसवद् अलङ्कार न हो वह रस नहीं है इस दूसरे के मत के अभिप्राय से 'नीरसत्व' कहा गया। लेकिन हमारे मत में रसवद् अलङ्कार के अभाव में 'नीरसत्व' नहीं है, अपितु 'ध्वनि' के आत्मा रूप रस के अभाव में (नीरसत्व है), उस प्रकार का रस यहाँ है ही।

तरंगें—तरङ्गें ही हैं भ्रूभङ्ग जिसके। विकर्षण करती हुई फैले हुए को बल-

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्ता मौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥

अथवा जैसे—

कोपनशीला वह तन्वी (उर्वशी). पैरों पर गिरे हुए मुझे झटककर मानों उत्पन्न पश्चात्ताप के मारे मेघ के जल से गीले पल्लव के रूप में आँसुओं से धुले अधरवाली, अपने समय के विगत हो जाने पर फूलों का खिलना बन्द हो जाने के रूप में अपने आभरणों से शून्य की भाँति और भौंरों के शब्दों के अभाव के रूप में चिन्ता के कारण मौनभाव को प्राप्त-जैसी (लता के समान) प्रतीत होती है ।

लोचनम्

पन्ती । *वसनमंशुकम्* । प्रियतमावलम्बननिषेधायेति भावः । बहुशो यत्स्खलितं येऽपराधास्तानभिसन्धाय हृदयेनैकीकृत्यासहमाना मानिनीत्यर्थः । अथ च मद्वियोगपश्चात्तापासहिष्णुस्तापशान्तये नदीभावं गतेति ।

तन्वीति । वियोगकृशाप्यनुतप्ता चाभरणानि त्यजति । स्वकालो वसन्तग्रीष्मप्रायः । उपायचिन्तनार्थं मौनं, किमिति पादपतितमपि दयितमवधूतवत्यहमिति च चिन्तया मौनम् । *चण्डी* कोपना । एतौ श्लोकौ नदीलतावर्णनपरौ तात्पर्येण पुरूरवस उन्मादाक्रान्तस्योक्तिरूपौ ।

पूर्वक धारण करती हुई । वसन अर्थात् अंशुक । प्रियतम के अवलम्बन के निषेध के लिए, यह भाव है । अर्थात् बहुत बार के जो स्खलित हैं, जो अपराध हैं, उन्हें अभिसन्धान करके—हृदय के साथ एक करके सहन न करती हुई मानिनी । और भी, यह कि मेरे वियोगजन्य पश्चात्ताप को न सहन कर पा रही वह ताप की शान्ति के लिए नदी के स्वरूप को प्राप्त हुई ।

तन्वी—। वियोग से कृश होने के कारण भी और पश्चात्ताप से पीड़ित होने के कारण, आभरणों को छोड़ देती है । अपना समय (स्वकाल) अर्थात् प्रायः वसन्त और ग्रीष्म । उपाय ढूँढ़ने की चिन्ता के लिए मौन, क्योंकर मैंने पैरों पर गिरे प्रिय को झटक दिया (तिरस्कृत किया), इस चिन्ता से मौन । चण्डी अर्थात् कोपना (कोपशीला) । ये दोनों नदी और लता के वर्णन के श्लोक तात्पर्य रूप से उन्माद से आक्रान्त पुरूरवस् की उक्तिरूप हैं ।

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ॥

अथवा, जैसे—

हे भद्र, गोपियों के विलास-सुहृद् और राधा के एकान्त के साक्षी उन यमुना-तट के लतागृहों का कल्याण तो है! अथवा, अब तो काम-शय्या के निर्माण के लिए कोमल किसलयों के तोड़ने का प्रयोजन न रहने के कारण वे पल्लव श्यामल कान्ति से रहित होकर झूर हो जाते होंगे।

लोचनम्

तेषामिति। हे भद्र! तेषामिति ये ममैव हृदये स्थितास्तेषाम्। गोपवधूनां गोपीनां ये विलाससुहृदो नर्मसचिवास्तेषाम्। प्रच्छन्नानुरागिणीनां हि नान्यो नर्मसुहृद्भवति। राधायाश्च सातिशयं प्रेमस्थानमित्याह—राधासम्भोगानां ये साक्षाद् द्रष्टारः, कलिन्दशैलतनया यमुना तस्यास्तीरे लतागृहाणां क्षेमं कुशलमिति काका प्रश्नः। एवं तं पृष्ट्वा गोपदर्शनप्रबुद्धसंस्कार आलम्बनोद्दीपनविभावस्मरणात्प्रबुद्धरतिभावमात्मगतमौत्सुक्यगर्भमाह द्वारकागतो भगवान् कृष्णः- स्मरतल्पस्य मदनशय्यायाः कल्पनार्थं मृदु सुकुमारं कृत्वा यश्छेदस्त्रोटनं स एवोपयोगः साफल्यम्। अथ च स्मरतल्पे यत्कल्पनं क्लृप्तिः स एव मृदुः सुकुमार उत्कृष्टश्छेदोपयोगस्त्रोटनफलं तस्मिन्विच्छिन्ने। मय्यनासीने का स्मरतल्पकल्पनेति भावः। अत एव परस्परानुरागनिश्चयगर्भमेवाह—*ते जान*

हे भद्र—। उन (लतागृहों) का जो मेरे ही हृदय में स्थित हैं, उनका। गोपबन्धुओं अर्थात् गोपियों के जो विलास-सुहृद् अर्थात् नर्मसचिव, उनका। प्रच्छन्न (लुक-छिप कर) अनुराग करने वालियों का नर्मसुहृद कोई दूसरा नहीं होता। राधा का प्रेम बढ़कर है, अतः कहते हैं—राधा के सम्भोगों को जो साक्षात् देखने वाले हैं, कलिन्दशैलतनया अर्थात् यमुना, उसके तीर पर लतागृहों का क्षेम या कुशल है, यह काकु द्वारा प्रश्न है। इस प्रकार उस (उद्धव) से पूछ कर द्वारका में पहुंचे एवं गोपों के देखने से प्रबुद्ध संस्कारवाले भगवान् कृष्ण ने आलम्बन और उद्दीपन विभाव के स्मरण से अपने में उत्पन्न औत्सुक्य से युक्त प्रबुद्ध रतिभाव को प्रकट करते हैं—स्मरतल्प अर्थात् मदनशय्या का जो कल्पन या निर्माण वही है मृदु या सुकुमार अर्थात् उत्कृष्ट छेदोपयोग अर्थात् तोड़ना रूप फल, उसके विच्छिन्न होने पर। भाव यह कि मेरे न रहते स्मरतल्प का निर्माण कैसा? अतएव (अपने और

ध्वन्यालोकः

इत्येवमादौ विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्त्येव । अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्ति तत्र रसादिरलंकारः । तदेवं सत्युपमादयो निर्विषयाः प्रविरलविषया वा स्युः । यस्मान्नास्त्येवासावचेतनवस्तुवृत्तान्तो यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन । तस्मादङ्गत्वेन च रसादीनामलङ्कारता । यः पुनरङ्गी रसो भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति ॥ ५ ॥

इत्यादि प्रकार के विषय में अचेतन पदार्थों के वाक्यार्थ (प्रधान) होने पर भी चेतन वस्तु या पदार्थ की योजना है ही । और जहाँ चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना है वहाँ रसादि अलङ्कार है । ऐसी स्थिति में उपमा आदि अलङ्कारों का कहीं कोई विषय न रह जायगा, अथवा वे कहीं-कहीं पर ही होंगे (सर्वत्र नहीं) । क्योंकि कोई ऐसा अचेतन वस्तु का वृत्तान्त नहीं ही है जहाँ चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना नहीं है, अन्ततः विभाव रूप में (उसकी योजना बन ही जायगी) । इस लिए अङ्ग होने के कारण रसादि का अलङ्कारत्व माना गया है । जो फिर अङ्गीरस अथवा भाव है, वह सब प्रकार अलङ्कार्य एवं 'ध्वनि' का आत्मा है ॥ ५ ॥

लोचनम्

इति । वाक्यार्थस्यात्र कर्मत्वम् । *अधुना जरठीभवन्तीति* । मयि तु सन्निहितेऽनवरतकथितोपयोगान्नेमे जराजीर्णताखिलीकारं कदाचिदवाप्नुवन्तीति भावः । विगलन्ती नीला त्विड्येषामित्यनेन कतिपयकालप्रोषितस्याप्यौत्सुक्यनिर्भरत्वं ध्वनितम् । एवमात्मगतेयमुक्तिर्यदि वा गोपं प्रत्येव संप्रधारणोक्तिः । बहुभिरुदाहरणैर्महतो भूयसः प्रबन्धस्येति यदुक्तं तत्सूचितम् । *अथेत्यादि* । नीरसत्वमत्र मा भूदित्यभिप्रायेणेति शेषः । ननु यत्र चेतनवृत्तस्य सर्वथा नानुप्रवेशः स उपमादेर्विषयो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—*यस्मादित्यादि* । *अन्तत इति* ।

गोपियों के) परस्पर अनुराग के निश्चय से गर्भित इस प्रकार कहते हैं—वे मैं जानता हूँ—यहाँ वाक्यार्थ का कर्मत्व है । अब क्षूर हो गए होंगे—। भाव यह कि मेरे सन्निहित रहने पर निरन्तर कहे हुए (तोड़ने के पूर्वोक्त) उपयोग के कारण कभी भी ये पल्लव जर्जर होने से जीर्ण हो जाने की विद्रूपता को कभी भी प्राप्त नहीं करते हैं । विगलित या अपक्रान्त हो रही है नील कान्ति जिनकी, इससे कुछ ही समय से प्रोषित (बाहर गए) उन भगवान् का अतिशय औत्सुक्य ध्वनित होता है । इस प्रकार यह उक्ति अपने प्रति अथवा गोप के प्रति सम्प्रधारणोक्ति है । बहुत उदाहरणों से कि 'महान् या भूयान् प्रबन्ध का' यह कहा है, उसे सूचित किया है । और—इत्यादि । इस अभिप्राय से, कि यहाँ नीरसत्व न हो । यह आशङ्का करके कि जहाँ चेतन-वृत्तान्त का सर्वथा अनुप्रवेश नहीं वह उपमा आदि का विषय होगा, कहते हैं—क्योंकि—इत्यादि । अन्ततः—। जब कि अचेतन भी वर्ण्यभाव स्तम्भ, पुलक आदि अनुभाव के

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ ६ ॥

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादि-

और भी, जो उस अङ्गीरूप अर्थ को अवलम्बन करते हैं, वह 'गुण' कहलाते हैं और कटक आदि की भाँति अङ्गों पर आश्रित रहनेवालों को 'अलङ्कार' मानना चाहिए।

जो रसादि रूप उस अङ्गी अर्थ को अवलम्बन करते हैं शौर्य आदि की भाँति वे

लोचनम्

स्तम्भपुलकाद्यचेतनमपि वर्ण्यमानमनुभावत्वाच्चेतनमाक्षिपत्येव तावत्, किमत्रोच्यते। अतिजडोऽपि चन्द्रोद्यानप्रभृतिः स्वविश्रान्तोऽपि वर्ण्यमानोऽवश्यं चित्तवृत्तिविभावतां त्यक्त्वा काव्येऽनाख्येय एव स्यात्; शास्त्रेतिहासयोरपि वा। एवं परमतं दूषयित्वा स्वमतमेव प्रत्याम्नायेनोपसंहरति—*तस्मा*दिति। यतः परोक्तो विषयविभागो न युक्त इत्यर्थः। *भावो* वेति वाग्रहणात्तदाभासतत्प्रशमादयः। *सर्वाकार*मिति क्रियाविशेषणम्। तेन सर्वप्रकारमित्यर्थः। *अलङ्कार्य* इति। अत एव नालङ्कार इति भावः॥ ५॥

अलङ्कार्यव्यतिरिक्तश्चालङ्कारोऽभ्युपगन्तव्यः, लोके तथा सिद्धत्वात्, यथा गुणिव्यतिरिक्तो गुणः। गुणालङ्कारव्यवहारश्च गुणिन्यलङ्कार्ये च सति युक्तः। स चास्मत्पक्ष एवोपपन्न इत्यभिप्रायद्वयेनाह—*किञ्चेत्यादि*। न केवलमेतावद्युक्तिजातं रसस्याङ्गित्वे, यावदन्यदपीति समुच्चयार्थः। कारिकाप्यभिप्रायद्वयेनैव

होने के कारण चेतन का आक्षेप कर लेंगे, ऐसी स्थिति में आप क्या उत्तर देंगे? चन्द्र, उद्यान प्रभृति अत्यन्त जड़ होकर एवं अपने आप में पर्यवसित होकर भी चित्तवृत्ति के विभाव (उद्दीपक विभाव) के वैशिष्ट्य को छोड़ कर काव्य में कहने योग्य नहीं ही होगा, शास्त्र और इतिहास में भी यही स्थिति है। इस प्रकार परमत में दोष देकर स्वमत का ही पुनरुक्ति द्वारा उपसंहार करते हैं—इसलिए—। अर्थात् जो कि दूसरे लोगों ने विषय-विभाग किया है, वह ठीक नहीं। अथवा भाव 'अथवा' के ग्रहण से भावाभास, भावप्रशम आदि संगृहीत हैं। 'सर्वाकार' (सब प्रकार) यह क्रिया विशेषण है। अर्थात् सब प्रकार। अलङ्कार्य—। भाव यह कि अलङ्कार नहीं॥ ५॥

अलङ्कार को अलङ्कार्य से पृथक् मानना चाहिए, क्योंकि लोक में उस प्रकार सिद्ध है, जैसे गुणी से पृथक् गुण को माना जाता है। गुण और अलङ्कार का व्यवहार भी गुणी अलङ्कार्य के रहने पर ही ठीक है। और वह (बात) हमारे पक्ष में ही उपपन्न होती है, इन दोनों अभिप्रायों से कहते हैं—और भी—। ये ही युक्तियां केवल रस के अङ्गी होने में ही नहीं; बल्कि और दूसरी भी सम्भव है; यह समुच्चयार्थ है। कारिका को भी इन दोनों अभिप्रायों से लगाना चाहिए। केवल पहले अभिप्राय में प्रथम

ध्वन्यालोकः

वत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ ६ ॥

तथा च—

शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

'गुण' हैं। और जो वाच्य-वाचक रूप अङ्गों पर आश्रित होते हैं, वे कटक आदि की भाँति 'अलङ्कार' माने जाने चाहिए।

और उस प्रकार—शृङ्गार ही मधुर एवं परम आह्लादकारी रस है, तन्मय (शृङ्गारमय) काव्य को आश्रयण करके 'माधुर्य' प्रतिष्ठित होता है ॥ ७ ॥

लोचनम्

योज्या। केवलं प्रथमाभिप्राये प्रथमं कारिकार्धं दृष्टान्ताभिप्रायेण व्याख्येयम्। एवं वृत्तिग्रन्थोऽपि योज्यः ॥ ६ ॥

ननु शब्दार्थयोर्माधुर्यादयो गुणाः, तत्कथमुक्तं रसादिकमङ्गिनं गुणा आश्रिता इत्याशङ्क्याह—*तथा* चेत्यादि। तेन वक्ष्यमाणेन बुद्धिस्थेन परिहार-प्रकारेणोपपद्यते चैतदित्यर्थः। *शृङ्गार एवेति*। मधुर इत्यत्र हेतुमाह—*परः प्रह्लादन इति*। रतौ हि समस्तदेवतिर्यङ्नरादिजातिष्वविच्छिन्नैव वासनास्त इति न कश्चित्तत्र तादृग्यो न हृदयसंवादमयः, यतेरपि हि तच्चमत्कारोऽस्त्येव। अत एव मधुर इत्युक्तम्। मधुरो हि शर्करादिरसो विवेकिनोऽविवेकिनो वा स्वस्थस्यातुरस्य वा झटिति रसनानिपतितस्तावदभिलषणीय एव भवति। *तन्मयमिति*। स शृङ्गार आत्मत्वेन प्रकृतो यत्र व्यङ्ग्यतया। *काव्यमिति*

कारिकार्ध भाग को दृष्टान्त के अभिप्राय से व्याख्या करनी चाहिए। इसी प्रकार वृत्तिग्रन्थ को भी लगाना चाहिए ॥ ६ ॥

जब कि माधुर्य आदि गुण शब्द और अर्थ दोनों के हैं, तब कैसे कहा कि अङ्गी रसादि पर गुण आश्रित होते हैं? यह आशङ्का करके कहते हैं—और उस प्रकार—। अर्थात् अभी जो बुद्धि में स्थित परिहार का प्रकार कहने वाले हैं, उससे यह उपपन्न हो जायगा। शृङ्गार ही—। 'मधुर' होने का कारण कहते हैं—परम आह्लादकारी—। क्योंकि रति (शृङ्गार रस का स्थायी भाव) के सम्बन्ध में सारे देवता, पक्षी, मनुष्य आदि जातियों में वासना अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहती है; इस प्रकार कोई वैसा नहीं जो हृदयसंवाद धारण नहीं करता, क्योंकि यति (साधु-संन्यासी) को भी उस (रति) में चमत्कार (हृदयसंवाद) होता ही है। इसीलिए 'मधुर' यह कहा है। शक्कर आदि का मधुर रस विवेकी अथवा अविवेकी, स्वस्थ और रोगी की जीभ पर पड़ते ही अभिलषणीय हो जाता है। तन्मय—। वह 'शृङ्गार' व्यंग्य होने से आत्मा

ध्वन्यालोकः

श्रृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्। तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः। श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति ॥ ७ ॥

श्रृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥ ८ ॥

श्रृङ्गार ही दूसरे रसों की अपेक्षा आह्लादक होने के कारण मधुर है। शब्द और अर्थ श्रृङ्गाररस के प्रकाशन में तत्पर होते हैं अतः (शब्दार्थमय) काव्य का वह 'माधुर्य' रूप गुण है। श्रव्यत्व ओजस् का भी साधारण लक्षण है ॥ ७ ॥

विप्रलम्भ नाम के श्रृङ्गार में और करुण में माधुर्य प्रकर्षयुक्त होता है, क्योंकि वहाँ मन अधिक आर्द्रभाव प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

लोचनम्

शब्दार्थावित्यर्थः। *प्रतितिष्ठतीति*। प्रतिष्ठां गच्छतीति यावत्। एतदुक्तं भवति—वस्तुतो माधुर्यं नाम श्रृङ्गारादे रसस्यैव गुणः। तन्मधुररसाभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरितं मधुरश्रृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम्। तस्माद्युक्तमुक्तं 'तमर्थमि'त्यादि। कारिकार्थं वृत्त्याह—*श्रृङ्गार इति*। ननु 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते' इति माधुर्यस्य लक्षणम्। नेत्याह—*श्रव्यत्वमिति*। सर्वं लक्षणमुपलक्षितम्। *ओजसोऽपीति*। 'यो यः शस्त्रम्' इत्यत्र हि श्रव्यत्वमसमस्तत्वं चास्त्येवेति भावः ॥ ७ ॥

सम्भोगश्रृङ्गारान्मधुरतरो विप्रलम्भः, ततोऽपि मधुरतमः करुण इति तदभिव्यञ्जनकौशलं शब्दार्थयोर्मधुरतरत्वं मधुरतमत्वं चेत्यभिप्रायेणाह—

रूप से जहाँ हो रहा हो। काव्य अर्थात् शब्द और अर्थ। प्रतिष्ठित होता है—प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। बात यह कही गई—वास्तव में 'माधुर्य' श्रृङ्गार आदि रस का ही गुण है। वह (माधुर्य) मधुररस के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ में उपचरित (आरोपित) होता है, फलतः 'शब्द और अर्थ की जो मधुर श्रृङ्गाररस की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य है, वही माधुर्य है' यह लक्षण है। इसलिए ठीक कहा है 'उस अर्थ को०' इत्यादि। कारिका के अर्थ को वृत्ति से कहते हैं—श्रृङ्गार—। शङ्का—जैसा कि (भामह ने) 'माधुर्य' का लक्षण किया है 'श्रवणीय और जिसमें शब्द अधिक समासयुक्त अर्थ वाले न हों, वह मधुर' कहलाता है'; यह 'नहीं' यह कहते हैं—श्रव्यत्व—। (इतने से 'मधुर' का) पूरा लक्षण उपलक्षित कर लिया है। ओजस् का भी—। भाव यह है कि 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति०' इस (ओजस् के) स्थल में श्रव्यत्व और असमस्तत्व दोनों ही हैं ॥ ७ ॥

सम्भोग श्रृङ्गार से मधुरतर विप्रलम्भ श्रृङ्गार है, उससे भी मधुरतम करुण है, उस रस के अभिव्यञ्जन का कौशल शब्द-अर्थ का मधुरतरत्व और दूसरे का मधुरतमत्व

ध्वन्यालोकः

विप्रलम्भश्रृङ्गारकरुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्षवत्। सहृदयहृदयावर्जनातिशयनिमित्तत्वादिति ॥ ८ ॥

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥ ९ ॥

रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया

विप्रलम्भ श्रृङ्गार और करुण में माधुर्य ही प्रकर्षयुक्त होता है, क्योंकि (वह माधुर्य) सहृदय के हृदय को खींचने का अतिशय (उत्कृष्ट) निमित्त है ॥ ८ ॥

काव्य में रहनेवाले रौद्र आदि रस दीप्ति के कारण लक्षित होते हैं, उस दीप्ति के व्यञ्जक शब्द और अर्थ को आश्रयण करके ओजस् गुण व्यवस्थित है ॥ ९ ॥

रौद्र आदि रस अत्यन्त दीप्ति या उज्ज्वलता को उत्पन्न करते हैं, इसलिए

लोचनम्

श्रृङ्गार इत्यादि। *करुणे चेति* चशब्दः क्रममाह। *प्रकर्षवदिति*। उत्तरोत्तरं तरतमयोगेनेति भावः। *आर्द्रतामिति*। सहृदयस्य चेतः स्वाभाविकमनाविष्टत्वात्मकं काठिन्यं क्रोधादिदीप्तरूपत्वं विस्मयहासादिरागित्वं च त्यजतीत्यर्थः। *अधिकमिति*। क्रमेणेत्याशयः। तेन करुणेऽपि सर्वथैव चित्तं द्रवतीत्युक्तं भवति। ननु करुणेऽपि यदि मधुरिमास्ति, तर्हि पूर्वकारिकायां श्रृङ्गार एवेत्येवकारः किमर्थः। उच्यते—नानेन रसान्तरं व्यवच्छिद्यते; अपि त्वात्मभूतस्य रसस्यैव परमार्थतो गुणा माधुर्यादयः, उपचारेण तु शब्दार्थयोरित्येवकारेण द्योत्यते। वृत्त्यार्थमाह—*विप्रलम्भेति* ॥ ८ ॥

रौद्रेत्यादि। आदिशब्दः प्रकारे। तेन वीराद्भुतयोरपि ग्रहणम्। दीप्ति

है, इस अभिप्राय से कहते हैं—विप्रलम्भ श्रृङ्गार०—इत्यादि। और करुण में यह 'और' शब्द क्रम को बताता है। प्रकर्षयुक्त—। भाव यह कि उत्तरोत्तर ज्यादा और ज्यादातर के होने से। आर्द्रभाव—। अर्थात् सहृदय का चित्त स्वाभाविक अनावेश युक्तता रूप काठिन्य को, क्रोध आदि के कारण दीप्तरूपता को और विस्मय और हास के कारण विक्षेप की स्थिति को छोड़ देता है। अधिक—। 'क्रम से' यह आशय है। इससे यह कहा गया कि करुण में भी सर्वथा ही चित्त पिघल पड़ता है। (शङ्का करते हैं कि) यदि करुण में भी मधुरिमा है, तो पहली कारिका में 'श्रृङ्गार ही' यह 'एव' ('ही') का प्रयोग किस लिए? उत्तर में कहते हैं—इस 'एव' के प्रयोग से दूसरे रस का व्यवच्छेद या निराकरण नहीं किया गया है, बल्कि 'एव'कार से द्योतित होता है कि 'माधुर्य' आदि परमार्थ रूप से आत्मभूत रस के ही गुण हैं, केवल उपचार (आरोप) से शब्द और अर्थ के भी गुण हो जाते हैं। वृत्ति से अर्थ कहते हैं—विप्रलम्भ० ॥ ८ ॥

रौद्र०—इत्यादि। 'आदि' शब्द 'प्रकार' (साहश्य) के अर्थ में है। इससे वी

ध्वन्यालोकः

त एव दीप्तिरित्युच्यते। तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनालङ्कृतं वाक्यम्। यथा—

लक्षणा से उन्हें ही 'दीप्ति' कही जाती है। उसका प्रकाशन करनेवाला शब्द दीर्घ समास की रचना से अलङ्कृत वाक्य है। जैसे—

लोचनम्

प्रतिपत्तुर्हृदये विकासविस्तारप्रज्वलनस्वभावा। सा च मुख्यतया ओजश्शब्दवाच्या। तदास्वादमया रौद्राद्याः, तया दीप्त्या आस्वादविशेषात्मिकया कार्यरूपया लक्ष्यन्ते रसान्तरात्पृथक्तया। तेन कारणे कार्योपचाराद्रौद्रादिरेवौजःशब्दवाच्यः। ततो लक्षितलक्षणया तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनवाक्यरूपोऽपि दीप्तिरित्युच्यते। यथा 'चञ्चद्' इत्यादि। तत्प्रकाशनपरश्चार्थः प्रसन्नैर्गमकैर्वाचकैरभिधीयमानः समासानपेक्ष्यपि दीप्तिरित्युच्यते। यथा—

और [1]अद्भुत का भी ग्रहण है। दीप्ति प्रतिपत्ता या सहृदय के हृदय में विकास, विस्तार और प्रज्वलन की अवस्था को आहित करती है। वह मुख्य रूप से 'ओजस्' शब्द से कही जाती है। रौद्र आदि उस दीप्ति के आस्वाद से युक्त हैं। आस्वाद विशेष एवं कार्य रूप उस दीप्ति से (वे रौद्र आदि रस) अन्य रसों से पृथक् रूप में लक्षित होते हैं। इस लिए कारण में कार्य के उपचार से 'रौद्र' आदि ही 'ओजस्' शब्द के वाच्य हैं। इस लिए 'लक्षित[2]लक्षणा' के द्वारा रौद्र आदि का प्रकाशक शब्द दीर्घसमास की रचना का वाक्य रूप होकर भी 'दीप्ति' कहलाता है। जैसे—

१. 'रौद्र आदि' में 'आदि' पद को लोचनकार ने प्रकार या सादृश्य के अर्थ में माना है और इससे 'वीर और अद्भुत का भी ग्रहण' किया है। अर्थात् रौद्र के सदृश रस वीर आदि दीप्ति से लक्षित होते हैं। यहाँ 'बालप्रिया' में यह शङ्का उठाई गई है कि जब कि स्वयं लोचनकार क्रोधादि को दीप्ति का जनक लिख कर इसी क्रम में और विस्मय, हास आदि को रागित्व या विक्षेप का जनक बताते हैं, ऐसी स्थिति में दीप्ति के जनक होने के कारण क्रोधादि के 'आदि' शब्द से अद्भुत या विस्मय का ग्रहण हो ही जाता है फिर 'विस्मय' का रागित्व या विक्षेप के जनक के रूप में पुनः उल्लेख करने की आवश्यकता क्या थी? इससे तो यही विदित होता है कि 'क्रोधादि' से 'वीर' को ही ग्रहण किया जा सकता है 'अद्भुत' को नहीं। इस प्रकार प्रस्तुत में भी जब 'लोचन' में 'रौद्रादि' से वीर और अद्भुत के ग्रहण का उल्लेख है तो पूर्व ग्रन्थ से इस ग्रन्थ का विरोध स्पष्ट है, ऐसी स्थिति में प्रस्तुत 'अद्भुत' पद के स्थान में 'बीभत्स' यह पाठ होना चाहिए। किन्तु यहाँ 'दिव्याञ्जना' में मेरे गुरु जी का कहना है कि यहाँ 'अद्भुत' से वीर के विभाव से उत्पन्न 'अद्भुत' के ग्रहण करने पर कोई शङ्का उदित नहीं होगी।

२. लक्षितलक्षणा अर्थात् लक्षित में लक्षणा। कुछ लोगों ने लक्षित अर्थ से लक्षणा को 'लक्षित-लक्षणा' माना और कुछ ने शक्यार्थ के परम्परा सम्बन्ध को लक्षितलक्षणा माना है। अस्तु, यहाँ 'ओजस्' शब्द का मुख्य अर्थ है दीप्ति। रौद्रादि से दीप्ति उत्पन्न होती है, इस लिए रौद्र आदि भी 'ओजस्' शब्द से लक्षित होते हैं और इस प्रकार दीर्घ समास की रचना से अलंकृत वाक्य रौद्रादि का

ध्वन्यालोकः

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावबद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

हे देवि, आवर्तन करती हुई दोनों भुजाओं से घुमाई गई प्रचण्ड गदा के अभिघात से सम्यक् प्रकार से चूर्णित ऊरुयुगल वाले सुयोधन के निकल कर जमे हुए घने शोणित से लाल हाथोंवाला भीम तेरे बालों को सँवारेगा।

लोचनम्

'यो यः' इत्यादि। *चञ्चदिति*। चञ्चद्भ्यां वेगादावर्तमानाभ्यां भुजाभ्यां भ्रमिता येयं चण्डा दारुणा गदा तया योऽभितः सर्वत ऊर्वोर्घातस्तेन सम्यक् चूर्णितं पुनरनुत्थानोपहतं कृतमूरुयुगलं युगपदेवोरुद्वयं यस्य तं सुयोधनमनादृत्यैव स्त्यानेनाश्यानतया न तु कालान्तरशुष्कतयावबद्धं हस्ताभ्यामविगलद्रूपमत्यन्त-माभ्यन्तरतया घनं न तु रसमात्रस्वभावं यच्छोणितं रुधिरं तेन शोणौ लोहितौ पाणी यस्य सः। अत एव स भीमः कातरत्रासदायी। *तवेति*। यस्यास्तत्तदपमानजातं कृतं देव्यनुचितमपि तस्यास्तव कचानुत्तंसयिष्यत्यु-त्तंसवतः करिष्यति, वेणीत्वमपहरन् करविच्युतशोणितशकलैर्लोहितकुसुमा-पीडेनेव योजयिष्यतीत्युत्प्रेक्षा। देवीत्यनेन कुलकलत्रखिलीकारस्मरणकारिणा

'चञ्चत्०' इत्यादि। रौद्र आदि का प्रकाशक अर्थ प्रसन्न एवं बोधक वाचकों द्वारा अभिहित होता हुआ, समास की अपेक्षा न करके भी 'दीप्ति' कहलाता है। जैसे— 'यो यः शस्त्रम्०' इत्यादि। वेग से आवर्तन करती हुई भुजाओं से घुमाई गई जो यह चण्ड गदा, उसके द्वारा सब ओर जो जांघों पर प्रहार है उसके कारण सम्यक् चूर्णित अर्थात् फिर से उठने के नाकाबिल बना दिया एक ही समय ऊरुयुगल है जिसका, उस सुयोधन को अनादर करके ही घनीभूत हो जाने से, न कि कालान्तर में सूख जाने से, बंधा हुआ अर्थात् हाथों से छुड़ाया न जाता हुआ, पकड़ लेने के कारण घना, न कि रस (द्रव) रूप जो शोणित या रुधिर उससे लाल हाथ हैं जिसके ऐसा वह। अतएव वह कातर (डरपोंक) लोगों को त्रस्त करने वाला भीम। तेरा—। जिस देवी के लिए अनुचित होने पर भी उन-उन अपमानों को किया, उस तेरे बालों को उत्तंसित करेगा—उत्तंसयुक्त करेगा। उत्प्रेक्षा यह है कि एकलट बने हुए बालों को अलग-अलग करके हाथ से टपकते हुए खून के बिन्दुओं के रूप में लाल फूलों के बने आभूषण से मानों युक्त करेगा। कुलांगना के अपकार की याद दिलाने वाले 'देवि'

प्रकाशक होता है अतः 'ओजस्' शब्द से वह भी लक्षित होता है। इस प्रकार यहाँ लक्षित में लक्षणा (लक्षितलक्षणा) है।

ध्वन्यालोकः

तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः । यथा—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।

और उस (ओज) का प्रकाशक, दीर्घ समास की अपेक्षा न करनेवाला, प्रसन्न (प्रसाद-युक्त) वाचकों द्वारा अभिहित अर्थ है, जैसे—

पाण्डवी सेनाओं में अपनी भुजाओं पर अधिक गर्व करनेवाला जो-जो (व्यक्ति) शस्त्र धारण करता है, पाञ्चाल के गोत्र में जो-जो बड़ा-छोटा अथवा अभी गर्भ में

लोचनम्

क्रोधस्यैवोद्दीपनविभावत्वं कृतमिति नात्र श्रृङ्गारशङ्का कर्तव्या । सुयोधनस्य चानादरणं द्वितीयगदाघातदानाद्यनुद्यमः । स च सञ्चूर्णितोरुत्वादेव । स्त्यानग्रहणेन द्रौपदीमन्युप्रक्षालने त्वरा सूचिता । समासेन च सन्ततवेगवहनस्वभावात् तावत्येव मध्ये विश्रान्तिमलभमाना चूर्णितोरुद्वयसुयोधनानादरणपर्यन्ता प्रतीतिरेकत्वेनैव भवतीत्यौद्धत्यस्य परं परिपोषिका । अन्ये तु सुयोधनस्य सम्बन्धि यत्स्त्यानावबद्धं घनं शोणितं तेन शोणपाणिरिति व्याचक्षते ।

य इति । स्वभुजयोर्गुरुर्मदो यस्य चमूनां मध्येऽर्जुनादिरित्यर्थः । पाञ्चालराजपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन द्रोणस्य व्यापादनात्तत्कुलं प्रत्यधिकः क्रोधावेशोऽश्वत्थाम्नः । तत्कर्मसाक्षीति कर्णप्रभृतिः । रणे सङ्ग्रामे कर्तव्ये यो मयि मद्विषये

इस सम्बोधन से क्रोध का ही उद्दीपन विभाव रूप का सम्पादन किया है, ऐसी स्थिति में यहाँ 'श्रृङ्गार' की शंका नहीं करनी चाहिए ।

दूसरी बार गदा का आघात देने का उद्योग न करना, यह सुयोधन का अनादर है । वह अनुद्योग उसके ऊरुयुगल के सञ्चूर्णित हो जाने से ही स्पष्ट हो जाता है । 'स्त्यान' ('घनीभूत') कहने से द्रौपदी के क्रोध के प्रक्षालन में त्वरा सूचित की है । और समास के द्वारा निरन्तर वेग से बहने के स्वभाव के कारण तब तक मध्य में विश्राम न प्राप्त करती हुई, चूर्णित ऊरुयुगल वाले सुयोधन के अनादरण तक पर्यवसित प्रतीति एकरूप से होती है, इस प्रकार वह (भीम के) औद्धत्य का पूर्ण रूप से परिपोष करती है । दूसरे लोग व्याख्या करते हैं कि 'सुयोधन का जो स्त्यानावबद्ध (जोर से निकल कर घनीभूत), घन (अर्थात् गाढ़ा) जो शोणित, उससे लाल हाथ वाला' ।

पाण्डवी सेनाओं में—सेनाओं के बीच अपनी भुजाओं पर अधिक मद है जिसका, अर्थात् अर्जुन आदि । पाञ्चाल नरेश के पुत्र धृष्टद्युम्न ने द्रोण का वध किया, अतः उसके कुल के प्रति अश्वत्थामा का क्रोधावेश अधिक है । उस (द्रोणवध रूप) कर्म के साक्षी, (आंखों के सामने द्रोण का वध देखने वाले) कर्ण प्रभृति । मेरे द्वारा कर्तव्य

ध्वन्यालोकः

यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

पड़ा है, और जो-जो उस कर्म (द्रोण के वध) का साक्षी है और जो-जो मेरे युद्ध-भूमि में विचरण करते समय विरोधी होगा, उस-उस का क्रोध से अंधा मैं अन्त कर डालूंगा, वह चाहे स्वयं भी सब जगत् का अन्त करनेवाला (यमराज) ही क्यों न हो।

लोचनम्

प्रतीपं चरति समरविघ्नमाचरति। यद्वा मयि चरति सति सङ्ग्रामे यः प्रतीपं प्रतिकूलं कृत्वास्ते स एवंविधो यदि सकलजगदन्तको भवति तस्याप्यहमन्तकः किमुतान्यस्य मनुष्यस्य देवस्य वा। अत्र पृथग्भूतैरेव क्रमाद्विमृश्यमानैरर्थैः पदात्पदं क्रोधः परां धारामाश्रित इत्यसमस्ततैव दीप्तिनिबन्धनम्। एवं माधुर्यदीप्ती परस्परप्रतिद्वन्द्वितया स्थिते शृङ्गारादिरौद्रादिगते इति प्रदर्शयता तत्समावेशवैचित्र्यं हास्यभयानकबीभत्सशान्तेषु दर्शितम्। हास्यस्य शृङ्गाराङ्गतया माधुर्यं प्रकृष्टं विकासधर्मतया चौजोऽपि प्रकृष्टमिति साम्यं द्वयोः। भयानकस्य भग्नचित्तवृत्तिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्ततया ओजः प्रकृष्टं

संग्राम में जो मेरे प्रति प्रतीप आचरण करेगा अर्थात् समर में विघ्न करेगा। अथवा, मेरे संग्राम में विचरण करते समय जो प्रतीप या प्रतिकूल करके रहेगा, ऐसा वह यदि सारे संसार का अन्तक है तो उसका भी मैं अन्तक हूँ, फिर दूसरे मनुष्य या देवता की बात क्या ? यहाँ अलग-अलग हुए ही एवं क्रम से विमृश्यमान अर्थों द्वारा क्रोध एक पद से दूसरे पद में उत्कृष्ट धारा पर आश्रित है (उत्कर्ष पर चढ़ता जाता है), इस प्रकार असमस्त (समास-रहित) होना ही दीप्ति का कारण (निबन्धन) है। इस प्रकार माधुर्य और दीप्ति दोनों एक दूसरे के विरोधी रूप में स्थित हो शृङ्गार आदि और रौद्र आदि रसों में होते हैं, यह दिखाते हुए (ग्रन्थकार ने) उनके समावेश का वैचित्र्य हास्य, भयानक, बीभत्स[1] और शान्त रसों में दिखाया है। विभाग यह है कि हास्य शृङ्गार का अंग है, इस लिए उसमें माधुर्य प्रकृष्ट होता है, एवं विकास-धर्मी होने के कारण ओज भी उसमें प्रकृष्ट होता है, इस प्रकार दोनों का साम्य है। भयानक में चित्तवृत्ति भग्न हो जाती है, फिर भी उसका विभाव दीप्त (ओजस्वी) होता है, अतः ओज प्रकृष्ट है और माधुर्य अल्प। इसी प्रकार बीभत्स में भी।

---

१. 'बालप्रिया' में दोनों स्थानों में 'बीभत्स' के स्थान पर 'अद्भुत' पाठ माना है। क्योंकि 'रौद्रादि' में 'आदि' पद से बीभत्स का परिग्रह हो चुका है, अतः उसमें केवल 'दीप्ति' होती है, माधुर्य नहीं।

ध्वन्यालोकः

इत्यादौ द्वयोरोजस्त्वम् ॥ ९ ॥

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥ १० ॥

इत्यादि उदाहरणों में दोनों (शब्द और अर्थ) ओजस् गुण से युक्त हैं ॥ ९ ॥

काव्य का सब रसों के प्रति जो समर्पकत्व है, सभी रसों और रचनाओं में साधारण (सामान्य) रूप से अवस्थित उसे 'प्रसाद गुण' समझना चाहिए ॥ १० ॥

लोचनम्

माधुर्यमल्पम् । बीभत्सेऽप्येवम् । शान्ते तु विभाववैचित्र्यात्कदाचिदोजः प्रकृष्टं कदाचिन्माधुर्यमिति विभागः ॥ ९ ॥

समर्पकत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तॄन् प्रति स्वात्मावेशेन व्यापारकत्वं झटिति शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेन । अकलुषोदकदृष्टान्तेन च तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः । उपचारात्तु तथाविधे व्यङ्ग्येऽर्थे यच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रसादः । तमेव व्याचष्टे—*प्रसादेति* । ननु रसगतो गुणस्तत्कथं शब्दार्थयोः स्वच्छतेत्याशङ्क्याह—*स चेति* । चशब्दोऽवधारणे । सर्वरससाधारण एव गुणः । स एव च गुण एवंविधः । सर्वा येयं रचना शब्दगता चार्थगता च समस्ता चासमस्ता च तत्र साधारणः । *मुख्यतयेति* । अर्थस्य तावत्समर्पकत्वं व्यङ्ग्यं प्रत्येव सम्भवति नान्यथा । शब्दस्यापि स्ववाच्यार्पकत्वं नाम कियदलौकिकं येन गुणः स्यादिति भावः । एवं माधुर्यौजःप्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण । ते च प्रतिपत्त्रास्वाद-

शान्त में विभाव के वैचित्र्य से कभी ओज प्रकृष्ट होता है तो कभी माधुर्य ॥ ९ ॥

समर्पकत्व अर्थात् सम्यक् प्रकार से अर्पणकर्तृत्व; जिस प्रकार सूखे काठ में आग झट से व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार हृदय के एक-रूप होने (हृदयसंवाद) के कारण जानकारों (प्रतिपत्ताओं) के प्रति (अर्थात् उनके हृदयों को) स्वस्वरूप से व्याप्त कर लेना (अथवा), जिस प्रकार कालुष्यरहित (स्वच्छ) वस्त्र को झट से जल व्याप्त कर लेता है, इस ढंग से वह अकालुष्य प्रसन्नत्व (प्रसाद) सभी रसों का गुण है । उपचार (लक्षणा) से, उस प्रकार के (रस रूप) व्यंग्य अर्थ के सम्बन्ध में भी जो शब्द और अर्थ का 'समर्पकत्व' है, वह भी 'प्रसाद' है । उसी की व्याख्या करते हैं—प्रसाद—। जब कि गुण रसगत धर्म है तब शब्द और अर्थ की स्वच्छता कैसे ? यह आशङ्का करके कहते हैं—और वह—। 'और' शब्द अवधारणार्थक है; सभी रसों में साधारण रूप से ही रहने वाला गुण है और वही गुण इस प्रकार का है । शब्दगत और अर्थगत एवं समस्त और असमस्त इन सब प्रकार की रचनाओं में साधारण रूप से रहने वाला है । मुख्य रूप से—। भाव यह कि अर्थ का समर्पकत्व व्यंग्य के प्रति ही सम्भव होगा, अन्यथा नहीं; शब्द का भी अपने वाच्य का अर्पकत्व कितना अलौकिक है जिससे गुण माना जाय ? इस प्रकार भामह के अभिप्राय से माधुर्य,

ध्वन्यालोकः

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। स च सर्वरससाधारणो गुणः सर्वरचनासाधारणश्च व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः।

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः॥ ११॥

प्रसाद शब्द और अर्थ की स्वच्छता है, और वह सभी रसों और रचनाओं में सामान्य रूप से रहनेवाला एवं मुख्य रूप से व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा से ही (उसके ही समर्पक रूप में) व्यवस्थित मानना चाहिए॥ १०॥

जो श्रुतिदुष्ट आदि अनित्य दोष दिखाए गए हैं वे ध्वनिरूप शृङ्गार में ही त्याज्य कहे गए हैं॥ ११॥

लोचनम्

मया मुख्यतया तत आस्वाद्ये उपचरिता रसे ततस्तद्व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम्॥ १०॥

एवमस्मत्पक्ष एव गुणालङ्कारव्यवहारो विभागेनोपपद्यत इति प्रदर्श्य नित्यानित्यदोषविभागोऽप्यस्मत्पक्ष एव सङ्गच्छत इति दर्शयितुमाह—*श्रुतिदुष्टादय इत्यादि*। वान्तादयोऽसभ्यस्मृतिहेतवः। श्रुतिदुष्टा अर्थदुष्टा वाक्यार्थबलादश्लीलार्थप्रतिपत्तिकारिणः। यथा—'छिन्द्रान्वेषी महांस्तब्धो घातायैवोप-

ओज, प्रसाद ये [1]तीन ही गुण हैं। वे मुख्य रूप से प्रतिपत्ता (जानकार अर्थात् सहृदय) के आस्वाद स्वरूप हैं तब लक्षण से आस्वाद्य रस में उपचरित हैं, तब उस (रस) के व्यञ्जक शब्द और अर्थ में उपचरित हैं, यह तात्पर्य है॥ १०॥

इस प्रकार हमारे पक्ष में ही गुण और अलंकार का व्यवहार विभागपूर्वक बनता है, यह बताकर दोषों का नित्यानित्य-विभाग भी हमारे पक्ष में ही सङ्गत होता है, यह दिखाने के लिए कहते हैं—जो श्रुतिदुष्ट आदि इत्यादि। 'वान्त' (उगला हुआ) आदि असभ्य स्मृति को उत्पन्न करने वाले। श्रुतिदुष्ट और वाक्यार्थ के बल से अश्लील अर्थ की प्रतीति कराने वाले अर्थदुष्ट; जैसे—'बड़ा स्तब्ध और छिद्र का अन्वेषण करने वाला, घात ही के लिए पहुंच जाता है'। दो पदों की कल्पना से 'कल्पनादुष्ट' होते

---

[1] गुण और अलङ्कार का भेद, एवं गुण के भेद के सम्बन्ध में विचार साहित्य-शास्त्र का मुख्य प्रकरण है। ध्वन्यालोक और लोचन के अनुसार इन तीनों का विचार हो चुका। काव्यप्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि परवर्ती ग्रन्थों में ध्वन्यालोक-लोचन के ही विचारों का अनुसरण हुआ है। गुण और अलङ्कार का भेद करते हुए 'वामन' ने कहा है—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः, अर्थात् काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण हैं और शोभा की वृद्धि करने वाले धर्म अलङ्कार हैं। 'काव्यप्रकाश' में इसका खण्डन मिलता है। और, भट्ट उद्भट ने तो गुण और अलङ्कार का कोई भेद ही नहीं माना है, उनके अनुसार ओजस् प्रभृति

ध्वन्यालोकः

अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः सूचितास्तेऽपि न वाच्ये अर्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये शृङ्गारव्यतिरेकिणि शृङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभूते। किं तर्हि ? ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारेऽङ्गितया व्यङ्ग्ये ते हेया इत्युदाहृताः। अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतैव न स्यात्। एवमयमसंलक्ष्यक्रमद्योतो ध्वनेरात्मा प्रदर्शितः सामान्येन ॥ ११ ॥

अनित्य दोष जो श्रुतिदुष्ट आदि सूचित किए गए हैं वे भी न अर्थमात्र वाच्य में और न शृङ्गाररहित व्यङ्ग्य में अथवा न ध्वनि के अनात्मभूत शृङ्गार में होते हैं। तब क्या होते हैं ? अङ्गीरूप व्यङ्ग्य ध्वन्यात्मा शृङ्गार में ही वे त्याज्य कहे गए हैं। ऐसा न माना जाय तो उनका अनित्य दोष होना ही नहीं बनेगा। इस प्रकार सामान्य रूप से यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप ध्वनि का आत्मा बताया गया ॥ ११ ॥

लोचनम्

सर्पति' इति। कल्पनादुष्टास्तु द्वयोः पदयोः कल्पनया। यथा 'कुरु रुचिम्' इत्यत्र क्रमव्यत्यासे। श्रुतिकष्टस्तु अधाक्षीत् अक्षोत्सीत् तृणेढि इत्यादि। शृङ्गार इत्युचितरसोपलक्षणार्थम्। वीरशान्ताद्भुतादावपि तेषां वर्जनात्। *सूचिता* इति। न त्वेषां विषयविभागप्रदर्शनेनानित्यत्वं भिन्नवृत्तादिदोषेभ्यो विविक्तं प्रदर्शितम्। नापि गुणेभ्यो व्यतिरिक्तत्वम्। बीभत्सहास्यरौद्रादौ त्वेषामस्माभिरुपगमात् शृङ्गारादौ च वर्जनादनित्यत्वं च दोषत्वं च समर्थितमेवेति भावः ॥ ११ ॥

हैं, जैसे 'कुरु रुचिम्' इस क्रम को बदल देने पर। 'श्रुतिकष्ट' है, 'अधाक्षीत्' 'अक्षोत्सीत्', 'तृणेढि' इत्यादि। उचित रस के उपलक्षण के लिए 'शृङ्गार' का प्रयोग किया है। वीर, शान्त, अद्भुत आदि रसों में भी उन (दोषों) का वर्जन है। सूचित—। न कि विषय-विभाग दिखाने से इन के अनित्यत्व को भिन्नवृत्त आदि दोषों से अलग दिखाया गया है। और न कि इनका गुणों से व्यतिरिक्तत्व भी बताया है। बीभत्स, हास्य और रौद्र आदि में इन दोषों को हमने स्वीकार किया है और शृङ्गार आदि में इनका वर्जन किया है, अतः इनके अनित्यत्व और दोषत्व का समर्थन ही किया है ॥ ११ ॥

गुण और अनुप्रासादि अलङ्कार दोनों ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। लौकिक गुण और अलङ्कार में भेद अवश्य है, किन्तु काव्य के गुण और अलङ्कार में भेद की कल्पना गड्डुलिका-प्रवाह (भेड़चाल) है। आलोक और लोचन में गुण को रसनिष्ठ धर्म एवं अलङ्कार को शब्द-अर्थनिष्ठ धर्म माना है, इस प्रकार आश्रयभेद से भेद है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में माधुर्य, ओजस् और प्रसाद ये तीन ही गुण माने हैं। जो कि प्राचीन ग्रन्थों में दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुणों का उल्लेख मिलता है उसका अन्तर्भाव, जैसा कि 'काव्यप्रकाश' में बताया गया है इन्हीं तीन गुणों में हो जाता है। यह विषय 'काव्य-प्रकाश' (अष्टम उल्लास) से विदित कर लेना चाहिए।

ध्वन्यालोकः

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदाः स्वगताश्च ये।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ॥ १२ ॥

अङ्गितया व्यङ्ग्यो रसादिर्विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरेक आत्मा य उक्तस्तस्याङ्गानां वाच्यवाचकानुपातिनामलङ्काराणां ये प्रभेदा निरवधयो ये च स्वगतास्तस्याङ्गिनोऽर्थस्य रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणा विभावानुभावव्यभिचारिप्रतिपादनसहिता अनन्ताः स्वाश्रयापेक्षया

उसके अङ्गों के जो प्रभेद हैं और जो स्वगत प्रभेद हैं, परस्पर सम्बन्ध की परिकल्पना करने पर उनका आनन्त्य हो जायगा ॥ १२ ॥

अङ्गी होने के कारण व्यंग्य जो रसादि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का एक आत्मा कहा गया है, उसके वाच्य-वाचक के कारण होनेवाले अङ्गों के जो अनन्त प्रभेद हैं और जो स्वगत प्रभेद हैं उस अङ्गी रूप अर्थ के रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम रूप विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के प्रतिपादन के साथ अनन्त,

लोचनम्

*अङ्गानामि*त्यलङ्काराणाम्। *स्वगता* इति। आत्मगताः सम्भोगविप्रलम्भाद्या आत्मीयगता विभावादिगतास्तेषां लोष्टप्रस्तारेणाङ्गाङ्गिभावे का गणनेति भावः। *स्वाश्रयः* स्त्रीपुंसप्रकृत्यौचित्यादिः। परस्परं प्रेम्णा दर्शनमित्युपलक्षणं सम्भाषणादेरपि। सुरतं चातुःषष्टिकमालिङ्गनादि। विहरणमुद्यानगमनम्। आदिग्रहणेन जलक्रीडापानकचन्द्रोदयक्रीडादि। अभिलाषविप्रलम्भो द्वयोरप्यन्योन्यजीवितसर्वस्वाभिमानात्मिकायां रतावुत्पन्नायामपि कुतश्चिद्धेतो-

अङ्गों के अर्थात् अलङ्कारों के। स्वगत—। अर्थात् आत्मगत, सम्भोग, विप्रलम्भ आदि आत्मीयगत, विभावादिगत। भाव यह कि इनके लोष्टप्रस्तार से अङ्गाङ्गिभाव की कल्पना करने पर कोई गणना नहीं। स्वाश्रय (अपना आश्रय), अर्थात् स्त्री, पुरुष की प्रकृति का औचित्य आदि। परस्पर प्रेम से दर्शन; यह सम्भाषण आदि का उपलक्षण है। आलिङ्गन आदि [1]चौंसठ प्रकार का सुरत। विहरण अर्थात् उद्यानगमन। 'आदि' ग्रहण से जलक्रीडा, पानक, चन्द्रोदयक्रीडा आदि। दोनों (नायक और नायिका) के एक-दूसरे को अपना जीवितसर्वस्व के अभिमान रूप रति के उत्पन्न हो जाने पर भी किसी कारणवश समागम के प्राप्त न होने पर 'अभिलाषविप्रलम्भ'

---

१. वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में ६४ प्रकार के सुरत का वर्णन है—आलिङ्गनचुम्बननखच्छेद्यदशनच्छेद्यसंवेशनसीत्कृतपुरुषायितौपरिष्टकानामष्टानामष्टधा विकल्पभेदादष्टावष्टकाश्चतुष्षष्टिरिति वाभ्रवीयाः' (२. २. ४)। ये आलिङ्गन आदि आठ अपने-अपने आठ-आठ प्रभेदों के द्वारा सब मिल कर ६४ प्रकार के होते हैं। प्रत्येक का कामसूत्र में लक्षण भी निर्दिष्ट है।

ध्वन्यालोकः

निःसीमानो विशेषास्तेषामन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे कस्यचिद्-न्यतमस्यापि रसस्य प्रकाराः परिसङ्ख्यातुं न शक्यन्ते किमुत सर्वेषाम्। तथा हि शृङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ—सम्भोगो विप्रलम्भश्च। सम्भोगस्य च परस्परप्रेमदर्शनसुरतविहरणादिलक्षणाः प्रकाराः। विप्रलम्भस्याप्यभिलाषेर्ष्याविरहप्रवासविप्रलम्भादयः। तेषां च प्रत्येकं

अपने आश्रय की अपेक्षा निःसीम विशेष हैं, उनके परस्पर सम्बन्ध की कल्पना करने पर किसी एक भी रस के प्रकार गिनाये नहीं जा सकते, सबों की तो बात क्या? जैसा कि अङ्गी शृङ्गार के पहले दो भेद हैं—सम्भोग और विप्रलम्भ। सम्भोग के परस्पर प्रेम से दर्शन, सुरत, विहरण आदि रूप प्रकार हैं। विप्रलम्भ के भी अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास, विप्रलम्भ आदि (प्रकार) हैं। विभाव, अनुभाव,

लोचनम्

रप्राप्तसमागमत्वे मन्तव्यः। यथा 'सुखयतीति किमुच्यत' इत्यतः प्रभृति वत्सराजरत्नावल्योः, न तु पूर्वं रत्नावल्याः। तदा हि रत्यभावे कामावस्थामात्रं तत्। ईर्ष्याविप्रलम्भः प्रणयखण्डनादिना खण्डितया सह। विरहविप्रलम्भः पुनः खण्डितया प्रसाद्यमानयापि प्रसादमगृह्णन्त्या ततः पश्चात्तापपरीतत्वेन विरहोत्कण्ठितया सह मन्तव्यः। प्रवासविप्रलम्भः प्रोषितभर्तृकया सहेति विभागः। आदिग्रहणाच्छापादिकृतः, विप्रलम्भ इव च विप्रलम्भः। वञ्चनायां ह्यभिलषितो विषयो न लभ्यते; एवमत्र। तेषां चेति। एकत्र सम्भोगादीनामपरत्र विभावादीनाम्। आश्रयो मलयादिः मारुतादीनां विभावानामिति यदुच्यते तद्देशशब्देन गतार्थम्। तस्मादाश्रयः कारणम्। यथा ममैव—

माना जाना चाहिए। जैसे, 'सुखयतीति किमुच्यते' इससे लेकर वत्सराज और रत्नावली का, न कि पहले रत्नावली का। क्योंकि उस समय रति नहीं है, वह सिर्फ कामावस्था है। खण्डिता नायिका के साथ प्रणय के खण्डन आदि से 'ईर्ष्याविप्रलम्भ' है। 'खण्डिता' अवस्था में प्रसन्न करने की चेष्टा करने पर भी प्रसन्न न होती हुई, उसके कारण पश्चात्ताप में पड़ी होने से 'विरहोत्कण्ठिता' नायिका के साथ 'विरहविप्रलम्भ' मान जाना चाहिए। 'प्रोषितभर्तृका' नायिका के साथ 'प्रवासविप्रलम्भ' होता है, यह (इनका) विभाग है। आदि ग्रहण से शाप आदि द्वारा किया हुआ। विप्रलम्भ के समान विप्रलम्भ है, क्योंकि वञ्चना में अभिलषित विषय प्राप्त नहीं होता, इसी प्रकार यहाँ (अभिलषित विषय प्राप्त नहीं होता, अतः वञ्चनार्थक 'विप्रलम्भ' शब्द का प्रयोग किया है)। उनका—। एकत्र सम्भोग आदि का, अपरत्र विभाव आदि का। मारुत आदि विभावों का आश्रय मलय आदि जो कहा है वह 'देश' शब्द से गतार्थ है। इसलिए आश्रय अर्थात् कारण। जैसा कि मेरा ही—

ध्वन्यालोकः

विभावानुभावव्यभिचारिभेदः । तेषां च देशकालाद्याश्रयावस्थाभेद इति स्वगतभेदापेक्षयैकस्य तस्यापरिमेयत्वम्, किं पुनरङ्गप्रभेदकल्पनायाम् । ते ह्यङ्गप्रभेदाः प्रत्येकमङ्गिप्रभेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति ॥ १२ ॥

दिङ्मात्रं तूच्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम् ।
बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति ॥ १३ ॥

व्यभिचारी के अनुसार उनका अलग-अलग भेद है। उनका भी देश, काल आदि आश्रय एवं अवस्था के अनुसार भेद है, इस प्रकार स्वगत भेद की अपेक्षा से ही उसका एक (भेद) अपरिमेय हो जाता है, फिर अङ्गों के प्रभेद की कल्पना की बात क्या? अङ्गों के वे प्रभेद अलग-अलग अङ्गी के प्रभेदों के सम्बन्ध की कल्पना की जाने पर आनन्त्य ही को प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

केवल दिङ्मात्र कहते हैं, जिससे व्युत्पन्न सचेतस जनों की बुद्धि सर्वत्र ही प्राप्तालोक हो जायगी ॥ १३ ॥

लोचनम्

दयितया ग्रथिता स्रगियं मया हृदयधामनि नित्यनियोजिता ।
गलति शुष्कतयापि सुधारसं विरहदाहरुजां परिहारकम् ॥

तस्येति शृङ्गारस्य। अङ्गिनां रसादीनां प्रभेदस्तत्सम्बन्धकल्पनेत्यर्थः ॥१२॥

येनेति । दिङ्मात्रोक्तेनेत्यर्थः । *सचेतसामिति* । महाकवित्वं सहृदयत्वं च प्रेप्सूनामिति भावः । *सर्वत्रेति* । सर्वेषु रसादिष्वासादित आलोकोऽवगमः सम्यग्व्युत्पत्तिर्ययेति सम्बन्धः ॥ १३ ॥

प्रिया के द्वारा गूथी गई इस माला को मैंने अपने हृदय पर रख लिया है, (विरह-ताप के कारण) यह सूख जाने पर भी विरह के दाह को दूर करने वाले सुधारस को स्रावित कर रही है।

उसका शृङ्गार का। अङ्गी रस आदि का प्रभेद अर्थात् उनके सम्बन्ध की कल्पना ॥ १२ ॥

जिससे—अर्थात् 'दिङ्मात्र' कहने से। सचेतस जनों की—। भाव यह कि महा-कवित्व और सहृदयत्व प्राप्त करने की इच्छा वालों की। सर्वत्र—। सभी रसों में प्राप्त किया है आलोक या अवगम अर्थात् सम्यक् व्युत्पत्ति को जिसने ॥ १३ ॥

ध्वन्यालोकः

दिङ्मात्रकथनेन हि व्युत्पन्नानां सहृदयानामेकत्रापि रसभेदे सहालङ्कारैरङ्गाङ्गिभावपरिज्ञानादासादितालोका बुद्धिः सर्वत्रैव भविष्यति।

तत्र—

शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः॥ १४॥

अङ्गिनो हि शृङ्गारस्य ये उक्ताः प्रभेदास्तेषु सर्वेष्वेकप्रकारानुबन्धितया प्रबन्धेन प्रवृत्तोऽनुप्रासो न व्यञ्जकः। अङ्गिन इत्यनेनाङ्गभूतस्य शृङ्गारस्यैकरूपानुबन्ध्यनुप्रासनिबन्धने कामचारमाह॥ १४॥

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥ १५॥

'दिङ्मात्र' कह देने से व्युत्पन्न सहृदय जनों की बुद्धि एक भी रसभेद में अलङ्कारों के साथ अङ्गाङ्गिभाव के परिज्ञान से सर्वत्र ही प्राप्तालोक हो जायगी॥ १३॥

वहाँ—

अङ्गी शृङ्गार के सभी प्रभेदों में यत्नपूर्वक एक प्रकार के अनुबन्ध वाला अनुप्रास प्रकाशक नहीं होता॥ १४॥

अङ्गी शृङ्गार के जो प्रभेद कहे गए हैं उन सभी में एक प्रकार के अनुबन्धी रूप से प्रवृत्त अनुप्रास व्यञ्जक नहीं होता। 'अङ्गी' इससे अङ्गभूत शृङ्गार एक प्रकार के अनुबन्ध वाले अनुप्रास के निबन्धन में स्वेच्छाचार कहा है॥ १४॥

ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार में यमक आदि का निबन्धन शक्ति होने पर भी प्रमादित्व का सूचक है, विशेष रूप से विप्रलम्भ में॥ १५॥

लोचनम्

तत्रेति। वक्तव्ये दिङ्मात्रे सतीत्यर्थः। *यत्नादिति*। यत्नतः क्रियमाणत्वादिति हेत्वर्थोऽभिप्रेतः। एकरूपं त्वनुबन्धं त्यक्त्वा विचित्रोऽनुप्रासो निबध्यमानो न दोषायेत्येकरूपग्रहणम्॥ १४॥

यमकादीत्यादिशब्दः प्रकारवाची। दुष्करं मुरजचक्रबन्धादि। शब्दभङ्ग-

वहाँ—। अर्थात् दिङ्मात्र वक्तव्य के होने पर। यत्नपूर्वक—। अर्थात् यत्नपूर्वक किए जाने होने के कारण, यह हेत्वर्थ अभिप्रेत है। एक प्रकार का अनुबन्ध छोड़ कर निबध्यमान विचित्र अनुप्रास दोषावह नहीं होता, इसलिए 'एक प्रकार' का ग्रहण किया॥ १४॥

'यमकादि' यहां 'आदि' शब्द प्रकार (सादृश्य) के अर्थ में है। दुष्कर, अर्थात् मुरजबन्ध, चक्रबन्ध आदि। शब्दभङ्गश्लेष—। 'अर्थश्लेष' दोषावह नहीं होता,

ध्वन्यालोकः

ध्वनेरात्मभूतः शृङ्गारस्तात्पर्येण वाच्यवाचकाभ्यां प्रकाश्यमानस्तस्मिन्यमकादीनां यमकप्रकाराणां निबन्धनं दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनां शक्तावपि प्रमादित्वम्। 'प्रमादित्व'मित्यनेनैतद्दर्श्यते—काकतालीयेन कदाचित्कस्यचिदेकस्य यमकादेर्निष्पत्तावपि भूम्नालङ्कारान्तरवद्रसाङ्गत्वेन निबन्धो न कर्तव्य इति। 'विप्रलम्भे विशेषत' इत्यनेन विप्रलम्भे सौकुमार्यातिशयः ख्याप्यते। तस्मिन्द्योत्ये यमकादेरङ्गस्य निबन्धो नियमान्न कर्तव्य इति ॥ १५ ॥

अत्र युक्तिरभिधीयते—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥ १६ ॥

ध्वनि का आत्मभूत शृङ्गार तात्पर्य रूप से शब्द और अर्थ द्वारा प्रकाशित होता है, उसमें यमक आदि यमक के प्रकारों का निबन्धन दुष्कर, शब्द-भङ्गश्लेष आदि की शक्ति होने पर भी प्रमादित्व का सूचक है। 'प्रमादित्व' से यह दिखाते हैं—काकतालीय के प्रकार से कभी किसी एक 'यमक' आदि की निष्पत्ति होने जाने पर भी बाहुल्यपूर्वक दूसरे अलङ्कारों की भांति रस के अङ्ग रूप से निबन्ध नहीं करना चाहिए। 'विशेष रूप से विप्रलम्भ में' इस (कथन) से विप्रलम्भ में अतिशय सौकुमार्य व्यक्त किया है। जब कि उसका (विप्रलम्भ का) द्योतन किया जाय, तब यमक आदि अङ्ग का निबन्धन नियमतः नहीं करना चाहिए ॥ १५ ॥

यहां युक्ति कहते हैं—

ध्वनि में वह अलङ्कार माना गया है, जिसका प्रयोग रसाक्षिप्त रूप से किया जा सके और जो बिना किसी अलग यत्न के प्राप्त हो जाय ॥ १६ ॥

लोचनम्

श्लेष इति। अर्थश्लेषो न दोषाय 'रक्तस्त्वम्' इत्यादौ; शब्दभङ्गोऽपि क्लिष्ट एव दुष्टः, न त्वशोकादौ ॥ १५ ॥

युक्तिरिति। सर्वव्यापकं वस्त्वित्यर्थः। *रसेति*। रससमवधानेन विभावादिघटनामेव कुर्वंस्तन्नान्तरीयकतया यमासादयति स एवात्रालङ्कारो रसमार्गे,

'रक्तस्त्वं०' इत्यादि में; शब्दभङ्ग भी क्लिष्ट होकर ही दोषयुक्त होता है, न कि 'अशोक' इत्यादि में ॥ १५ ॥

युक्ति—। अर्थात् सर्वव्यापक वस्तु। रस—। रस में सम्यक् अवधानपूर्वक विभाव आदि की घटना ही करता हुआ उस (विभावादि की घटना) के नान्तरीयक (अर्थात् व्याप्त) रूप से जिसको प्राप्त करता है वही इस रस के मार्ग में अलङ्कार होता है,

ध्वन्यालोकः

निष्पत्तावाश्चर्यभूतोऽपि यस्यालङ्कारस्य रसाक्षिप्ततयैव बन्धः शक्यक्रियो भवेत्सोऽस्मिन्नलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये ध्वनावलङ्कारो मतः। तस्यैव रसाङ्गत्वं मुख्यमित्यर्थः।

यथा—

कपोले पत्त्राली करतलनिरोधेन मृदिता

निष्पत्ति में आश्चर्यभूत होने पर भी जिस अलङ्कार का निबन्धन रसाक्षिप्त रूप से ही किया जा सके वह इस अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में अलङ्कार माना गया है, अर्थात् उसीका रसाङ्गत्व मुख्य है।

जैसे—

कपोल में बनी पत्त्रावली को हाथ की रगड़ से मसल डाला है, निश्वासों ने अमृत के

लोचनम्

नान्यः। तेन वीराद्भुतादिरसेष्वपि यमकादि कवेः प्रतिपत्तुश्च रसविघ्नकार्येव सर्वत्र। गड्डुरिकाप्रवाहोपहतसहृदयधुराधिरोहणविहीनलोकावर्जनाभिप्रायेण तु मया शृङ्गारे विप्रलम्भे च विशेषत इत्युक्तमिति भावः। तथा च 'रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते' इति सामान्येन वक्ष्यति। *निष्पत्ताविति*। प्रतिभानुग्रहात्स्वयमेव सम्पत्तौ निष्पादनानपेक्षायामित्यर्थः। *आश्चर्यभूत* इति। कथमेष निबद्ध इत्यद्भुतस्थानम्। करकिसलयन्यस्तवदना श्वासतान्ताधरा प्रवर्तमानबाष्पभरनिरुद्धकण्ठी अविच्छिन्नरुदितचञ्चत्कुचतटा रोषमपरित्यजन्ती चाटूक्त्या यावत्प्रसाद्यते तावदीर्ष्याविप्रलम्भगतानुभावचर्वणावहितचेतस एव वक्तुः श्लेषरूपकव्यतिरेकाद्या अयत्ननिष्पन्नाश्चर्वयितुरपि न रसचर्वणाविघ्नमा-

अन्य नहीं। इस लिए वीर, अद्भुत आदि रसों में ही सर्वत्र यमक आदि कवि के और प्रतिपत्ता (जानकार) सहृदय के रसविघ्न करने वाला ही है। भाव यह कि मैंने भेड़ के पीछे गमन करने वाली भेड़ों की पंक्ति के प्रवाह (परम्परा) के शिकार और सहृदय की मर्यादा तक न पहुँचे हुए लोगों के आवर्जन के अभिप्राय से 'शृङ्गार में और विशेष रूप से विप्रलम्भ में' यह कहा है। और इस लिए 'रस में अङ्गत्व इस कारण इनका नहीं सम्भव है' यह सामान्य रूप से कहेंगे। निष्पत्ति में—। प्रतिभा के अनुग्रह से स्वयमेव (बिना किसी यत्न के) सम्पन्न होने में, अर्थात् निष्पन्न करने की अपेक्षा के न होने पर। आश्चर्यभूत—। कैसे यह निबद्ध हो गया, इस प्रकार अद्भुत का स्थान। अपने करकिसलय पर मुख रखे, श्वास से मुर्झाए अधर वाली, उत्पन्न बाष्पसमूह से रुंधे गले वाली, निरन्तर रोते रहने से कांपते हुए स्तनों वाली, रोष का त्याग न करती हुई नायिका को चाटुवचन से जब तक प्रसन्न करते हैं, तब तक ईर्ष्याविप्रलम्भ के अनुभावों की चर्वणा (पुनः पुनः अनुसन्धान) में अवहित चित्त वाले वक्ता के श्लेष, रूपक, व्यतिरेक आदि अयत्ननिष्पन्न अलङ्कार चर्वणा करने वाले के

ध्वन्यालोकः

निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः ।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पस्तनतटीं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ॥

रसाङ्गत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वमिति यो रसं बन्धुमध्यवसितस्य कवेरलङ्कारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स न रसाङ्गमिति । यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः । अलङ्कारान्तरेष्वपि तत्तुल्यमिति चेत्—नैवम्; अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरह-

समान मधुर (तेरे) अधररस को पान कर लिया है, (तेरे) कण्ठ का आलिङ्गन किया हुआ बाष्प स्तनभाग को कम्पित कर रहा है, अरी निर्दय, तेरा प्रिय क्रोध हो गया है, हम नहीं !

रस के अङ्ग होने में 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्व' (अलग से यत्न किए बिना ही सम्पन्न हो जाना) उस (अलङ्कार) का लक्षण है। इस प्रकार जो (अलङ्कार) कवि रस के निबन्धनार्थ प्रयत्नशील है, उसकी उस वासना को अतिक्रमण करके उसके अतिरिक्त यत्न करने पर निष्पन्न होता है वह रस का अङ्ग नहीं है। बुद्धिपूर्वक प्रबन्ध से (जम कर) यमक के किए जाने पर नियमतः ही यत्नान्तर का ग्रहण, जिसमें विशेष शब्द का अन्वेषण होता है, करना पड़ता है। अन्य अलङ्कारों में भी वह बराबर है, ऐसा नहीं; क्योंकि अन्य अलङ्कार निरूपण की स्थिति में दुर्घटन होने पर भी रस में

लोचनम्

दधतीति । *लक्षणमिति* । व्यापकमित्यर्थः । 'प्रबन्धेन क्रियमाण' इति सम्बन्धः । अत एव बुद्धिपूर्वकत्वमवश्यम्भावीति बुद्धिपूर्वकशब्द उपात्तः । रससमवधानादन्यो यत्नो यत्नान्तरम् । निरूप्यमाणानि सन्ति दुर्घटनानि । बुद्धिपूर्वं चिकीर्षितान्यपि कर्तुमशक्यानीत्यर्थः । तथा निरूप्यमाणे दुर्घटनानि कथमेतानि रचितानीत्येवं विस्मयावहानीत्यर्थः । अहम्पूर्वः अग्रय

भी रसचर्वणा में विघ्न आधान नहीं करते । लक्षण—। अर्थात् व्यापक । सम्बन्ध यह कि 'प्रबन्ध से (जमकर) करने पर'। इसलिए ही बुद्धिपूर्वक होना अवश्यम्भावी हो जाता है, अतः 'बुद्धिपूर्वक' शब्द का उपादान किया है । रस में समवधान से अतिरिक्त यत्न यत्नान्तर है । निरूप्यमाण होते हुए दुर्घटन, अर्थात् बुद्धिपूर्वक चिकीर्षित होने पर भी नहीं किए जा सकने वाले। उस प्रकार, निरूप्यमाण होने पर दुर्घटन, अर्थात् कैसे ये बन गए. इस प्रकार विस्मय उत्पन्न करने वाले। अहम्पूर्व अर्थात्

ध्वन्यालोकः

म्पूर्विकया परापतन्ति । यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे । यथा च मायारामशिरोदर्शनेन विह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ । युक्तं चैतत्, यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः । तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः । तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ । यमकदुष्करमार्गेषु तु तत्स्थितमेव । यत्तु रसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दृश्यन्ते, तत्र रसादीनामङ्गता यमकादीनां त्वङ्गितैव । रसाभासे चाङ्गत्वमप्यविरुद्धम् । अङ्गितया तु व्यङ्ग्ये रसे नाङ्गत्वं पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यत्वाद्यमकादेः ।

अस्यैवार्थस्य सङ्ग्रहश्लोकाः—

रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ॥

समाहित चित्त वाले एवं प्रतिभानसम्पन्न कवि के पास अहमहं करके दौड़ पड़ते हैं। जैसे, 'कादम्बरी' में कादम्बरी के दर्शन के अवसर में। और जैसे, 'सेतु' ('सेतुबन्ध' महाकाव्य) में माया से बने राम के सिर देखने से सीता देवी के विह्वल होने पर। और यह ठीक है, क्योंकि रस वाच्यविशेष द्वारा ही आक्षिप्त होते हैं। उन (वाच्यविशेष) के प्रतिपादक शब्दों से उनको प्रकाशित करने वाले 'रूपक' आदि अलङ्कार वाच्यविशेष ही हैं, इसलिए रस की अभिव्यक्ति में वे बहिरङ्ग नहीं हैं। 'यमक' और 'दुष्कर' के मार्गों में तो वह बात है ही। जो कि कुछ 'यमक' आदि रसवान् दिखते हैं, वहां रस आदि अङ्ग हैं और 'यमक' आदि का तो अङ्गित्व ही है। रसाभास की स्थिति में (उनका) अङ्गत्व भी विरुद्ध नहीं। अङ्गी रूप से रस के व्यङ्ग्य होने पर यमक आदि (अलङ्कार) अङ्ग नहीं होते, क्यों कि वे 'पृथग्यत्ननिर्वर्त्य' होते हैं।

इसी अर्थ (विषय) के सङ्ग्रह-श्लोक हैं—

कुछ अलङ्कारयुक्त रसवान् वस्तुएं महाकवि के एक ही प्रयत्न से निर्वृत्त हो जाती हैं।

लोचनम्

इत्यर्थः । अहमादावहमादौ प्रवर्त इत्यर्थः । अहम्पूर्व इत्यस्य भावोऽहम्पूर्विका । अहमिति निपातो विभक्तिप्रतिरूपकोऽस्मदर्थवृत्तिः । *एतदिति* । अहंपूर्विकया परापतनमित्यर्थः । *कानिचिदिति* । कालिदासादिकृतानीत्यर्थः । शक्तस्यापि

अगिला । अर्थात् मैं पहले, मैं पहले होऊंगा । अहम्पूर्व का भाव अहम्पूर्विका । 'अहम्' यह 'अस्मत्' अर्थ में विभक्तिप्रतिरूपक निपात है । यह—। अर्थात् अहम्पूर्वभाव से परापतन । कुछ—। अर्थात् कालिदास आदि के द्वारा कृत । सम्बन्ध यह है कि समर्थ होने

ध्वन्यालोकः

यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते ।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ॥

रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते ।
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे त्वङ्गता नोपपद्यते ॥ १६ ॥

इदानीं ध्वन्यात्मभूतस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽलङ्कारवर्ग आख्यायते—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥ १७ ॥

अलङ्कारो हि बाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते । वाच्या-

यमक आदि (अलङ्कारों) के निबन्धन में समर्थ होने पर भी इसका (महाकवि का) अलग यत्न होता है, इस कारण रस में इनका अङ्गत्व नहीं होता है ।

यमक आदि का रसाभास में अङ्गत्व का वारण नहीं है, परन्तु, ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार में (यमक आदि) का अङ्गत्व उपपन्न नहीं ॥ १६ ॥

अब ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार को व्यञ्जित करने वाला अलङ्कारवर्ग कहते हैं ।

ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार में, समीक्षा करके निवेशित किया गया रूपक आदि अलङ्कारवर्ग यथार्थता प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

अलङ्कार बाह्य अलङ्कारों के समान अङ्गी का चारुत्वहेतु (शोभाधायक) कहा

लोचनम्

पृथग्यत्नो जायत इति सम्बन्धः । एषामिति । यमकादीनाम् । 'ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे' इति यदुक्तं तत् प्राधान्येनार्धश्लोकेन सङ्गृहीते ध्वन्यात्मभूत इति ॥ १६ ॥

इदानीमिति । हेयवर्ग उक्तः, उपादेयवर्गस्तु वक्तव्य इति भावः । व्यञ्जक इति । यश्च यथा चेत्यध्याहारः । यथार्थतामिति । चारुत्वहेतुतामित्यर्थः । उक्त इति । भामहादिभिरलङ्कारलक्षणकारैः । वक्ष्यते चेत्यत्र हेतुमाह—

पर भी अलग से यत्न होता है । इनका—। यमक आदि का । 'ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार में' यह जो कहा है, वह प्रधानतया आधे श्लोक से संगृहीत 'ध्वनि के आत्मभूत' (शृङ्गार में) ॥ १६ ॥

अब—। भाव यह कि हेय वर्ग कहा जा चुका, उपादेय वर्ग कहना चाहिए । व्यञ्जित करने वाला—। 'जो है और जैसा है' यह अध्याहार है । यथार्थता—। अर्थात् चारुत्वहेतुता । कहा गया है—। भामह आदि अलङ्कारलक्षणकारों द्वारा । 'और

ध्वन्यालोकः

लङ्कारवर्गश्च रूपकादिर्यावानुक्तो वक्ष्यते च कैश्चित्, अलङ्काराणामनन्तत्वात्।

स सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरङ्गिनः सर्वस्यैव चारुत्वहेतुर्निष्पद्यते ॥ १७ ॥

एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।

जाता है, वाच्यालङ्कारों (अर्थालङ्कारों) का वर्ग रूपक आदि जितना कहा गया है और कुछ लोग कहेंगे, क्योंकि अलङ्कार अनन्त हैं।

वह सभी को यदि समीक्षा करके विनिवेशित किया जाय तो सभी अङ्गी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का चारुत्वहेतु (शोभाधायक) होंगे ॥ १७ ॥

उसके विनिवेशन में यह समीक्षा है—

रूपक आदि की विवक्षा तत्परत्वेन (अर्थात् रसपरत्वेन) हो, कभी अङ्गी (प्रधान)

लोचनम्

अलङ्काराणामनन्तत्वादिति। प्रतिभानन्त्यात् अन्यैरपि भाविभिः कैश्चिदित्यर्थः॥

समीक्ष्येति। समीक्ष्येत्यनेन शब्देन कारिकायामुक्तेति भावः। श्लोकपादेषु चतुर्षु श्लोकार्धे चाङ्गत्वसाधनमिदम्; रूपकादिरिति प्रत्येकं सम्बन्धः। यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति नाङ्गित्वेन, यमवसरे गृह्णाति, यमवसरे त्यजति, यं नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति, यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते, स एवमुपनिबध्यमानो रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवतीति विततं महावाक्यम्। तन्महावाक्यमध्ये चोदाहरणावकाशमुदाहरणस्वरूपं तद्योजनं तत्समर्थनं च निरूपयितुं ग्रन्थान्तरमिति वृत्तिग्रन्थस्य सम्बन्धः॥ १७॥

कहेंगे' इसमें हेतु बताते हैं—क्यों कि अलङ्कार अनन्त होते हैं—। अर्थात् प्रतिभा के अनन्त होने के कारण अन्य उत्पन्न होने वाले कुछ लोग।

समीक्ष्य—। भाव यह कि 'समीक्षा करने' ('समीक्ष्य') इस शब्द से कारिका में कही गई। श्लोक के चारों पादों में और श्लोकार्ध में यह अङ्गत्व का साधन (निर्दिष्ट) है; 'रूपक आदि' का प्रत्येक से सम्बन्ध है। विस्तृत महावाक्य यह हुआ कि जिस अलङ्कार को उसके (रस के) अङ्ग के रूप से विवक्षा करता है, अङ्गी के रूप से नहीं, जिसको अवसर में ग्रहण करता है, जिसको अवसर में त्याग करता है, जिसे अत्यन्त निर्वाह करने की इच्छा नहीं करता और जिसे यत्नपूर्वक अङ्ग रूप से देखता है, वह इस प्रकार उपनिबध्यमान होकर रस की अभिव्यक्ति का हेतु होता है। उस महावाक्य के बीच में उदाहरणों के अवकाश का, उनके स्वरूप का, उनकी सङ्गति का और उनके समर्थन का निरूपण करने के लिए शेष ग्रन्थ है, यह वृत्तिग्रन्थ का सम्बन्ध है ॥ १७ ॥

ध्वन्यालोकः

काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥ १८ ॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् ।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥ १९ ॥

रसबन्धेष्वत्यादृतमनाः कविर्यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति । यथा—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।

रूप से (विवक्षा) न हो, समय से ग्रहण हो, और त्याग भी हो, दूर तक निर्वाह करने की इच्छा न हो, (उस प्रकार) निर्वाह हो जाने पर यत्नपूर्वक अङ्गरूप में ही देखना, यही रूपक आदि अलङ्कारवर्ग के अङ्ग होने का साधन है ॥ १८-१९ ॥

रस के निबन्धन में आदरयुक्त चित्त वाला कवि जिस अलङ्कार को उसके अङ्ग के रूप में विवक्षा करता है। जैसे—

'हे मधुकर, तू चञ्चल अपाङ्गों वाली और कांपती हुई (प्रिया की) दृष्टि को बहुत बार स्पर्श करता है, रहस्य की बात कहने वाले की भांति (उसके) कान के पास

लोचनम्

चलापाङ्गामिति । हे मधुकर, वयमेवंविधाभिलाषचाटुप्रवणा अपि तत्त्वान्वेषणाद्वस्तुवृत्तेऽन्विष्यमाणे हता आयासमात्रपात्रीभूता जाताः । त्वं *खल्विति* निपातेनायत्नसिद्धं तवैव चरितार्थत्वमिति शकुन्तलां प्रत्यभिलाषिणो दुष्यन्तस्येयमुक्तिः । तथाहि—कथमेतदीयकटाक्षगोचरा भूयास्म, कथमेषास्मदभिप्रायव्यञ्जकं रहोवचनमाकर्ण्यात्, कथं नु हठादनिच्छन्त्या अपि परिचुम्बनं विधेयास्मेति यदस्माकं मनोराज्यपदवीमधिशेते तत्तवायत्नसिद्धम् । भ्रमरो हि नीलोत्पलधिया तदाशङ्काकरीं दृष्टिं पुनः पुनः स्पृशति । श्रवणावकाशपर्यन्तत्वाच्च नेत्रयोरुत्पलशङ्कानपगमात्तत्रैव दन्ध्वन्यमान आस्ते । सहजसौकुमा-

चञ्चल अपाङ्गों वाली—। हे मधुकर, इस प्रकार की इच्छा रखने वाले एवं चाटुवचन में कुशल होकर भी तत्त्व के अन्वेषण से अन्विष्यमाण वस्तु के सम्बन्ध में हत हो गए (मारे गए) आयासमात्र के पात्र बने । (श्लोक में) 'खलु' इस निपात के प्रयोग से बिना यत्न के सिद्ध तुम्हारी ही चरितार्थता है, इस प्रकार शकुन्तला की अभिलाषा करने वाले दुष्यन्त की यह उक्ति है । जैसा कि कैसे हम इसके कटाक्षों के गोचर हों, कैसे यह हमारे अभिप्रायव्यञ्जक रहस्यवचन सुन ले, कैसे न चाहती हुई भी इसका इष्टपूर्वक परिचुम्बन हम करें, जो यह सब हमारे मनोराज्य में ही था, वह तेरे लिए अयत्नसिद्ध है । क्योंकि भौंरा उसकी दृष्टि को नीलोत्पल समझ कर बार-बार स्पर्श करता है, कानों तक खिंचे हुए नेत्रों में उसे उत्पल की शङ्का हो जाती है, इस कारण वह वहीं गुंजार कर रहा है, सहज सौकुमार्य के कारण उत्पन्न त्रास से कातर (प्रिया के) रतिनिधान-

ध्वन्यालोकः

करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥

अत्र हि भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारो रसानुगुणः ।

'नाङ्गित्वेने'ति न प्राधान्येन । कदाचिद्रसादितात्पर्येण विवक्षितोऽपि ह्यलङ्कारः कश्चिदङ्गित्वेन विवक्षितो दृश्यते । यथा—

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य ।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम् ॥

जाकर कोमल आवाज करता है, हाथों को झकझोरती हुई उसके तू रतिसर्वस्व अधर का पान करता है, हम तो तत्त्व के अन्वेषण में मारे गए, परन्तु तू तो चरितार्थ हो गया ।'

यहां भ्रमर-स्वभावोक्ति अलङ्कार रस के अनुगुण है ।

अङ्गीरूप से नहीं, अर्थात् प्रधानरूप से नहीं । क्योंकि कभी रस आदि के तात्पर्य से विवक्षित भी कोई अलङ्कार अङ्गीरूप से विवक्षित देखा जाता है । जैसे—

जिस श्रीकृष्ण ने चक्र के प्रहाररूपी अपनी प्रसभ आज्ञा से ही राहु की स्त्रियों के रतोत्सव को आलिङ्गन के उद्दाम विलास से रहित एवं चुम्बनमात्र शेष कर दिया ।

लोचनम्

यत्रासकातरायाश्च रतिनिधानभूतं विकसितारविन्दकुवलयामोदमधुरमधरं पिबतीति भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारोऽङ्गतामेव प्रकृतरसस्योपगतः । अन्ये तु भ्रमरस्वभावे उक्तिर्यस्येति भ्रमरस्वभावोक्तिरत्र रूपकव्यतिरेक इत्याहुः ।

चक्राभिघात एव प्रसभाज्ञा अलङ्घनीयो नियोगस्तया यो राहुदयितानां

भूत, खिले हुए कमल और कुवलय की गन्ध के समान मधुर अधर का पान करता है, इस प्रकार भ्रमर-स्वभावोक्ति अलङ्कार प्रकृत रस का अङ्ग ही है । अन्य टीकाकार कहते हैं कि "भ्रमर के स्वभाव में उक्ति है जिसकी" वह भ्रमरस्वभावोक्ति, यहां रूपक के साथ व्यतिरेक है ।

चक्राभिघात[1] ही प्रसभ आज्ञा अर्थात् अलङ्घनीय नियोग है, उससे जिसने राहु की

१. प्रस्तुत पद्य में राहु के कण्ठच्छेद की घटना का निर्देश प्रकारान्तर से कथनरूप 'पर्यायोक्त' अलङ्कार का विषय है । समुद्र-मथन से प्राप्त अमृत के बटवारे में राहु-नामक दैत्य के द्वारा छिप कर पान कर लिए जाने पर मोहिनी रूप भगवान् विष्णु ने सूर्य और चन्द्र से इसका संकेत पा कर राहु का सिर अपने चक्र से काट लिया था, इस पौराणिक प्रसंग का यहाँ चित्रण है । राहु ने अमृत पान कर लिया था, इस लिए सिर मात्र अवशिष्ट हो गया । अब वह अपनी पत्नियों का उद्दाम आलिङ्गन नहीं करता, किन्तु चुम्बन मात्र में ही उसकी पत्नियों के रतोत्सव का पर्यवसान होता था ।

ध्वन्यालोकः

अत्र हि पर्यायोक्तस्याङ्गित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति । अङ्गत्वेन विवक्षितमपि यमवसरे गृह्णाति नानवसरे । अवसरे गृहीतिर्यथा—

यहां रसादि के तात्पर्य होने पर भी पर्यायोक्त अलङ्कार की अङ्गीरूप से विवक्षा है ।

अङ्गरूप से विवक्षित भी जिसको अवसर में ग्रहण करता है, अनवसर में नहीं । अवसर में ग्रहण, जैसे—

लोचनम्

रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषं चकार । यत आलिङ्गनमुद्दामं प्रधानं येषु विलासेषु तैर्वन्ध्यः शून्योऽसौ रतोत्सवः । अत्राह कश्चित्—'पर्यायोक्तमेवात्र कवेः प्राधान्येन विवक्षितं, न तु रसादि । तत्कथमुच्यते रसादितात्पर्ये सत्यपी'ति । मैवम् ; वासुदेवप्रतापो ह्यत्र विवक्षितः । स चात्र चारुत्वहेतुतया न चकास्ति, अपि तु पर्यायोक्तमेव । यद्यपि चात्र काव्ये न काचिद्दोषाशङ्का, तथापि दृष्टान्तवदेतत्—यत्प्रकृतस्य पोषणीयस्य स्वरूपतिरस्कारकोऽङ्गभूतोऽप्यलङ्कारः सम्पद्यते । ततश्च क्वचिदनौचित्यमागच्छतीत्ययं ग्रन्थकृत आशयः । तथा च ग्रन्थकार एवमग्रे दर्शयिष्यति । महात्मनां दूषणोद्घोषणमात्मन एव दूषणमिति नेदं दूषणोदाहरणं दत्तम् ।

स्त्रियों का रतोत्सव चुम्बनमात्रशेष कर दिया । क्यों कि वह रतोत्सव आलिङ्गन उद्दाम अर्थात् प्रधान है जिन विलासों में, उनसे वन्ध्य अर्थात् शून्य (रहित) हो गया । यहां कोई कहता है—"पर्यायोक्त अलङ्कार ही यहां कवि का प्रधान रूप से विवक्षित है, न कि रसादि, ऐसी स्थिति में 'रसादि के तात्पर्य होने पर भी' यह क्यों कहते हैं ?" ऐसी बात नहीं; यहां वासुदेव (श्रीकृष्ण) का प्रताप विवक्षित है, परन्तु वह यहां चारुत्वके हेतु रूप में प्रकाशित नहीं हो रहा है, अपितु 'पर्यायोक्त' ही प्रकाशित हो रहा है । यद्यपि इस काव्य में कोई दोष की आशंका नहीं है, तथापि यह एक प्रकार का दृष्टान्त है । ग्रन्थकार का यह आशय है कि अङ्गभूत भी अलङ्कार पोषणीय प्रस्तुत के स्वरूप का तिरस्कारक हो जाता है, इस कारण कुछ अनौचित्य आ जाता है । जैसा कि ग्रन्थकार इस प्रकार दिखाएंगे, कि महात्माओं (बड़े लोगों) के दोष कहना अपना ही दोष हो जाता है, इसलिए यह दोष का उदाहरण नहीं दिया है ।

यहाँ अङ्गी रूप से पर्यायोक्त अलङ्कार ही विवक्षित है । यद्यपि रस में कवि का तात्पर्य प्रतीत होता है, क्योंकि श्रीकृष्ण का प्रताप यहाँ विवक्षित है, किन्तु वह देवविषय रति के व्यञ्जक होने के कारण यहाँ विशेष चारुत्वहेतु नहीं है, बल्कि पर्यायोक्त से ही यहाँ चारुता है । लोचनकार का कहना है कि इसे दोष का उदाहरण नहीं समझना चाहिए, क्योंकि ग्रन्थकार स्वयं आगे चल कर

ध्वन्यालोकः

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

प्रबल उत्कण्ठा से युक्त (लतापक्ष में निकली हुई कलियों से युक्त), पाण्डुवर्ण (लतापक्ष में कलियों के कारण सफेद लगती हुई), क्षण में जभाई लेती हुई (लतापक्ष में उसी समय विकसित होती हुई), अपने निरन्तर श्वास के वायु से आयास प्रकट करती हुई (लता पक्ष, में वायु के कारण विकम्पित होती हुई) मदन से युक्त (लता पक्ष में 'मदन' नामक वृक्ष से लिपटी हुई) परकीय नारी की भांति इस उद्यानलता को देखता हुआ मैं आज निश्चय ही देवी (वासवदत्ता) के मुख को क्रोध से लाल कर दूंगा।

लोचनम्

उद्दामा उद्गताः कलिका यस्याः। उत्कलिकाश्च रुहरुहिकाः। क्षणात्तस्मिन्नेवावसरे प्रारब्धा जृम्भा विकासो यया। जृम्भा च मन्मथकृतोऽङ्गमर्दः। श्वसनोद्गमैर्वसन्तमारुतोल्लासैरात्मनो लतालक्षणस्यायासमायासनमान्दोलनयत्नमातन्वतीम्। निःश्वासपरम्पराभिश्चात्मन आयासं हृदयस्थितं सन्तापमातन्वतीं प्रकटीकुर्वाणाम्। सह मदनाख्येन वृक्षविशेषेण मदनेन कामेन च। अत्रोपमाश्लेष ईर्ष्याविप्रलम्भस्य भाविनो मार्गपरिशोधकत्वेन स्थितस्तच्चर्वणाभिमुख्यं कुर्वन्नवसरे रसस्य प्रमुखीभावदशायां पुरःसरायमाणो गृहीत इति

उद्दाम अर्थात् उद्गत कलिकाएं हैं जिसकी। और उत्कलिका अर्थात् रुहरुहिका (उत्कण्ठा)। क्षण में अर्थात् उसी अवसर में प्रारम्भ किया है जृम्भा अर्थात् विकास को जिसने। और जृम्भा अर्थात् कामकृत अङ्गमर्द (जम्भाई)। श्वसनोद्गम अर्थात् वसन्तकालीन मारुत के उल्लास से लतारूप अपने आयास (आयासन) अर्थात् आन्दोलनयत्न को फैलाती हुई। और निःश्वासपरम्पराओं से आयास अर्थात् हृदयस्थित सन्ताप को प्रकट करती हुई। 'मदन' नामक वृक्ष के साथ और मदन अर्थात् काम के साथ। भाव यह कि यहां उपमाश्लेष भावी ईर्ष्याविप्रलम्भ का मार्गपरिशोधक रूप में स्थित होकर उनकी (सहृदयों की)—चर्वणा का आभिमुख्य (आनुकूल्य) करता हुआ, अवसर में अर्थात् रस के प्रमुख होने की दशा में अग्रसर होता हुआ, ग्रहण किया गया

बड़े लोगों के दोष कहना अपना ही दोष का कहना लिखते हैं। फिर भी इतना इस उदाहरण से स्पष्ट करना ग्रन्थकार का तात्पर्य है कि अङ्गभूत अलङ्कार भी प्रकृत पोषणीय अलङ्कार्य के स्वरूप का तिरस्कारक हो जाता है, अतः यह प्रकार कहीं अनुचित लग सकता है।

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र उपमा श्लेषस्य ।

गृहीतमपि च यमवसरे त्यजति तद्रसानुगुणतयालङ्कारान्तरापेक्षया।

यथा—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्तास्तथा मामपि ।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥

यहां उपमाश्लेष का (अवसर में ग्रहण है)।

ग्रहण किए हुए भी जिसको उस रस के अनुगुण होने के कारण और अलङ्कारान्तर की अपेक्षा से अवसर में छोड़ देता है । जैसे—

हे अशोक, तू नये पल्लवों से रक्त है और मैं भी प्रिया के श्लाघ्य गुणों के कारण रक्त (अनुरक्त) हूँ, तुझ पर शिलीमुख (भौंरे) आते हैं और मुझ पर भी कामदेव के धनुष से छूटे शिलीमुख (बाण) आते हैं, प्रिया के पैरों का ताड़न तुझे प्रसन्न करता है और उसी प्रकार (कान्तापादतलाहति = विशेष प्रकार का रतबन्ध) मुझे भी, हम दोनों का सब बराबर है, केवल विधाता ने मुझे सशोक बना डाला है !

लोचनम्

भावः। अभिनयोऽप्यत्र प्राकरणिके प्रतिपदम्। अप्राकरणिके तु वाक्यार्थाभिनयेनोपाङ्गादिना। न तु सर्वथा नाभिनय इत्यलमवान्तरेण। ध्रुवशब्दश्च भावीर्ष्यावकाशप्रदानजीवितम् ।

रक्तो लोहितः। अहमपि रक्तः प्रबुद्धानुरागः। तत्र च प्रबोधको विभावस्तदीयपल्लवराग इति मन्तव्यम् । एवं प्रतिपादमाद्योऽर्थो विभावत्वेन व्याख्येयः। अत एव हेतुश्लेषोऽयम्। सहोक्त्युपमाहेत्वलङ्काराणां हि भूयसा

है। (लता रूप) प्राकरणिक अर्थ में यहां पद-पद पर अभिनय भी है। (नारी रूप) अप्राकरणिक अर्थ में उपाङ्ग आदि वाक्यार्थाभिनय से (अभिनय है)। न कि सर्वथा अभिनय नहीं है, इस अवान्तर चर्चा से रहने दीजिए। 'ध्रुव' ('निश्चय') शब्द भावी ईर्ष्या को अवसर देने में प्राणभूत है।

रक्त अर्थात् लोहित। मैं भी रक्त अर्थात् प्रबुद्ध अनुराग वाला हूँ। वहाँ प्रबोधक विभाव (उद्दीपन विभाव) उस (अशोक) का पल्लवराग है, ऐसा मन्तव्य है। इस प्रकार प्रत्येक पाद में पहला अर्थ विभाव रूप से व्याख्या के योग्य है। अतएव यह हेतु[1] श्लेष (हेतु अलङ्कार सहित श्लेष) है। सहोक्ति, उपमा और हेतु अलङ्कार

१. प्राचीन आलङ्कारिकों ने 'कार्य के साथ कारण के अभेद का कथन' रूप 'हेतु' अलङ्कार भी

ध्वन्यालोकः

अत्र हि प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि श्लेषो व्यतिरेकविवक्षया त्यज्यमानो रसविशेषं पुष्णाति। नात्रालङ्कारद्वयसन्निपातः, किं तर्हि? अलङ्कारान्तरमेव श्लेषव्यतिरेकलक्षणं नरसिंहवदिति चेत्—न, तस्य प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनात्। यत्र हि श्लेषविषय एव शब्दे प्रकारान्तरेण व्यतिरेकप्रतीतिर्जायते स तस्य विषयः। यथा—'स हरिर्नाम्ना देवः

यहां प्रबन्ध (आद्यन्त) से प्रवृत्त भी श्लेष व्यतिरेक की विवक्षा से छोड़ा जाता हुआ रसविशेष को पुष्ट करता है। यहां दो अलङ्कारों का सन्निपात नहीं है। तो क्या है? नरसिंह (आदमी और सिंह) की भांति श्लेषव्यतिरेक रूप अन्य अलङ्कार ही है तो, ऐसा नहीं: उसकी दूसरे प्रकार से व्यवस्था की गई है। जहां श्लेष के विषयभूत शब्द में प्रकारान्तर से व्यतिरेक की प्रतीति होती है वह उसका विषय है, जैसे—

लोचनम्

श्लेषानुग्राहकत्वम्। अनेनैवाभिप्रायेण भामहो न्यरूपयत्—'तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधम्' इत्युक्त्या न त्वन्यालङ्कारानुग्रहनिराचिकीर्षया। *रसविशेष*मिति विप्रलम्भम्। सशोकशब्देन व्यतिरेकमानयता शोकसहभूतानां निर्वेदचिन्तादीनां व्यभिचारिणां विप्रलम्भपरिपोषकाणामवकाशो दत्तः। *किं तर्हीति*। सङ्करालङ्कार एक एवायम्; तत्र किं त्यक्तं किं वा गृहीतमिति परस्याभिप्रायः। *तस्येति* सङ्करस्य। एकत्र हि विषयेऽलङ्कारद्वयप्रतिभोल्लासः सङ्करः। सहरिशब्द एको विषयः। सः हरिः, यदि वा सह हरिभिः सहरि-

बाहुल्येन श्लेष के अनुग्राहक होते हैं। इसी अभिप्राय से भामह ने—'वह (श्लेष) सहोक्ति, उपमा और हेतु के निर्देश से तीन प्रकार का होता है' (२.३ ४) यह कह कर निरूपण किया है, न कि अन्य अलङ्कार के अनुग्रह के निराकरण करने की इच्छा से। रस विशेष अर्थात् विप्रलम्भ। 'सशोक' शब्द से 'व्यतिरेक' को लाते हुए (कवि ने) शोक के साथ उत्पन्न निर्वेद, चिन्ता आदि विप्रलम्भ के परिपोषक व्यभिचारी भावों को अवकाश दे दिया है। तो क्या है? सङ्करालङ्कार यह एक ही है, तब वहां क्या त्याग किया, क्या ग्रहण किया, यह दूसरे का अभिप्राय है। उसका अर्थात् संकरण का। एक ही विषय में दो अलङ्कारों की प्रतिभा होना 'सङ्कर' है। 'सहरि' शब्द एक विषय

माना है। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण को 'हेतु' रूप से व्याख्यान करना चाहिए—'जिस कारण स्मरधनुर्मुक्त अर्थात् अन्य पुष्पों को छोड़ कर शिलीमुख (भौंरे) तुझ पर आते हैं उस कारण उस प्रकार काम के धनुष से निकले हुए शिलीमुख (बाण) मुझ पर भी आते हैं, जिस कारण कान्ता के पैरों का आहनन तेरी प्रसन्नता के लिए है उस कारण उस प्रकार मेरी भी प्रसन्नता के लिए भी है, क्योंकि अपनी प्रियतमा के पैरों से आहत अशोक के पुष्प-विकास को देख कर नायक प्रसन्न होता है।' इस प्रकार लोचनकार के प्रत्येक पाद के अर्थ को उद्दीपन विभाव के रूप में व्याख्यान करने की युक्ति का निर्देश किया है।

ध्वन्यालोकः

सहरिर्वरतुरगनिवहेन' इत्यादौ। अत्र ह्यन्य एव शब्दः श्लेषस्य विषयोऽन्यश्च व्यतिरेकस्य। यदि चैवंविधे विषयेऽलङ्कारान्तरत्वकल्पना क्रियते तत्संसृष्टेर्विषयापहार एव स्यात्। श्लेषमुखेनैवात्र व्यतिरेकस्यात्मलाभ इति नायं संसृष्टेर्विषय इति चेत्—न; व्यतिरेकस्य

'वह देव तो नाममात्र से स हरि हैं (और यह) राजा तो श्रेष्ठ घोड़ों के समूह से सहरि है'—इत्यादि में। यहां क्योंकि श्लेष का विषय दूसरा ही शब्द है और व्यतिरेक का विषय दूसरा। यदि इस प्रकार के विषय में अलङ्कारान्तरत्व की कल्पना करते हैं, तब 'संसृष्टि' का विषयापहार ही हो जायगा। श्लेष के प्रकार से ही यहां व्यतिरेक आत्मलाभ कर रहा है अतः यह संसृष्टि का विषय नहीं, यदि ऐसा कहो, तो

लोचनम्

रिति। अत्र *हीति*। हिशब्दस्तुशब्दस्यार्थे, 'रक्तस्त्व' मित्यत्रेत्यर्थः। अन्य इति रक्त इत्यादिः। अन्यश्च अशोकसशोकादिः। नन्वेकं वाक्यात्मकं विषयमाश्रित्यैकविषयत्वादस्तु सङ्कर इत्याशङ्क्याह—*यदीति*। एवंविधे वाक्यलक्षणे विषये विषय इत्येकत्वं विवक्षितं बोध्यम्। एकवाक्यापेक्षया ह्येकविषयत्वमुच्यते तन्न क्वचित्संसृष्टिः स्यात्, सङ्करेण व्याप्तत्वात्। ननूपमागर्भो व्यतिरेकः; उपमा च श्लेषमुखेनैवायातेति श्लेषोऽत्र व्यतिरेकस्यानुग्राहक इति सङ्करस्यैवैष विषयः। यत्र त्वनुग्राह्यानुग्राहकभावो नास्ति तत्रैकवाक्यगामित्वेऽपि संसृष्टिरेव; तदेतदाह—*श्लेषेति*। श्लेषबलानीतोपमामुखेनेत्यर्थः। एतत्परिहरति—*नेति*। अयं भावः—किं सर्वत्रोपमायाः स्वशब्देनाभिधाने व्यतिरेको

है। 'सः हरिः', यदि वा हरियों (अश्वों) के साथ सहरि। यहां क्योंकि—। 'हि' (क्योंकि) शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है, अर्थात् 'रक्तस्त्वं०' इस स्थल में। दूसरे—अर्थात् 'रक्त' इत्यादि और दूसरे अर्थात् 'अशोक', 'सशोक' इत्यादि। यह आशङ्का करके कि एक वाक्यात्मक विषय को आश्रयण करके एक विषय होने के कारण 'सङ्कर' (एकाश्रयानुप्रवेश रूप) हो, कहते हैं—यदि—। इस प्रकार के वाक्य रूप विषय में 'विषय' यह एकत्व विवक्षित समझना चाहिए। यदि एक वाक्य की अपेक्षा करके 'एकविषयत्व' कहते हैं तो कहीं 'संसृष्टि' नहीं होगी, क्योंकि 'सङ्कर' व्याप्त हो जायगा। (शङ्का करते हैं कि) उपमागर्भ व्यक्तिरेक है, और उपमा श्लेष के प्रकार से आई है, इसलिए श्लेष यहां व्यतिरेक का अनुग्राहक है, अतः यह सङ्कर (अनुग्राह्यानुग्राहकभाव रूप) का ही विषय है। जहां अनुग्राह्यानुग्राहक भाव नहीं है, वहां एकवाक्यगामी होने पर भी 'संसृष्टि' ही है, उस (शङ्का) को कहते हैं—श्लेष—। अर्थात् श्लेष के बल से लाई गई उपमा के प्रकार से। इसका परिहार करते हैं—नहीं—। भाव यह है—क्या सब जगह उपमा के स्वशब्द द्वारा ('इवा'दि द्वारा) अभिधान करने पर व्यतिरेक होता

ध्वन्यालोकः

प्रकारान्तरेणापि दर्शनात्। यथा—

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि शम्या
गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तमःकज्जलेन।
प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्न पुनरुपगता मोषमुष्णत्विषो वो
वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपदीपस्य दीप्तिः॥

यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि व्यतिरेक प्रकारान्तर से भी देखा जाता है। जैसे—

सारे द्वीपों के दीप भगवान् सूर्य की दीप्ति रूप कोई लोकोत्तर वर्ति, जो निर्दय वेग से पर्वतों को उखाड़ देने वाले कल्पान्त के वायु से नहीं बुझ पाती, जो दिन में भी अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाश फैलाती है और तमरूपी कज्जल से जो नहीं रहित नहीं—होती है, जो पतङ्ग (सूर्य) से उत्पन्न होती है, फिर भी पतङ्ग (अर्थात् कीटविशेष) से नहीं बुझती, वह आप लोगों को सुखी करे।

लोचनम्

भवत्युत गम्यमानत्वे। तत्राद्यं पक्षं दूषयति—*प्रकारान्तरेणेति*। उपमाभिधानेन विनापीत्यर्थः।

शम्या शमयितुं शक्येत्यर्थः। दीपवर्तिस्तु वायुमात्रेण शमयितुं शक्यते। तम एव कज्जलं तेन। *न नो रहिता* अपि तु रहितैव। दीपवर्तिस्तु तमसापि युक्ता भवति। अत्यन्तमप्रकटत्वात्कज्जलेन चोपरिचरेण। *पताङ्गादर्कात्*। दीपवर्तिः पुनः शलभाद्ध्वंसते नोत्पद्यते। *साम्येति*। साम्यस्योपमायाः प्रपञ्चेन प्रबन्धेन यत्प्रतिपादनं स्वशब्देन तेन विनापीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—प्रतीयमानैवोपमा व्यतिरेकस्यानुग्राहिणी भवन्ती नाभिधानं स्वकण्ठेनापेक्षते। तस्मान्न श्लेषोपमा व्यतिरेकस्यानुग्राहित्वेनोपात्ता। ननु यद्यप्यन्यत्र नैवं, तथापीह

है या गम्यमान होने पर? वहां प्रथम पक्ष में दोष देते हैं—प्रकारान्तर से—। अर्थात् उपमा के अभिधान के बिना भी।

शम्या अर्थात् जिसका शमन किया जा सकता है। दीपवर्ति वायु मात्र से शान्त हो जाती है। तमस् ही कज्जल, उससे। नहीं रहित नही अपितु रहित ही। दीपवर्ति तो तम से भी युक्त रहती है, क्योंकि उसमें अत्यधिक प्रकाश नहीं होता और ऊपर कज्जल बनता रहता है। पतङ्ग अर्थात् अर्क (सूर्य)। दीपवर्ति तो शलभ (फतिङ्गे) से नष्ट हो जाती है, उत्पन्न नहीं होती। साम्य—। अर्थात् साम्य अर्थात् उपमा का प्रपञ्च अर्थात् प्रबन्ध (आदि से अन्त तक) द्वारा जो प्रतिपादन है वह स्वशब्द के बिना भी है। यह कहा गया—प्रतीयमान ही उपमा व्यतिरेक का अनुग्राहक होती हुई कण्ठतः अभिधान की अपेक्षा नहीं करती है। इस कारण श्लेषोपमाव यतिरेक के अनुग्राहक रूप से

ध्वन्यालोकः

अत्र हि साम्यप्रपञ्चप्रतिपादनं विनैव व्यतिरेको दर्शितः। नात्र श्लेषमात्राच्चारुत्वप्रतीतिरस्तीति श्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विवक्षितत्वात् न स्वतोऽलङ्कारतेत्यपि न वाच्यम्। यत एवंविधे विषये साम्यमात्रादपि सुप्रतिपादिताच्चारुत्वं दृश्यत एव। यथा—

यहां साम्य-प्रपञ्च के प्रतिपादन के बिना ही व्यतिरेक दिखाया गया है। यहां ('रक्तस्त्वं० में) श्लेषमात्र से चारुत्व की प्रतीति नहीं है इसलिए श्लेष की व्यतिरेक के अङ्गरूप से विवक्षा होने के कारण (उसका) स्वयं अलङ्कारत्व नहीं है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस प्रकार के विषय में साम्यमात्र के सम्यक् प्रतिपादन से भी, चारुत्व देखा ही जाता है। जैसे—

लोचनम्

तत्प्रावण्येनैव सोपात्ता; तदप्रावण्ये स्वयं चारुत्वहेतुत्वाभावादिति श्लेषोपमात्र पृथगलङ्कारभावमेव न भजते। तदाह—*नात्रेति*। एतदसिद्धं स्वसंवेदनबाधितत्वादिति हृदये गृहीत्वा स्वसंवेदनमपह्नुवानं परं श्लेषं विनोपमामात्रेण चारुत्वसम्पन्नमुदाहरणान्तरं दर्शयन्निरुत्तरीकरोति—*यत* इत्यादिना। उदाहरणश्लोके तृतीयान्तपदेषु तुल्यशब्दोऽभिसम्बन्धनीयः। अन्यत्सर्वं 'रक्तस्त्वम्' इतिवद्योज्यम्।

उपात्त नहीं है। शङ्का करते हैं कि यद्यपि अन्यत्र ऐसा नहीं है तथापि उसके प्रावण्य से (अर्थात् व्यतिरेक के अनुग्राहक रूप से) वह उपात्त है, क्योंकि उसके अप्रावण्य की स्थिति में (अर्थात् श्लेषोपमा को व्यतिरेक का अनुग्राहक नहीं मानने पर) स्वयं चारुत्वहेतुत्व नहीं होगा, इस लिए यहां श्लेषोपमा अलग से अलङ्कारभाव प्राप्त नहीं करती, उसे (शङ्का को) कहते हैं—यहां नहीं—। 'अपने संवेदन से बाधित होने के कारण यह असिद्ध है (यह बात नहीं बनती)' इस बात को मन में रख कर अपने संवेदन को छिपाते हुए वादी को श्लेष के बिना उपमा मात्र से चारुत्वसम्पन्न दूसरे उदाहरण के दिखाते हुए निरुत्तर करते हैं—क्योंकि इत्यादि से। उदाहरणश्लोक में तृतीयान्त पदों में 'तुल्य' ('सदृश') शब्द से सम्बन्धित करना चाहिए। दूसरे सब को 'रक्तस्त्वं०' के समान योजना कर लेनी चाहिए।[1]

१. प्रस्तुत उदाहरण 'रक्तस्त्वं०' गृहीत अलङ्कार का अवसर में त्याग रूप चतुर्थ 'समीक्षा' का है। यहां व्यतिरेक की अपेक्षा से श्लेष या श्लेषोपमा का त्याग किया गया। इस प्रकार यह दो अलङ्कारों के परस्पर अनपेक्षा से स्थित होने के कारण 'संसृष्टि' का उदाहरण है। इस पर वादी कहता है कि यहां एकाश्रयानुप्रवेश रूप 'संकर' मान लेना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि जब यहां श्लेष के विषय में ही व्यतिरेक की प्रतीति उत्पन्न होती तब दोनों के मिश्रित रूप तृतीय अलंकार 'संकर' को पाया जा सकता था। यहां श्लेष का विषय और व्यतिरेक का विषय

ध्वन्यालोकः

आक्रन्दाः स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभि-
स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः ।
अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्तिः समैवावयो-
स्तत्किं मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धमेवोद्यतः ॥

इत्यादौ ।

रसनिर्वहणैकतानहृदयो यं च नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति । यथा—

हे मित्र मेघ, मेरे आक्रन्द (वियोगजनित आक्रन्दन) तुम्हारे गर्जनों के, मेरे आंखों के जल तुम्हारे निरन्तर धाराजलों के एवं उस (प्रिया) के विच्छेद से उत्पन्न हुए (मेरे) शोकाग्नि (तुम्हारे) विद्युद्विलासों के सदृश हैं, मेरे हृदय में प्रिया का मुख है, तुम्हारे भीतर चन्द्रमा है, इस प्रकार मेरी और तुम्हारी वृत्ति बराबर है, फिर क्यों तुम निरन्तर मुझे जला डालने के लिए तत्पर हो ?

इत्यादि में ।

रसनिर्वाह में एकाग्र-हृदय (कवि) और जिसका अत्यन्त (आदि से अन्त तक) निर्वाह करना नहीं चाहता । जैसे—

लोचनम्

एवं ग्रहणत्यागौ समर्थ्य 'नातिनिर्वहणैषिता' इति भागं व्याचष्टे—रसेति । चकारः समीक्षाप्रकारसमुच्चयार्थः । बाहुलतिकाया बन्धनीयपाशत्वेन रूपणं यदि निर्वाहयेत् , दयिता व्याधवधूः, वासगृहं कारागारपञ्जरादीति पर-

इस प्रकार ग्रहण और त्याग का समर्थन करके 'दूर तक निर्वाह करने की इच्छा न हो' इस भाग की व्याख्या करते हैं—रस०—। 'और' ('च') समीक्षा के प्रकारों के समुच्चयार्थ है । बाहुलतिका का बन्धनीय पाश के रूप में रूपण को यदि निर्वाह करता, प्रिया को व्याध की पत्नी एवं वासगृह को कारागार-पञ्जर बनाता तो यह अधिक

भिन्न हैं । यदि ऐसी स्थिति में भी संकर ही मानते हैं तब 'संसृष्टि' का विषय समाप्त हो जायगा । इस पर संकर-वादी पुनः कहता है कि यहां माना कि एकाश्रयानुप्रवेश रूप संकर नहीं है, किन्तु अङ्गाङ्गिभाव या अनुग्राह्यानुग्राहक भाव रूप संकर तो अनिवार्य है, क्योंकि यहां श्लेष के द्वारा ही व्यतिरेक आत्मलाभ कर रहा है । इस पर कहते हैं कि 'नो कल्पापाय०' में बिना उपमा के व्यतिरेक पाया जाता है, ऐसी स्थिति में श्लेष को व्यतिरेक का अनुग्राहक नहीं माना जा सकता । तब वादी कहता है कि 'रक्तस्त्वं०' में श्लेष मात्र से चारुत्व की प्रतीति नहीं है अतः उसे व्यतिरेक का अङ्ग मानना ही होगा । तब वादी को निरुत्तर करते हुए 'आक्रन्दाः०' इस उदाहरण में श्लेष के बिना उपमा और व्यतिरेक दिखाया । इस प्रकार यह सिद्धान्तित किया कि प्रस्तुत उदाहरण में श्लेष और व्यतिरेक दोनों की संसृष्टि है और व्यतिरेक की विवक्षा से प्रबन्धप्रवृत्त भी श्लेष त्यक्त होता हुआ रसविशेष (विप्रलम्भ श्रृङ्गार) का पोषक है ।

ध्वन्यालोकः

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः ।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान्रुदत्या हसन् ॥

अत्र हि रूपकमाक्षिप्तमनिर्व्यूढं च परं रसपुष्टये ।
निर्वोढुमिष्टमपि यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते यथा—

कोप के कारण अपनी कोमल और चंचल बाहुलता के पाश में जोर से बांध कर, सखियों के सामने वासगृह में ले जाकर, (उस नायक के परस्त्रीगमन आदि) दुश्चेष्टित को सूचित करके 'फिर ऐसा नहीं' यह लड़खड़ाती अव्यक्त आवाज में कहते हुए रुदन करती हुई नायिका के द्वारा अपने नखक्षत आदि को छिपाने में संलग्न हंसता हुआ धन्य प्रियतम मार खाता है ।

यहां रूपक आक्षिप्त एवं पूरा निर्वाह नहीं किया गया है, फिर भी रस का पोष करता है ।

निर्वाह के इष्ट भी जिसे यत्न से अङ्ग के रूप में देखता है । जैसे—

लोचनम्

मनौचित्यं स्यात् । *सखीनां पुर* इति । भवत्योऽनवरतं ब्रुवते नायमेवं करोतीति तत्पश्यन्त्विदानीमिति भावः । स्खलन्ती कोपावेशेन कला मधुरा च गीर्यस्याः सा । कासौ गीरित्याह—*भूयो नैवमित्येवंरूपा* । एवमिति यदुक्तं तत्किमित्याह—*दुश्चेष्टितं* नखपदादि संसूच्य अङ्गुल्यादिनिर्देशेन । *हन्यत एवेति* । न तु सख्यादिकृतोऽनुनयोऽनुरुध्यते । यतोऽसौ हसनं निमित्तीकृत्य निह्नुतिपरः प्रियतमश्च तदीयं व्यलीकं का सोढुं समर्थेति ।

निर्वोढुमिति । निःशेषेण परिसमापयितुमित्यर्थः ।

अनौचित्य हो जाता । सखियों के सामने—। भाव यह है कि तुम सब हमेशा कहती हो 'यह ऐसा नहीं करता' तो अब देखो । स्खलित होती हुई कोपावेश से लड़खड़ाती हुई और कल अर्थात् मधुर वाणी है जिसकी । कौन वह वाणी है—'फिर ऐसा नहीं' इस प्रकार कि । 'इस प्रकार' जो यह कहा है वह क्या है, कहते हैं—नखक्षतादि दुश्चेष्टित को संसूचन अर्थात् अङ्गुलि आदि से निर्देश करके । ताड़न किया जाता ही है—। न कि सखी आदि का किया हुआ अनुनय (कि इसे छोड़ दो, अब ऐसा अपराध नहीं करेगा आदि) मानती है, क्यों कि वह हंसी को निमित्त करके (अपना दुश्चेष्टित) छिपा रहा है, और प्रियतम है, उसके व्यलीक को कौन सहन करने के लिए समर्थ है ?

निर्वाह के०—। अर्थात् पूर्ण रूप से परिसमाप्त करने के लिए ।

ध्वन्यालोकः

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति ॥

इत्यादौ ।

स एवमुपनिबध्यमानोऽलङ्कारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति । उक्तप्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभङ्गहेतुः सम्पद्यते । लक्ष्यं च

हे भीरु, श्यामा लताओं में तेरे अङ्ग को, चकचिहाई हिरनी की निगाह में तेरे दृष्टिपात को, चन्द्र में तेरे गालों की कान्ति को, मयूरों के पुच्छभार में तेरे बालों को और नदी की पतली तरङ्गों में तेरे भ्रूविलासों को देखता फिरता हूँ, हन्त तेरा सादृश्य कहीं एक जगह नहीं है ।

इत्यादि में ।

वह इस प्रकार कवि का उपनिबध्यमान अलङ्कार रसाभिव्यक्ति का हेतु होता है, उक्त प्रकारों के अतिक्रमण करने पर, नियमतः रसभङ्ग का हेतु हो जाता है । उस

लोचनम्

श्यामासु सुगन्धिप्रियङ्गुलतासु पाण्डिम्ना तनिम्ना कण्टकितत्वेन च योगात् । *शशिनीति* पाण्डुरत्वात् ।

उत्पश्यामीति यत्नेनोत्प्रेक्षे । जीवितसन्धारणायेत्यर्थः । *हन्तेति* कष्टम्, एकस्थसादृश्याभावे हि दोलायमानोऽहं सर्वत्र स्थितो न कुत्रचिदेकत्र धृतिं लभ इति भावः । *भीर्विति* । यो हि कातरहृदयो भवति नासौ सर्वस्वमेकस्थं धारयतीत्यर्थः । अत्र ह्युत्प्रेक्षायास्तद्भावाध्यारोपरूपाया अनुप्राणकं सादृश्यं यथोपक्रान्तं, तथा निर्वाहितमपि विप्रलम्भरसपोषकमेव जातम् । तत्तु लक्ष्यं न दर्शितमिति सम्बन्धः । प्रत्युदाहरणे ह्यदर्शितेऽप्युदाहरणानुशीलनदिशा

श्यामा अर्थात् शोभन गन्ध वाली प्रियङ्गु लताओं में, पाण्डुता, कृशता और कण्टकित-भाव के योग के कारण । शशी में पाण्डुर होने के कारण । देखता फिरता हूँ, यत्नपूर्वक उत्प्रेक्षण करता हूँ, अर्थात् जीवन धारण के लिए । 'हन्त' अर्थात् कष्टम् । भाव यह कि एक जगह सादृश्य के न मिलने से दोलायमान मैं सब जगह जाता हूँ, कहीं एक जगह मुझे धीरज नहीं मिलता है । भीरु—। अर्थात् जो कातर हृदय वाला होता है वह सब कुछ एक जगह नहीं रखता है (क्योंकि कोई चुरा न ले जाय) । यहां तद्भावाध्यारोप रूप (अर्थात् जिसमें जो न हो उसका आहार्य आरोप रूप, जैसे श्यामा अर्थात् प्रियङ्गु लताओं में अङ्ग का अध्यारोप) उत्प्रेक्षा को अनुप्राणित करने वाला सादृश्य जैसे उपक्रान्त है, निर्वाह किया गया भी विप्रलम्भरस का पोषक ही बना है । 'वह तो अर्थात् लक्ष्य नहीं दिखाया है' यह सम्बन्ध है । प्रत्युदाहरण के न दिखाने पर भी उदाहरण के अनुशीलन

ध्वन्यालोकः

तथाविधं महाकविप्रबन्धेष्वपि दृश्यते बहुशः। तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम्। किं तु रूपकादेरलङ्कारवर्गस्य येयं व्यञ्जकत्वे रसादिविषये लक्षणदिग्दर्शिता तामनुसरन् स्वयं चान्यल्लक्षणमुत्प्रेक्षमाणो यद्यलक्ष्यक्रमप्रतिभमनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः समाहितचेतास्तदा तस्यात्मलाभो भवति महीयानिति॥ १८–१९॥

प्रकार का लक्ष्य महाकवियों के प्रबन्धों में भी बहुत देखा जाता है। परन्तु वह हजारों सूक्तियों से उद्योतित महात्मा जनों का दोष प्रकटन अपना ही दूषण होगा। इसलिए विभाग करके नहीं दिखाया। किन्तु रूपक आदि अलङ्कारों का जो कि यह रसादि विषय के व्यञ्जकत्व में लक्षण का प्रकार दिखाया है उसका अनुसरण करता हुआ और स्वयं अन्य लक्षण का उत्प्रेक्षण करता हुआ, समाहितचित्त सुकवि यदि पूर्वोक्त अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यसदृश ध्वनि के आत्मा का उपनिबन्धन करता है तो उसे बड़ा आत्मलाभ होता है॥ १८–१९॥

लोचनम्

कृतकृत्यतेति दर्शयति—*किं त्विति*। *अन्यल्लक्षणमिति*। परीक्षाप्रकारमित्यर्थः। तद्यथावसरे त्यक्तस्यापि पुनर्ग्रहणमित्यादि। यथा ममैव—

> शीतांशोरमृतच्छटा यदि कराः कस्मान्मनो मे भृशं
> संप्लुष्यन्त्यथ कालकूटपटलीसंवाससन्दूषिताः।
> किं प्राणान्न हरन्त्युत प्रियतमासञ्जल्पमन्त्राक्षरै-
> रक्ष्यन्ते किमु मोहमेमि हहहा नो वेद्मि केयं गतिः॥

इत्यत्र हि रूपकसन्देहनिदर्शनास्त्यक्त्वा पुनरुपात्ता रसपरिपोषायेत्यलम्॥

की दिशा से अपनी कृतकृत्यता दिखाते हैं—किन्तु—। अन्य लक्षण—। अर्थात् परीक्षा का प्रकार। जैसे अवसर में छोड़े गए का भी फिर से ग्रहण, इत्यादि। जैसा मेरा ही—

यदि चन्द्र की किरणें अमृतरूप हैं तो किस कारण मेरे मन को अत्यन्त सन्तप्त करती हैं? यदि ये किरणें विषसमूह के साथ रहने से दूषित हो गई हैं तो प्राणों को क्यों नहीं हर लेती हैं? अगर प्रियतमा के साथ बातचीत रूप मन्त्राक्षरों से प्राणों की रक्षा हो जाती है तो फिर क्यों मूर्च्छित हो जाता हूँ? हा, हा, समझ में नहीं आता, यह कौन गति है!

यहां रूपक, सन्देह और निदर्शना अलङ्कारों को छोड़ कर पुनः उपादान किया गया[1] है। अधिक कहना आवश्यक नहीं॥ १८–१९॥

---

१. 'चन्द्र की किरणें अमृत रूप हैं' यहां रूपक का ग्रहण किया और 'किस कारण' इत्यादि से त्याग किया, 'यदि' इत्यादि से पुनः रूपक का उपादान किया; विषसमूह से दूषितत्व का 'संदेह'

ध्वन्यालोकः

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभः ।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात्सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ॥ २० ॥

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वादनुरणनप्रख्यो य आत्मा सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्चेति द्विप्रकारः॥

ननु शब्दशक्त्या यत्रार्थान्तरं प्रकाशते स यदि ध्वनेः प्रकार

इसका जो आत्मा (स्वरूप) अनुस्वान (घंटा के अनुरणन) के सदृश क्रम से प्रतीत होता है वह शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल होने के कारण दो प्रकार से व्यवस्थित है ॥ २० ॥

इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य होने के कारण (क्रम से व्यङ्ग्य के संलक्षित होने के कारण) अनुरणन रूप जो आत्मा (स्वरूप) है वह भी दो प्रकार का होता है—शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल।

(शङ्का करते हैं कि) जहां शब्दशक्ति से अर्थान्तर प्रकाशित होता है उसे यदि

लोचनम्

एवं विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनेः प्रथमं भेदमलक्ष्यक्रमं विचार्य द्वितीयं भेदं विभक्तुमाह—*क्रमेणेत्यादि* । प्रथमपादोऽनुवादभागो हेतुत्वेनोपात्तः । घण्टाया अनुरणनमभिघातजशब्दापेक्षया क्रमेणैव भाति । *सोऽपीति* । न केवलं मूलतो ध्वनिर्द्विविधः । नापि केवलं विवक्षितान्यपरवाच्यो द्विविधः । अयमपि द्विविध एवेत्यपिशब्दार्थः ॥ २० ॥

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रथम भेद अलक्ष्यक्रम का विचार करके दूसरे भेद को विभाजनार्थ कहते हैं—इसका जो० इत्यादि । प्रथम पाद अनुवाद भाग हेतु रूप में उपात्त है। (अर्थात् जिस कारण क्रम से प्रतीत होता है, उसी कारण 'अनुस्वान के सदृश' है) घण्टा का अनुरणन अभिघातजनित शब्द की अपेक्षा से क्रम से ही प्रतीत होता है। वह भी—। 'भी' शब्द का अर्थ है कि न केवल मूलतः ध्वनि दो प्रकार का है, और न केवल विवक्षितान्यपरवाच्य दो प्रकार का है, यह (संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि)[1] भी दो प्रकार का ही है ॥ २० ॥

किया और 'प्राणों को क्यों' इत्यादि से त्याग कर दिया, फिर 'अगर' इत्यादि से उपादान किया; इसी प्रकार 'प्रियया' इत्यादि से निदर्शना का उपादान किया और 'क्यों मूर्च्छित हो जाता हूँ' से त्याग किया, फिर 'क्या गति है' इत्यादि से उसका पुनः उपादान किया। अथवा 'सन्तप्त करती हैं' इससे रूपक का, 'हर लेती हैं' इससे सन्देह का और 'मूर्च्छित हो जाता हूँ' इससे निदर्शना का त्याग है और 'समझ में नहीं आता' इत्यादि से उनका उपादान है। यह टिप्पणी 'लोचन' की 'बालप्रिया' में निर्दिष्ट है।

१. ध्वनि पहले दो प्रकार का बताया जा चुका अविवक्षित वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य।

ध्वन्यालोकः

उच्यते तदिदानीं श्लेषस्य विषय एवापहृतः स्यात्, नापहृत इत्याह—

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥ २१ ॥

यस्मादलङ्कारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम् । वस्तुद्वये च शब्द-शक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः । यथा—

ध्वनि का प्रकार कहते हैं तब तो अब श्लेष का विषय ही अपहृत हो जायगा। इस पर कहते हैं कि अपहृत न होगा—

क्योंकि, जहां शब्द से अनुक्त (साक्षात् संकेलित नहीं) अलङ्कार आक्षेप-सामर्थ्य से ही शब्दशक्ति द्वारा प्रकाशित होता है, वह 'शब्द-शक्त्युद्भव ध्वनि' है ॥ २१ ॥

क्योंकि, अलङ्कार, न कि वस्तुमात्र, जिस काव्य में शब्दशक्ति से प्रकाशित होता है वह 'शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि' है, यह हमारा विवक्षित है। और दो वस्तुओं के शब्दशक्ति द्वारा प्रकाशित होने पर 'श्लेष' होता है। जैसे—

लोचनम्

कारिकागतं हिशब्दं व्याचष्टे—*यस्मादिति* । अलङ्कारशब्दस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयति—*न वस्तुमात्रमिति* । *वस्तुद्वये चेति* । चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे । *येनेति* । येन ध्वस्तं बालक्रीडायामनः शकटम् । अभवेनाजेन सता । बलिनो दान-

कारिका में आए 'क्योंकि' (हि) शब्द की व्याख्या करते हैं—क्योंकि—। 'अलङ्कार' शब्द का व्यवच्छेद्य दिखलाते हैं—न कि वस्तुमात्र—। और दो वस्तुओं के—। 'और' का अर्थ 'तो' है।

जिसने—। जिसने बचपन के खेल में शकट (नाम के असुर) का नाश किया। अभव अर्थात् अज या अजन्मा रूप में विद्यमान। बली दानवों को जो जीतने वाला है,

अविवक्षितवाच्य को लक्षणामूल ध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य को अभिधामूल ध्वनि भी कहते हैं। अविवक्षितवाच्य ध्वनि के भी दो भेद हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य फिर विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भी दो भेद निर्दिष्ट होते हैं—शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्ति मूल। बहुत लोगों ने उभयशक्तिमूल भी एक और भेद माना है। वस्तु और अलङ्कार ध्वनि के भेद से शब्दशक्तिमूल के भी दो भाग हैं। अर्थशक्तिमूल के १२ भेद आगे निर्दिष्ट होंगे। इस प्रकार संलक्ष्यक्रम के १५ भेद और असंलक्ष्य क्रम यङ्ग्य के एक भेद को मिला कर विवक्षितान्यपरवाच्य या अभिधामूल ध्वनि के १६ भेद होते हैं और उपर्युक्त दो भेद अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूल ध्वनि के हैं। इस प्रकार सब मिल कर १८ भेद हैं जो आगे और भी विस्तृत होते हैं।

प्रस्तुत में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के शब्दशक्तिमूल ध्वनि और श्लेष अलङ्कार के विषय-भेद का विचार करते हैं।

ध्वन्यालोकः

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥

(विष्णुपक्ष में) जिस अभव (विष्णु) ने शकट का नाश किया, बली (दानवों) को जीतने वाला अपने शरीर को पुराकाल में स्त्रीरूप बनाया, जिसने उद्वृत्त भुजङ्ग को मारा, जिसका लय (अकार रूप) शब्द में है, जिसने अग और पृथ्वी को धारण किया, 'शशी को मन्थन करनेवाले राहु के शिर को काटने वाला' जिसके इस स्तुत्य नाम को ऋषि लोग लिया करते हैं, वह सब कुछ देनेवाला माधव, जिसने अन्धक जनों को (द्वारका में) बसाया, तुम्हारी रक्षा करें । (शिवपक्ष में) मनोभव को ध्वस्त करने वाले जिसने पुराकाल में बलि को जीतने वाले के शरीर को अस्त्र बनाया, उद्वृत्त भुजङ्ग ही जिसके हार और वलय हैं, गङ्गा को जिसने धारण किया, देवता जिसके शिर को चन्द्रयुक्त कहते हैं 'हर' यह स्तुत्य नाम बताते हैं, वह उमा के धव (प्रिय) अधक का विनाश करने वाले भगवान् तुम्हारी सर्वदा रक्षा करें ।

लोचनम्

वान्यो जयति तादृग्येन कायो वपुः पुरामृतहरणकाले स्त्रीत्वं प्रापितः । यश्चोद्वृत्तं समदं कालियाख्यं भुजङ्गं हतवान् । रवे शब्दे लयो यस्य । 'अकारो विष्णुः' इत्युक्तेः । यश्चागं गोवर्धनपर्वतं गां च भूमिं पातालगतामधारयत् । यस्य च नाम स्तुत्यमृषय आहुः किं तत् ? शशिनं मथ्नातीति क्विप् राहुः, तस्य शिरोहरो मूर्धापहारक इति । स त्वां माधवो विष्णुः सर्वदः पायात् । कीदृक् ? अन्धकनाम्नां जनानां येन क्षयो निवासो द्वारकायां कृतः । यदि वा मौसले इषीकाभिस्तेषां क्षयो विनाशो येन कृतः । द्वितीयोऽर्थः—येन ध्वस्तकामेन सता बलिजितो विष्णोः सम्बन्धी कायः पुरा त्रिपुरनिर्दहनावसरेऽस्त्री-

उस अपने शरीर को जिसने पुराकाल में अर्थात् अमृत हरण के अवसर में स्त्रीरूप बनाया, जिसने उद्वृत्त अर्थात् गर्वीले कालिय नामक भुजङ्ग को मारा, रव अर्थात् शब्द में जिसका लय है, क्योंकि कहा है—'अकार विष्णु है', जिसने अग अर्थात् गोवर्धन पर्वत को और पाताल में गई पृथ्वी को धारण किया, जिसका स्तुत्य नाम ऋषिलोग कहते हैं, वह क्या ? शशी को मथन करने वाला राहु, उसका शिर हरण करने वाला, अर्थात् मस्तक काट देने वाला' । वह सब कुछ देने वाले माधव विष्णु तुम्हारी रक्षा करें । वह कैसे हैं—जिसने अंधक नाम के लोगों को द्वारका में बसाया, अथवा मौसल पर्व में यादवों का नाश करने वाले हैं । दूसरा अर्थ—काम को नष्ट करने वाले जिसने बलि को जीतने वाले विष्णु के शरीर को पुराकाल में अर्थात् त्रिपुरदाह के अवसर में अस्त्र

ध्वन्यालोकः

नन्वलङ्कारान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शितं भट्टोद्भटेन, तत्पुनरपि शब्दशक्तिमूलो ध्वनिर्निरवकाश इत्याशङ्क्येदमुक्तम् 'आक्षिप्तः' इति। तदयमर्थः—यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरं वाच्यं सत्प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः। यत्र तु शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्ग्यमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयः। शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरप्रतिभा यथा—

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ॥

(शङ्का करते हैं कि) यह उद्भट ने दिखाया है कि अलङ्कारान्तर की प्रतिभा में भी 'श्लेष' का ही व्यपदेश होता है, तब तो फिर शब्दशक्तिमूल ध्वनि का कोई स्थान नहीं रह गया ! यह आशङ्का करके यह कहा है 'आक्षिप्त' (अर्थात् आक्षेप-सामर्थ्य से प्राप्त)। तो यह अर्थ है—जहां शब्दशक्ति से साक्षात् अलङ्कारान्तर वाच्य होता हुआ प्रतीत होता है, वह सब श्लेष का विषय है। और जहां शब्दशक्ति द्वारा सामर्थ्य से आक्षिप्त और वाच्य से अतिरिक्त व्यङ्ग्य ही अलङ्कारान्तर प्रकाशित होता है, वह ध्वनि का विषय है। शब्दशक्ति द्वारा साक्षात् अलङ्कारान्तर की प्रतिभा; जैसे--

उसके दोनों पयोधर हार के बिना भी स्वभाव से ही हारी (हार धारण करने वाले, परिहार यह कि मनोहर) किसके विस्मय को उत्पन्न नहीं किए ?

लोचनम्

कृतः शरत्वं नीतः। उद्वृत्ता भुजङ्गा एव हारा वलयाश्च यस्य, मन्दाकिनीं च योऽधारयत्, यस्य च ऋषयः शशिमच्चन्द्रयुक्तं शिर आहुः, हर इति च यस्य नाम स्तुत्यमाहुः, स भगवान्स्वयमेवान्धकासुरस्य विनाशकारी त्वां सर्वदा सर्वकालमुमाया धवो वल्लभः पायादिति। अत्र वस्तुमात्रं द्वितीयं प्रतीतं नालङ्कार इति श्लेषस्यैव विषयः। आक्षिप्तशब्दस्य कारिकागतस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयितुं चोद्येनोपक्रमते—*नन्वलङ्कारेत्यादिना*।

तस्या विनापीति। अपिशब्दोऽयं विरोधमाचक्षाणोऽर्थद्वयेऽप्यभिधाशक्ति

अर्थात् बाण बनाया, उद्वृत्त (लिपटे हुए) भुजङ्ग ही हैं हार और वलय जिसके, मन्दाकिनी को जिसने धारण किया, ऋषिलोग जिसके सिर को 'चन्द्रयुक्त' बतलाते हैं और 'हर' यह जिसका स्तुत्य नाम उच्चारण करते हैं, वह भगवान् स्वयमेव अन्धक असुर के विनाशकारी, उमा के प्रिय सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें।' यहां दूसरा प्रतीत वस्तुमात्र अलङ्कार नहीं है, श्लेष का ही विषय है। कारिका में आए हुए 'आक्षिप्त' शब्द व्यवच्छेद्य दिखलाने के लिए पहले से उपक्रम करते हैं—शङ्का करते हैं—इत्यादि से।

उसके दोनों०—। यह 'भी' शब्द विरोध का अभिधान करता हुआ दोनों अर्थों में

ध्वन्यालोकः

अत्र शृङ्गारव्यभिचारी विस्मयाख्यो भावः साक्षाद्विरोधालङ्कारश्च प्रतिभासत इति विरोधच्छायानुग्राहिणः श्लेषस्यायं विषयः, न त्वनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य तु ध्वनेर्वाच्येन श्लेषेण विरोधेन वा व्यञ्जितस्य विषय एव। यथा ममैव—

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।

यहां शृङ्गार का व्यभिचारी विस्मय नाम का भाव और साक्षात् विरोध अलङ्कार प्रतिभासित हो रहे हैं, इस प्रकार विरोध की छाया के अनुग्राहक श्लेष का यह विषय है, न कि अनुस्वानसदृशव्यङ्ग्यरूप ध्वनि का। वाच्य श्लेष अथवा विरोध से व्यञ्जित अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का तो विषय ही है। जैसे, मेरा ही—

जिनका केवल हाथ ही देखने में सुन्दर है (अथवा हाथ में सुदर्शन चक्र धारण करने वाले), जिन्होंने अपने चरणारविन्द से (अथवा चरण के विक्षेप से) तीन लोकों

लोचनम्

नियच्छति हरतो हृदयमवश्यमिति हारिणौ। हारो विद्यते ययोस्तौ हारिणाविति। अत एव विस्मयशब्दोऽस्यैवार्थस्योपोद्बलकः। अपिशब्दाभावे तु न तत एवार्थद्वयस्याभिधा स्यात्, स्वसौन्दर्यादेव स्तनयोर्विस्मयहेतुत्वोपपत्तेः। विस्मयाख्यो भाव इति दृष्टान्ताभिप्रायेणोपात्तम्। यथा विस्मयः शब्देन प्रतिभाति विस्मय इत्यनेन शब्देन तथा विरोधोऽपि प्रतिभात्यपीत्यनेन शब्देन। ननु किं सर्वथात्र ध्वनिर्नास्तीत्याशङ्क्याह—*अलक्ष्येति*। *विरोधेन वेति*। वाग्रहणेन श्लेषविरोधसङ्करालङ्कारोऽयमिति दर्शयति, अनुग्रहयोगादेकतरत्यागग्रहणनिमित्ताभावो हि वाशब्देन सूच्यते। सुदर्शनं चक्रं करे यस्य।

भी अभिधाशक्ति को अर्पित करता है, हृदय को अवश्य हरण करते हैं, इसलिए हारी हैं और जिन दोनों के हार है अतएव हारी। इसी लिए 'विस्मय' शब्द इसी अर्थ का उपोद्बलक है। 'भी' शब्द के अभाव में तो उसीसे दोनों अर्थों का अभिधान नहीं होता, बल्कि स्वगत सौन्दर्य से ही स्तनों का विस्मयहेतुत्व उपपन्न हो जाता। 'विस्मय नाम का भाव' यह दृष्टान्त के अभिप्राय से उपादान किया है। जैसे विस्मय 'विस्मय' शब्द से प्रतीत होता है, 'उस प्रकार विरोध भी' 'भी' ('अपि') इस शब्द से प्रतीत होता है। क्या सर्वथा यहाँ ध्वनि नहीं है? यह आशङ्का करके कहते हैं—अलक्ष्य०—। अथवा विरोध से—। 'अथवा' (वा') ग्रहण से 'यह श्लेष और विरोध का सङ्कर अलङ्कार' है, यह दिखाते हैं, अनुग्रह के योगसे (अर्थात् अनुग्राह्यानुग्राहकभाव के कारण) किसी एक के त्याग और ग्रहण के निमित्त का अभाव 'वा' शब्द से सूचित किया है। सुदर्शन चक्र जिसके हाथ में है। व्यतिरेक-पक्ष में सुदर्शन अर्थात् श्लाघ्य

ध्वन्यालोकः

बिभ्राणां मुखमिन्दुरूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दध-
त्स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥

अत्र वाच्यतयैव व्यतिरेकच्छायानुग्राही श्लेषः प्रतीयते । यथा च—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥

यथा वा—

का आक्रमण किया है और जो चन्द्र के रूप में नेत्र धारण करते हैं वह हरि भगवान् विष्णु प्रशंसनीय समस्त शरीर वाली, समस्त अङ्गों की लीलामात्र से त्रैलोक्य को जीत लेने वाली और समग्र चन्द्र रूप मुख को धारण करने वाली जिस रुक्मिणी को अपने शरीर से उचित ही अधिक देखा, वह (रुक्मिणी) आपलोगों की रक्षा करे।

यहां वाच्यरूप से ही व्यतिरेक की छाया का अनुग्राहक श्लेष प्रतीत होता है। और जैसे—

जलदरूप भुजग से उत्पन्न विष (जल और जहर, क्योंकि दोनों 'विष' के वाच्य हैं) वियोगिनियों के चक्कर, औदासीन्य, दिली नाकामी, बेचैनी, मूर्च्छा, अन्धेरा, शरीर का ऐंठन और मरण हठपूर्वक कर डालता है।

अथवा जैसे—

लोचनम्

व्यतिरेकपक्षे सुदर्शनौ श्लाघ्यौ करावेव यस्य । चरणारविन्दस्य ललितं त्रिभुवनाक्रमणक्रीडनम् । चन्द्ररूपं चक्षुर्धारयन् । *वाच्यतयैवेति* । स्वतनोरधिकामिति शब्देन व्यतिरेकस्योक्तत्वात् । भुजगशब्दार्थपर्यालोचनाबलादेव विषशब्दो जलमभिधायापि न विरन्तुमुत्सहते, अपि तु द्वितीयमर्थं हालाहललक्षणमाह । तदभिधानेन विनाभिधाया एवासमाप्तत्वात् । भ्रमिप्रभृतीनां तु मरणान्तानां साधारण एवार्थः । निराशीकृतत्वेन खण्डितानि यानि मानसानि

दोनों हाथ ही हैं जिसके। चरणारविन्द का त्रिभुवन के आक्रमण का ललित खेल। चन्द्र रूप चक्षु को धारण करता हुआ। वाच्य रूप से ही—। क्योंकि 'अपने शरीर से अधिक' यह कहने से व्यतिरेक उक्त हो गया है। 'भुजग' शब्द के अर्थ की पर्यालोचना के बल से ही 'विष' शब्द 'जल' का अभिधान करके भी विराम लेने के लिए उत्साहित नहीं होता, अपितु हालाहल रूप दूसरे अर्थ को भी अभिधान करता है। क्योंकि उसके अभिधान के बिना अभिधा समाप्त ही नहीं होती। चक्कर आदि से लेकर मरण तक का शब्दों का अर्थ साधारण ही है। निराश होने के कारण खण्डित जो मानस अर्थात्

ध्वन्यालोकः

चमहिअमाणसकञ्चणपङ्कअणिम्महिअपरिमला जस्स ।
अखण्डिअदाणपसारा बाहुप्पलिहा व्विअ गइन्दा ॥
(खण्डितमानसकाञ्चनपङ्कजनिर्मथितपरिमला यस्य ।
अखण्डितदानप्रसरा बाहुपरिघा इव गजेन्द्राः ॥ इति छाया)

अत्र रूपकच्छायानुग्राही श्लेषो वाच्यतयैवावभासते ।

स चाक्षिप्तोऽलङ्कारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न

निराश शत्रुओं के मानसरूपी सुवर्ण कमल को निर्मथित करने वाले अपने यश रूप सौरभ से युक्त और निरन्तर दान देने वाले जिस (राजा) के बाहुदण्ड मानसरोवर के सुवर्ण कमलों को खण्डित करने से (उनके) सौरभ से सने और निरन्तर दान-जल प्रवाहित करने वाले हाथियों के समान हैं ।

यहां रूपक की छाया का अनुग्राहक श्लेष वाच्यरूप से ही अनभासित होता है ।

और वह आक्षिप्त अलङ्कार जहां फिर शब्दान्तर से अभिहित हो जाता है वहां

लोचनम्

शत्रुहृदयानि तान्येव काञ्चनपङ्कजानि । ससारत्वात् तैर्हेतुभूतैः । *णिम्महिअ-परिमला* इति । प्रसृतप्रतापसारा अखण्डितवितरणप्रसरा बाहुपरिघा एव यस्य गजेन्द्रा इति । गजेन्द्रशब्दवशाच्च महिअशब्दः परिमलशब्दो दानशब्दश्च त्रोटनसौरभमदलक्षणानर्थान्प्रतिपाद्यापि न परिसमाप्ताभिधाव्यापारा भवन्तीत्युक्तरूपं द्वितीयमप्यर्थमभिदधत्येव ।

एवमाक्षिप्तशब्दस्य व्यवच्छेद्यं प्रदर्श्यैवकारस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयितुमाह—*स चेति* । उभयार्थप्रतिपादनशक्तशब्दप्रयोगे, यत्र तावदेकतरविषयनियमनकारणमभिधाया नास्ति, यथा—'येन ध्वस्तमनोभवेन' इति । यत्र वा प्रत्युत

शत्रुके हृदय वहीं है सुवर्ण कमल । सारयुक्त होने के कारण हेतुभूत उनसे । निर्मथित करने वाले परिमल से युक्त— । जिनके प्रताप बल फैल चुके हैं, अखण्डित दान-प्रसर वाले जिसके बाहुदण्ड ही गजेन्द्र अर्थात् हाथी हैं । 'गजेन्द्र' शब्द के कारण 'चमहिअ' ('खण्डित') शब्द, 'परिमल' शब्द और 'दान' शब्द 'तोड़ना' 'सौरभ' और 'मद' रूप अर्थों को प्रतिपादन करके भी परिसमाप्त अभिधाव्यापार वाले नहीं होते, इस लिए उक्त रूप दूसरे अर्थ का अभिधान करते ही हैं ।

इस प्रकार 'आक्षिप्त' शब्द के व्यवच्छेद्य को दिखा कर 'एव' कार ('ही') का व्यवच्छेद्य दिखलाने के लिए कहते हैं—और वह— । दो अर्थों के प्रतिपादन में शक्त (समर्थ) शब्द के प्रयोग करने पर, जहां किसी एक विषय में अभिधा के नियमन का कारण नहीं है, जैसे—'येन ध्वस्तमनोभवेन०'— । अथवा जहां दूसरे अभिधाव्यापार के

ध्वन्यालोकः

शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यवहारः। तत्र वक्रोक्त्यादि-
वाच्यालङ्कारव्यवहार एव। यथा—

दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किं नाम नालम्बसे।

शब्दशक्त्युद्भव अनुरणन रूप ध्वनि का व्यवहार नहीं होता है। वहां वक्रोक्ति आदि
वाच्य अलङ्कार का व्यवहार होता है। जैसे—

हे केशव, गौओं की (उड़ाई हुई) धूल से दृष्टि के ढँप जाने के कारण मैंने कुछ
नहीं देखा और गिर पड़ी हूँ, हे नाथ, गिरी हुई मुझे क्यों नहीं आलम्बन करते हो?

लोचनम्

द्वितीयाभिधाव्यापारसद्भावावेदकं प्रमाणमस्ति, यथा-'तस्या विना' इत्यादौ,
तत्र तावत्सर्वथा 'चमहिअ' इत्यन्ते। सोऽर्थोऽभिधेय एवेति स्फुटमदः। यत्रा-
प्यभिधाया एकत्र नियमहेतुः प्रकरणादिर्विद्यते तेन द्वितीयस्मिन्नर्थे नाभिधा
सङ्क्रामति, तत्र द्वितीयोऽर्थोऽसावाक्षिप्त इत्युच्यते; तत्रापि यदि पुनस्तादृ-
क्छब्दो विद्यते येनासौ नियामकः प्रकरणादिरपहतशक्तिकः सम्पाद्यते। अत
एव साभिधाशक्तिर्बाधितापि सती प्रतिप्रसूतेव तत्रापि न ध्वनेर्विषय इति
तात्पर्यम्। चशब्दोऽपिशब्दार्थे भिन्नक्रमः आक्षिप्तोऽप्याक्षिप्ततया झटिति
सम्भावयितुमारब्धोऽपीत्यर्थः। न त्वसावाक्षिप्तः, किं तु शब्दान्तरेणान्येना-
भिधायाः प्रतिप्रसवनादभिहितस्वरूपः सम्पन्नः। पुनर्ग्रहणेन प्रतिप्रसवं
व्याख्यातं सूचयति। तेनैवकार आक्षिप्ताभासं निराकरोतीत्यर्थः।

हे केशव, गोधूलिहृतया दृष्ट्या न किञ्चिद् दृष्टं मया तेन कारणेन स्खलि-
तास्मि मार्गे। तां पतितां सतीं मां किं नाम कः खलु हेतुर्यन्नालम्बसे हस्तेन।

सद्भाव का आवेदक प्रमाण है जैसे—तस्या विना०—इत्यादि में, वहाँ सर्वथा
'चमहिअ०' तक। वह अर्थ अभिधेय ही है, यह बात स्पष्ट है। जहाँ भी एक जगह प्रकरण
आदि अभिधा का नियमहेतु है, उसके कारण दूसरे अर्थ में अभिधा सङ्क्रान्त नहीं होती
है, वहाँ दूसरा वह अर्थ 'आक्षिप्त' कहा जाता है, और वहाँ पर भी यदि फिर उस
प्रकार का शब्द है जिससे वह नियामक प्रकरण आदि अपहतशक्ति कर दिया जाता है,
अतएव वह अभिधाशक्ति बाधित होकर भी प्रतिप्रसूत की भाँति हो जाती है, वहाँ भी
ध्वनि का विषय नहीं है, यह तात्पर्य है। 'और' ('च') शब्द 'भी' ('अपि') शब्द
के अर्थ में भिन्नक्रम है, अर्थात् आक्षिप्त भी, आक्षिप्त रूप भी झटिति सम्भावना किया
जाता हुआ भी। 'फिर' ('पुनः') ग्रहण से व्याख्यात 'प्रतिप्रसव' को सूचित करता
है। अर्थात् इससे 'एवकार' ('ही' का प्रयोग) आक्षिप्ताभास का निराकरण करता है।

'हे केशव गौओं की (उड़ाई हुई) धूल से दृष्टि के अवरुद्ध (हृत) हो जाने से
मैंने कुछ नहीं देखा, इस कारण मार्ग में गिर पड़ी हूँ। उस पतिता (गिरी हुई) मुझे

ध्वन्यालोकः

एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
गोंप्यैवं गदितः सलेशमवताद्गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ॥

एवञ्जातीयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्यश्लेषस्य विषयः। यत्र तु

क्योंकि ऊँच-खालों (विषम) में खिन्न मन वाले सभी अबलों के एक तुम्हीं गति हो, इस प्रकार गोपी के द्वारा गोष्ठ (गोशाला) में लेश के साथ कहे गए हरि (कृष्ण) आपलोगों की रक्षा करें।

इस प्रकार का सभी चाहे जितना वाच्य श्लेष का विषय हो। जहां सामर्थ्य से

लोचनम्

यतस्त्वमेवैकोऽतिशयेन बलवान्निम्नोन्नतेषु सर्वेषामबलानां बालवृद्धाङ्गनादीनां खिन्नमनसां गन्तुमशक्नुवतां गतिरालम्बनाभ्युपाय इत्येवंविधेऽर्थे यद्यप्येते प्रकरणेन नियन्त्रिताभिधाशक्तयः शब्दास्तथापि द्वितीयेऽर्थे व्याख्यास्यमानेऽभिधाशक्तिर्निरुद्धा सती सलेशमित्यनेन प्रत्युज्जीविता। अत्र सलेशं ससूचनमित्यर्थः, अल्पीभवनं हि सूचनमेव। हे केशव ! गोप स्वामिन् ! रागहृतया दृष्ट्येति। केशवगेन उपरागेण हृतया दृष्ट्येति वा सम्बन्धः। स्खलितास्मि खण्डितचरित्रा जातास्मि। पतितामिति भर्तृभावं मां प्रति। एक इत्यसाधारणसौभाग्यशाली त्वमेव। यतः सर्वासामबलानां मदनविधुरमनसामीर्ष्याकालुष्यनिरासेन सेव्यमानः सन् गतिः जीवितरक्षोपाय इत्यर्थः। एवं श्लेषालङ्कारस्य विषयमवस्थाप्य ध्वनेराह—*यत्र त्विति*। कुसुमसमयात्मकं यद्युगं

क्यों नहीं, अर्थात् क्या कारण है कि हाथ से अवलम्बन नहीं करते हो? क्यों कि तुम्हीं एक अतिशय करके बलवान् हो, निम्नोन्नत (ऊंच-खाल) स्थानों में सभी बाल, वृद्ध, अङ्गना आदि सभी खिन्न मन वाले अर्थात् गमन करने में असमर्थ अबलों की गति अर्थात् आलम्बन के उपाय हो।' इस प्रकार के अर्थ में यद्यपि ये शब्द प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित अभिधाशक्ति वाले हैं, तथापि व्याख्यान किए जाने वाले दूसरे अर्थ में अभिधाशक्ति निरुद्ध होकर 'सलेश' इसके द्वारा पुनः उज्जीवित कर दी गई। यहाँ सलेश अर्थात् सूचन, क्यों कि अल्प होना सूचन ही है। 'हे केशव, गोप, स्वामिन्, राग के कारण हरी हुई दृष्टि से'—। अथवा सम्बन्ध यह कि केशव में गए उपराग के कारण हरी हुई (हृत) दृष्टि से। स्खलित हो गई हूँ (गिर पड़ी हूँ) अर्थात् मेरा चरित्र खण्डित हो चुका है। पतिता अर्थात् मेरे प्रति भर्तृभाव। एक अर्थात् असाधारण सौभाग्यशाली तुम्हीं हो। क्यों कि सभी मदन से विधुर मन वाली अबलाओं के ईर्ष्या-कालुष्य का निरास-पूर्वक सेवा किए गए होते हुए (तुम) गति अर्थात् जीवितरक्षा का उपाय हो। इस प्रकार श्लेष अलङ्कार का विषय अवस्थापन करके ध्वनि का विषय कहते हैं—जहां—। पुष्पसमय रूप जो युग अर्थात् (वसन्त के) दो महीने उनका

ध्वन्यालोकः

सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वनेर्विषयः। यथा—

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः'।

यथा च—

उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम् ॥

आक्षिप्त होता हुआ अलङ्कारान्तर शब्दशक्ति से प्रकाशित होता है, वह सभी 'ध्वनि' का विषय है। जैसे—

'इस बीच, दो पुष्पसमयों (वसन्त के महीनों) को उपसंहार करता हुआ विकसित मल्लिकाओं के, अट्टालिकाओं को धवलित करने वाले हास से युक्त ग्रीष्म नाम का महाकाल जम्भाई लिया।'

और जैसे—

उन्नत, प्रोल्लसित होते हुए हार से (व्यङ्ग्य मेघ के पक्ष में प्रोल्लसित होती हुई धारा—जलधारा से) युक्त और कालागुरु की भांति मलिन, तन्वी के पयोधर भार (स्तनभार, व्यङ्ग्य मेघ अर्थ में मेघभार) ने किसको अभिलाषी (सकाम) नहीं बनाया ?

लोचनम्

मासद्वयं तदुपसंहरन्। धवलानि हृद्यान्यट्टान्यापणा येन तादृक् फुल्लमल्लिकानां हासो विकासः सितिमा यत्र। फुल्लमल्लिका एव धवलाट्टहासोऽस्येति तु व्याख्याने 'जलदभुजगजम्' इत्येतत्तुल्यमेतत्स्यात्। महांश्चासौ दिनदैर्घ्यदुरतिवाहतायोगात्कालः समयः। अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तयः, अत एव 'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इति न्यायमपाकुर्वन्तो महा-

उपसंहार करता हुआ। धवल अर्थात् हृद्य अट्ट अर्थात् आपण (अट्टालिकाएं) हैं जिससे, उस प्रकार का विकसित मल्लिकाओं (जूही के फूलों) का हास अर्थात् विकास (सितिमा) है जहाँ। 'विकसित मल्लिका ही हैं इसका धवल अट्टहास' यह व्याख्यान करने पर 'जलदभुजगजं०' के सदृश यह हो जायगा। दिनों के बड़े होने और दुरतिवाह होने के कारण महान् काल अर्थात् समय। यहाँ ऋतुवर्णन के प्रस्ताव के कारण अभिधाशक्ति के नियन्त्रित हो जाने से, इसी लिए 'अवयव-प्रसिद्धि से समुदाय-प्रसिद्धि बलवान् होती है' इस न्याय को निराकरण करते हुए 'महाकाल' प्रभृति शब्द इसी

लोचनम्

कालप्रभृतयः शब्दा एतमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात्।

अत्र केचिन्मन्यन्ते-'यत एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं दृष्टं ततस्तथाविधेऽर्थान्तरे दृष्टतदभिधाशक्तेरेव प्रतिपत्तुर्नियन्त्रिताभिधाशक्तिकेभ्य एतेभ्यः प्रतिपत्तिर्ध्वननव्यापारादेवेति शब्दशक्तिमूलत्वं व्यङ्ग्यत्वं चेत्यविरुद्धम्' इति।

अन्ये तु—'साभिधैव द्वितीया अर्थसामर्थ्यं ग्रीष्मस्य भीषणदेवताविशेषसादृश्यात्मकं सहकारित्वेन यतोऽवलम्बते ततो ध्वननव्यापाररूपोच्यते' इति।

एके तु—'शब्दश्लेषे तावद्भेदे सति शब्दस्य, अर्थश्लेषेऽपि शक्तिभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने द्वितीयः शब्दस्तत्रानीयते। स च कदाचिदभिधाव्यापारात् यथोभयोरुत्तरदानाय 'श्वेतो धावति' इति; प्रश्नोत्तरादौ वा तत्र वाच्यालङ्कारता। यत्र तु ध्वननव्यापारादेव शब्द आनीतः, तत्र शब्दान्तरबलादपि तदर्थान्तरं प्रतिपन्नं प्रतीयमानमूलत्वात्प्रतीयमानमेव युक्तम्' इति।

इतरे तु-'द्वितीयपक्षव्याख्याने यदर्थसामर्थ्यं तेन द्वितीयाभिधैव प्रतिप्रसू-

अर्थ का अभिधान करके कृतकृत्य ही हो जाते हैं। तत्पश्चात् अर्थ का ज्ञान शब्दशक्तिमूल ध्वननव्यापार से ही होता है।

यहां कुछ लोग मानते हैं—'जिस कारण इन शब्दों का पहले अर्थ में अभिधा देखी गई है, उस कारण उस प्रकार के अर्थान्तर में, उसी प्रतिपत्ता को, जिसने उनकी अभिधाशक्ति का दर्शन किया है, नियन्त्रित अभिधाशक्ति वाले इन (शब्दों) से ध्वनन व्यापार द्वारा ही ज्ञान होता है, इस प्रकार शब्दशक्तिमूलत्व और व्यङ्ग्यत्व दोनों ठीक हैं'।

दूसरे तो (मानते हैं)—'वह दूसरी अभिधा ही सहकारी रूप से ग्रीष्म के भीषण देवता विशेष रूपसादृश्यात्मक अर्थ सामर्थ्य को जिस कारण अवलम्बन करती है, उस कारण ध्वनन रूप कही जाती है'।

कुछेक लोग तो (मानते हैं)—'शब्दश्लेष में शब्द के भेद होने पर और अर्थश्लेष में भी 'शक्तिभेद से शब्द का भेद होता है' इस दर्शन (सिद्धान्त) के अनुसार दूसरा शब्द वहाँ लाया जाता है। वह (दूसरा शब्द) कभी अभिधा व्यापार से (लाया जाता है), जैसे—दोनों के उत्तर देने के लिये 'श्वेतो धावति' (कौन इधर दौड़ता है, और कैसा गुण वाला इधर दौड़ता है ? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर देने के लिए एक ही वाक्य का प्रयोग किया 'श्वेतो धावति' अर्थात् श्वा-कुत्ता-इधर दौड़ता है और उजला दौड़ता है)। अथवा प्रश्न और उत्तर आदि में (श्लेष) वाच्यालङ्कार हो जाता है। परन्तु, जहाँ ध्वनन व्यापार से ही शब्द लाया गया है, वहाँ शब्दान्तर के बल से भी प्रतिपन्न वह अर्थान्तर प्रतीयमानमूल होने के कारण प्रतीयमान ही ठीक है।'

इतर लोग तो (मानते हैं)—'दूसरे पक्ष के व्याख्यान में जो अर्थसामर्थ्य है

लोचनम्

यते, ततश्च द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत एव न ध्वन्यते, तदनन्तरं तु तस्य द्विती-यार्थस्य प्रतिपन्नस्य प्रथमार्थेन प्राकरणिकेन साकं या रूपणा सा तावद्भात्येव, न चान्यतः शब्दादिति सा ध्वननव्यापारात्। तत्राभिधाशक्तेः कस्याश्चिदप्य-नाशङ्कनीयत्वात्। तस्यां च द्वितीया शब्दशक्तिर्मूलम्। तया विना रूपणाया अनुत्थानात्। अत एवालङ्कारध्वनिरयमिति युक्तम्। वक्ष्यते च 'असम्बद्धार्था-भिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीत्' इत्यादि। पूर्वत्र तु सलेशपदेनैवासम्बद्धता निरा-कृता। 'येन ध्वस्त' इत्यत्रासम्बद्धता नैव भाति। 'तस्या विनापि' इत्यत्रा-पिशब्देन 'श्लाघ्या' इत्यत्राधिकशब्देन 'भ्रमिम्' इत्यादौ च रूपकेणासम्बद्धता

उससे दूसरी अभिधा ही प्रतिप्रसूत होती है, और तब दूसरा अर्थ अभिहित ही होता है, ध्वनित नहीं होता है। तत्पश्चात् प्रतिपन्न उस दूसरे अर्थ का पहले प्राकरणिक अर्थ के साथ जो रूपणा है वह प्रतीत होती ही है, वह अन्य शब्द से नहीं है, अतः वह ध्वनन व्यापार से (प्रतिपन्न) होती है। क्योंकि उसमें किसी भी अभिधाशक्ति की आशङ्का नहीं की जा सकती। उस (रूपणा) में दूसरी शब्दशक्ति मूल है, क्योंकि उसके बिना रूपणा का उत्थान नहीं होगा। इस लिए यह अलङ्कारध्वनि है यह ठीक है। और कहेंगे 'असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला होना प्रसक्त न हो' इत्यादि। पहले में तो 'सलेश' इस पद से ही (वाक्य की) असम्बद्धार्थता का निराकरण कर दिया है। 'येन ध्वस्त०' इस (पद्य) में असम्बद्धार्थता प्रतीत नहीं होती। 'तस्या विनापि०' इसमें 'अपि' शब्द से, 'श्लाघ्याशेष०' इसमें 'अधिक' शब्द से और—'भ्रमिम्०' इत्यादि में रूपक से असम्बद्धता का निराकरण कर दिया है, यह तात्पर्य[1] है। 'पयोभिः'

---

१. जहां एक शब्द से दो अर्थों का ज्ञान होता है वहां मुख्यतः 'श्लेष' अलङ्कार का प्रसंग होता है, किन्तु जब ध्वननव्यापार आदि सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर अलङ्कारान्तर शब्द-शक्ति से प्रकाशित होता है वह सभी शब्दशक्तिमूल ध्वनि का विषय होता है। इसके उदाहरण में आचार्य ने 'अत्रान्तरे०', 'प्रोल्लस०' और 'दत्तानन्दाः०' ये तीन उद्धरण दिए हैं। लोचनकार लिखते हैं कि प्रथम उदाहरण में यद्यपि दूसरा शिवरूप अर्थ रूढ है और ग्रीष्म के पक्ष का अर्थ यौगिक है, क्योंकि 'महान् चासौ कालः (समयः)' के अनुसार अर्थ किया गया है। और नियम यह है कि योग से रूढि बलीयसी होती है (योगाद् रूढिर्बलीयसी = अवयवशक्तेः समुदायशक्ति-र्बलीयसी), ऐसी स्थिति में मुख्यता दूसरे अर्थ को मिलनी चाहिए। किन्तु यहां ऋतुवर्णन का प्रसंग होने से अभिधाशक्ति का ग्रीष्म के पक्ष में ही नियमन हो जाता है और 'महाकाल' आदि शब्द इसी अर्थका अभिधान करके कृतकार्य हो जाते हैं। तत्पश्चात् दूसरे का ज्ञान ध्वनन व्यापार से ही होता है।

इस प्रसंग में लोचनकार ने जिन चार मतों की चर्चा की है उनका स्पष्टीकरण यह है—

प्रथम मत वालों का कहना है कि पहले ज्ञाता को अभिधाशक्ति से द्वितीय अर्थ का ग्रहण हुआ रहता है तभी वह प्रकरण के कारण अभिधाशक्ति के नियंत्रित हो जाने पर ध्वनन व्यापार से उस अर्थ का वह ज्ञान करता है। यदि पहले से उस द्वितीय अप्रस्तुत अर्थ में अभिधाशक्ति से वह अर्थ ज्ञाता को विदित नहीं हुआ होता तो उसे प्रस्तुत में द्वितीय अर्थ का भान ही नहीं हो सकता, इसी-

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥

अथवा, जैसे—

समुचित समय (सूर्यकिरणों के पक्ष में ग्रीष्म काल और गौओं के पक्ष में दोहन से पूर्वकाल) में आकृष्ट (समुद्र से खींचे हुए, दूसरे पक्ष में अयन में चढ़ाए हुए) और अर्पित जल (पक्षान्तर में दूध) के द्वारा प्रजाओं को आनन्द देने वाली, दिन के आरम्भ में फैली हुई (पक्षान्तर में चरने के लिए चारों ओर फैली हुई) और दिन के विराम लेने के समय (अर्थात् सन्ध्याकाल में) एकत्र हो जाने वाली (सूर्य की किरणें सन्ध्या काल में सिमट जाती हैं और गायें बाहर से चर कर एक जगह आ जाती हैं), प्रबल दुःख के कारणभूत संसार के भय रूप समुद्र के पार उतारने में नौका रूप, पवित्र पदार्थों से श्रेष्ठ, सूर्य की किरणें (गौओं के समान) आप लोगों के अपरिमित आनन्द उत्पन्न करें।

लोचनम्

निराकृतेति तात्पर्यम्। *पयोभिरिति* पानीयैः क्षीरैश्च। *संहारो* ध्वंसः, एकत्र ढौकनं च। *गावो* रश्मयः सुरभयश्च।

अर्थात् पानी, और क्षीर। संहार अर्थात् ध्वंस, एक जगह जुट जाना। गौ अर्थात् (सूर्य की) किरणें और सुरभि (गाय)।

लिए वह शब्दशक्तिमूल या अभिधासहकृत ध्वनि कहा जाता है। शब्दशक्ति या अभिधा उसके मूल में रहती है और व्यञ्जना व्यापार से वह ध्वन्यर्थ विदित होता है अतः उसे 'शब्दशक्तिमूल ध्वनि' कहते हैं।

दूसरे मत वाले लोग कहते हैं कि ग्रीष्म का भीषण देवता विशेष के साथ सादृश्य रूप अर्थ-सामर्थ्य के सहकारी होने के कारण दूसरी अभिधा शक्ति को ही ध्वनन व्यापार रूप कहते हैं।

दूसरे मत वालों का कहना है कि जब भी किसी शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है, वह अभिधा शक्ति से ही होती है। जैसे शब्दश्लेष या सभङ्गश्लेष में ('सर्वदोमाधवः') दोनों अर्थों के लिए दो प्रकार के शब्द हैं, उसी प्रकार अर्थश्लेष या अभङ्गश्लेष में भी 'शक्तिभेदात् शब्दभेदः' के अनुसार द्वितीय शब्द वहां लाया जाता है तब उसका द्वितीय अर्थ अभिधाशक्ति से बोध करते हैं। 'श्वेतो धावति' जैसे प्रश्नोत्तर के प्रसंग में भी द्वितीय शब्द की अभिधाव्यापार से उपस्थिति होती है। किन्तु जहां प्रकरण के कारण ध्वनन व्यापार से द्वितीय शब्द की उपस्थिति होती है और तब अभिधा से अर्थ का बोध होता है वहां यद्यपि शब्दान्तर के बल से उसका अर्थान्तर ज्ञात होता है, तथापि उस अर्थान्तर को प्रतीयमानमूल होने के कारण प्रतीयमान ही कहते हैं। इस प्रकार जहाँ

ध्वन्यालोकः

एषूदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यप्राकरणिकप्राकरणिकार्थयोरुपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः सामर्थ्यादित्यर्थाक्षिप्तोऽयं श्लेषो न शब्दोपारूढ इति विभिन्न एव श्लेषादनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य

इन उदाहरणों में अप्राकरणिक अर्थान्तर के शब्दशक्ति द्वारा प्रकाशित होने पर यह बात न प्रसक्त हो कि 'वाक्य असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला है' इसलिए अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थ के उपमानोपमेय भाव की कल्पना करनी चाहिए। 'सामर्थ्य के कारण इस प्रकार यह श्लेष आक्षिप्त रूप में उपस्थित होता है, न कि शब्दनिष्ठ होता है, इसलिए श्लेष से अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय अलग ही

लोचनम्

असम्बद्धार्थाभिधायित्वमिति। असंवेद्यमानमेवेत्यर्थः। उपमानोपमेयभाव इति। तेनोपमारूपेण व्यतिरेचननिह्नवादयो व्यापारमात्ररूपा एवात्रास्वादप्रतीतेः प्रधानं विश्रान्तिस्थानं, न तूपमेयादीति सर्वत्रालङ्कारध्वनौ मन्तव्यम्। सामर्थ्यादिति। ध्वननव्यापारादित्यर्थः।

असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला होना—। अर्थात् जो संवेद्यमान ही नहीं। उपमानोपमेयभाव[1]—। उस उपमा रूप से व्यापारमात्र रूप ही व्यतिरेचन, निह्नव आदि आस्वादप्रतीति के प्रधान विश्रान्तिस्थान हैं, न कि उपमेय आदि। यह सब अलङ्कारध्वनि में मानना चाहिए। सामर्थ्यवश—। अर्थात् ध्वननव्यापार से।

अभिधाव्यापार से द्वितीयशब्द की उपस्थिति होती है वह श्लेष आदि का विषय है, और जहां ध्वनन व्यापार से होती है वहां शब्दशक्तिमूल ध्वनि है।

तीसरे मतबाले कहते हैं कि द्वितीय अर्थ का बोध सादृश्यादि अर्थसामर्थ्य के कारण (प्रतिप्रसूत) पुनः उत्पन्न द्वितीय अभिधाशक्ति से ही होता है, अतः वह अभिहित ही होता है, न कि ध्वनित। तब दोनों प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों का परस्पर अभेद या उपमानोपमेय भाव प्रतीत होता है वह ध्वनन व्यापार का विषय है। वहां किसी अभिधाशक्ति की प्रवृत्ति सम्भव नहीं। दूसरी शब्दशक्ति के उस उपमानोपमेयभाव या रूपणा (परस्पर अभेद) में मूल होने के कारण वह शब्दशक्तिमूल ध्वनि का विषय है।

आलङ्कारिकों ने सर्वथा शब्दशक्तिमूल ध्वनि को स्वीकार किया है। द्वितीय अप्राकरणिक अर्थ में व्यञ्जना व्यापार की ही प्रवृत्ति उन्हें मान्य है। जहां तक उपमेयोपमान भाव आदि के व्यङ्ग्य होने की बात है और उसके आधार पर 'शब्दशक्तिमूल ध्वनि' की कल्पना है, वह तो निःसन्देह ठीक है, किन्तु द्वितीय अप्राकरणिक अर्थ को लेकर उसे अभिधाशक्ति का विषय न मानकर व्यञ्जना का विषय मानना और शब्दशक्तिमूल ध्वनि की कल्पना करना विवादास्पद है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक श्री कान्तानाथशास्त्री तेलङ्ग ने 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में शब्दशक्तिमूल ध्वनि का जोरदार खण्डन किया है।

१. उपमानोपमेयभाव' उपलक्षण है, अतः रूपणा आदि भी इस प्रकार व्यञ्जित होते हैं। 'उपमा' को कल्पनीय न कह कर यहां 'उपमानोपमेय भाव' आदि को कल्पनीय कहने का अभिप्राय

ध्वन्यालोकः

ध्वनेर्विषयः। अन्येऽपि चालङ्काराः शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ सम्भवन्त्येव। तथा हि विरोधोऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो दृश्यते। यथा स्थाण्वीश्वराख्यजनपदवर्णने भट्टबाणस्य—

'यत्र च मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च गौर्यो विभवरताश्च श्यामाः पद्मरागिण्यश्च धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदिश्वसनाश्च प्रमदाः'।

है। और भी अन्य अलङ्कार शब्दशक्तिमूल-अनुस्वानरूप-व्यङ्ग्य ध्वनि में हो सकते ही हैं। जैसा कि विरोध भी शब्दशक्तिमूल-अनुस्वानरूप देखा जाता है। जैसे, 'स्थाण्वीश्वर' नाम के जनपद के वर्णन में भट्टबाण का—

'जहां गज की चाल चलने वाली और शीलवती ('मातङ्ग' अर्थात् चाण्डाल, मातङ्गगामिनी अर्थात् चाण्डाल का गमन करने वाली और शीलवती यह विरोध है, 'गजगामिनी' इस अर्थ से उस विरोध का परिहार हो जाता है), गौरवर्ण और विभव में रत अर्थात ऐश्वर्यसम्पन्न (विरोध यह कि जो गौरी अर्थात् पार्वती है वह विभव अर्थात् शिव-भिन्न में रत अर्थात् अनुरागयुक्त कैसे होगी), श्यामा (जवान) और पद्मराग वाली (श्याम वर्ण और कमल के समान राग वाली यह विरोध है), निर्मल द्विजों अर्थात् दांतों से युक्त पवित्र मुख वाली (विरोध में निर्मल द्विजों अर्थात् ब्राह्मणों के समान पवित्र मुख वाली) और मदिरा की गन्ध से युक्त श्वास वाली (विरोध यह कि जो निर्मल ब्राह्मण के समान पवित्र मुख वाली है वह मदिरा की गन्ध से युक्त श्वास वाली कैसे है?) स्त्रियां हैं।

लोचनम्

मातङ्गेति। मातङ्गवद्गच्छन्ति तान् शबरांश्च गच्छन्तीति विरोधः। विभवेषु रताः विगतमहादेवे स्थाने च रताः। पद्मरागरत्नयुक्ताः पद्मसदृशलौहित्ययुक्ताश्च। धवलैर्द्विजैर्दन्तैः शुचि निर्मलं वदनं यासां धवलद्विजवदुत्कृष्टविप्र-

मातङ्ग—। मातङ्ग के समान गमन करती हैं और उन शबरों अर्थात् चाण्डालों का गमन करती हैं यह विरोध है। विभवों में रत और विगतमहादेव स्थान में रत। पद्मरागरत्न से युक्त और पद्म के सदृश लौहित्य से युक्त। धवल द्विज अर्थात् दांतों से शुचि अर्थात् निर्मल मुख है जिनका और धवल द्विज के समान अर्थात् उत्कृष्ट विप्र के

यह है कि दोनों अर्थों को वहां व्यापार रूप उपमेयभाव ही आस्वादप्रतीति के प्रधान विश्रान्तिस्थान हैं, न कि उपमेय आदि हैं जैसा कि 'उपमा' में उपमेय आस्वाद प्रतीति का विश्रान्ति स्थान होता है। उपमा के रूप में व्यतिरेचन (जो 'व्यतिरेक' अलङ्कार में व्यापार है) और निह्नव (जो 'अपह्नुति अलङ्कार में व्यापार है) आदि भी आस्वादप्रतीति के चरम विश्रान्ति स्थान हैं। अलङ्कारध्वनि में सर्वत्र यही प्रकार है।

ध्वन्यालोकः

अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषोऽयमिति न शक्यं वक्तुम्। साक्षाच्छब्देन विरोधालङ्कारस्याप्रकाशितत्वात्। यत्र हि साक्षाच्छब्दावेदितो विरोधालङ्कारस्तत्र हि श्लिष्टोक्तौ वाच्यालङ्कारस्य विरोधस्य श्लेषस्य वा विषयत्वम्। यथा तत्रैव—

'समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्। तथाहि—सन्निहितबालान्धकारापि भास्वन्मूर्तिः' इत्यादौ।

यहाँ विरोध वाच्य है और अथवा यह श्लेष उसकी छाया का अनुग्राहक है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि साक्षात् शब्द द्वारा विरोध-अलङ्कार प्रकाशित नहीं है। जहां विरोध-अलङ्कार साक्षात् शब्द से आवेदित होता है, वहां श्लिष्ट उक्ति में वाच्यालङ्कार विरोध अथवा श्लेष का विषय होता है। जैसे, वहीं पर—

'विरोधी पदार्थों के समवाय की भांति, जैसे कि सन्निहित है बाल रूप अन्धकार जिसके ऐसी सूर्य की मूर्ति (यह विरोध हुआ) अन्धकार रूप काले बालों से युक्त भी चमकती हुई मूर्तिवाले थे।'

लोचनम्

वच्छुचि वदनं च यासाम्। *यत्र हीति*। यस्यां श्लेषोक्तौ काव्यरूपायां, तत्र यो विरोधः श्लेषो वेति सङ्करः तस्य विषयत्वम्। स विषयो भवतीत्यर्थः। कस्य? *वाच्यालङ्कारस्य* वाच्यालङ्कृतेः वाच्यालङ्कृतित्वस्येत्यर्थः। तत्रैव विरोधे श्लेषे वा वाच्यालङ्कारत्वं सुतरामिति यावत्। वालेषु केशेष्वन्धकारः कार्ष्ण्यं, बालः प्रत्यग्रश्चान्धकारस्तमः।

ननु मातङ्गेत्यादावपि धर्मद्वये यश्चकारः स विरोधद्योतक एव। अन्यथा प्रतिधर्मं सर्वधर्मान्ते वा न क्वचिद्वा चकारः स्यात् यदि समुच्चयार्थः स्यादित्यभिप्रायेणोदाहरणान्तरमाह—*यथेति*। शरणं गृहमक्षयरूपमगृहं कथम्। यो न

समान शुचि मुख है जिनका। जिस काव्यरूप श्लेषोक्ति में, वहाँ विरोध अथवा श्लेष का सङ्कर है उसका विषय है, अर्थात् वह विषय होता है। किसका? वाच्यालङ्कार का अर्थात् वाच्यालङ्कृति का, वाच्यालङ्कृतित्व का। वहीं विरोध में अथवा श्लेष में वाच्यालङ्कारत्व सुतरां कहा जा सकता है। बालों अर्थात् केशों के कारण अन्धकार अर्थात् कृष्णिमा और प्रत्यग्र अन्धकार अर्थात् तमस्।

मातङ्ग०—। इत्यादि स्थल में भी जो दो धर्मों में 'और' (चकार) है वह विरोध का द्योतक ही है, यदि ऐसा नहीं तो प्रति धर्म में अथवा सभी धर्मों के अन्त में अथवा कहीं भी 'और' (चकार) नहीं होता, यदि समुच्चय के अर्थ में होता, इस अभिप्राय से दूसरा उदाहरण कहते हैं—जैसे—। शरण अर्थात् गृह अक्षय रूप अगृह कैसे? जो धीश (बुद्धियों का स्वामी) नहीं, वह बुद्धियों का स्वामी (धियामीश) कैसे? जो हरि

ध्वन्यालोकः

यथा वा ममैव—

सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम्।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम्॥

अत्र हि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो विरोधः स्फुटमेव प्रतीयते। एवंविधो व्यतिरेकोऽपि दृश्यते। यथा ममैव—

खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिनो
ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये।
ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-

अथवा जैसे, मेरा ही—

सब का एक मात्र शरण, अविनाशी ('शरण' और 'क्षय' दोनों गृहवाची हैं, अतः विरोध यह है कि जो सबका एक मात्र शरण अर्थात् गृह है वह क्षय अर्थात् गृह से रहित कैसे है?), अधीश, बुद्धियों के ईश (विरोध यह है कि जो बुद्धियों के ईश अर्थात् धीश है वह अधीश अर्थात् बुद्धियों के ईश अर्थात् स्वामी नहीं कैसे हैं?) हरि (विष्णु) कृष्ण (विरोध यह है जो हरि अर्थात् हरित वर्ण के हैं वह कृष्ण वर्ण के कैसे हैं?) सर्वज्ञस्वरूप, निष्क्रिय (चतुरात्मा अर्थात् पराक्रमयुक्त हैं और निष्क्रिय कैसे हैं? यह विरोध है) और अरियों के मथन करने वाले, चक्रधारी (विरोध यह जो अर वालों अर्थात् चक्रवालों का मथन करने वाले हैं वह चक्रधारी कैसे हैं?) हैं।

यहां शब्दशक्तिमूल अनुस्वान रूप विरोध स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इस प्रकार का 'व्यतिरेक' (अलङ्कार) भी देखा जाता है। जैसे मेरा ही—

(सूर्य के) जो अन्धकार का नाश करने वाले (किरणरूप) पाद आकाश को उज्ज्वल करते हैं और जो (चरणरूप) पादनखों से शोभित (व्यतिरेक यह कि आकाश को उद्भासित या उज्ज्वल नहीं करते हैं), जो (किरणरूप पाद) कमलों की शोभा बढ़ाते हैं और जो (चरणरूप पाद) कमलों की शोभा को तिरस्कृत करते हैं, जो (किरणरूप पाद) क्षितिभृत् अर्थात् (पर्वतों के शिखरों पर आक्रमण

लोचनम्

धीशः स कथं धियामीशः। यो हरिः कपिलः स कथं कृष्णः। चतुरः पराक्रमयुक्तो यस्यात्मा स कथं निष्क्रियः। अरीणामरयुक्तानां यो नाशयिता स कथं चक्रं बहुमानेन धारयति। *विरोध* इति। विरोधनमित्यर्थः। *प्रतीयत* इति।

अर्थात् कपिल है वह कृष्ण कैसे? चतुर अर्थात् पराक्रमयुक्त जिसकी आत्मा है वह निष्क्रिय कैसे है? अरियों अर्थात् अर (चक्र)—युक्तों का जो नाश करने वाला है वह कैसे चक्र को बहुमानपूर्वक धारण करता है? विरोध अर्थात् विरोधन। प्रतीत होता है—। भाव यह कि कोई स्पष्ट नहीं कहता है। नखों से उद्भासित हैं, जो ख अर्थात्

ध्वन्यालोकः

स्याक्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रिये सन्तु वः ॥

एवमन्येऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रकाराः सन्ति ते सहृदयैः स्वयमनुसर्तव्याः । इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न तत्प्रपञ्चः कृतः ।

अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते ।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद्व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥ २२ ॥

यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादर्थान्तरमभिव्यनक्ति शब्दव्यापारं विनैव सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानोपमव्यङ्ग्यो ध्वनिः ।

करते हैं अथवा) राजाओं के सिर पर अवभासित होते हैं और जो (चरणरूप पाद देवताओं के भी शिरों पर आक्रमण करते हैं, इस प्रकार सूर्य के दोनों पाद (किरणरूप और चरणरूप) आप लोगों का कल्याण करें ।

इस प्रकार शब्दशक्तिमूल अनुस्वानरूपव्यङ्ग्य ध्वनि के दूसरे भी प्रकार हैं, उन्हें सहृदय लोग स्वयं अनुसरण करें । यहां ग्रन्थ के विस्तार के भय से उनका प्रपञ्च नहीं किया है ।

अर्थशक्त्युद्भव अन्य (ध्वनि) है, जहां वह अर्थ प्रकाशित होता है जो उक्ति के बिना तात्पर्य रूप से स्वतः अन्य वस्तु को प्रकाशित करता है ॥ २२ ॥

जहां अर्थ शब्द व्यापार के बिना ही अपने सामर्थ्य से अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है, वह 'अर्थशक्त्युद्भव' नाम का अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य ध्वनि है । जैसे—

लोचनम्

स्फुटं नोच्यते केनचिदिति भावः । नखैरुद्भासन्ते येऽवश्यं खे गगने न उद्भासन्ते । उभये रश्म्यात्मानोऽङ्गुलीपार्ष्ण्याद्यवयविरूपाश्चेत्यर्थः ॥ २१ ॥

एवं शब्दशक्त्युद्भवं ध्वनिमुक्त्वार्थशक्त्युद्भवं दर्शयति—*अर्थेति* । अन्य इति शब्दशक्त्युद्भवात् । स्वतस्तात्पर्येणेत्यभिधाव्यापारनिराकरणपरमिदं पदं ध्वननव्यापारमाह न तु तात्पर्यशक्तिम् । सा हि वाच्यार्थप्रतीतावेवोपक्षीणेत्युक्तं प्राक् । अनेनैवाशयेन वृत्तौ व्याचष्टे—*यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादिति* । स्वत इति

आकाश में उद्भासित नहीं हैं । दोनों (पाद) अर्थात् किरणरूप और अङ्गुलि, पार्ष्णि आदि अवयवों वाले ॥ २१ ॥

इस प्रकार शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि को कह कर अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि को दर्शाते हैं—अर्थ०— । अन्य अर्थात् शब्दशक्त्युद्भव से (अन्य) । 'स्वतः तात्पर्यरूप से' इस अभिधाव्यापार के निराकरण में तात्पर्य वाला यह पद ध्वननव्यापार को कहता है न कि तात्पर्यशक्ति को । क्योंकि वह (तात्पर्यशक्ति) वाच्यार्थ की प्रतीति में ही उपक्षीण हो जाती है, यह पहले कह चुके हैं । इसी अभिप्राय से वृत्ति में व्याख्यान करते हैं—जहां अर्थ अपनी सामर्थ्य से— । 'स्वतः' इस शब्द की 'अपनी' ('स्व') शब्द से

ध्वन्यालोकः

यथा—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास केवलम् ॥

अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति । न चायमलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेर्विषयः । यतो यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभा-वानुभावव्यभिचारिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः, स तस्य केवलस्य मार्गः । यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगम-

इस प्रकार देवर्षि (मण्डल) कह रहे थे और पिता की बगल में (बैठी) नीचे मुंह किए पार्वती लीलाकमल के पत्तों की गणना करने लगी ।

यहां लीला कमल के पत्तों का गगन (यह अर्थ) अपने स्वरूप को गुणीभूत करने शब्दव्यापार के बिना ही व्यभिचारी भाव रूप अर्थान्तर को प्रकाशित करता है । गह अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही ध्वनि का विषय नहीं है । क्यों कि जहां साक्षात् शब्द द्वारा निवेदित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से रस आदि की प्रतीति होती है वह केवल उसका मार्ग है । जैसे 'कुमारसम्भव' में वसन्त के फूलों का आभरण धारण किए देवी (पार्वती) का आगमन आदि वर्णन और कामदेव के शर-सन्धान

लोचनम्

शब्दः स्वशब्देन व्याख्यातः । उक्तिं विनेति व्याचष्टे—*शब्दव्यापारं विनैवेति* । उदाहरति—*यथा एवमिति* । अर्थान्तरमिति लज्जात्मकम् । साक्षादिति । व्यभि-चारिणां यत्रालक्ष्यक्रमतया व्यवधिवन्ध्यैव प्रतिपत्तिः स्वविभावादिबलात्तत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितत्वं विवक्षितमिति न पूर्वापरविरोधः । पूर्वं ह्युक्तं व्यभि-चारिणामपि भावत्वान्न स्वशब्दतः प्रतिपत्तिरित्यादि विस्तरतः । एतदुक्तं भवति—यद्यपि रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव भवति न वाच्यः कदाचिदपि,

व्याख्या की है । 'उक्ति के बिना' इसकी व्याख्या करते हैं—शब्दव्यापार के बिना ही—। उदाहरण देते हैं—जैसे, इस प्रकार०—। अर्थान्तर लज्जारूप अर्थान्तर । साक्षात्—। व्यभिचारी भावों की जहां अलक्ष्यक्रम रूप से व्यवधानरहित ही प्रतीति अपने विभाव के बल से होती है वहाँ साक्षात् शब्द द्वारा निवेदितत्व विवक्षित है अतः पूर्वापरविरोध नहीं है । क्यों कि पहले विस्तार से कहा है कि व्यभिचारी भावों की भी भाव होने के कारण स्वशब्द से प्रतीति नहीं होती है, इत्यादि । यह कहा गया—यद्यपि रस, भाव आदि अर्थ ध्वन्यमान ही होता है, कभी भी वाच्य नहीं होता है, तथापि

ध्वन्यालोकः

नादिवर्णनं मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्च परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णनादि साक्षाच्छब्दनिवेदितम्। इह तु सामर्थ्याक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः। तस्मादयमन्यो ध्वनेः प्रकारः।

पर्यन्त समाप्त धैर्य वाले शङ्कर के चेष्टा विशेष के वर्णन आदि साक्षात् शब्द द्वारा निवेदन किया है। यहाँ सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यभिचारी के द्वारा रस की प्रतीति होती है। इस लिए यह ध्वनि का अन्य प्रकार है।

लोचनम्

तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः। यत्र हि विभावानुभावेभ्यः स्थायिगतेभ्यो व्यभिचारिगतेभ्यश्च पूर्णेभ्यो झटित्येव रसव्यक्तिस्तत्रास्त्वलक्ष्यक्रमः। यथा—

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं सन्धुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन।
अनुप्रयाता वनदेवताभिरदृश्यत स्थावरराजकन्या॥

इत्यादौ सम्पूर्णालम्बनोद्दीपनविभावतायोग्यस्वभाववर्णनम्।

प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च।
संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम्॥

इत्यनेन विभावतोपयोग उक्तः।

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥

अत्र हि भगवत्याः प्रथममेव तत्प्रवणत्वात्तस्य चेदानीं तदुन्मुखीभूतत्वात

सब (रस, भावादि) अलक्ष्यक्रम का विषय नहीं होता है। जहाँ स्थायिगत और व्यभिचारिगत पूर्ण विभावों और अनुभावों से झटिति रस की अभिव्यक्ति हो जाती है वहाँ अलक्ष्यक्रम होता है। जैसे—

'तदनन्तर इनके (शिव जी) के निर्वाण-प्रधान वीर्य को अपने शरीर के गुण से मानों विनष्ट करती हुई, वनदेवताओं द्वारा अनुसरण की जाती हुई, स्थावरराज (हिमालय) की कन्या (पार्वती) दिखाई पड़ी।'

इत्यादि में सम्पूर्ण आलम्बन-उद्दीपन विभाव रूप के योग्य स्वभाव का वर्णन है।

'अपने भक्त के प्रेमी होने के कारण त्रिलोचन (शिव जी) ने उस (माला) को ग्रहण करने के लिए उपक्रम किया और पुष्पों के धनुषवाले कामदेव ने संमोहन नाम का अमोघ बाण धनुष पर रखा।'

इसके द्वारा विभाव रूप का उपयोग कहा।

'चन्द्रोदय के आरम्भ में समुद्र की भाँति कुछ विचलित धैर्य वाले शिवजी ने बिम्बफल की भाँति अधरोष्ठ वाले पार्वती के मुख में अपने नेत्रों को व्यापारित किया।'

यहाँ भगवती (पार्वती) के पहले से ही शिव में आसक्त होने के कारण और अब

ध्वन्यालोकः

यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेर्विषयः। यथा—

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।

और जहाँ शब्दव्यापार की सहायता से अर्थ अर्थान्तर के व्यञ्जक रूप से उपादान किया जाता है वह इस ध्वनि का विषय नहीं है। जैसे—

विदग्धा (नायिका) ने यह जान कर कि विट संकेत (के स्थान पर पहुँचने का)

लोचनम्

प्रणयिप्रियतया च पक्षपातस्य सूचितस्य गाढीभावाद्रत्यात्मनः स्थायिभावस्यौत्सुक्यावेगचापल्यहर्षादेश्च व्यभिचारिणः साधारणीभूतोऽनुभाववर्गः प्रकाशित इति विभावानुभावचर्वणैव व्यभिचारिचर्वणायां पर्यवस्यति। व्यभिचारिणां पारतन्त्र्यादेव स्रक्सूत्रकल्पस्थायिचर्वणाविश्रान्तेरलक्ष्यक्रमत्वम्। इह तु पद्मदलगणनमधोमुखत्वं चान्यथापि कुमारीणां सम्भाव्यत इति झटिति न लज्जायां विश्रमयति हृदयं, अपि तु प्राग्वृत्ततपश्चर्यादिवृत्तान्तानुस्मरणेन तत्र प्रतिपत्तिं करोतीति क्रमव्यङ्ग्यतैव। रसस्त्वत्रापि दूरत एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने भातीति तदपेक्षयाऽलक्ष्यक्रमतैव। लज्जापेक्षया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्। अमुमेव भावमेवंशब्दः केवलशब्दश्च सूचयति।

'उक्तिं विने'ति यदुक्तं तद्व्यवच्छेद्यं दर्शयितुमुपक्रमते—*यत्र चेति*। चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे। *अस्येति*। अलक्ष्यक्रमस्तु तत्रापि स्यादेवेति भावः। उदाहरति—*सङ्केतेति*।

उन (शिवजी) के इन (पार्वती) के प्रति उन्मुख होने के कारण और भक्त के प्रेमी होने के कारण सूचित पक्षपात के गाढ़ होने से रति रूप स्थायी भाव का और औत्सुक्य, वेग, चापल्य, हर्ष आदि व्यभिचारी का साधारणीभूत अनुभाव वर्ग को प्रकाशित किया है, इस प्रकार विभाव-अनुभाव की चर्वणा ही व्यभिचारी की चर्वणा में पर्यवसित होती है। व्यभिचारी भावों के परतन्त्र होने के कारण ही माला के सूत्र के समान स्थायी की चर्वणा में विश्रान्ति होने से अलक्ष्यक्रमत्व है। परन्तु यहाँ कमल के पत्तों को गिनना और नीचे मुख करना कुमारियों के अन्यथा भी सम्भव हैं, इस प्रकार झटिति हृदय को लज्जा में विश्राम नहीं मिलता है, अपितु (हृदय) पहले सम्पन्न हुए तपश्चर्या आदि वृत्तान्त के अनुस्मरण से उस (लज्जा) में प्रतिपत्ति करता है, इस प्रकार क्रमव्यङ्ग्यता ही है। किन्तु रस यहाँ भी दूर पर व्यभिचारी के स्वरूप के पर्यालोचन करने पर प्रतीत होता है, इस लिए उसकी अपेक्षा से अलक्ष्यक्रमत्व ही है। लज्जा की अपेक्षा से लक्ष्यक्रमत्व है। इसी भाव को 'इस प्रकार' और 'केवल' शब्द सूचित करते हैं।

'उक्ति के बिना' यह जो कहा है उसका व्यवच्छेद्य दिखाने के लिए उपक्रम करते हैं—और जहां—। 'और' शब्द 'परन्तु' शब्द के अर्थ में है। इस (ध्वनि) का—। भाव यह कि अलक्ष्यक्रम तो वहाँ पर भी होगा ही। उदाहरण देते हैं—सङ्केत०—।

ध्वन्यालोकः

हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥

अत्र लीलाकमलनिमीलनस्य व्यञ्जकत्वमुक्त्यैव निवेदितम् ।

तथा च—

शब्दार्थशक्त्या क्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः ।

समय जानना चाहता है, हँसते हुए नेत्र द्वारा अभिप्राय प्रकट करते हुए (अपने हाथ में स्थित) लीलाकमल को निमीलित कर दिया।

यहाँ लीलाकमल के निमीलन का व्यञ्जकत्व उक्ति द्वारा ही निवेदन किया गया है।

और उस प्रकार—

शब्दार्थ की शक्ति से आक्षिप्त भी व्यङ्ग्य अर्थ जहाँ कवि के द्वारा पुनः अपनी उक्ति से आविष्कृत किया जाता है, वह ध्वनि का अन्य ही अलङ्कार है!

लोचनम्

व्यञ्जकत्वमिति। प्रदोषसमयं प्रतीति शेषः। *उक्त्यैवेति*। आद्यपादत्रयेणे त्यर्थः। यद्यपि चात्र शब्दान्तरसन्निधानेऽपि प्रदोषार्थं प्रति न कस्यचिद भिधाशक्तिः पदस्येति व्यञ्जकत्वं न विघटितं, तथापि शब्देनैवोक्तमयमर्थोऽर्था न्तरस्य व्यञ्जक इति। ततश्च ध्वनेर्यद्गोप्यमानतोदितचारुत्वात्मकं प्राणितं तदपहस्तितम्। यथा कश्चिदाह—'गम्भीरोऽहं न मे कृत्यं कोऽपि वेद न सूचितम्। किञ्चिद् ब्रवीमि' इति। तेन गाम्भीर्यसूचनार्थः प्रत्युत आविष्कृत एव। अत एवाह—*व्यञ्जकत्वमिति उक्त्यैवेति* च ॥ २२ ॥

प्रक्रान्तप्रकारद्वयोपसंहारं तृतीयप्रकारसूचनं चैकेनैव यत्नेन करोमीत्याशयेन साधारणमवतरणपदं प्रक्षिपति वृत्तिकृत्—*तथा चेति*। तेन चोक्तप्रकार-

व्यञ्जकत्व—। प्रदोषसमय अर्थात् सन्ध्याकाल के प्रति व्यञ्जकत्व। उक्तिद्वारा ही—। अर्थात् पहले के तीनों पादों से। यद्यपि यहाँ शब्दान्तर के सन्निधान होने पर भी किसी पद का 'प्रदोष' (या सन्ध्याकाल) इस अथ के प्रति अभिधाशक्ति नहीं है, इस कारण व्यञ्जकत्व विघटित नहीं होता है तथापि 'यह अर्थ अर्थान्तर का व्यञ्जक है' यह बात शब्द से ही कही गई है। इस कारण ध्वनि का जो 'गोप्यमानता से उत्पन्न चारुत्वरूप प्राण है, उसका निराकरण कर दिया है। जैसा कि कोई कहता है—'मैं गम्भीर हूँ, बिना बताए मेरा काम कोई भी नहीं जानता, (इस लिए) कुछ कहता हूँ'। इस (कथन) से गाम्भीर्य-सूचन का अर्थ प्रत्युत प्रकट कर दिया है। इसी लिए कहा है—'व्यञ्जकत्व' और 'उक्ति से ही'।

प्रक्रान्त दोनों प्रकारों का उपसंहार और तीसरे प्रकार का सूचन एक ही यत्न से करता हूँ, इस आशय से वृत्तिकार साधारण अवतरण पद को देते हैं—और उस प्रकार—। अर्थात् उन उक्त दोनों प्रकारों (शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल ध्वनि) के

ध्वन्यालोकः

यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः ॥ २३ ॥

शब्दशक्त्यार्थशक्त्या शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनर्यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्याद्-ध्वनेरन्य एवालङ्कारः। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादृगन्योऽलङ्कारः।

तत्र शब्दशक्त्या यथा—

वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं सन्त्यजोर्ध्वप्रवृत्तं
कम्पः को वा गुरुस्ते भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि।

शब्दशक्ति, अर्थशक्ति अथवा शब्दार्थशक्ति से आक्षिप्त भी व्यङ्ग्य अर्थ कवि के द्वारा पुनः जहाँ अपनी उक्ति से प्रकाशित किया जाता है वह इस अनुस्वानोपम-व्यङ्ग्य ध्वनि से अन्य ही अलङ्कार है। अथवा अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के सम्भव हाने पर वह उस प्रकार का अन्य अलङ्कार है।

उनमें शब्दशक्ति से, जैसे—

वत्से, विषाद मत अनुभव कर (विषाद अर्थात् विष भक्षण करने वाले शिव के पास न जा), वेग से ऊपर की दीर्घ श्वास न ले (वायु और अग्नि को छोड़), अधिक कम्पित क्यों है ? (जलपति वरुण अथवा ब्रह्मा तेरे गुरु हैं) बल तोड़ देने वाले जृम्भित को रोक (ऐश्वर्य-मदमत्त इन्द्र को जाने दे), इस प्रकार भय-शमन के

लोचनम्

द्वयेनायमपि तृतीयः प्रकारो मन्तव्य इत्यर्थः। शब्दश्चार्थश्च शब्दार्थौ चेत्येकशेषः। *सान्यैवेति*। न ध्वनिरसौ, अपि तु श्लेषादिरलङ्कार इत्यर्थः। अथवा ध्वनिशब्देनालक्ष्यक्रमः तस्यालङ्कार्यस्याङ्गिनः स व्यङ्ग्योऽर्थोऽन्यो वाच्यमात्रालङ्कारापेक्षया द्वितीयो लोकोत्तरश्चालङ्कार इत्यर्थः। एवमेव वृत्तौ द्विधा व्याख्यास्यति। विषमत्तीति *विषादः*। *ऊर्ध्वप्रवृत्तमग्निमित्यत्र* चार्थो मन्तव्यः। *कम्पोऽपाम्पतिः* को ब्रह्मा वा तव *गुरुः*। *बलभिदा* इन्द्रेण *जृम्भितेन* ऐश्वर्यमदमत्तेनेत्यर्थः।

साथ यह तीसरा प्रकार भी मानना चाहिए। शब्द, अर्थ, और शब्दार्थ, यह 'एकशेष' है। वह अन्य ही—। अर्थात् वह ध्वनि नहीं है, अपितु श्लेष आदि अलङ्कार है। अथवा, ध्वनि शब्द से अलक्ष्यक्रम (उक्त) है, उस अलङ्कार्य का वह व्यङ्ग्य अर्थ अन्य अर्थात् वाच्य अलङ्कार की अपेक्षा दूसरा वह लोकोत्तर अलङ्कार है। इसी प्रकार 'वृत्ति में दो प्रकार से व्याख्या करेंगे। विष भक्षण करते हैं, (विषमत्ति) विषाद (अर्थात् शिव)। ऊर्ध्वप्रवृत्त (ऊपर की ओर बढ़ा हुआ), यहाँ 'अग्नि' अर्थ मन्तव्य है। कम्प अर्थात् अपांपति (जलपति वरुण), अथवा क अर्थात् ब्रह्मा तुम्हारे गुरु हैं। बलभिद् अर्थात् इन्द्र, जृम्भित अर्थात् ऐश्वर्यमदमत्त। और अङ्गों की ऐंठन रूप जम्भाई आयासकारी

ध्वन्यालोकः

प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशमनच्छद्मना कारयित्वा
यस्मै लक्ष्मीमदाद्वः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः ॥

अर्थशक्त्या यथा—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो

व्याज से देवताओं को निराकरण करा के 'इनके (विष्णु के) पास गमन कर' इस प्रकार (कह कर) समुद्र ने मन्थन से डरी हुई लक्ष्मी को जिसे (विष्णु को) अर्पित किया वह (विष्णु भगवान्) आप लोगों के दुरित नाश करें।

अर्थशक्ति से, जैसे—

यहाँ बूढ़ी माँ सोती है, बूढ़ों में भी बूढ़ा बाप यहाँ सोता है, और घर के सारे

लोचनम्

जृम्भितं च गात्रसंमर्दनात्मकं बलं भिनत्ति आयासकारित्वात्। *प्रत्याख्यानमिति* वचसैवात्र द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत इति निवेदितम्। *कारयित्वेति*। सा हि कमला पुण्डरीकाक्षमेव हृदये निधायोत्थितेति स्वयमेव देवान्तराणां प्रत्याख्यानं करोति। स्वभावसुकुमारतया तु मन्दरान्दोलितजलधितरङ्गभङ्गपर्याकुलीकृतां तेन प्रतिबोधयता तत्समर्थाचरणमन्यत्र दोषोद्घाटनेन अत्र *याहीति* चाभिनयविशेषेण सकलगुणादरदर्शकेन कृतम्। अत एव *मन्थमूढामित्याह*। इत्युक्तप्रकारेण भयनिवारणव्याजेन सुराणां प्रत्याख्यानं मन्थमूढां लक्ष्मीं कारयित्वा पयोधिर्यस्मै तामदात्स वो युष्माकं दुरितं दहत्विति सम्बन्धः।

अम्बेति। अत्रैकैकस्य पदस्य व्यञ्जकत्वं सहृदयैः सुकल्प्यमिति स्वकण्ठेन नोक्तम्। व्याजशब्दोऽत्र स्वोक्तिः। एवमुपसंहारव्याजेन प्रकारद्वयं सोदाहरणं

होने के कारण बल तोड़ देती है। 'निराकरण' ('प्रत्याख्यान') इसके द्वारा वचन से ही दूसरा अर्थ अभिधान किया है, यह निवेदन किया। करा के—। क्यों कि वह कमला (लक्ष्मी) पुण्डरीकाक्ष (विष्णु) को ही हृदय में रख कर निकली है, अतः स्वयमेव वह इतर देवताओं का प्रत्याख्यान करती है। स्वभावतः सुकुमार होने के कारण मन्दरपर्वत से आन्दोलित समुद्र के तरङ्ग-भङ्गों से पर्याकुल हुई (लक्ष्मी) को शिक्षा देते हुए और अन्यत्र दोष के उद्घाटन द्वारा 'यहाँ (अर्थात् विष्णु में) गमन करो' इस समग्र गुणों के प्रति आदर दिखाने वाले अभिनय विशेष से उसके समर्थ आचरण किया है। इसी लिए 'मन्थमूढा' अर्थात् (समुद्र के) 'मन्थन से डरी हुई' यह कहा है। सम्बन्ध यह है कि इस उक्त प्रकार से भय-निवारण के व्याज से देवताओं का प्रत्याख्यान मन्थन से डरी हुई लक्ष्मी के करा के समुद्र ने जिसके लिए उसे अर्पित किया वह (विष्णु) आपलोगों के दुरित का नाश करें।

यहां बूढ़ी—। यहाँ एक-एक पद का व्यञ्जकत्व सहृदयों द्वारा सहज ही कल्पनीय है, इस लिए अपने कण्ठ से नहीं कहा है। 'व्याज' शब्द यहाँ (कवि की) अपनी उक्ति

ध्वन्यालोकः

निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथात्र।
अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम् ॥
उभयशक्त्या यथा—'दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया' इत्यादौ ॥२३॥

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः॥ २४ ॥

कामों से थक कर ढीली पनभरिन यहाँ सोती है, कुछ ही दिनों से जिसके प्राणनाथ परदेश चले गए हैं ऐसी मैं पापिन अकेली यहाँ सोती हूँ। इस प्रकार तरुणी ने पथिक से अवसर के कथन के व्याज से कहा।

उभयशक्ति से, जैसे—'दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया०' इत्यादि में ॥ २३ ॥

अन्य वस्तु का दीपक अर्थ भी दो प्रकार का जानना चाहिए—प्रौढ उक्तिमात्र से निष्पन्न शरीर वाला और स्वतः सम्भवी ॥ २४ ॥

लोचनम्

निरूप्य तृतीयं प्रकारमाह—*उभयेति*। शब्दशक्तिस्तावद्गोपरागादिशब्दश्लेषवशात्। अर्थशक्तिस्तु प्रकरणवशात्। यावदत्र राधारमणस्याखिलतरुणीजनच्छन्नानुरागगरिमास्पदत्वं न विदितं तावदर्थान्तरस्याप्रतीतेः, सलेशमिति चात्र स्वोक्तिः॥ २३॥

एवमर्थशक्त्युद्भवस्य सामान्यलक्षणं कृतम्। श्लेषाद्यलङ्कारेभ्यश्चास्य विभक्तो विषय उक्तः। अधुनास्य प्रभेदनिरूपणं करोति—*प्रौढोक्तीत्यादिना*। योऽर्थान्तरस्य दीपको व्यञ्जकोऽर्थ उक्तः सोऽपि द्विविधः। न केवलमनुस्वानोपमो द्विविधः, यावत्तद्भेदो यो द्वितीयः सोऽपि व्यञ्जकार्थद्वैविध्यद्वारेण द्विविध

है। इस प्रकार उपसंहार के व्याज से दोनों प्रकारों को सोदाहरण निरूपण कर के तीसरा प्रकार कहते हैं—उभय०—। 'गोपराग' आदि श्लेष के कारण शब्दशक्ति है, और अर्थशक्ति प्रकरण के कारण है, क्यों कि जब तक राधारमण (श्रीकृष्ण) का समस्त तरुणियों में छिपे ढंग से अनुराग-गरिमा का स्थानभूत होना विदित नहीं होता है तब तक अर्थान्तर की प्रतीति नहीं होती है। 'सलेशं' यह (कवि की) अपनी उक्ति है ॥२३॥

इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव का सामान्य लक्षण किया और श्लेष आदि अलङ्कारों से इसका विषय विभक्त कहा। अब इसके प्रभेद का निरूपण करते हैं—अन्यवस्तु० इत्यादि द्वारा। जो अर्थान्तर का दीपक अर्थात् व्यञ्जक अर्थ कहा है, वह भी दो प्रकार का है। न केवल अनुस्वानोपम दो प्रकार का है, उसका जो दूसरा भेद है, वह भी व्यञ्जक अर्थ के द्वैविध्य के द्वारा दो प्रकार का है, यह 'भी' ('अपि') शब्द का अर्थ

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्त-स्यापि द्वौ प्रकारौ—कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनि-ष्पन्नशरीर एकः, स्वतस्सम्भवी च द्वितीयः।

कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथा—

सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स शरे॥

अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि में जो व्यञ्जक अर्थ कहा है उसके भी दो प्रकार हैं—कवि की अथवा कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढ़ उक्तिमात्र से निष्पन्न शरीर वाला एक और स्वतः सम्भवी दूसरा।

कवि की प्रौढ़ उक्तिमात्र से निष्पन्न शरीर वाला, जैसे—वसन्तमास युवतिजनों को लक्ष्य करने वाले मुखों (अग्रभाग अर्थात् बाण के फल) से युक्त, नये पल्लवों के (पंखों से) युक्त, नये सहकार प्रभृति (कामदेव के बाणों) को तैयार कर रहा है, (अभी प्रहार करने के लिए उन्हें कामदेव के) अर्पित नहीं कर रहा है।

लोचनम्

इत्यपिशब्दस्यार्थः। प्रौढोक्तेरप्यवान्तरभेदमाह—कवेरिति। तेनैते त्रयो भेदा भवन्ति। प्रकर्षेण ऊढः सम्पादयितव्येन वस्तुना प्राप्तस्तत्कुशलः प्रौढः। उक्ति-रपि समर्पयितव्यवस्त्वर्पणोचिता प्रौढेत्युच्यते।

सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।
अभिनवसहकारमुखान्नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान्॥

अत्र वसन्तश्चेतनोऽनङ्गस्य सखा सज्जयति केवलं न तावदर्पयतीत्येवंवि-धया समर्पयितव्यवस्त्वर्पणकुशलयोक्त्या सहकारोद्भेदिनी वसन्तदशा यत उक्ता अतो ध्वन्यमानं मन्मथोन्माथस्यारम्भं क्रमेण गाढगाढीभविष्यन्तं व्यनक्ति। अन्यथा वसन्ते सपल्लवसहकारोद्गम इति वस्तुमात्रं न व्यञ्जकं

है। प्रौढोक्ति का भी अवान्तर भेद कहते हैं—कवि की—। इस कारण ये तीन भेद होते हैं। प्रकर्ष से ऊढ अर्थात् सम्पादयितव्य वस्तु से प्राप्त, उसका कुशल प्रौढ है। समर्पयितव्य वस्तु के अर्पण में उचित उक्ति भी 'प्रौढ' कहलाती है।

यहां 'चेतन, कामदेव का सखा वसन्त केवल तैयार कर रहा है, अर्पित नहीं कर रहा है' समर्पयितव्य वस्तु के अर्पण में कुशल इस प्रकार की उक्ति द्वारा आम्र (सहकार) पैदा करने वाली वसन्त की स्थिति जिस कारण कही गई है उस कारण ध्वनित होते हुए और क्रम से गाढ-गाढतर होते हुए मन्मथोन्माथ के आरम्भ को व्यक्त करती है, अन्यथा 'वसन्त में पल्लवसहित सहकार का उद्गम' यह वस्तुमात्र व्यञ्जक नहीं होगा।

ध्वन्यालोकः

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथोदाहृतमेव—'शिखरिणि' इत्यादि ।

यथा वा—

साअरविइण्णजोव्वणहत्थालम्बं समुण्णमन्तेहिम् ।
अब्भुट्ठाणं विअ मम्महस्स दिण्णं तुह थणेहिम् ॥

स्वतः सम्भवी य औचित्येन बहिरपि सम्भाव्यमानसद्भावो न

कवि द्वारा निबद्ध वक्ता की प्रौढ़ उक्तिमात्र से निष्पन्न शरीर वाला, जैसे उदाहृत है—'शिखरिणि०' इत्यादि ।

अथवा, जैसे—

आदर के साथ यौवन द्वारा हस्तावलम्ब दिए जाने पर उठते हुए तुम्हारे स्तनों ने कामदेव को (स्वागत में) अभ्युत्थान-सा प्रदान किया है ।

स्वतः सम्भवी वह है औचित्य से बाहर भी सद्भाव जिसका सम्भावित हो रहा

लोचनम्

स्यात् । एषा च कवेरेवोक्तिः प्रौढा । *शिखरिणीति* । अत्र लोहितं बिम्बफलं शुको दशतीति न व्यञ्जकता काचित् । यदा तु कविनिबद्धस्य साभिलाषस्य तरुणस्य वक्तुरित्थं प्रौढोक्तिस्तदा व्यञ्जकत्वम् ।

सादरवितीर्णयौवनहस्तालम्बं समुन्नमद्भ्याम् ।
अभ्युत्थानमिव मन्मथस्य दत्तं तव स्तनाभ्याम् ॥

स्तनौ तावदिह प्रधानभूतौ ततोऽपि गौरवितः कामस्ताभ्यामभ्युत्थानेनोपचर्यते । यौवनं चानयोः परिचारकभावेन स्थितमित्येवंविधेनोक्तिवैचित्र्येण त्वदीयस्तनावलोकनप्रवृद्धमन्मथावस्थः को न भवतीति भङ्ग्या स्वाभिप्राय-

यह कवि की ही उक्ति प्रौढ है । शिखरिणि० । यहां लाल बिम्बफल को शुक काटता है, यह कोई व्यञ्जकत्व नहीं है । परन्तु जब कवि द्वारा निबद्ध साभिलाष तरुण वक्ता की इस प्रकार प्रौढ उक्ति होगी, तब व्यञ्जकत्व होगा ।

'(नायिका के) दोनों स्तन यहां प्रधानभूत हैं, उनसे भी अधिक गौरव वाला कामदेव उनके द्वारा अभ्युत्थानपूर्वक उपचरित हो रहा है, और यौवन इन दोनों (स्तनों) के परिचारक रूप में स्थित है' इस प्रकार के उक्तिवैचित्र्य द्वारा 'तुम्हारे स्तनों के अवलोक से प्रवृद्ध कामावस्था वाला कौन नहीं हो जाता है, इस ढङ्ग (भङ्गी) से अपने अभिप्राय का ध्वनन किया है । 'जवानी के कारण तुम्हारे स्तन उन्नत हो गए हैं' इस

ध्वन्यालोकः

केवलं भणितिवशेनैवाभिनिष्पन्नशरीरः। यथोदाहृतम् 'एवंवादिनि' इत्यादि। यथा वा—

सिहिपिञ्छकण्णपूरा जाआ वाहस्स गव्विरी भमइ।
मुत्ताफलरइअपसाहणाणँ मज्झे सवत्तीणम्॥ २४॥

है, न केवल उक्ति द्वारा ही जिसका शरीर अभिनिष्पन्न है। जैसे, उदाहृत है—'एवं वादिनि०' इत्यादि। अथवा जैसे—

मोर-पंखों के कनफूल पहने व्याध की पत्नी मुक्ताफलों के गहने पहनी हुई अपनी सौतों के बीच गर्बीली होकर घूमती है॥ २४॥

लोचनम्

ध्वननं कृतम्। तव तारुण्येनोन्नतौ स्तनाविति हि वचने न व्यञ्जकता। न केवलमिति। उक्तिवैचित्र्यं तावत्सर्वथोपयोगि भवतीति भावः।

शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया व्याधस्य गर्विणी भ्रमति।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम्॥

शिखिमात्रमारणमेव तदासक्तस्य कृत्यम्। अन्यासु त्वासक्तो हस्तिनोऽप्यमारयदिति हि वचनेनोक्तमुत्तमसौभाग्यम्। रचितानि विविधभङ्गीभिः प्रसाधनानीति तासां सम्भोगव्यग्रिमाभावात्तद्विरचनशिल्पकौशलमेव परमिति दौर्भाग्यातिशय इदानीमिति प्रकाशितम्। गर्वश्च बाल्याविवेकादिनापि भवतीति नात्र स्वोक्तिसद्भावः शङ्क्यः। एष चार्थो यथा यथा वर्ण्यते आस्तां वा वर्णना, बहिरपि यदि प्रत्यक्षादिनावलोक्यते तथा तथा सौभाग्यातिशयं व्याधवध्वा द्योतयति॥ २४॥

कथन में व्यञ्जकता नहीं है। न केवल—। भाव यह कि उक्तिवैचित्र्य सब प्रकार से उपयोगी होता है।

उसमें आसक्त नायक का केवल मोरों का मारना ही कार्य रह गया और दूसरी सौतों में आसक्त वह हाथियों को भी मार डालता था, इस कथन से (अपना) उत्तम सौभाग्य अभिहित किया। विविध भङ्गियों से जिनके प्रसाधन बनाए गए हैं, इससे प्रकाशित किया कि सम्भोग की व्यग्रता न होने के कारण प्रसाधन के बनाने का शिल्प-कौशल ही ज्यादा था, इस प्रकार अब उनका अतिशय दुर्भाग्य है। गर्व तो बाल्य के कारण अविवेक आदि से भी उत्पन्न होता है इसलिए यहां अपनी उक्ति के सद्भाव की शङ्का नहीं करनी चाहिए। यह अर्थ जैसे जैसे वर्णन करते हैं अथवा वर्णना हो भी, यदि बाहर भी प्रत्यक्ष आदि द्वारा देखा जाता है उस-उस प्रकार व्याधवधू का अतिशय सौभाग्य द्योतन करता है॥ २४॥

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते ।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः ॥ २५ ॥

वाच्यालङ्कारव्यतिरिक्तो यत्रान्योऽलङ्कारोऽर्थसामर्थ्यात्प्रतीयमानोऽवभासते सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानरूपव्यङ्ग्योऽन्यो ध्वनिः ॥२५॥

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्येदमुच्यते—

रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः ।
स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः ॥ २६ ॥

अर्थशक्ति से जहां भी अन्य अलङ्कार प्रतीत होता है वह अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य ध्वनि का अन्य प्रकार है ॥ २५ ॥

वाच्य अलङ्कार से अतिरिक्त जहां अन्य अलङ्कार अर्थसामर्थ्य से प्रतीत होता हुआ अवभासित होता है वह अर्थशक्त्युद्भव नाम का अनुस्वानरूप व्यङ्ग्य अन्य ध्वनि है ॥ २५ ॥

उसके प्रविरलविषय होने की आशङ्का करके यह कहते हैं—

रूपक आदि अलङ्कारवर्ग जो वाच्यता का आश्रयण करता है वह सब गम्यमान रूप में बहुत विस्तार से दिखाया गया है । ॥ २६ ॥

लोचनम्

एवमर्थशक्त्युद्भवो द्विभेदो वस्तुमात्रस्य व्यञ्जनीयत्वे वस्तुध्वनिरूपतया निरूपितः । इदानीं तस्यैवालङ्काररूपे व्यञ्जनीयेऽलङ्कारध्वनित्वमपि भवतीत्याह—*अर्थेत्यादि* । न केवलं शब्दशक्तेरलङ्कारः प्रतीयते पूर्वोक्तनीत्या यावदर्थशक्तेरपि । यदि वा न केवलं यत्र वस्तुमात्रं प्रतीयते यावदलङ्कारोऽपीत्यपिशब्दार्थः । अन्यशब्दं व्याचष्टे—*वाच्येति* ॥ २५ ॥

आशङ्क्येति । शब्दशक्त्या श्लेषाद्यलङ्कारो भासत इति सम्भाव्यमेतत् ।

इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव दो प्रकार का होता है, वस्तुमात्र के व्यञ्जनीय होने पर वस्तुध्वनि रूप से वह निरूपण किया गया, अब उसी के अलङ्कार रूप के व्यञ्जनीय होने पर अलङ्कार-ध्वनित्व भी होता है, यह कहते हैं—अथ० इत्यादि । न केवल शब्दशक्ति से अलङ्कार प्रतीत होता है बल्कि पूर्वोक्त नीति से अर्थशक्ति से भी (अलङ्कार प्रतीत होता है) । यदि वा 'भी' ('अपि') शब्द का अर्थ है कि न केवल जहां वस्तुमात्र प्रतीत होता है बल्कि अलङ्कार भी । 'अन्य' शब्द की व्याख्या करते हैं—वाच्य० ॥ २५ ॥

आशङ्का करके— । शब्दशक्ति से श्लेष आदि अलङ्कार भासित होता है, यह तो

ध्वन्यालोकः

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। तथा च

अन्यत्र वाच्यरूप से प्रसिद्ध जो रूपक आदि अलङ्कार है वह अन्यत्र प्रतीयमान रूप से बहुलतया, आदरणीय उद्भट आदि आचार्यों द्वारा दिखाया गया है। जैसा कि

लोचनम्

अर्थशक्त्या तु कोऽलङ्कारो भातीत्याशङ्काबीजम्। *सर्व* इति *प्रदर्शित* इति च पदेनासम्भावनात्र मिथ्यैवेत्याह।

उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा॥ इति।
तस्याः पाणिरयं नु मारुतचलत्पत्राङ्गुलिः पल्लवः।

इत्यादावुपमा रूपकं वा ध्वन्यते। अतिशयोक्तेश्च प्रायशः सर्वालङ्कारेषु ध्वन्यमानत्वम्। *अलङ्कारान्तरस्येति*। यत्रालङ्कारोऽप्यलङ्कारान्तरं ध्वनति तत्र वस्तुमात्रेणालङ्कारो ध्वन्यत इति कियदिदमसम्भाव्यमिति तात्पर्येणालङ्कारान्तरशब्दो वृत्तिकृता प्रयुक्तो न तु प्रकृतोपयोगी; न ह्यलङ्कारेणालङ्कारो ध्वन्यत इति प्रकृतमदः, अर्थशक्त्युद्भवे ध्वनौ वस्त्विवालङ्कारोऽपि व्यङ्ग्य इत्येतावतः प्रकृतत्वात्। तथा चोपसंहारग्रन्थे 'तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः' इत्यत्र श्लोके वृत्तिकृत् 'ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्याम्' इत्युपक्रम्य

सम्भाव्य है, परन्तु अर्थशक्ति से कौन-सा अलङ्कार प्रतीत होता है! यह आशङ्का का बीज है। 'सब' और 'दिखाया गया है' इन दोनों से 'यहां असम्भावना मिथ्या ही है' यह कहते हैं।

उपमान के साथ (उपमेय का) अभेद और पुनः भेद कहते हुए कवि के ससन्देह वचन को स्तुति के लिए ससन्देह मानते हैं। जैसे—

उस (नायिका का) यह हाथ है या हवा से चञ्चल पत्तों की उंगलियों वाला पल्लव है।

इत्यादि में उपमा अथवा रूपक ध्वनित होता है। और अतिशयोक्ति प्रायः सभी अलङ्कारों में ध्वनित होती है। अलङ्कारान्तर का—। जहां अलङ्कार भी अलङ्कारान्तर को ध्वनित करता है वहां वस्तुमात्र रूप से अलङ्कार ध्वनित होता है, यह कितना असम्भाव्य ही है, इस तात्पर्य से वृत्तिकार ने 'अलङ्कारान्तर' शब्द का प्रयोग किया है, न कि प्रकृत में (वह शब्द) उपयोगी है; क्योंकि यह प्रकृत नहीं कि अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनित होता है, बल्कि इतना ही प्रकृत है कि अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में वस्तु की भांति अलङ्कार भी व्यङ्ग्य होता है। जैसा कि उपसंहार ग्रन्थ में 'वे अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग होकर अधिक छाया प्राप्त करते हैं' इस स्थल में वृत्तिकार 'ध्वनि का अङ्गत्व दो प्रकारों से' यह उपक्रम करके 'वहां यह प्रकरण से व्यङ्ग्य होने के कारण

ध्वन्यालोकः

ससन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्य-लङ्कारान्तरस्यालङ्कारान्तरे व्यङ्ग्यत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम् ॥ २६ ॥

इयत्पुनरुच्यत एव—

अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥ २७ ॥

अलङ्कारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालङ्कारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः ।

ससन्देह आदि (अलङ्कारों) में उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति का प्रकाशित होना दिखाया गया है। इस प्रकार अलङ्कारान्तर का अलङ्कारान्तर में व्यङ्ग्य होना यत्नप्रतिपाद्य नहीं है ॥ २६ ॥

इतना तो फिर कहते ही हैं—

अलङ्कारान्तर की भी प्रतीति में जहां वाच्य का तत्परत्व नहीं भासित होता है वह मार्ग ध्वनि का नहीं माना गया है ॥ २७ ॥

परन्तु अलङ्कारान्तरों में अनुरणनरूप अलङ्कार की प्रतीति के होने पर भी जहाँ वाच्य का व्यङ्ग के प्रतिपादन के औन्मुख्य से चारुत्व जाहिर नहीं होता है वह ध्वनि का

लोचनम्

'तत्रेह प्रकरणाद्व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्' इति वक्ष्यति । अन्तरशब्दो वोभयत्रापि विशेषपर्यायः; वैषयिकी सप्तमी, न तु प्राग्व्याख्यायामिव निमित्तसप्तमी । तदयमर्थः—वाच्यालङ्कारविशेषविषये व्यङ्ग्यालङ्कारविशेषो भातीत्युद्भटादिभिरुक्तमेवेत्यर्थशक्त्यालङ्कारो व्यज्यत इति तैरुपगतमेव । केवलं तेऽलङ्कारलक्षणकारत्वाद्वाच्यालङ्कारविशेषविषयत्वेनाहुरिति भावः ॥ २६ ॥

ननु पूर्वैरेव यदीदमुक्तं किमर्थं तव यत्न इत्याशङ्क्याह—इयदिति । अस्मा-

यह जानना चाहिए' यह कहेंगे। अथवा 'अनन्तर' शब्द दोनों स्थलों में 'विशेष' अर्थ का वाचक है, सप्तमी वैषयिकी अर्थात् विषयरूप अर्थ की वाचिका है, न कि पहले की व्याख्या के समान निमित्तसप्तमी है। तो अर्थ यह है—वाच्य अलङ्कारविशेष के विषय में व्यङ्ग्य अलङ्कारविशेष प्रतीत होता है यह उद्भट आदि ने कहा है ही, अर्थात् अर्थशक्ति से अलङ्कार व्यञ्जित होता है यह उन्होंने माना ही है। भाव यह कि केवल उन्होंने अलङ्कार-लक्षणकार होने के नाते वाच्य अलङ्कारविशेष के विषयरूप से कहा है ॥ २६ ॥

यह आशङ्का करके कि जब कि प्राचीनों ने ही यह कह दिया है तो तुम्हारा यत्न किसलिए ? (उत्तर में) कहते हैं—इतना—। 'हम भी' यह वाक्यशेष है। 'पुनः'

ध्वन्यालोकः

तथा च दीपकादावलङ्कारे उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्याव्यवस्थानान्न ध्वनिव्यपदेशः ।

यथा—

चन्दमऊएहि णिसा णलिनी कमलेहि कुसुमगुच्छेहि लआ ।
हंसेहि सरअसोहा कव्वकहा सज्जनेहि करइ गरुई ॥
(चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुमगुच्छैर्लता ।
हंसैश्शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी ॥ इति छाया)

मार्ग नहीं है । जैसा कि दीपक आदि अलङ्कार में उपमा के गम्यमान होने पर भी तत्पर रूप से चारुत्व के न होने पर ध्वनि व्यपदेश नहीं होता ।

जैसे—

चन्द्रकिरणों से रात्रि, कमलों से नलिनी, फूल के गुच्छों से लता, शरत्काल की शोभा हंसों से और काव्यकथा सज्जनों से गौरवान्वित की जाती है ।

लोचनम्

भिरिति वाक्यशेषः । पुनःशब्दस्तदुक्ताद्विशेषद्योतकः । चन्दमऊ इति । चन्द्रमयूखादीनां न निशादिना विना कोऽपि परभागलाभः । सज्जनानामपि काव्यकथां विना कीदृशी साधुजनता । चन्द्रमयूखैश्च निशाया गुरुकीकरणं भास्वरत्वसेव्यत्वादि यत्क्रियते; कमलैर्नलिन्याः शोभापरिमललक्ष्म्यादि, कुसुमगुच्छैर्लताया अभिगम्यत्वमनोहरत्वादि, हंसैः शारदशोभायाः श्रुतिसुखकरत्वमनोहरत्वादि, तत्सर्वं काव्यकथायाः सज्जनैरित्येतावानयमर्थो गुरुः क्रियत इति दीपकबलाच्चकास्ति । कथाशब्द इदमाह—आसतां तावत्काव्यस्य केचन सूक्ष्मा विशेषाः, सज्जनैर्विना काव्यमित्येष शब्दोऽपि ध्वंसते । तेषु तु

शब्द उस कहे हुए से विशेष का द्योतक है । चन्द्रकिरणों—। चन्द्रकिरण आदि का रात्रि आदि के बिना कोई महत्त्व लाभ नहीं है, सज्जनों की भी काव्यकथा के बिना कैसी साधुजनता ? चन्द्रकिरणों से रात्रि का जो गुरुकीकरण अर्थात् भास्वर होना और सेव्य होना आदि किया जाता है कमलों से नलिनी की शोभा, परिमल, लक्ष्मी आदि जो होती है, फूल के गुच्छों से लता का जो अभिगम्यत्व, मनोहरत्व आदि जो होता है और हंसों से शरत्काल की शोभा का श्रुतिसुखकर होना और मनोहर होना आदि जो होता है वह सब कुछ काव्यकथा का सज्जनों से सम्पन्न होता है, इतना अर्थ 'गौरवान्वित किया जाता है' इस दीपक के बल से प्रकाशित होता है । 'कथा' शब्द यह कहता है—काव्य के कोई सूक्ष्म विशेष हों, (किन्तु) सज्जनों के बिना 'काव्य' यह शब्द भी नष्ट होता है । उन सज्जनों के विद्यमान रहने पर केवल 'काव्य' शब्द के

ध्वन्यालोकः

इत्यादिषूपमागर्भत्वेऽपि सति वाच्यालङ्कारमुखेनैव चारुत्वं व्यवतिष्ठते न व्यङ्ग्यालङ्कारतात्पर्येण। तस्मात्तत्र वाच्यालङ्कारमुखेनैव काव्यव्यपदेशो न्याय्यः। यत्र तु व्यङ्ग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यङ्ग्य-मुखेनैव व्यपदेशो युक्तः।

इत्यादि के उपमा से गर्भित होने पर भी वाच्य अलङ्कार के प्रकार से ही चारुत्व व्यवस्थित होता है व्यङ्ग्य अलङ्कार के तात्पर्य से नहीं। इस लिए वहां वाच्य अलङ्कार के प्रकार से ही काव्यव्यपदेश उचित है। परन्तु जहां व्यङ्ग्यपर रूप से ही वाच्य का व्यवस्थान हो वहाँ व्यङ्ग्य के प्रकार से ही व्यपदेश ठीक है।

लोचनम्

सत्स्वास्ते सुभगं काव्यशब्दव्यपदेशभागपि शब्दसन्दर्भमात्रम्; तथा तैः क्रियते यथादरणीयतां प्रतिपद्यत इति दीपकस्यैव प्राधान्यं नोपमायाः। एवं तु कारिकार्थमुदाहरणेन प्रदर्श्यास्या एव कारिकाया व्यवच्छेद्यबलेन योऽर्थोऽभिमतो यत्र तत्परत्वं स ध्वनेर्मार्ग इत्येवंरूपस्तं व्याचष्टे—*यत्र त्विति*। तत्र च वाच्यालङ्कारेण कदाचिद्व्यङ्ग्यमलङ्कारान्तरं, यदि वा वाच्यालङ्कारस्य सद्भावमात्रं न व्यञ्जकता, वाच्यालङ्कारस्याभाव एव वेति त्रिधा विकल्पः। एतच्च यथायोग-

व्यपदेश को धारण करने वाला भी शब्दसन्दर्भमात्र सुभग है; उस प्रकार उनके द्वारा किया जाता है अर्थात् आदरणीयता को प्राप्त करता है, इस प्रकार दीपक का ही प्राधान्य है, उपमा का नहीं। इस प्रकार कारिका के अर्थ को उदाहरण द्वारा प्रदर्शित करके इसी कारिका का व्यवच्छेद्य के बल से जो अर्थ अभिमत है कि 'जहां तात्पर्य है, वह ध्वनि का मार्ग है' उसकी व्याख्या करते हैं—परन्तु जहां—। वहां तीन प्रकार का विकल्प है'—वाच्य अलङ्कार से कभी व्यङ्ग्य अलङ्कारान्तर, अथवा वाच्य अलङ्कार का सद्भावमात्र है, व्यञ्जकता नहीं है, या वाच्य अलङ्कार का अभाव है। इसे जैसा

१ प्रस्तुत यह है कि व्यङ्ग्य अलङ्कार से ही व्यपदेश होता है। अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में कभी अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग होता है, कभी वाच्य अलङ्कार का सद्भावमात्र होता है और कभी वह भी नहीं होता। अन्तिम दो स्थितियों में वस्तुध्वनि का सद्भाव माना जाता है, अर्थात् वहां वस्तुमात्र व्यञ्जक होता है। ग्रन्थकार ने इन्हीं बातों को आगे के उदाहरणों में निर्देश किया है। आगे के आचार्यों ने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में अलङ्कार से अलङ्कार, अलङ्कार से वस्तु, वस्तु से वस्तु और वस्तु से अलङ्कार की ध्वनियोंको स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध के तीन भागों में विभक्त करके १२ भेद किए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के वक्ष्यमाण उदाहरणों का अध्ययन करते हुए इन भेदों का भी ध्यान रखना चाहिए।

ध्वन्यालोकः

यथा—

प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥

जैसे—

जब कि इसे लक्ष्मी प्राप्त हो गई है तब फिर यह क्यों मुझमें मन्थन का कष्ट करेगा? आलस्य-रहित मन वाले इसकी पहली निद्रा की भी सम्भावना नहीं ही करता हूँ, क्या समस्त द्वीपनाथों से अनुगत यह फिर से सेतु बनाएगा? इस प्रकार तुम्हारे आने पर वितर्कों को मानों धारण करते हुए समुद्र का कम्प प्रतीत होता है।

लोचनम्

मुदाहरणेषु योज्यम्। उदाहरति—*प्राप्तेति*। कस्मिंश्चिदनन्तबलसमुदायवति नरपतौ समुद्रपरिसरवर्तिनि पूर्णचन्द्रोदयतदीयबलावगाहनादिना निमित्तेन पयोधेस्तावत्कम्पो जातः। सोऽनेन सन्देहेनोत्प्रेक्ष्यत इति ससन्देहोत्प्रेक्षयोः सङ्करात्सङ्करालङ्कारो वाच्यः। तेन च वासुदेवरूपता तस्य नृपतेर्ध्वन्यते। यद्यपि चात्र व्यतिरेको भाति, तथापि स पूर्ववासुदेवस्वरूपात्, नाद्यतनात्। अद्यतनत्वे भगवतोऽपि प्राप्तश्रीकत्वेनानालस्येन सकलद्वीपाधिपतिविजयित्वेन च वर्तमानत्वात्।

न च सन्देहोत्प्रेक्षानुपपत्तिबलाद्रूपकस्याक्षेपः, येन वाच्यालङ्कारोपस्कारकत्वं व्यङ्ग्यस्य भवेत्। यो योऽसम्प्राप्तलक्ष्मीको निर्व्याजविजिगीषाक्रान्तः

बैठे, उदाहरणों में घटाना चाहिए। उदाहरण देते हैं—जब कि इसे०—। किसी अनन्त बलसमुदायसम्पन्न राजा के समुद्रतट पर उपस्थित होने पर पूर्ण चन्द्रोदय अथवा उसकी सेना के अवगाहन आदि के कारण समुद्र का कम्पन उत्पन्न हुआ। वह (कम्पन) इस सन्देह से उत्प्रेक्षित हुआ है, इसलिए ससन्देह और उत्प्रेक्षा के सङ्कर होने से सङ्करालङ्कार वाच्य है। उससे राजा का वासुदेव—(श्रीकृष्ण) रूपत्व ध्वनित होता है। यद्यपि यहां 'व्यतिरेक' (अलङ्कार) प्रतीत होता है, तथापि वह पूर्व वासुदेव के स्वरूप से न कि अद्यतन (वर्तमान वासुदेव के स्वरूप) से। क्योंकि सम्प्रति भगवान् भी लक्ष्मी को प्राप्त करने से, अनालस्य और समस्त द्वीपाधिपतियों के विजयी रूप से वर्तमान हैं।

ससन्देह और उत्प्रेक्षा अलङ्कार दोनों अनुपपन्न हो जायेंगे, इस प्रकार (उनकी अनुपपत्ति के बल से) 'रूपक' का आक्षेप होगा, जिससे व्यङ्ग्य का उपस्कारकत्व बन जायगा, यह नहीं (कह सकते), क्योंकि इस अर्थ का सम्भावन करेंगे कि जिसे जिसे लक्ष्मी प्राप्त न होगी और निर्व्याज विजिगीषा (विजय करने की इच्छा) से आक्रान्त

ध्वन्यालोकः

यथा वा ममैव—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।

अथवा, जैसे मेरा ही—

हे चञ्चल और दीर्घ नेत्रों वाली ! लावण्य और कान्ति से दिशाओं को भर देने वाले तुम्हारे इस मुख के इस समय कुछ विकसित होने पर यह समुद्र जो क्षोभ नहीं

लोचनम्

स स मां मंथनीयादित्याद्यर्थसम्भावनात्। न च पुनरपीति पूर्वामिति भूय इति च शब्दैरयमाकृष्टोऽर्थः। पुनरर्थस्य भूयोर्थस्य च कर्तृभेदेऽपि समुद्रैक्यमात्रेणाप्युपपत्तेः। यथा पृथ्वी पूर्वं कार्तवीर्येण जिता पुनरपि जामदग्न्येनेति। पूर्वा निद्रा च सिद्धा राजपुत्राद्यवस्थायामपीति सिद्धं रूपकध्वनिरेवायमिति। शब्दव्यापारं निनैवार्थसौन्दर्यबलाद्रूपणाप्रतिपत्तेः। यथा च—

ज्योत्स्नापूरप्रसरधवले सैकतेऽस्मिन्सरय्वा
वादद्यूतं सुचिरमभवत्सिद्धयूनोः कयोश्चित्।
एकोऽवादीत्प्रथमनिहतं केशिनं कंसमन्यो
मत्वा तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम्॥

इति केचिदुदाहरणमत्र पठन्ति, तदसत्; भवतेत्यनेन शब्दबलेनात्र त्वं वासुदेव इत्यर्थस्य स्फुटीकृतत्वात्।

लावण्यं संस्थानमुग्धिमा, कान्तिः प्रभा ताभ्यां परिपूरितानि संविभक्तानि

होगा वह वह मुझे मथन करेगा, इत्यादि। ऐसा नहीं कह सकते कि यह अर्थ 'फिर भी' 'पहली' और 'फिर से' इन शब्दों से लाया गया है क्यों कि कर्तृभेद होने पर भी समुद्र के एक होने से 'फिर' इस अर्थ की उपपत्ति हो जायगी। जैसे पृथ्वी को पहले कार्तवीर्य ने जीता, फिर जामदग्न्य ने भी। राजपुत्रादि अवस्था में भी पहली निद्रा सिद्ध है, इस प्रकार यह 'रूपक ध्वनि'[1] ही है यह बात सिद्ध हुई। क्यों कि शब्दव्यापार के बिना ही अर्थसौन्दर्य के बल से रूपणा की प्रतिपत्ति (अभेद का ज्ञान) होता है। और जैसे—

'चांदनी के प्रवाह से सफेद सरयू के इस सैकत में किन्ही सिद्ध युवक-युवति की देर तक बहसबाजी चलती रही, एक ने कहा कि केशी को पहले मारा, दूसरे ने कहा कि कंस को, ठीक समझ कर कहिए कि आपने उनमें पहले किसको मारा।'

कुछ लोग इस उदाहरण को यहां पढ़ते हैं, वह ठीक नहीं, क्यों कि 'आपने' इस शब्द के बल से यहां 'तुम वासुदेव हो' यह अर्थ स्फुट कर दिया गया है।

लावण्य अर्थात् संस्थानमुग्धिमा, कान्ति अर्थात् प्रभा, इनसे परिपूरित-संविभक्त—

१. इस उदाहरण में सन्देह और उत्प्रेक्षा के सङ्कररूप वाच्य अलङ्कार से भगवान् वासुदेव से वर्तमान राजा का अभेदारोपरूप रूपक का ध्वनि यह सिद्धान्त पक्ष है। व्यतिरेक अलङ्कार का

ध्वन्यालोकः

क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥

इत्येवंविधे विषयेऽनुरणनरूपरूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थानाद्रूपकध्वनिरिति व्यपदेशो न्याय्यः ।

प्राप्त करता है इससे स्पष्ट ही है कि यह जलराशि है (अर्थात् जडराशि है)।

इस प्रकार के विषय में अनुरणनरूप रूपक के आश्रयण से काव्य के चारुत्व के व्यवस्थित होने के कारण 'रूपकध्वनि' यह व्यपदेश ठीक है ।

लोचनम्

हृद्यानि सम्पादितानि दिङ्मुखानि येन। अधुना कोपकालुष्यादनन्तरं प्रसादौन्मुख्येन। स्मेरे ईषद्विहसनशीले तरलायते प्रसादान्दोलनविकाससुन्दरे अक्षिणी यस्यास्तस्या आमन्त्रणम्। अथ चाधुना न एति, वृत्ते तु क्षणान्तरे क्षोभमगमत्। कोपकषायपाटलं स्मेरं च तव मुखं सन्ध्यारुणपूर्णशशधरमण्डलमेवेति भाव्यं क्षोभेण चलचित्ततया सहृदयस्य। न चैति तत्सुव्यक्तमन्वर्थतायं जलराशिर्जाड्यसञ्चयः। जलादयः शब्दा भावार्थप्रधाना इत्युक्तं प्राक्। तत्र च क्षोभो मदनविकारात्मा सहृदयस्य त्वन्मुखावलोकनेन भवतीतीयत्यभिधाया विश्रान्ततया रूपकं ध्वन्यमानमेव। वाच्यालङ्कारश्चात्र श्लेषः, स च न

अर्थात् हृद्य, बनाया है दिशाओं को जिसने। अभी अर्थात् कोषकालुष्य से, अनन्तर प्रसन्नता के प्रति उन्मुखता के कारण। स्मेर अर्थात् कुछ विहसनशील और तरलायत अर्थात् प्रसन्नता के आन्दोलनजनित विकास से सुन्दर आंखें जिसकी हैं, उसका यह आमन्त्रण (संबोधन) है। और इस समय (क्षोभ) प्राप्त नहीं करता, अभी क्षणभर पहले क्षोभ प्राप्त किया। कोपकषायपाटल और स्मेर तुम्हारा मुख सन्ध्यारुण और पूर्णं चन्द्रमण्डल ही है। चलचित्त होने के कारण सहृदय व्यक्ति को क्षोभ वाजिब है, लेकिन वह (समुद्र को) नहीं हुआ इसलिये यह स्पष्ट हो गया कि यह (समुद्र) जलराशि है, अर्थात् यथार्थ रूप से जाडचराशि है। यह पहले कह चुके हैं कि 'जल' आदि शब्द भावार्थप्रधान (जाडच आद्यर्थक हैं। यहां सहृदय व्यक्ति को तुम्हारे मुख के अवलोकन से मदनविकार रूप क्षोभ होता है, इतने में अभिधा के विश्रान्त हो जाने के कारण 'रूपक' ध्वन्यमान ही है। यहां वाच्य अलङ्कार श्लेष है, पर वह व्यञ्जक नहीं

व्यङ्ग्यत्व यहां वास्तविक नहीं है यह भी बात हुई। तीसरी शङ्का के अनुसार ससन्देह और उत्प्रेक्षा के बल से रूपक का आक्षेप है। इसके उत्तर में लोचनकार लिखते हैं कि अर्थ यह करेंगे कि जो जो लक्ष्मी को न प्राप्त किया एवं विजयेच्छा से युक्त है वह वह मुझे मन्थन करेगा। इस प्रकार ससन्देह और उत्प्रेक्षा की अनुपपत्ति नहीं होगी। इस प्रकार यह रूपकध्वनि का उदाहरण है। नवीन आचार्यों के अनुसार यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य का उदाहरण है।

ध्वन्यालोकः

उपमाध्वनिर्यथा—

वीराणं रमइ घुसिणरुणम्मि ण तदा पिआथणुच्छङ्गे ।
दिट्ठी रिउगअकुम्भत्थलम्मि जह बहलसिन्दूरे ॥

यथा वा ममैव विषमबाणलीलायामसुरपराक्रमणे कामदेवस्य—

उपमा-ध्वनि, जैसे—

वीरों की दृष्टि जिस प्रकार सिन्दूर से भरे शत्रुओं के हाथियों के कुम्भस्थलों में रमण करती है उस प्रकार कुंकुम से लाल प्रिया के स्तनोत्सङ्ग में रमण नहीं करती।

अथवा जैसे मेरा ही 'विषमबाणलीला' में असुरों पर पराक्रम के अवसर में कामदेव का—

लोचनम्

व्यञ्जकः। अनुरणनरूपं यद्रूपकमर्थशक्तिव्यङ्ग्यं तदाश्रयेणेह काव्यस्य चारुत्वं व्यवतिष्ठते। ततस्तेनैव व्यपदेश इति सम्बन्धः। तुल्ययोजनत्वादुपमाध्वन्युदाहरणयोर्लक्षणं स्वकण्ठेन न योजितम्।

वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे॥

प्रसाधितप्रियतमाश्वासनपरतया समनन्तरीभूतयुद्धत्वरितमनस्कतया च दोलायमानदृष्टित्वेऽपि युद्धे त्वरातिशय इति व्यतिरेको वाच्यालङ्कारः। तत्र तु येयं ध्वन्यमानोपमा प्रियाकुचकुड्मलाभ्यां सकलजनत्रासकरेष्वपि शात्रवेषु मर्दनोद्यतेषु गजकुम्भस्थलेषु तद्वशेन रतिमाददानानामिव बहुमान इति सैव वीरतातिशयचमत्कारं विधत्त इत्युपमायाः प्राधान्यम्। *असुरपराक्रमण* इति।

है। अनुरणन रूप अर्थशक्ति से व्यङ्ग्य जो 'रूपक' है उसके आश्रय से यहां काव्य का चारुत्व व्यवस्थित होता है। इसलिए उसी से व्यपदेश है। योजना के समान होने के कारण (अर्थात् ऊपर के ही ढंग से बात होने के कारण) उपमाध्वनि के दोनों उदाहरणों का लक्षण अपने शब्द द्वारा प्रस्तुत नहीं किया है।

सजी-धजी (प्रसाधित) प्रियतमा के आश्वासन में लगे होने के कारण और तुरत होने वाले युद्ध के लिए त्वरितमनस्क होने के कारण दृष्टि के दोलायमान होने पर भी युद्ध में (वीरों की) अतिशय त्वरा होती है, यह 'व्यतिरेक' वाच्य अलङ्कार है। जो यह प्रिया के कुचकुड्मलों से उपमा ध्वनित हो रही है, समस्त जनों को भीत करने वाले भी, मर्दनोद्यत शत्रुओं के हाथियों के कुम्भस्थलों में उस (उपमा) के कारण रति धारण करते हुए (वीरों) का बहुमान है, इस कारण वही (ध्वन्यमान उपमा) वीरतातिशय का चमत्कार उत्पन्न करती है अतः उपमा का प्राधान्य है। असुरों पर पराक्रम के अवसर में—। वहां इस (कामदेव) की त्रैलोक्यविजय वर्णन करते हैं।

ध्वन्यालोकः

तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेन ॥
(तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥ इति छाया)

आक्षेपध्वनिर्यथा—

स वक्तुमखिलाञ्शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान् ।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः ॥

उन (असुरों) के लक्ष्मी के साथ पैदा होनेवाले रत्नों के लूटने में एकरस हृदय को कामदेव ने प्रियाओं के बिम्बाधर में संलग्न कर दिया।

आक्षेपध्वनि, जैसे—

'हयग्रीव भगवान् के समस्त गुणों को वह कह सकता है जो जल के घड़ों से महासमुद्र के परिमाण को जान सकता है।'

लोचनम्

त्रैलोक्यविजयो हि तत्रास्य वर्ण्यते। तेषामसुराणां पातालवासिनां यैः पुनः पुनरिन्द्रपुरावमर्दनादि किं किं न कृतं तद्धृदयमिति यत्तेभ्यस्तेभ्योऽतिदुष्करेभ्योऽप्यकम्पनीयव्यवसायं तच्च। श्रीसहोदराणामत एवानिर्वाच्योत्कर्षाणामित्यर्थः। तेषां रत्नानामा समन्ताद्धरणे एकरसं तत्परं यद्धृदयं तत्कुसुमबाणेन सुकुमारतरोपकरणसम्भारेण प्रियाणां बिम्बाधरे निवेशितम्, तदवलोकनपरिचुम्बनदर्शनमात्रकृतकृत्यताभिमानयोगि तेन कामदेवेन कृतम्। तेषां हृदयं यदत्यन्तं विजिगीषाज्वलनजाज्वल्यमानमभूदिति यावत्। अत्रातिशयोक्तिर्वाच्यालङ्कारः। प्रतीयमाना चोपमा। सकलरत्नसारतुल्यो बिम्बाधर इति हि तेषां बहुमानो वास्तव एव। अत एव न रूपकध्वनिः। रूपकस्यारोप्यमाणत्वे-

जिन्होंने बार बार इन्द्रपुरी (अमरावती) के अवमर्दन आदि क्या क्या नहीं किया उन पातालवासी असुरों का हृदय और जो उन उन अतिदुष्कर कार्यों से अविचलनीय व्यवसाय वाला है, वह। लक्ष्मी के साथ पैदा होने वाले, अर्थात् जिनके उत्कर्ष का वर्णन नहीं किया जा सकता। उन रत्नों के समग्रतया हरण में एकरस अर्थात् तत्पर जो हृदय वह सुकुमारतर उपकरण-सम्भार वाले (अर्थात् फूलों के बाण वाले) कामदेव ने प्रियाओं के बिम्बाधर में संलग्न कर दिया, अर्थात् उस कामदेव ने (उनके हृदय को) उसके अवलोकन, परिचुम्बन, दर्शनमात्र में अपने को कृतकृत्य मान लेने वाला बना दिया है। उनका हृदय, जो अत्यन्त विजयेच्छा की अग्नि से प्रज्वलित हो रहा था। यहां अतिशयोक्ति वाच्य अलङ्कार है और उपमा प्रतीयमान है। क्यों कि उनका यह बहुमान कि बिम्बाधर सारे रत्नों के सारतुल्य है, वास्तव है। अतएव रूपक ध्वनि

ध्वन्यालोकः

अत्रातिशयोक्त्या हयग्रीवगुणानामवर्णनीयताप्रतिपादनरूपस्यासाधारणतद्विशेषप्रकाशनपरस्याक्षेपस्य प्रकाशनम् ।

अर्थान्तरन्यासध्वनिः शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्योऽर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्च सम्भवति । तत्राद्यस्योदाहरणम्—

देव्वाएत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणा भणिमो ।
कङ्किल्लपल्लवाः पल्लवाणँ अण्णाण ण सरिच्छा ॥

यहां अतिशयोक्ति से हयग्रीव के गुणों की अवर्णनीयता-प्रतिपादनरूप, और उन (गुणों) की विशेषता प्रकाशनपरक 'आक्षेप' का प्रकाशन है ।

'अर्थान्तरन्यासध्वनि' शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूप व्यङ्ग्य और अर्थशक्तिमूल अनुरणनरूप व्यङ्ग्य (इन दो प्रकारों से) सम्भव है । इनमें प्रथम का उदाहरण—

'फल विधाता के अधीन है, क्या किया जाय ? (फिर भी) इतना कहते हैं कि रक्ताशोक के पल्लव अन्य पल्लवों के सदृश नहीं होते ।'

लोचनम्

नावास्तवत्वात् । तेषामसुराणां वस्तुवृत्त्यैव सादृश्यं स्फुरति । तदेव च सादृश्यं चमत्कारहेतुः प्राधान्येन । *अतिशयोक्त्येति* । वाच्यालङ्काररूपयेत्यर्थः । अवर्णनीयताप्रतिपादनमेवाक्षेपस्य रूपमिष्टप्रतिषेधात्मकत्वात् । तस्य प्राधान्यं विशेषणद्वारेणाह—*असाधारणेति* ।

सम्भवतीत्यनेन प्रसङ्गाच्छब्दशक्तिमूलस्यात्र विचार इति दर्शयति ।

दैवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत्पुनर्भणामः ।
रक्ताशोकपल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृशाः ॥

अशोकस्य फलमाम्रादिवन्नास्ति, किं क्रियतां पल्लवास्त्वतीव हृद्या इतीयताभिधा समाप्तैव । अत्र फलशब्दस्य शक्तिवशात्समर्थकमस्य वस्तुनः पूर्वमेव प्रतीयते । लोकोत्तरजिगीषातदुपायप्रवृत्तस्यापि हि फलं सम्पल्लक्षणं दैवायत्तं

नहीं है । क्यों कि रूपक आरोप्यमाण होने के कारण वास्तव नहीं होता । उन असुरों के वस्तुतः ही सादृश्य स्फुरित होता है । और वही सादृश्य प्रधान रूप से चमत्कार का हेतु है । अतिशयोक्ति से—। अर्थात् वाच्यालङ्कार रूप अतिशयोक्ति से । अवर्णनीयता का प्रतिपादन ही आक्षेप का लक्षण है, क्यों कि (वह) इष्ट का प्रतिषेध रूप होता है । विशेषण द्वारा उसका प्राधान्य कहते हैं—उन (गुणों) की विशेषता—।

'सम्भव है' इससे प्रसङ्ग से शब्दशक्तिमूल का यहां विचार है, यह दिखाते हैं ।

अशोक का फल आम आदि की भांति नहीं है, क्या किया जाय ! परन्तु पल्लव अतीव हृद्य हैं, यहां तक अभिधा समाप्त ही है । यहां 'फल' शब्द के शक्तिवश इस वस्तु का समर्थक पहले ही प्रतीत होता है । लोकोत्तर विजयेच्छा और उसके उपाय में प्रवृत्त का

ध्वन्यालोकः

पदप्रकाशश्चायं ध्वनिरिति वाक्यस्यार्थान्तरतात्पर्येऽपि सति न विरोधः। द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

हिअअट्ठाविअमण्णुं अवरुण्णमुहं हि मं पसाअन्त।
अवरद्धस्स वि ण हु दे पहुजाणअ रोसिउं सक्कम्॥
(हृदयस्थापितमन्युमपरोषमुखीमपि मां प्रसादयन्।
अपराद्धस्यापि न खलु ते बहुज्ञ रोषितुं शक्यम्॥ इति छाया)

यह ध्वनि पदप्रकाश है, इसलिए वाक्य के अर्थान्तर में तात्पर्य होने पर भी विरोध नहीं है। दूसरे का उदाहरण, जैसे—

हृदय में क्रोध स्थापित करके मुख पर क्रोध प्रकट न करनेवाली भी मुझे तुम प्रसन्न कर रहे हो, इसलिए हे बहुत समझदार, तुम्हारे अपराधी होने पर भी तुम पर क्रोध नहीं किया जा सकता।

लोचनम्

कदाचिन्न भवेदपीत्येवंरूपं सामान्यात्मकम्। नन्वस्य सर्ववाक्यस्याप्रस्तुतप्रशंसा प्राधान्येन व्यङ्ग्या तत्कथमर्थान्तरन्यासस्य व्यङ्ग्यता, द्वयोर्युगपदेकत्र प्राधान्यायोगादित्याशङ्क्याह—*पदप्रकाशेति*। सर्वो हि ध्वनिप्रपञ्चः पदप्रकाशो वाक्यप्रकाशश्चेति वक्ष्यते। तत्र फलपदेऽर्थान्तरन्यासध्वनिः प्राधान्येन। वाक्ये त्वप्रस्तुतप्रशंसा। तत्रापि पुनः फलपदोपात्तसमर्थ्यसमर्थकभावप्राधान्यमेव भातीत्यर्थान्तरन्यासध्वनिरेवायमिति भावः।

हृदये स्थापितो न तु बहिः प्रकटितो मन्युर्यया। अत एवाप्रदर्शितरोषमुखीमपि मां प्रसादयन् हे बहुज्ञ, अपराद्धस्यापि तव न खलु रोषकरणं शक्यम्। अत्र बहुज्ञेत्यामन्त्रणार्थो विशेषे पर्यवसितः। अनन्तरं तु तदर्थपर्या-

भी सम्पत् रूप फल कदाचित् न भी हो, इस प्रकार का सामान्य रूप (समर्थक) है। इस समग्र वाक्य का प्रधान रूप से व्यङ्ग्य अप्रस्तुत प्रशंसा है, तो अर्थान्तरन्यास का व्यङ्ग्यत्व कैसे ? क्यों कि दोनों का एक ही समय प्राधान्य नहीं होगा, यह आशङ्का करके कहते हैं—पदप्रकाश—। यह कहेंगे कि सारा ध्वनिप्रपञ्च पदप्रकाश और वाक्य-प्रकाश होता है। वहां 'फल' पद में अर्थान्तरन्यासध्वनि प्रधानरूप से है। वाक्य में अप्रस्तुत-प्रशंसा है। भाव यह कि वहां भी फिर 'फल' पद से उपात्त समर्थ्यसमर्थकभाव का प्राधान्य ही प्रतीत होता है, अतः यह अर्थान्तरन्यासध्वनि है।

हृदय में स्थापित किया है न कि बाहर प्रकट किया है मन्यु (क्रोध) को जिसने। अतएव रोष को प्रदर्शित न करने वाली भी मुझे प्रसादन करता हुआ, हे बहुत समझदार, अपराधी होने पर भी तुम पर रोष करना शक्य नहीं। यहां 'बहुत समझदार' यह आमन्त्रणार्थ विशेष में पर्यवसित है। बाद में उसके अर्थ के पर्यालोचन से जो

ध्वन्यालोकः

अत्र हि वाच्यविशेषेण सापराधस्यापि बहुज्ञस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकं सामान्यमन्वितमन्यत्तात्पर्येण प्रकाशते।

व्यतिरेकध्वनिरप्युभयरूपः सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणं प्राक्प्रदर्शितमेव।

द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

जाएज्ज वणुद्देसे खुज्ज व्विअ पाअवो गडिअवत्तो।
मा माणुसम्मि लोए ताएक्करसो दरिद्दो अ॥
(जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव पादपो गलितपत्रः।
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च॥ इति छाया)

यहाँ वाच्य विशेष से 'अपराधी होने पर भी बहुत समझदार पर क्रोध नहीं किया जा सकता' यह समर्थक सामान्य तात्पर्य से अन्वित अन्य (विशेष) को प्रकाशित करता है।

व्यतिरेक ध्वनि भी दो प्रकार का सम्भव है। उनमें प्रथम का उदाहरण पहले दिखाया ही है। दूसरे का उदाहरण, जैसे—

जंगल के प्रदेश में ही गलितपत्र कुबड़ा वृत्त (बनकर) पैदा हो, पर मनुष्य लोक में त्याग में परायण और दरिद्र मत हो।

लोचनम्

लोचनाद्यत्सामान्यरूपं समर्थकं प्रतीयते तदेव चमत्कारकारि। सा हि खण्डिता सती वैदग्ध्यानुनीता तं प्रत्यसूयां दर्शयन्तीत्थमाह। यः कश्चिद्बहुज्ञो धूर्तः स एवं सापराधोऽपि स्वापराधावकाशमाच्छादयतीति मा त्वमात्मनि बहुमानं मिथ्या ग्रहीरिति। *अन्वितमिति*। विशेषे सामान्यस्य संबद्धत्वादिति भावः।

व्यतिरेकध्वनिरपीति। अपिशब्देनार्थान्तरन्यासवदेव द्विप्रकारत्वमाह। *प्रागिति*। 'खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति' इति। 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः' इति। जायेय, वनोद्देश

सामान्य रूप समर्थक प्रतीत होता है वही चमत्कारकारी है। वह खण्डिता (नायक द्वारा) विदग्धा से अनुनय किये जाने पर उसके प्रति असूया दिखाती हुई इस प्रकार कहती है। जो कोई बहुत समझदार धूर्त है वह इस प्रकार अपराधी होकर भी अपने अपराध का स्थान ढंकता है, इस लिए तुम अपने में मिथ्या बहुमान न रखो। अन्वित—। भाव यह कि विशेष में सामान्य सम्बद्ध होता है।

व्यतिरेकध्वनि भी—। 'भी' शब्द से अर्थान्तरन्यास की भांति ही दो प्रकार होना कहा है। पहले—। 'खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति०' और 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः०' पैदा हो, जंगल

ध्वन्यालोकः

अत्र हि त्यागैकरसस्य दरिद्रस्य जन्मानभिनन्दनं त्रुटितपत्रकुब्जपादपजन्माभिनन्दनं च साक्षाच्छब्दवाच्यम्। तथाविधादपि पादपात्तादृशस्य पुंस उपमानोपमेयत्वप्रतीपूर्वकं शोच्यतायामाधिक्यं तात्पर्येण प्रकाशयति। उत्प्रेक्षाध्वनिर्यथा—

चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः।
मूर्च्छयत्येष पथिकान्मधौ मलयमारुतः॥

अत्र हि मधौ मलयमारुतस्य पथिकमूर्च्छाकारित्वं मन्मथोन्माथ-

यहां त्यागपरायण दरिद्र (पुरुष) के जन्म का न अभिनन्दन और त्रुटितपत्र एवं कुबड़े वृक्ष के जन्म का अभिनन्दन साक्षात् शब्द का वाच्य है। उस प्रकार के भी वृक्ष से उस प्रकार के पुरुष की उपमानोपमेय सम्बन्ध की प्रतीतिपूर्वक तात्पर्यतः शोचनीयता का आधिक्य प्रकाशित करता है। उत्प्रेक्षाध्वनि, जैसे—

वसन्तकाल में चन्दन में लिपटे सर्पों की सांस की हवा से बढ़ा हुआ यह मलयमारुत पथिक जनों को मूर्च्छित करता है।

यहां वसन्तकाल में मलयमारुत का पथिकमूर्च्छाकारी होना काम के उन्माथ

लोचनम्

एव वनस्यैकान्ते गहने यत्र स्फुटतरबहुवृक्षसम्पत्त्या प्रेक्षतेऽपि न कश्चित्। कुब्ज इति रूपघटनादावनुपयोगी। *गलितपत्र इति*। छायामपि न करोति तस्य का पुष्पफलवत्तेत्यभिप्रायः। तादृशोऽपि कदाचिदाङ्गारिकस्योपयोगी भवेदुलूकादीनां वा निवासायेति भावः। *मानुष इति*। सुलभार्थिजन इति भावः। *लोक इति*। यत्र लोक्यते सोऽर्थिभिस्तेन चार्थिजनो न च किंचिच्छक्यते कर्तुं तन्महद्वैशसमिति भावः। अत्र वाच्यालङ्कारो न कश्चित्। उपमानेत्यनेन व्यतिरेकस्य मार्गपरिशुद्धिं करोति। *आधिक्यमिति*। व्यतिरेकमित्यर्थः।

के प्रदेश में ही, वन के एकान्त गहन में जहां स्पष्ट रूप से बहुत वृक्षों के कारण कोई दिखाई नहीं देता। कुबड़ा अर्थात् रूपघटना आदि के सम्बन्ध में अनुपयोगी। गलितपत्र—। अभिप्राय यह कि छाया भी नहीं करता है उसके पुष्पित-फलित होने की बात ही कौन? भाव यह कि उस प्रकार का भी (वृक्ष) कदाचित् आङ्गारिक के उपयोग में आ जाय अथवा उल्लू पक्षियों के निवास के लिए हो। मनुष्य—। भाव यह कि जहां अर्थिजन सुलभ हैं। लोक—। भाव यह कि जहां अर्थिजनों से वह और उससे अर्थिजन देखे जाते हैं, (वहां यदि) नहीं कुछ कर सकते हैं तब वह बड़ा अपराध है। यहां कोई वाच्य अलङ्कार नहीं है। 'उपमान' इसके द्वारा व्यतिरेक के मार्ग का परिशोधन करते हैं। आधिक्य—। अर्थात् व्यतिरेक। उत्प्रेक्षा की है—। क्यों कि विषवात से

ध्वन्यालोकः

दायित्वेनैव । तत्तु चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितत्वेनोत्प्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा साक्षादनुक्तापि वाक्यार्थसामर्थ्यादनुरणनरूपा लक्ष्यते । न चैवंविधे विषये इवादिशब्दप्रयोगमन्तरेणासंबद्धतैवेति शक्यते वक्तुम् । गमकत्वादन्यत्रापि तदप्रयोगे तदर्थावगतिदर्शनात् । यथा—

देने वाला होने के कारण ही है, परन्तु उसे चन्दन में लिपटे हुए सर्पों की सांस की हवा से बढ़े होने (मूर्च्छित होने) के कारण उत्प्रेक्षा की है, इस प्रकार साक्षात् अनुक्त भी उत्प्रेक्षा वाच्यार्थ की सामर्थ्य से अनुरणन रूप में लक्षित होती है । इस प्रकार के विषय में 'इव' आदि शब्दों के प्रयोग के बिना असम्बद्धता ही है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि गमक हैं, अन्यत्र भी उनका प्रयोग न होने पर उनके अर्थ का ज्ञान देखा जाता है । जैसे—

लोचनम्

उत्प्रेक्षितमिति । विषवातेन हि मूर्च्छितो बृंहित उपचितो मोहं करोति । एकश्च मूर्च्छितः पथिकमध्येऽन्येषामपि धैर्यच्युतिं विदधन्मूर्च्छां करोतीतीत्युभयथोत्प्रेक्षा । नन्वत्र विशेषणमधिकीभवद्धेतुतयैव सङ्गच्छते । ततः किं ? न हि हेतुता परमार्थतः । तथापि तु हेतुता उत्प्रेक्ष्यत इति यत्किञ्चिदेतत् । *तदिति* । तस्येवादेरप्रयोगेऽपि तस्यार्थस्येत्युत्प्रेक्षारूपस्यावगतेः प्रतीतेर्दर्शनात् । एतदेवोदाहरति—*यथेति* । ईर्ष्याकलुषस्यापीषदरुणच्छायाकस्य । यदि तु प्रसन्नस्य मुखस्य सादृश्यमुद्वहेत्सर्वदा वा तत्किं कुर्यात्त्वन्मुखं त्वेतद्भवतीति मनोरथानामप्यपथमिदमित्यपिशब्दस्याभिप्रायः । अङ्ग स्वदेहे न मात्येव दश दिशः पूरयति यतः । अद्येयता कालेनैकं दिवसमात्रमित्यर्थः । अत्र पूर्णचन्द्रेण दिशां पूरणं स्वरससिद्धमेवमुत्प्रेक्ष्यते ।

मूर्च्छित बृंहित या उपचित होकर मोह उत्पन्न करता है । और एक मूर्च्छित होकर पथिकों के बीच अन्य लोगों का भी धैर्य च्युत करता हुआ मूर्च्छा करता है, इस प्रकार दोनों प्रकार से उत्प्रेक्षा है । शंका करते हैं कि यहां विशेष अधिक होने के कारण हेतु रूप से संगत होता है । (समाधान देते हैं) कि तो क्या ? परमार्थतः हेतुत्व नहीं है । तब भी हेतुत्व उत्प्रेक्षित होता है, अतः यह कुछ ही है । उनका— । क्योंकि उन 'इव' आदि के प्रयोग न होने पर भी उत्प्रेक्षारूप उस अर्थ की अवगति या प्रतीति देखी जाती है । इसका ही उदाहरण देते हैं—जैसे— । ईर्ष्या से कलुष अर्थात् ईषदरुण छाया वाला भी । परन्तु यदि प्रसन्न मुख का सादृश्य धारण करता तो सब समय क्या कर डालता । तेरा मुख यह होता है (अर्थात् चन्द्र होता है) यह बात मनोरथों का भी विषय नहीं हो सकती, यह 'भी' (अपि) शब्द का अभिप्राय है । अङ्ग में अर्थात् अपनी देह में नहीं समाता है जिस कारण दस दिशाओं को पूरित करता है । आज

ध्वन्यालोकः

ईसाऽकलुसस्स वि तुह मुहस्स णं एस पुण्णिमाचन्दो ।
अज्ज सरिसत्तणं पाविऊण अङ्गे विअ ण माइ ॥
(ईर्ष्याकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूर्णिमाचन्द्रः ।
अद्य सदृशत्वं प्राप्याङ्ग एव न माति ॥ इति छाया)

यथा वा—

त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्
पुंभिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि ।
तस्थौ तथापि न मृगः क्वचिदङ्गनाभि
राकर्णपूर्णनयनेषुहतेक्षणश्रीः ॥

यह पूर्णिमाचन्द्र ईर्ष्या से कलुष भी तुम्हारे मुख का आज सादृश्य पाकर मानों अपने अङ्ग में ही नहीं समाता है ।

अथवा जैसे—

भय से व्याकुल, चारों ओर घरों में दौड़ते हुए हिरन को किन्हीं धनुर्धारी पुरुषों ने नहीं पीछा किया, तथापि वह मानों कहीं अङ्गनाओं द्वारा कान तक खींचे हुए नेत्र के बाण से आंखों की शोभा के नष्ट हो जाने के कारण कहीं नहीं ठहरा ।

लोचनम्

ननु ननुशब्देन वितर्कोत्प्रेक्षारूपमाचक्षाणेनासम्बद्धता निराकृतेति सम्भावयमान उदाहरणान्तरमाह-*यथा वेति* । परितः सर्वतो निकेतान् परिपतन्नाक्रमन्न कैश्चिदपि चापपाणिभिरसौ मृगोऽनुबद्धस्तथापि न क्वचित्तस्थौ त्रासचापलयोगात्स्वाभाविकादेव । तत्र चोत्प्रेक्षा ध्वन्यते-अङ्गनाभिराकर्णपूर्णैर्नेत्रशरैर्हता ईक्षणश्रीः सर्वस्वभूता यस्य यतोऽतो न तस्थौ । नन्वेतदप्यसम्बद्धमस्त्वित्या-

अर्थात् इतने समय से एक दिन मात्र । यहां स्वभावतः सिद्ध पूर्णचन्द्र द्वारा दिशाओं का पूरण इस प्रकार उत्प्रेक्षित होता है ।

'मानों' (ननु) इस शब्द से वितर्क रूप उत्प्रेक्षा का अभिधान करते हुए 'असम्बद्धता निराकरण की गई है' यह सम्भावना करते हुए दूसरा उदाहरण कहते हैं—अथवा जैसे—। चारों ओर घरों में दौड़ता अर्थात् चौकड़ी भरता हुआ यह मृग किसी धनुर्धारी से पीछा नहीं किया गया तथापि कहीं नहीं ठहरा भय के कारण स्वाभाविक चापलयोग से ही । वहां उत्प्रेक्षा ध्वनित हो रही है कि अङ्गनाओं के कान तक खींचे हुए नेत्रबाणों से सर्वस्वभूत जिसकी नेत्रशोभा हत हो गई है । जिस कारण उस कारण

ध्वन्यालोकः

शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम् ।

श्लेषध्वनिर्यथा—

रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः ।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः ॥

शब्द और अर्थ के व्यवहार में प्रसिद्धि ही प्रमाण है ।

श्लेषध्वनि, जैसे—

जिस (द्वारका नगरी) में युवक लोग सुन्दर होने के कारण प्रसिद्धि को प्राप्त, एकान्त या पवित्र होने के कारण राग को बढ़ाने वाली एवं झुकी जाती हुई त्रिवलि वाली वधुओं के साथ, रम्य होने के कारण पताकाओं से युक्त, एकान्त होने से राग (सम्भोग की अभिलाष) बढ़ाने वाली, झुके हुए छज्जों वाली वलभियों (निजी वासगृहों) का सेवन करते थे ।

लोचनम्

शङ्कयाह—*शब्दार्थेति* । पताका ध्वजपटान् प्राप्तवती । रम्या इति हेतोः । पताकाः प्रसिद्धीः प्राप्तवतीः । किमाकाराः प्रसिद्धीः रम्या इत्येवमाकाराः । विविक्ता जनसङ्कुलत्वाभावादित्यतो हेतो रागं सम्भोगाभिलाषं वर्धयन्तीः । अन्ये तु रागं चित्रशोभामिति । तथा रागमनुरागं वर्धयन्तीः । यतो हेतोः विविक्ता विभक्ताङ्ग्यो लटभाः याः । नमन्ति वलीकानि छदिपर्यन्तभागा यासु । नमन्त्यो वल्ल्यस्त्रिवलीलक्षणा यासाम् । सममिति सहेत्यर्थः । ननु समशब्दात्तुल्यार्थोऽपि प्रतीतः । सत्यम्; सोऽपि श्लेषबलात् । श्लेषश्च नाभिधावृत्तेराक्षिप्तः, अपि त्वर्थसौन्दर्यबलादेवेति सर्वथा ध्वन्यमान एव श्लेषः । अत

नहीं ठहरा । यह भी असम्बद्ध है यह आशङ्का करके कहते हैं—शब्द और अर्थ— । पताका अर्थात् ध्वजपटों को प्राप्त करती हुई । रम्य होने के कारण । पताका अर्थात् प्रसिद्धियां प्राप्त करती हुई । किस आकार की प्रसिद्धियां ? रम्य आकार की । विविक्त अर्थात् लोगों को भीड़-भाड़ न होने के कारण राग अर्थात् सम्भोग की अभिलाषा बढ़ाती हुई । दूसरे (कहते हैं) राग अर्थात् चित्रशोभा । उस प्रकार राग अर्थात् अनुराग बढ़ाती हुई । जिस कारण से विविक्त अर्थात् विभक्त अङ्गों वाली लटभाएं (सुन्दरियां) । झुक रहे हैं वलीक अर्थात् छज्जे जिनमें । झुक रही हैं वलियां अर्थात् त्रिवलियां जिनकी । समं (साथ) अर्थात् साथ । शंका करते हैं कि 'सम' शब्द 'तुल्य' अर्थ में भी मालूम है ? (समाधान करते हैं कि) ठीक है, वह भी श्लेष के बल से (अर्थात् यहां 'समं' का तुल्य अर्थ भी श्लेष के बल से है प्रतीत होगा) । और श्लेष (यहां) अभिधावृत्ति से आक्षिप्त नहीं, अपितु अर्थसौन्दर्य के बल से ही (आक्षिप्त है), इस लिए सर्वथा श्लेष

ध्वन्यालोकः

अत्र वधूभिः सह वलभीरसेवन्तेति वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं वध्व इव वलभ्य इति श्लेषप्रतीतिरशब्दाप्यर्थसामर्थ्यान्मुख्यत्वेन वर्तते ।

यथासङ्ख्यध्वनिर्यथा—

अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च सहकारः ।

यहां 'वधुओं के साथ वलभियों की सेवा की' इस वाक्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर 'वधुओं के समान वलभी' इस श्लेष की प्रतीति शब्दजनित न होकर भी अर्थसामर्थ्य से मुख्य रूप में होती है।

यथासंख्यध्वनि, जैसे--

आम्रवृक्ष अङ्कुरित, पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ और हृदय में मदन

लोचनम्

एव वध्व इव वलभ्य इत्यभिदधतापि वृत्तिकृतोपमाध्वनिरिति नोक्तम्। श्लेषस्यैवात्र मूलत्वात्। समा इति हि यदि स्पष्टं भवेत्तदोपमाया एव स्पष्टत्वाच्छ्लेषस्तदाक्षिप्तः स्यात्। सममिति निपातोऽञ्जसा सहार्थवृत्तिर्व्यञ्जकत्वबलेनैव क्रियाविशेषणत्वेन शब्दश्लेषतामेति। न च तेन विनाभिधाया अपरिपुष्टता काचित्। अत एव समाप्तायामेवाभिधायां सहृदयैरेव स द्वितीयोऽर्थोऽपृथक्प्रयत्नेनैवावगम्यः। यथोक्तं प्राक्—'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव' इत्यादि। एतच्च सर्वोदाहरणेष्वनुसर्तव्यम्। 'पीनश्चैत्रो दिवा नात्ति' इत्यत्राभिधैवापर्यवसितेति सैव स्वार्थनिर्वाहायार्थान्तरं शब्दान्तरं वाकर्षतीत्यनुमानस्य श्रुतार्थापत्तेर्वा तार्किकमीमांसकयोर्न ध्वनिप्रसङ्ग इत्यलं बहुना। तदाह—अशब्दापीति।

ध्वन्यमान ही है। इसी लिए 'वधुओं के समान बल भी' यह कहते हुए भी वृत्तिकार ने 'उपमाध्वनि' यह नहीं कहा, क्यों कि यहां श्लेष ही मूल है। यदि ('समं' के स्थान पर) 'समाः' यह स्पष्ट हो जाय तब उपमा के स्पष्ट हो जाने से श्लेष उसके द्वारा आक्षिप्त होता। 'समं' यह निपात झटिति 'साथ' अर्थ का बोध करके व्यञ्जकत्व के बल से ही क्रियाविशेषण होने के कारण शब्दश्लेषत्व को प्राप्त कर लेना है। उसके विना अभिधा का कोई अपरिपोष नहीं होता। अतएव अभिधा के समाप्त होने पर ही सहृदयों के ही वह दूसरा अर्थ बिना पृथक् प्रयत्न के अवगत होता है। जैसा कि पहले कहा है— 'शब्द और अर्थ के शासन के ज्ञानमात्र से ही०' इत्यादि। यह सब उदाहरणों में समझ लेना चाहिए। 'मोटा चैत्र (नाम का व्यक्ति) दिन में भोजन नहीं करता है' यहां अभिधा ही पर्यवसित न होकर अपने अर्थ के निर्वाह के लिए (रात्रिभोजनरूप) दूसरे अर्थ या ('रात्रि में भोजन करता है') इस रूप शब्द को आकृष्ट करती है, इस प्रकार अनुमान के अथवा श्रुतार्थापत्ति के होने से तार्किक या मीमांसक के मत में ध्वनि का प्रसङ्ग नहीं है, इत्यलं बहुना। तो कहते हैं—शब्दजनित न होकर भी—। इस प्रकार

ध्वन्यालोकः

अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च हृदि मदनः ॥

अत्र हि यथोद्देशमनूद्देशे यच्चारुत्वमनुरणनरूपं मदनविशेषण-भूताङ्कुरितादिशब्दगतं तन्मदनसहकारयोस्तुल्ययोगितासमुच्चयलक्षणा-द्वाच्यादतिरिच्यमानमालक्ष्यते। एवमन्येऽप्यलङ्कारा यथायोगं योजनीयाः।

अङ्कुरित, पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ।

यहां पहले क्रम के अनुसार दूसरे क्रम में जो अनुरणनरूप चारुत्व मदन के विशेषभूत अङ्कुरित आदि शब्द में प्रतीत होता है वह मदन और आम्रवृक्ष के तुल्य-योगिता या समुच्चयरूप वाच्य से अधिक (चारुत्वपूर्ण) दिखाई देता है। इस प्रकार अन्य अलङ्कार भी, जहां जैसा उचित हो, योजन कर लेने चाहिए ॥ २७ ॥

लोचनम्

एवमन्येऽपीति। सर्वेषामेवार्थालङ्काराणां ध्वन्यमानता दृश्यते। यथा च दीपकध्वनिः—

मा भवन्तमनलः पवनो वा वारणो मदकलः परशुर्वा।
वज्रमिन्द्रकरविप्रसृतं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्ष ॥

इत्यत्र बाधिष्टेति गोप्यमानादेव दीपकादत्यन्तस्नेहास्पदत्वप्रतिपत्त्या चारु-त्वनिष्पत्तिः। अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनिरपि—

ढुण्ढुल्लन्तो मरिहिसि कण्टअकलिआइं केअइवणाइं।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमन्तो ण पाविहिसि ॥

प्रियतमेन साकमुद्याने विहरन्ती काचिन्नायिका भ्रमरमेवमाहेति भृङ्गस्या-भिधायां प्रस्तुतत्वमेव। न चामन्त्रणादप्रस्तुतत्वावगतिः, प्रत्युतामन्त्रणं तस्या मौग्ध्यविजृम्भितमिति अभिधया तावन्नाप्रस्तुतप्रशंसा समाप्या। समाप्तायां

अन्य भी—। सभी अर्थालङ्कारों की ध्वन्यमानता देखी जाती है। जैसे दीपकध्वनि—

हे वृक्ष तुम्हें अनल, या पवन, या मतवाला हाथी, या परशु या इन्द्र के हाथ से छोड़ा हुआ वज्र मत (बाधित करे), लता के साथ तुम्हारा कल्याण हो।

यहां 'बाधित करे' इस छिपाए जाते हुए ही 'दीपक' से अत्यन्त स्नेह के आस्पद होने की प्रतीति के द्वारा चारुत्व की निष्पत्ति होती है। 'अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनि' भी—

हे भ्रमर कंटीले केतकी के वनों को ढूंढता-ढूंढता तू मर जायगा पर घूमता हुआ मालती के पुष्प के सदृश को नहीं प्राप्त करेगा।

प्रियतम के साथ उद्यान में विहार करती हुई किसी नायिका ने भौंरे से इस प्रकार कहा, इस प्रकार भौंरा अभिधा में प्रस्तुत ही है। आमन्त्रण के कारण (भौंरा के अप्रस्तुत होने का) ज्ञान नहीं होता (अर्थात् यह कहना कि भौंरा का आमंत्रण सम्भव नहीं अतः निश्चय ही वह अप्रस्तुत है, ऐसी बात नहीं) बल्कि आमन्त्रण उस (नायिका) की मुग्धता का विजृम्भित है इसलिए अभिधा से अप्रस्तुतप्रशंसा समाप्त नहीं की जा

लोचनम्

पुनरभिधायां वाच्यार्थबलादन्यापदेशता ध्वन्यते । यत्सौभाग्याभिमानपूर्णा सुकुमारपरिमलमालतीकुसुमसदृशी कुलवधूर्निर्व्याजप्रेमपरतया कृतकवैदग्ध्यलब्धप्रसिद्ध्यतिशयानि शम्भलीकण्टकव्याप्तानि दूरामोदकेतकीवनस्थानीयानि वेश्याकुलानीतश्चेतश्च चक्रूर्यमाणं प्रियतममुपालभते । अपह्नुतिध्वनिर्यथास्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य—

> यः कालागुरुपत्त्रभङ्गरचनावासैकसारायते
> गौराङ्गीकुचकुम्भभूरिसुभगाभोगे सुधाधामनि ।
> विच्छेदानलदीपितोत्कवनिताचेतोधिवासोद्भवं
> सन्तापं विनिनीषुरेष विततैरङ्गैर्नताङ्गि स्मरः ॥

अत्र चन्द्रमण्डलमध्यवर्तिनो लक्ष्मणो वियोगाग्निपरिचितवनिताहृदयोदितप्लोषमलीमसच्छविमन्मथाकारतयापह्नवो ध्वन्यते । अत्रैव ससन्देहध्वनिः—यतश्चन्द्रवर्तिनस्तस्य नामापि न गृहीतम् । अपि तु गौराङ्गीस्तनाभोगस्थानीये चन्द्रमसि कालागुरुपत्त्रभङ्गविच्छित्त्यास्पदत्वेन यः सारतामुत्कृष्टतामाचरतीति तन्न जानीमः किमेतद्वस्त्विति ससन्देहोऽपि ध्वन्यते । पूर्वमनङ्गीकृतप्रणयामनुतप्तां विरहोत्कण्ठितां वल्लभागमनप्रतीक्षापरत्वेन कृतप्रसाधनादिविधितया वासकसज्जीभूतां पूर्णचन्द्रोदयावसरे दूतीमुखानीतः प्रियतमस्त्वदीय-

सकती । फिर अभिधा के समाप्त होने पर वाच्यार्थ के बल से अन्यापदेशता ध्वनित होती है कि सौभाग्य के अभिमान से भरी, सुकुमार एवं परिमल वाली मालती के पुष्प के सदृश कुलवधू अपने निश्छल प्रेम की तल्लीनता से प्रियतम को उलाहना देती है जो अपने कृत्रिम वैदग्ध्य से अतिशय प्रसिद्धिप्राप्त, कुट्टनियों के कंटकों से भरे, एवं दूर तक फैली सुरभि वाले केतकी-वनों के सदृश वेश्याकुलों में इधर-उधर भटका करता है ।

अपह्नुतिध्वनि, जैसे हमारे उपाध्याय भट्ट इन्दुराज का—

जो (कामदेव) गोरे अङ्गों वाली (नायिका) के समान विशेष विस्तार वाले सुधा के धाम, अर्थात् चन्द्रमा में कालागुरु की पत्रभङ्ग की रचना के रूप में सार (अर्थात् उत्कृष्ट) हो रहा है वह, हे नताङ्गि, वियोगाग्नि से प्रदीप्त उत्कण्ठित वनिताओं के चित्त में रहने से उत्पन्न सन्ताप को वितत अङ्गों से निवारण करना चाहता है ।

यहां चन्द्रमण्डल के बीच रहने वाले चिह्न का, वियोग की अग्नि में पके वनिता के हृदय से उत्पन्न ज्वाला से मलिन कान्ति वाले कामदेव के आकार के रूप में अपह्नव ध्वनित हो रहा है । यहां ही 'ससन्देहध्वनि' है—क्योंकि चन्द्र में रहने वाले उस (चिह्न) का नाम भी नहीं लिया है, बल्कि गोरे अङ्गों वाली के स्तन-विस्तार के सदृश चन्द्रमा में कालागुरु की पत्रभङ्ग-विच्छित्ति के आस्पद रूप में सारता अर्थात् उत्कृष्टता का आचरण कर रहा है, हम नहीं जानते कि यह क्या वस्तु है, इस प्रकार 'ससन्देह' भी ध्वनित हो रहा है । पहले प्रणय को स्वीकार नहीं किया, बाद में अनुतप्त, विरह से उत्कण्ठित, प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा में संलग्न होने के कारण बनाव-सिंगार के

लोचनम्

कुचकलशन्यस्तकालागुरुपत्रभङ्गरचना मन्मथोद्दीपनकारिणीति चाटुकं कुर्वाणश्चन्द्रवर्तिनी चेयं कुवलयदलश्यामलकान्तिरेवमेव करोतीति प्रतिवस्तूपमाध्वनिरपि। सुधाधामनीति चन्द्रपर्यायतयोपात्तमपि पदं सन्तापं विनिनीषुरित्यत्र हेतुतामपि व्यनक्तीति हेत्वलङ्कारध्वनिरपि। त्वदीयकुचशोभा मृगाङ्कशोभा च सह मदनमुद्दीपयत इति सहोक्तिध्वनिरपि। 'त्वत्कुचसदृशश्चन्द्रश्चन्द्रसमस्त्वत्कुचाभोगः' इत्यर्थप्रतीतेरुपमेयोपमाध्वनिरपि। एवमन्येऽप्यत्र भेदाः शक्योत्प्रेक्षाः। महाकविवाचोऽस्याः कामधेनुत्वात्। यतः—

हेलापि कस्यचिदचिन्त्यफलप्रसूत्यै कस्यापि नालमणवेऽपि फलाय यत्नः।
दिग्दन्तिरोमचलनं धरणीं धुनोति खात्सम्पतन्नपि लतां चलयेन्न भृङ्गः॥

एषां तु भेदानां संसृष्टित्वं सङ्करत्वं च यथायोगं चिन्त्यम्। अतिशयोक्तिध्वनिर्यथा ममैव—

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोर्धुर्यं वपुस्ते दृशौ
भङ्गीभङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः।

विधान से वासकसज्जा बनी हुई (नायिका) को पूर्ण चन्द्र के उदय के अवसर में दूती के द्वारा लाया गया प्रियतम तुम्हारे कुचकलश में लगी हुई पत्रभङ्गरचना काम को उद्दीप्त करने वाली है' यह चाटु (चापलूसी) करते हुए और चन्द्र में रहने वाली यह कुवलयदल के समान श्यामल कान्ति इसी प्रकार (काम को उद्दीप्त) करती है, यह 'प्रतिवस्तूपमा ध्वनि' भी है। 'सुधा का धाम' यह चन्द्र के पर्याय के रूप में उपात्त होकर भी 'सन्ताप को निवारण करना चाहता है' इसमें हेतुभाव को व्यक्त करता है, इस प्रकार 'हेतु' अलङ्कार का ध्वनि भी है। तुम्हारे स्तनों की शोभा और मृगाङ्क चन्द्र की शोभा एक साथ काम को उद्दीप्त करती हैं, यह सहोक्तिध्वनि भी है। तुम्हारे स्तन के सदृश चन्द्र है और चन्द्र के सदृश तुम्हारा कुचाभोग है, इस अर्थ की प्रतीति होने से 'उपमेयोपमाध्वनि' भी है। इस प्रकार यहां अन्य भी भेद उत्प्रेक्षित हो सकते हैं। क्यों कि यह महाकवि की वाणी कामधेनु होती है। क्योंकि—

किसी की लीला (मात्र) भी वह काम कर देती है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती और यत्न कुछ भी काम नहीं कर पाता। दिग्गज के रोम का कम्पन धरती को कम्पित कर डालता है, परन्तु भौंरा आकाश से गिर कर भी लता को नहीं हिला पाता।

इन भेदों का संसृष्टित्व और सङ्करत्व यथोचित रूपसे समझ लेने चाहिए। 'अतिशयोक्तिध्वनि', जैसे मेरा ही—

विलासी जनों की क्रीड़ा से अङ्कुरित होने वाले विभ्रमवसन्त के कार्यभार को धारण करने वाला शरीर तेरी आंखें हैं, यह कामदेव का रचना विशेष से टेढ़ा धनुष तेरी भौं के लीलाकर्म का प्रकार है। तेरे मुखकमल में विद्यमान आसव (मद्य) कुछ भी

ध्वन्यालोकः

एवमलङ्कारध्वनिमार्गं व्युत्पाद्य तस्य प्रयोजनवत्तां ख्यापयितुमिदमुच्यते—

इस प्रकार अलङ्कारध्वनि का मार्ग बता कर उसे सप्रयोजन बताने के लिए यह कहते हैं—

लोचनम्

आपातेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः
सत्यं सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारस्त्वमेकाकृतिः ॥

अत्र हि मधुमासमदनासवानां त्रैलोक्ये सुभगतान्योन्यं परिपोषकत्वेन। ते तु त्वयि लोकोत्तरेण वपुषा सम्भूय स्थिता इत्यतिशयोक्तिर्ध्वन्यते। आपातेऽपि विकारकारणमित्यास्वादपरम्पराक्रिययापि विना विकारात्मनः फलस्य सम्पत्तिरिति विभावनाध्वनिरपि। विभ्रममधोर्धुर्यमिति तुल्ययोगिताध्वनिरपि। एवं सर्वालङ्काराणां ध्वन्यमानत्वमस्तीति मन्तव्यम्। न तु यथा कैश्चिन्नियतविषयीकृतम्। *यथायोगमिति* (पृ० २९६)। क्वचिदलङ्कारः क्वचिद्वस्तु व्यञ्जकमित्यर्थो योजनीय इति ॥

ननूक्तास्तावच्चिरन्तनैरलङ्कारास्तेषां तु भवता यदि व्यङ्ग्यत्वं प्रदर्शितं किमियतेत्याशङ्क्याह—*एवमित्यादि*। येषामलङ्काराणां वाच्यत्वेन शरीरीकरणं शरीरभूतात्प्रस्तुतादर्थान्तरभूततया अशरीराणां कटकादिस्थानीयानां शरीरता-

आस्वाद कर लेने पर (विभिन्न) विकारों को उत्पन्न कर देता है, ठीक है, हे सुन्दरि, तेरे एक रूप में विधाता के तीनों जगत् का सार है।

यहां वसन्त, काम और मद्य ये तीनों त्रैलोक्य में एक दूसरे के परिपोषक होने के कारण सुभग हैं। वे तुझमें लोकोत्तर शरीर से मिल कर विद्यमान हैं, यह अतिशयोक्ति ध्वनित हो रही है। 'कुछ आस्वाद कर लेने पर ही विकारों को उत्पन्न कर देता है' यहां लगातार आस्वाद के बिना हुए ही विकार रूप फल का लाभ है, इस प्रकार विभावनाध्वनि भी है। 'विभ्रम-वसन्त के कार्यभार को धारण करने वाला' यहां 'तुल्ययोगिताध्वनि' भी है। इस प्रकार यह मानना चाहिए कि सब अलङ्कार ध्वनित होते हैं, ऐसा नहीं कि किसी ने विषय नियत कर दिया है (कि सिर्फ इतने ही अलङ्कार ध्वनित होते हैं, अन्य नहीं)। यथोचित रूप से। कहीं अलङ्कार व्यञ्जक होता है तो कहीं वस्तु' यह अर्थ लगाना चाहिए ॥ २७ ॥

प्राचीनों ने अलङ्कार कहे हैं, यदि उन (अलङ्कारों) का व्यङ्ग्यत्व आपने दिखाया तो इतने से क्या ? यह आशङ्का करके कहते हैं—'इस प्रकार' इत्यादि। जिन अलंकारों का वाच्य रूप से शरीर रूप होना (शरीरीकरण) अर्थात् शरीरभूत प्रस्तुत से अर्थान्तर रूप होने के कारण 'कटक' आदि की भांति शरीर भिन्न का शरीरतापादन

ध्वन्यालोकः

शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम् ।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः ॥ २८ ॥

ध्वन्याङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यञ्जकत्वेन व्यङ्ग्यत्वेन च । तत्रेह प्रकरणाद्व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम् । व्यङ्ग्यत्वेऽप्यलङ्काराणां प्राधान्यविवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तःपातः । इतरथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं प्रतिपादयिष्यते ॥ २८ ॥

वाच्य रूप से जिनका शरीर रूप होना माना जाता है, वे अलङ्कार ध्वनि के अङ्ग होकर अधिक शोभा लाभ करते हैं ॥ २८ ॥

ध्वन्यङ्गता दो प्रकार से होती है, व्यञ्जक होने से और व्यङ्ग्य होने से । उनमें यहां प्रकरणवश 'व्यङ्ग्य होने' से ध्वन्यङ्गता समझनी चाहिए । व्यङ्ग्य होने पर भी जब अलङ्कारों के प्राधान्य की विवक्षा होगी तभी ध्वनि में (उनका) अन्तःपात होगा । अन्यथा, गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व का प्रतिपादन करेंगे ॥ २८ ॥

लोचनम्

पादनं व्यवस्थितं सुकवीनामयत्नसम्पाद्यतया । यदि वा वाच्यत्वे सति येषां शरीरतापादनमपि न व्यवस्थितं दुर्घटमिति यावत् । तेऽलङ्कारा ध्वनेर्व्यापारस्य काव्यस्य वाऽङ्गतां व्यङ्ग्यरूपतया गताः सन्तः परां दुर्लभां छायां कान्तिमात्मरूपतां यान्ति । एतदुक्तं भवति—सुकविर्विदग्धपुरन्ध्रीवद्भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति, तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसम्पाद्या कुङ्कुमपीतिकाया इव । आत्मतायास्तु का सम्भावनापि । एवम्भूता चेयं व्यङ्ग्यता या अप्रधानभूतापि वाच्यमात्रालङ्कारेभ्य उत्कर्षमलङ्काराणां वितरति ।

बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेत्यमुमर्थं मनसि कृत्वाह—*इतरथा त्विति* ॥२८॥

सुकवियों के द्वारा अयत्नसम्पाद्य होने के कारण व्यवस्थित है । अथवा यदि वाच्य होने पर जिनका शरीरतापादन भी नहीं बन सकता । वे अलङ्कार ध्वनि के व्यापार की अथवा काव्य की व्यङ्ग्य के प्रकार से अङ्गता को प्राप्त होते हुए दुर्लभ छाया अर्थात् कान्ति प्राप्त करते हैं, आत्मा रूप हो जाते हैं । बात यह कही गई—यद्यपि सुकवि विदग्ध पुरन्ध्री की भांति श्लिष्ट (एक में एक सक्त) योजना करता था, तथापि कुंकुम के पीलापन की भांति इस (उपमा आदि अलङ्कार) का शरीरतापादन की बहुत कष्ट से हो पाता है । इस प्रकार की यह व्यङ्ग्यता, जो अप्रधानभूत होकर भी वाच्यमात्र जो अलङ्कार है उनसे अलङ्कारों का ज्यादा उत्कर्ष वितरण करती है ।

'लड़कों की क्रीड़ा में राजपने की भांति' यह बात मन में रख कर कहते हैं—अन्यथ —॥ २८ ॥

ध्वन्यालोकः

अङ्गित्वेन व्यङ्ग्यतायामपि, अलङ्काराणां द्वयी गतिः—कदाचिद्वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते, कदाचिदलङ्कारेण ।

तत्र—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासाम्

अत्र हेतुः—

काव्यवृत्तिस्तदाश्रया ॥ २९ ॥

यस्मात्तत्र तथाविधव्यङ्ग्यालङ्कारपरत्वेनैव काव्यं प्रवृत्तम् । अन्यथा तु तद्वाक्यमात्रमेव स्यात् ॥ २९ ॥

तासामेवालङ्कृतीनाम्—

अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे

अङ्गी (अर्थात् प्रधान) रूप से व्यङ्ग्य होने पर भी अलङ्कारों की दो गति है—कभी वस्तुमात्र से व्यञ्जित होते हैं, कभी अलङ्कार से ।

उनमें—

जब वस्तुमात्र से अलङ्कार व्यञ्जित होते हैं तब उनकी ध्वन्यङ्गता ध्रुव है—

यहां कारण—

काव्य की प्रवृत्ति उसके ही आश्रित है ॥ २९ ॥

क्योंकि वहां उस प्रकार के व्यङ्ग्य अलङ्कार के तात्पर्य से ही काव्य प्रवृत्त है । अन्यथा वह वाक्यमात्र ही होता ।

उन्हीं अलङ्कारों की—

अलङ्कारान्तर के व्यङ्ग्य होने पर

लोचनम्

तत्रेति । द्वय्यां गतौ सत्याम् । अत्र हेतुरित्ययं वृत्तिग्रन्थः । काव्यस्य कविव्यापारस्य वृत्तिस्तदाश्रयालङ्कारप्रवणा यतः । *अन्यथेति* । यदि न तत्परत्वमित्यर्थः । तेन तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यता नैव शङ्क्येति तात्पर्यम् । तासामेवालङ्कृतीनामित्ययं पठिष्यमाणकारिकोपस्कारः । पुनरिति कारिकामध्य उपस्कारः । *ध्वन्यङ्गतेति* । ध्वनिभेदत्वमित्यर्थः ।

उनमें—। दो स्थितियों के होने पर । 'यहां कारण' यह वृत्तिग्रन्थ है । क्योंकि काव्य की अर्थात् कवि के व्यापार की प्रवृत्ति उसके आश्रित अर्थात् अलङ्कारप्रवण है । अन्यथा—अर्थात् यदि तात्पर्य न हो । इसलिए वहां गुणीभूतव्यङ्ग्य की शङ्का (सम्भावना) नहीं करनी चाहिए यह मतलब है । 'उन्हीं अलङ्कारों की' यह आगे पढ़ी जाने वाली कारिका का उपस्कार है । 'फिर' यह कारिका के बीच में उपस्कार है ।

ध्वन्यालोकः

पुनः,

ध्वन्यङ्गता भवेत् ।

चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ॥ ३० ॥

उक्तं ह्येतत्—'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' इति । वस्तुमात्रव्यङ्ग्यत्वे चालङ्काराणामनन्तरोपदर्शितेभ्य एवोदाहरणेभ्यो विषय उन्नेयः । तदेवमर्थमात्रेणालङ्कारविशेषरूपेण वार्थेनार्थान्तरस्यालङ्कारस्य वा प्रकाशने चारुत्वोत्कर्षनिबन्धने सति प्राधान्येऽर्थशक्त्युद्भवानुरणरूपव्यङ्ग्यो निरवगन्तव्यः ॥ ३० ॥

फिर;

ध्वन्यङ्गता होती है ।

यदि चारुत्व के उत्कर्ष के कारण व्यङ्ग्य का प्राधान्य लक्षित होता है ॥ ३० ॥

क्योंकि यह पहले कह चुके हैं—'वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य की विवक्षा चारुत्व के उत्कर्ष के कारण होती है ।' अलङ्कारों के वस्तुमात्र से व्यङ्ग्य होने पर अभी दिखाए हुए ही उदाहरणों से विषय समझ लेना चाहिए । तो इस प्रकार अर्थमात्र से अथवा अलङ्कारविशेषरूप अर्थ से अर्थान्तर के अथवा अलङ्कार के प्रकाशन में चारुत्व के उत्कर्ष के कारण प्राधान्य होने पर अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य वाला ध्वनि समझना चाहिए ॥ ३० ॥

लोचनम्

व्यङ्ग्यप्राधान्यमिति । अत्र हेतुः—*चारुत्वोत्कर्षत इति* । *यदीति* । तदप्राधान्ये तु वाच्यालङ्कार एव प्रधानमिति गुणीभूतव्यङ्ग्यतेति भावः । नन्वलङ्कारो वस्तुना व्यज्यते अलङ्कारान्तरेण च व्यज्यत इत्यत्रोदाहरणानि किमिति न दर्शितानीत्याशङ्क्याह—*वस्त्विति* । एतत्संक्षिप्योपसंहरति—*तदेवमिति* । व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकस्य च प्रत्येकं वस्त्वलङ्काररूपतया द्विप्रकारत्वाच्चतुर्विधोऽयमर्थशक्त्युद्भव इति तात्पर्यम् ॥ २९–३० ॥

ध्वन्यङ्गता—। अर्थात् ध्वनि का भेद होना । व्यङ्ग्य का प्राधान्य—। इसमें कारण है—चारुत्व के उत्कर्ष के कारण । यदि—। भाव यह कि उसका (अर्थात् व्यङ्ग्य का) प्राधान्य न होने पर वाच्यालङ्कार ही प्रधान है, इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्यता होगी । अलङ्कार वस्तु से व्यञ्जित होता है और अलङ्कारान्तर से व्यञ्जित होता है, इनमें क्यों नहीं उदाहरण दिखाए हैं ? यह आशङ्का करके कहते हैं—वस्तु०—। इसे संक्षेप करके उपसंहार करते हैं—तो इस प्रकार—। व्यङ्ग्य के और व्यञ्जक के प्रत्येक वस्तुरूप और अलङ्काररूप होने के कारण दो प्रकार होने से यह अर्थशक्त्युद्भव चार प्रकार का होता है यह तात्पर्य है ॥ २९–३० ॥

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य तदाभासविवेकं कर्तुमुच्यते—

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते।

वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः॥ ३१॥

द्विविधोऽपि प्रतीयमानः स्फुटोऽस्फुटश्च। तत्र य एव स्फुटः शब्दशक्त्यार्थशक्त्या वा प्रकाशते स एव ध्वनेर्मार्गो नेतरः।

इस प्रकार ध्वनि के प्रभेदों का प्रतिपादन करके उसके आभास का विवेक करने के लिए कहते हैं—

जहां प्रतीयमान अर्थ प्रम्लिष्ट रूप से अथवा वाच्य के अङ्ग रूप से भासित होता है वह इस ध्वनि का गोचर नहीं है॥ ३१॥

प्रतीयमान दो प्रकार का है—स्फुट और अस्फुट। उनमें जो ही स्फुट होकर शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति से प्रकाशित होता है वही ध्वनि का मार्ग है, इतर नहीं।

लोचनम्

एवमिति। अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्य इति द्वौ मूलभेदौ। आद्यस्य द्वौ भेदौ—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च। द्वितीयस्य द्वौ भेदौ—अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च। प्रथमोऽनन्तभेदः। द्वितीयो द्विविधः—शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। पश्चिमस्त्रिविधः—कविप्रौढोक्तिकृतशरीरः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरः स्वतस्सम्भवी च। ते च प्रत्येकं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलः। आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडश मुख्यभेदाः। ते च पदवाक्यप्रकाशत्वेन प्रत्येकं द्विविधा वक्ष्यन्ते। अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्णपदवाक्यसङ्घटनाप्रबन्धप्रकाश्यत्वेन पञ्चत्रिंश-

इस प्रकार—। अविवक्षितवाच्य और विवाक्षितान्यपरवाच्य ये दो मूलभेद हैं। प्रथम के दो भेद—अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य। द्वितीय के दो भेद—अलक्ष्यक्रम और अनुरणनरूप। प्रथम के भेद अनन्त हैं। दूसरा दो प्रकार का है—शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल। अन्तवाला (अर्थात् अर्थशक्तिमूल) तीन प्रकार का है—कवि की प्रौढोक्ति से बना, कविद्वारा निबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति से बना और स्वतःसम्भवी। और ये प्रत्येक व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के कहे हुए प्रकार के अनुसार (अर्थात् वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलङ्कार, अलङ्कार से वस्तु और अलङ्कार से अलङ्कार) चार प्रकार के होकर, बारह प्रकार का अर्थशक्तिमूल होता है। पहले के चार भेद (अर्थात् शब्दशक्त्युत्थ के वस्तु तथा अलङ्कार रूप दो भेद, उभयशक्त्युत्थ का एक और असंलक्ष्यक्रम का एक इस प्रकार सब मिल कर) सोलह मुख्य भेद हैं। वे पदप्रकाश और वाक्यप्रकाश के रूप से प्रत्येक दो प्रकार के कहेंगे। अलक्ष्यक्रम के वर्णप्रकाश, (पदप्रकाश, वाक्यप्रकाश) संघटनाप्रकाश और प्रबन्धप्रकाश होने के कारण पैंतीस भेद

ध्वन्यालोकः

स्फुटोऽपि योऽभिधेयस्याङ्गत्वेन प्रतीयमानोऽवभासते सोऽस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरगोचरः।

यथा—

कमलाअरा णँ मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा।
केण वि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं फलिहम् ॥

अत्र हि प्रतीयमानस्य मुग्धवध्वा जलधरप्रतिबिम्बदर्शनस्य वाच्याङ्गत्वमेव। एवंविधे विषयेऽन्यत्रापि यत्र व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते, तत्र व्यङ्ग्यस्याङ्गत्वेन

स्फुट होकर भी जो प्रतीयमान अभिधेय (वाच्य) के अङ्गरूप से भासित होता है वह इस अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि का गोचर नहीं।

जैसे—

(अरी सखी,) न तालाब गन्दा हुआ है न सहसा हंस ही उड़ा दिए, किसी ने गांव के तालाब में मेघ को उलटा करके डाल दिया है!

यहां प्रतीयमान मुग्धवधू (अनबूझ नवेली) द्वारा मेघ की छाया का दर्शन वाच्य का अङ्ग ही है। इस प्रकार के विषय में अन्यत्र भी जहां व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य के चारुत्वोत्कर्ष की प्रतीति से प्राधान्य मालूम पड़ता है, वहां व्यङ्ग्य के अङ्ग

लोचनम्

द्भेदाः। तदाभासेभ्यो ध्वन्याभासेभ्यो विवेको विभागः। अस्येत्यात्मभूतस्य ध्वनेरसौ काव्यविशेषो न गोचर', न विषय इत्यर्थः।

कमलाकरा न मलिता हंसा उड्डायिता न च सहसा।
केनापि ग्रामतडागेऽभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ॥ इति च्छाया।

अन्ये तु पिउच्छा पितृष्वसः इत्थमामन्त्र्यते। *केनापि* अतिनिपुणेन। *वाच्याङ्गत्वमेवेति*। वाच्येनैव हि विस्मयविभावरूपेण मुग्धिमातिशयः प्रतीयत इति वाच्यादेव चारुत्वसम्पत्। वाच्यं तु स्वात्मोपपत्तयेऽर्थान्तरं स्वोपकारवाञ्छया व्यनक्ति।

हुए। उनके आभासों अर्थात् ध्वनि के आभासों से विवेक अर्थात् विभाग। इसका अर्थात् आत्मभूत ध्वनि का वह काव्यविशेष गोचर नहीं अर्थात् विषय नहीं।

परन्तु दूसरे (के अनुसार) 'पिउच्छा' अर्थात् 'बुआ' (पिता की बहन) इस प्रकार आमन्त्रण किया गया है। किसी ने अर्थात् अति चालाक ने। वाच्य का अङ्ग ही—। विस्मय-विभाव रूप वाच्य से ही अतिशय मुग्धिमा (सुन्दरता) प्रतीत होती है, इसलिए वाच्य से ही चारुत्वसम्पत्ति है। क्योंकि वाच्य अपनी उपपत्ति के लिए अर्थान्तर को अपने उपकार की वाञ्छा से व्यक्त करता है।

ध्वन्यालोकः

प्रतीतेर्ध्वनेरविषयत्वम् । यथा—

वाणीरकुडङ्गोड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए ।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं ॥

एवंविधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणत्वेन निर्देक्ष्यते । यत्र तु प्रकरणादिप्रतिपत्त्या निर्धारितविशेषो वाच्योऽर्थः

रूप से प्रतीत होने के कारण ध्वनि का विषय नहीं है । जैसे—

वेतस लता (बेंत) की घनी झाड़ से उड़े हुए पंछियों की आवाज सुनती हुई, घर के काम-काज में फंसी बहू के अङ्ग शिथिल पड़े जा रहे हैं ।

इस प्रकार का विषय प्रायः करके गुणीभूतव्यङ्ग्य के उदाहरण के रूप में निर्देश करेंगे । परन्तु जहां प्रकरण आदि के ज्ञान से विशेष निर्धारित होने पर वाच्य अर्थ

लोचनम्

वेतसलतागहनोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वत्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥ इति च्छाया ।

अत्र दत्तसङ्केतचौर्यकामुकरतसमुचितस्थानप्राप्तिर्ध्वन्यमाना वाच्यमेवोपस्कुरुते । तथा हि गृहकर्मव्यापृताया इत्यन्यपराया अपि, वध्वा इति सातिशयलज्जापारतन्त्र्यबद्धाया अपि, अङ्गानीत्येकमपि न तादृगङ्गं यद्गाम्भीर्यावहित्थवशेन संवरीतुं पारितम्, सीदन्तीत्यास्तां गृहकर्मसम्पादनं स्वात्मानमपि धर्तुं न प्रभवन्तीति । गृहकर्मयोगेन स्फुटं तथा लक्ष्यमाणानीति । अस्मादेव वाच्यात्सातिशयमदनपरवशताप्रतीतेश्चारुत्वसम्पत्तिः । *यत्र त्विति* । प्रकरणमादिर्यस्य शब्दान्तरसन्निधानसामर्थ्यलिङ्गादेस्तदवगमादेव यत्रार्थो निश्चितसमस्तस्वभावः । पुनर्वाच्यः पुनरपि स्वशब्देनोक्तोऽत एव स्वात्मावगतेः सम्पन्न-

यहां दत्तसङ्केत चौर्यकामुक का रत के योग्य स्थान में पहुंचना यह ध्वनित होता हुआ वाच्य को ही उपस्कृत करता है । जैसा कि 'घर के कामकाज में लगी हुई' अर्थात् अन्य (कार्य) में लगी हुई भी, 'बहू की' अर्थात् अतिशय लज्जा और पारतन्त्र्य में बंधी हुई भी, (सब) अङ्ग, अर्थात् एक भी अङ्ग उस प्रकार नहीं था जो गाम्भीर्य से आकारगोपन के ढङ्ग से संवरण किया जा सके, 'शिथिल पड़े जा रहे हैं' घर का कामकाज करना तो दूर रहे, अपने आपको सम्हाल भी नहीं पा रहे हैं । घर के काम-काज में उस प्रकार स्पष्ट लक्षित नहीं होते । इसी वाच्य से सातिशय मदनपारवश्य की प्रतीति होने से चारुता सम्पन्न होती है । परन्तु जहां—। प्रकरण आदि में है जिसके अर्थात् शब्दान्तरसन्निधान, सामर्थ्य, लिङ्ग आदि के अवगत होने से ही जहां अर्थ के समस्त

ध्वन्यालोकः

पुनः प्रतीयमानाङ्गत्वेनैवावभासते सोऽस्यैवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्मार्गः । यथा—

उच्चिणसु पडिअ कुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसुह्ने ।
अह दे विसमविरावो ससुरेण सुओ वलअसद्दो ॥

अत्र ह्यविनयपतिना सह रममाणा सखी बहिःश्रुतवलयकलकलया

पुनः प्रतीयमान के अङ्ग रूप में ही भासित होता है वह इसी अनुरणन रूप व्यङ्ग्य ध्वनि का मार्ग है । जैसे—

अरी हलवाहे की पतोहू, गिरे हुए फूल चुन, हरसिंगार को मत हिला । विषम (अनिष्टजनक) परिणाम वाली तेरे वलय की आवाज को ससुर ने सुन लिया है ।

यहां अविनयपति (जार) के साथ रमण करती हुई सखी (नायिका) को बाहर से वलय की आवाज सुन कर सखी सावधान करती है । यह (व्यङ्ग्य अर्थ)

लोचनम्

पूर्वत्वादेव तावन्मात्रपर्यवसायी न भवति तथाविधश्च प्रतीयमानस्याङ्गतामेतीति सोऽस्य ध्वनेर्विषय इत्यनेन व्यङ्ग्यतात्पर्यनिबन्धनं स्फुटं वदता व्यङ्ग्यगुणीभावे त्वेतद्विपरीतमेव निबन्धनं मन्तव्यमित्युक्तं भवति ।

उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनीहि शेफालिकां हालिकस्नुषे ।
एष ते विषमविपाकः श्वशुरेण श्रुतो वलयशब्दः ॥ इति च्छाया ।

यतः श्वशुरः शेफालिकालतिकां प्रयत्नै रक्षंस्तस्या आकर्षणधूननादिना कुप्यति । तेनात्र विषमपरिपाकत्वं मन्तव्यम् । अन्यथा स्वोक्त्यैव व्यङ्ग्याक्षेपः स्यात् । अत्र च 'कस्स वा ण होइ रोसो' इत्येतदनुसारेण व्याख्या कर्तव्या ।

स्वभाव का निश्चय हो जाता है । पुनः वाच्य अर्थात् फिर भी अपने शब्द से उक्त, अतएव अपनी अवगति हो जाने के कारण पहले ही सम्पन्न हो जाने के कारण ही उतने मात्र में पर्यवसन्न होने वाला नहीं होता है और उस प्रकार का (वह वाच्य अर्थ) प्रतीयमान का अङ्ग हो जाता है, अतः वह ध्वनि का विषय है, इस (कथन) से व्यङ्ग्य में तात्पर्य का निबन्धन स्पष्ट कहते हुए यह कहा कि व्यङ्ग्य के गुणीभाव में इसके विपरीत निबन्धन मानना चाहिए ।

क्यों कि ससुर हरसिंगार की लत्तर की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता है, आकर्षण-धूनन आदि से कुपित होता है । इस लिए यहां परिणाम में विषम (अर्थात् अनिष्टकर) समझना चाहिए । अन्यथा अपनी उक्ति से ही व्यङ्ग्य का आक्षेप होगा । यहां 'कस्स वा ण होइ रोसो०' के अनुसार व्याख्या करनी चाहिए । वाच्य अर्थ की प्रतिपत्ति रूप लाभ के

ध्वन्यालोकः

सख्या प्रतिबोध्यते। एतदपेक्षणीयं वाच्यार्थप्रतिपत्तये। प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे तस्याविनयप्रच्छादनतात्पर्येणाभिधीयमानत्वात्पुनर्व्यङ्ग्याङ्गत्वमेवेत्यस्मिन्ननुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनावन्तर्भावः ॥ ३१ ॥

एवं विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेस्तदाभासविवेके प्रस्तुते सत्यविवक्षितवाच्यस्यापि तं कर्तुमाह—

अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः।
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः ॥ ३२ ॥

वाच्यार्थ को समझने के लिए अपेक्षित है, और वाच्य अर्थ के मालूम हो जाने पर उस (वाच्यार्थ) के अविनय के प्रच्छादन के लिए कहे जाने के कारण पुनः व्यङ्ग्य का अङ्ग ही है, इस प्रकार इस अनुरणन रूप व्यङ्ग्य ध्वनि में अन्तर्भाव है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार विवक्षित वाच्य ध्वनि के और उसके आभास के विवेक प्रस्तुत होने पर अविवक्षितवाच्य का भी वह करने के लिए कहते हैं—

अव्युत्पत्ति अथवा अशक्ति के कारण स्खलद्गति शब्द का जो प्रयोग है उसे विद्वानों को ध्वनि का विषय नहीं समझना चाहिए ॥ ३२ ॥

लोचनम्

वाच्यार्थस्य प्रतिपत्तये लाभाय एतद्व्यङ्ग्यमपेक्षणीयम्। अन्यथा वाच्योऽर्थो न लभ्येत। स्वतस्सिद्धतया अवचनीय एव सोऽर्थः स्यादिति यावत्। नन्वेवं व्यङ्ग्यस्योपस्कारता प्रत्युतोक्ता भवेदित्याशङ्क्याह—*प्रतिपन्ने* चेति। शब्देनोक्त इति यावत् ॥ ३१ ॥

तदाभासविवेके प्रस्तुत इति सप्तमी हेतौ। तदाभासविवेकप्रस्तावलक्षणात्प्रसङ्गादिति यावत्। कस्य तदाभास इत्यपेक्षायामाह—*विवक्षितवाच्यस्येति*। स्पष्टे तु व्याख्याने प्रस्तुत इत्यसङ्गतम्। परिसमाप्तौ हि विवक्षिताभिधेयस्य तदा-

लिए यह व्यङ्ग्य अपेक्षणीय है, अन्यथा वाच्य अर्थ लब्ध नहीं होगा। मतलब कि स्वतः-सिद्ध होने के कारण वह अर्थ अवचनीय ही होगा। तब तो इस प्रकार प्रत्युत व्यङ्ग्य की उपस्कारता कही गई, यह आशंका करके कहते हैं—वाच्य अर्थ के प्रतिपन्न—। मतलब कि शब्द से उक्त होने पर ॥ ३१ ॥

उसके आभास के विवेक के प्रस्तुत होने पर यहां हेतु में सप्तमी है। मतलब कि उसके आभास के विवेक के प्रस्ताव रूप प्रसङ्ग से। किसका 'उसका आभास' इस अपेक्षा में कहते हैं—विवक्षितवाच्य का—। व्याख्यान स्पष्ट होने पर 'प्रस्तुत' यह कहना असङ्गत है। क्यों कि परिसमाप्ति में विवक्षितवाच्य का उसके आभास का विवेक

ध्वन्यालोकः

स्खलद्गतेरुपचरितस्य शब्दस्याव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स च न ध्वनेर्विषयः ।

स्खलद्गति अर्थात् उपचरित शब्द का अव्युत्पत्ति अथवा अशक्ति से जो प्रयोग है और वह ध्वनि का विषय नहीं ।

लोचनम्

भासविवेकः । न त्वधुना प्रस्तुतः । नाप्युत्तरकालमनुबध्नाति । *स्खलद्गतेरिति* । गौणस्य लाक्षणिकस्य वा शब्दस्येत्यर्थः । अव्युत्पत्तिरनुप्रासादिनिबन्धनतात्पर्यप्रवृत्तिः । यथा—

प्रेङ्खत्प्रेमप्रबन्धप्रचुरपरिचये प्रौढसीमन्तिनीनां
चित्ताकाशावकाशे विहरति सततं यः स सौभाग्यभूमिः ।

अत्रानुप्रासरसिकतया प्रेङ्खदिति लाक्षणिकः, चित्ताकाश इति गौणः प्रयोगः कविना कृतोऽपि न ध्वन्यमानरूपसुन्दरप्रयोजनांशपर्यवसायी। अशक्तिर्वृत्तपरिपूरणाद्यसामर्थ्यम् । यथा—

विषमकाण्डकुटुम्बकसञ्चयप्रवर वारिनिधौ पतता त्वया ।
चलतरङ्गविघूर्णितभाजने विचलतात्मनि कुड्यमये कृता ॥

अत्र प्रवरान्तमाद्यपदं चन्द्रमस्युपचरितम् । भाजनमित्याशये, कुड्यमय

है, न कि अभी प्रस्तुत है । न कि आगे तक अनुबन्ध करता है । स्खलद्गति—अर्थात् गौण या लाक्षणिक शब्द का । अव्युत्पत्ति अर्थात् अनुप्रास आदि के प्रयोग के तात्पर्य से प्रवृत्ति । जैसे—

प्रौढ़ सीमन्तिनियों के स्फुरित होते हुए (प्रेङ्खत्) प्रेम-प्रबन्ध के प्रचुर परिचय वाले चित्त के आकाश में जो सतत विहार करता है, वह सौभाग्यभूमि है ।

यहां अनुप्रास के रसिक होने के कारण 'प्रेङ्खत्' यह लाक्षणिक और 'चित्त का आकाश' यह गौण प्रयोग कवि के द्वारा किया गया भी ध्वन्यमान रूप सुन्दर प्रयोजन के अंश में पर्यवसायी नहीं है । अशक्ति अर्थात् वृत्तपूर्ति आदि असामर्थ्य । जैसे—

हे विषमबाण (कामदेव) के कुटुम्बसमूह में प्रवर (अर्थात् चन्द्र), समुद्र में गिरते हुए तुमने चंचल तरंग की भांति विघूर्णत भाजन वाले, कुड्यमय अपने आप में विचलता कर दी है ।

यहां 'प्रवर' तक प्रथम पद चन्द्रमा में उपचरित है । 'भाजन' आशय में, 'कुड्य-

ध्वन्यालोकः

यतः—

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद्व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥ ३३ ॥

क्योंकि—

सभी प्रभेदों में स्फुट रूप से जो अङ्गिभूत व्यङ्ग्य का अवभासित होना है वह ध्वनि का पूर्ण लक्षण है ॥ ३३ ॥

लोचनम्

इति च विचले। अत्रैतत् कामपि कान्ति न पुष्यति, ऋते वृत्तपूरणात्। *स चेति*। प्रथमोद्द्योते यः प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवय इत्यत्र 'वदति बिसिनीपत्रशयनम्' इत्यादि भाक्त उक्तः। स न केवलं ध्वनेर्न विषयो यावदयमन्योऽपीति चशब्दस्यार्थः। उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति—*यत* इति। *अवभासनमिति*। भावानयने द्रव्यानयनमिति न्यायादवभासमानं व्यङ्ग्यम्। ध्वनिलक्षणं ध्वनेः स्वरूपं पूर्णम्, अवभासनं वा ज्ञानं तद्ध्वनेर्लक्षणं प्रमाणं, तच्च पूर्णं, पूर्णध्वनिस्वरूपनिवेदकत्वात्। अथ वा ज्ञानमेव ध्वनिलक्षणम्, लक्षणस्य ज्ञानपरिच्छेद्यत्वात्। वृत्तावेवकारेण ततोऽन्यस्य चाभासरूपत्वमेवेति सूचयता तदाभासविवेकहेतुभावो यः प्रक्रान्तः स एव निर्वाहित इति शिवम् ॥ ३३ ॥.

मय' यह विचल में। यहां यह किसी कान्ति का पोषण नहीं करता, बावजूद छन्दःपूर्ति के। और वह—। प्रथम उद्योत में जो 'प्रसिद्धि के अनुरोध से व्यवहार प्रवृत्त करने वाले कवि' इस प्रसंग में 'कमलिनी के पत्र का शयन कहता है' इत्यादि भाक्त कहा है। न केवल वही ध्वनि का विषय नहीं है, बल्कि अन्य भी, यह 'और' (च) शब्द का अर्थ है। कहे हुए ही ध्वनिस्वरूप को उसके आभास के विवेक के हेतु रूप से कारिकाकार अनुवाद करते हैं, इस अभिप्राय से वृत्तिकार उपस्कार देते हैं—क्योंकि—। अवभासित होना—। 'भाव के आनयन में द्रव्य का आनयन होता है' इस न्याय के अनुसार अवभासमान व्यङ्ग्य (अवभासन का अर्थ है) ध्वनि का लक्षण अर्थात् ध्वनि का स्वरूप पूर्ण है, अथवा अवभासन अर्थात् ज्ञान वह ध्वनि का लक्षण अर्थात् प्रमाण है, और वह पूर्ण है, क्यों कि पूर्ण ध्वनि के स्वरूप को निवेदन करता है। अथवा ज्ञान ही ध्वनि का लक्षण है, क्यों कि लक्षण ज्ञान का परिच्छेद्य होता है। वृत्ति में 'ही' (एवकार) से 'उससे इतर का आभासरूपत्व ही है' यह सूचित करते हुए उसके आभास के विवेक का हेतुभाव जो आरम्भ किया वही निर्वाह किया। शिवम्।

ध्वन्यालोकः

तच्चोदाहृतविषयमेव ॥ ३३ ॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके द्वितीय उद्द्योतः ॥

उसका विषय उदाहृत ही है ॥ ३३ ॥

श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्य विरचित ध्वन्यालोक में द्वितीय उद्योत समाप्त ॥

लोचनम्

प्राज्यं प्रोल्लासमात्रं सद्भेदेनासूत्र्यते यया ।
वन्देऽभिनवगुप्तोऽहं पश्यन्तीं तामिदं जगत् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्योभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोक-
लोचने ध्वनिसङ्केते द्वितीय उद्द्योतः ॥

जो (भगवती परमेश्वरी माया) समस्त को सत्तत्त्व से भिन्न करके प्रतीतिमात्र निर्माण करती है, इस जगत् को देखती हुई (पश्यन्ती) उसको मैं अभिनवगुप्त वन्दना करता हूँ ।

श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्य अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित सहृदयालोकलोचन
ध्वनिसङ्केत में दूसरा उद्योत समाप्त ।

तृतीय उद्द्योत:

ध्वन्यालोकः

एवं व्यङ्ग्यमुखेनैव ध्वनेः प्रदर्शिते सप्रभेदे स्वरूपे पुनर्व्यञ्जकमुखेनैतत्प्रकाश्यते—

इस प्रकार व्यङ्ग्य के प्रकार से ही ध्वनि के सप्रभेद स्वरूप के प्रदर्शित करने पर पुनः व्यञ्जक के प्रकार से इसे प्रकाशित करते हैं—

लोचनम्

स्मरामि स्मरसंहारलीलापाटवशालिनः।
प्रसह्य शम्भोर्देहार्धं हरन्तीं परमेश्वरीम् ॥

उद्योतान्तरसङ्गतिं कर्तुमाह वृत्तिकारः—*एवमित्यादि*। तत्र वाच्यमुखेन तावदविवक्षितवाच्यादयो भेदाः, वाच्यश्च यद्यपि व्यञ्जक एव। यथोक्तम्—'यत्रार्थः शब्दो वा' इति। ततश्च व्यञ्जकमुखेनापि भेद उक्तः, तथापि स वाच्योऽर्थो व्यङ्ग्यमुखेनैव भिद्यते। तथा ह्यविवक्षितो वाच्यो व्यङ्ग्येन न्यग्भावितः, विवक्षितान्यपरो वाच्य इति व्यङ्ग्यार्थप्रवण एवोच्यते इत्येवं मूलभेदयोरेव यथास्वमवान्तरभेदसहितयोर्व्यञ्जकरूपो योऽर्थः स व्यङ्ग्यमुखप्रेक्षिताशरणतयैव भेदमासादयति। अत एवाह—*व्यङ्ग्यमुखेनेति*। किं च यद्यप्यर्थो व्यञ्जकस्तथापि व्यङ्ग्यतायोग्योऽप्यसौ भवतीति, शब्दस्तु न कदाचिद्व्यङ्ग्यः अपि तु व्यञ्जक एवेति। तदाह—*व्यञ्जकमुखेनेति*। न च वाच्यस्याविवक्षितादिरूपेण

काम के संहार की लीला में सामर्थ्यशाली भगवान् शंकर का देहार्ध हरण करती हुई परमेश्वरी को स्मरण करता हूँ।

अन्य उद्योत की प्रसङ्ग-सङ्गति करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं—'इस प्रकार' इत्यादि। अविवक्षितवाच्य आदि भेद वाच्य के प्रकार से हैं, और वाच्य यद्यपि व्यञ्जक ही है, जैसे कहा है—'जहां अर्थ अथवा शब्द०'। तब तो व्यञ्जक के प्रकार से भी भेद कह दिया, तथापि वह वाच्य अर्थ व्यङ्ग्य के प्रकार से ही भिन्न हुआ है। जैसा कि अविवक्षित वाच्य व्यङ्ग्य के द्वारा न्यग्भावित (अप्रधानीकृत) है और विवक्षितान्यपरवाच्य, व्यङ्ग्यार्थप्रवण ही कहा जाता है, इस प्रकार यथावस्थित अवान्तरभेदसहित मूलभेदों में ही व्यञ्जक रूप जो अर्थ है वह व्यङ्ग्य की मुखप्रेक्षिता की शरण के रूप से ही भेद प्राप्त करता है। इसीलिए कहते हैं—व्यङ्ग्य के प्रकार से—। और भी, यद्यपि अर्थ व्यञ्जक है, तथापि व्यङ्ग्यता के योग्य भी वह होता है, परन्तु शब्द कभी व्यङ्ग्य नहीं होता, बल्कि व्यञ्जक ही होता है। इस लिए कहते हैं—व्यञ्जक के प्रकार से—। ऐसी बात नहीं कि वाच्य का अविवक्षित आदि रूप से जो भेद है वहां

ध्वन्यालोकः

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः॥ १॥

अविवक्षितवाच्य और उससे अन्य (विवक्षितान्यपरवाच्य का भेद) अनुरणन रूपव्यङ्ग्य (अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) ध्वनि पदप्रकाश और वाक्यप्रकाश होते हैं॥१॥

लोचनम्

यो भेदस्तत्र सर्वथैव व्यञ्जकत्वं नास्तीति पुनःशब्देनाह। व्यञ्जकमुखेनापि भेदः सर्वथैव न न प्रकाशितः किन्तु प्रकाशितोऽप्यधुना पुनः शुद्धव्यञ्जकमुखेन। तथाहि व्यङ्ग्यमुखप्रेक्षितया विना पदं वाक्यं वर्णाः पदभागः सङ्घटना महावाक्यमिति स्वरूपत एव व्यञ्जकानां भेदः, न चैषामर्थवत्कदाचिदपि व्यङ्ग्यता सम्भवतीति व्यञ्जकैकनियतं स्वरूपं यत्तन्मुखेन भेदः प्रकाश्यत इति तात्पर्यम्।

यस्तु व्याचष्टे—'व्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कारसानां मुखेन' इति, स एवं प्रष्टव्यः—एतत्तावत्त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतम्। वृत्तिकारेण तु दर्शितम्। न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति। ततश्चेदं कृतमिदं क्रियत इति कर्तृभेदे का सङ्गतिः? न चैतावता सकलप्राक्तनग्रन्थसङ्गतिः कृता भवति। अविवक्षितवाच्यादीनामपि प्रकाराणां दर्शितत्वादित्यलं निजपूज्यजनसगोत्रैः साकं विवादेन। चकारः कारिकायां यथासङ्ख्यशङ्कानिवृत्त्यर्थः। तेनाविवक्षितवाच्यो द्विप्रभेदोऽपि प्रत्येकं पदवाक्यप्रकाश इति द्विधा। तदन्यस्य विवक्षिता-

सर्वथा ही व्यञ्जकत्व नहीं है, यह 'पुनः' शब्द से कहते हैं। व्यञ्जक के प्रकार से भी भेद को सर्वथा ही प्रकाशित नहीं किया है ऐसा नहीं, किन्तु प्रकाशित है, तथापि अब फिर से शुद्ध व्यञ्जक के प्रकार से (कहते हैं)। जैसा कि व्यङ्ग्यमुखप्रेक्षिता के विना (बिना व्यङ्ग्य की अपेक्षा किए) पद, वाक्य, वर्ण, पदभाग, संघटना और महावाक्य यह स्वरूपतः ही व्यञ्जकों का भेद है, अर्थ की भाँति इनकी व्यङ्ग्यता कभी सम्भव नहीं अत एव जिस कारण (इनका) स्वरूप व्यञ्जक मात्र में नियत है तदनुसार भेद प्रकाशित करते हैं, यह तात्पर्य है।

परन्तु जो व्याख्यान करता है—'वस्तु, अलङ्कार, रस इन व्यङ्ग्यों के प्रकार से' उससे इस प्रकार पूछना चाहिए—(व्यङ्ग्य का) यह त्रिभेदत्व कारिकाकार ने नहीं किया है, परन्तु वृत्तिकार ने दिखाया है। अभी वृत्तिकार भेद का प्रकटन नहीं करते हैं। ऐसी स्थिति में 'यह किया है यह करने जा रहे हैं' इसकी सङ्गति कर्ता के भिन्न होने पर क्या होगी? और इतने से सभी प्राचीन ग्रन्थों में सङ्गति नहीं की जा सकती। क्योंकि अविवक्षित वाच्य आदि के भी प्रकारों को दिखाया जा चुका है। इस प्रकार अपने पूज्य जन के विरादरों के साथ विवाद व्यर्थ है! 'कारिका' में 'और' ('च') शब्द यथासङ्ख्य की शङ्का के निवृत्त्यर्थ है। इस कारण दो भेदों वाला अविवक्षितवाच्य

ध्वन्यालोकः

अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे पदप्रकाशता यथा महर्षेर्व्यासस्य—'सप्तैताः समिधः श्रियः', यथा वा कालिदासस्य—'कः

अविवक्षितवाच्य के अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य प्रभेद में पदप्रकाशता, जैसे महर्षि व्यास का—'ये सात सम्पत्ति की समिधाएं हैं'; अथवा जैसे कालिदास का—'(तुम्हारे)

लोचनम्

भिधेयस्य सम्बन्धी यो भेदः क्रमद्योत्यो नाम स्वभेदसहितः सोऽपि प्रत्येकं द्विधैव। अनुरणनेन रूपं रूपणसादृश्यं यस्य तादृग्व्यङ्ग्यं यत्तस्येत्यर्थः। महर्षेरित्यनेन तदनुसन्धत्ते यत्प्रागुक्तम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये दृश्यत इति।

धृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः॥

समिच्छब्दार्थस्यात्र सर्वथा तिरस्कारः, असम्भवात्। समिच्छब्देन च व्यङ्ग्योऽर्थोऽनन्यापेक्षलक्ष्म्युद्दीपनक्षमत्वं सप्तानां वक्त्रभिप्रेतं ध्वनितम्। यद्यपि—'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्याद्युदाहरणादप्ययमर्थो लभ्यते, तथापि प्रसङ्गाद्बहुलक्ष्यव्यापित्वं दर्शयितुमुदाहरणान्तराण्युक्तानि। अत्र च वाच्यस्यात्यन्ततिरस्कारः पूर्वोक्तमनुसृत्य योजनीयः किं पुनरुक्तेन। सन्नद्धपदेन चात्रासम्भवत्स्वार्थेनोद्यतत्वं लक्षयता वक्त्रभिप्रेता निष्करुणकत्वाप्रतिकार्यत्वापेक्षा-

भी प्रत्येक पदप्रकाश और वाक्यप्रकाश रूप से दो प्रकार का है। उससे अन्य विवक्षितवाच्य का सम्बन्धी जो अपने भेदों सहित 'क्रमद्योत्य' नाम का भेद है, वह भी प्रत्येक दो प्रकार का ही है। अनुरणन से रूप अर्थात् रूपणसादृश्य जिसका हो उस प्रकार के उस (व्यङ्ग्य) का। 'महर्षि का' इस के द्वारा उसका अनुसन्धान करते हैं जिसे पहले कह चुके हैं—'और भी, रामायण, महाभारत प्रभृति लक्ष्य में देखा जाता है'।

धृति, क्षमा, दया, शौच, कारुण्य, अनिष्ठुर वाणी और मित्रों से अद्रोह, ये सात सम्पत्ति की समिधाएँ हैं।

'समित्' (समिधा) शब्द के अर्थ का यहाँ सर्वथा तिरस्कार है, क्यों कि (वह अर्थ) असम्भव है। और 'समित्' (समिधा) शब्द से व्यङ्ग्य अर्थ 'अन्य की अपेक्षा न करके सातों का सम्पत्ति के उद्दीपन में क्षमत्व' (यह अर्थ) वक्ता के अभिप्रेत रूप में ध्वनित होता है। यद्यपि 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि उदाहरण से भी यह अर्थ प्राप्त होता है तथापि प्रसङ्ग से बहुत लक्ष्यों में व्यापित्व दिखाने के लिए अन्य उदाहरण कहे हैं। और यहाँ वाच्य का अत्यन्ततिरस्कार पहले कहे हुए के अनुसार लगा लेना चाहिए, पुनः कहने से क्या लाभ! 'सन्नद्ध' पद, जिसका अपना अर्थ सम्भव नहीं हो रहा है, 'उद्यतत्व' (अथवा उद्धतत्व) को लक्षित करता हुआ, वक्ता के अभिप्रेत निष्करुणकत्व, अप्रतीकार्यत्व (जिसका कोई प्रतिकार नहीं हो

ध्वन्यालोकः

सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्', यथा वा-'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्', एतेषूदाहरणेषु 'समिध' इति 'सन्नद्ध' इति 'मधुराणा'मिति च पदानि व्यञ्जकत्वाभिप्रायेणैव कृतानि।

तस्यैवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये यथा-'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं

सन्नद्ध होने पर कौन विरहविधुर पत्नी की उपेक्षा करता है ?'; अथवा, जैसे—'मधुर आकृतियों का मण्डन क्या नहीं है !'; इन उदाहरणों में 'समिधा' 'सन्नद्ध' और 'मधुर' ये पद व्यञ्जकत्व के अभिप्राय से ही किए गए हैं।

उसी के ही अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य में, जैसे—'हे प्रिये, जीवित रहने के लोभी

लोचनम्

पूर्वकारित्वादयो ध्वन्यन्ते। तथैव मधुरशब्देन सर्वविषयरञ्जकत्वतर्पकत्वादिकं लक्षयता सातिशयाभिलाषविषयत्वं नात्राश्चर्यमिति वक्त्रभिप्रेतं ध्वन्यते। *तस्यैवेति*। अविवक्षितवाच्यस्य यो द्वितीयो भेदस्तत्रेत्यर्थः।

'प्रत्याख्यानरुषः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः।
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदः साक्षिणा' इति।

रक्षःस्वभावादेव यः क्रूरोऽनतिलङ्घ्यशासनत्वदुर्मदतया च प्रसह्य निराक्रियमाणः क्रोधान्धः तस्यैतत्तावत्स्वचित्तवृत्तिसमुचितमनुष्ठानं यन्मूर्धकर्तनं नाम, माऽन्योऽपि कश्चिन्ममाज्ञां लङ्घयिष्यतीति। त इति यथा तादृगपि त्वया न गणितस्तस्यास्तवेत्यर्थः। तदपि तथा अविकारेणोत्सवापत्तिबुद्ध्या नेत्रविस्फा-

सकता), अपेक्षापूर्वकारित्व (जो बिना सोचे-विचारे कर बैठता है) आदि अर्थों को ध्वनित करता है। उसी प्रकार 'मधुर' शब्द सभी विषयों का रञ्जकत्व, तर्पकत्व आदि अर्थ को लक्षित करता हुआ, 'अतिशय अभिलाषा का विषय होना यहाँ आश्चर्य नहीं' यह वक्ता का अभिप्रेत (अर्थ) ध्वनित करता है। उसीके—। अर्थात् अविवक्षित-वाच्य का जो दूसरा भेद कहा है, उसमें।

'तुम्हारे तिरस्कार के समुचित ही क्रूर राक्षस (रावण) ने किया, और उसे तुमने उस प्रकार सहन किया, जिस प्रकार कि कुलाङ्गनाएँ सिर ऊँचा रखती हैं। तत्काल इस धनुष को व्यर्थ धारण करते हुए तुम्हारे संकट के साक्षी, (जीवित रहने के लोभी राम ने, हे प्रिये प्रेम के उचित कार्य नहीं किया)।'

राक्षस-स्वभाव के कारण ही जो क्रूर अनतिलंघ्यशासन होने से दुर्मद होने के कारण हठात् तिरस्कृत, क्रोधान्ध है उसका यह अपनी चित्तवृत्ति के समुचित अनुष्ठान है सिर काट डालना, जिससे कोई मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करेगा। तुम्हारे अर्थात् उस प्रकार के भी उसे तुमने कुछ नहीं समझा, उस तुम्हारे। उसे भी

ध्वन्यालोकः

प्रेम्णः प्रिये नोचितम्'। अत्र रामेणेत्येतत्पदं समसाहसैकरसत्वादि-व्यङ्ग्याभिसङ्क्रमितवाच्यं व्यञ्जकम्।

राम ने प्रेम के उचित कार्य नहीं किया।' यहां 'राम' यह पद 'साहसैकरसत्व' आदि व्यङ्ग्य में संक्रमितवाच्य रूप में व्यञ्जक है।

लोचनम्

रतामुखप्रसादादिलक्ष्यमाणया सोढम्। यथा येन प्रकारेण कुलजन इति यः कश्चित्पामरप्रायोऽपि कुलवधूशब्दवाच्यः। उच्चैः शिरो धत्ते एवंविधाः किल वयं कुलवध्वो भवाम इति। अथ च शिरःकर्तनावसरे त्वया शीघ्रं कृत्यतामिति तथा सोढं तथोच्चैः शिरो धृतं यथान्योऽपि कुलस्त्रीजन उच्चैः शिरो धत्ते नित्यप्रवृत्ततया। एवं रावणस्य तव च समुचितकारित्वं निर्व्यूढम्। मम पुनः सर्वमेवानुचितं पर्यवसितम्। तथाहि राज्यनिर्वासनादिनिरवकाशीकृतधनुर्व्यापारस्यापि कलत्रमात्ररक्षणप्रयोजनमपि यच्चापमभूत्तत्संप्रति त्वय्यरक्षितव्यापन्नायामेव निष्प्रयोजनम्, तथापि च तद्धारयामि। तन्नूनं निजजीवितरक्षैवास्य प्रयोजनत्वेन संभाव्यते। न चैतद्युक्तम्। *रामेणेति*। समसाहसरसत्वसत्यसंधत्वोचितकारित्वादिव्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतेनेत्यर्थः। 'कापुरुषादिधर्मपरिग्रहस्त्वादिशब्दात्' इति यद्व्याख्यातम्, तदसत्; कापुरुषस्य ह्येतदेव प्रत्युतोचितं स्यात्। प्रिय इति शब्दमात्रमेवैतदिदानीं संवृत्तम्। प्रियशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं

उस प्रकार बिना विकार के, नेत्रों की विस्फारता और मुख की प्रसन्नता आदि से लक्ष्यमाण उत्सव-प्राप्ति की बुद्धि से सहन किया। जिस प्रकार कुलजन अर्थात् जो कोई पामर-प्राय भी जो 'कूलवधू' शब्द से अभिहित है। सिर ऊँचा रखती है, कि हम कुलवधुएँ इस प्रकार की होती हैं। और भी, सिर काटने के अवसर में तुमने 'शीघ्र काटो' (यह कह कर) सहन किया और ऊँचा सिर रखा, जैसे अन्य भी कुल-स्त्रियाँ नित्य प्रवृत्त होने के कारण सिर ऊँचा रखती हैं। इस प्रकार रावण का और तुम्हारा समुचितकारित्व निष्पन्न हो जाता है। मेरा तो सभी कुछ अनुचित पर्यवसित हुआ। जैसा कि राज्य से निर्वासन आदि के अवसर में धनुष का कोई व्यापार रहा नहीं, फिर भी कलत्रमात्र की रक्षा के प्रयोजन के लिए भी जो चाप था वह भी इस समय जब कि अरक्षित अवस्था में विपन्न हुई तो निष्प्रयोजन हो गया, और तब भी उसे धारण करता हूँ। तो निश्चय ही अपने प्राणों की रक्षा ही इसके प्रयोजन रूप में सम्भावित होती है। यह तो ठीक नहीं। 'राम'—। अर्थात् समसाहसरसत्व, सत्य-संधत्व, उचितकारित्व आदि व्यङ्ग्य धर्मान्तरों में परिणत। 'आदि' शब्द से कापुरुष आदि धर्म का परिग्रह है, यह जो कि व्याख्यान किया है, वह ठीक नहीं, क्यों कि बल्कि कापुरुष के यही उचित होता। 'प्रिये' यह शब्दमात्र ही इस समय हो गया है। और 'प्रिय' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त जो प्रेम का नाम है वह भी अनौचित्य से

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

एमेअ जणो तिस्सा देउ कवोलोपमाइ ससिबिम्बम् ।
परमत्थविआरे उण चन्दो चन्दो विअ वराओ ॥

अत्र द्वितीयश्चन्द्रशब्दोऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यः ।

अथवा, जैसे—

'इसी प्रकार लोग उसके कपोलों की उपमा शशिबिम्ब से देते हैं, परमार्थ रूप से विचार करने पर चन्द्र तो चन्द्र के समान वराक (बेचारा) है ।'

यहाँ दूसरा 'चन्द्र' शब्द अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है ।

लोचनम्

यत्प्रेमनाम तदप्यनौचित्यकलङ्कितमिति शोकालम्बनोद्दीपनविभावयोगात्करुणरसो रामस्य स्फुटीकृत इति । एमेअ इति ।

एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिबिम्बम् ।
परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र इव वराकः ॥ (इति छाया ।)

एवमेवेति स्वयमविवेकान्धतया । जन इति लोकप्रसिद्धगतानुगतिकतामात्रशरणः । तस्या इत्यसाधारणगुणगणमहार्घवपुषः । कपोलोपमायामिति निर्व्याजलावण्यसर्वस्वभूतमुखमध्यवर्तिप्रधानभूतकपोलतलस्योपमायां प्रत्युत तदधिकवस्तुकर्तव्यं ततो दूरनिकृष्टं शशिबिम्बं कलङ्कव्याजजिह्मीकृतम् । एवं यद्यपि गड्डरिकाप्रवाहपतितो लोकः, तथापि यदि परीक्षकाः परीक्षन्ते तद्वराकः कृपैकभाजनं यश्चन्द्र इति प्रसिद्धः स चन्द्र एव क्षयित्वविलासशून्यत्वमलिनत्व-

कलङ्कित है । इस प्रकार शोक के आलम्बन-उद्दीपन विभावों के योग से राम का करुणरस स्फुट हो गया है ।

इसी प्रकार— । अर्थात् स्वयं अविवेकान्ध होने के कारण । लोग— । अर्थात् लोक में फैली बात के पीछे चल पड़ने के मात्र पक्षपाती । उसके अर्थात् असाधारण गुणगणों से कीमती शरीर वाली के । कपोलों की उपमा अर्थात् निर्व्याजलावण्यसर्वस्वभूत और मुख मध्य में रहने वालों में प्रधानभूत कपोलतल की उपमा, प्रत्युत उससे अधिक वस्तु को देना चाहिए तो उससे अत्यन्त निकृष्ट एवं कलङ्कव्याज (शश) द्वारा मलिन किए गए शशिबिम्ब से (देते हैं) । इस प्रकार यद्यपि संसार गड्डरिका (भेड़ की चाल) की भाँति प्रवाहपतित है, तथापि यदि परीक्षक लोग परीक्षा करते हैं तब वराक (बेचारा) अर्थात् एकमात्र कृपा का भाजन जो 'चन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है वह चन्द्र ही क्षयित्व, विलासशून्यत्व और मलिनत्व धर्मान्तरों में संक्रान्त अर्थ वाला है । यहाँ

ध्वन्यालोकः

अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे वाक्यप्रकाशता यथा—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

अविवक्षितवाच्य के अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य (नामक) प्रभेद में वाक्यप्रकाशता, जैसे—

'जो सब भूतों की रात्रि है उसमें संयमी जागता रहता है और जिस में भूत (प्राणिमात्र) जागते रहते हैं वह देखते हुए मुनि की रात्रि है ।'

लोचनम्

धर्मान्तरसंक्रान्तो योऽर्थः। अत्र च यथा व्यङ्ग्यधर्मान्तरसङ्क्रान्तिस्तथा पूर्वोक्तमनुसन्धेयम् । एवमुत्तरत्रापि ।

एवं प्रथमभेदस्य द्वावपि प्रकारौ पदप्रकाशकत्वेनोदाहृत्य वाक्यप्रकाशकत्वेनोदाहरति—*या निशेति* । *विवक्षित* इति। तेन ह्युक्तेन न कश्चिदुपदेश्यं प्रत्युपदेशः सिद्ध्यति । निशायां जागरितव्यमन्यत्र रात्रिवदासितव्यमिति किमनेनोक्तेन। तस्माद्बाधितस्वार्थमेतद्वाक्यं संयमिनो लोकोत्तरतालक्षणेन निमित्तेन तत्त्वदृष्टाववधानं मिथ्यादृष्टौ च पराङ्मुखत्वं ध्वनति। सर्वशब्दार्थस्य चापेक्षिकतयाप्युपपद्यमानतेति न सर्वशब्दार्थान्यथानुपपत्त्यायमर्थ आक्षिप्तो मन्तव्यः। सर्वेषां ब्रह्मादिस्थावरान्तानां चतुर्दशानामपि भूतानां या निशा व्यामोहजननी तत्त्वदृष्टिः तस्यां संयमी जागर्ति कथं प्राप्येतेति। न तु विषयवर्जनमात्रादेव संयमीति यावत्। यदि वा सर्वभूतनिशायां मोहिन्यां जागर्ति कथमियं हेयेति। यस्यां तु मिथ्यादृष्टौ सर्वाणि

जैसे व्यङ्ग्य धर्मान्तर में (वाच्य की) सङ्क्रान्ति है वैसे ही पूर्वोक्त का अनुसन्धान कर लेना चाहिए। इस प्रकार आगे भी।

इस प्रकार प्रथम भेद के दोनों भी प्रकारों को पदप्रकाशक रूप से उदाहरण देकर वाक्यप्रकाशक रूप से उदाहरण देते हैं—जा सब०—। विवक्षित—। उस कथन से कोई उपदेश्य के प्रति उपदेश सिद्ध नहीं होता। रात्रि में जागना चाहिए और अन्यत्र (दिन में) रात्रि की भाँति रहना चाहिए, इस कथन से क्या? इसलिए अपने अर्थ के बाधित होने पर यह वाक्य लोकोत्तरता रूप निमित्त से संयमी का तत्त्वदृष्टि में अवधान और मिथ्यादृष्टि में पराङ्मुखत्व ध्वनित करता है। 'सब' (सर्व) शब्द के अर्थ के आपेक्षिक होने पर भी उपपत्ति है इस लिए 'सब' शब्द के अर्थ की अन्यथानुपपत्ति से यह अर्थ आक्षिप्त नहीं समझना चाहिए। सभी अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त चतुर्दश भूतों (८ दैव, १ मानुषक और ५ तैर्यक्) के जो रात्रि अर्थात् व्यामोहजननी तत्त्वदृष्टि है उसमें संयमी जागता रहता है, कैसे (तत्त्वदृष्टि) पाई जाय! न कि विषयवर्जन मात्र से संयमी है। अथवा, सब भूतों की मोहिनी रात्रि में जागता

ध्वन्यालोकः

अनेन हि वाक्येन निशार्थो न च जागरणार्थः कश्चिद्विवक्षितः। किं तर्हि? तत्त्वज्ञानावहितत्वमतत्त्वपराङ्मुखत्वं च मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृतवाच्यस्यास्य व्यञ्जकत्वम्।

इस वाक्य से रात्र्यर्थ और न तो जागरणार्थ कोई विवक्षित है। तो क्या है? मुनि का तत्त्वज्ञान में अवहित होना और अतत्त्व से पराङ्मुख होना प्रतिपादन किया है, इस तिरस्कृतवाच्य का व्यंजकत्व है।

लोचनम्

भूतानि जाग्रति अतिशयेन सुप्रबुद्धरूपाणि सा तस्य रात्रिरप्रबोधविषयः। तस्या हि चेष्टायां नासौ प्रबुद्धः। एवमेव लोकोत्तराचारव्यवस्थितः पश्यति मन्यते च। तस्यैवान्तर्बहिष्करणवृत्तिश्चरितार्था। अन्यस्तु न पश्यति न च मन्यत इति। तत्त्वदृष्टिपरेण भाव्यमिति तात्पर्यम्। एवं च पश्यत इत्यपि मुनेरित्यपि च न स्वार्थमात्रविश्रान्तम्। अपि तु व्यङ्ग्य एव विश्राम्यति। यत्तच्छब्दयोश्च न स्वतन्त्रार्थतेति सर्व एवायमाख्यातसहायः पदसमूहो व्यङ्ग्यपरः। तदाह—*अनेन हि वाक्येनेति*। प्रतिपाद्यत इति ध्वन्यत इत्यर्थः। विषमयितो विषमयतां प्राप्तः। केषाञ्चिद्दुष्कृतिनामतिविवेकिनां वा। केषाञ्चित्सुकृतिनामत्यन्तमविवेकिनां वा अतिक्रामत्यमृतनिर्माणः। केषाञ्चिन्मिश्रकर्मणां विवेकाविवेकवतां वा, विषामृतमयः। केषामपि मूढप्रायाणां धाराप्राप्रयोगभूमिकारूढानां वा अविषामृतमयः कालोऽतिक्रामतीति सम्बन्धः।

रहता है कि कैसे इसे त्याग किया जाय! परन्तु जिस मिथ्यादृष्टि में समस्त भूत जागते रहते हैं अर्थात् अतिशय रूप से सुप्रबुद्ध रहते हैं, वह उसके (संयमी के) रात्रि अर्थात् अप्रबोध का विषय है। क्यों कि उस (रात्रि) की चेष्टा (स्थिति) में वह प्रबुद्ध नहीं है। इसी प्रकार लोकोत्तर क्रियाकलाप (आचार) में व्यवस्थित होकर देखता है और मानता है। उसी की आभ्यन्तर और बाह्य इन्द्रियों की वृत्ति चरितार्थ है। परन्तु दूसरा न तो देखता है और न तो मानता है। तात्पर्य यह कि तत्त्वदृष्टि के लिए तत्पर होना चाहिए। और इस प्रकार 'देखते हुए' और 'मुनि के' यह 'अपने अर्थमात्र में नहीं रहता, अपितु व्यङ्ग्य में ही विश्राम लेता है। और 'जो' 'वह' ('यत्' 'तत्') शब्दों के स्वतन्त्र अर्थ नहीं हैं इसलिए सभी यह आख्यातसहाय पदसमूह व्यङ्ग्य में तात्पर्य रखता है। उसे कहते हैं—इस वाक्य से—। प्रतिपादन किया है अर्थात् ध्वनित होता है। विषमयित अर्थात् विषमयता को प्राप्त। किन्हीं दुष्कृतियों अथवा अतिविवेकियों का। किन्हीं सुकृतियों अथवा अत्यन्त अविवेकियों का अमृत बन जाता है। किन्हीं मिश्रकर्म वालों (कुछ दुष्कृत कुछ सुकृत वालों) का अथवा विवेक-अविवेक वालों का विष-अमृतमय होता है। किन्हीं मूढप्राय अथवा धारा के क्रम से प्राप्त योग की भूमिका में आरूढ़ लोगों का न विषमय न अमृतमय काल व्यतीत होता है। 'विष'

ध्वन्यालोकः

तस्यैवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य वाक्यप्रकाशता यथा—

विसमइओ काण वि काण वि वालेइ अमिअणिम्माओ ।
काण वि विसामिअमओ काण वि अविसामओ कालो ॥
(विषमयितः केषामपि केषामपि प्रयात्यमृतनिर्माणः ।
केषामपि विषामृतमयः केषामप्यविषामृतः कालः ॥ इति छाया)

अत्र हि वाक्ये विषामृतशब्दाभ्यां दुःखसुखरूपसङ्क्रमितवाच्याभ्यां व्यवहार इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य व्यञ्जकत्वम् ।

उसी अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य की वाक्यप्रकाशता, जैसे—

समय किन्हीं के लिए विषमय हो जाता है, किन्हीं के लिए अमृत बन जाता है, किन्हों के लिए विषमय और अमृतमय दोनों हो जाता है और किन्हीं के लिए न विष होता है न अमृत ।

इस वाक्य में दुःख और सुख रूप में संक्रमित वाच्य वाले 'विष' और 'अमृत' शब्दों से व्यवहार है, इस प्रकार अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का व्यंजकत्व है ।

लोचनम्

विषामृतपदे च लावण्यादिशब्दवन्निरूढलक्षणारूपतया सुखदुःखसाधनयोर्वर्तेते, यथा—विषं निम्बममृतं कपित्थमिति । न चात्र सुखदुःखसाधने तन्मात्रविश्रान्ते, अपि तु स्वकर्तव्यसुखदुःखपर्यवसिते । न च ते साधने सर्वथा न विवक्षिते । निस्साधनयोस्तयोरभावात् । तदाह—*सङ्क्रमितवाच्याभ्यामिति* । केषाञ्चिदिति चास्य विशेषे सङ्क्रान्तिः । अतिक्रामतीत्यस्य च क्रियामात्रसङ्क्रान्तिः । काल इत्यस्य च सर्वव्यवहारसङ्क्रान्तिः । उपलक्षणार्थं तु विषामृतग्रहणमात्रसङ्क्रमणं वृत्तिकृता व्याख्यातम् । तदाह—*वाक्य इति* ।

और 'अमृत' पद 'लावण्य' आदि शब्द की भाँति निरूढलक्षणा रूप होने के कारण सुख और दुःख के साधन में हैं, जैसे—निम्ब विष है ; कपित्थ अमृत है । यहाँ सुख और दुःख के साधन सुख और दुःख के साधनमात्र में विश्रान्त नहीं हैं अपि तु अपने कर्तव्य सुख और दुःख में पर्यवसित हैं । ऐसी बात नहीं कि वे साधन सर्वथा विवक्षित नहीं हैं, क्यों कि बिना साधन के वे दोनों नहीं होते । इस लिए कहते हैं—सङ्क्रमित वाच्य वाले—। 'किन्हीं के लिए' इसका विशेष (दुष्कृती आदि उक्त विशेष अर्थ) में सङ्क्रान्ति है । 'काल' इसकी सभी व्यवहार (के अर्थ) में सङ्क्रान्ति है । वृत्तिकार ने तो उपलक्षण के लिए 'विष' और 'अमृत' शब्द मात्र के सङ्क्रमण का व्याख्यान किया है । इस लिए कहते हैं—वाक्य में—।

ध्वन्यालोकः

विवक्षिताभिधेयस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य शब्दशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा—

प्रातुं धनैरर्थिजनस्य वाञ्छां दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि।
पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडागः कूपोऽथवा किं न जडः कृतोऽहम्॥१॥

अत्र हि जड इति पदं निर्विण्णेन वक्त्रात्मसमानाधिकरणतया

विवक्षित वाच्य के अनुरणनरूपव्यङ्ग्य (ध्वनि) के शब्दशक्त्युद्भव प्रभेद में पदप्रकाशता, जैसे--

यदि दैव ने मुझे याचकजन की इच्छा धनों से पूरी करने के लिए नहीं बनाया है तो क्यों नहीं मुझे मार्ग में स्वच्छ जल वाला तालाब अथवा जड कूप बनाया !

यहां निर्वेदयुक्त वक्ता द्वारा स्वसमानाधिकरण रूप से प्रयुक्त 'जड' पद अपनी

लोचनम्

एवं कारिकाप्रथमार्धलक्षितांश्चतुरः प्रकारानुदाहृत्य द्वितीयकारिकार्धस्वीकृतान् षडन्यान् प्रकारान् क्रमेणोदाहरति—*विवक्षिताभिधेयस्येत्यादिना*। *प्रातुमिति* पूरयितुम्। धनैरिति बहुवचनं यो येनार्थी तस्य तेनेति सूचनार्थम्। अत एवार्थिग्रहणम्। जनस्येति बाहुल्येन हि लोको धनार्थी, न तु गुणैरुपकारार्थी। *दैवेनेति*। अशक्यपर्यनुयोगेनेत्यर्थः। *अस्मीति*। अन्यो हि तावदवश्यं कश्चित्सृष्टो न त्वहमिति निर्वेदः। प्रसन्नं लोकोपयोगि अम्बु धारयतीति। *कूपोऽथवेति*। लोकैरप्यलक्ष्यमाण इत्यर्थः। *आत्मसमानाधिकरणतयेति*। जडः किङ्कर्तव्यतामूढ इत्यर्थः, अथ च कूपो जडोऽर्थिता कस्य कीदृशीत्यसम्भवद्विवेक इति। अत एव जडः शीतलो निर्वेदसन्तापरहितः। तथा जडः शीतजल-

इस प्रकार कारिका के प्रथमार्ध में लक्षित चारों प्रकारों का उदाहरण देकर द्वितीयार्ध में स्वीकृत छः अन्य प्रकारों का क्रम से उदाहरण देते हैं—विवक्षितवाच्य के—। 'प्रातुं' अर्थात् पूरी करने के लिए। 'धनों से' यहां बहुवचन 'जो जिसका अर्थी (मांग करने वाला) है उसे उसके द्वारा' इसके सूचनार्थ है। अत एव 'अर्थी' का ग्रहण किया है। 'जन' अर्थात् बहुलतया लोग धन चाहने वाले होते हैं न कि गुणों से उपकार चाहते हैं। दैवने अर्थात् जिससे कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता। 'मुझे'। अर्थात् अन्य किसी को अवश्य बनाया होगा न कि मुझे, यह निर्वेद है। प्रसन्न (स्वच्छ) अर्थात् लोकोपयोगी जल धारण करता है।—अथवा कूप—। अर्थात् लोगों की दृष्टि भी जिस पर न पड़े।—स्वसमानाधिकरण रूप से—। जड़ अर्थात् किङ्कर्तव्यतामूढ, और कूप जड़ है अर्थात् कौन कैसा अर्थी है यह विवेक नहीं रखता। अत एव जड अर्थात् शीतल, निर्वेद और सन्ताप से रहित। तथा जड अर्थात् शीत जल से युक्त होने के

ध्वन्यालोकः

प्रयुक्तमनुरणनरूपतया कूपसमानाधिकरणतां स्वशक्त्या प्रतिपद्यते ।

तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा हर्षचरिते सिंहनादवाक्येषु—'वृत्तेऽस्मिन्महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' ।

एतद्धि वाक्यमनुरणनरूपमर्थान्तरं शब्दशक्त्या स्फुटमेव प्रकाशयति।

अस्यैव कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरस्यार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा हरिविजये—

चूअंकुरावअंसं छणमप्पसरमहग्घणमणहरसुरामोअम् ।

शक्ति से कूपसमानाधिकरणभाव प्राप्त करता है ।

उसी की वाक्यप्रकाशता, जैसे 'हर्षचरित' में सिंहनाद के वाक्यों में—'इस महाप्रलय की स्थिति में पृथिवी के धारण के लिए तुम शेष हो ।'

यह वाक्य अनुरणनरूप अर्थान्तर को शब्दशक्ति से स्पष्ट ही प्रकाशित करता है।

कविप्रौढोक्तिमात्र से निष्पन्नशरीर इसी के अर्थशक्त्युद्भव प्रभेद में पदप्रकाशता, जैसे 'हरिविजय' में—

आम्रमञ्जरी के अवतंस वाले, क्षण (वसन्तोत्सव) के प्रसार से मनोहर सुर

लोचनम्

योगितया परोपकारसमर्थः। अनेन तृतीयार्थेनायं जडशब्दस्तटाकार्थेन पुनरुक्तार्थसम्बन्ध इत्यभिप्रायेणाह—*कूपसमानाधिकरणतामिति* । स्वशक्त्येति शब्दशक्त्युद्भवत्वं योजयति । *महाप्रलय* इति । महस्य उत्सवस्य आसमन्तात्प्रलयो यत्र तादृशि शोककारणभूते वृत्ते धरण्या राज्यधुराया धारणायाश्वासनाय त्वं शेषः शिष्यमाणः। इतीयता पूर्णे वाक्यार्थे कल्पावसाने भूपीठभारोद्वहनक्षम एको नागराज एवं दिग्दन्तिप्रभृतिष्वपि प्रलीनेष्वित्यर्थान्तरम् ।

चूताङ्कुरावतंसं क्षणप्रसरमहार्घमनोहरसुरामोदम् ।

कारण परोपकार करने में समर्थ । इस तृतीयार्थ से ('शीत जल से युक्त होने के कारण' इस हेतु से) 'जड' शब्द तालाब के अर्थ के साथ पुनरुक्त अर्थ-सम्बन्ध का हो जायगा (क्योंकि तालाब का विशेषण 'प्रसन्नाम्बुधर' दे ही चुके हैं) इस अभिप्राय से कहते हैं—कूपसमानाधिकरणभाव—। 'अपनी शक्ति से' इस कथन से शब्दशक्त्युद्भव की योजना करते हैं । महाप्रलय—। मह अर्थात् उत्सव का—आ समन्तात् प्रलयः (प्रकर्षेण लयः)—जहां हो जाता है उस प्रकार के शोककारणभूत प्रसंग में पृथिवी के अर्थात् राज्यधुरा के धारण के लिए अर्थात् आश्वासन के लिए तुम शेष हो अर्थात् बच रहे (शिष्यमाण) हो । इतने से वाक्यार्थ के पूर्ण होने पर 'कल्पान्त में जब दिग्गज नष्ट हो गए तब नागराज ही अकेले पृथ्वी के धारण में क्षम रह गए' यह अर्थान्तर (प्रकाशित होता) है ।

ध्वन्यालोकः

असमप्पिअं पि गहिअं कुसुमसरेण महुमासलच्छिमुहम् ॥

अत्र ह्यसमर्पितमपि कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्म्या मुखं गृहीतमित्य-समर्पितमपीत्येतदवस्थाभिधायिपदमर्थशक्त्या कुसुमशरस्य बलात्कारं प्रकाशयति ।

(कामदेव) के आमोद (चमत्कार) से भरे (दूसरे पक्षमें बहुमूल्य सुरा की सुगन्धि से युक्त) वसन्तलक्ष्मी के मुख को कामदेव ने बिना समर्पित किए ही ग्रहण किया ।

यहां 'बिना समर्पित किए ही कामदेव ने वसन्तलक्ष्मी के मुख को ग्रहण किया' में 'बिना समर्पित किए ही' इस अवस्था का अभिधान करने वाला पद अर्थशक्ति से कामदेव का बलात्कार प्रकाशित करता है ।

लोचनम्

महार्घेण उत्सवप्रसरेण मनोहरसुरस्य मन्मथदेवस्य आमोदश्चमत्कारो यत्र तत् । अत्र महार्घशब्दस्य परनिपातः, प्राकृते नियमाभावात् । छण इत्युत्सवः ।

असमर्पितमपि गृहीतं कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्मीमुखम् ॥

मुखं प्रारम्भो वक्त्रं च । तच्च सुरामोदयुक्तं भवति । मध्वारम्भे कामश्चित्त-माक्षिपतीत्येतावानयमर्थः कविप्रौढोक्त्यार्थान्तरव्यञ्जकः सम्पादितः । अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिशरीरार्थशक्त्युद्भवे पदवाक्यप्रकाशतायामुदाहरणद्वयं न दत्तम् । 'प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः' इति प्राच्यकारिकाया इयतैवोदाहृतत्वं भवेदित्यभिप्रायेण । तत्र पदप्रकाशता यथा—

सत्यं मनोरमाः कामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
किन्तुमत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥

इत्यत्र कविना यो विरागी वक्ता निबद्धस्तत्प्रौढोक्त्या जीवितशब्दोऽर्थशक्ति-

महार्घ (महनीय) उत्सव के प्रसार से मनोहरसुर अर्थात् कामदेव का आमोद अर्थात् चमत्कार है जहां वहां । यहां 'महार्घ' शब्द का 'परनिपात' है, क्योंकि प्राकृत में नियम नहीं । 'छण' (क्षण) अर्थात् उत्सव ।

मुख अर्थात् प्रारम्भ और वक्त्र । वह (मुख) सुरा के आमोद से युक्त होता है । मधु के आरम्भ में काम चित्त को आक्षिप्त (चलायमान) कर देता है, यही इतना अर्थ कवि की प्रौढोक्ति से अर्थान्तर का व्यञ्जक बना दिया गया है। यहां, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिशरीर अर्थशक्त्युद्भव में पदप्रकाशता और वाक्यप्रकाशता में दो उदाहरण नहीं दिए हैं, इस अभिप्राय से कि 'प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः' इस पूर्वकारिका का इतने ही से उदाहृतत्व बन जायगा । उनमें पदप्रकाशता, जैसे—

यह ठीक है कि काम मनोरम होते हैं और यह ठीक है कि विभूतियां रम्य होती हैं, किन्तु जीवन मतवाली अङ्गना के कटाक्षभङ्ग की भांति चंचल है ।

यहां कवि ने जिस विरागी वक्ता का निबन्धन किया है उसकी प्रौढोक्ति से

ध्वन्यालोकः

अत्रैव प्रभेदे वाक्यप्रकाशता यथोदाहृतं प्राक् 'सज्जेहि सुरहिमासो' इत्यादि। अत्र सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयत्यनङ्गाय शरानित्ययं वाक्यार्थः कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो मन्मथोन्माथकदनावस्थां वसन्तसमयस्य सूचयति।

स्वतःसम्भविशरीरार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा—

वाणिअअ हत्तिदन्ता कुत्तो अह्माण बाघकित्ती अ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सुह्णा॥

इसी प्रभेद में वाक्यप्रकाशता, जैसे पहले उदारण दे चुके हैं—'सज्जेहि सुरहिमासो०' इत्यादि। यहां, सुरभिमास बाणों को तैयार करता है, कामदेव को बाण अर्पित नहीं कर रहा है, यह कविप्रौढोक्तिमात्र से निष्पन्नशरीर वाक्यार्थ वसन्तसमय की काम के अतिशय उद्दीपन से जनित दुरवस्था को सूचित करता है।

स्वतःसम्भविशरीर अर्थशक्त्युद्भव प्रभेद में पदप्रकाशता, जैसे—

अरे बनिये, हमारे यहां हाथी के दांत और बाघ के चमड़े कहां, जब तक चंचल लटों से युक्त मुख वाली पतोहू घर में चमक-चमक कर चलती है।

लोचनम्

मूलतयेदं ध्वनयति—सर्व एवामी कामा विभूतयश्च स्वजीवितमात्रोपयोगिनः, तदभावे हि सद्भिरपि तैरसद्रूपताप्यते, तदेव च जीवितं प्राणधारणरूपत्वात्प्राणवृत्तेश्च चाञ्चल्यादनास्थापदमिति विषयेषु वराकेषु किं दोषोद्घोषणदौर्जन्येन निजमेव जीवितमुपालभ्यम्, तदपि च निसर्गचञ्चलमिति न सापराधमित्येतावता गाढं वैराग्यमिति। वाक्यप्रकाशता यथा—'शिखरिणि' इत्यादौ।

वाणिजकं हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा॥ इति छाया।

सविभ्रमं चंक्रम्यते। अत्र लुलितेति स्वरूपमात्रेण विशेषणमवलिप्ततया

'जीवन' शब्द अर्थशक्तिमूल रूप से यह ध्वनित करता है—ये सभी काम और विभूतियां अपने जीवन मात्र के उपयोग की वस्तुएं हैं, क्योंकि उसके (जीवन के) अभाव में उन सज्जनों ने भी असद्रूप माना है, जब कि वही जीवन प्राणधारणरूप होने से और प्राणवृत्ति के चञ्चल होने से अनास्था का स्थान है तो बेचारे विषयों को दोष देने की दुर्जनता से क्या लाभ? पहले तो अपने ही जीवन को उपालम्भ देना चाहिए, वह भी स्वभावतः चंचल है अतः अपराधी नहीं, इस प्रकार गाढ वैराग्य है। वाक्यप्रकाशता जैसे, 'शिखरिणि०' इत्यादि में।

(चमक-चमक कर चलती है) अर्थात् विलास या नजाकत के साथ चङ्क्रमण

ध्वन्यालोकः

अत्र लुलितालकमुखीत्येतत्पदं व्याधवध्वाः स्वतःसम्भावितशरीरार्थशक्त्या सुरतक्रीडासक्तिं सूचयंस्तदीयस्य भर्तुः सततसम्भोगक्षामतां प्रकाशयति ।

तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा—

सिहिपिञ्छकण्णऊरा बहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।
मुत्ताफलरइअपसाहणाणँ मज्झे सवत्तीणम् ॥

अनेनापि वाक्येन व्याधवध्वाः शिखिपिञ्छकर्णपूराया नवपरिणीतायाः कस्याश्चित्सौभाग्यातिशयः प्रकाश्यते । तत्सम्भोगैकरतो मयूरमात्रमारणसमर्थः पतिर्जात इत्यर्थप्रकाशनात् तदन्यासां चिरपरिणीतानां मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां दौर्भाग्यातिशयः ख्याप्यते । तत्ससम्भोग-

यहां, 'चंचल लटों से युक्त मुख वाली' 'लुलितालकमुखी' यह पद स्वतः सम्भावित शरीर अर्थशक्ति से व्याध-वधू की सुरत-क्रीडा में आसक्ति सूचित करता हुआ उसके पति की निरन्तर सम्भोग के कारण दुर्बलता प्रकाशित करता है ।

उसी की वाक्यप्रकाशता, जैसे—

मोर-पंखों के कनफूल पहने व्याध की पत्नी मुक्ताफल के बने गहनों वाली सौतों के बीच गर्वीली होकर घूमती है ।

इस वाक्य से भी मोर-पंखों के कनफूल वाली नवपरिणीता किसी व्याध-पत्नी का अतिशय सौभाग्य प्रकाशित होता है । 'उसके साथ एकमात्र सम्भोग में रत पति सिर्फ मोर मारने में समर्थ रह गया' इस अर्थ के प्रकाशन से उसके अतिरिक्त, चिरपरिणीत मुक्ताफल के बने गहनों वाली (सौतों) का अतिशय दौर्भाग्य सूचित

लोचनम्

च हस्तिदन्ताद्यपाहरणं सम्भाव्यमिति वाक्यार्थस्य तावत्येव न काचिदनुपपत्तिः ।

सिहिपिच्छेति । पूर्वमेव योजिता गाथा ।

करती है । यहां 'लुलित' (या चंचल) यह विशेषण स्वरूपकथनमात्र से (प्रयुक्त) है और अभिमान से हाथीदांत का नहीं देना सम्भाव्य है, इस प्रकार इतने में ही वाक्यार्थ की कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

मोरपंखों—पहले ही लगाई हुई गाथा है ।

ध्वन्यालोकः

काले स एव व्याधः करिवरवधव्यापारसमर्थ आसीदित्यर्थप्रकाशनात्।

ननु ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तं तत्कथं तस्य पदप्रकाशता। काव्यविशेषो हि विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दसन्दर्भविशेषः। तद्भावश्च पदप्रकाशत्वे नोपपद्यते। पदानां स्मारकत्वेनावाचकत्वात्। उच्यते— स्यादेष दोषः यदि वाचकत्वं प्रयोजकं ध्वनिव्यवहारे स्यात्। न त्वेवम्; तस्य व्यञ्जकत्वेन व्यवस्थानात्। किं च काव्यानां शरीरा-

किया है। क्यों कि अर्थ यह प्रकाशित होता है कि व्याध बड़े-बड़े हाथियों को मार डालने की सामर्थ्य रखता था।

'जब कि 'ध्वनि काव्यविशेष है' ऐसा कह चुके हैं, तब उसकी पदप्रकाशता कैसे ? क्यों कि विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु शब्दसन्दर्भविशेष काव्यविशेष है, और उसका भाव पदप्रकाश होने पर नहीं उपपन्न होता है, क्यों कि स्मारक होने के कारण पद अवाचक होते हैं। (समाधान में) कहते हैं—यह दोष तब होता यदि वाचकत्व ध्वनि के व्यवहार में प्रयोजक होता, परन्तु ऐसा नहीं है; क्यों कि

लोचनम्

नन्विति। समुदाय एव ध्वनिरित्यत्र पक्षे चोद्यमेतत्। *तद्भावश्चेति*। काव्यविशेषत्वमित्यर्थः। अवाचकत्वादिति यदुक्तं सोऽयमप्रयोजको हेतुरिति छलेन तावद्दर्शयति—*स्यादेष दोष इति*। एवं छलेन परिहृत्य वस्तुवृत्तेनापि परिहरति—*किं चेति*। यदि परो ब्रूयात्—न मया अवाचकत्वं ध्वन्यभावे हेतूकृतं किं तूक्तं काव्यं ध्वनिः। काव्यं चानाकाङ्क्षप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न पदमिति तत्राह— सत्यमेवं, तथापि पदं न ध्वनिरित्यस्माभिरुक्तम्। अपि तु समुदाय एव; तथा च पदप्रकाशो ध्वनिरिति प्रकाशपदेनोक्तम्। ननु पदस्य तत्र तथाविधं सामर्थ्यमिति कुतोऽखण्ड एव प्रतीतिक्रम इत्याशङ्क्याह—*काव्यानामिति*। उक्तं हि प्राग्विवेककाले विभागोपदेश इति।

जब कि—।'समुदाय ही ध्वनि है' इस पक्ष में यह प्रष्टव्य है। उसका भाव—। अर्थात् काव्यविशेषत्व। 'अवाचक होने के कारण' यह जो कहा है वह अप्रयोजक हेतु है, यह छल से दिखाते हैं— यह दोष तब होता—। इस प्रकार छल से परिहार करके परमार्थरूप से भी परिहार करते हैं—और भी—। यदि कोई दूसरा कहे—मैंने अवाचकत्व को ध्वनि के अभाव में हेतु नहीं माना है, किन्तु काव्य को 'ध्वनि' कहा है। और काव्य बिना आकांक्षा के प्रतिपत्ति करने वाला वाक्य है पद नहीं, इस पर कहते हैं— यह ठीक है, तथापि 'पद ध्वनि नहीं है' यह हमने कहा है, अपितु समुदाय ही (ध्वनि) है, और जैसा कि 'पदप्रकाश ध्वनि है' यह 'प्रकाश' पद से कहा है। पद की वहां उस प्रकार की सामर्थ्य है अतः अखण्डरूप से प्रतीतिक्रम कहां है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—काव्यों की—। पहले कहा गया है कि विवेक के समय विभाग का उपदेश है।

ध्वन्यालोकः

णामिव संस्थानविशेषावच्छिन्नसमुदायसाध्यापि चारुत्वप्रतीतिरन्वय-व्यतिरेकाभ्यां भागेषु कल्प्यत इति पदानामपि व्यञ्जकत्वमुखेन व्यव-स्थितो ध्वनिव्यवहारो न विरोधी।

'अनिष्टस्य श्रुतिर्यद्वदापादयति दुष्टताम्।
श्रुतिदुष्टादिषु व्यक्तं तद्वदिष्टस्मृतिर्गुणम्॥
पदानां स्मारकत्वेऽपि पदमात्रावभासिनः।

उसका व्यञ्जकरूप से व्यवस्थान है। और भी, शरीरों की भांति काव्यों की चारुत्व-प्रतीति, संस्थानविशेषरूप समुदायसाध्य होने पर भी अन्वय-व्यतिरेक से भागों में मानी जाती है, इस प्रकार पदों का भी व्यञ्जकत्व के प्रकार से व्यवस्थित ध्वनि-व्यवहार विरोधी नहीं है।

अनिष्ट का श्रवण श्रुतिदुष्ट आदि से जैसे दुष्टता ला देता है उसी प्रकार इष्ट अर्थ की स्मृति भी गुण हो जाती है।

इसलिए पदों के स्मारक होने पर भी पदमात्र से प्रतीत होने वाले ध्वनि के सभी प्रभेदों में रम्यता रह सकती है।

लोचनम्

ननु भागेषु पदरूपेषु कथं सा चारुत्वप्रतीतिरारोपयितुं शक्या? तानि हि स्मारकाण्येव। ततः किम्? मनोहारिव्यङ्ग्यार्थस्मारकत्वाद्धि चारुत्वप्रतीति-निबन्धनत्वं केन वार्यते। यथा श्रुतिदुष्टानां पेलवादिपदानामसभ्यपेलाद्यर्थं प्रति न वाचकत्वम्। अपि तु स्मारकत्वम्। तद्वशाच्च चारुस्वरूपं काव्यं श्रुतिदुष्टम्। तच्च श्रुतिदुष्टत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु व्यवस्थाप्यते तथा प्रकृतेऽपीति तदाह—*अनिष्टस्येति*। अनिष्टार्थस्मारकस्येत्यर्थः। दुष्टतामित्यचा-रुत्वम्। गुणमिति चारुत्वम्। एवं दृष्टान्तमभिधाय पादत्रयेण तुर्येण दार्ष्टान्ति-कार्थ उक्तः। अधुनोपसंहरति—*पदानामिति*। यत एवमिष्टस्मृतिश्चारुत्वमा-

(शंका) पद रूप भागों में वह चारुत्व की प्रतीति का आरोप कैसे किया जा सकता है? क्योंकि वे (पद) स्मारक ही होते हैं। (समाधान—) इससे क्या? मनोहारी व्यङ्ग्य के स्मारक होने के कारण (उन पदों की) चारुत्वप्रतीति का निबन्धनत्व किससे वारण होगा? जैसे श्रुतिदुष्ट 'पेलव' आदि पद असभ्य 'पेल' आदि अर्थ के वाचक नहीं हैं, अपितु स्मारक हैं। और इस कारण चारुस्वरूप काव्य श्रुतिदुष्ट हो जाता है। वह श्रुतिदुष्टत्व अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा भागों में व्यवस्थापित होता है, इस प्रकार प्रकृत में भी, इसलिए कहते हैं—अनिष्ट का—। अर्थात् अनिष्ट अर्थ के स्मारक का। दुष्टता अर्थात् अचारुत्व। गुण अर्थात् चारुत्व। इस प्रकार दृष्टान्त का अभिधान करके चतुर्थ के तीन पादों से दार्ष्टान्तिक अर्थ कहा है। अब उपसंहार करते हैं—पदों के—। जिस

ध्वन्यालोकः

तेन ध्वनेः प्रभेदेषु सर्वेष्वेवास्ति रम्यता ॥
विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी ।
पद्द्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ॥'

इति परिकरश्लोकाः ॥ १ ॥

यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु ।
वाक्ये सङ्घटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥ २ ॥

जिस प्रकार कामिनी विशेष शोभा वाले (विच्छित्तिशोभिना) एक ही आभूषण से शोभित होने लगती है उसी प्रकार सुकवि की वाणी पद से द्योतित होने वाली ध्वनि से शोभित होने लगती है ।

ये परिकर-श्लोक हैं ॥ १ ॥

परन्तु जो अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि वर्ण, पद आदि में होता है वह वाक्य में, संघटना में और प्रबन्ध में भी दीप्त होता है ॥ २ ॥

लोचनम्

वहति तेन हेतुना सर्वेषु प्रकारेषु निरूपितस्य पदमात्रावभासिनोऽपि पदप्रकाशस्यापि ध्वने रम्यतास्ति स्मारकत्वेऽपि पदानामिति समन्वयः। अपिशब्दः काकाक्षिन्यायेनोभयत्रापि सम्बध्यते। अधुना चारुत्वप्रतीतौ पदस्यान्वयव्यतिरेकौ दर्शयति—*विच्छित्तीति* ॥ १ ॥

एवं कारिकां व्याख्याय तदसङ्गृहीतमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं प्रपञ्चयितुमाह—*यस्त्विति*। तुशब्दः पूर्वभेदेभ्योऽस्य विशेषद्योतकः। वर्णसमुदायश्च पदम्। तत्समुदायो वाक्यम्। सङ्घटना पदगता वाक्यगता च। सङ्घटितवाक्यसमुदायः

कारण इस प्रकार इष्ट अर्थ की स्मृति चारुत्व अर्पित करती है उस कारण सब प्रकारों में निरूपित, पदमात्र से अवभासित होने वाले भी पदप्रकाश ध्वनि की रम्यता पदों के स्मारक होने पर भी है, यह (श्लोकार्थ का) समन्वय है। 'भी' शब्द ('अपि') 'काकाक्षिगोलक' न्याय (अर्थात् जिस प्रकार कौओ का एक ही अक्षिगोल दोनों ओर का काम करता है उस प्रकार) से दोनों ओर लगेगा। अब चारुत्व की प्रतीति में पद का अन्वय-व्यतिरेक दिखाते हैं—विशेष शोभा (विच्छित्ति)—॥ १ ॥

इस प्रकार कारिका की व्याख्या करके उसके द्वारा असङ्गृहीत अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का प्रपञ्च करने के लिए कहते हैं—परन्तु जो—। 'परन्तु' ('तु') शब्द पहले के प्रभेदों से इसका विशेष द्योतक है, वर्णों का समुदाय 'पद' होता है, उन (पदों) का समुदाय 'वाक्य' होता है, संघटना पदगत और वाक्यगत होती है, संघटित वाक्यों का समुदाय

ध्वन्यालोकः

तत्र वर्णानामनर्थकत्वाद्द्योतकत्वमसम्भवीत्याशङ्क्येदमुच्यते—

शषौ सरेफसंयोगो ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे ते न वर्णा रसच्युतः ॥ ३ ॥
त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव ते न वर्णा रसच्युतः ॥ ४ ॥

उनमें, वर्णों के अनर्थक होने के कारण द्योतकत्व असम्भव है, यह आशङ्का करके कहते हैं—

श, ष, रेफ के साथ संयोग, और ढकार बहुत बार (प्रयुक्त होने पर) शृङ्गार में विरोधी हैं, इसलिए वर्ण रस को प्रवाहित करने वाले नहीं (सिद्ध) होते हैं ॥३॥

परन्तु वे ही जब बीभत्स आदि रस में निवेशित किये जाते हैं तब उस (रस) को दीपित ही करते हैं, इसलिए वर्ण रस को प्रवाहित करने वाले नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

लोचनम्

प्रबन्धः इत्यभिप्रायेण वर्णादीनां यथाक्रममुपादानम् आदिशब्देन पदैकदेशपदद्वितयादीनां ग्रहणम्। सप्तम्या निमित्तत्वमुक्तम्। दीप्यतेऽवभासते सकलकाव्यावभासकतयेति पूर्ववत्काव्यविशेषत्वं समर्थितम् ॥ २ ॥

भूयसेति प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तेन शकारो भूयसेत्यादि व्याख्यातव्यम्। रेफप्रधानस्संयोगः कर्ह्लद्र इत्यादिः। *विरोधिन इति*। परुषा वृत्तिर्विरोधिनी शृङ्गारस्य। यतस्ते वर्णा भूयसा प्रयुज्यमाना न रसांश्च्योतन्ति स्रवन्ति। यदि वा तेन शृङ्गारविरोधित्वेन हेतुना वर्णाः शषादयो रसाच्छृङ्गाराच्च्यवन्ते तं न व्यञ्जयन्तीति व्यतिरेक उक्तः। अन्वयमाह—*त एव त्विति*। शादयः। *तमिति*। बीभत्सादिकं रसम्। *दीपयन्ति* द्योतयन्ति। कारिकाद्वयं तात्पर्येण

'प्रबन्ध' होता है, इस अभिप्राय से वर्ण आदि का क्रम से उपादान है। 'आदि' शब्द से पद के एकदेश, पदद्वितय आदि के ग्रहण हैं (······पद आदि में) सप्तमी से निमित्तत्व कहा है। दीप्त होना है अर्थात् सकल काव्य के अवभासकरूप से अवभासित होता है, इससे पूर्व की भांति काव्यविशेषत्व का समर्थन किया ॥ २ ॥

बहुत बार—। यह प्रत्येक के साथ लगेगा। इस लिए 'बहुत बार शकार' इत्यादि व्याख्यान करना चाहिए। रेफप्रधान संयोग कर्ह्लद्रं इत्यादि। विरोधी—। परुषा वृत्ति शृङ्गार की विरोधिनी है। क्यों कि वे वर्ण बहुत बार प्रयुज्यमान होकर रसों को प्रवाहित नहीं करते। अथवा ('तेन' अर्थात्) शृङ्गार के विरोधी होने के कारण श, ष आदि वर्ण रस अर्थात् शृङ्गार से च्युत होजाते हैं, अर्थात् उसे व्यञ्जित नहीं करते, यह 'व्यतिरेक' कहा गया। 'अन्वय' कहते हैं—वे ही—। अर्थात् श आदि (वर्ण)। उसको अर्थात् बीभत्स आदि रस को। दीपित करते हैं अर्थात् द्योतित करते हैं। दोनों

ध्वन्यालोकः

श्लोकद्वयेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां वर्णानां द्योतकत्वं दर्शितं भवति ।

श्लोकद्वय से अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा वर्णों का द्योतकत्व मालूम होता है ।

लोचनम्

व्याचष्टे—*श्लोकद्वयेनेति* । यथासंख्यप्रसङ्गपरिहारार्थं श्लोकाभ्यामिति न कृतम् । पूर्वश्लोकेन हि व्यतिरेक उक्तो द्वितीयेनान्वयः । अस्मिन्विषये शृङ्गारलक्षणे शषादिप्रयोगः सुकवित्वमभिवाञ्छता न कर्तव्य इत्येवंफलत्वादुपदेशस्य कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेक उक्तः । न च सर्वथा न कर्तव्योऽपि तु बीभत्सादौ कर्तव्य एवेति पश्चादन्वयः । वृत्तिकारेण त्वन्वयपूर्वको व्यतिरेक इति शैलीमनुसर्तुमन्वयः पूर्वमुपात्तः ।

एतदुक्तं भवति–यद्यपि विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिसम्पदेव रसास्वादे निबन्धनम् । तथापि विशिष्टश्रुतिकशब्दसमर्प्यमानास्ते विभावादयस्तथा भवन्तीति स्वसंवित्सिद्धमदः । तेन वर्णानामपि श्रुतिसमयोपलक्ष्यमाणार्थानपेक्ष्यपि श्रोत्रैकग्राह्यो मृदुपरुषात्मा स्वभावो रसास्वादे सहकार्येव । अत एव च सहकारितामेवाभिधातुं निमित्तसप्तमी कृता वर्णपदादिष्विति । न तु वर्णैरेव रसाभिव्यक्तिः, विभावादिसंयोगाद्धि रसनिष्पत्तिरित्युक्तं बहुशः । श्रोत्रैकग्राह्योऽपि च स्वभावो रसनिष्यन्दे व्याप्रियत एव, अपदगीतध्वनिवत् पुष्कर-

कारिकाओं का तात्पर्य से व्याख्यान करते हैं—श्लोक द्वय से—। यथासंख्य का प्रसंग हटाने के लिए 'दोनों श्लोकों से' (श्लोकाभ्यां) यह नहीं किया है, क्यों कि प्रथम श्लोक से 'व्यतिरेक' कहा है, द्वितीय से 'अन्वय' । शृङ्गार रूप इस विषय में श, ष आदि का प्रयोग सुकवित्व की इच्छा वाला व्यक्ति नहीं करे, एतद्रूप उपदेश के फल के कारण कारिकाकार ने पहले 'व्यतिरेक' कहा है । ऐसा नहीं कि सर्वथा नहीं करे, अपि तु बीभत्स आदि में करे ही, यह बाद में 'अन्वय' है । परन्तु वृत्तिकार ने 'अन्वयपूर्वक व्यतिरेक' इस शैली के अनुसरण के लिए 'अन्वय' का पहले उपादान किया है ।

बात यह कही गई—यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की प्रतीतिसम्पत्ति ही रसास्वाद में कारण (निबन्धन) है, तथापि जिनका सुनना विशिष्ट होता है ऐसे शब्दों द्वारा समर्प्यमाण होकर वे विभाव आदि उस प्रकार (अर्थात् रसास्वाद में निबन्धन) होते हैं, यह स्वप्रतीतिसिद्ध बात है । इस कारण वर्णों का भी श्रवण के अवसर में ज्ञायमान अर्थ की अपेक्षा नहीं रखने वाला भी एकमात्र श्रोत्रद्वारा ग्राह्य मृदु अथवा परुषरूप स्वभाव रसास्वाद में सहकारी है ही । और इसी लिए सहकारिता के अभिधान के लिए 'वर्ण, पद आदि में' यह निमित्तसप्तमी की है । न कि वर्णों से ही रस की अभिव्यक्ति होती है, विभाव आदि के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है, यह बहुत बार कहा जा चुका है । एकमात्र श्रोत्रद्वारा ग्राह्य स्वभाव भी रसनिष्यन्द में व्यापृत होता

ध्वन्यालोकः

पदे चालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य द्योतनं यथा—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि॥

अत्र हि ते इत्येतत्पदं रसमयत्वेन स्फुटमेवावभासते सहृदयानाम्।

पदावयवेन द्योतनं यथा—

पद में अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का द्योतन, जैसे—

भय के मारे छूट गए वस्त्र वाली, उन उत्कम्पशील विधुर आँखों को चारों ओर दौड़ाती हुई तुझे दारुण होने के कारण क्रूर अग्नि ने सहसा ही जला डाला, धुयें से अंधे (उस अग्नि) ने तुझे नहीं देखा।

यहाँ 'उन' यह पद सहृदयों को रसमय रूप में स्पष्ट ही प्रतीत होता है।

पद के अवयव से द्योतन, जैसे—

लोचनम्

वाद्यनियमितविशिष्टजातिकरणघाद्यनुकरणशब्दवच्च। *पदे चेति*। पदे च सती-त्यर्थः। तेन रसप्रतीतिर्विभावादेरेव। ते विभावादयो यदा विशिष्टेन केनापि पदेनार्प्यमाणा रसचमत्कारविधायिनो भवन्ति तदा पदस्यैवासौ महिमा समर्प्यत इति भावः।

अत्र हीति। वासवदत्तादाहाकर्णनप्रबुद्धशोकनिर्भरस्य वत्सराजस्येदं परि-देवितवचनम्। तत्र च शोको नामेष्टजनविनाशप्रभव इति तस्य जनस्य ये भ्रूक्षेपकटाक्षप्रभृतयः पूर्वं रतिविभावतामवलम्बन्ते स्म त एवात्यन्तविनष्टाः सन्त इदानीं स्मृतिगोचरतया निरपेक्षभावत्वप्राणं करुणमुद्दीपयन्तीति स्थितम्।

ही है, बिना पद के गीत की ध्वनि की भांति और पुष्कर वाद्य में नियमित एवं विशिष्ट जाति, करण, घ आदि अनुकरण शब्द की भांति। पद में—। अर्थात् पद के होने पर। अतः रस की प्रतीति विभावादि से ही होती है। भाव यह कि वे विभाव आदि विशिष्ट किसी पद से अर्प्यमाण होकर रस-चमत्कार का विधान करते हैं तब पद की ही वह महिमा समर्पित होती है।

यहां—। वासवदत्ता के जल जाने की खबर सुनने से उत्पन्न शोकनिर्भर वाले वत्सराज का यह परिदेवितवचन है। इसमें बात यह है कि शोक इष्ट जन के विनाश से उत्पन्न होता है, इस प्रकार उस व्यक्ति के जो भ्रूक्षेप, कटाक्ष प्रभृति पहले रति की विभावना का अवलम्बन करते थे वे ही अत्यन्त विनष्ट होते हुए अब स्मृतिगोचर होने के

ध्वन्यालोकः

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य ।

गुरुजनों (सास, असुर आदि) के समीप लज्जा के मारे सिर झुकाए, स्तन के कलशों में कम्प उत्पन्न कर देने वाले क्रोध को भीतर ही रोक कर और आँसू टपका

लोचनम्

ते लोचने इति तच्छब्दस्तल्लोचनगतस्वसंवेद्याव्यपदेश्यानन्तगुणस्मरणाकार-द्योतको रसस्यासाधारणनिमित्ततां प्राप्तः। तेन यत्केनचिच्चोदितं परिहृतं च तन्मिथ्यैव। तथाहि चोद्यम्—प्रक्रान्तपरामर्शकस्य तच्छब्दस्य कथमियति सामर्थ्यमिति। उत्तरं च—रसाविष्टोऽत्र परामर्ष्टेति। तदुभयमनुत्थानोपहतम्। यत्र ह्यनूद्दिश्यमानधर्मान्तरसाहित्ययोग्यधर्मयोगित्वं वस्तुनो यच्छब्देनाभिधाय तद्बुद्धिस्थधर्मान्तरसाहित्यं तच्छब्देन निर्वाच्यते। यत्रोच्यते-'यत्तदोर्नित्य-सम्बन्धत्वम्' इति, तत्र पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शकत्वं तच्छब्दस्य। यत्र पुनर्निमित्तो-

कारण निरपेक्षभावत्वप्राण करुण को उद्दीपित करते हैं। 'उन आंखों को' यहां 'उन' ('तत्') शब्द उसकी आंखों के स्वसंवेद्य एवं अव्यपदेश्य अनन्त गुणगणों के स्मरण के आकार का द्योतक बन कर रस का असाधारण निमित्त हो जाता है। इस लिए जो किसीने प्रश्न किया है और परिहार किया है, वह मिथ्या ही है। जैसा कि प्रश्न है—प्रक्रान्त के परामर्शक 'तत्' ('उन') शब्द की इतने में सामर्थ्य कैसे है ? और उत्तर है—परामर्श करने वाला यहां रसाविष्ट है। ये दोनों अवसर न मिलने से (अनुत्थान के कारण) उपहत (बेकार) हैं। क्योंकि[1] जहां 'यत्' शब्द से वस्त्र का अनूद्दिश्यमान धर्मान्तर के साहित्ययोग्य धर्म का योगित्व अभिधान करके उस बुद्धिस्थ धर्मान्तर के साहित्य (सम्बन्ध) को 'तत्' शब्द के द्वारा बोध करते हैं, जहां कहते हैं—'यत्' और 'तत्' का नित्य सम्बन्ध है, वहां 'तत्' शब्द पहले के प्रक्रान्त का परामर्शक होता है। फिर जहां 'तत्' शब्द किसी कारण से लाए गए स्मरण-विशेष के आकार का

१. लोचनकार के कहने का आशय यह है कि 'तत्' शब्द का प्रयोग दो प्रकार से होता है। एक तो पूर्व प्रक्रान्त के परामर्श के लिए और दूसरा किसी निमित्त से प्राप्त स्मरण-विशेष के आकार की सूचना के लिए। जहां पहले प्रकार से प्रयोग होता है वहां 'यत्तदोर्नित्यं सम्बन्धः' इस नियम के अनुसार 'यत्' शब्द का होना अनिवार्य होता है, न होने पर आक्षेप कर लिया जाता है। किन्तु जहां किसी कारणवश प्राप्त स्मरण-विशेष के आकार का 'तत्' शब्द सूचक होता है वहाँ 'यत्' के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। प्रस्तुत उदाहरण में 'ते लोचने' का 'तत्' शब्द दूसरे प्रकार से प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् यहाँ उस नायिका के नेत्रों के स्वसंवेद्य एवं अव्यपदेश्य अनन्त गुणों के स्मरण के आकार का द्योतक या सूचक है। किन्तु दूसरे किसी ने भ्रमवश प्रथम प्रकार से यहाँ 'तत्' शब्द का प्रयोग समझकर जो समाधान किया है वह सर्वथा ठीक नहीं।

ध्वन्यालोकः

तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्समुत्सृज्य बाष्पं
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥

कर उसने चकित हरिणी की भांति मनोहर नेत्रों का तीसरा भाग (अर्थात् कटाक्ष) मुझमें लगा दिया तो क्या उसने 'ठहरो' यह नहीं कहा ?

लोचनम्

पनतस्मरणविशेषाकारसूचकत्वं तच्छब्दस्य 'स घट' इत्यादौ यथा, तत्र का परामर्शकत्वकथेत्यास्तामलीकपरामर्शकैः पण्डितम्मन्यैः सह विवादेन।

उत्कम्पिनीत्यादिना तदीयभयानुभावोत्प्रेक्षणम्। मयाऽनिर्वाहितप्रतीकारमिति शोकावेशस्य विभावः। *ते* इति सातिशयविभ्रमैकायतनरूपे अपि लोचने विधुरे कान्दिशीकतया निर्लक्ष्ये क्षिपन्ती कस्त्राता क्वासावार्यपुत्र इति तयोर्लोचनयोस्तादृशी चावस्थेति सुतरां शोकोद्दीपनम्। *क्रूरेणेति*। तस्यायं स्वभाव एव। किं कुरुतां तथापि च धूमेनान्धीकृतो द्रष्टुमसमर्थ इति न तु सविवेकस्येदृशानुचितकारित्वं सम्भाव्यते, इति स्मर्यमाणं तदीयं सौन्दर्यमिदानीं सातिशयशोकावेशविभावतां प्राप्तमिति। ते शब्दे सति सर्वोऽयमर्थो निर्व्यूढः। एवं तत्र तत्र व्याख्यातव्यम्।

सूचक होता है, जैसे 'वह घट' इत्यादि में वहां परामर्शकत्व की बात क्या ? मिथ्या परामर्श करने वाले पण्डितम्मन्य जनों के साथ विवाद व्यर्थ है !

'उत्कम्पशील' इत्यादि से उसके भय के अनुभावों का उत्प्रेक्षण है। जब कि मैंने कोई उसका प्रतीकार नहीं किया, यह शोकावेश का विभाव है। 'उन' अर्थात् अतिशय विलासों के एकमात्र आयतन रूप भी भय के मारे विधुर नेत्रों को दौड़ाती हुई 'कौन बचाने वाला है, वह आर्यपुत्र कहां हैं ? यह उन आँखों की अवस्था पूर्ण रूप से शोक का उद्दीपन है। क्रूर—। उसका यह स्वभाव ही है। क्या करें, तथापि धुयें से अन्धा होने के कारण देख नहीं सका; विवेकशील व्यक्ति ऐसा अनुचित नहीं कर सकता। इस प्रकार स्मरण किया जाता हुआ उसका (रत्नावली का) सौन्दर्य इस समय अतिशय शोकावेश का विभाव बन रहा है। 'उन' शब्द के होने पर यह सब अर्थ निर्वाह हो जाता है। इस प्रकार वहां-वहां व्याख्यान कर लेना चाहिए।

आचार्य लिखते हैं कि जहाँ 'तत्' शब्द पूर्व प्रक्रान्त का परामर्शक होता है वहाँ दोनों का प्रयोग अनिवार्य है, जैसे, 'यो विद्वान् स पूज्यः'। यहाँ पर 'यत्' शब्द से अनूदिश्यमान धर्मान्तर पूज्यत्व के साथ सम्बन्धयोग्य धर्मान्तर विद्वत्त्व के सम्बन्ध का अभिधान करके उस बुद्धि धर्मान्तर विद्वत्त्व का साहित्य सम्बन्ध 'तत्' शब्द से परामर्श किया गया है। प्रस्तुत उदाहरण में लोचनकार के अनुसार 'ते' यह पद स्मरण विशेषाकार का सूचक होने के कारण, कि सहृदयों की रसप्रतीति में सहायक होता है, क्योंकि यहाँ इसी शब्द से करुण रस के अनुकूल विभावादि समर्प्यमाण होकर रस-चमत्कार को उत्पन्न करते हैं।

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र त्रिभागशब्दः ।

वाक्यरूपश्चालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः शुद्धाऽलङ्कारसङ्कीर्णश्चेति द्विधा मतः । तत्र शुद्धस्योदाहरणं यथा रामाभ्युदये—'कृतककुपितैः' इत्यादि

यहाँ तीसरा भाग (त्रिभाग)' शब्द ।

वाक्यरूप अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि 'शुद्ध' और 'अलङ्कारसङ्कीर्ण' यह दो प्रकार का माना गया है । उनमें 'शुद्ध' का उदाहरण, जैसे—रामाभ्युदय में 'कृतककुपितैः०'

लोचनम्

त्रिभागशब्द इति । गुरुजनमवधीर्यापि सा मां यथा तथापि साभिलाषमन्युदैन्यगर्वमन्थरं विलोकितवतीत्येवं स्मरणेन परस्परहेतुकत्वप्राणप्रवासविप्रलम्भोद्दीपनं त्रिभागशब्दसन्निधौ स्फुटं भातीति । *वाक्यरूपश्चेति* । प्रथमानिर्देशेनाव्यतिरेकनिर्देशस्यायमभिप्रायः । वर्णपदतद्भागादिषु सत्स्वेवालक्ष्यक्रमो व्यङ्ग्यो निर्भासमानोऽपि समस्तकाव्यव्यापक एव निर्भासते, विभावादिसंयोगप्राणत्वात् । तेन वर्णादीनां निमित्तत्वमात्रमेव, वाक्यं तु ध्वनेरलक्ष्यक्रमस्य न निमित्ततामात्रेण वर्णादिवदुपकारि, किं तु समग्रविभावादिप्रतिपत्तिव्यापृतत्वाद्रसादिमयमेव तन्निर्भासत इति 'वाक्य' इत्येतत्कारिकायां न निमित्तसप्तमीमात्रम् , अपि त्वनन्यत्र भावविषयार्थमपीति । शुद्ध इत्यर्थालङ्कारेण केनाप्यसंमिश्रः ।

'तीसरा भाग' ('त्रिभाग') शब्द—। गुरुजन की परवाह न करके भी वह मुझे जिस किसी प्रकार भी अभिलाष-सहित क्रोध, दैन्य एवं गर्व से मन्थर भाव से देखने लगी, इस प्रकार स्मरण से परस्पर हेतु होने से उत्पन्न होने वाले प्रवासविप्रलम्भ का उद्दीपन 'तीसरा भाग' ('त्रिभाग') शब्द के सन्निधान में स्पष्ट प्रतीत होता है । वाक्यरूप—। प्रथमा विभक्ति के निर्देश द्वारा अव्यतिरेक अर्थात् अभेद के बोधन का यह अभिप्राय है—वर्ण, पद और पदभाग आदि में निर्भासमान भी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य समस्त काव्य में व्यापकरूप में ही निर्भासित होता है, क्यों कि विभाव आदि का संयोग उसका प्राण है । इस लिए वर्ण आदि निमित्तमात्र ही होते हैं, परन्तु वाक्य अलक्ष्यक्रम ध्वनि का निमित्ततामात्र से वर्ण आदि की भांति उपकार नहीं करता, किन्तु समग्र विभाव आदि की प्रतिपत्ति (ज्ञान) से व्यापृत होने के कारण वह (वाक्य) रसमय ही निर्भासित होता है, इस लिए 'वाक्य में' यह (दूसरी) कारिका में निमित्तार्थकसप्तमीमात्र नहीं है । अपि तु अन्यत्र विषय का अभाव है इस (अर्थ के बोध के लिए सप्तमी है) । 'शुद्ध' अर्थात् किसी भी अर्थालङ्कार से न मिला हुआ ।

ध्वन्यालोकः

श्लोकः। एतद्धि वाक्यं परस्परानुरागं परिपोषप्राप्तं प्रदर्शयत्सर्वत एव परं रसतत्त्वं प्रकाशयति।

इत्यादि श्लोक। यह वाक्य परिपुष्ट परस्परानुराग को प्रदर्शित करता हुआ सब ओर से उत्कृष्ट रसतत्त्व को प्रकाशित करता है।

लोचनम्

कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितै-
र्वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथाम्बया।
नवजलधरश्यामाः पश्यन्दिशो भवतीं विना
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः॥

अत्र तथा तैस्तैः प्रकारैर्मात्रा धृतापीत्यनुरागपरवशत्वेन गुरुवचनोल्लङ्घनमपि त्वया कृतमिति। प्रिये प्रिय इति परस्परजीवितसर्वस्वाभिमानात्मको रतिस्थायिभाव उक्तः। नवजलधरेत्यसोढपूर्वप्रावृषेण्यजलदालोकनं विप्रलम्भोद्दीपनविभावत्वेनोक्तम्। जीवत्येवेति सापेक्षभावता एवकारेण करुणावकाशनिराकरणायोक्ता। *सर्वत एवेति*। नात्रान्यतमस्य पदस्याधिकं किञ्चिद्रसव्यक्तिहेतुत्वमित्यर्थः। *रसतत्त्वमिति*। विप्रलम्भश्रृङ्गारात्मतत्त्वम्।

[कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितै-
र्वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृताऽपि तथाऽम्बया।
नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः॥]

कृत्रिम कोपों से, अश्रुजलों से और दीनतापूर्ण निरीक्षणों से उस प्रकार माता के द्वारा रोके जाने पर भी जिसके प्रेमवश तू वन को भी चली आई, हे प्रिये! नये बादलों से श्यामवर्ण दिशाओं को देखताहुआ तुम्हारे बिना कठिनहृदय वह प्रिय जी ही रहा है।

यहां उस प्रकार उन उन प्रकारों से माता के द्वारा रोके जाने पर भी, अर्थात् अनुराग के परवश होने के कारण गुरुवचन का उल्लंघन भी तुमने किया। 'प्रिये' 'प्रिय', इससे एक दूसरे के जीवितसर्वस्व होने के अभिमान रूप रतिस्थायिभाव कहा गया है। नये बादल' इससे असह्य वर्षाकालीन बादलों का आलोकन विप्रलम्भ के उद्दीपनविभाव के रूप में कहा है। 'जी ही रहा है' 'ही' (एवकार) से यह सापेक्षभावता करुण रस के प्रसंग के निराकरण के लिए कही गई है। सब ओर से—। अर्थात् यहां कोई ऐसा पद नहीं जो कुछ ही रस की अभिव्यक्ति करता है। रसतत्त्व अर्थात् विप्रलम्भश्रृङ्गार रूप आत्मतत्त्व।

ध्वन्यालोकः

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णो यथा—'स्मरनवनदीपूरेणोढाः' इत्या दिश्लोकः। अत्र हि रूपकेण यथोक्तव्यञ्जकलक्षणानुगतेन प्रसाधितो रसः सुतरामभिव्यज्यते ॥ ३-४ ॥

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्ण, जैसे—

'स्मरनवनदीपूरेणोढाः' इत्यादि श्लोक। यहाँ व्यञ्जक यथोक्त लक्षणों से युक्त रूपक से अलङ्कृत रस अच्छे ढङ्ग से अभिव्यक्त होता है॥ ३-४ ॥

लोचनम्

स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभिर्यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः॥

रूपकेणेति। स्मर एव नवनदीपूरः प्रावृषेण्यप्रवाहः सरभसमेव प्रवृद्धत्वात् तेनोढाः परस्परसांमुख्यमबुद्धिपूर्वमेव नीताः। अनन्तरं गुरवः श्वश्रूप्रभृतय एव सेतवः, इच्छाप्रसररोधकत्वात्। अथ च गुरवोऽलङ्घ्याः सेतवस्तैः विधृताः प्रतिहतेच्छाः। अत एवापूर्णमनोरथास्तिष्ठन्ति। तथापि परस्परोन्मुखतालक्षणेनान्योन्यतादात्म्येन स्वदेहे सकलवृत्तिनिरोधाल्लिखितप्रायैरङ्गैर्नयनान्येव नलिनीनालानि तैरानीतं रसं परस्पराभिलाषलक्षणमास्वादयन्ति परस्पराभिलाषात्मकदृष्टिच्छटामिश्रीकारयुक्त्यापि कालमतिवाहयन्तीति। ननु नात्र

[स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि-
र्यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः ॥]

काम की नयी नदी के प्रवाह में बहे जाते हुए, पुनः गुरु (गुरुजन, माता-पिता आदि, पक्ष में विशाल) के सेतु से रोके गए अपूर्णमनोरथ प्रिय (प्रेमी और प्रेमिका) यद्यपि दूर-दूर खड़े रहते हैं तथापि चित्रलिखित की भांति अंगों से उन्मुख होकर नेत्रों के मृणाल से लाए गए रस का परस्पर पान करते हैं।

रूपक से—। काम ही नवनदीपूर अर्थात् वर्षाकालीन प्रवाह है, क्योंकि बड़े वेग से वह बढ़ जाता है, उसके द्वारा ऊढ अर्थात् बिना सोचे-विचारे ही एक दूसरे के सम्मुख हुए। अनन्तर, गुरु अर्थात् सास प्रभृति ही सेतु हैं, क्योंकि वे इच्छा के वेग को रोक देते हैं, और भी, गुरु अर्थात् अलङ्घ्य जो सेतु हैं उनके द्वारा रोके गए अर्थात् प्रतिहत इच्छा वाले। अत एव अपूर्णमनोरथ खड़े रहते हैं। तथापि परस्पर उन्मुखतारूप अन्योन्य तादात्म्य के द्वारा अपने शरीर में समस्त वृत्तियों का विरोध हो जाने पर लिखितप्राय अङ्गों से (उपलक्षण में तृतीया) नयनरूपी नलिनीनालों अर्थात् मृणालों द्वारा आनीत परस्पराभिलाषरूप रस का आस्वादन करते हैं, अर्थात् परस्पराभिलाषरूप दृष्टिच्छटा के मिश्रीकार की युक्ति से भी काल-यापन करते हैं। (शङ्का—) यहां रूपक का पूर्ण रूप से

ध्वन्यालोकः

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः सङ्घटनायां भासते ध्वनिरित्युक्तं तत्र सङ्घटना-स्वरूपमेव तावन्निरूप्यते—

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि सघटना में (भी) भासित होता है, यह कह चुके हैं, वहाँ संघटना का स्वरूप ही पहले निरूपण करते हैं—

लोचनम्

रूपकं निर्व्यूढं हंसचक्रवाकादिरूपेण नायकयुगलस्याऽरूपितत्वात्। ते हि हंसाद्या एकनलिनीनालानीतसलिलपानक्रीडादिषूचिता इत्याशङ्क्याह—*यथोक्तव्यञ्जकेति*। उक्तं हि पूर्वम्—'विवक्षातत्परत्वेन' इत्यादौ 'नातिनिर्वहणैषिता' इति। *प्रसाधित इति*। विभावादिभूषणद्वारेण रसोऽपि प्रसाधित इत्यर्थः ॥

***सङ्घटनायामिति* भावे प्रत्ययः, वर्णादिवच्च निमित्तमात्रे सप्तमी। *उक्तमिति*। कारिकायाम्। *निरूप्यत* इति। गुणेभ्यो विविक्ततया विचार्यत इति यावत्।**

निर्वाह नहीं किया गया है, क्योंकि नायकयुगल का हंस, चक्रवाक आदि रूप से रूपण नहीं किया गया है, क्योंकि वे हंस आदि एक मृणाल से आनीत जल के पान की क्रीड़ा आदि कार्यों में काबिल होते हैं, यह आशंका करके कहते हैं—**व्यंजक यथोक्तलक्षण—**। पहले कह चुके हैं 'विवक्षातत्परत्वेन' इत्यादि में 'नातिनिर्वहणैषिता' अर्थात् किसी अलङ्कार के अति दूर तक निर्वाह की इच्छा न हो। **अलंकृत—**। अर्थात् विभाव आदि भूषण के द्वारा रस भी अलंकृत या प्रसाधित होता है ॥ ३–४ ॥

'संघटना'[1] यह भाव में प्रत्यय है और (पूर्व कारिका में) 'वर्ण' आदि की भांति निमित्त मात्र में 'सप्तमी' है। **कही है—**कारिका में। **निरूपण करते हैं—**अर्थात् गुणों से भिन्न रूप से विचार करते हैं। 'रसान्' (हंसों को) यह कारिका में द्वितीयार्थ का

१. यहाँ ध्वनिकार 'संघटना' पर एक विस्तृत विचार प्रस्तुत करते हैं। ध्वनिकार से पूर्व आचार्य वामन ने 'रीति' के नाम को साहित्य-शास्त्र में प्रतिष्ठित किया था और 'रीति' को काव्य का आत्मा बताया था ('रीतिरात्मा काव्यस्य')। दण्डी ने रीति को 'मार्ग' कहा, किन्तु प्रसिद्धिवश उसका लक्षण नहीं किया। साहित्य-शास्त्र के आद्य आचार्य भामह के ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं मिलता। आचार्य वामन ने 'विशिष्टपदरचना' को 'रीति' कहा है और 'विशेष' का अर्थ 'गुण' किया है। इस प्रकार गुणात्मक पदरचना ही 'रीति' है। वामन ने रीति को तीन प्रकार की माना है—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। ओज, प्रसाद आदि समग्र गुणों वाली रचना 'वैदर्भी' है, ओज और कान्ति गुणों वाली रचना 'गौडी' है और माधुर्य और सौकुमार्य से युक्त रचना 'पाञ्चाली' है। जिसमें सर्वथा समास का अभाव हो उसे शुद्ध वैदर्भी कहा है। आनन्दवर्धन की प्रस्तुत 'सङ्घटना' वामन की 'रीति' ही है, क्योंकि ये भी असमासा, मध्यम-समासा और दीर्घसमासा, तीन भेद करते हैं, जिनमें पदरचना का ही उपयोग है। आनन्दवर्धन ने रीति या सङ्घटना को इतना महत्त्व नहीं दिया जो वामन ने दिया, किन्तु आचार्य आनन्दवर्धन इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि वर्ण, पद आदि की भाँति सङ्घटना भी काव्य के आत्मा 'ध्वनि' को व्यञ्जित करती है, रस से उसका गहरा सम्बन्ध है।

ध्वन्यालोकः

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता ॥ ५ ॥

कैश्चित्—तां केवलमनूद्येदमुच्यते—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनक्ति सा ।
रसान्—

सा सङ्घटना रसादीन् व्यनक्ति गुणानाश्रित्य तिष्ठन्तीति । अत्र च विकल्प्यं गुणानां सङ्घटनायाश्चैक्यं व्यतिरेको वा । व्यतिरेकेऽपि

संघटना तीन प्रकार की कही है—असमासा, मध्यम-समासा तथा दीर्घसमासा ॥

कुछ लोगों ने उसका केवल अनुवाद करके यह कहते हैं—

माधुर्य आदि गुणों का आश्रयण करके रहती हुई वह रसों को व्यक्त करती है ।

वह संघटना रस आदि को व्यक्त करती है गुणों का आश्रयण करके रहती हुई । यहाँ विकल्प करना चाहिए कि गुणों का और संघटना का ऐक्य (अभेद) है अथवा

लोचनम्

रसानिति कारिकायां द्वितीयार्धस्याद्यं पदम् । 'रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः' इति कारिकार्धम् । बहुवचनेनाद्यर्थः सङ्गृहीत इति दर्शयति—*रसादीनिति* । *अत्र चेति* । अस्मिन्नेव कारिकार्धे । विकल्पेनेदमर्थजातं कल्पयितुं व्याख्यातुं शक्यम्, किं तदित्याह—*गुणानामिति* । त्रयः पक्षा ये सम्भाव्यन्ते ते

पद है । 'रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः' यह कारिकार्ध है । बहुवचन से 'आदि' अर्थ संगृहीत है, यह दिखाते हैं—रस आदि को—। यहां—। इसी कारिकार्ध में । विकल्प के द्वारा यह अर्थसमूह कल्पना, व्याख्यान किया जा सकता है, वह क्या है ? कहते हैं—गुणों के—। तीन[1] पक्ष जो सम्भावित होते हैं व्याख्यान किए जा

१. मुख्यरूप से सङ्घटना और गुणों का सम्बन्ध और सङ्घटना को रसाभिव्यक्ति का एक साधन, ये दो बातें प्रस्तुत ग्रन्थ में विवेचित हैं, इसकी आधारभूत कारिका का यह अंश है—'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा । रसान् ।' कारिका के 'गुणानाश्रित्य' इस निर्देश के अनुसार गुणों और सङ्घटना के सम्बन्ध को लेकर तीन विकल्प किए गए हैं—प्रथम विकल्प के अनुसार गुण और रीति का अभेद है, (भेद पक्ष स्वीकार करने पर) सङ्घटना के आश्रित गुण हैं अथवा गुण के आश्रित सङ्घटना है, ये दो विकल्प हैं । वामन ने रीति और गुण का अभेद माना है । इस अभेद पक्ष के अनुसार 'गुणानाश्रित्य' का अर्थ 'आत्मभूत गुणों का आश्रयण करके' । यद्यपि गुण और सङ्घटना का अभेद है तथापि 'शिंशपा के आश्रित वृक्षत्व' की भाँति स्वाभिन्न वस्तु का भी स्व से भेद परिकल्पित किया है । गुण और सङ्घटना में भेद मानने वाले भट्ट उद्भट आदि के अनुसार गुण सङ्घटना के धर्म हैं, और धर्म अपने धर्मी के आश्रित होते ही हैं इस लिए गुण

ध्वन्यालोकः

द्वयी गतिः। गुणाश्रया सङ्घटना, सङ्घटनाश्रया वा गुणा इति। तत्रैक्यपक्षे सङ्घटनाश्रयगुणपक्षे च गुणानात्मभूतानाधेयभूतान्वाश्रित्य तिष्ठन्ती सङ्घटना रसादीन् व्यनक्तीत्ययमर्थः। यदा तु नानात्वपक्षे गुणाश्रयसङ्घटनापक्षः तदा गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती गुणपरतन्त्रस्वभावा न तु गुणरूपैवेत्यर्थः। किं पुनरेवं विकल्पनस्य प्रयोजनमिति ?

व्यतिरेक (भेद)। व्यतिरेक (भेद) में भी दो ढङ्ग हैं, गुणों के आश्रित संघटना है या संघटना के आश्रित गुण हैं। वहाँ, ऐक्य (अभेद) पक्ष में और संघटना के आश्रित गुणों के पक्ष में अर्थ यह होता है कि आत्मभूत अथवा आधेयभूत गुणों का आश्रयण करके रहती हुई संघटना रस आदि को व्यक्त करती है। परन्तु जब नानात्व (अर्थात् भेद) पक्ष में गुणों के आश्रित संघटना का पक्ष (मानते हैं) तब अर्थ होता है कि गुणों के आश्रयण करके रहती हुई, गुणों के परतंत्र स्वभाव वाली है, न कि गुण रूप ही है। फिर इस प्रकार विकल्प करने का प्रयोजन क्या है ?

लोचनम्

व्याख्यातुं शक्याः। कथ मत्याह—*तत्रैक्यपक्ष इति*। *आत्मभूतानिति*। स्वभावस्य कल्पनया प्रतिपादनार्थं प्रदर्शितभेदस्य स्वाश्रयवाचोयुक्तिर्दृश्यते शिंशपाश्रयं वृक्षत्वमिति। *आधेयभूतानिति*। सङ्घटनाया धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटादयः, धर्माश्च धर्म्याश्रिता इति प्रसिद्धो मार्गः। *गुणपरतन्त्रेति*। अत्र नाधाराधेय-

सकते हैं। कैसे ? कहते हैं—वहां ऐक्यपक्ष में—। आत्मभूत—। स्वभाव के प्रतिपादन के लिए कल्पना से प्रदर्शित भेद वाली वस्तु का 'स्वाश्रय' कहने का ढङ्ग देखा जाता है, शिंशपा के आश्रित वृक्षत्व। आधेयभूत—। 'भट्ट उद्भट' आदि के अनुसार गुण संघटना के धर्म हैं और यह प्रसिद्ध मार्ग (मन्तव्य) है कि धर्म धर्मी के आश्रित होते हैं। गुणों के परतन्त्र—। यहां आश्रय का अर्थ आधाराधेयभाव नहीं है, क्योंकि गुणों में

सङ्घटना के आश्रित हैं। इसके अनुसार 'गुणान् आधेयभूतान् आश्रित्य' अर्थात् आधेयभूत गुणों का आश्रयण करके, यह अर्थ होगा। तीसरे विकल्प के अनुसार सङ्घटना गुणों के आश्रित है, अर्थात् सङ्घटना अपने आधारभूत गुणों का आश्रयण करती है ('गुणानाश्रित्य')। यह अन्तिम विकल्प आचार्य आनन्दवर्धन का अपना सिद्धान्त-पक्ष है। सङ्घटना को गुणों के आश्रित मानते हुए वह उसे रसों का अन्यतम व्यञ्जक भी मानते हैं। 'गुणानाश्रित्य' इस कारिकांश को तीनों विकल्पों के अनुसार सङ्गत करके आचार्य ने तीनों के अनुसार सङ्घटना की रसव्यञ्जकता सूचित की है। सङ्घटना गुणों के आश्रित है, इसका अभिप्राय यह नहीं कि गुणों के साथ सङ्घटना का आधाराधेयभाव है, क्योंकि गुणों में सङ्घटना नहीं रहती है। इस लिए सङ्घटना गुण के परतन्त्र होकर रहती है, उनकी वह मुखापेक्षिणी है। जैसे राजाश्रित प्रजावर्ग, राजा के परतन्त्र या मुखापेक्षी होकर रहता है। यह बात 'लोचन' में निर्दिष्ट है।

ध्वन्यालोकः

अभिधीयते—यदि गुणाः सङ्घटना चेत्येकं तत्त्वं सङ्घटनाश्रया वा गुणाः, तदा सङ्घटनाया इव गुणानामनियतविषयत्वप्रसङ्गः। गुणानां हि माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भशृङ्गारविषय एव। रौद्राद्भुतादिविषयमोजः। माधुर्यप्रसादौ रसभावतदाभासविषयावेवेति विषयनियमो व्यवस्थितः, सङ्घटनायास्तु स विघटते। तथा हि शृङ्गारेऽपि दीर्घसमासा दृश्यते रौद्रादिष्वसमासा चेति।

बताते हैं—यदि गुण और संघटना एक तत्त्व है अथवा संघटना के आश्रित गुण हैं, तब संघटना की भांति गुणों की अनियतता का प्रसंग होगा। क्योंकि गुणों का माधुर्यप्रसाद-प्रकर्ष करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार में ही होता है। ओज के विषय रौद्र, अद्भुत आदि हैं। माधुर्य और प्रसाद (गुण) रस, भाव और भावाभास को ही विषय करते हैं, इस प्रकार विषय का नियम व्यवस्थित है, परन्तु सङ्घटना में वह (नियम) विघटित हो जाता है। जैसा कि शृङ्गार में भी दीर्घसमासा और रौद्र आदि में भी असमासा (संघटना) देखी जाती है।

लोचनम्

भाव आश्रयार्थः। न हि गुणेषु सङ्घटना तिष्ठतीति। तेन राजाश्रयः प्रकृतिवर्ग इत्यत्र यथा राजाश्रयौचित्येनामात्यादिप्रकृतय इत्ययमर्थः, एवं गुणेषु परतन्त्रस्वभावा तदायत्ता तन्मुखप्रेक्षिणी सङ्घटनेत्ययमर्थो लभ्यत इति भावः। *सङ्घटनाया इवेति*। प्रथमपक्षे तादात्म्येन समानयोगक्षेमत्वादितरत्र तु धर्मत्वेनेति भावः। भवत्वनियतविषयतेत्याशङ्क्याह—*गुणानां हीति*। हिशब्दस्तुशब्दार्थे। न त्वेवमुपपद्यते, आपद्यते तु न्यायबलादित्यर्थः। स इति। योऽयं गुणेषु नियम उक्तोऽसावित्यर्थः। तथात्वे लक्ष्यदर्शनमेव हेतुत्वेनाह—*तथा हीति*।

सङ्घटना नहीं रहती है। इसलिए 'प्रकृतिवर्ग राजा का आश्रित है' यहां जैसे राजा के आश्रय के औचित्य से अमात्य आदि प्रकृतियां हैं, यह अर्थ है, इस प्रकार गुणों में परतन्त्रस्वभाव अर्थात् उनके अधीन अर्थात् उनके मुंह ताकने वाली (अपेक्षा करने वाली) सङ्घटना है यह अर्थ प्राप्त होता है, यह भाव है। संघटना की भांति—। पहले पक्ष में तादात्म्य होने से योगक्षेम समान होगा और अन्यत्र (दूसरे पक्ष में) धर्म होने के कारण (योगक्षेम समान होगा), यह भाव है। अनियतविषयत्व हो (क्या हर्ज है ?) यह आशङ्का करके कहते हैं—क्योंकि गुणों का—। 'क्योंकि' शब्द 'परन्तु' शब्द के अर्थ में है, अर्थात् न कि इस प्रकार उत्पन्न होगा, परन्तु न्यायबल से आपन्न होगा। वह—। अर्थात् जो यह गुणों में नियम कहा है वह। उस स्थिति में लक्ष्य का दर्शन ही हेतुरूप से कहते हैं—जैसा कि।

ध्वन्यालोकः

तत्र शृङ्गारे दीर्घसमासा यथा—'मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका' इति। यथा वा—

अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्त्रलेखं ते।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति॥

इत्यादौ। तथा रौद्रादिष्वप्यसमासा दृश्यते। यथा—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादौ। तस्मान्न सङ्घटनास्वरूपाः, न च सङ्घटनाश्रया गुणाः।

ननु यदि सङ्घटना गुणानां नाश्रयस्तत्किमालम्बना एते परिकल्प्यन्ताम्। उच्यते—प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्।

वहाँ, शृङ्गार में दीर्घसमासा, जैसे—'मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका' अर्थात् 'मन्दारपुष्प की धूल से पिञ्जरित अलकों वाली'। अथवा जैसे—

'अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्त्रलेखं ते।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति॥'

अर्थात् हे अबले, तेरा यह निरन्तर अश्रुकणों के गिरते रहने से मिटे हुए पत्र-लेखों वाला एवं हाथ पर पड़ा मुख किसे दुखी नहीं करता? इत्यादि में। उसी प्रकार रौद्र आदि में भी 'असमासा' देखी जाती है। जैसे—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादि में। इस कारण गुण सङ्घटना-स्वरूप नहीं हैं और संघटना के आश्रित भी नहीं हैं।

यदि सङ्घटना गुणों का आश्रय नहीं है तो इनका आलम्बन किसे माना जाय? (इस शङ्का पर) कहते हैं—इनका आलम्बन प्रतिपादन किया ही जा चुका है।

लोचनम्

दृश्यत इत्युक्तं दर्शनस्थानमुदाहरणमासूत्रयति—*तत्रेति*। नात्र शृङ्गारः कश्चिदित्याशङ्क्य द्वितीयमुदाहरणमाह—*यथा वेति*। एषा हि प्रणयकुपितनायिकाप्रसादनायोक्तिर्नायकस्येति। *तस्मादिति*। नैतद् व्याख्यानद्वयं कारिकायां युक्तमिति यावत्। *किमालम्बना इति*। शब्दार्थालम्बनत्वे हि तदलङ्कारेभ्यः को विशेष इत्युक्तं चिरन्तनैरिति भावः। *प्रतिपादितमेवेति*। अस्मन्मूलग्रन्थकृतेत्यर्थः।

'देखा जाता है' इस प्रकार उक्त देखे जाने का स्थान आसूत्रित करते हैं—वहां—। यहां कोई शृंगार नहीं है, यह आशङ्का करके दूसरा उदाहरण कहते हैं—अथवा जैसे—। प्रणयकुपित नायिका को प्रसन्न करने के लिए यह नायक की उक्ति है। इस कारण—। मतलब कि यह दोनों व्याख्यान कारिका में ठीक नहीं हैं। आलम्बन किसे—। भाव यह कि शब्द और अर्थ के आलम्बन होने पर उनके (शब्द और अर्थ के) अलङ्कारों से कौन भेद रह जायगा? 'प्रतिपादन किया ही जा चुका है'—। अर्थात्

ध्वन्यालोकः

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ इति ।

अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः, न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम् । यस्मादनुप्रासादयोऽनपेक्षितार्थशब्दधर्मा एव प्रतिपादिताः । गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव । शब्दधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम् ।

उस अङ्गी (रस रूप) अर्थ को जो अवलम्बन करते हैं वे गुण कहे जाते हैं और कटक आदि की भाँति अङ्गों के आश्रित रहने वालों को अलङ्कार मानना चाहिए।

अथवा गुण शब्द के आश्रित ही हों, (ऐसी स्थिति में) इनकी अनुप्रास आदि से समानता नहीं है । क्योंकि अनुप्रास आदि अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले शब्दमात्र के धर्म ही प्रतिपादन किए गए हैं, परन्तु गुण व्यङ्ग्यविशेष को अवभासित करने वाले वाच्य के प्रतिपादन में समर्थ शब्द के ही धर्म (प्रतिपादन किए गए हैं) । और इनका शब्दधर्मत्व शौर्य आदि की भाँति अन्य के आश्रित होने पर भी शरीर के आश्रित होना (माना गया है) ।

लोचनम्

अथवेति । न ह्येकाश्रितत्वादेवैक्यं, रूपस्य संयोगस्य चैक्यप्रसङ्गात् । संयोगे द्वितीयमपेक्ष्यमिति चेत्—इहापि व्यङ्ग्योपकारकवाच्यापेक्षास्त्येवेति समानम् । न चायं मम स्थितः पक्षः, अपि तु भवत्वेषामविवेकिनामभिप्रायेणापि शब्दधर्मत्वं शौर्यादीनामिव शरीरधर्मत्वम् । अविवेकी हि औपचारिकत्वविभागं विवेक्तुमसमर्थः । तथापि न कश्चिद्दोष इत्येवम्परमेतदुक्तमित्येतदाह—*शब्दधर्मत्वमिति* । *अन्याश्रयत्वेऽपीति* । आत्मनिष्ठत्वेऽपीत्यर्थः ।

हमारे मूलग्रन्थकार द्वारा । अथवा—। एक ही (वस्तु) में आश्रित होने के कारण ही (गुण और अलङ्कार का) ऐक्य नहीं होगा, (ऐसा होने पर) रूप और संयोग दोनों का ऐक्य (अभेद) प्रसक्त होगा (क्योंकि दोनों ही घट आदि द्रव्य के आश्रित हैं) । संयोग में दूसरे की अपेक्षा होती है तो ठीक है यहां भी व्यङ्ग्य के उपकारक वाच्य की अपेक्षा है ही अतः बात (दोनों जगह) बराबर है । यह (गुणों का शब्दधर्मत्व) मेरा पक्ष नहीं है, बलिक इन अविवेकी जनों के अभिप्राय से भी (गुणों का) शब्दधर्मत्व शौर्य आदि के शरीरधर्मत्व की भांति मान लेते हैं । अविवेकी आदमी औपचारिकत्व का विवेक नहीं कर पाता । तथापि कोई दोष नहीं, इस अभिप्राय से यह कहा है, इस प्रकार यह कहते हैं—शब्दधर्म होना—। अन्य के आश्रित होने पर भी—। अर्थात् आत्मनिष्ठ होने पर भी ।

ध्वन्यालोकः

ननु यदि शब्दाश्रया गुणास्तत्सङ्घटनारूपत्वं तदाश्रयत्वं वा तेषां प्राप्तमेव। न ह्यसङ्घटिताः शब्दा अर्थविशेषप्रतिपाद्यरसाद्याश्रितानां गुणानामवाचकत्वादाश्रया भवन्ति। नैवम्; वर्णपदव्यङ्ग्यत्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात्।

यदि गुण शब्द के आश्रित हैं तब वे सङ्घटना रूप अथवा उसके आश्रित हो ही जायेंगे। क्योंकि असङ्घटित शब्द अर्थविशेष द्वारा प्रतिपाद्य रस आदि के आश्रित गुणों के अवाचक होने के कारण आश्रय नहीं होते। ऐसा नहीं; क्योंकि रस आदि का वर्ण और पद से व्यङ्ग्यत्व प्रतिपादित हो चुका है।

लोचनम्

शब्दाश्रया इति। उपचारेण यदि शब्देषु गुणास्तदेदं तात्पर्यम्—शृङ्गारादिरसाभिव्यञ्जकवाच्यप्रतिपादनसामर्थ्यमेव शब्दस्य माधुर्यम्। तच्च शब्दगतं विशिष्टघटनयैव लभ्यते। अथ सङ्घटना न व्यतिरिक्ता काचित्, अपि तु सङ्घटिता एव शब्दाः, तदाश्रितं तत्सामर्थ्यमिति सङ्घटनाश्रितमेवेत्युक्तं भवतीति तात्पर्यम्।

ननु शब्दधर्मत्वं शब्दैकात्मकत्वं वा तावतास्तु, किमयं मध्ये सङ्घटनानुप्रवेश इत्याशङ्क्य स एव पूर्वपक्षवाद्याह—*न हीति*। अर्थविशेषैर्न तु पदान्तरनिरपेक्षशुद्धपदवाच्यैः सामान्यैः प्रतिपाद्या व्यङ्ग्या ये रसभावतदाभासतत्प्रशमास्तदाश्रितानां मुख्यतया तन्निष्ठानां गुणानामसङ्घटिताः शब्दा आश्रया न भवन्त्युपचारेणापीति भावः। अत्र हेतुः—*अवाचकत्वादिति*। न ह्यसङ्घटिताः व्यङ्ग्योपयोगिनिराकाङ्क्षरूपं वाच्यमाहुरित्यर्थः। एतत्परिहरति—*नैवमिति*।

शब्द के आश्रित—। उपचार से यदि शब्दों में गुण रहते हैं तो तात्पर्य यह है—शब्द का माधुर्य शृङ्गारादि रस के अभिव्यञ्जक वाच्य के प्रतिपादन का सामर्थ्य है, और वह (माधुर्य) विशिष्ट घटना से ही शब्दगत प्राप्त होता है। और सङ्घटना अलग कुछ नहीं, बल्कि सङ्घटित शब्द ही हैं, उन (सङ्घटित शब्द) के आश्रित वह (पूर्वोक्त) सामर्थ्य है, इसलिए सङ्घटना के आश्रित (सामर्थ्य) ही उक्त हुआ, यह तात्पर्य है।

(गुणों का) शब्दधर्मत्व अथवा शब्दैकात्मकत्व हो, बीच में सङ्घटना का अनुप्रवेश क्यों ? यह आशङ्का करके वही पूर्वपक्षवादी कहता है—क्योंकि—। अर्थविशेषों से, न कि पदान्तर की अपेक्षा से रहित शुद्ध पद के सामान्य वाच्यों से, प्रतिपाद्य व्यङ्ग्य जो रस, भाव, रसाभास, भावप्रशम हैं, उनके आश्रित अर्थात् मुख्यरूप से तन्निष्ठ गुणों के असङ्घटित शब्द आश्रय उपचार से भी नहीं होते। यहां हेतु है—अवाचक होने के कारण—। अर्थात् असङ्घटित (शब्द) व्यङ्ग्य के उपयोगी निराकांक्षरूप वाच्य को नहीं कहते हैं। इसका परिहार करते हैं—ऐसा नहीं—। जब कि रस को

ध्वन्यालोकः

अभ्युपगते वा वाक्यव्यङ्ग्यत्वे रसादीनां न नियता काचित्सङ्घटना तेषामाश्रयत्वं प्रतिपद्यत इत्यनियतसङ्घटनाः शब्दा एव गुणानां

या रस आदि को वाक्यव्यङ्ग्य मान लेने पर कोई नियत सङ्घटना उनका (गुणों का) आश्रय नहीं होती है, इसलिए जिनकी सङ्घटना नियत नहीं है ऐसे

लोचनम्

वर्णव्यङ्ग्यो हि यावद्रस उक्तस्तावदवाचकस्यापि पदस्य श्रवणमात्रावसेयेन स्वसौभाग्येन वर्णवदेव यद्रसाभिव्यक्तिहेतुत्वं स्फुटमेव लभ्यत इति तदेव माधुर्यादीति किं सङ्घटनया? तथा च पदव्यङ्ग्यो यावद्ध्वनिरुक्तस्तावच्छुद्धस्यापि पदस्य स्वार्थस्मारकत्वेनापि रसाभिव्यक्तियोग्यार्थावभासकत्वमेव माधुर्यादीति तत्रापि कः सङ्घटनाया उपयोगः।

ननु वाक्यव्यङ्ग्ये ध्वनौ तर्ह्यवश्यमनुप्रवेष्टव्यं सङ्घटनया स्वसौन्दर्यं वाच्यसौन्दर्यं वा, तया विना कुत इत्याशङ्क्याह—*अभ्युपगत इति*। वाशब्दोऽपिशब्दार्थे, वाक्यव्यङ्ग्यत्वेऽपीत्यत्र योज्यः। एतदुक्तं भवति-अनुप्रविशतु तत्र सङ्घटना, न हि तस्याः सन्निधानं प्रत्याचक्ष्महे। किं तु माधुर्यस्य न नियता सङ्घटना आश्रयो वा स्वरूपं वा तया विना वर्णपदव्यङ्ग्ये रसादौ भावान्माधुर्यादेः वाक्यव्यङ्ग्येऽपि तादृशीं सङ्घटनां विहायापि वाक्यस्य तद्रसव्यञ्जकत्वात् सङ्घटना सन्निहितापि रसव्यक्तावप्रयोजिकेति। तस्मादौपचारिकत्वेऽपि शब्दाश्रया एव गुणा इत्युपसंहरति-*शब्दा एवेति*।

वर्ण से व्यङ्ग्य भी कहा जा चुका है तब तो अवाचक भी पद का श्रवणमात्र से निर्धारणीय अपने सौभाग्य के कारण वर्ण की ही भांति जो रसाभिव्यक्ति का हेतुत्व स्पष्ट ही प्राप्त (प्रतीत) होता है, वही माधुर्य आदि है, सङ्घटना से क्या? जैसा कि जब कि ध्वनि पदव्यङ्ग्य भी कहा गया है तब शुद्ध भी पद का स्वार्थ के स्मारक होने के कारण भी रसाभिव्यक्ति के योग्य अर्थ का अवभासकत्व ही माधुर्य आदि है, वहां भी सङ्घटना का कौन उपयोग है?

यह आशङ्का करके कि वाक्यव्यङ्ग्य ध्वनि में अवश्य ही सङ्घटना को अनुप्रवेश करना चाहिए, उसके बिना अपना (वाक्य का) सौन्दर्य अथवा वाच्य का सौन्दर्य कैसे होगा?, कहते हैं—या रस आदि को—। 'या' शब्द 'भी' ('अपि') शब्द के अर्थ में है, यहां लगाना चाहिए 'वाक्यव्यङ्ग्य होने पर भी'। बात यह कही गई—वहां संघटना प्रवेश करे, हम उसके सन्निधान का प्रत्याख्यान नहीं करते। किन्तु नियत संघटना माधुर्य का आश्रय अथवा स्वरूप नहीं है, क्योंकि उस सङ्घटना के बिना भी वर्णपदव्यङ्ग्य रसादि में (माधुर्य) रहता है। माधुर्यादि के वाक्यव्यङ्ग्य में उस प्रकार की सङ्घटना को छोड़कर भी वाक्य उस रस का व्यञ्जक होता है, सङ्घटना सन्निहित होकर भी रस की व्यञ्जना में प्रयोजक नहीं है। इस कारण औपचारिक होने पर भी गुण शब्द के आश्रित ही हैं, इस प्रकार उपसंहार करते हैं—शब्द ही।

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यविशेषानुगता आश्रयाः। ननु माधुर्ये यदि नामैवमुच्यते तदुच्यताम्; ओजसः पुनः कथमनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वम्। न ह्यसमासा सङ्घटना कदाचिदोजस आश्रयतां प्रतिपद्यते। उच्यते—यदि न प्रसिद्धिमात्रग्रहदूषितं चेतस्तदत्रापि न न ब्रूमः। ओजसः कथमसमासा सङ्घटना नाश्रयः। यतो रौद्रादीन् हि प्रकाशयतः काव्यस्य दीप्तिरोज इति प्राक्प्रतिपादितम्। तच्चौजो यद्यसमासायामपि सङ्घटनायां स्यात्तत्को दोषो भवेत्। न चाचारुत्वं सहृदयहृदयसंवेद्यमस्ति। तस्मादनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वे गुणानां न काचित्क्षतिः। तेषां तु चक्षुरादी-

शब्द ही व्यङ्ग्यविशेष से अनुगत होकर गुणों के आश्रय हैं। (शंका) यदि माधुर्य के विषय में इस प्रकार कहते हैं तो कह सकते हैं; परन्तु ओजस् का नियत सङ्घटना से रहित शब्दों का आश्रयत्व कैसे बन सकता है? क्योंकि असमासा सङ्घटना कभी ओजस् का आश्रय नहीं बन सकती। (उत्तर) कहते हैं—यदि प्रसिद्धिमात्र के प्रति आग्रह से मन दूषित नहीं है तो हम यहाँ भी नहीं नहीं कहते। असमासा सङ्घटना ओजस् की आश्रय कैसे नहीं? क्योंकि रौद्र आदि को प्रकाशित करते हुए काव्य की दीप्ति 'ओजस्' है, यह पहले प्रतिपादन कर चुके हैं। और वह ओजस् यदि असमासा सङ्घटना में भी हो तो क्या दोष होगा। सहृदय द्वारा संवेद्य कोई अचारुत्व भी तो नहीं। इस कारण गुणों के नियत सङ्घटना से रहित शब्दों के आश्रय होने से

लोचनम्

नन्विति। वाक्यव्यङ्ग्यध्वन्यभिप्रायेणेदं मन्तव्यमिति केचित्।

वयं तु ब्रूमः-वर्णपदव्यङ्ग्येऽप्योजसि रौद्रादिस्वभावे वर्णपदानामेकाकिनां स्वसौन्दर्यमपि न तादृगुन्मीलति तावद्यावत्तानि सङ्घटनाङ्कितानि न कृतानीति सामान्येनैवायं पूर्वपक्ष इति। *प्रकाशयत* इति 'लक्षणहेत्वोः' इति शतृप्रत्ययः। रौद्रादिप्रकाशनाल्लक्ष्यमाणमोज इति भावः। *नचेति*। चशब्दो हेतौ। यस्मात् 'यो यः शस्त्रम्' इत्यादौ नाचारुत्वं प्रतिभाति तस्मादित्यर्थः। *तेषान्त्विति* गुणा-

शङ्का—कुछ लोगों के अनुसार वाक्यव्यङ्ग्य ध्वनि के अभिप्राय से यह मानना चाहिए। परन्तु हम कहते हैं—रौद्रादिस्वभाव ओजस् के वर्णपदव्यङ्ग्य होने पर भी अकेले वर्णपदों का अपना सौन्दर्य भी तबतक उस प्रकार नहीं उन्मीलित होता जबतक वे (वर्णपद) सङ्घटना से अङ्कित नहीं किए जाते हैं, यह सामान्यरूप से पूर्वपक्ष है। 'प्रकाशयतः' (प्रकाशित करते हुए) 'लक्षणहेत्वोः' (पा. सू. ३. २. १२६) इस सूत्र से शतृप्रत्यय है। भाव यह कि रौद्र आदि के प्रकाशन से सम्यक् लक्षित होता हुआ ओजस्। और गुण—। 'और' (च) शब्द हेतु अर्थ में। अर्थात् जिस कारण 'यो यः शस्त्रम्'

ध्वन्यालोकः

नामिव यथास्वं विषयनियमितस्य स्वरूपस्य न कदाचिद्व्यभिचारः। तस्मादन्ये गुणा अन्या च सङ्घटना। न च सङ्घटनामाश्रिता गुणा इत्येकं दर्शनम्। अथवा सङ्घटनारूपा एव गुणाः।

यत्तूक्तम्—'सङ्घटनावद्गुणानामप्यनियतविषयत्वं प्राप्नोति। लक्ष्ये व्यभिचारदर्शनात्' इति। तत्राप्येतदुच्यते-यत्र लक्ष्ये परिकल्पित-विषयव्यभिचारस्तद्विरूपमेवास्तु। कथमचारुत्वं तादृशे विषये सहृदयानां नावभातीति चेत्? कविशक्तितिरोहितत्वात्। द्विविधो हि दोषः—कवेरव्युत्पत्तिकृतोऽशक्तिकृतश्च। तत्राव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तितिर-स्कृतत्वात् कदाचिन्न लक्ष्यते। यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झटिति प्रतीयते। परिकरश्लोकश्चात्र—

कोई क्षति नहीं। परन्तु उन (गुणों) का चक्षु आदि की भाँति, अपने-अपने विषय-नियमित स्वरूप का कभी व्यभिचार नहीं है। इस कारण गुण अन्य हैं और सङ्घटना अन्य है। और, गुण सङ्घटना के आश्रित नहीं है यह एक दर्शन (सिद्धान्त) है। अथवा सङ्घटना रूप ही गुण हैं।

जो कि कहा है—'सङ्घटना की भांति गुणों का भी अनियत-विषयत्व प्राप्त होगा, क्योंकि लक्ष्यमें व्यभिचार देखा जाता है। वहाँ भी यह कहते हैं—'जिस लक्ष्य में परिकल्पित विषय (के नियम) का व्यभिचार है, वह विरूप ही (दूषित ही) होगा। यदि यह कहो कि उस प्रकार के विषय में सहृदयों को अचारुत्व कैसे नहीं होता तो (उत्तर है कि) कवि को शक्ति द्वारा (दोष के) तिरोहित हो जाने के कारण। क्योंकि दोष दो प्रकार का है—कवि की अव्युत्पत्ति द्वारा कृत और अशक्ति द्वारा कृत। उनमें अव्युत्पत्तिकृत दोष शक्ति से तिरस्कृत हो जाने के कारण कभी लक्षित नहीं होता। परन्तु जो अशक्तिकृत दोष है वह झट प्रतीत हो जाता है। यहां परिकर-श्लोक भी है—

लोचनम्

नाम्। *यथास्वमिति*। 'शृङ्गार एव परमो मनःप्रह्लादनो रसः' इत्यादिना च विषयनियम उक्त एव। *अथवेति*। रसाभिव्यक्तावेतदेव सामर्थ्यं शब्दानां यत्त-था तथा सङ्घटमानत्वमिति भावः।

इत्यादि में अचारुत्व प्रतीत नहीं होता उस कारण। परन्तु उनका अर्थात् गुणों का। अपने अपने—। 'शृङ्गार ही मन को परम आह्लादित करने वाला रस है' इत्यादि द्वारा भी विषयनियम कहा जा चुका ही है। अथवा—। भाव यह कि रसाभिव्यक्ति में गुणों की इतनी ही सामर्थ्य है जो उस उस प्रकार सङ्घटमानत्व है।

ध्वन्यालोकः

'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ॥'

तथा हि—महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसंभोगशृङ्गार नबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वात् ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते । यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम् । एवमादौ च विषये यथौचित्यात्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे । शक्तितिरस्कृतत्वं चान्वयव्यतिरेकाभ्यामव-

'कवि की अव्युत्पत्ति द्वारा कृत दोष शक्ति से ढंक जाता है, परन्तु जो उसकी अशक्ति द्वारा कृत है वह झट प्रतीत हो जाता है ।'

जैसा कि—महाकवियों का भी उत्तम देवता के सम्बन्ध में प्रसिद्ध सम्भोग शृङ्गार का निबन्धन आदि अनौचित्य शक्ति से तिरस्कृत होने के कारण ग्राम्य रूप से नहीं प्रतिभासित होता । जैसे, 'कुमारसम्भव' में देवी का सम्भोगवर्णन ।—और इत्यादि प्रकार के विषय में जैसा औचित्य का त्याग नहीं है इस प्रकार आगे दिखाया ही है । और शक्ति द्वारा तिरस्कृतत्व अन्वय-व्यतिरेक द्वारा निश्चित होता है । जैसा

लोचनम्

शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम् । व्युत्पत्तिस्तदुपयोगिसमस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलम् । *तस्येति* कवेः । *अनौचित्यमिति* । आस्वादयितॄणां यः चमत्काराविघातस्तदेव रससर्वस्वम् आस्वादायत्तत्वात् । उत्तमदेवतासंभोगपरामर्शे च पितृसंभोग इव लज्जातङ्कादिना कश्चमत्कारावकाश इत्यर्थः । *शक्तितिरस्कृतत्वादिति* । संभोगोऽपि ह्यसौ वर्णितस्तथा प्रतिभानवता कविना यथा तत्रैव विश्रान्तं हृदयं पौर्वापर्यपरामर्शं कर्तुं न ददाति यथा निर्व्याजपराक्रमस्य पुरुषस्याविषयेऽपि युध्यमानस्य तावत्तस्मिन्नवसरे साधुवादो वितीर्यते न तु पौर्वापर्यपरामर्शे तथात्रापीति भावः । *दर्शितमेवेति* ।

शक्ति अर्थात् प्रतिभान, अर्थात् वर्णनीय वस्तु के सम्बन्ध में नई बात की उल्लेखशालिता । व्युत्पत्ति अर्थात् उस (वर्णनीय) के उपयोगी समस्त वस्तुओं के पौर्वापर्यपूर्वक परामर्श में कौशल । उसकी अर्थात् कवि की । अनौचित्य—। आस्वाद करने वालों के जो चमत्कार का अविघात है वही आस्वाद के अधीन होने के कारण रससर्वस्व है । अर्थात् उत्तमदेवता के सम्भोग के परामर्श में पितृसम्भोग की भांति कौन सा चमत्कार का अवकाश है ! शक्ति द्वारा तिरस्कृत होने के कारण—। भाव यह कि प्रतिभानयुक्त कवि द्वारा वह सम्भोग भी उस प्रकार वर्णित है जैसे कि उसीमें विश्रान्त हृदय को पौर्वापर्य का परामर्श करने नहीं देता, जिस प्रकार कोई निर्व्याज पराक्रम वाला व्यक्ति जब बिना विषय के भी युद्ध करने लगता है उस अवसर में साधुवाद वितरण किया जाता है न कि पौर्वापर्य के परामर्श में (प्रवृत्ति होती है) उस प्रकार

ध्वन्यालोकः

सीयते। तथा हि शक्तिरहितेन कविना एवंविधे विषये शृङ्गार उपनिबध्यमानः स्फुटमेव दोषत्वेन प्रतिभासते। नन्वस्मिन् पक्षे 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ किमचारुत्वम्? अप्रतीयमानमेवारोपयामः। तस्माद् गुणव्यतिरिक्तत्वे गुणरूपत्वे गुणरूपत्वे च सङ्घटनाया अन्यः कश्चिन्नियमहेतुर्वक्तव्य इत्युच्यते।

—तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः॥ ६॥

तत्र वक्ता कविः कविनिबद्धो वा, कविनिबद्धश्चापि रसभावरहितो रसभावसमन्वितो वा, रसोऽपि कथानायकाश्रयस्तद्विपक्षाश्रयो वा, कथानायकश्च धीरोदात्तादिभेदभिन्नः पूर्वस्तदनन्तरो वेति विकल्पाः।

कि शक्तिरहित कवि के द्वारा इस प्रकार के विषय में उपनिबध्यमान श्रृङ्गार स्पष्ट ही दोषरूप से मालूम पड़ता है। (प्रश्न) इस पक्ष में 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि में अचारुत्व क्या है? प्रतीत न होते हुए अचारुत्व का आरोप करते हैं। इसलिए गुण से व्यतिरिक्त होने और गुणरूप होने में सङ्घटना का अन्य कोई नियम हेतु कहना चाहिए, अतः कहते हैं—

उसके नियमन में हेतु वक्ता और वाच्य का औचित्य है॥ ६॥

उनमें से वक्ता कवि अथवा कविनिबद्ध हो सकता है, और कविनिबद्ध भी रसभावरहित अथवा रसभावसमन्वित हो सकता है, रस भी कथानायक के आश्रित अथवा उसके विपक्षके आश्रित हो सकता है और कथानायक धीरोदात्त आदि भेद से

लोचनम्

कारिकाकारेणेति भूतप्रत्ययः। वक्ष्यते हि—'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्' इत्यादि। *अप्रतीयमानमेवेति*। पूर्वापरपरामर्शविवेकशालिभिरपीत्यर्थः। *गुणव्यतिरिक्तत्व इति*। व्यतिरेकपक्षे हि सङ्घटनाया नियमहेतुरेव नास्ति ऐक्यपक्षेऽपि न रसो नियमहेतुरित्यन्यो वक्तव्यः।

तन्नियम इति कारिकावशेषः। कथां नयति स्वकर्तव्याङ्गभावमिति कथानायको यो निर्वहणे फलभागी। *धीरोदात्तादीति*। धर्मयुद्धवीरप्रधानो धीरोदात्तः।

यहां भी। दिखाया ही है—। कारिकाकार ने, यह भूतप्रत्यय है। कहेंगे—'अनौचित्य के अतिरिक्त कोई रसभङ्ग का कारण नहीं' इत्यादि। प्रतीत न होते हुए—। अर्थात् पूर्वापर के परामर्श के विवेक वालों द्वारा भी। गुण से व्यतिरिक्त होने में—। व्यतिरेक (भेद) पक्ष में सङ्घटना का नियमहेतु ही नहीं है, ऐक्य (अभेद) पक्ष में भी रस नियमहेतु नहीं है, अतः अन्य कहना चाहिए। उसके नियमन में यह कारिका का अवशेष है। कथा को अपने कर्तव्य का अङ्गत्व प्राप्त कराता है अतः कथानायक है, जो निर्वहण में फल प्राप्त करता है। धीरोदात्त आदि—। धर्मवीर, युद्धवीर-प्रधान धीरो

ध्वन्यालोकः

वाच्यं च ध्वन्यात्मरसाङ्गं रसाभासाङ्गं वा, अभिनेयार्थमनभिनेयार्थं वा, उत्तमप्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्। तत्र यदा कविरपगत-

भिन्न पूर्व अथवा उसके बाद का हो सकता है, इस प्रकार विकल्प हैं। और वाच्य भी ध्वनिरूप रस का अङ्ग, अथवा रसाभास का अङ्ग, अभिनेयार्थ अथवा अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृति के आश्रित अथवा उससे इतर के आश्रित, बहुत प्रकार का

लोचनम्

वीररौद्रप्रधानो धीरोद्धतः। वीरशृङ्गारप्रधानो धीरललितः। दानधर्मवीरशान्तप्रधानो धीरप्रशान्त इति चत्वारो नायकाः क्रमेण सात्त्वत्यारभटीकैशिकीभारतीलक्षणवृत्तिप्रधानाः। पूर्वः कथानायकस्तदनन्तर उपनायकः। *विकल्पा इति*। वक्तृभेदा इत्यर्थः। *वाच्यमिति*। ध्वन्यात्मा ध्वनिस्वभावो यो रसस्तस्याङ्गं व्यञ्जकमित्यर्थः। अभिनेयो वागङ्गसत्त्वाहार्यैराभिमुख्यं साक्षात्कारप्रायं नेयोऽर्थो व्यङ्ग्यरूपो ध्वनिस्वभावो यस्य तदभिनेयार्थं वाच्यं, स एव हि काव्यार्थ इत्युच्यते। तस्यैव चाभिनयेन योगः। यदाह मुनिः—'वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति' इत्यादि तत्र तत्र। रसाभिनयनान्तरीयकतया तु तद्विभावादिरूपतया वाच्योऽर्थोऽभिनीयत इति वाच्यमभिनेयार्थमित्येषैव युक्ततरा वाचोयुक्तिः। न त्वत्र व्यपदेशिवद्भावो व्याख्येयः, यथान्यैः। *तदितरेति*। मध्यमप्रकृत्याश्रयमधमप्रकृत्याश्रयं चेत्यर्थः। एवं वक्तृभेदान्वाच्यभेदांश्चाभिधाय तद्गतमौचित्यं नियामकमाह—*तत्रेति*। *रचनाया* इति सङ्घटनायाः। रसभावहीनोऽनाविष्टस्ता-

दात्त। वीररौद्रप्रधान धीरोद्धत। वीरशृङ्गारप्रधान धीरललित। दानधर्मवीरशान्तप्रधान धीरप्रशान्त, ये चार नायक क्रम से सात्त्वती, आरभटी, कैशिकी, भारतीरूप वृत्तिप्रधान होते हैं। पूर्व कथानायक, उसके बाद उपनायक। विकल्प—। अर्थात् वक्तृभेद। वाच्य—। ध्वनिरूप अर्थात् ध्वनिस्वभाव जो रस उसका अङ्ग अर्थात् व्यञ्जक। अभिनेय अर्थात् वाणी, अङ्ग, सत्त्व, आहार्य द्वारा आभिमुख्य अर्थात् साक्षात्कारप्राय पहुंचाया गया अर्थ व्यङ्ग्यरूप ध्वनिस्वभाव है जिसका वह अभिनेयार्थ वाच्य, वही 'काव्यार्थ' कहा जाता है। उसी का अभिनय के साथ सम्बन्ध है। क्योंकि मुनि ने कहा है—'वाणी, अङ्ग और सत्त्व से उपेत काव्यार्थों का भावन करते हैं', इत्यादि वहां-वहां। रसाभिनय का नान्तरीयक (अविनाभाव, अत्यावश्यक) होने से उसके (रस के) विभाव आदि रूप होने के कारण वाच्य अर्थ अभिनीत होता है, इस प्रकार वाच्य अभिनेयार्थ है यही कहने का ढङ्ग अच्छा है, न कि यहां व्यपदेशिवद्भाव ('राहोः शिरः' की भांति भेदविवक्षा) व्याख्यान के योग्य है, जैसा कि अन्य लोगों ने (व्याख्यान किया है)। उससे इतर—। अर्थात् मध्यम प्रकृति के आश्रित और उत्तम प्रकृति के आश्रित। इस प्रकार वक्ता के भेदों और वाच्य के भेदों का अभिधान करके नियामक तद्गत औचित्य को कहते हैं—उनमें से—। रचना की अर्थात् सङ्घटना की

ध्वन्यालोकः

रसभावो वक्ता तदा रचनायाः कामचारः। यदापि कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहितस्तदा स एव; यदा तु कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावसमन्वितो रसश्च प्रधानाश्रितत्वाद् ध्वन्यात्मभूतस्तदा नियमेनैव तत्रासमासामध्यसमासे एव सङ्घटने। करुणविप्रलम्भशृङ्गारयोस्त्वसमासैव सङ्घटना। कथमिति चेत्; उच्यते—रसो यदा प्राधान्येन

हो सकता है। उनमें से जब कवि रसभावरहित वक्ता हो तब रचना की स्वतन्त्रता है, और जब कविनिबद्ध वक्ता रसभावरहित हो तब वही है; परन्तु जब कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता रसभावसमन्वित हो, और रस प्रधान के आश्रित होने के कारण ध्वनिरूप हो चुका हो तब नियमतः ही वहाँ असमासा और मध्यसमासा ही सङ्घटनाएं होंगी। परन्तु करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार में असमासा ही सङ्घटना होगी। यदि कहो 'कैसे ?' तो कहते हैं—रस जब प्राधान्य से प्रतिपाद्य

लोचनम्

पसादिरुदासीनोऽपीतिवृत्ताङ्गतया यद्यपि प्रधानरसानुयाय्येव, तथापि तावति रसादिहीन इत्युक्तम्। *स एवेति* कामचारः। एवं शुद्धवक्त्रौचित्यं विचार्य वाच्यौचित्येन सह तदेवाह—*यदा त्विति*। कविर्यद्यपि रसाविष्ट एव वक्ता युक्तः। अन्यथा 'स एव वीतरागश्चेत्' इति स्थित्या नीरसमेव काव्यं स्यात्। तथापि यदा यमकादिचित्रदर्शनप्रधानोऽसौ भवति, तदा 'रसादिहीन' इत्युक्तम्। नियमेन रसभावसमन्वितो वक्ता न तु कथञ्चिदपि तटस्थः। रसश्च ध्वन्यात्मभूत एव न तु रसवदलङ्कारप्रायः। तदासमासामध्यसमासे एव सङ्घटने, अन्यथा तु दीर्घसमासापीत्येवं योज्यम्। तेन नियमशब्दस्य द्वयोश्चैवकारयोः पौनरुक्त्यमनाशङ्क्यम्। *कथमिति चेदिति*। किं धर्मसूत्रकारवचनमेतदिति भावः। *उच्यत-*

रसभावहीन अनाविष्ट तापस आदि उदासीन भी इतिवृत्त के अङ्ग रूप से यद्यपि प्रधान रस का अनुयायी ही होता है तथापि उतने में (अपने आप में) रसादि से हीन होता है यह कहा है। वही—। स्वतन्त्रता। इस प्रकार शुद्ध वक्ता के औचित्य को विचार करके वाच्यौचित्य के साथ उसी को कहते हैं—परन्तु जब—। कवि यद्यपि रसाविष्ट ही वक्ता ठीक होता है। अन्यथा 'वही वीतराग हो' इस स्थिति के अनुसार काव्य नीरस ही होगा, तथापि वह जब यमक आदि चित्र देखने में लग जाता है तब 'रसादिहीन' हो जाता है, यह कहा है। नियमतः वक्ता रसभावसमन्वित होता है न कि किसी प्रकार भी उसे तटस्थ होना चाहिए। और रस ध्वनि का रूप ही होना चाहिए, न कि रसवदलङ्कार। ऐसी स्थिति में असमासा और मध्यमसमासा ही सङ्घटनाएं होंगी, अन्यथा दीर्घसमासा भी होगी, इस प्रकार (ग्रन्थ) को लगाना चाहिए। इसलिए 'नियम' शब्द का और दो 'ही' (एवकार) का प्रयोग आशंकनीय नहीं हैं। कैसे ?—भाव यह कि क्या यह धर्मसूत्रकार का वचन है! कहते हैं—। अर्थात् न्याय की

ध्वन्यालोकः

प्रतिपाद्यस्तदा तत्प्रतीतौ व्यवधायका विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः। एवं च दीर्घसमासा सङ्घटना समासानामनेकप्रकारसम्भावनया कदाचिद्रसप्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते। विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये, ततोऽन्यत्र च विशेषतः करुणविप्रलम्भशृङ्गारयोः। तयोर्हि सुकुमारतरत्वात् स्वल्पायामप्यस्वच्छतायां शब्दार्थयोः प्रतीतिर्मन्थरीभवति। रसान्तरे पुनः प्रतिपाद्ये रौद्रादौ मध्यमसमासा

होता है तब उसकी प्रतीति में व्यवधायक और विरोधी सब प्रकार से ही परिहार्य होते हैं। और इस प्रकार दीर्घसमासा सङ्घटना समासों के अनेक प्रकारों की सम्भावना के कारण कदाचित् रस की प्रतीति का व्यवधान करती है, इसलिए उसमें अत्यन्त अभिनिवेश शोभा नहीं देता। विशेषतः अभिनेयार्थ काव्य में, और उससे अतिरिक्त में विशेषतः करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार में। क्योंकि उन दोनों के सुकुमारतर होने के कारण थोड़ी भी अस्वच्छता होने पर शब्द-अर्थ की प्रतीति मन्थर (शिथिल) हो जाती है। और रौद्र आदि दूसरे रसों के प्रतिपादन में मध्यमसमासा सङ्घटना

लोचनम्

इति। न्यायोपपत्त्येत्यर्थः। *तत्प्रतीताविति*। तदास्वादे ये व्यवधायका आस्वादविघ्नरूपा विरोधिनश्च तद्विपरीतास्वादमया इत्यर्थः। *सम्भावनयेति*। अनेकप्रकारः सम्भाव्यते सङ्घटना तु सम्भावनायां प्रयोक्त्रीति द्वौ णिचौ। *विशेषतोऽभिनेयार्थेति*। अत्रुटितेन व्यङ्ग्येन तावत्समासार्थाभिनयो न शक्यः कर्तुम्। काकादयोऽन्तरप्रसादगानादयश्च। तत्र दुष्प्रयोज्या बहुतरसन्देहप्रसरा च तत्र प्रतिपत्तिर्न नाट्येऽनुरूपा स्यात्। प्रत्यक्षरूपत्वात्तस्या इति भावः। *अन्यत्र चेति*। अनभिनेयार्थेऽपि। *मन्थरीभवतीति*। आस्वादो विघ्नितत्वात्प्रतिहन्यत इत्यर्थः। तस्या दीर्घसमाससङ्घटनायाः य आक्षेपस्तेन विना यो न भवति व्यङ्ग्याभि-

उपपत्ति से। उसकी प्रतीति में—। अर्थात् उसके आस्वाद में जो व्यवधायक और आस्वाद के विघ्नरूप विरोधी हैं, उसके विपरीत आस्वादमय। सम्भावना के कारण—। अनेक प्रकार सम्भावित होती है, और सङ्घटना सम्भावना में प्रयोजककर्त्री है, इसलिए दो 'णिच्' हैं। विशेषतः अभिनेयार्थ—। बिना व्यङ्ग्य अर्थ के तोड़े समासार्थ का अभिनय नहीं किया जा सकता। काकु आदि और बीच में प्रसन्न करने के लिए गान आदि। भाव यह कि वहां यह दुष्प्रयोज्य है और नाट्य में बहुत सन्देहों से भरी प्रतिपत्ति अनुरूप नहीं होती। क्योंकि वह प्रत्यक्षरूप होती है। और उससे अतिरिक्त में—। अनभिनेयार्थ में भी। मन्थर हो जाती है—विघ्नित हो जाने के कारण आस्वाद प्रतिहत हो जाता है। उस दीर्घसमासघटना के आक्षेप के बिना जो व्यङ्ग्य का अभि-

ध्वन्यालोकः

सङ्घटना कदाचिद्धीरोद्धतनायकसम्बन्धव्यापाराश्रयेण दीर्घसमासापि वा तदाक्षेपाविनाभाविरसोचितवाच्यापेक्षया न विगुणा भवतीति सापि नात्यन्तं परिहार्या। सर्वासु च सङ्घटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी। स हि सर्वरससाधारणः सर्वसङ्घटनासाधारणश्चेत्युक्तम्। प्रसादातिक्रमे ह्यसमासापि सङ्घटना करुणविप्रलम्भशृङ्गारौ न व्यनक्ति। तदपरित्यागे च मध्यमसमासापि न न प्रकाशयति। तस्मात्सर्वत्र प्रसादोऽनुसर्तव्यः। अत एव च 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ यद्योजसः स्थितिर्नेष्यते

अथवा दीर्घसमासा भी कभी धीरोद्धत नायक के सम्बन्ध या व्यापार के सहारे, उसके आक्षेप के बिना न हो सकने वाले इसके उचित वाच्य की अपेक्षा से विगुण (प्रतिकूल) नहीं होती, इसलिए वह भी अत्यन्त परिहार्य नहीं है। और सभी सङ्घटनाओं में प्रसाद नाम का गुण व्याप्त रहने वाला है। क्योंकि वह सर्वरससाधारण और सर्वसङ्घटनासाधारण कहा गया है। प्रसाद के बिना असमासा भी सङ्घटना करुण और शृङ्गार को व्यक्त नहीं करती है और उसके होने पर मध्यमसमासा भी सङ्घटना नहीं प्रकाशित करती है यह बात नहीं। इसलिए सर्वत्र प्रसाद का अनुसरण करना चाहिए। और इसलिए ही 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि में यदि ओजस् की स्थिति

लोचनम्

व्यञ्जकस्तादृशो रसोचितो रसव्यञ्जकतयोपादीयमानो वाच्यस्तस्य यासावपेक्षा दीर्घसमाससङ्घटनां प्रति सा अवैगुण्ये हेतुः। नायकस्याक्षेपो व्यापार इति यद्व्याख्यातं तन्न श्लिष्यतीवेत्यलम्। *व्यापीति*। या काचित्सङ्घटना सा तथा कर्तव्या, यथा वाच्ये झटिति भवति प्रतीतिरिति यावत्। *उक्तमिति*। 'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु' इत्यादिना। *न व्यनक्तीति*। व्यञ्जकस्य स्ववाच्यस्यैवाप्रत्यायनादिति भावः। *तदिति*। प्रसादस्यापरित्यागे अभीष्टत्वादत्रार्थे स्वकण्ठे-

व्यञ्जक नहीं होता उस प्रकार का रसोचित अर्थात् रस के व्यञ्जक रूप से उपादीयमान वाच्य है उसकी जो यह अपेक्षा दीर्घसमाससङ्घटना के प्रति है वह अप्रातिकूल्य में हेतु है। नायक का आक्षेप अर्थात् व्यापार यह जो व्याख्यान किया गया है वह मेल जैसे नहीं खाता अतः ठीक नहीं। व्याप्त रहने वाला—। मतलब कि जो कोई सङ्घटना है वह उस प्रकार करनी चाहिए जिस प्रकार कि वाच्य अर्थ में प्रतीति झट हो जाय। कहा गया है—। 'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु' इत्यादि द्वारा। व्यक्त नहीं करती है—। भाव यह कि क्योंकि व्यञ्जक अपने वाच्य का ही प्रत्यायन नहीं कर पाता। उसके—। प्रसाद के होने पर अभीष्ट होता है, इस अर्थ में अपने कण्ठ से 'अन्वय-व्यतिरेक' कह

ध्वन्यालोकः

तत्प्रसादाख्य एव गुणो न माधुर्यम्। न चाचारुत्वम्; अभिप्रेतरस-प्रकाशनात्। तस्माद्गुणाव्यतिरिक्तत्वे गुणव्यतिरिक्तत्वे वा सङ्घटनाया यथोक्तादौचित्याद्विषयनियमोऽस्तीति तस्या अपि रसव्यञ्जकत्वम्। तस्याश्च रसाभिव्यक्तिनिमित्तभूताया योऽयमनन्तरोक्तो नियमहेतुः स एव गुणानां नियतो विषय इति गुणाश्रयेण व्यवस्थानमप्यविरुद्धम्।

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥ ७ ॥

अभिमत नहीं है तो (वहां) प्रसाद ही गुण है माधुर्य नहीं। अभिप्रेत रस के प्रकाशन हो जाने से अचारुत्व नहीं है। इसलिए गुण से अतिरिक्त न होने अथवा गुण से अतिरिक्त होने में सङ्घटना का यथोक्त औचित्य के कारण विषयनियम है, अतः उसका भी रसव्यञ्जकत्व है। और रस की अभिव्यक्ति में निमित्तभूत उस (सङ्घटना) का जो यह अभी कहा गया नियमहेतु है वही गुणों का नियत विषय है, इसलिए गुण के आश्रित रूप से (सङ्घटना के) व्यवस्थान में भी विरोध नहीं ॥५-६॥

विषय के आश्रित भी दूसरा औचित्य उसका नियमन करता है, काव्य के प्रभेदों के अनुसार वह भिन्न होती है ॥ ७ ॥

लोचनम्

नान्वयव्यतिरेकावुक्तौ। *न माधुर्यमिति*। ओजोमाधुर्ययोर्ह्यन्योन्याभावरूपत्वं प्राङ्निरूपितमिति तयोः सङ्करोऽत्यन्तं श्रुतिबाह्य इति भावः। *अभिप्रेतेति*। प्रसादेनैव स रसः प्रकाशितः न न प्रकाशित इत्यर्थः। *तस्मादिति*। यदि गुणाः सङ्घटनैकरूपास्तथापि गुणनियम एव सङ्घटनाया नियमः। गुणाधीनसङ्घटनापक्षेऽप्येवम्। सङ्घटनाश्रयगुणपक्षेऽपि सङ्घटनाया नियामकत्वेन यद्वक्तृवाच्यौचित्यं हेतुत्वेनोक्तं तद्गुणानामपि नियमहेतुरिति पक्षत्रयेऽपि न कश्चिद्विप्लव इति तात्पर्यम् ॥ ५-६ ॥

नियामकान्तरमप्यस्तीत्याह—*विषयाश्रयमिति*। विषयशब्देन सङ्घात-

दिए। माधुर्य नहीं—। भाव यह कि ओजस् और माधुर्य का अन्योन्याभावरूपत्व पहले निरूपण किया जा चुका है, अतः उनको संकर अत्यन्त श्रुतिबाह्य (कभी सुना नहीं गया) है। अभिप्रेत—। प्रसाद से ही वह रस प्रकाशित है, अर्थात् नहीं प्रकाशित है यह बात नहीं। इसलिए—। यदि गुण सङ्घटना रूप हैं तथापि गुणनियम ही सङ्घटना का नियम है। गुण के अधीन सङ्घटना के पक्ष में भी इसी प्रकार है। सङ्घटना के आश्रित गुण के पक्ष में भी सङ्घटना के नियामक होने से जो वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य को हेतुरूप से कहा है वह गुणों का भी नियमहेतु है, इस प्रकार तीनों पक्षों में भी कोई विप्लव नहीं है, यह तात्पर्य है ॥ ५-६ ॥

दूसरा नियामक भी है यह कहते हैं—विषय के आश्रित—। 'विषय' शब्द से

ध्वन्यालोकः

वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यपि विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सङ्घटनां नियच्छति। यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंश-निबद्धम्। सन्दानितकविशेषककलापककुलकानि। पर्यायबन्धः परिकथा खण्डकथा-सकलकथे सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिका-कथे

वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य के होने पर भी विषय के आश्रित दूसरा औचित्य सङ्घटना को नियमन करता है। क्योंकि काव्य के प्रभेद संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में निबद्ध मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्डकथा और सकलकथा, सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा आदि इस

लोचनम्

विशेष उक्तः। यथा हि सेनाद्यात्मकसङ्घातनिवेशी पुरुषः कातरोऽपि तदौचित्यादनुगुणतयैवास्ते तथा काव्यवाक्यमपि सङ्घातविशेषात्मकसन्दानितकादिमध्यनिविष्टं तदौचित्येन वर्तते। मुक्तक तु विषयशब्देन यदुक्तं तत्सङ्घाताभावेन स्वातन्त्र्यमात्र प्रदर्शयितुं स्वप्रतिष्ठितमाकाशमिति यथा। अपिशब्देनेदमाह—सत्यपि वक्तृवाच्यौचित्ये विषयौचित्यं केवलं तारतम्यभेदमात्रव्याप्तम्, न तु विषयौचित्येन वक्तृवाच्यौचित्यं निवार्यत इति। *मुक्तकमिति*। मुक्तमन्येनानालिङ्गितं तस्य सञ्ज्ञायां कन्। तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ति न मुक्तकमित्युच्यते। मुक्तकस्यैव विशेषणं संस्कृतेत्यादि। क्रमभावित्वात्तथैव निर्देशः। द्वाभ्यां क्रियासमाप्तौ सन्दानितकम्। त्रिभिर्विशेषकम्। चतुर्भिः कलापकम्। पञ्चप्रभृतिभिः कुलकम्। इति

'सङ्घातविशेष' कहा गया है। जैसे कोई सेना आदि रूप सङ्घात में रहने वाला कातर भी पुरुष उसके औचित्य के कारण अनुगुणरूप (अकातर रूप) से ही है उसी प्रकार सङ्घातविशेष रूप सन्दानितक आदि के बीच रहने वाला काव्यवाक्य भी उसके (वचन के) औचित्य से होता है। परन्तु 'विषय' शब्द से जो कहा है उसके सङ्घात के अभाव के कारण स्वप्रतिष्ठित आकाश की भाँति स्वातन्त्र्यमात्र को दिखाने के लिए मुक्तक (को कहा) है। 'भी' शब्द से यह कहते हैं—वक्तृगत औचित्य और वाच्यगत औचित्य के होने पर भी विषयगत औचित्य केवल तारतम्य भेद मात्र का प्रयोजक है, न कि विषयगत औचित्य से वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य निवारण किए जाते हैं। मुक्तक—। मुक्त अर्थात् अन्य से अनालिङ्गित, संज्ञा में 'कन्'। इसलिए स्वतन्त्र रूप से निराकांक्ष अर्थ से रहित भी प्रबन्ध के बीच रहने वाला 'मुक्तक' नहीं कहलाता। संस्कृत० इत्यादि 'मुक्तक' का ही विशेषण है। क्रम से होने के कारण उसी प्रकार निर्देश है। दो (पद्यों) से क्रिया के समाप्त हो जाने पर 'सन्दानितक' होता है, तीन से 'विशेषक', चार से 'कलापक', पाँच प्रभृति से 'कुलक'। इस प्रकार क्रिया की समाप्तिप्रयुक्त भेद द्वन्द्व समास द्वारा निर्दिष्ट हैं।

ध्वन्यालोकः

इत्येवमादयः। तदाश्रयेणापि सङ्घटना विशेषवती भवति। तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्। तच्च दर्शितमेव। अन्यत्र कामचारः।

प्रकार हैं। उनके आश्रय से भी सङ्घटना विशेष प्रकार की होती है। उनमें से मुक्तकों में रस के निबन्धन में अभिनिवेश रखने वाले कवि का रस के आश्रित औचित्य है। उसे दिखा ही चुके हैं। अन्यत्र स्वतन्त्रता है।

लोचनम्

क्रियासमाप्तिकृता भेदा इति द्वन्द्वेन निर्दिष्टाः। अवान्तरक्रियासमाप्तावपि वसन्तवर्णनादिरेकवर्णनीयोद्देशेन प्रवृत्तः पर्यायबन्धः। एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रकारा परिकथा। एकदेशवर्णना खण्डकथा। समस्तफलान्तेतिवृत्तवर्णना सकलकथा। द्वयोरपि प्राकृतप्रसिद्धत्वाद् द्वन्द्वेन निर्देशः। पूर्वेषां तु मुक्तकादीनां भाषायामनियमः। महाकाव्यरूपः पुरुषार्थफलः समस्तवस्तुवर्णनाप्रबन्धः सर्गबन्धः संस्कृत एव। अभिनेयार्थं दशरूपकं नाटिकात्रोटकरासकप्रकरणिकाद्यवान्तरप्रपञ्चसहितमनेकभाषाव्यामिश्ररूपम्। आख्यायिकोच्छ्वासादिना वक्त्रापरवक्त्रादिना च युक्ता। कथा तद्विरहिता। उभयोरपि गद्यबन्धस्वरूपतया द्वन्द्वेन निर्देशः। आदिग्रहणाच्चम्पूः। यथाह दण्डी—'गद्यपद्यमयी चम्पूः' इति। *अन्यत्रेति*। रसबन्धानभिनिवेशे।

अवान्तर क्रिया के समाप्त होने पर भी वसन्त-वर्णन आदि एक वर्णनीय के उद्देश्य से प्रवृत्त (काव्य) 'पर्यायबन्ध' होता है। धर्म आदि एक पुरुषार्थ के उद्देश्य से विभिन्न प्रकारों से अनन्त वृत्तान्तों के वर्णन का प्रकार 'परिकथा' होती है। एकदेश (किसी प्रसिद्ध कथा के एक भाग) का वर्णन 'खण्डकथा' होती है। समस्त फलपर्यन्त इतिवृत्त का वर्णन 'सकलकथा' होती है। (खण्डकथा और सकलकथा इन) दोनों के प्राकृत में प्रसिद्ध होने के कारण द्वन्द्व समास द्वारा निर्देश है। किन्तु 'मुक्तक' आदि पहले प्रभेदों की भाषा में नियम नहीं। महाकाव्यरूप पुरुषार्थ फल वाला एवं समस्त वस्तुओं के वर्णनों वाला प्रबन्ध संस्कृत में ही होता है। अभिनेयार्थ दशरूपक नाटिका, त्रोटक, रासक, प्रकरणिका आदि अवान्तर प्रपञ्चसहित, अनेक भाषाओं का मिलाजुला रूप है। आख्यायिका उच्छ्वास आदि से और वक्त्र और अपरवक्त्र आदि से युक्त होती है। कथा उनसे विरहित होती है। दोनों (आख्यायिका और कथा) का भी गद्यबन्ध स्वरूप होने के कारण द्वन्द्व समास से निर्देश है। 'आदि' ग्रहण से 'चम्पू'। जैसा दण्डी ने कहा है—'गद्यपद्यमयी चम्पूः'। अन्यत्र—। अर्थात् रस के निबन्धन का अभिनिवेश जहाँ नहीं है।

ध्वन्यालोकः

मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव। सन्दानितकादिषु तु विकटनिबन्धनौचित्यान्मध्यमसमासादीर्घसमासे एव रचने। प्रबन्धाश्रयेषु यथोक्तप्रबन्धौचित्यमेवानुसर्तव्यम्।

प्रबन्धों की भाँति मुक्तकों में कवि लोग रस के निबन्धन का अभिनिवेश रखने वाले देखे जाते हैं। जैसा कि कवि अमरुक के मुक्तक श्रृङ्गार रस की वर्षा करने वाले एवं प्रबन्ध काव्य सदृश प्रसिद्ध ही हैं। किन्तु सन्दानितक आदि में विकट निबन्धन के औचित्य से मध्यमसमासा और दीर्घसमासा ही रचनाएं हैं। प्रबन्ध के आश्रित (काव्यों) में यथोक्त प्रबन्ध के औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिए। पर्याय-

लोचनम्

ननु मुक्तके विभावादिसङ्घटना कथं येन तदायत्तो रसः स्यादित्याशङ्क्याह—*मुक्तकेष्विति*। *अमरुकस्येति*।

> कथमपि कृतप्रत्यापत्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे
> विरहकृशया कृत्वा व्याजप्रकल्पितमश्रुतम्।
> असहनसखीश्रोत्रप्राप्तिं विशङ्क्य ससम्भ्रमं
> विवलितदृशा शून्ये गेहे समुच्छ्वसितं ततः॥

इत्यत्र हि श्लोके स्फुटैव विभावादिसम्पत्प्रतीतिः। *विकटेति*। असमासायां हि सङ्घटनायां मन्थररूपा प्रतीतिः साकाङ्क्षा सती चिरेण क्रियापदं दूरवर्त्यनुधावन्ती वाच्यप्रतीतावेव विश्रान्ता सती न रसतत्त्वचर्वणायोग्या स्यादिति भावः। *प्रबन्धाश्रयेष्विति*। सन्दानितकादिषु कुलकान्तेषु। यदि वा प्रबन्धेऽपि मुक्तकस्यास्तु सद्भावः, पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव

मुक्तक में विभावादि की सङ्घटना कैसे होगी जिससे उसके अधीन रस होगा, यह आशङ्का करके कहते हैं—मुक्तकों में—। अमरुक के—।

'गोत्रस्खलन के अपराधी प्रिय के होने पर किसी प्रकार विश्वास दिलाने पर विरह से कृश नायिका ने (पुनः समागम की आशा से) बहाना करके अनसुनी कर दिया, फिर न सहन करने वाली सखी के कानों में (बात के) पहुँच जाने के प्रमाद से व्याकुल हो सूने घर में आँखें झुका कर के उच्छ्वास लेने लगी।'

इस श्लोक में स्पष्ट ही विभावादि-सम्पत् की प्रतीति होती है। विकट—। भाव यह कि असमासा सङ्घटना में मन्थररूप प्रतीति देर तक दूरवर्ती क्रियापद का अनुधावन करती हुई वाच्य की प्रतीति में ही विश्रान्त होती हुई इस तत्त्व की चर्वणा के योग्य नहीं होगी। प्रबन्ध के आश्रित—। सन्दानितक आदि में कुलक पर्यन्त में। अथवा प्रबन्ध में भी मुक्तक का सद्भाव माना जाय। पूर्वापर-निरपेक्ष जिस (श्लोक) से रसचर्वणा की जाय वह मुक्तक है। जैसे (मेघदूत का) 'त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्'

ध्वन्यालोकः

पर्यायबन्धे पुनरसमासामध्यमसमासे एव सङ्घटने। कदाचिदर्थौचित्याश्रयेण दीर्घसमासायामपि सङ्घटनायां परुषा ग्राम्या च वृत्तिः परिहर्तव्या। परिकथायां कामचारः, तत्रेतिवृत्तमात्रोपन्यासेन नात्यन्तं रसबन्धाभिनिवेशात्। खण्डकथासकलकथयोस्तु प्राकृतप्रसिद्धयोः कुलकादिनिबन्धनभूयस्त्वाद्दीर्घसमासायामपि न विरोधः। वृत्त्यौचित्यं तु यथारसमनुसर्तव्यम्। सर्गबन्धे तु रसतात्पर्ये यथारसमौचित्यमन्यथा तु कामचारः, द्वयोरपि मार्गयोः सर्गबन्धविधायिनां दर्शनाद्रसतात्पर्यं साधीयः। अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः। आख्या-

बन्ध में असमासा और मध्यमसमासा ही सङ्घटनाएं हैं। कभी अर्थ के औचित्य के आश्रय से दीर्घसमासा भी सङ्घटना में परुषा और ग्राम्या वृत्ति को छोड़ देना चाहिए। परिकथा में स्वतन्त्रता है, क्योंकि उसमें केवल इतिवृत्त के वर्णन होने से रस के निबन्धन का अभिनिवेश अत्यन्त नहीं होता। किन्तु प्राकृत में प्रसिद्ध खण्डकथा और सकलकथा में कुलक आदि के निबन्धन के आधिक्य के कारण दीर्घसमासा होने पर भी विरोध नहीं। किन्तु इसके अनुसार वृत्तियों का औचित्य अनुसरण करना चाहिए। किन्तु रस में तात्पर्य वाले सर्गबन्ध में रस के अनुसार औचित्य है, अन्यथा स्वतन्त्रता है। सर्गबन्ध के निर्माता दोनों मार्गों में देखे जाते हैं, (किन्तु) रस में तात्पर्य अच्छा होता है। परन्तु अभिनेयार्थ में सर्वथा रस के निबन्धन में अभिनिवेश करना चाहिए। आख्यायिका और कथा में तो गद्य के निबन्धन का

लोचनम्

मुक्तकम्। यथा—'त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्' इत्यादिश्लोकः। *कदाचिदिति*। रौद्रादिविषये। *नात्यन्तमिति*। रसबन्धे यो नात्यन्तमभिनिवेशस्तस्मादिति सङ्गतिः। *वृत्त्यौचित्यमिति*। परुषोपनागरिकाग्राम्याणां वृत्तीनामौचित्यं यथाप्रबन्धं यथारसं च। *अन्यथेति*। कथामात्रतात्पर्ये वृत्तिष्वपि कामचारः। *द्वयोरपीति* सप्तमी। कथातात्पर्ये सर्गबन्धो यथा भट्टजयन्तकस्य कादम्बरीकथासारम्।

इत्यादि श्लोक। कभी अर्थात् रौद्र आदि के विषय में। अत्यन्त नहीं—। रस के निबन्धन में जो अत्यन्त अभिनिवेश नहीं है उससे यह सङ्गति है। वृत्तियों का औचित्य—। परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या वृत्तियों का प्रबन्ध के अनुसार और रस के अनुसार औचित्य। अन्यथा—। कथामात्र में तात्पर्य होने पर वृत्तियों में भी स्वतन्त्रता है। दोनों मार्गों में, यह सप्तमी है। कथा के तात्पर्य में सर्गबन्ध, जैसे भट्ट जयन्तक का [कादम्]बरी-कथासार; रस में तात्पर्य, जैसे रघुवंश आदि। अन्य (व्याख्याकार)

ध्वन्यालोकः

यिकाकथयोस्तु गद्यनिबन्धनबाहुल्याद्गद्ये च छन्दोबन्धभिन्नप्रस्थानत्वादिह नियमे हेतुरकृतपूर्वोऽपि मनाक्क्रियते ॥ ७ ॥

एतद्यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥ ८ ॥

यदेतदौचित्यं वक्तृवाच्यगतं सङ्घटनाया नियामकमुक्तमेतदेव गद्ये छन्दोनियमवर्जितेऽपि विषयापेक्षं नियमहेतुः । तथा ह्यत्रापि यदा कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावरहितस्तदा कामचारः । रसभावसमन्विते तु वक्तरि पूर्वोक्तमेवानुसर्तव्यम् । तत्रापि च विषयौचित्यमेव । आख्यायिकायां तु भूम्ना मध्यमसमासादीर्घसमासे एव सङ्घटने । गद्यस्य विकटबन्धाश्रयेण छायावत्त्वात् । तत्र च तस्य प्रकृष्यमाण-

बाहुल्य होने से और गद्य में छन्दोबन्ध से अतिरिक्त प्रस्थान होने से पहले नियामक हेतु न किए जाने पर भी थोड़ा (निर्देश) करते हैं ॥ ७ ॥

यही यथोक्त औचित्य सर्वत्र छन्द के नियमों से वर्जित गद्यबन्ध में भी उसका नियामक होता है ॥ ८ ॥

जो यह वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य सङ्घटना का नियामक कहा गया है, यही छन्द के नियमों से वर्जित गद्य में भी विषयगत औचित्यसहित नियामक होता है। जैसा कि यहाँ भी जब कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता रसभाव से रहित होता है तब स्वतन्त्रता होती है। किन्तु रसभाव से समन्वित वक्ता के होने पर पूर्वोक्त का ही अनुसरण करना चाहिए। उसमें भी विषयगत औचित्य ही होता है। किन्तु आख्यायिका में अधिकांश मध्यमसमासा और दीर्घसमासा सङ्घटनाएं ही होती हैं। क्योंकि गद्य विकट रचना के कारण सुन्दर होता है, क्योंकि उसका उसमें प्रकर्ष

लोचनम्

रसतात्पर्यं यथा रघुवंशादि । अन्ये तु संस्कृतप्राकृतयोर्द्वयोरिति व्याचक्षते, तत्र तु रसतात्पर्यं साधीय इति यदुक्तं तत्किमपेक्षयेति नेयार्थं स्यात् ॥ ७ ॥

विषयापेक्षमिति । गद्यबन्धस्य भेदा एव विषयत्वेनानुमन्तव्याः ॥ ८ ॥

व्याख्यान करते हैं 'संस्कृत, प्राकृत दोनों में'। उस व्याख्यान में जो कि (ग्रन्थ में) 'रस में तात्पर्य अच्छा होता है' कहा है, वह किस अपेक्षा से ? इस लिए नेयार्थ… (असमर्थ) होगा ॥ ७ ॥

विषयगत औचित्य—: गद्यरचना के भेद ही विषय रूप से मानने चाहिए ॥८॥

ध्वन्यालोकः

त्वात्। कथायां तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्य-मनुसर्तव्यम् ॥ ८ ॥

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद्विभेदवत् ॥ ९ ॥

अथवा पद्यवद्गद्यबन्धेऽपि रसबन्धोक्तमौचित्यं सर्वत्र संश्रिता रचना भवति। तत्तु विषयापेक्षं किञ्चिद्विशेषवद्भवति, न तु सर्वाकारम्। तथा हि गद्यबन्धेऽप्यतिदीर्घसमासा रचना न विप्रलम्भश्रृङ्गारकरुणयोराख्या-

होता है। किन्तु कथा में गद्य को विकट रचना के प्राचुर्य होने पर भी रस के निबन्धन के उक्त औचित्य का अनुसरण करना चाहिए ॥ ८ ॥

रसबन्ध में कहे गए औचित्य के सर्वत्र आश्रित रचना शोभा देती है, किन्तु विषयगत (औचित्य) के अनुसार उसमें कुछ भेद हो जाता है ॥ ९ ॥

अथवा पद्य की भांति गद्यबन्ध में भी रसबन्ध में कहे गए औचित्य के सर्वत्र आश्रित रचना शोभा देती है, किन्तु उसमें विषयगत (औचित्य) के अनुसार कुछ विशेष हो जाता है, सब प्रकार से नहीं। जैसा कि गद्यबन्ध में भी दीर्घसमासा रचना विप्रलम्भ श्रृङ्गार और करुण में आख्यायिका में भी नहीं शोभा देती। नाटक आदि में

लोचनम्

स्थितपक्षन्तु दर्शयति—*रसबन्धोक्तमिति*। वृत्तौ च वाशब्दोऽस्यैव पक्षस्य स्थितिद्योतकः। यथा—

स्त्रियो नरपतिर्वह्निर्विषं युक्त्या निषेवितम्।
स्वार्थाय यदि वा दुःखसम्भारायैव केवलम् ॥ इति।

रचना सङ्घटना। तर्हि विषयौचित्यं सर्वथैव त्यक्तं नेत्याह—तदेव रसौचित्यं विषयं सहकारितयापेक्ष्य किञ्चिद्विभेदोऽवान्तरवैचित्र्यं विद्यते यस्य सम्पाद्यत्वेन तादृशं भवति। एतद्व्याचष्टे—*तत्त्विति*। *सर्वाकारमिति* क्रियाविशे-

स्थितपक्ष को दिखाते हैं—रसबन्ध में कहे गए—। वृत्ति में 'अथवा' शब्द इसी पक्ष की स्थिति का द्योतक है। जैसे—

स्त्रियो नरपतिर्वह्निर्विषं युक्त्या निषेवितम्।
स्वार्थाय यदि वा दुःखसम्भारायैव केवलम् ॥

स्त्री, राजा, अग्नि और विष युक्तिपूर्वक सेवन किए जाने पर स्वार्थ के लिए होते हैं, अथवा केवल दुःखसम्भार के लिए ही होते हैं।

रचना अर्थात् सङ्घटना। तो विषयगत औचित्य को सर्वथा नहीं छोड़ा है, यह कहते हैं—वही रस का औचित्य विषय को सहकारी रूप से अपेक्षा करके कुछ विभेद अर्थात् अवान्तर-वैचित्र्य है जिसका सम्पाद्य रूप से उस प्रकार का होता है। इसका

ध्वन्यालोकः

यिकायामपि शोभते। नाटकादावप्यसमासैव न रौद्रवीरादिवर्णने। विषयापेक्षं त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपकृष्यते प्रकृष्यते च। तथा ह्याख्यायिकायां नात्यन्तमसमासा स्वविषयेऽपि नाटकादौ नातिदीर्घसमासा चेति सङ्घटनाया दिगनुसर्तव्या ॥ ९ ॥

इदानीमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः प्रबन्धात्मा रामायणमहाभारतादौ प्रकाशमानः प्रसिद्ध एव। तस्य तु यथा प्रकाशनं तत्प्रतिपाद्यते—

विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥ १० ॥

असमासा ही होती है, रौद्र, वीर आदि के वर्णन में नहीं। किन्तु विषयगत औचित्य प्रमाण के अनुसार घट जाता है और बढ़ जाता है। जैसा कि आख्यायिका में अपने विषय में भी अत्यन्त असमासा और नाटक आदि में अतिदीर्घसमासा नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार सङ्घटना की दिशा का अनुसरण करना चाहिए ॥ ९ ॥

अब, प्रबन्ध रूप अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि रामायण, महाभारत आदि में प्रकाशमान प्रसिद्ध ही है, किन्तु उसका जैसे प्रकाशन है उसे प्रतिपादन करते हैं—

विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव, सञ्चारी के औचित्य से सुन्दर, वृत्त (ऐतिहासिक) अथवा उत्प्रेक्षित (कल्पित) कथाशरीर का निर्माण ॥ १० ॥

लोचनम्

षणम्। *असमासैवेति*। सर्वत्रैवेति शेषः। तथा हि वाक्याभिनयलक्षणे 'चूर्णपादैः प्रसन्नैः' इत्यादि मुनिरभ्यधात्। अत्रापवादमाह—*न चेति*। *नाटकादाविति*। स्वविषयेऽपीति सम्बन्धः ॥ ६ ॥

एवं सङ्घटनायां चालक्ष्यक्रमो दीप्यत इति निर्णीतम्। प्रबन्धे दीप्यत इति तु निर्विवादसिद्धोऽयमर्थ इति नात्र वक्तव्यं किञ्चिदस्ति। केवलं कविसहृदयान् व्युत्पादयितुं रसव्यञ्जने येतिकर्तव्यता प्रबन्धस्य सा निरूप्येत्याशयेनाह—*इदानीमिति*। इदानीं तत्प्रकारजातं प्रतिपाद्यत इति सम्बन्धः। *प्रथमं*

व्याख्यान करते हैं—किन्तु उसमें—। 'सब प्रकार से' यह क्रियाविशेषण है। असमासा ही—। सर्वत्र ही, यह शेष है। जैसा कि वाक्याभिनय के लक्षण में मुनि ने 'चूर्णपादैः प्रसन्नैः' इत्यादि कहा है। यहां अपवाद कहते हैं—नहीं—। नाटक आदि में—। 'अपने विषय में भी' यह सम्बन्ध है ॥ ९ ॥

इस प्रकार सङ्घटना में भी अलक्ष्यक्रम दीप्त होता है यह निर्णय किया। प्रबन्ध में भी दीप्त होता है यह तो निर्विवाद सिद्ध बात है, अतः इस सम्बन्ध में कुछ वक्तव्य नहीं है। केवल कवियों और सहृदयों को व्युत्पन्न करने के लिए रस के व्यञ्जन में जो प्रबन्ध की इतिकर्तव्यता (प्रकार) है वह निरूपणीय है, इस आशय से कहते हैं—अब—। अब उन प्रकारों का प्रतिपादन करते हैं, यह सम्बन्ध है। पहला तो—।

ध्वन्यालोकः

इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥ ११ ॥
सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥ १२ ॥
उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥ १३ ॥
अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥ १४ ॥

प्रबन्धोऽपि रसादीनां व्यञ्जक इत्युक्तं तस्य व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् । प्रथमं तावद्विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य

इतिवृत्त के वश आई हुई (रस के) प्रतिकूल स्थिति को छोड़ कर कल्पना करके भी बीच में अभीष्ट रस के उचित कथा का उन्नयन ॥ ११ ॥

सन्धि और सन्धि के अङ्गों का योजन रस की अभिव्यक्ति की अपेक्षा से (होना चाहिए) न कि केवल शास्त्र की मर्यादा को सम्पन्न करने की इच्छा से ॥ १२ ॥

अवसर पर (रस का) उद्दीपन और प्रशमन, तथा बीच में आरब्ध होकर विश्रान्त होते हुए अङ्गी (प्रधान) रस का अनुसन्धान ॥ १३ ॥

शक्ति (सामर्थ्य) होने पर भी अलङ्कारों का योजन अनुरूपता से (करना चाहिए); यह प्रबन्ध के रसादिव्यञ्जक होने में हेतु है ॥ १४ ॥

प्रबन्ध भी रसादि का व्यञ्जक होता है, यह कह चुके हैं, उसके व्यञ्जक होने में हेतु । पहला (हेतु) तो विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव, सञ्चारी के औचित्य से सुन्दर कथाशरीर का निर्माण अर्थात् यथायोग्य प्रतिपादनार्थ अभीष्ट रस, भाव आदि की

लोचनम्

तावदिति प्रबन्धस्य व्यञ्जकत्वे ये प्रकारास्ते क्रमेणैवोपयोगिनः । पूर्वं हि कथापरीक्षा । तत्राधिकावापः फलपर्यन्ततानयनम्, रसं प्रति जागरणम्, तदुचितविभावादिवर्णनेऽलङ्कारौचित्यमिति । तत्क्रमेण पञ्चकं व्याचष्टे—*विभावेत्या-*

प्रबन्ध के व्यञ्जक होने में जो प्रकार हैं वे क्रम से ही उपयोगी हैं। पहले कथा की परीक्षा, उसमें अधिक ग्रहण अर्थात् फलपर्यन्त पहुंचाना, रसके प्रति जागरण, उसके उचित विभाव आदि के वर्णन में अलङ्कार का औचित्य । क्रम से उस पञ्चक का व्याख्यान करते हैं—'विभाव' इत्यादि द्वारा । उसका औचित्य—। अर्थात् शृङ्गार के वर्णन की इच्छा वाले को उस प्रकार की कथा का आश्रयण करना चाहिए जिसमें ऋतु,

ध्वन्यालोकः

विधिर्यथायथं प्रतिपिपादयिषितरसभावाद्यपेक्षया य उचितो विभावो भावोऽनुभावः सञ्चारी वा तदौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिर्व्य- ञ्जकत्वे निबन्धनमेकम्। तत्र विभावौचित्यं तावत्प्रसिद्धम्। भावौचि- त्यं तु प्रकृत्यौचित्यात्। प्रकृतिर्ह्युत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादि- भावेन च विभेदिनी। तां यथायथमनुसृत्यासङ्कीर्णः स्थायी भाव उपनिबध्यमान औचित्यभाग् भवति। अन्यथा तु केवलमानुषाश्रयेण दिव्यस्य केवलदिव्याश्रयेण वा केवलमानुषस्योत्साहादय उपनिबध्य- माना अनुचिता भवन्ति। तथा च केवलमानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्ता- र्णवलङ्घनादिलक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमानाः सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति, तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः।

अपेक्षा से जो विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव अथवा सञ्चारी है, उसके औचित्य से सुन्दर कथाशरीर का निर्माण व्यञ्जक होने में एक हेतु है। उनमें विभाव का औचित्य प्रसिद्ध है। भाव का औचित्य प्रकृति के औचित्य से होता है। प्रकृति उत्तम, मध्यम, अधम भाव से और दिव्य, मानुष आदि भाव से विभिन्न होती है। उसे यथायोग्य अनुसरण करके असङ्कीर्ण स्थायी भाव उपनिबध्यमान होकर औचित्य- युक्त होता है। अन्यथा केवल मानुष के आश्रय से दिव्य के अथवा केवल दिव्य के आश्रय से केवलमानुष के उत्साह आदि उपनिबध्यमान होकर अनुचित होते हैं। जैसा कि केवलमानुष राजा आदि के वर्णन में सात समुद्रों का पार करना आदि रूप व्यापार उपनिबध्यमान होकर सौष्ठवयुक्त होने पर भी नीरस ही नियमतः होते हैं, उसमें तो अनौचित्य ही हेतु है।

लोचनम्

दिना। *तदौचित्येति*। शृङ्गारवर्णनेच्छुना तादृशी कथा संश्रयणीया यस्यामृतु- माल्यादेर्विभावस्य लीलादेरनुभावस्य हर्षधृत्यादेः सञ्चारिणः स्फुट एव सद्भाव इत्यर्थः। *प्रसिद्धमिति*। लोके भरतशास्त्रे च। *व्यापार इति*। तद्विषयोत्साहो- पलक्षणमेतत्। स्थाय्यौचित्यं हि व्याख्येयत्वेनोपक्रान्तं नानुभावौचित्यम्। *सौष्ठवभृतोऽपीति*। वर्णनामहिम्नेत्यर्थः। तत्र त्विति नीरसत्वे।

माल्य आदि विभाव का, लीला आदि अनुभाव का, हर्ष, धृति आदि सञ्चारी का स्पष्ट ही सद्भाव हो। प्रसिद्ध—। लोक में और भरतशास्त्र में। व्यापार—। उस विषय के उत्साह का यह उपलक्षण है। क्योंकि स्थायी का औचित्य व्याख्येय रूप से उपक्रान्त है न कि अनुभाव का औचित्य। सौष्ठवयुक्त होने पर भी—। अर्थात् वर्णना की महिमा से। उसमें तो—। अर्थात् नीरसत्व में।

ध्वन्यालोकः

ननु नागलोकगमनादयः सातवाहनप्रभृतीनां श्रूयन्ते, तदलोकसामान्यप्रभावातिशयवर्णने किमनौचित्यं सर्वोर्वीभरणक्षमाणां क्षमाभुजामिति। नतदस्ति ; न वयं ब्रूमो यत्प्रभावातिशयवर्णनमनुचितं राज्ञाम्, किं तु केवलमानुषाश्रयेण योत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते तस्यां दिव्यमौचित्यं न योजनीयम्। दिव्यमानुष्यायां तु कथायामुभयौचित्ययोजनमविरुद्धमेव। यथा पाण्डवादिकथायाम्। सातवाहनादिषु तु येषु यावदपदानं श्रूयते तेषु तावन्मात्रमनुगम्यमानमनुगुणत्वेन प्रतिभासते। व्यतिरिक्तं तु तेषामेवोपनिबध्यमानमनुचितम्। तदयमत्र परमार्थः—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

(शंका) सातवाहन प्रभृति (राजाओं) के नागलोकगमन आदि (कार्य) सुने जाते हैं, तो समस्त पृथिवी के भरण में समर्थ राजाओं के अलोकसामान्य अतिशय प्रभाव के वर्णन में क्या वह अनौचित्य है ! (समाधान) यह नहीं है; हम नहीं कहते हैं कि राजाओं के अतिशय प्रभाव का वर्णन अनुचित है, किन्तु केवलमानुष के आश्रय से जो उत्पाद्य (कल्पित) वस्तुकथा रची जाती है उसमें दिव्य औचित्य की योजना नहीं करनी चाहिए। परन्तु दिव्यमानुष कथा में उभय प्रकार के औचित्य का योजन अविरुद्ध ही है। जैसे पाण्डु आदि की कथा में। किन्तु जिन सातवाहन आदि में जितना अपदान (पूर्व वृत्तान्त) सुना जाता है उनमें उतने मात्र तक अनुगमन करना अनुकूल रूप से मालूम पड़ता है। परन्तु उनका ही उससे व्यतिरिक्त का वर्णन अनुचित हो जाता है। तो यह यहां परमार्थ है—

'अनौचित्य को छोड़ कर कोई दूसरा रसभङ्ग का कारण नहीं है, और प्रसिद्ध औचित्य का योजन रस की परा उपनिषद् है।'

लोचनम्

व्यतिरिक्तं त्विति। अधिकमित्यर्थः।

एतदुक्तंभवति—यत्र विनेयानां प्रतीतिखण्डना न जायते तादृग्वर्णनीयम्। तत्र केवलमानुषस्य एकपदे सप्तार्णवलङ्घनमसम्भाव्यमानतयाऽनृतमिति हृदयेस्फुरदुपदेश्यस्य चतुर्वर्गोपायस्याप्यलीकतां बुद्धौ निवेशयति। रामादेस्तु तथा-

व्यतिरिक्त—। अर्थात् अधिक।

यह कहा गया—जहां विनेय (शिक्षणीय) जनों की प्रतीति खण्डित नहीं होती, उस प्रकार का वर्णन करना चाहिए। वहां केवल मानुष का एक छलांग में सात समुद्र लांघ जाना असम्भाव्यमान होने के कारण 'अनृत' के रूप में हृदय में प्रतीत होता हुआ उपदेश्य चतुर्वर्ग के उपाय की भी अलीकता को बुद्धि में निविष्ट करता है। परन्तु राम

ध्वन्यालोकः

अत एव च भरते प्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्तव्यतयोपन्यस्तम्। तेन हि नायकौचित्यानौचित्यविषये कविर्न व्यामुह्यति। यस्तूत्पाद्यवस्तु नाटकादि कुर्यात्तस्याप्रसिद्धानुचितनायकस्वभाववर्णने महान् प्रमादः।

ननु यद्युत्साहादिभाववर्णने कथञ्चिद्दिव्यमानुष्याद्यौचित्यपरीक्षा क्रियते तत्क्रियताम्, रत्यादौ तु किं तया प्रयोजनम्? रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः। नैवम्; तत्रौचित्यातिक्रमेण सुतरां दोषः। तथा ह्यधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः शृङ्गारोपनिबन्धने का भवेन्नोपहास्यता। त्रिविधं प्रकृत्यौचित्यं भारते वर्षेऽप्यस्ति शृङ्गारविषयम्। यत्तु दिव्यमौचित्यं तत्तत्रानुप-

इसी लिए भरत ने नाटक का प्रख्यात वस्तुविषय वाला होना और प्रख्यात उदात्त नायक वाला होना, अवश्यकर्तव्यरूप से उपन्यस्त किया है। इस कारण नायक के औचित्य-अनौचित्य के विषय में कवि व्यामोह प्राप्त नहीं करता। परन्तु जो (कवि) कल्पित कथावस्तु वाले नाटक आदि बनाता है उसका अप्रसिद्ध एवं अनुचित नायक-स्वभाव के वर्णन में महान प्रमाद है।

(शङ्का) यदि उत्साह आदि भावों के वर्णन में किसी प्रकार दिव्य, मानुष्य आदि औचित्य की परीक्षा करते हैं तो कीजिए, परन्तु रत्यादि में उससे क्या प्रयोजन है? क्योंकि यह नियम है कि दिव्यों की भी रति का वर्णन भारतवर्ष के उचित व्यवहार से ही करना चाहिए। (समाधान) ऐसा नहीं; उसमें औचित्य के अतिक्रम से सुतरां दोष होगा। जैसा कि अधम-प्रकृति के औचित्य से उत्तमप्रकृति के शृङ्गार के निबन्धन में क्या उपहास्यता न होगी? भारतवर्ष में भी शृङ्गार के विषय का प्रकृत्यौ-

लोचनम्

विधमपि चरितं पूर्वप्रसिद्धिपरम्परोपचितसम्प्रत्ययोपारूढमसत्यतया न चकास्ति। अत एव तस्यापि यदा प्रभावान्तरमुत्प्रेक्ष्यते तदा तादृशमेव। न त्वसम्भावनापदं वर्णनीयमिति। *तेन हीति*। प्रख्यातोदात्तनायकवस्तुत्वेन। *व्यामुह्यतीति* किं वर्णयेयमिति। *यस्त्विति* कविः। *महान् प्रमाद* इति। तेनोत्पाद्यवस्तु नाट-

आदि का उस प्रकार का भी चरित पूर्वप्रसिद्धि की परम्परा से उपचित विश्वास द्वारा उपारूढ होने के कारण असत्य रूप से नहीं प्रतीत होता। अतएव जब उसके भी अन्य प्रभाव की कल्पना करेंगे तब उसी प्रकार होगा। असम्भावना के स्थान का वर्णन नहीं करना चाहिए। इस कारण—। प्रख्यात उदात्त नायक की कथा होने के कारण। व्यामोह प्राप्त करता है—क्या वर्णन करूँ? जो कवि। महान् प्रमाद—। इस लिए

ध्वन्यालोकः

कारकमेवेति चेत्--न वयं दिव्यमौचित्यं शृङ्गारविषयमन्यत्किञ्चिद्-ब्रूमः। किं तर्हि? भारतवर्षविषये यथोत्तमनायकेषु राजादिषु शृङ्गारोपनिबन्धस्तथा दिव्याश्रयोऽपि शोभते। न च राजादिषु प्रसिद्ध-ग्राम्यशृङ्गारोपनिबन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ, तथैव देवेषु तत्परिहर्तव्य-म्। नाटकादेरभिनेयार्थत्वादभिनयस्य च सम्भोगशृङ्गारविषयस्या-

चित्य तीन प्रकार का है। जो कि दिव्य औचित्य है वह उसमें उपकारक ही नहीं, यदि यह कहो तो हम शृङ्गार के विषय के दिव्य औचित्य को कुछ अतिरिक्त नहीं कहते हैं। तो क्या है? भारतवर्ष देश में जैसे उत्तम नायक राजा आदि में शृङ्गार का निबन्धन शोभा देता है उसी प्रकार दिव्य के सम्बन्ध में भी। नाटक आदि में राजा आदि के सम्बन्ध में प्रसिद्ध ग्राम्य शृङ्गार का उपनिबन्धन प्रसिद्ध नहीं है, उसी प्रकार देवताओं के सम्बन्ध में उसका परिहार कर देना चाहिए। नाटक आदि अभिनेयार्थ होते हैं, और उनमें सम्भोग शृङ्गार के विषय के अभिनय का असभ्य होने के कारण परिहार है यदि यहीं कहो तो नहीं क्योंकि यदि इस प्रकार के विषय के

लोचनम्

कादि न निरूपितं मुनिनेति न कर्तव्यमिति तात्पर्यम्। आदिशब्दः प्रकारे, डिमादेः प्रसिद्धदेवचरितस्य संग्रहार्थः।

अन्यस्तु—'उपलक्षणमुक्तो बहुव्रीहिरिति प्रकरणमत्रोक्तमि'त्याह। 'नाटिकादि' इति वा पाठः। तत्रादिग्रहणं प्रकारसूचकम्, तेन मुनिनिरूपिते नाटिकालक्षणे 'प्रकरणनाटकयोगादुत्पाद्यं वस्तु नायको नृपतिः' इत्यत्र यथासंख्येन प्रख्यातोदात्तनृपतिनायकत्वं बोद्धव्यमिति भावः। कथं तर्हि सम्भोगशृङ्गारः कविना निबध्यतामित्याशङ्क्याह—*न चेति*। *तथैवेति*। मुनिनापि स्थाने स्थाने

उत्पाद्य (कल्पित) कथानक वाले नाटक आदि का मुनि ने निरूपण नहीं किया है, अतः नहीं करना चाहिए, यह तात्पर्य है। 'आदि' शब्द 'प्रकार' के अर्थ में है, 'डिम' आदि प्रसिद्ध देवचरित के सङ्ग्रहार्थ है।

अन्य (व्याख्याकार) तो कहते हैं कि उपलक्षण रूप में बहुव्रीहि समास कहा गया है, अतः यहां 'प्रकरण' कहा गया है (प्रकार या सादृश्य नहीं)। अथवा 'नाटिकादि' यह पाठ है। वहां 'आदि' ग्रहण 'प्रकार' का सूचक है, इस लिए मुनि द्वारा निरूपित 'नाटिका' के लक्षण में 'प्रकरण और नाटक को मिला कर कथावस्तु उत्पाद्य (कल्पित) होता है और नायक राजा होता है' यहां क्रम से प्रख्यात एवं उदात्त राजा का नायकत्व समझना चाहिए, यह भाव है। कैसे कवि द्वारा सम्भोग शृङ्गार का उपनिबन्धन हो? यह आशङ्का करके कहते हैं—सम्भोग शृङ्गार का—। उसी प्रकार—। 'स्थैर्य से उत्तम, मध्यम अधम तथा नीचों के सम्भ्रम से' इत्यादि कहते हुए मुनि ने भी स्थान-स्थान

ध्वन्यालोकः

सभ्यत्वात्तत्र परिहार इति चेत्—न; यद्यभिनयस्यैवंविषयस्यासभ्यता तत्काव्यस्यैवंविषयस्य सा केन निवार्यते ? तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्य-सम्भोगवर्णनं तत्पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम् । तथैवो-त्तमदेवतादिविषयम् ।

न च सम्भोगश्रृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः, यावदन्येऽपि प्रभेदाः परस्परप्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृति-विषये न वर्ण्यन्ते ? तस्मादुत्साहवद्रतावपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्तव्यम् । तथैव विस्मयादिषु । यत्त्वेवंविधे विषये महाकवीनाप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव । स तु शक्तितिरस्कृतत्वात्तेषां न लक्ष्यत इत्युक्तमेव । अनुभावौचित्यं तु भरतादौ प्रसिद्धमेव ।

इयत्तूच्यते–भरतादिविरचितां स्थितिं चानुवर्तमानेन महाकवि-

अभिनय की असभ्यता हो तो इस प्रकार के विषय के काव्य की उस (असभ्यता) का कौन निवारण कर सकता है ? इस लिए अभिनेयार्थ अथवा अनभिनेयार्थ काव्य में जो उत्तमप्रकृति राजा आदि का उत्तमप्रकृति नायिकाओं के साथ ग्राम्य सम्भोग का वर्णन है वह पिता-माता के सम्भोगवर्णन की भांति सुतरां असभ्य है । उसी प्रकार उत्तम देवता आदि के सम्बन्ध का ।

सम्भोग श्रृङ्गार का सुरत रूप एक ही प्रकार नहीं है, परस्पर प्रेम, दर्शन आदि अन्य प्रभेद भी हो सकते हैं । उत्तम प्रकृति के विषय में उन्हें क्यों नहीं वर्णन करते हैं ? इस कारण उत्साह की भांति रति में भी प्रकृत्यौचित्य का अनुसरण करना चाहिए । उसी प्रकार विस्मय आदि में । परन्तु जो कि इस प्रकार के विषय में महा-कवियों की भी असमीक्ष्यकारिता देखी जाती है वह दोष ही है । किन्तु शक्तितिरस्कृत होने के कारण उनका वह लक्षित नहीं होता, यह कह ही चुके हैं । अनुभाव का औचित्य तो भरत आदि में प्रसिद्ध ही है ।

परन्तु इतना कहते हैं—भरत आदि द्वारा रचित मर्यादा का अनुवर्तन करते

लोचनम्

प्रकृत्यौचित्यमेव विभावानुभावादिषु बहुतरं प्रमाणीकृतं 'स्थैर्येणोत्तममध्य-माधमानां नीचानां सम्भ्रमेण' इत्यादि वदता ।

इयत्त्विति । लक्षणज्ञत्वं लक्ष्यपरिशीलनमदृष्टप्रसादोदितस्वप्रतिभाशालित्वं

पर विभाव, अनुभाव आदि में प्रकृत्यौचित्य को ही बहुत प्रकार से प्रमाणित किया है ।

परन्तु इतना—। लक्षणज्ञता, लक्ष्य के परिशीलन, अदृष्ट (अर्थात् देवता आदि) की

ध्वन्यालोकः

प्रबन्धांश्च पर्यालोचयता स्वप्रतिभां चानुसरता कविनावहितचेतसा भूत्वा विभावाद्यौचित्यभ्रंशपरित्यागे परः प्रयत्नो विधेयः। औचित्यवतः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यञ्जक इत्यनेनैतत् प्रतिपादयति—यदितिहासादिषु कथासु रसवतीषु विविधासु सतीष्वपि यत्तत्र विभावाद्यौचित्यवत्कथाशरीरं तदेव ग्राह्यं नेतरत्। वृत्तादपि च कथाशरीरादुत्प्रेक्षिते विशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम्। तत्र ह्यनवधानात्स्खलतः कवेरव्युत्पत्तिसम्भावना महती भवति।

परिकरश्लोकश्चात्र—

कथाशरीरमुत्पाद्यवस्तु कार्यं तथा तथा।
यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते॥

हुए, महाकवियों के प्रबन्धों के पर्यालोचन करते हुए और अपनी प्रतिभा का अनुसरण करते हुए कवि को चित्त को अवहित करके विभाव आदि के औचित्य के भ्रंश के परित्याग में खूब प्रयत्न करना चाहिए। वृत्त (ऐतिहासिक) अथवा उत्प्रेक्षित (कल्पित) औचित्ययुक्त कथाशरीर का ग्रहण व्यञ्जक होता है, इससे यह प्रतिपादन करते हैं कि इतिहास आदि रसीली कथाओं के विविध होने पर भी जो वहां विभाव आदि के औचित्य से युक्त कथाशरीर है उसे ही ग्रहण करना चाहिए, इतर को नहीं। वृत्त (ऐतिहासिक) कथाशरीर से भी विशेष रूप से उत्प्रेक्षित (कल्पित कथाशरीर) में प्रयत्नशील होना चाहिए। क्योंकि वहां अनवधान के कारण स्खलित होते हुए कवि की अव्युत्पत्ति की सम्भावना बहुत होती है।

और यहां परिकर-श्लोक है—

कथाशरीर को उस-उस प्रकार कल्पित करना चाहिए जिस प्रकार सभी वह रसमय मालूम पड़े।'

लोचनम्

चानुसर्तव्यमिति संक्षेपः। रसवतीष्वित्यनादरे सप्तमी। रसवत्त्वं चाविवेचकजनाभिमानाभिप्रायेण मन्तव्यम्। विभावाद्यौचित्येन हि विना का रसवत्ता। *कवेरिति*। न हि तत्रेतिहासवशादेव मया निबद्धमिति जात्युत्तरमपि सम्भ-

प्रसन्नता से उत्पन्न निजी प्रतिभाशालित्व का अनुसरण करना चाहिए, यह संक्षेप है। 'रसीली कथाओं में' यहां अनादर में सप्तमी है। 'रसीली होना' अविवेचक जनों के अभिमान के अभिप्राय से मानना चाहिए। विभावादि के औचित्य के बिना रसीलापन (रसवत्ता) कैसा ? कवि की—। वहां (स्वयं उत्प्रेक्षित कथाशरीर में) इतिहास के वश से ही मैंने निबन्धन किया है यह असमीचीन उत्तर भी नहीं सम्भव है। वहां—।

ध्वन्यालोकः

तत्र चाभ्युपायः सम्यग्विभावाद्यौचित्यानुसरणम्। तच्च दर्शितमेव। किञ्च—

सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी॥

तेषु हि कथाश्रयेषु तावत्स्वेच्छैव न योज्या। यदुक्तम्—'कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः'। स्वेच्छापि यदि योज्या तद्रसविरोधिनी न योज्या।

सम्यक् प्रकार से विभाव आदि के औचित्य का अनुसरण वहां उपाय है। और उसे दिखाया ही है।

और भी—

'सिद्धरस रूप में प्रख्यात रामायण आदि जो कथा के आश्रय हैं उनके साथ रस के प्रतिकूल अपनी इच्छा की योजना नहीं करनी चाहिए।'

उन कथा के आश्रयों में अपनी इच्छा की ही योजना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि कहा है—'कथा के मार्ग में थोड़ा भी अतिक्रम नहीं है'। यदि अपनी इच्छा की भी योजना करे तो रस के प्रतिकूल (इच्छा) की योजना न करे।

लोचनम्

वति। *तत्र चेति*। रसमयत्वसम्पादने। *सिद्धेति*। सिद्धः आस्वादमात्रशेषो न तु भावनीयो रसो येषु। कथानामाश्रया इतिहासाः, तैरितिहासार्थैः तैस्सह स्वेच्छा न योज्या। सहार्थश्चात्र विषयविषयिभाव इति व्याचष्टे—*तेष्विति* सप्तम्या। स्वेच्छा तेषु न योज्या, कथञ्चिद्वा यदि योज्यते तत्तत्प्रसिद्धरसविरुद्धा न योज्या। यथा रामस्य धीरललितत्वयोजनेन नाटिकानायकत्वं कश्चित्कुर्यादिति त्वत्यन्तासमञ्जसम्। *यदुक्तमिति*। रामाभ्युदये यशोवर्मणा—'स्थित-

रसमयता के सम्पादन में। सिद्ध—। सिद्ध अर्थात् आस्वादमात्र शेष, न कि भावनीय रस है जिनमें। कथाओं के आश्रय अर्थात् इतिहास, उन इतिहास के अर्थों के साथ अपनी इच्छा की योजना नहीं करनी चाहिए। और 'साथ' का अर्थ यहां विषय-विषयिभाव है यह व्याख्यान करते हैं—'उन कथा के आश्रयों में' इस सप्तमी से। अपनी इच्छा की उनमें योजना नहीं करनी चाहिए, अथवा यदि किसी प्रकार योजना करते हैं तो उस प्रसिद्ध रस के विरुद्ध योजना नहीं करनी चाहिए। जैसे राम को धीरललित बनाकर कोई (कवि) नाटिका का नायक बनाये तो अत्यन्त असमञ्जस होगा। क्योंकि कहा है—। 'रामाभ्युदय' में यशोवर्मा ने—'स्थितमिति यथा शय्याम्'। कालिदास—।

ध्वन्यालोकः

इदमपरं प्रबन्धस्य रसाभिव्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। इतिवृत्तवशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः यथा कालिदासप्रबन्धेषु। यथा च सर्वसेनविरचिते हरिविजये। यथा च मदीय एवार्जुनचरिते महाकाव्ये। कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्। न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चित्प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः।

रसादिव्यञ्जकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धनं, यत्सन्धीनां

प्रबन्ध के रसाभिव्यञ्जक होने में यह दूसरा निबन्धन है। इतिहास के प्रसङ्ग से आई किसी प्रकार की रस के प्रतिकूल स्थिति को छोड़ कर पुनः उत्प्रेक्षा करके भी बीच में अभीष्ट रस के उचित कथा का उन्नयन कर लेना चाहिए, जैसे कालिदास आदि के प्रबन्धों में। और जैसे सर्वसेन-विरचित 'हरिविजय' में। और जैसे मेरे ही 'अर्जुनचरित महाकाव्य' में। काव्य का निर्माण करते हुए कवि को सब प्रकार से रस के अधीन होना चाहिए। उस इतिवृत्त में यदि रस के प्रतिकूल स्थिति देखे तब उसे तोड़ कर भी स्वतन्त्र रूप से रसके अनुकूल कथान्तर का उत्पादन करे। क्योंकि कवि का इतिवृत्त मात्र के निर्वहण से कुछ प्रयोजन नहीं हैं, क्योंकि इतिहास से ही उसकी सिद्धि हो जाती है।

प्रबन्ध के रसादिव्यञ्जक होने में अन्य मुख्य कारण यह है कि मुख, प्रतिमुख,

लोचनम्

मिति यथा शय्याम्' *कालिदासेति*। रघुवंशेऽजादीनां राज्ञां विवाहादिवर्णनं नेतिहासेषु निरूपितम्। हरिविजये कान्तानुनयनाङ्गत्वेन पारिजातहरणादिनिरूपितमितिहासेष्वदृष्टमपि। तथार्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालविजयादि वर्णितमितिहासाप्रसिद्धम्। एतदेव युक्तमित्याह—*कविनेति*। *सन्धीनामिति*। इह प्रभुसम्मितेभ्यः श्रुतिस्मृतिप्रभृतिभ्यः कर्तव्यमिदमित्याज्ञामात्रपरमार्थेभ्यः

'रघुवंश' में अज आदि राजाओं के विवाह का वर्णन इतिहासों में निरूपित नहीं है। 'हरिविजय' में प्रियतमा के अनुनयन के अङ्ग रूप से पारिजातहरण आदि का निरूपण किया गया है (जो) इतिहास में देखा भी नहीं गया। उस प्रकार 'अर्जुनचरित' में इतिहास में अप्रसिद्ध अर्जुन द्वारा पाताल-विजय आदि का वर्णन किया गया है। यही ठीक है यह कहते हैं—कवि को—। सन्धियों—। यहां प्रभुसम्मित श्रुति, स्मृति प्रभृति 'यह करना चाहिए' वह आज्ञामात्र परमार्थ वाले शास्त्रों से जो व्युत्पत्ति प्राप्त नहीं हैं और

लोचनम्

शास्त्रेभ्यो ये न व्युत्पन्नाः, न चाप्यस्येदं वृत्तममुष्मात्कर्मण इत्येवं युक्तियुक्तकर्मफलसम्बन्धप्रकटनकारिभ्यो मित्रसम्मितेभ्य इतिहासशास्त्रेभ्यो लब्धव्युत्पत्तयः, अथ चावश्यं व्युत्पाद्याः प्रजार्थसम्पादनयोग्यताक्रान्ता राजपुत्रप्रायास्तेषां हृदयानुप्रवेशमुखेन चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिराधेया। हृदयानुप्रवेशश्च रसास्वादमय एव। स च रसश्चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिनान्तरीयकविभावादिसंयोगप्रसादोपनत इत्येवं रसोचितविभावाद्युपनिबन्धे रसास्वादवैवश्यमेव स्वरसभाविन्यां व्युत्पत्तौ प्रयोजकमिति प्रीतिरेव व्युत्पत्तेः प्रयोजिका। प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यं नाट्यमेव वेद इत्यस्मदुपाध्यायः। न चैते प्रीतिव्युत्पत्ती भिन्नरूपे एव, द्वयोरप्येकविषयत्वात्। विभावाद्यौचित्यमेव हि सत्यतः प्रीतेर्निदानमित्यसकृदवोचाम। विभावादीनां तद्रसोचितानां यथास्वरूपवेदनं फलपर्यन्तीभूततया व्युत्पत्तिरित्युच्यते। फलं च नाम यददृष्टवशाद्देवताप्रसादादन्यतो वा जायते। न च तदुपदेश्यम्, तत उपाये व्युत्पत्त्ययोगात्। तेनोपायक्रमेण प्रवृत्तस्य सिद्धिः अनुपायद्वारेण प्रवृत्तस्य नाश इत्येवं नायकप्रतिनायकगतत्वेनार्थानर्थोपायव्युत्पत्तिः कार्या। उपायश्च कर्त्राश्रीयमाणः पञ्चावस्था भजते। तद्यथा—स्वरूपं, स्वरूपात्किञ्चिदुच्छूनतां, कार्यसम्पादनयोग्यतां, प्रतिबन्धोपनिपातेनाशङ्क्यमानतां, निवृत्तप्रतिपक्षतायां बाधकबाधनेन सुदृढ-

'इस कर्म से इसका यह फल हुआ' इस प्रकार युक्तिपूर्वक कर्म और फल के सम्बन्ध को प्रकट करने वाले मित्रसम्मित इतिहासशास्त्रों से व्युत्पत्ति प्राप्त नहीं हैं अथ च व्युत्पत्ति प्राप्त कराने योग्य हैं एवं प्रजा के कार्य करने की योग्यता रखते हैं उन राजपुत्रों के हृदय में अनुप्रवेश के प्रकार से चतुर्वर्ग के उपाय की व्युत्पत्ति का आधान करना चाहिए। हृदय में अनुप्रवेश रसास्वाद रूप ही होता है। और वह रस चतुर्वर्ग के उपाय की व्युत्पत्ति के नान्तरीयक (आनुषङ्गिक फल) वाले विभावादिसंयोग के कारण प्राप्त होता है, इस प्रकार रसोचित विभाव आदि के उपनिबन्धन में रसास्वाद का वैवश्य ही स्वभावतः होने वाली व्युत्पत्ति में प्रयोजक है, अतः प्रीति ही व्युत्पत्ति की प्रयोजिका है। प्रीति रूप रस है, वही नाट्य है, नाट्य ही वेद है यह हमारे उपाध्याय (का कथन है)। और ये प्रीति एवं व्युत्पत्ति भिन्न रूप नहीं हैं, क्योंकि दोनों का विषय एक है। कई बार हम कह चुके हैं कि विभावादि का औचित्य ही ठीक रूप से प्रीति का निदान है। उस रस के उचित विभावादि का फलपर्यन्तीभूत रूप से स्वरूप के संवेदन को 'व्युत्पत्ति' कहते हैं। और 'फल' वह है जो अदृष्टवश, देवता के प्रसाद से अथवा अन्य से उत्पन्न होता है। वह उपदेश्य नहीं है, क्योंकि उससे उपाय में व्युत्पत्ति नहीं होती। इस कारण उपायक्रम से प्रवृत्त की सिद्धि और अनुपाय द्वारा प्रवृत्त का नाश होता है, इस प्रकार नायक और प्रतिनायकगत अर्थ और अनर्थ की व्युत्पत्ति करनी चाहिए। कर्ता द्वारा आश्रीयमाण उपाय पांच अवस्थाओं को प्राप्त करता है—स्वरूप (अर्थात् उपाय के अनुष्ठान की अवस्था), स्वरूप से कुछ उच्छूनता (अर्थात् कुछ पोषण), कार्य के सम्पादन की योग्यता, प्रतिबन्धक के आगमन से (कार्यसिद्धि में) आशङ्क्य-

लोचनम्

फलपर्यन्तताम्। एवमार्तिसहिष्णूनां विप्रलम्भभीरूणां प्रेक्षापूर्वकारिणां तावदेवं कारणोपादानम्। ता एवंविधाः पञ्चावस्थाः कारणगता मुनिनोक्ताः—

संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारणस्य यः।
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः॥
प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च तथा प्राप्तेश्च सम्भवः।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः॥ इति।

एवं या एताः कारणस्यावस्थास्तत्सम्पादकं यत्कर्तुरितिवृत्तं पञ्चधा विभक्तम्। त एव मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्या अन्वर्थनामानः पञ्च सन्धय इतिवृत्तखण्डाः, सन्धीयन्त इति कृत्वा। तेषामपि सन्धीनां स्वनिर्वाह्यं प्रति तथा क्रमदर्शनादवान्तरभिन्ना इतिवृत्तभागाः। सन्ध्यङ्गानि–'उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्' इत्यादीनि।

अर्थप्रकृतयोऽत्रैवान्तर्भूताः। तथा हि स्वायत्तसिद्धेर्बीजं बिन्दुः कार्यमिति तिस्रः। बीजेन सर्वव्यापाराः बिन्दुनानुसन्धानं कार्येण निर्वाहः सन्दर्शनप्रार्थनाव्यवसायरूपा ह्येतास्तिस्रोऽर्थसम्पाद्ये कर्तुः प्रकृतयः स्वभावविशेषाः। स चवायत्तसिद्धित्वे तु सचिवस्य तदर्थमेव वा स्वार्थमेव वा स्वार्थमपि वा प्रवृत्तत्वेन

मानता, प्रतिपक्षता (प्रतिकूलता) के न रहने पर बाधक के बाधन द्वारा सुदृढ़ फलपर्यन्तता। इस प्रकार कष्ट के सहिष्णु, विप्रलम्भ (कार्य की असिद्धि) के भीरु, समझबूझकर कार्य करने वालों के कारणों का उपादान है। उन इस प्रकार के कारणगत पांच अवस्थाओं को मुनि ने कहा है—

फलयोग के साध्य होने में कारण का जो व्यापार है उसकी आनुपूर्वी से पांच अवस्थाएं प्रयोक्ताओं को जाननी चाहिएँ—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्ति का सम्भव, नियत फलप्राप्ति और फलयोग। (भरतनाट्य० २१, ७, ९)

इस प्रकार जो ये कारण की अवस्थाएं हैं उनको सम्पन्न करने वाला जो कर्ता का इतिवृत्त है वह पांच प्रकार से विभक्त है। वे ही मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श, निर्वहण नामक यथार्थ नामों वाली पांच 'सन्धियां' इतिवृत्त-खण्ड हैं, 'सन्धान की जाती हैं' यह (व्युत्पत्ति) करके। उन सन्धियों के भी स्वनिर्वाह्य (फल) के प्रति उस प्रकार क्रम देखने से अवान्तरभिन्न इतिवृत्त-भाग हैं। सन्धि के अङ्ग—उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन इत्यादि।

अर्थप्रकृतियां इसी में अन्तर्भूत हैं। जैसा कि अपने अधीन सिद्धि वाले (कर्ता) की बीज, बिन्दु और कार्य ये तीन हैं। बीज से समस्त व्यापार, बिन्दु से अनुसन्धान और कार्य से निर्वाह विवक्षित हैं, सन्दर्शन, प्रार्थना, व्यवसाय रूप ये तीन सम्पाद्य अर्थ में कर्ता की प्रकृतियां अर्थात् स्वभावविशेष हैं। परन्तु (कर्ता अर्थात् नायक के) सचिव के अधीन सिद्धिवाला होने पर सचिव के उसके (कर्ता के) लिए अथवा अपने लिए अथवा अपने लिए भी प्रवृत्त होने पर प्रकीर्ण और प्रसिद्ध होने के कारण प्रकरी, पताका

लोचनम्

प्रकीर्णत्वप्रसिद्धत्वाभ्यां प्रकरीपताकाव्यपदेश्यतयोभयप्रकारसम्बन्धी व्यापार-विशेषः प्रकरीपताकाशब्दाभ्यामुक्त इति। एवं प्रस्तुतफलनिर्वाहणान्तस्याधिकारिकस्य वृत्तस्य पञ्चसन्धित्वं पूर्णसन्ध्यङ्गता च सर्वजनव्युत्पत्तिदायिनी निबन्धनीया। प्रासङ्गिके त्वितिवृत्ते नायं नियम इत्युक्तम्—

'प्रासङ्गिके परार्थत्वान्न ह्येष नियमो भवेत्'

इति मुनिना। एवं स्थिते रत्नावल्यां धीरललितस्य नायकस्य धर्माविरुद्ध-सम्भोगसेवायामनौचित्याभावात्प्रत्युत न निस्सुखः स्यादिति श्लाघ्यत्वात्पृथ्वी-राज्यमहाफलान्तरानुबन्धिकन्यालाभफलोद्देशेन प्रस्तावनोपक्रमे पञ्चापि सन्धयोऽवस्थापञ्चकसहिताः समुचितसन्ध्यङ्गपरिपूर्णा अर्थप्रकृतियुक्ता दर्शिता एव। 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इति हि बीजादेव प्रभृति 'विश्रान्त-विग्रहकथः' इति 'राज्यं निर्जितशत्रु' इति च वचोभिः 'उपभोगसेवावसरोऽयम्' इत्युपक्षेपात्प्रभृति हि निरूपितम्। एतत्तु समस्तसन्ध्यङ्गस्वरूपं तत्पाठपृष्ठे प्रदर्श्यमानमतितमां ग्रन्थगौरवमावहति। प्रत्येकेन तु प्रदर्श्यमानं पूर्वापरानु-सन्धानवन्ध्यतया केवलं संमोहदायि भवतीति न विततम्। अस्यार्थस्य यत्नावधेयत्वेनेष्टत्वात्स्वकण्ठेन यो व्यतिरेक उक्तो 'न तु केवलया' इति

के नाम से उभय प्रकार के सम्बन्ध वाला व्यापार विशेष 'प्रकरी' और 'पताका' शब्द से कहा गया है। इस प्रकार प्रस्तुत फल के निर्वाह करने तक आधिकारिक कथानक का पञ्चसन्धित्व और पूर्णसन्ध्यङ्गता सब लोगों को व्युत्पत्ति देनेवाली निबन्धनीय है। परन्तु प्रासङ्गिक इतिवृत्त (कथानक) में यह नियम नहीं है, यह कहा है—

'परार्थ होने के कारण 'प्रासङ्गिक' में यह नियम लागू नहीं होगा'। मुनि ने।

ऐसी स्थिति में 'रत्नावली' में धीरललित नायक की धर्मविरुद्ध सम्भोग की सेवा में अनौचित्य के अभाव के कारण, प्रत्युत 'सुखरहित न हो' इस दृष्टि से श्लाघ्य होने के कारण, पृथ्वीराज्य के महाफल के बीच में प्राप्त कन्यालाभ के फल के उद्देश्य से प्रस्तावना के उपक्रम में समुचित सन्ध्यङ्गों से युक्त, अर्थप्रकृतियों से युक्त एवं पांच अवस्थाओं से युक्त पांचों सन्धियां दिखाई गई ही हैं। 'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतोः' इस बीज से ही लेकर 'विश्रान्तविग्रहकथः' और 'राज्यं निर्जितशत्रु' इन कथनों से, 'उपभोग-सेवावसरोऽयम्' इस 'उपक्षेप' से लेकर निरूपण किया है। परन्तु इन समस्त सन्धियों के अङ्गों का स्वरूप (रत्नावली के पाठों पर) दिखाने से अत्यधिक ग्रन्थगौरव होगा। और एक-एक (उदाहरण मात्र) दिखाने पर पूर्वापर के अनुसन्धान के न हो पाने से केवल सम्मोह उत्पन्न होगा, अतः विस्तार नहीं किया है। इस बात (रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा से सन्धिसन्ध्यङ्गघटन) को यत्नपूर्वक अवधेय रूप से इष्ट होने के कारण जो व्यतिरेक 'न कि केवल०' यह कहा है उसका उदाहरण कहते हैं—न कि—। 'केवल'

ध्वन्यालोकः

मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्यानां तदङ्गानां चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया, यथा रत्नावल्याम्; न तु केवलं शास्त्रस्थिति-सम्पादनेच्छया। यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्ग-स्य प्रकृतरसनिबन्धानानुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम्।

गर्भ, अवमर्श, निर्वहण नामक सन्धियों और उपक्षेप आदि उनके अङ्गों का रसाभि-व्यक्ति की अपेक्षा से जोड़ना, जैसे 'रत्नावली' (नाटिका) में; न कि केवल शास्त्र की मर्यादा के सम्पादन की इच्छा से। जैसे 'वेणीसंहार' में 'विलास' नामक प्रतिमुख-सन्धि के अङ्ग का प्रकृत रस के निबन्धन के प्रतिकूल भी दूसरे अङ्क में केवल भरत के मत के अनुसरण की इच्छा से घटन है।

लोचनम्

तस्योदाहरणमाह—न *त्विति*। केवलशब्दमिच्छाशब्दं च प्रयुञ्जानस्याय-माशयः—भरतमुनिना सन्ध्यङ्गानां रसाङ्गभूतमितिवृत्तप्राशस्त्योत्पादनमेव प्रयोजनमुक्तम्। न तु पूर्वरङ्गाङ्गवददृष्टसम्पादनं विघ्नादिवारणं वा। यथोक्तम्—

इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानपक्षयः।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानां चैव गूहनम्॥
आश्चर्यवदभिख्यानं प्रकाश्यानां प्रकाशनम्।
अङ्गानां षड्विधं ह्येतद् दृष्टं शास्त्रे प्रयोजनम्॥ इति।

ततश्च—

समीहा रतिभोगार्था विलासः परिकीर्तितः।

इति प्रतिमुखसन्ध्यङ्गविलासलक्षणे। रतिभोगशब्द आधिकारिकरसस्था-यिभावोपव्यञ्जकविभावाद्युपलक्षणार्थत्वेन प्रयुक्तः, यथा तत्त्वं नाधिगतार्थ इति,

शब्द और 'इच्छा' शब्द का प्रयोग करते हुए (कारिकाकार) का यह आशय है—भरतमुनि ने रसाङ्गभूत इतिवृत्त के प्राशस्त्य के उत्पादन को ही सन्ध्यङ्गों का प्रयोजन कहा है 'पूर्वरङ्ग' के अङ्ग की भांति अदृष्टसम्पादन अथवा विघ्नादिवारण को (कहा है)। जैसे, कहा है—

'शास्त्र में यह छ प्रकार का अङ्गों का प्रयोजन देखा गया है—इष्ट वस्तु की रचना, वृत्तान्त का न टूटना, अभिनय का मनोरञ्जक होना, गुप्त बातों को प्रकट न करना, आश्चर्यकारी बातें कहना और प्रकाशनीय का प्रकाशन करना।

इस कारण—

रतिभोग की इच्छा को 'विलास' कहा गया है।

यह प्रतिमुखसन्धि के अङ्ग 'विलास' के लक्षण में। 'रतिभोग' शब्द आधिकारिक स्थायी भाव के उपव्यञ्जक विभावादि के उपलक्षक रूप से प्रयुक्त है, (परन्तु

ध्वन्यालोकः

इदं चापरं प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निमित्तं यदुद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा रसस्य, यथा रत्नावल्यामेव। पुनरारब्धविश्रान्ते रसस्याङ्गिनोऽनुसन्धिश्च। यथा तापसवत्सराजे। प्रबन्धविशेषस्य नाट-

और यह प्रबन्ध के रसव्यञ्जक होने में अपर निमित्त है कि बीच में यथावसर रस का उद्दीपन और प्रशमन करना। जैसे 'रत्नावली' में ही। और आरम्भ किए हुए के विश्रान्त होने लगने पर फिर से अङ्गी (प्रधान) रस का अनुसन्धान कर लेना। जैसे, 'तापसवत्सराज' में। प्रबन्धविशेष नाटक आदि की रसव्यञ्जना का यह और

लोचनम्

प्रकृतो ह्यत्र वीररसः। *उद्दीपन इति*। उद्दीपनं विभावादिपरिपूरणया। यथा—'अयं स राआ उदयणो त्ति' इत्यादि सागरिकायाः। प्रशमनं वासवदत्तातः पलायने। पुनरुद्दीपनं चित्रफलकोल्लेखे। प्रशमनं सुसङ्गताप्रवेशे इत्यादि। गाढं ह्यनवरतपरिमृदितो रसः सुकुमारमालतीकुसुमवज्झटित्येव म्लानिमवलम्बेत। विशेषतस्तु शृङ्गारः। यदाह मुनिः—

यद्वामाभिनिवेशित्वं यतश्च विनिवार्यते।
दुर्लभत्वं यतो नार्या कामिनः सा परा रतिः॥ इति।

वीररसादावपि यथावसरमुद्दीपनप्रशमनाभ्यां विना झटित्येवाद्भुतफलकल्पे साध्ये लब्धे प्रकटीचिकीर्षित उपायोपेयभावो न प्रदर्शित एव स्यात्। *पुनरिति*। इतिवृत्तवशादारब्धाशङ्क्यमानप्राया न तु सर्वथैवोपनता विश्रान्तिर्विच्छेदो यस्य स तथा। *रसस्येति*। रसाङ्गभूतस्य कस्यापीति यावत्। तापसवत्सराजे हि वासवदत्ताविषयो जीवितसर्वस्वाभिमानात्मा प्रेमबन्धस्तद्विभावा-

वेणीसंहार के रचयिता ने) तत्त्वार्थ को नहीं समझा। यहां (वेणीसंहार में) प्रकृत वीररस है। उद्दीपन—। विभावादि के परिपूरण द्वारा। जैसे—'यह वह राजा उदयन है' सागरिका का। प्रशमन वासवदत्ता से भागने में। पुनः उद्दीपन चित्रफलक के निर्माण में। प्रशमन सुसङ्गता के प्रवेश में, इत्यादि। खूब निरन्तर चर्वणा किया गया रस सुकुमार मालती के पुष्प की भांति झटिति म्लान हो जाता है। विशेष करके शृङ्गार। क्योंकि मुनि कहते हैं—

जिस कारण कि प्रतिकूल आचरण की इच्छा, जिस कारण (सम्भोग) निवारण किया जाता है, जिस कारण नारी दुर्लभ होती है, वह कामी की गाढ़ रति है।

वीररस आदि में भी यथावसर उद्दीपन और प्रशमन के बिना शीघ्र ही अद्भुत (चमत्कार) फलरूप साध्य के प्राप्त हो जाने पर प्रकटनार्थ अभिलषित उपायोपेयभाव प्रदर्शित नहीं हो पाता। फिर से—। इतिवृत्त के कारण आरम्भ हुए की आशङ्क्यमानप्राय, न कि सर्वथा ही प्राप्त विश्रान्ति अर्थात् विच्छेद है जिसका वह। रस का—। रस के अङ्गभूत किसी का भी। 'तापसवत्सराज' में वासवदत्ता में जीवितसर्वस्व के

ध्वन्यालोकः

कादे रसव्यक्तिनिमित्तमिदं चापरमवगन्तव्यं यदलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्। शक्तो हि कविः कदाचिदलङ्कारनिबन्धने तदा-

निमित्त समझना चाहिए कि शक्ति (सामर्थ्य) होने पर भी अलङ्कारों का अनुरूपता से जोड़ना। क्योंकि शक्त (समर्थ) कवि कभी अलङ्कारों के निबन्धन में उस

लोचनम्

द्यौचित्यात्करुणविप्रलम्भादिभूमिका गृह्णन्समस्तेतिवृत्तव्यापी। राज्यप्रत्यापत्त्या हि सचिवनीतिमहिमोपनतया तदङ्गभूतपद्मावतीलाभानुगतयानुप्राण्यमानरूपा परमामभिलषणीयतमतां प्राप्ता वासवदत्ताधिगतिरेव तत्र फलम्। निर्वहणे हि 'प्राप्ता देवी भूतधात्री च भूयः संबन्धोऽभूद्दर्शकेन' इत्येवं देवीलाभप्राधान्यं निर्वाहितम्। इयति चेतिवृत्तवैचित्र्यचित्रे भित्तिस्थानीयो वासवदत्ताप्रेमबन्धः प्रथममन्त्रारम्भात्प्रभृति पद्मावतीविवाहादौ, तस्यैव व्यापारात्। तेन स एव वासवदत्ताविषयः प्रेमबन्धः कथावशादाशङ्क्यमानविच्छेदोऽप्यनुसंहितः। तथा हि—प्रथमे तावदङ्के स्फुटं स एवोपनिबद्धः 'तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा तद्गोष्ठ्यैव' इत्यादिना, 'बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथवा प्रेमाऽसमाप्तोत्सवम्' इत्यन्तेन। द्वितीयेऽपि 'दृष्टिर्नामृतवर्षिणी स्मितमधुप्रस्यन्दि वक्त्रं न किम्' इत्यादिना स एव विच्छिन्नोऽप्यनुसंहितः। तृतीयेऽपि—

अभिमान रूप (वत्सराज का) प्रेमबन्ध उसके विभावादि के औचित्य से करुण, विप्रलम्भ आदि की भूमिकाओं को ग्रहण करता हुआ समस्त इतिवृत्त (कथानक) में व्याप्त है। सचिव की नीति की महिमा से प्राप्त एवं उसके अङ्गभूत पद्मावती के लाभ से अनुगत राज्य की प्राप्ति द्वारा अनुप्राण्यमान एवं परम अभिलषणीयतम भाव को प्राप्त वासवदत्ता की प्राप्ति ही वहां फल है। क्योंकि 'निर्वहण' (सन्धि) में 'देवी और पृथ्वी दोनों प्राप्त हो गई और फिर से दर्शक के साथ सम्बन्ध हो गया' इस प्रकार देवी के लाभ का प्राधान्य निर्वाह किया गया है। कथानक के वैचित्र्य के इतने प्रथम मंत्र से लेकर पद्मावती के विवाह आदि चित्र में वासवदत्ता का प्रेमबन्ध भित्तिस्थानीय है, क्योंकि उसका ही व्यापार (व्याप्ति) है। इस कारण वही वासवदत्ता में प्रेमबन्ध कथा के वश विच्छेद की आशङ्का होने पर अनुसन्धान किया गया है। जैसा कि प्रथम अङ्क में स्पष्ट वही (प्रेमबन्ध) 'उसके मुखचन्द्र को देखते दिन व्यतीत किया, उस प्रकार सायंकाल भी, उसके साथ गोष्ठी से ही इत्यादि से लेकर 'यह मन उत्कण्ठा से भरा है, प्रेम में उत्सव समाप्त नहीं होता' तक रचा गया है। दूसरे (अङ्क) में भी 'क्या निगाह अमृत वर्षा करने वाली नहीं है, क्या मुख स्मित के मधु प्रवाहित करने वाला नहीं है ?' इत्यादि द्वारा वही विच्छिन्न होकर भी अनुसन्धान किया गया है। तीसरे (अङ्क) में भी—

ध्वन्यालोकः

क्षिप्ततयैवानपेक्षितरसबन्धः प्रबन्धमारभते तदुपदेशार्थमिदमुक्तम् ।

(अलङ्काररचना) में मग्न होकर रसबन्ध की अपेक्षा न करके प्रबन्ध रचना करने लगता है, उसके उपदेश के लिए यह कहा है ।

लोचनम्

सर्वत्र ज्वलितेषु वेश्मसु भयादालीजने विद्रुते
श्वासोत्कम्पविहस्तया प्रतिपदं देव्या पतन्त्या तथा ।
हा नाथेति मुहुः प्रलापपरया दग्धं वराक्या तया
शान्तेनापि वयं तु तेन दहनेनाद्यापि दह्यामहे ॥

इत्यादिना । चतुर्थेऽपि

देवीस्वीकृतमानसस्य नियतं स्वप्नायमानस्य मे
तद्गोत्रग्रहणादियं सुवदना यायात्कथं न व्यथाम् ।
इत्थं यन्त्रणया कथंकथमपि क्षीणा निशा जाग्रते
दाक्षिण्योपहतेन सा प्रियतमा स्वप्नेऽपि नासादिता ॥

इत्यादिना । पञ्चमेऽपि समागमप्रत्याशया करुणे निवृत्ते विप्रलम्भेऽङ्कुरिते

तथाभूते तस्मिन्मुनिवचसि जातागसि मयि
प्रयत्नान्तर्गूढां रुषमुपगता मे प्रियतमा ।
प्रसीदेति प्रोक्ता न खलु कुपितेत्युक्तिमधुरं
समुद्भिन्ना पीतैर्नयनसलिलैः स्थास्यति पुनः ॥

इत्यादिना । षष्ठेऽपि 'त्वत्सम्प्राप्तिविलोभितेन सचिवैः प्राणा मया धारिताः'

सभी जगह भवनों के जल उठने पर, (जल जाने के) डर से सखियों के भाग जाने पर हांफ से व्याकुल, उस प्रकार पग-पग पर गिरती-पड़ती बेचारी वह देवी 'हा नाथ' यह बार-बार प्रलाप करती जल गई, परन्तु हम तो उस शान्त हुए भी अग्नि से आज भी जलाए जा रहे हैं ।

इत्यादि से । चौथे (अङ्क) में भी—

देवी (वासवदत्ता) में रमे मन वाले, सपनाते हुए मेरे (मुंह से) उसके नाम ग्रहण किए जाने पर यह सुमुखी (पद्मावती) कैसे नहीं व्यथित होगी ? इस प्रकार कशमकश में जागते हुए किसी-किसी प्रकार रात बीती, और (पद्मावती के प्रति) दाक्षिण्य (आनुकूल्य) के कारण उपहत मैंने स्वप्न में भी उस प्रियतमा को नहीं पाया ।

इत्यादि से । पांचवें (अङ्क) में भी समागम की प्रत्याशा से करुण के निवृत्त और विप्रलम्भ के अङ्कुरित होने पर—

मुनिवचन के उस प्रकार होने पर, मेरे अपराधी होने पर मेरी प्रियतमा प्रयत्न-पूर्वक भीतर ही भीतर कुपित हो गई । 'प्रसन्न हो' यह कहने पर 'कुपित नहीं हूँ' यह मीठे ढङ्ग से कह कर अन्तःस्तम्भित आंसुओं को धारण करेगी ।

इत्यादि से । छठे (अङ्क) में भी 'सचिवों ने तुम्हारी प्राप्ति के लोभ में डाल कर

ध्वन्यालोकः

दृश्यन्ते च कवयोऽलङ्कारनिबन्धनैकरसा अनपेक्षितरसाः प्रबन्धेषु ।
किञ्च—

अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः ।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥ १५ ॥

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यङ्ग्योऽपि यः

देखा जाता है कि कवि प्रबन्धों में रसापेक्षी न होकर अलङ्कारों के निबन्धन में ही लग जाते हैं ॥ १४ ॥

और भी—इस ध्वनि का अनुस्वानसदृश जो प्रभेद कहा गया है वह भी किन्हीं प्रबन्धों में भासित होता है ॥ १५ ॥

इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का अनुकरणरूपव्यङ्ग्य भी जो प्रभेद दो प्रकार का

लोचनम्

इत्यादिना । अलङ्कृतीनामिति योजनापेक्षया कर्मणि षष्ठी । *दृश्यन्ते चेति* । यथा स्वप्नवासवदत्ताख्ये नाटके—

'स्वञ्चितपक्ष्मकपाटं नयनद्वारं स्वरूपताडेन ।
उद्घाट्य सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा ॥' इति ॥ १४ ॥

न केवलं प्रबन्धेन साक्षाद्व्यङ्ग्यो रसो यावत्पारम्पर्येणापीति दर्शयितुमुपक्रमते-*किञ्चेति* । अनुस्वानोपमः-शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च, यो ध्वनेः प्रभेद उदाहृतः सः केषुचित्प्रबन्धेषु निमित्तभूतेषु व्यञ्जकेषु सत्सु व्यङ्ग्यतया स्थितः सन् । *अस्येति* । रसादिध्वनेः प्रकृतस्य भासते व्यञ्जकतयेति शेषः । वृत्तिग्रन्थोऽप्येवमेव योज्यः । अथ वानुस्वानोपमः प्रभेद उदाहृतो यः प्रबन्धेषु भासते अस्यापि 'द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्' इत्युत्तरश्लोकेन कारिकावृत्त्योः सङ्गतिः ।

मुझसे प्राणों को धारण करवाया' इत्यादि से । 'अलङ्कारों का' यहां 'भोजन' की अपेक्षा से कर्म में षष्ठी है । देखे जाते हैं—। जैसे, 'स्वप्नवासवदत्त' नामक नाटक में—

बन्द पक्ष्म के कवाट वाले नयन के द्वार को अपने रूप के धक्के से खोल कर वह राजकुमारी मेरे हृदय के घर में प्रवेश कर गई ॥ १४ ॥

न केवल प्रबन्ध से साक्षात् व्यङ्ग्य रस ही होता है, अपितु पारम्पर्य से भी (व्यङ्ग्य होता है), यह दिखाने के लिए उपक्रम करते हैं—और भी—। अनुस्वान-सदृश—शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल, जो ध्वनि का प्रभेद कहा गया है, वह किन्हीं प्रबन्धों के निमित्तभूत व्यञ्जक होने पर व्यङ्ग्य रूप से स्थित होता हुआ । इसका—प्रकृत रसादि ध्वनि का व्यञ्जक रूप से भासित होता है, यह शेष है । वृत्तिग्रन्थ को भी इसी प्रकार लगाना चाहिए । अथवा, अनुस्वानसदृश कहा गया जो प्रभेद प्रबन्धों में भासित होता है इसका भी 'कहीं पर अलक्ष्यक्रम द्योत्य होता है' इस उत्तरश्लोक से कारिका और वृत्ति की सङ्गति होती है ।

ध्वन्यालोकः

प्रभेद उदाहृतो द्विप्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु केषुचिद्द्योतते। तद्यथा मधुमथनविजये पाञ्चजन्योक्तिषु। यथा वा ममैव कामदेवस्य सह-

कहा गया है वह भी किन्हीं प्रबन्धों में द्योतित होता है। वह जैसे, 'मधुमथनविजय' में पाञ्चजन्य की उक्तियों में। अथवा जैसे मेरा ही 'विषमबाणलीला' में, कामदेव के

लोचनम्

एतदुक्तं भवति—प्रबन्धेन कदाचिदनुरणनरूपव्यङ्ग्यो ध्वनिः साक्षाद्व्यज्यते स तु रसादिध्वनौ पर्यवस्यतीति। यदि तु स्पष्टमेव व्याख्यायते तदा ग्रन्थस्य पूर्वोत्तरस्यालक्ष्यक्रमविषयस्य मध्ये ग्रन्थोऽयमसङ्गतः स्यात्, नीरसत्वं च पाञ्चजन्योक्त्यादीनामुक्तं स्यादित्यलम्।

लीलादाढा शुध्यूड्ढासअलमहिमण्डलसश्चिअ अज्ज।
कीसममुणालाहरतुज्जआइ अङ्गम्मि॥

इत्यादयः पाञ्चजन्योक्तयो रुक्मिणीविप्रलब्धवासुदेवाशयप्रतिभेदनाभिप्रायमभिव्यञ्जयन्ति। सोऽभिव्यक्तः प्रकृतरसस्वरूपपर्यवसायी। सहचराः वसन्तयौवनमलयानिलादयस्तैः सह समागमे।

मिअवहण्डिअरोरोणिरङ्कुसो अविवेअरहिओ वि।
सविण वि तुमम्मि पुणोवन्ति अ अतन्ति पंमुसिम्मि॥

बात यह कही गई—प्रबन्ध से कहीं पर अनुरणन-रूपव्यङ्ग्य ध्वनि साक्षात् व्यञ्जित होती है, वह रसादि ध्वनि में पर्यवसित होती है। परन्तु यदि स्पष्ट ही (यथावस्थित ही) व्याख्यान करते हैं तब पूर्वोत्तर अलक्ष्यक्रमविषयक ग्रन्थ के बीच में यह ग्रन्थ असङ्गत होगा और पाञ्चजन्य की उक्ति आदि का नीरसत्व कहा जाने लगेगा। इत्यलम्।

लीलादाढा शुध्यूड्ढा..............अङ्गम्मि॥

[लीलादाढगुद्धरिअसअलमहीमण्डलस्सविअअस्स।
कीसमुणालहरणं वि तुज्झ गुरु आइ अङ्गम्मि॥]

(इति पाठः बालप्रियायाम्)

'लीला से दंष्ट्रा के अग्रभाग पर सारी पृथ्वी को उठा लेने वाले तुम्हारे अङ्ग में मृणाल का आभरण भी कैसे भारी हो रहा है?

इत्यादि पाञ्चजन्य की उक्तियां रुक्मिणी के विरही वासुदेव (श्रीकृष्ण) के अभिलाष के आविष्करण का अभिप्राय व्यञ्जित कर रही हैं। प्रकृत रस (विप्रलम्भ शृङ्गार) के स्वरूप में पर्यवसन्न होने वाला वह (अभिप्राय) अभिव्यक्त है। सहचर अर्थात् वसन्त यौवन, मलयानिल आदि, उनके साथ समागम में।

मिअवहण्डिअरोरो..........अतन्ति पंमुसिम्मि॥

[हुम्मि अवहत्थिअरे होणिरङ्कुसो अह विवेअरहिओ वि।
सविणे वि तुमम्मि पुणो भत्ति णपसुमरामि॥]

(इति पाठः बालप्रियायाम्)

ध्वन्यालोकः

चरसमागमे विषमबाणलीलायाम् । यथा च गृध्रगोमायुसंवादादौ महाभारते ॥ १५ ॥

सहचर के समागम के प्रसङ्ग में । और जैसे 'महाभारत' में गृध्रगोमायुसंवाद आदि प्रसंग में ॥ १५ ॥

लोचनम्

इत्यादयो यौवनस्योक्तयस्तत्तन्निजस्वभावव्यञ्जिकाः, स स्वभावः प्रकृतरसपर्यवसायी । *यथा चेति* । श्मशानावतीर्णं पुत्रदाहार्थमुद्योगिनं जनं विप्रलब्धुं गृध्रो दिवा शवशरीरभक्षणार्थी शीघ्रमेवापसरत यूयमित्याह ।

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥

इत्याद्यवोचत् । गोमायुस्तु निशोदयावधि अमी तिष्ठन्तु, ततो गृध्रादपहृत्याहं भक्षयिष्मामीत्यभिप्रायेणावोचत् ।

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं बालास्त्यद्यध्वमविशङ्किताः ॥

'मर्यादा को पार कर गया हूँ, निरङ्कुश हूँ और विवेकरहित भी हूँ, किन्तु स्वप्न में भी तुम्हारी भक्ति को नहीं याद कर पाता हूँ ।'

इत्यादि यौवन की उक्तियां उन-उन के अपने स्वभाव को व्यक्त करती हैं । वह स्वभाव प्रकृत रस में पर्यवसन्न होने वाला है । और जैसे—। श्मशान में पहुंचे, पुत्र को जलाने के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति को ठगने के लिए, गीध दिन में शव के शरीर को खाने की इच्छा से 'शीघ्र ही तुम लोग चले जाओ' यह कहता है—

'गीध और सियार से भरे, अस्थिपञ्जरों से व्याप्त, घोर एवं सभी प्राणियों के लिए भयङ्कर इस श्मशान में ठहरना बेकार है, काल के धर्म (मृत्यु) को प्राप्त कोई यहां जीवित नहीं रहा है, प्रिय हो अथवा शत्रु (द्वेष्य), प्राणियों की गति इसी प्रकार है ।'

इत्यादि बोला । किन्तु सियार ने इस अभिप्राय से कि ये लोग रात होने तक ठहरें, तब मैं गीध से छीन कर खाऊंगा, बोला—

'हे मूढ़ लोगो, यह सूर्य अस्त नहीं हुए, अभी स्नेह करो, यह मुहूर्त बहुत विघ्नों वाला है, (बाद्ध में) कदाचित् जी जाय । सोने के समान कान्ति वाले, यौवन को नहीं प्राप्त हुए इस बालक को बिना बिचारे गीध की बात से क्यों छोड़ रहे हो ।'

ध्वन्यालोकः

सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्॥ १६॥

सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारक-शक्ति, कृत्, तद्धित, और समास से कहीं पर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि द्योत्य होता है॥ १६॥

लोचनम्

इत्यादि। स चाभिप्रायो व्यक्तः शान्तरस एव परिनिष्ठिततां प्राप्तः॥ १५॥

एवमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य रसादिध्वनेर्यद्यपि वर्णेभ्यः प्रभृति प्रबन्धपर्यन्ते व्यञ्जकवर्गे निरूपिते न निरूपणीयान्तरमवशिष्यते, तथापि कविसहृदयानां शिक्षां दातुं पुनरपि सूक्ष्मदृशान्वयव्यतिरेकावाश्रित्य व्यञ्जकवर्गमाह-*सुप्तिङ्-त्यादि*। वयं त्वित्थमेतदनन्तरं सवृत्तिकं वाक्यं बुध्यामहे। सुबादिभिः योऽनुस्वानोपमो भासते वक्त्रभिप्रायादिरूपः अस्यापि सुबादिभिर्व्यक्तस्यानुस्वानोपमस्यालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो द्योत्यः। *क्वचिदिति* पूर्वकारिकया सह संमील्य सङ्गतिरिति। सर्वत्र हि सुबादीनामभिप्रायविशेषाभिव्यञ्जकत्वमेव। उदाहरणे स त्वभिव्यक्तोऽभिप्रायो यथास्वं विभावादिरूपताद्वारेण रसादीन्व्यनक्ति।

एतदुक्तं भवति—वर्णादिभिः प्रबन्धान्तैः साक्षाद्वा रसोऽभिव्यज्यते विभावादिप्रतिपादनद्वारेण यदि वा विभावादिव्यञ्जनद्वारेण परम्परयेति तत्र बन्धस्यैतत्परम्परया व्यञ्जकत्वं प्रसङ्गादादावुक्तम्। अधुना तु वर्णपदादीनामुच्यत इति। तेन वृत्तावपि 'अभिव्यज्यमानो दृश्यते' इति। व्यञ्जकत्वं दृश्यत इत्यादौ

इत्यादि। वह अभिप्राय व्यक्त होकर शान्त रस में ही परिनिष्ठितता प्राप्त है॥१५॥

इस प्रकार अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि ध्वनि के यद्यपि वर्णों से लेकर प्रबन्धपर्यन्त व्यञ्जकवर्ग के निरूपण हो जाने पर कोई दूसरा निरूपणीय बच नहीं जाता, तथापि कवि और सहृदयों को शिक्षा देने के लिए फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से अन्वय-व्यतिरेक का आश्रयण करके व्यञ्जकवर्ग को कहते हैं—सुप् तिङ् इत्यादि। हम तो इस प्रकार इसके बाद के वृत्तिसहित वाक्य को समझते हैं—सुप् आदि से जो वक्ता के अभिप्राय आदि के रूप में अनुस्वानसदृश (अनुरणनरूप) भासित होता है, सुप् आदि से व्यक्त अनुस्वानसदृश इसका भी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य द्योत्य होता है। 'कहीं पर' इसे पूर्वकारिका के साथ मिला कर संगति है। सभी जगह सुप् आदि अभिप्रायविशेष के ही व्यञ्जक होते हैं। उदाहरण में वह अभिव्यक्त अभिप्राय यथानुसार विभावादिरूपता के प्रकार से रसादि को व्यञ्जित करता है।

बात यह कही गई—वर्ण आदि से प्रबन्ध तक से साक्षात् रस अभिव्यक्त होता है विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा, अथवा विभावादि के व्यञ्जन के द्वारा परम्परा से; उनमें बन्ध का इस परम्परा से व्यञ्जक पहले प्रसंगतः कहा है। अब तो वर्ण, पद आदि का कहते हैं। इसलिए वृत्ति में भी 'अभिव्यक्त होता हुआ देखा जाता है'।

ध्वन्यालोकः

अलक्ष्यक्रमो ध्वनेरात्मा रसादिः सुब्विशेषैस्तिङ्विशेषैर्वचनविशेषैः सम्बन्धविशेषैः कारकशक्तिभिः कृद्विशेषैस्तद्धितविशेषैः समासैश्चेति । चशब्दान्निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते । यथा—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥

अलक्ष्यक्रम ध्वनि का आत्मा रसादि प्रयुक्त सुब्विशेष, तिङ्विशेष, वचनविशेष, सम्बन्धविशेष, कारक-शक्ति, कृद्विशेष, तद्धितविशेष और समासों से, 'और' (च) शब्द से, निपात, उपसर्ग, काल आदि से अभिव्यक्त होता हुआ देखा जाता है । जैसे—

यही मेरा न्यक्कार (अपमान) है, कि मेरे शत्रु हैं, उसमें भी वह तापस है, वह भी यहीं पर राक्षसकुल का हनन कर रहा है, अहो ! रावण भी जी रहा है । इन्द्रजित् मेघनाद को धिक्कार है, धिक्कार है, जगाए गए कुम्भकर्ण से क्या लाभ और स्वर्ग की गउंटिया को विलुण्ठन के कारण वृथा ही (अभिमान से) फूली इन मेरी भुजाओं से क्या लाभ ?

लोचनम्

च वाक्यशेषोऽध्याहार्यः विभावादिव्यञ्जनद्वारतया पारम्पर्येणेत्येवंरूपः। *ममारय इति*। मम शत्रुसद्भावो नोचित इति सम्बन्धानौचित्यं क्रोधविभावं व्यनक्ति अरय इति बहुवचनम् । तपो विद्यते यस्येति पौरुषकथाहीनत्वं तद्धितेन मत्वर्थीयेनाभिव्यक्तम् । तत्रापिशब्देन निपातसमुदायेनात्यन्तासम्भावनीयत्वम् । मत्कर्तृका यदि जीवनक्रिया तदा हननक्रिया तावदनुचिता। तस्यां च स कर्ता अपिशब्देन मनुष्यमात्रकम् । *अत्रैवेति*—मदधिष्ठितो देशोऽधिकरणम् निःशेषेण हन्यमा-

'व्यञ्जकत्व दिखाई देता है' इत्यादि में 'विभावादि के व्यञ्जन के द्वारा परम्परा से' इस प्रकार का वाक्यशेष अध्याहार कर लेना चाहिए । मेरे शत्रु—। 'शत्रु' यह बहुवचन 'मेरे शत्रु का होना उचित नहीं' यह सम्बन्धानौचित्य रूप क्रोध के विभाव को व्यञ्जित करता है । 'तप विद्यमान है जिसका' इस यत्वर्थीय तद्धित से पुरुषार्थ का अभाव अभिव्यक्त होता है । निपातसमुदाय रूप 'तत्रापि' (उसमें भी) शब्द से अत्यन्त असम्भवनीयता (अभिव्यक्त होती है) । यदि मैं जी रहा हूं तब हननकार्य अनुचित है । और उस (क्रिया) में वह कर्ता, 'भी' (अपि) शब्द कुत्सित मनुष्यमात्र । यहीं पर—। मेरे द्वारा अधिष्ठित देश अधिकरण, निःशेष रूप से हन्यमान होने से और राक्षसबल

ध्वन्यालोकः

अत्र हि श्लोके भूयसा सर्वेषामप्येषां स्फुटमेव व्यञ्जकत्वं दृश्यते। तत्र 'मे यदरयः' इत्यनेन सुप्सम्बन्धवचनानामभिव्यञ्जकत्वम्। 'तत्राप्यसौ तापस' इत्यत्र तद्धितनिपातयोः। 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः' इत्यत्र तिङ्कारकशक्तीनाम्। 'धिग्धिक्छक्रजितम्' इत्यादौ श्लोकार्धे कृत्तद्धितसमासोपसर्गाणाम्। एवंवि-

इस श्लोक में बहुशः इन सभी का व्यञ्जकत्व दिखाई देता है। उनमें से 'कि मेरे शत्रु हैं' इससे सुप्, सम्बन्ध और वचन का अभिव्यञ्जकत्व है। 'उनमें भी वह तापस है' यहां तद्धित और निपात का। 'वह भी यहीं पर राक्षसकुल का हनन कर रहा है, अहो रावण जी रहा है!' यहां तिङ् और कारक-शक्तियों का। 'इन्द्रजित (मेघनाद) को धिक्कार है' इत्यादि श्लोकार्ध में कृत्, तद्धित, समास और उपसर्ग

लोचनम्

नतया राक्षसबलं च कर्मेति तदिदमसंभाव्यमानमुपनतमिति पुरुषकारासम्पत्तिर्ध्वन्यते तिङ्कारकशक्तिप्रतिपादकैश्च शब्दैः। रावण इति त्वर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वं पूर्वमेव व्याख्यातम्। धिग्धिगिति निपातस्य शक्रं जितवानित्याख्यायिकेयमिति उपपदसमासेन सहकृतः स्वर्गेत्यादिसमासस्य स्वपौरुषानुस्मरणं प्रति व्यञ्जकत्वम्। ग्रामटिकेति स्वार्थिकतद्धितप्रयोगस्य स्त्रीप्रत्ययसहितस्याबहुमानास्पदत्वं प्रति, विलुण्ठनशब्दे विशब्दस्य निर्दयावस्कन्दनं प्रति व्यञ्जकत्वम्। वृथाशब्दस्य निपातस्य स्वात्मपौरुषनिन्दां प्रति व्यञ्जकता। भुजैरिति बहुवचनेन प्रत्युत भारमात्रमेतदिति व्यज्यते। तेन तिलशस्तिलशोऽपि विभज्यमानेऽत्र श्लोके सर्व एवांशो व्यञ्जकत्वेन भातीति किमन्यत्। एतदर्थप्रदर्शनस्य फलं दर्शयति—*एवमिति*। एकस्य पदस्येति यदुक्तं तदुदाहरति—*यथात्रेति*।

(राक्षसकुल) कर्म, यह सम्भव नहीं होकर सम्भव हो रहा है, इस प्रकार पौरुष का अभाव तिङ् और कारकशक्ति के प्रतिपादक शब्दों से ध्वनित हो रहा है। 'रावण' (कम्पित कर देने वाला) यह अर्थान्तर सङ्क्रमितवाच्यत्व पहले ही व्याख्यान किया जा चुका है। 'शक्र को जीता है' यह आख्यायिका है, इस उपपद समास का साथ देने वाला 'धिक्, धिक्' इस निपात (व्यञ्जक है), स्वर्ग० इत्यादि समास अपने पौरुष के अनुस्मरण के प्रति व्यञ्जक है। 'ग्रामटिका (गउंटिया) इस स्त्री प्रत्यय सहित स्वार्थिक तद्धित प्रयोग का अबहुमानास्पदत्व के प्रति और 'विलुण्ठन' शब्द में 'वि' शब्द का निर्दयतापूर्वक अवस्कन्दन (आक्रमण) के प्रति व्यञ्जकत्व है। निपात 'वृथा' शब्द की अपने पौरुष की निन्दा के प्रति व्यञ्जकता है। 'भुजाओं से' इस बहुवचन से 'प्रत्युत यह भार मात्र है' यह व्यक्त होता है। इस प्रकार तिल-तिल विभाग करने पर इस श्लोक में सभी अंश व्यञ्जक रूप में प्रतीत होता है, और क्या? इस अर्थ के प्रदर्शन का फल दिखाते हैं—इस प्रकार—। 'एक पद का' जो कहा है उसका उदाहरण देते

ध्वन्यालोकः

धस्य व्यञ्जकभूयस्त्वे च घटमाने काव्यस्य सर्वातिशायिनी बन्धच्छाया समुन्मीलति। यत्र हि व्यङ्ग्यावभासिनः पदस्यैकस्यैव तावदाविर्भावस्तत्रापि काव्ये कापि बन्धच्छाया किमुत यत्र तेषां बहूनां समवायः। यथात्रानन्तरोदितश्लोके। अत्र हि रावण इत्यस्मिन् पदेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्येन ध्वनिप्रभेदेनालङ्कृतेऽपि पुनरनन्तरोक्तानां

का। इस प्रकार के (प्रयोग का) बहुशः व्यञ्जकत्व के घटित होने से काव्य की सर्वातिशायिनी बन्धच्छाया समुन्मीलित होती है। जहां कि व्यङ्ग्य को अवभासित करने वाले एक ही पद का आविर्भाव है वहाँ भी काव्य में बन्धच्छाया है, जहां उन बहुतों का समवाय है (वहां) क्या कहना ? जैसा कि अभी उदाहृत श्लोक में। यहां 'रावण' इस पद के ध्वनि के प्रभेद अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य के द्वारा अलंकृत होने पर

लोचनम्

अतिक्रान्तं न तु कदाचन वर्तमानतामवलम्बमानं सुखं येषु ते काला इति, सर्व एव न तु सुखं प्रति वर्तमानः स कोऽपि काललेश इत्यर्थः। प्रतीपान्युपस्थितानि वृत्तानि प्रत्यावर्तमानानि तथा दूरभावीन्यपि प्रत्युपस्थितानि निकटतया वर्तमानानि भवन्ति दारुणानि दुःखानि येषु ते। दुःखं बहुप्रकारमेव प्रतिवर्तमानाः सर्वे कालांशा इत्यनेन कालस्य तावन्निर्वेदमभिव्यञ्जयतः शान्तरसव्यञ्जकत्वम्। देशस्याप्याह—पृथिवी श्वः श्वः प्रातः प्रातर्दिनादिनं पापीयदिवसाः पापानां सम्बन्धिनः पापिष्ठजनस्वामिका दिवसा यस्यां सा तथोक्ता। स्वाभावत एव तावत्कालो दुःखमयः तत्रापि पापिष्ठजनस्वामिकपृथिवीलक्षणदेशदौरात्म्याद्विशेषतो दुःखमय इत्यर्थः। तथा हि श्वः श्व इति दिनादिनं गतयौवना वृद्धस्त्रीवदसंभाव्यमानसंभोगा गतयौवनतया हि यो यो दिवस आगच्छति स स पूर्वपूर्वापेक्षया पापीयान् निकृष्टत्वात्। यदि वेयसुनन्तोऽयं

हैं—जैसे यहां—। वे समय जिनमें सुख अतिक्रान्त हो गया है, न कि वर्तमानता को अवलम्बन कर रहा है, अर्थात् सभी, न कि सुख के प्रति वर्तमान वह कोई भी काललेश। जिन (समयों) में प्रतिकूल दारुण दुःख गये भी पुनः लौटे हुए और दूर काल में होनेवाले भी निकट रूप से वर्तमान मालुम होते हैं। बहुत प्रकार के ही दुःख को प्रवर्तित करते हुए सभी कालांश हैं, इस प्रकार निर्वेद की व्यञ्जना करते हुए काल का शान्तरसव्यञ्जकत्व है। देश का भी कहते हैं—पृथिवी हर सुबह, दिन-दिन पापीयदिवसा है अर्थात् पापों के सम्बन्धी, पापिष्ठ जन स्वामी हैं जिनमें ऐसे दिवसों वाली है। अर्थात् स्वभावतः ही दुःखमय है, उसमें भी स्वामी के रूप में पापिष्ठ जनों वाले पृथ्वी के रूप में देश के दौरात्म्य के कारण विशेष रूप से दुःखमय है। जैसा कि दिन-दिन गतयौवना स्त्री की भांति असम्भाव्यमान सम्भोग वाली। यौवन के चले जाने पर जो-जो दिन आता है वह-वह पूर्व-पूर्व की अपेक्षा पापीयान् होता है, क्योंकि निकृष्ट होता है।

ध्वन्यालोकः

व्यञ्जकप्रकाराणामुद्भासनम् । दृश्यन्ते च महात्मनां प्रतिभाविशेषभाजां बाहुल्येनैवंविधा बन्धप्रकाराः ।

यथा महर्षेर्व्यासस्य—

अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः ।
श्वः श्वः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना ॥

अत्र हि कृत्तद्धितवचनैरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः, 'पृथिवी गतयौवना' इत्यनेन चात्यन्ततिरस्कृतवाच्यो ध्वनिः प्रकाशितः ।

एषां च सुबादीनामेकैकशः समुदितानां च व्यञ्जकत्वं महाकवीनां प्रबन्धेषु प्रायेण दृश्यते । सुबन्तस्य व्यञ्जकत्वं यथा—

तालैः शिञ्जद्वलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥

भी अभी कहे गए व्यञ्जक प्रकारों का उद्भासन है। प्रतिभाविशेष वाले महात्माओं के बहुशः इस प्रकार के बन्धप्रकार देखे गए हैं।

जैसे, महर्षि व्यास का—सुख के समय समाप्त हो गए और दुःख के समय उपस्थित हैं, गतयौवना पृथिवी के उत्तरोत्तर बुरे दिन आ रहे हैं।

यहां कृत्, तद्धित और वचन से अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और 'गतयौवना पृथिवी' से अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि प्रकाशित है।

इन सुप् आदि का अलग-अलग और मिल कर व्यञ्जकत्व महाकवियों के प्रबन्धों में प्रायः देखा जाता है। सुबन्त का व्यञ्जकत्व, जैसे—

मेरी प्रियतमा द्वारा वलय के झंकारों से सुन्दर तालियां बजा कर नचाया गया तुम्हारा सुहृद मयूर सन्ध्याकाल में जिस (वासयष्टि) पर बैठता है।

लोचनम्

शब्दो मुनिनैवं प्रयुक्तो णिजन्तो वा । *अत्यन्तेति* । सोऽपि प्रकारोऽस्यैवाङ्गतामेतीति भावः । *सुबन्तस्येति* । समुदितत्वे तूदाहरणं दत्तं व्यस्तत्वे चोच्यत इति भावः । *तालैरिति* बहुवचनमनेकविधं वैदग्ध्यं ध्वनत् विप्रलम्भोद्दीपकतामेति ।

अथवा इयसुनन्त शब्द का मुनि ने ही प्रयोग किया है (यह आर्ष प्रयोग है), या णिजन्त है। अत्यन्त—। भाव यह कि वह भी प्रकार इसी का अङ्ग हो जाता है। सुबन्त का—। भाव यह कि मिल कर (व्यञ्जकत्व) में तो उदाहरण दे दिया, अब अलग-अलग (व्यञ्जकत्व) में कहते हैं। तालियां—यह बहुवचन अनेक विध वैदग्ध्य को ध्वनित करता हुआ विप्रलम्भ का उद्दीपक हो रहा है।

ध्वन्यालोकः

तिङन्तस्य यथा—

अवसर रोउं चिअ णिम्मिआइँ मा पुंस मे हअच्छीइं ।
दंसणमेत्तुम्मत्तेहिं जहिं हिअअं तुह ण णाअम् ॥

यथा वा—

मा पन्थं रुन्धीओ अवेहि बालअ अहोसि अहिरीओ ।
अम्हेअ णिरिच्छाओ सुण्णघरं रक्खिदव्वं णो ॥

तिङन्त का, जैसे—

हटो, मेरी हत आंखें रोने के लिए ही बनी हैं, (इन्हें) मत बढ़ावो, दर्शनमात्र से उन्मत्त जिन्होंने तुम्हारे इस प्रकार के हृदय को नहीं जाना ।

अथवा जैसे—

नासमझ रास्ता मत रोको, हटो, अहो, तुम तो निर्लज्ज हो । हम परतन्त्र हैं, क्योंकि हमें अपने सूने घर की रखवाली करनी है ।

लोचनम्

अपसर रोदितुमेव निर्मिते मा पुंसय हते अक्षिणी मे ।
दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यां याभ्यां तव हृदयमेवंरूपं न ज्ञातम् ॥

उन्मत्तो हि न किञ्चिज्जानातीति न कस्याप्यत्रापराधः दैवेनेत्थमेव निर्माणं कृतमिति । अपसर मा वृथा प्रयासं कार्षीः दैवस्य विपरिवर्तयितुमशक्यत्वादिति तिङन्तो व्यञ्जकः तदनुगृहीतानि पदान्तराण्यपीति भावः ।

मा पन्थानं रुधः अपेहि बालक अप्रौढ अहो असि अह्रीकः ।
वयं परतन्त्रा यतः शून्यगृहं मामकं रक्षणीयं वर्तते ॥

इत्यत्रापेहीति तिङन्तमिदं ध्वनति–त्वं तावदप्रौढो लोकमध्ये यदेवं प्रकाशयसि । अस्ति तु सङ्केतस्थानं शून्यगृहं तत्रैवागन्तव्यमिति । 'अन्यत्र व्रज बालक' अप्रौढ बुद्धे स्नान्तीं मां किं प्रकर्षेणालोकयस्येतत् । भो इति सोल्लुण्ठमाह्वानम् । जायाभीरुकाणां सम्बन्धितटमेव न भवति । अत्र जायातो ये

क्योंकि उन्मत्त कुछ नहीं समझता, इसलिए यहां किसी का अपराध नहीं, दैव ने ऐसा ही निर्माण किया है । भाव यह कि हटो, व्यर्थ प्रयास मत करो, दैव का परिवर्तन नहीं किया जा सकता, इस प्रकार तिङन्त व्यञ्जक है और उसके द्वारा अनुगृहीत पदान्तर भी (व्यञ्जक) हैं ।

यहां 'हटो' यह तिङन्त यह ध्वनित करता है—तुम अप्रौढ़ हो, लोगों के बीच इसे खोल दोगे, सङ्केतस्थान शून्य गृह है, वहीं आना । हे अप्रौढ़ बुद्धि वाले बाल अन्यत्र चले जाओ, स्नान करती हुई मुझे क्यों गुरेर कर देखता है 'अरे' (भो), यह सपरिहास आह्वान है । पत्नी से डरने वालों का यह तट ही नहीं होता । यहां पत्नी से जो डरने

ध्वन्यालोकः

सम्बन्धस्य यथा—

अण्णत्त वच्च बालअ ह्णा अन्ति किं मं पुलोएसिएअम् ।
भो जाआभीरुआणं तडं विअण होई ॥

कृतकप्रयोगेषु प्राकृतेषु तद्धितविषये व्यञ्जकत्वमावेद्यत एव । अवज्ञातिशये कः । समासानां च वृत्त्यौचित्येन विनियोजने । निपातानां व्यञ्जकत्वं यथा—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपार्धरम्यैः ॥

सम्बन्ध का जैसे—

नासमझ, यहां से हट जा, स्नान करती हुई मुझे क्यों गुरेर कर देखता है, अरे, पत्नी से डरने वालों का यह तट नहीं है !

प्राकृतों में 'क' (प्रत्यय) के प्रयोग किए जाने पर तद्धित के विषय में व्यञ्जकत्व प्रतीत किया ही जाता है । (यहां) अवज्ञातिशय में 'क' (प्रयुक्त है) । और वृत्ति के औचित्य के अनुसार योजना करने पर समासों का (व्यञ्जकत्व होता है) । निपातों का व्यञ्जकत्व, जैसे—

यह एक साथ ही प्रिया के साथ असह्य मेरा वियोग उपस्थित हो गया और नये बादलों के उमड़ पड़ने से दिन भी आतपरहित, छोटे और रम्य होने लगे ।

लोचनम्

भीरवस्तेषामेतत्स्थानमिति दूरापेतः सम्बन्ध इत्यनेन सम्बन्धेनेर्ष्यातिशयः प्रच्छन्नकामिन्याभिव्यक्तः । *कृतकेति* कग्रहणं तद्धितोपलक्षणार्थम् । कृतः कप्रत्ययप्रयोगो येषु काव्यवाक्येषु यथा जायाभीरुकाणामिति । ये ह्यरसज्ञा धर्मपत्नीषु प्रेमपरतन्त्रास्तेभ्यः कोऽन्यो जगति कुत्सितः स्यादिति कप्रत्ययोऽवज्ञातिशयद्योतकः । *समासानां चेति* । केवलानामेव व्यञ्जकत्वमावेद्यत इति सम्बन्धः ।

वाले हैं उनका यह स्थान है, यह सम्बन्ध दूरापेत (अर्थात् बिलकुल नहीं) है, इस (षष्ठचर्थ) सम्बन्ध से प्रच्छन्न कामिनी ने ईर्ष्यातिशय अभिव्यक्त किया । 'क' के प्रयोग—। 'क' ग्रहण तद्धित के उपलक्षणार्थं है, किया गया है 'क' प्रत्यय का प्रयोग जिन काव्यवाक्यों में, जैसे 'जायाभीरुकाणाम्' जो अरसज्ञ अपनी धर्मपत्नियों में ही प्रेमपरतन्त्र होते हैं, उनसे (बढ़कर) कौन दूसरा संसार में कुत्सित होगा ? इस अवज्ञातिशय का 'क' प्रत्यय द्योतक है । समासों का—। सम्बन्ध यह है कि केवल (समासों) का ही व्यञ्जकत्व सूचित किया जाता है ।

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र चशब्दः। यथा वा—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरौष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥

अत्र तुशब्दः। निपातानां प्रसिद्धमपीह द्योतकत्वं रसापेक्षयोक्तमिति द्रष्टव्यम्। उपसर्गाणां व्यञ्जकत्वं यथा—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दलेखाङ्किताः॥

यहां 'और' शब्द। अथवा, जैसे—

बार-बार अङ्गुलियों से ढंके गए अधरोष्ठ वाले, निषेध के अक्षर ('नहीं' आदि) और व्याकुलता से अभिराम (उस) पक्ष्मल आंखों वाली (शकुन्तला) के कंधे पर मुड़े हुए मुख को किसी प्रकार ऊपर उठा लिया, परन्तु चूम नहीं सका।

यहां 'तु' शब्द। यद्यपि निपातों का द्योतकत्व प्रसिद्ध है तथापि यहां (उनका द्योतकत्व) रस की अपेक्षा से समझना चाहिए। उपसर्गों का व्यञ्जकत्व, जैसे—

नीवार सुग्गों के खोड़लों के अग्रभाग से गिर कर वृक्षों के नीचे पड़े हैं। कहीं पर चिकने पत्थर सूचित करते हैं कि इनसे इंगुदी के फलों का भेदन किया जाता है। हिरण विश्वस्त हो जाने से अभिन्नगति होकर शब्द को सहन करते हैं और जल के बहाव के मार्ग वल्कलों (वृक्ष की छालों) के अग्रभाग से टपकती हुई बूंदों की रेखा से अंकित हैं।

लोचनम्

चशब्द इति जातावेकवचनम्। द्वौ चशब्दावेवमाहतुः काकतालीयन्यायेन गण्डस्योपरि स्फोट इतिवत्तद्वियोगश्च वर्षासमयश्च सममुपनतौ एतदलं प्राणहरणाय। अत एव रम्यपदेन सुतरामुद्दीपनविभावत्वमुक्तम्। *तुशब्द इति*। पश्चात्तापसूचकस्सन् तावन्मात्रपरिचुम्बनलाभेनापि कृतकृत्यता स्यादिति ध्वनतीति भावः। *प्रसिद्धमपीति*। वैयाकरणादिगृहेषु हि प्राक्प्रयोगस्वातन्त्र्यप्रयोगाभावात्-

'और' शब्द जाति में एकवचन है। दो 'और' ('च') शब्द इस प्रकार कहते हैं—काकतालीयन्याय से गण्ड के ऊपर फोड़े की भांति उसका वियोग और वर्षाकाल दोनों साथ ही प्राप्त हो गए हैं, यह प्राणहरण के लिए काफी है। अतएव 'रम्य' पद से सुतरां उद्दीपन विभाव को कहा है। 'तु' शब्द—। भाव यह कि पश्चात्ताप का सूचक होता हुआ उतने मात्र परिचुम्बन के लाभ से भी कृतकृत्यता ही यह ध्वनित करता है। प्रसिद्ध है तथापि—। भाव यह कि वैयाकरण आदि के घरों में (धातु के) पहले

ध्वन्यालोकः

इत्यादौ । द्वित्राणां चोपसर्गाणामेकत्र पदे यः प्रयोगः सोऽपि रसव्यक्त्यनुगुणतयैव निर्दोषः । यथा—'प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि तमसि समुद्वीक्ष्य वीतावृतीन्द्राग्जन्तून्' इत्यादौ । यथा वा—'मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तम्' इत्यादौ ।

इत्यादि में । दो-तीन उपसर्गों का भी एक पद में जो प्रयोग है वह भी रस की व्यञ्जना के अनुगुण रूप से ही निर्दोष है । जैसे—उत्तरीय की भांति अन्धकार के विगलित हो जाने पर सद्यः जन्तुओं को आवरण से रहित देखकर०, इत्यादि में (समुद्वीक्ष्य = देखकर इस स्थल में) । अथवा, जैसे—मनुष्य के व्यापार से समुपाचरण करते हुए को०, इत्यादि में ।

लोचनम्

षष्ठ्याद्यश्रवणाल्लिङ्गसंख्याविरहाच्च वाचकवैलक्षण्येन द्योतका निपाता इत्युद्घोष्यत एवेति भावः । प्रकर्षेण स्निग्धा इति प्रशब्दः प्रकर्षं द्योतयन्निङ्गुदीफलानां सरसत्वमाचक्षाण आश्रमस्य सौन्दर्यातिशयं ध्वनति । 'तापसस्य फलविशेषविषयोऽभिलाषातिरेको ध्वन्यते' इति त्वसत्; अभिज्ञानशाकुन्तले हि राज्ञ इयमुक्तिर्न तापसस्येत्यलम् । *द्वित्राणामित्यनेनाधिक्यं* निरस्यति । सम्यगुच्चैर्विशेषेणेक्षितत्वे भगवतः कृपातिशयोऽभिव्यक्तः ।

मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तं स्वबुद्धिसामान्यकृतानुमानाः ।
योगीश्वरैरप्यसुबोधमीश त्वां बोद्धुमिच्छन्त्यबुधाः स्वतर्कैः ॥

सम्यग्भूतमुपांशुकृत्वा आ समन्ताच्चरन्तमित्यनेन लोकानुजिघृक्षातिशयस्तत्तदाचरतः परमेश्वरस्य ध्वनितः ।

ही प्रयोग होने, स्वतन्त्र रूप से प्रयोग न होने, षष्ठी आदि के श्रवण न होने और लिङ्ग तथा संख्या के न होने के कारण निपात शब्द वाचक शब्द से विलक्षण रूप से द्योतक घोषित किए गए हैं । (प्रस्निग्धाः) अर्थात् 'प्रकर्षेण स्निग्धाः' इसमें 'प्र' शब्द प्रकर्ष द्योतित करता और इङ्गुदीफलों का सरसत्व कहता हुआ आश्रम के अतिशय सौन्दर्य को ध्वनित करता है । 'तापस का फलविशेष के सम्बन्ध में अभिलाषातिरेक ध्वनित होता है' यह (व्याख्यान) गलत है, क्योंकि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में यह राजा की उक्ति है, न कि तापस की, इत्यलम् । दो-तीन इस (कथन) से आधिक्य का निरास करते हैं । (समुद्वीक्ष्य = देखकर) सम्यक् अर्थात् उच्चैः, विशेष रूप से ईक्षित (दृष्ट) होने में भगवान् (सूर्य) का कृपातिशय अभिव्यक्त होता है ।

मनुष्य के व्यापार से समुपाचरण करते हुए, योगीश्वरों द्वारा भी दुर्बोध आपको हे ईश, अपनी सामान्य बुद्धि से अनुमान करके अबुध जन अपने तर्कों से जानना चाहते हैं ।

'सम्यक् भूतमुपांशुकृत्वा आ समन्तात् चरन्तं' इससे तत् तत् का आचरण करते हुए परमेश्वर का लोकानुग्रह का इच्छातिशय अभिव्यक्त किया ।

ध्वन्यालोकः

निपातानामपि तथैव। यथा—'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः' इत्यादौ। यथा वा—

ये जीवन्ति न मान्ति ये स्म वपुषि प्रीत्या प्रनृत्यन्ति च
प्रस्यन्दिप्रमदाश्रवः पुलकिता दृष्टे गुणिन्यूर्जिते।
हा धिक्कष्टमहो क्व यामि शरणं तेषां जनानां कृते
नीतानां प्रलयं शठेन विधिना साधुद्विषः पुष्यता॥

इत्यादौ।

पदपौनरुक्त्यं च व्यञ्जकत्वापेक्षयैव कदाचित्प्रयुज्यमानं शोभामावहति। यथा—

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहुचाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति।

निपातों का भी उसी प्रकार। जैसे—'अहो तुम स्पृहणीय पराक्रम वाले हो!' इत्यादि में। अथवा, जैसे—

गुणीजन की वृद्धि देख कर आनन्द के अश्रु प्रवाहित करने वाले एवं पुलकित होने वाले जो व्यक्ति जीवित हैं, (खुशी के मारे) जो अपने शरीर में अंट नहीं पाते, प्रीति से नृत्य करने लग जाते हैं, उन जनों के लिए, जिन्हें दुष्टों को प्रश्रय देने वाले शठ विधाता ने समाप्त कर डाला है, किसकी शरण में जाऊं? हा धिक् कष्टम्!

इत्यादि में।

पदपौनरुक्त्य भी व्यञ्जकत्व की अपेक्षा से ही कदाचित् प्रयुज्यमान होकर शोभा प्राप्त करता है। जैसे—

जो कि धोखा देने में लगी बुद्धि वाला, काम निकालने वाला दुष्ट जन बहुत

लोचनम्

तथैवेति। रसव्यञ्जकत्वेन द्वित्राणामपि प्रयोगो निर्दोष इत्यर्थः। श्लाघातिशयो निर्वेदातिशयश्च अहो बतेति हा धिगिति च ध्वन्यते। प्रसङ्गात्पौनरुक्त्यान्तरमपि व्यञ्जकमित्याह—*पदपौनरुक्त्यमिति*। पदग्रहणं वाक्यादेरपि

उसी प्रकार—। अर्थात् रसके व्यञ्जक रूप से दो-तीन (निपातों) का प्रयोग निर्दोष है। 'अहो' 'बत' 'हा' 'धिक्' से श्लाघातिशय और निर्वेदातिशय ध्वनित होते हैं। प्रसङ्ग से 'पौनरुक्त्यान्तर भी व्यञ्जक है, यह कहते हैं—पदपौनरुक्त्य—। 'पद' ग्रहण वाक्यादि का भी यथासम्भव उपलक्षण है। समझाते हैं—। 'वे ही सब कुछ

ध्वन्यालोकः

तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु
कर्तुं वृथाप्रणयमस्य न पारयन्ति ॥

इत्यादौ।

कालस्य व्यञ्जकत्वं यथा—

समविसमणिव्विसेसा समन्तओ मन्दमन्दसंआरा।
अइरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुल्लङ्घा ॥
[समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः।
अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः ॥
इति छाया]

खुशामद से भरी बनावटी बात करता है उसे साधुजन नहीं समझते हैं यह नहीं, समझते हैं, किन्तु वे लोग उसके आग्रह को व्यर्थ करने में समर्थ नहीं हो पाते।

इत्यादि में। काल का व्यञ्जकत्व, जैसे—

शीघ्र ही चारों ओर (वर्षाकाल में पानी भर जाने के कारण) मार्ग सम और विषम के भेद से रहित, अत्यन्त मन्द सञ्चार योग्य एवं मनोरथों के भी दुर्लङ्घ्य हो जायेंगे।

लोचनम्

यथासम्भवमुपलक्षणम्। *विदन्तीति*। त एव हि सर्वं विदन्ति सुतरामिति ध्वन्यते। वाक्यपौनरुक्त्यं यथा—'पश्य द्वीपादन्यस्मादपि' इति वचनानन्तरं 'कः सन्देहः ? द्वीपादन्यस्मादपि' इत्यनेनेप्सितप्राप्तिरविघ्नितैव ध्वन्यते। 'किं किम् ? स्वस्था भवन्ति मयि जीवति' इत्यनेनामर्षातिशयः। 'सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी' इत्युन्मादातिशयः।

कालस्येति। तिङन्तपदानुप्रविष्टस्याप्यर्थकलापस्य कारककालसंख्योपग्रहरूपस्य मध्येऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सूक्ष्मदृशा भागगतमपि व्यञ्जकत्वं विचार्य-

ठीक-ठीक समझते हैं, यह ध्वनित होता है। वाक्यपौनरुक्त्य, जैसे—('रत्नावली' में) 'द्वीपादन्यस्मादपि' इस वचन के बाद 'कः सन्देहः द्वीपादन्यस्मादपि' इससे ईप्सित वस्तु की प्राप्ति विघ्नरहित ही है यह ध्वनित होता है। 'किं किं ? स्वस्था भवन्ति मयि जीवति' इससे अमर्षातिशय (ध्वनित होता है)। सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी' यह (वक्ता का) उन्मादातिशय ध्वनित होता है।

काल का—। भाव यह कि कारक, काल, संख्या, उपग्रह रूप तिङन्त पद में अनुप्रविष्ट अर्थसमूह के बीच अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से भागगत (अर्थात् कारक आदि चारों के एकदेश भूत कालगत) भी व्यञ्जकत्व का विचार करना चाहिए।

ध्वन्यालोकः

अत्र ह्यचिराद्भविष्यन्ति पन्थान इत्यत्र भविष्यन्तीत्यस्मिन् पदे प्रत्ययः कालविशेषाभिधायी रसपरिपोषहेतुः प्रकाशते। अयं हि गाथार्थः प्रवासविप्रलम्भशृङ्गारविभावतया विभाव्यमानो रसवान्। यथात्र प्रत्ययांशो व्यञ्जकस्तथा क्वचित्प्रकृत्यंशोऽपि दृश्यते। यथा—

तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावगाहं दिवः
सा धेनुर्जरती चरन्ति करिणामेता घनाभा घटाः।
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं सङ्गीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः॥

अत्र श्लोके दिवसैरित्यस्मिन् पदे प्रकृत्यंशोऽपि द्योतकः। सर्वनाम्नां च व्यञ्जकत्वं यथानन्तरोक्ते श्लोके। अत्र च सर्वनाम्नामेव

यहां 'शीघ्र ही मार्ग हो जायेंगे' इसमें 'हो जायेंगे' इस पद में प्रत्यय कालविशेष का अभिधान करने वाला एवं रसपरिपोष का हेतु प्रकाशित होता है। यह गाथार्थ प्रवास विप्रलम्भ श्रृङ्गार के विभाव के रूप में विभाव्यमान होकर रसवान् हो जाता है। जैसे यहां प्रत्ययांश व्यञ्जक है वैसे कहीं पर प्रकृत्यंश भी देखा जाता है। जैसे—

झुकी भीतों वाला वह घर (और कहां) यह आकाश का अवगाहन करने वाला (आलीशान) भवन; वह बूढ़ी गाय (और कहां) यह हाथियों का झुण्ड घूम रहा है; वह मूसल की क्षुद्र आवाज (और कहां) यह महिलाओं का अव्यक्त-मधुर सङ्गीत; आश्चर्य है कि (कुछ ही) दिनों में यह ब्राह्मण इस अवस्था तक पहुंचा दिया गया!

इस श्लोक में 'दिनों में' ('दिवसैः') इस पद में प्रकृत्यंश भी द्योतक है। सर्वनामों का व्यञ्जकत्व जैसे अभी कहे गए (इस) श्लोक में। यहां सर्वनामों के ही व्यञ्जकत्व को कवि ने मन में रख कर 'क्व' इत्यादि शब्द का प्रयोग नहीं किया है।

लोचनम्

मिति भावः। *रसपरिपोषेति*। उत्प्रेक्ष्यमाणो वर्षासमयः कम्पकारी किमुत वर्तमान इति ध्वन्यते। अंशांशिकप्रसङ्गादेवाह—*यथात्रेति*।

दिवसार्थो ह्यत्रात्यन्तासम्भाव्यमानतामस्यार्थस्य ध्वनति। *सर्वनाम्नां चेति*। प्रकृत्यंशस्य चेत्यर्थः। तेन प्रकृत्यंशेन सम्भूय सर्वनामव्यञ्जकं दृश्यत इत्युक्तं

रसपरिपोष—। उत्प्रेक्ष्यमाण कम्पकारी वर्षा समय क्या वर्तमान है? यह ध्वनित होता है। अंशांशिक प्रसंग से ही कहते हैं—जैसे यहाँ—।

यहाँ 'दिवस' का अर्थ इस अर्थ की अत्यन्त असम्भाव्यमानता ध्वनित करता है। सर्वनामों का—। अर्थात् प्रकृत्यंश का। उस प्रकृत्यंश के साथ मिलकर सर्वनाम व्यञ्जक

ध्वन्यालोकः

व्यञ्जकत्वं हृदि व्यवस्थाप्य कविना क्वेत्यादिशब्दप्रयोगो न कृतः। अनया दिशा सहृदयैरन्येऽपि व्यञ्जकविशेषाः स्वयमुत्प्रेक्षणीयाः। एतच्च सर्वं पदवाक्यरचनाद्योतनोक्त्यैव गतार्थमपि वैचित्र्येण व्युत्पत्तये पुनरुक्तम्।

इस ढङ्ग से सहृदयों को अन्य भी व्यञ्जक विशेषों की उत्प्रेक्षा स्वयं करनी चाहिए। यह सब पद, वाक्य और रचना के द्योतन के कथन से ही गतार्थ था तब भी वैचित्र्य से व्युत्पत्ति के लिए फिर से कहा है।

लोचनम्

भवतीति न पौनरुक्त्यम्। तथा हि तदिति पदं नतभित्तीत्येतत्प्रकृत्यंशसहायं समस्तामङ्गलनिधानभूतां मूषकाद्याकीर्णतां ध्वनति। तदिति हि केवलमुच्यमाने समुत्कर्षातिशयोऽपि संभाव्येत। न च नतभित्तिशब्देनाप्येते दौर्भाग्यायतनत्वसूचका विशेषा उक्ताः। एवं सा धेनुरित्यादावपि योज्यम्। एवंविधे च विषये स्मरणाकारद्योतकता तच्छब्दस्य। न तु यच्छब्दसंबद्धतेत्युक्तं प्राक्। अत एवात्र तदिदंशब्दादिना स्मृत्यनुभवयोरत्यन्तविरुद्धविषयतासूचनेनाश्चर्यविभावता योजिता। तदिदंशब्दाद्यभावे तु सर्वमसङ्गतं स्यादिति तदिदमंशयोरेव प्राणत्वं योज्यम्। एतच्च द्विशः सामस्त्यं त्रिशः सामस्त्यमिति व्यञ्जकमित्युपलक्षणपरम्। तेन लोष्टप्रस्तारन्यायेनानन्तवैचित्र्यमुक्तम्। यद्वद्त्यन्येऽपीति। अतिविक्षिप्ततया शिष्यबुद्धिसमाधानं न भवेदित्यभिप्रायेण संक्षिपति—*एतच्चेति*। वितत्याभिधानेऽपि प्रयोजनं स्मारयति—*वैचित्र्येणेति*।

देखा जाता है, अतः पौनरुक्त्य नहीं है। जैसा कि 'वह' यह पद 'झुकी भीतोंवाला' ('नतभित्ति') इस प्रकृत्यंश की सहायता से समस्त अमङ्गलों का निधानभूत मूषक आदि द्वारा आकीर्णता को ध्वनित करता है। केवल 'वह' ('तत्') कहते तो अतिशय समुत्कर्ष भी सम्भावित होने लगता। न कि (केवल) 'नतभित्ति' शब्द से भी दौर्भाग्य के आयतनत्व के सूचक ये विशेष कहे गए हैं। इस प्रकार 'वह गाय' इत्यादि में भी लगाना चाहिए। इस प्रकार के विषय में 'वह' ('तत्') शब्द स्मरण के आकार का द्योतन करता है, न कि 'जो' ('यत्') शब्द के साथ सम्बद्ध है यह पहले कह चुके हैं। अत एव यहाँ 'तत्' और 'इदं' ('वह' और 'यह') शब्द आदि से स्मृति और अनुभव की अत्यन्त विरुद्धविषयता के सूचन द्वारा आश्चर्य की विभावता योजित की है। 'तत्' और 'इदं' शब्द आदि के अभाव में सब असङ्गत हो जाता, इसलिए 'तत्' और 'इदं' (अर्थात् 'वह' और 'यह') इस अंशों को प्राण (चमत्कारकारी) समझना चाहिए। और यह दो का सामस्त्य और तीन का सामस्त्य व्यञ्जक है, यह उपलक्षण में तात्पर्य रखता है। इस लिए 'लोष्टप्रस्तारन्याय' से अनन्त वैचित्र्य कहा गया। अत्यन्त प्रसृत होने के कारण शिष्य की बुद्धि का समाधान नहीं होगा, इस अभिप्राय से संक्षेप करते हैं—यह सब—। विस्तार करके कथन में भी प्रयोजन की याद दिलाते हैं—वैचित्र्य—।

ध्वन्यालोकः

ननु चार्थसामर्थ्याक्षेप्या रसादय इत्युक्तम्, तथा च सुबादीनां व्यञ्जकत्ववैचित्र्यकथनमनन्वितमेव । उक्तमत्र पदानां व्यञ्जकत्वोक्त्यवसरे । किञ्चार्थविशेषाक्षेप्यत्वेऽपि रसादीनां तेषामर्थविशेषाणां व्यञ्जकशब्दाविनाभावित्वाद्यथाप्रदर्शितं व्यञ्जकस्वरूपपरिज्ञानं विभज्योपयुज्यत एव । शब्दविशेषाणां चान्यत्र च चारुत्वं यद्विभागेनोपदर्शितं तदपि तेषां व्यञ्जकत्वेनैवावस्थितमित्यवगन्तव्यम् ।

(शङ्का) अर्थ की सामर्थ्य से रसादि आक्षिप्त होते हैं यह कहा गया है, फिर सुप् आदि का व्यञ्जकत्व-वैचित्र्य कहना असम्बद्ध ही है ! (समाधान) पदों के व्यञ्जकत्व के अवसर में इस सम्बन्ध में कह चुके हैं । और भी, रसादि का अर्थविशेष द्वारा आक्षेप स्वीकार करने पर भी उनकी अर्थविशेषों के व्यञ्जक शब्दों के बिना प्रतीति न होने के कारण जैसा कि दिखाया गया है (उस प्रकार) व्यञ्जक के स्वरूप का परिज्ञान विभाग करके उपयोगी है ही । यह जानना चाहिए कि अन्यत्र शब्दविशेषों का जो चारुत्व अलग-अलग दिखाया गया है वह भी उनके व्यञ्जकत्व से ही व्यवस्थित है ।

लोचनम्

नन्विति । पूर्वं निर्णीतमप्येतदविस्मरणार्थमधिकाभिधानार्थं चाक्षिप्तम् । *उक्तमत्रेति* । न वाचकत्वं ध्वनिव्यवहारोपयोगि येनावाचकस्य व्यञ्जकत्वं न स्यात् इति प्रागेवोक्तम् । ननु न गीतादिवद्रसाभिव्यञ्जकत्वेऽपि शब्दस्य तत्र व्यापारोऽस्त्येव; स च व्यञ्जनात्मैवेति भावः । एतच्चास्माभिः प्रथमोद्द्योते निर्णीतचरम् । न चेदमस्माभिरपूर्वमुक्तमित्याह—*शब्दविशेषाणां चेति* । *अन्यत्रेति* । भामहविवरणे । *विभागेनेति* । स्रक्चन्दनादयः शब्दाः शृङ्गारे चारवो बीभत्से त्वचारव इति रसकृत एव विभागः । रसं प्रति च शब्दस्य व्यञ्जकत्वमेवेत्युक्तं प्राक् ।

(शङ्का)—। पहले निर्णीत होने पर भी भूल न जाय इसके लिए और अधिक बात कहने के लिए आक्षेप किया है । इस सम्बन्ध में कह चुके हैं—। यह पहले ही कह चुके हैं कि वाचकत्व ध्वनि के व्यवहार में उपयोगी नहीं है, जिससे अवाचक का व्यञ्जकत्व नहीं होता । भाव यह कि गीतादि की भाँति रसाभिव्यञ्जक होने पर भी शब्द का उसमें व्यापार नहीं है और बत (शब्द) व्यञ्जनरूप ही है । इसे हम प्रथम उद्योत में निर्णय कर चुके हैं । न कि यह बिलकुल अपूर्व बात कही है, यह कहते हैं—शब्दविशेषों का—। अन्यत्र—भामह के विवरण में । अलग-अलग— माला, चन्दन आदि शब्द शृङ्गार में सुन्दर और बीभत्स में असुन्दर हैं, इस प्रकार विभाग रसकृत ही है । यह पहले कह चुके हैं कि रस के प्रति शब्द का व्यञ्जकत्व ही है ।

ध्वन्यालोकः

यत्रापि तत्सम्प्रति न प्रतिभासते तत्रापि व्यञ्जके रचनान्तरे यद् दृष्टं सौष्ठवं तेषां प्रवाहपतितानां तदेवाभ्यासादपोद्धृतानामप्यवभासत इत्यवसातव्यम्। कोऽन्यथा तुल्ये वाचकत्वे शब्दानां चारुत्वविषयो विशेषः स्यात्।

जहां भी वह इस समय नहीं मालूम पड़ता वहां भी व्यञ्जक दूसरी रचना में जो सौष्ठव देखा गया है, प्रवाह में पड़े हुए उनका वही (चारुत्व) अभ्यासवश प्रतीत होता है, यह समझना चाहिए। अन्यथा समानवाचकत्व के होने पर शब्दों के चारुत्व का विशेष कौन होता ?

लोचनम्

यत्रापीति। स्रक्चन्दनादिशब्दानां तदानीं शृङ्गारादिव्यञ्जकत्वाभावेऽपि व्यञ्जकत्वशक्तेर्भूयसा दर्शनात्तदधिवाससुन्दरीभूतमर्थं प्रतिपादयितुं सामर्थ्यमस्ति। तथाहि—'तटी तारं ताम्यति' इत्यत्र तटशब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः 'स्त्रीति नामापि मधुरम्' इति कृत्वा। यथा वास्मदुपाध्यायस्य विद्वत्कविसहृदयचक्रवर्तिनो भट्टेन्दुराजस्य—

इन्दीवरद्युति यदा विभृयान्न लक्ष्म
स्युर्विस्मयैकसुहृदोऽस्य यदा विलासाः।
स्यान्नाम पुण्यपरिणामवशात्तथापि
किं किं कपोलतलकोमलकान्तिरिन्दुः॥

अत्र हीन्दीवरलक्ष्मविस्मयसुहृद्विलासनामपरिणामकोमलादयः शब्दाः शृङ्गाराभिव्यञ्जनदृष्टशक्तयोऽत्र परं सौन्दर्यमावहन्ति। अवश्यं चैतदभ्युपगन्त-

जहाँ भी—। माला, चन्दन आदि शब्दों का उस समय (अर्थात् शृङ्गार के अतिरिक्त स्थल में) शृङ्गारादि के व्यञ्जक न होने पर भी (उनकी) व्यञ्जकत्वशक्ति के बार-बार देखे जाने के कारण उनके रहने से सुन्दर हुए अर्थ को प्रतिपादन करने की सामर्थ्य है। जैसा कि 'तटी तारं ताम्यति' ('तटी जोर से क्लान्त हो रही है') यहाँ सहृदयों ने 'तट' शब्द के पुंस्त्व और नपुंसकत्व का अनादर करके स्त्रीत्व का ही आश्रयण किया है यह समझ कर 'स्त्री' यह नाम भी मधुर है। अथवा, जैसे विद्वानों, कवियों और सहृदयों के चक्रवर्ती हमारे उपाध्याय भट्ट इन्दुराज का—

पुण्यों के परिणामवश यदि चन्द्रमा नील चिह्न धारण नहीं करता, यदि इसके विलास विस्मय के एकमात्र सुहृद् होते, तथापि (सुन्दरी के) कपोलतल की भांति कोमल कान्तिवाला, क्या-क्या हो सकता था ?

यहाँ शृङ्गार के अभिव्यञ्जन में दृष्टशक्ति वाले नीलकमल (इन्दीवर), चिह्न, विस्मय, सुहृद्, विलास, (नाम), परिणाम, कोमल आदि शब्द अधिक सौन्दर्य धारण

ध्वन्यालोकः

अन्य एवासौ सहृदयसंवेद्य इति चेत्, किमिदं सहृदयत्वं नाम ? किं रसभावानपेक्षकाव्याश्रितसमयविशेषाभिज्ञत्वम्, उत रसभावादिमयकाव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम्। पूर्वस्मिन् पक्षे तथाविधसहृदयव्यवस्थापितानां शब्दविशेषाणां चारुत्वनियमो न स्यात्। पुनः समयान्तरेणान्यथापि व्यवस्थापनसम्भवात्। द्वितीयस्मिस्तु पक्षे रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यञ्जकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम्। वाचकत्वाश्रयाणान्तु प्रसाद एवार्थापेक्षायां तेषां विशेषः। अर्थानपेक्षायां त्वनुप्रासादिरेव ॥ १५-१६ ॥

अन्य ही वह कोई सहृदयसंवेद्य है यदि यह कहो (तो प्रश्न है कि) यह सहृदयत्व क्या है ? क्या रस, भाव की अपेक्षा न करके काव्य के आश्रित समय (संकेत) विशेष की जानकारी रखना (सहृदयत्व) है, अथवा रस, भाव आदि से युक्त काव्य के स्वरूप के परिज्ञान का नैपुण्य (सहृदयत्व) है ? पहले पक्ष में उस प्रकार के सहृदय द्वारा व्यवस्थापित शब्दविशेषों के चारुत्व का नियम नहीं होगा, क्योंकि पुनः दूसरे समय (संकेत) के अनुसार अन्यथा भी व्यवस्थापन सम्भव होगा। किन्तु दूसरे पक्ष में रसज्ञता ही सहृदयत्व है। उस प्रकार के सहृदयों द्वारा संवेद्य शब्दों का विशेष रसादि के समर्पण की नैसर्गिक सामर्थ्य ही है, इस प्रकार व्यञ्जकत्व के आश्रित रहने वाला ही उनका मुख्य चारुत्व है। परन्तु वाचकत्व के आश्रित (उन शब्दों का) विशेष अर्थ की अपेक्षा होने पर प्रसाद ही है। अर्थ की अपेक्षा न होने पर अनुप्रास आदि ही।

लोचनम्

व्यमित्याह—*कोऽन्यथेति*। असंवेद्यस्तावदसौ न युक्त इत्याशयेनाह—*सहृदयेति*। *पुनरिति*। अनियन्त्रितपुरुषेच्छायत्तो हि समयः कथं नियतः स्यात्। *मुख्यं चारुत्वमिति*। विशेष इति पूर्वेण सम्बन्धः। *अर्थापेक्षायामिति*। वाच्यापेक्षायामित्यर्थः। *अनुप्रासादिरेवेति*। शब्दान्तरेण सह या रचना

करते हैं। और इसे अवश्य स्वीकार करना चाहिए, यह कहते हैं—अन्यथा—। वह असंवेद्य होकर ठीक न होगा, इस आशय से कहते हैं—सहृदय—। पुनः—। क्योंकि पुरुष की अनियन्त्रित इच्छा के अधीन समय (सङ्केत) कैसे नियत होगा ? मुख्यचारुत्व—। 'विशेष' यह पूर्व से सम्बन्ध है। अर्थ की अपेक्षा होने पर—। अर्थात् वाच्य की अपेक्षा होने पर। अनुप्रास आदि ही—। अर्थात् दूसरे शब्द के साथ जो रचना है उसकी अपेक्षावाला वह विशेष। आदि ग्रहण से शब्दगुण और शब्दालङ्कारों का

ध्वन्यालोकः

एवं रसादीनां व्यञ्जकस्वरूपमभिधाय तेषामेव विरोधिरूपं लक्ष-यितुमिदमुपक्रम्यते—

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन्बन्द्धुमिच्छता ।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥ १७ ॥

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसभावनिबन्धनं प्रत्यादृतमनाः कविर्विरो-धिपरिहारे परं यत्नमादधीत । अन्यथा त्वस्य रसमयः श्लोक एकोऽपि सम्यङ्न सम्पद्यते ॥ १७ ॥

इस प्रकार रस आदि के व्यञ्जक के स्वरूप का अभिधान करके उन्हीं के (रसादि के) विरोधी रूप को लक्षित करने के लिए यह उपक्रम करते हैं—

प्रबन्ध में अथवा मुक्तक में भी रस आदि का निबन्धन करना चाहते हुए सुमति (कवि) को विरोधियों के परिहार में यत्न करना चाहिए ॥ १७ ॥

प्रबन्ध में अथवा मुक्तक में भी रसभाव के निबन्धन के प्रति आदरयुक्त मन वाला कवि विरोधियों के परिहार में अधिक यत्न करे । अन्यथा, इसका एक भी श्लोक सम्यक् रसमय सम्पन्न नहीं होगा ।

लोचनम्

तदपेक्षोऽसौ विशेष इत्यर्थः । आदिग्रहणाच्छब्दगुणालङ्काराणां सङ्ग्रहः । अत एव रचनया प्रसादेन चारुत्वेन चोपबृंहिता एव शब्दाः काव्ये योज्या इति तात्पर्यम् ॥ १५-१६ ॥

रसादीनां यद्व्यञ्जकं वर्णपदादिप्रबन्धान्तं तस्य स्वरूपमभिधायेति सम्बन्धः । *उपक्रम्यत इति* । विरोधिनामपि लक्षणकरणे प्रयोजनमुच्यते शक्य-हानत्वं नाम अनया कारिकया । लक्षणं तु विरोधिरससम्बन्धीत्यादिना भविष्यतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

ननु 'विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः' इति यदुक्तं तत एव व्यति-

सङ्ग्रह है । अतएव रचना से, प्रसाद से और चारुत्व से उपबृंहित ही शब्दों की काव्य में योजना करनी चाहिए, यह तात्पर्य है ॥ १५-१६ ॥

'वर्ण, पद से लेकर प्रबन्ध पर्यन्त जो रसादि का व्यञ्जक है उसके स्वरूप का अभिधान करके' यह सम्बन्ध है । उपक्रम करते हैं—। इस कारिका से विरोधियों के भी लक्षण करने में 'शक्यहानत्व' (अर्थात् उन विरोधियों के लक्षण ज्ञात होने पर उनका परिहार किया जा सकेगा, यही) प्रयोजन कहते हैं । किन्तु लक्षण तो 'विरोधिरस-सम्बन्धि०' इत्यादि होगा ॥ १७ ॥

(शङ्का) जो कि 'विभाव, भाव, अनुभाव, सञ्चारी के औचित्य से चारु' यह कह

ध्वन्यालोकः

कानि पुनस्तानि विरोधीनि यानि यत्नतः कवेः परिहर्तव्यानीत्युच्यते—

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥१८॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥ १९ ॥

फिर वे विरोधी कौन हैं जिन्हें यत्नपूर्वक कवि को परिहार करना चाहिए? इस पर कहते हैं—

विरोधी रस से सम्बन्ध रखने वाले विभाव आदि का परिग्रह (रस से) सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन, असमय में ही (रस का) विच्छेद और असमय में प्रकाशन, (रस के) परिपोष प्राप्त कर लेने पर भी बार बार (उसका ही) उद्दीपन और वृत्ति (व्यवहार) का अनौचित्य, (ये पांच) रस के विरोधी हैं ॥ १८–१९ ॥

लोचनम्

रेकमुखेनैतदप्यवगंस्यते। मैवम्; व्यतिरेकेण हि तदभावमात्रं प्रतीयते न तु तद्विरुद्धम्। तदभावमात्रं च न तथा दूषकं यथा तद्विरुद्धम्। पथ्यानुपयोगो हि न तथा व्याधिं जनयति यद्वदपथ्योपयोगः। तदाह—*यत्नत* इति। 'विभावे' त्यादिना श्लोकेन यदुक्तं तद्विरुद्धं *विरोधी*त्यादिनार्धश्लोकेनाह। 'इतिवृत्ते'त्यादिना श्लोकद्वयेन यदुक्तं तद्विरुद्धं *विस्तरेणे*त्यर्धश्लोकेनाह। 'उद्दीपने'त्यर्धश्लोकोक्तस्य विरुद्धम् *अकाण्ड* इत्यर्धश्लोकेन। 'रसस्ये' त्यर्धश्लोकोक्तस्य विरुद्धं *परिपोषं गतस्ये*त्यर्धश्लोकेन। 'अलङ्कृतीनामि' त्यनेन यदुक्तं तद्विरुद्धमन्य-

चुके हैं, उसीसे व्यतिरेक के प्रकार से यह भी मालूम हो जायगा। (समाधान) ऐसा नहीं; व्यतिरेक से उसका अभाव मात्र प्रतीत होता है, न कि उससे विरुद्ध। उसका अभाव मात्र उस प्रकार दूषक नहीं है जिस प्रकार उसका विरुद्ध। क्योंकि पथ्य का अनुपयोग उस प्रकार व्याधि उत्पन्न नहीं करता जिस प्रकार अपथ्य का उपयोग (व्याधि उत्पन्न करता है)। उसे कहते हैं—यत्नपूर्वक—। 'विभाव०' इत्यादि श्लोक से जो कहा है उसके विरुद्ध 'विरोधि०' इत्यादि आधे श्लोक से कहते हैं। 'इतिवृत्त०' इत्यादि दो श्लोकों से जो कहा है उसके विरुद्ध 'विस्तरेण०' इत्यादि श्लोकार्ध से कहते हैं। 'उद्दीपन०' इत्यादि आधे श्लोक में कहे हुए के विरुद्ध 'अकाण्ड०' इस आधे श्लोक से। 'रसस्य०' इस अर्धश्लोक के विरुद्ध 'परिपोषं गतस्य०' इस अर्ध श्लोक से। अलंङ्कृतीनां०' इससे जो कहा गया है उसके विरुद्ध और दूसरा भी

ध्वन्यालोकः

प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनां विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः सम्भवनीयः। तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव शृङ्गारादिविभाववर्णने। विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये। विरोधिरसानुभावपरिग्रहो यथा प्रणयकुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेशविवशस्य रौद्रानुभाववर्णने।

अयं चान्यो रसभङ्गहेतुर्यत्प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथ-

प्रस्तुत रस की अपेक्षा से विरोधी जो रस है उससे सम्बन्ध रखने वाले विभाव, भाव और अनुभाव का परिग्रह रस के विरोध का हेतु हो सकता है। उनमें विरोधी रस के विभाव का परिग्रह, जैसे शान्त रस के विभावों में उसके विभाव रूप से ही निरूपित होने के बाद ही शृङ्गार आदि के विभाव के वर्णन में। विरोधी रस के भाव का परिग्रह, जैसे प्रिय के प्रति कामिनियों के प्रणयकलह से कुपित होने पर वैराग्य की कथाओं द्वारा अनुनय करने पर। विरोधी रस के अनुभाव का परिग्रह, जैसे प्रणयकुपित होने पर प्रिया के प्रसन्न न होने की स्थिति में कोप के आवेश से विवश नायक के रौद्र के अनुभावों के वर्णन में।

और यह दूसरा रसभङ्ग का हेतु है कि प्रस्तुत रस की अपेक्षा किसी प्रकार सम्बद्ध

लोचनम्

दपि च विरुद्धं वृत्त्यनौचित्यमित्यनेन। एतत्क्रमेण व्याचष्टे—*प्रस्तुतरसापेक्षये*त्यादिना। हास्यशृङ्गारयोर्वीराद्भुतयो रौद्रकरुणयोर्भयानकबीभत्सयोर्न विभावविरोध इत्यभिप्रायेण शान्तशृङ्गारावुपन्यस्तौ, प्रशमरागयोर्विरोधात्। विरोधिनो रसस्य यो भावो व्यभिचारी तस्य परिग्रहः, विरोधिनस्तु यः स्थायी स्थायितया तत्परिग्रहोऽसम्भवनीय एव तदनुत्थानप्रसङ्गात्। व्यभिचारितया तु परिग्रहो भवत्येव। अत एव सामान्येन भावग्रहणम्। वैराग्यकथाभिरिति वैराग्यशब्देन निर्वेदः शान्तस्य यः स्थायी स उक्तः। यथा—'प्रसादे वर्तस्व

विरुद्ध 'वृत्त्यनौचित्य०' इससे (कहते हैं)। इस क्रम से व्याख्यान करते हैं। प्रस्तुत रस की अपेक्षा से० इत्यादि से। हास्य–शृङ्गार का, वीर–अद्भुत का, भयानक–बीभत्स का विभाव विरोध नही, इस अभिप्राय से शान्त–शृङ्गार का उपन्यास किया है, क्योंकि प्रशम और राग का विरोध है। विरोधी रस का जो भाव अर्थात् व्यभिचारी है उसका परिग्रह। परन्तु विरोधी का जो स्थायी है, स्थायी रूप से उसका परिग्रह असम्भव ही है, क्योंकि (स्थायी रूप से) उनके उत्थान का प्रसङ्ग नहीं है। परन्तु व्यभिचारी रूप से परिग्रह होगा ही। अतएव सामान्य रूप से 'भाव' का ग्रहण है। 'वैराग्य की कथाओं द्वारा' इसमें 'वैराग्य' शब्द से 'निर्वेद' शान्त रस का जो स्थायी है, वह कहा गया है। जैसे—'प्रसन्न हो जाओ, खुशी प्रकट करो, रोष छोड़ो' इत्यादि

ध्वन्यालोकः

श्चिदन्वितस्यापि विस्तरेण कथनम्। यथा विप्रलम्भश्रृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद्वर्णयितुमुपक्रान्ते कवेर्यमकाद्यलङ्कारनिबन्धनरसिकतया महता प्रबन्धेन पर्वतादिवर्णने। अयं चापरो रसभङ्गहेतुरवगन्तव्यो यदकाण्ड एव विच्छित्तिः रसस्याकाण्ड एव च प्रकाशनम्। तत्रानवसरे विरामो रसस्य यथा नायकस्य कस्यचित्स्पृहणीयसमागमया नायिकया कयाचित्परां परिपोषपदवीं प्राप्ते श्रृङ्गारे विदिते च परस्परानुरागे समागमोपायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने।

भी अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन करना। जैसे विप्रलम्भ श्रृङ्गार में किसी नायक के वर्णन का उपक्रम करने पर कवि की यमक आदि अलङ्कारों के निबन्धन में रसिकता के कारण बड़ा-चढ़ा कर पर्वत आदि के वर्णन में। और यह दूसरा रसभङ्ग का हेतु समझना चाहिए, जो असमय में ही रस का विच्छेद और असमय में ही प्रकाशन है। उनमें से असमय में रस का विराम, जैसे किसी नायक का स्पृहणीय समागम वाली किसी नायिका के साथ श्रृङ्गार के परम परिपोष की अवस्था तक पहुँचने पर और परस्परानुराग के विदित होने पर समागम के उपाय की चिन्ता के उचित व्यवहार को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से दूसरे व्यापार का वर्णन करने पर। और असमय में

लोचनम्

प्रकटय मुदं सन्त्यज रुषम्' इत्याद्युपक्रम्यार्थान्तरन्यासो 'न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः' इति। मनागपि निर्वेदानुप्रवेशे सति रतेर्विच्छेदः। ज्ञातविषयसतत्त्वो हि जीवितसर्वस्वाभिमानं कथं भजेत। न हि ज्ञातशुक्तिकारजततत्त्वस्तदुपादेयधियं भजते ऋते संवृतिमात्रात्। कथाभिरिति बहुवचनं शान्तरसस्य व्यभिचारिणो धृतिं मतिप्रभृतीन् सङ्गृह्णाति।

नन्वन्यदनुन्मत्तः कथं वर्णयेत्, किमुत विस्तरत इत्याह—*कथञ्चिदन्वितस्येति*। *व्यापारान्तरेति*। यथा वत्सराजचरिते चतुर्थेऽङ्के—रत्नावलीनामधेयमप्य-

उपक्रम करके अर्थान्तरन्यास है 'री मुग्धे (नासमझ), काल का हिरन जाकर लौटने का नहीं'। थोड़ा भी निर्वेद का अनुप्रवेश होने पर रति का विच्छेद हो जाता है। क्योंकि विषय का तत्त्व समझ चुकने वाला कैसे (किसी रमणी के प्रति) 'जीवितसर्वस्व' का अभिमान करेगा? क्योंकि शुक्तिकारजत (अर्थात् शुक्ति में भासमान रजत) को तत्त्वतः समझ चुकने वाला व्यक्ति (उसमें) उपादेय बुद्धि नहीं करता, भ्रम मात्र के बिना। 'कथाओं द्वारा' यह बहुवचन शान्तरस के धृति, मति प्रभृति व्यभिचारियों को सङ्गृहीत करता है।

अनुन्मत्त व्यक्ति कैसे अन्य का वर्णन करेगा, अथवा क्यों विस्तार से (करेगा)?, इस पर कहते हैं—किसी प्रकार सम्बद्ध भी—। दूसरे व्यापार—। जैसे 'वत्सराजचरित' में

ध्वन्यालोकः

अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यथा प्रवृत्ते प्रवृत्तविविधवीरसङ्क्षये कल्प-सङ्क्षयकल्पे सङ्ग्रामे रामदेवप्रायस्यापि तावन्नायकस्यानुपक्रान्तविप्रल-म्भशृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव शृङ्गारकथायामवतारवर्णने। न चैवंविधे विषये दैवव्यामोहितत्वं कथापुरुषस्य परिहारो यतो रसबन्ध एव कवेः प्राधान्येन प्रवृत्तिनिबन्धनं युक्तम्। इतिवृत्तवर्णनं तदुपाय एवेत्युक्तं प्राक् 'आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः' इत्यादिना।

अत एव चेतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावरहितरसभावनिब-न्धेन च कवीनामेवंविधानि स्खलितानि भवन्तीति रसादिरूपव्यङ्ग्य-

रस का प्रकाशन, जैसे—प्रलयकाल के सदृश हो रहे विविध वीरों के नाश वाले संग्राम में विप्रलम्भ श्रृङ्गार के उपक्रम के बिना और बिना उचित कारण के राम जैसे देवता का भी श्रृङ्गारकथा में पड़ जाने का वर्णन करने में। इस प्रकार के विषय में कथा के नायक का दैववश व्यामोहित हो जाना (उसके दोष का) परिहार नहीं है, क्योंकि प्राधान्यतः कवि की प्रवृत्ति का निबन्धन रसबन्ध में ही होना चाहिए। इतिवृत्त का वर्णन उसका उपाय ही है यह पहले कह चुके हैं 'आलोक चाहने वाला व्यक्ति जैसे दीपशिखा में यत्नवान होता है, इत्यादि द्वारा

और इसी लिए इतिवृत्त मात्र के वर्णन का प्राधान्य होने पर अङ्गाङ्गिभाव से रहित रसभाव के निबन्धन से कवियों के इस प्रकार के स्खलन होते हैं, इस प्रकार

लोचनम्

गृह्णतो विजयवर्मवृत्तान्तवर्णने। अपि-तावदितिशब्दाभ्यां दुर्योधनादेस्तद्वर्णनं दूरापास्तमिति वेणीसंहारे द्वितीयाङ्कमेवोदाहरणत्वेन ध्वनति। अत एव वक्ष्य-ति-दैवव्यामोहितत्वमि' ति। पूर्वं तु सन्ध्यङ्गाभिप्रायेण प्रत्युदाहरणमुक्तम्। कथापुरुषस्येति प्रतिनायकस्येति यावत्।

अत एव चेति। यतो रसबन्ध एव मुख्यः कविव्यापारविषयः इतिवृत्तमात्र-वर्णनप्राधान्ये सति यदङ्गाङ्गिभावरहितानामविचारितगुणप्रधानभावानां रसभा-

चतुर्थ अङ्क में—रत्नावली का नाम भी न लेते हुए का विजयवर्मा के वृत्तान्त के वर्णन में। (मूलग्रन्थ में 'अपि तावत्' इन) शब्दों से दुर्योधनादि का वह वर्णन छोड़ा जा चुका है, इसलिए वेणीसंहार में दूसरे अङ्क को ही उदाहरण रूप में ध्वनित करता है। अतएव कहेंगे—'दैववश व्यामोहित हो जाना'। किन्तु पहले सन्धि के अङ्ग के अभिप्राय से प्रत्युदाहरण कहा गया है। कथा के नायक का अर्थात् प्रतिनायक का।

और इसी लिए—। अर्थात् क्योंकि रसबन्ध ही मुख्य कवि-व्यापार का विषय है, इतिवृत्त मात्र के वर्णन का प्राधान्य होने पर अङ्गाङ्गिभाव से रहित एवं अविचारित

ध्वन्यालोकः

तात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनिप्रतिपादन-मात्राभिनिवेशेन। पुनश्चायमन्यो रसभङ्गहेतुरवधारणीयो यत्परिपोषं गतस्यापि रसस्य पौनःपुन्येन दीपनम्। उपभुक्तो हि रसः स्वसामग्री-लब्धपरिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमानः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते। तथा वृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुरेव। यथा नायकं प्रति नायिकायाः कस्याश्चिदुचितां भङ्गिमन्तरेण स्वयं सम्भोगाभिला-षकथने। यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्या-

रसादि रूप व्यङ्ग्य का तात्पर्य ही इनका ठीक है, यह यत्न हमने आरम्भ किया है न कि ध्वनि के प्रतिपादन मात्र के अभिनिवेश से। और यह फिर अन्य रसभङ्ग का हेतु अवधारण करना चाहिए जो परिपोष को प्राप्त भी रसका बार-बार उद्दीपन है। क्योंकि अपनी सामग्री से परिपोष-प्राप्त और उपयुक्त रस बार-बार परामर्श किए जाने पर परिम्लान पुरुष की भांति हो जाता है। तथा वृत्ति अर्थात् व्यवहार का जो अनौ-चित्य है वह भी रसभङ्ग का हेतु ही है। जैसे नायक के प्रति किसी नायिका के द्वारा उचित भङ्गी के बिना स्वयं सम्भोग की अभिलाषा कहने में। अथवा भरत की प्रसिद्ध कैशिकी आदि वृत्तियों का अथवा 'काव्यालङ्कार' में प्रसिद्ध उपनागरिका आदि वृत्तियों का

लोचनम्

यानां निबन्धनं तन्निमित्तानि स्खलितानि सर्वे दोषा इत्यर्थः। न ध्वनिप्रतिपा-दनमात्रेति। व्यङ्ग्योऽर्थो भवतु मा वा भूत् कस्तत्राभिनिवेशः? काकदन्तपरी-क्षाप्रायमेव तत्स्यादिति भावः। वृत्त्यनौचित्यमेव चेति बहुधा व्याचष्टे, तदपी-त्यनेन चशब्दं कारिकागतं व्याचष्टे। रसभङ्गहेतुरेव इत्यनेनैवकारस्य कारिका-गतस्य भिन्नक्रमत्वमुक्तम्। रसस्य विरोधायैवेत्यर्थः। नायकं प्रतीति। नायक-स्य हि धीरोदात्तादिभेदभिन्नस्य सर्वथा वीररसानुवेधेन भवितव्यमिति तं

गुणप्रधान-भाव वाले रस-भावों का जो निबन्धन है उसके कारण स्खलित अर्थात् सारे दोष होते हैं। न कि ध्वनि के प्रतिपादन मात्र—। व्यङ्ग्य अर्थ हो अथवा मत हो, उसमें कौन अभिनिवेश है? भाव यह कि वह कौवे के दाँत की परीक्षा के समान ही होगा। वृत्त्यनौचित्य को भी बहुधा व्याख्यान करते हैं। 'वह भी' इससे कारिका में प्रयुक्त 'और' ('च') शब्द का व्याख्यान करते हैं। 'रसभङ्ग का हेतु ही है' इससे कारिका में प्रयुक्त 'ही' (अर्थात् एवकार) का भिन्नक्रमत्व कहा है। अर्थात् रसके विरोध के लिए ही। नायक के प्रति—। धीरोदात्त आदि भेद से भिन्न नायक के सर्वथा वीररस का अनुवेध (संसर्ग) होना चाहिए, इसलिए उसके प्रति कातर पुरुषोचित अधैर्य का योजन दोषयुक्त ही है। उनका अर्थात् रसादि का। उन्हें अर्थात् सुकवियों को।

ध्वन्यालोकः

लङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रसभङ्गहेतुः। एवमेषां रसविरोधिनामन्येषां चानया दिशा स्वयमुत्प्रेक्षितानां परिहारे सत्कविभिरवहितैर्भवितव्यम्। परिकरश्लोकाश्चात्र—

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः।
तेषां निबन्धने भाव्ये तैः सदैवाप्रमादिभिः॥
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः॥
पूर्वे विशृङ्खलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः।
तान्समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा॥

जो अनौचित्य अर्थात् अविषय में निबन्धन है वह भी रसभङ्ग का हेतु है। इस प्रकार इनका और इस ढंग से स्वयं उत्प्रेक्षित रसविरोधियों के परिहार में सत्कवियों को अवहित होना चाहिए। यहाँ परिकरश्लोक भी हैं—

सुकवियों के व्यापार के मुख्य विषय रसादि हैं, (इसलिए) उन्हें उनके निबन्धन में सदैव अप्रमादी होना चाहिए।

जो प्रबन्ध नीरस है वह कवि का महान् अपशब्द है। उस कारण वह अकवि ही रहे कि दूसरा उसे याद न करे।

प्राचीन कवि स्वतन्त्र वाणी वाले और कीर्ति को प्राप्त हो चुके हैं, उनको आश्रयण करके मनीषी को यह नीति नहीं छोड़ देनी चाहिए।

लोचनम्

प्रति कातरपुरुषोचितमधैर्ययोजनं दुष्टमेव। *तेषामिति* रसादीनाम्। *तैरिति* सुकविभिः। सोऽपशब्द इति दुर्यश इत्यर्थः। ननु कालिदासः परिपोषं गतस्यापि करुणस्य रतिविलापेषु पौनःपुन्येन दीपनमकार्षीत्, तत्कोऽयं रसविरोधिनां परिहारनिर्बन्ध इत्याशङ्क्याह—*पूर्वे इति*। न हि वसिष्ठादिभिः कथञ्चिद्यदि स्मृतिमार्गस्त्यक्तस्तद्वयमपि तथा त्यजामः। अचिन्त्यहेतुकत्वादुपरिचरितानामिति भावः। इति शब्देन परिकरश्लोकसमाप्तिं सूचयति॥ १९॥

वह अपशब्द अर्थात् दुर्यश है। कालिदास ने परिपोष को प्राप्त भी करुण का रति के विलापों में बार-बार उद्दीपन किया है, तो रस के विरोधियों का यह कौन सा परिहार का निर्बन्ध (आग्रह) है? यह आशङ्का करके कहते हैं—प्राचीन—। यदि किसी प्रकार वसिष्ठ आदि ने स्मृतिमार्ग को छोड़ दिया तो हम उस प्रकार नहीं छोड़ दें। ऊपर उठे महान् लोगों के सम्बन्ध में कारण नहीं सोचा जाता। 'इति' शब्द से परिकर श्लोक की समाप्ति सूचित करते हैं॥ १९॥

ध्वन्यालोकः

वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः ॥ इति ॥ १९ ॥
विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥ २० ॥

स्वसामग्र्या लब्धपरिपोषे तु विवक्षिते रसे विरोधिनां विरोधिरसाङ्गानां बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां सतामुक्तिरदोषा। बाध्यत्वं हि विरोधिनां शक्याभिभवत्वे सति नान्यथा। तथा च तेषामुक्तिः प्रस्तुतरसपरिपोषायैव सम्पद्यते। अङ्गभावं प्राप्तानां च तेषां विरोधित्वमेव निवर्तते। अङ्गभावप्राप्तिर्हि तेषां स्वाभाविकी समारोपकृता वा। तत्र येषां नैसर्गिकी तेषां तावदुक्तावविरोध एव। यथा विप्रलम्भशृङ्गारे तद-

और वाल्मीकि, व्यास प्रमुख जो प्रख्यात कवीश्वर हैं, उनके अभिप्राय से बाह्य नय (मार्ग) हमने नहीं दिखाया है। इति ॥ १९ ॥

विवक्षित रस के लब्धप्रतिष्ठ हो जाने पर बाध्य अथवा अङ्गभाव को प्राप्त विरोधियों का कथन छलरहित है ॥ २० ॥

अपनी सामग्री से विवक्षित रस के परिपोष प्राप्त होने पर बाध्य अथवा अङ्गभाव को प्राप्त विरोधियों अर्थात् विरोधी रसाङ्गों का कथन दोषरहित है। विरोधियों का बाध्यत्व (उनका) अभिभव सम्भव होने पर हो सकता है अन्यथा नहीं। इसलिए उनका कथन प्रस्तुत रस के परिपोष के लिए ही सम्पन्न होगा। और उनके अङ्गभाव प्राप्त होने पर (उनका) विरोधित्व ही निवृत्त हो जाता है। उनके अङ्गभाव की प्राप्ति स्वाभाविक अथवा समारोपकृत होती है। उनमें से जिनकी (प्राप्ति) नैसर्गिक है उनके कथन में तो कोई विरोध ही नहीं। जैसे विप्रलम्भ शृङ्गार में उसके अङ्गभूत

लोचनम्

एवं विरोधिनां परिहारे सामान्येनोक्ते प्रतिप्रसवं नियतविषयमाह—*विवक्षित इति*। *बाध्यानामिति*। बाध्यत्वाभिप्रायेणाङ्गत्वाभिप्रायेण वेत्यर्थः। *अच्छला* निर्दोषेत्यर्थः। बाध्यत्वाभिप्रायं व्याचष्टे-*बाध्यत्वं हीति*। अङ्गभावाभि-

इस प्रकार विरोधियों के परिहार के सामान्यतः कहे जाने पर नियतविषयक प्रतिप्रसव को कहते हैं—विवक्षित—। बाध्य—। अर्थात् बाध्यत्व के अभिप्राय से अथवा अङ्गत्व के अभिप्राय से। छलरहित अर्थात् निर्दोष। बाध्यत्व के अभिप्राय की व्याख्या करते हैं—बाध्यत्व—। अङ्गभाव के अभिप्राय की उभय प्रकार से व्याख्या करते हैं, उनमें से प्रथम स्वाभाविक प्रकार का निरूपण करते हैं—

ध्वन्यालोकः

ङ्गानां व्याध्यादीनां तेषाञ्च तदङ्गानामेवादोषो नातदङ्गानाम्। तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न ज्यायान्। आश्रयविच्छेदे रसस्यात्यन्तविच्छेदप्राप्तेः। करुणस्य तु तथाविधे विषये परिपोषो भविष्यतीति चेत् न; तस्याप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतस्य च विच्छेदात्। यत्र तु करुणरसस्यैव काव्यार्थत्वं तत्राविरोधः। शृङ्गारे वा मरणस्यादीर्घकाल-

व्याधि आदि का, और उनके अङ्गों का ही दोष नहीं है, न कि जो उनके अङ्ग नहीं हैं उनका। और उनका अङ्ग सम्भव होने पर भी मरण का उपन्यास ठीक नहीं है, क्योंकि आश्रय के विच्छेद हो जाने पर रस का अत्यन्त विच्छेद प्राप्त हो जाता है। उस प्रकार के विषय में करुण का परिपोष तो होगा? ऐसा नहीं; क्योंकि वह (करुण रस) प्रस्तुत नहीं है और (जो) प्रस्तुत है (उसका) विच्छेद हो जाता है। परन्तु जहां करुणरस का ही काव्यार्थत्व है वहां विरोध नहीं। अथवा शृङ्गार में शीघ्र मिलन

लोचनम्

प्रायमुभयथा व्याचष्टे, तत्र प्रथमं स्वाभाविकप्रकारं निरूपयति—*तदङ्गानामिति*। निरपेक्षभावतया सापेक्षभावविप्रलम्भशृङ्गारविरोधिन्यपि करुणे ये व्याध्यादयस्सर्वथाङ्गत्वेन दृष्टाः तेषामिति। ते हि करुणे भवन्त्येव त एव च भवन्तीति। शृङ्गारे तु भवन्त्येव नापि त एवेति। *अतदङ्गानामिति*। यथालस्यौग्रजुगुप्सानामित्यर्थः। *तदङ्गत्वे चेति*। 'सर्व एव शृङ्गारे व्यभिचारिण इत्युक्तत्वादि' ति भावः। आश्रयस्य स्त्रीपुरुषान्यतरस्याधिष्ठानस्यापाये रतिरेवोच्छिद्येत तस्या जीवितसर्वस्वाभिमानरूपत्वेनोभयाधिष्ठानत्वात्। *प्रस्तुतस्येति*। विप्रलम्भस्येत्यर्थः। *काव्यार्थत्वमिति*। प्रस्तुतत्वमित्यर्थः। नन्वेवं सर्व एव व्यभिचारिण इति विघटितमित्याशङ्क्याह—*शृङ्गारे वेति*। अदीर्घकाले यत्र मरणे

उनके अङ्गों का—। निरक्षेप भाव वाला होने के कारण सापेक्ष भाव वाले विप्रलम्भ शृङ्गार के विरोधी भी करुण में जो व्याधि आदि सर्वथा अङ्ग के रूप में देखे गए हैं उनका। वे करुण में होते हैं ही और वे ही करुण में होते हैं। शृङ्गार में होते हैं ही, किन्तु वेही नहीं होते। जो उनके अङ्ग नहीं हैं—। अर्थात् जैसे आलस्य, औग्र्य, जुगुप्सा। और उनका अङ्ग होने पर—। भाव यह कि क्योंकि 'शृङ्गार में सभी व्यभिचारी हैं यह कहा गया है'। स्त्री-पुरुष के अन्यतर अधिष्ठान रूप आश्रय के नाश होने पर रति ही उच्छिन्न हो जायगी, क्योंकि जीवितसर्वस्वाभिमान रूप होने के कारण वह उभयाधिष्ठान है। प्रस्तुत का—। अर्थात् विप्रलम्भ का। काव्यार्थत्वे—। अर्थात् प्रस्तुतत्व। तब तो इस प्रकार सभी व्यभिचारी हो जायंगे, इसलिए विघटन होगा, यह आशङ्का करके कहते हैं—अथवा शृङ्गार में—। अदीर्घकाल में जिस मरण में प्रतीति की

ध्वन्यालोकः

प्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिबन्धो नात्यन्तविरोधी। दीर्घकाल-प्रत्यापत्तौ तु तस्यान्तरा प्रवाहविच्छेद एवेत्येवंविधेतिवृत्तोपनिबन्धनं रसबन्धप्रधानेन कविना परिहर्तव्यम्।

सम्भव होने पर मरण का कदाचित् उपनिबन्ध अत्यन्त विरोधी नहीं। किन्तु दीर्घ काल पर मिलन होने पर उस (रस) का बीच में प्रवाह-विच्छेद ही हो जायगा, अतः इस प्रकार के इतिवृत्त का उपनिबन्धन रसबन्धप्रधान कवि को छोड़ देना चाहिए।

लोचनम्

विश्रान्तिपदबन्ध एव नोत्पद्यते तत्रास्य व्यभिचारित्वम्। *कदाचिदिति*। यदि तादृशीं भङ्गिं घटयितुं सुकवेः कौशलं भवति। यथा—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहन्यासादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिकचतुरया सङ्गतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥

अत्र स्फुटैव रत्यङ्गता मरणस्य। अत एव सुकविना मरणे पदबन्धमात्रं न कृतम्, अनूद्यमानत्वेनैवोपनिबन्धनात्। पदबन्धनिवेशे तु सर्वथा शोकोदय एवातिपरिमितकालप्रत्यापत्तिलाभेऽपि।

अथ दूरपरामर्शकसहृदयसामाजिकाभिप्रायेण मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्ते-रङ्गतोच्यते, हन्त तापसवत्सराजेऽपि यौगन्धरायणादिनीतिमार्गाकर्णनसंस्कृत-मतीनां वासवदत्तामरणबुद्धेरेवाभावात्करुणस्य नामापि न स्यादित्यलमवान्त-

विश्रान्ति की प्रतिष्ठा ही नहीं उपपन्न होती वहाँ वह (मरण) व्यभिचारी होगा। कदाचित्—। यदि उस प्रकार की भङ्गी की घटना के लिए सुकवि का कौशल होता है। जैसे—

'गङ्गा और सरयू के जल-सङ्गम से बने तीर्थ में शरीरत्याग करके सद्यः देवताओं में गणना प्राप्त कर, पूर्व आकृति से अधिक चतुर (अर्थात् सुभग) प्रियतमा के साथ वह (अज) नन्दनवन के भीतरी लीलागारों में रमण करने लगा।' (रघु० ८।९५)।

यहाँ स्पष्ट ही मरण रति का अङ्ग है। अतएव सुकवि ने मरण में (प्रतीति की विश्रान्ति का) पदबन्ध मात्र नहीं किया है, क्योंकि अनूद्यमान रूप से ही (उसका) उपनिबन्धन है। पदबन्ध के निवेश में तो अतिपरिमित काल में प्रत्यापत्ति (अर्थात् समागम) लाभ होने पर भी सर्वथा शोक का उदय ही होता।

यदि अदीर्घकाल में समागम हो जाने के कारण मरण को अङ्ग दूर परामर्शक सामाजिक के अभिप्राय से कहते हैं, खेद है, (तब तो) 'तापसवत्सराज' में भी यौगन्धरायण आदि के नीतिमार्ग के आकर्णन से संस्कृत बुद्धिवालों के वासवदत्ता के मरण बुद्धि के ही न होने के कारण करुण का नाम भी नहीं होगा। यह बहुत अवान्तर

ध्वन्यालोकः

तत्र लब्धप्रतिष्ठे तु विवक्षिते रसे विरोधिरसाङ्गानां बाध्यत्वेनोक्तावदोषो यथा—

काकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ॥

यथा वा पुण्डरीकस्य महाश्वेतां प्रति प्रवृत्तनिर्भरानुरागस्य द्वितीयमुनिकुमारोपदेशवर्णने। स्वाभाविक्यामङ्गभावप्राप्तावदोषो यथा—

उनमें से विवक्षित रस के लब्धप्रतिष्ठ होने पर बाध्यरूप से विरोधी रसाङ्गों के कथन में दोष का अभाव, जैसे—

यह अकार्य (अनुचित कार्य) कहां और चन्द्रवंश कहां ? फिर वह नजर आ जाती ! मैंने (शास्त्रों का) श्रवण दोषों (काम आदि विकारों) के शमन के लिए किया हैं, अहो; क्रोध में भी (उसका) मुख सुन्दर लगता था ! पापरहित विद्वान् क्या कहेंगे ? वह स्वप्न में भी दुर्लभ हो गई। अरे चित्त स्वस्थ हो जा, कौन धन्य युवक (उसका) अधरपान करेगा ?

अथवा जैसे महाश्वेता के प्रति पुण्डरीक के अधिक अनुरक्त हो जाने पर दूसरे मुनिकुमार (कपिञ्जल) के उपदेश के वर्णन में। स्वाभाविक अङ्गभाव-प्राप्ति में दोष का अभाव, जैसे—

लोचनम्

रेण बहुना। तस्माद् दीर्घकालतात्र पदबन्धलाभ एवेति मन्तव्यम्। एवं नैसर्गिकाङ्गता व्याख्याता। समारोपितत्वे तद्विपरीतेत्यर्थलब्धत्वात्स्वकण्ठेन न व्याख्याता।

एवं प्रकारत्रयं व्याख्याय क्रमेणोदाहरति—*तत्रेत्यादिना*। *काकार्यमिति*। वितर्क औत्सुक्येन मतिः स्मृत्या शङ्का दैन्येन धृतिश्चिन्तया च बाध्यते। एतच्च द्वितीयोद्द्योतारम्भ एवोक्तमस्माभिः। *द्वितीयेति*। विपक्षीभूतवैराग्यविभा-

चर्चा व्यर्थ है। इसलिए यहाँ दीर्घकालता पदबन्ध के लाभ में ही (अर्थात् सहृदयों की प्रतीतिविश्रान्ति के पदबन्ध में ही) है यह मानना चाहिए। इस प्रकार नैसर्गिक अङ्गता का व्याख्यान किया। समारोपित अवस्था में उसके (नैसर्गिक) के विपरीत, यह अर्थ लब्ध हो जाने से स्वकण्ठतः व्याख्यान नहीं किया है।

इस प्रकार प्रकारत्रय का व्याख्यान करके क्रम से उदाहरण देते हैं—उनमें से इत्यादि द्वारा। यह अकार्य कहाँ—। (यहाँ) वितर्क औत्सुक्य से, मति स्मृति से, शङ्का दैन्य से और धृति चिन्ता से बाधित होती है। इसे द्वितीय उद्योत के आरम्भ में

ध्वन्यालोकः

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥

इत्यादौ। समारोपितायामप्यविरोधो यथा—'पाण्डुक्षामम्' इत्यादौ।

यथा वा—'कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन' इत्यादौ । इयं चाङ्गभावप्राप्तिरन्या यदाधिकारिकत्वात्प्रधान एकस्मिन्वाक्यार्थे रसयोर्भावयोर्वा परस्परविरोधिनोर्द्वयोरङ्गभावगमनं तस्यामपि न दोषः ।

मेघरूपी भुजंग से उत्पन्न विष वियोगिनियों के चक्कर, अरति, आलस्य, प्रलय (चेष्टानाश), मूर्च्छा, मोह, शरीर में दर्द और मरण हठात् उत्पन्न कर देता है ।

इत्यादि में । समारोपित (अङ्गभाव-प्राप्ति) में भी विरोध का अभाव, जैसे—'पाण्डुक्षामं०' इत्यादि में ।

अथवा जैसे—'कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन' इत्यादि में । और यह अन्य अङ्गभाव की प्राप्ति है कि आधिकारिक होने के कारण प्रधानभूत एक वाक्यार्थ में परस्पर विरोधी दो रसों अथवा भावों का अङ्गभाव प्राप्त होना, उसमें भी दोष नहीं।

लोचनम्

वाद्यवधारणेऽपि ह्यशक्यविच्छेदत्वेन दार्ढ्यमेवानुरागस्योक्तं भवतीति भावः । *समारोपितायामिति* । अङ्गभावप्राप्ताविति शेषः ।

पाण्डुक्षामं वक्त्रं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः ॥

अत्र करुणोचितो व्याधिः श्लेषभङ्ग्या स्थापितः। कोपादिति बद्ध्वेति हन्यत इति च रौद्रानुभावानां रूपकबलादारोपितानां तदनिर्वाहादेवाङ्गत्वम् । तच्च पूर्वमेवोक्तं 'नातिनिर्वहणैषिता' इत्यत्रान्तरे। *अन्येति*। चतुर्थोऽयं प्रकार इत्यर्थः।

ही हमने कह दिया है । दूसरे—। भाव यह कि विपक्षीभूत वैराग्य के विभाव आदि का अवधारण होने पर भी विच्छेद के अशक्य होने के कारण अनुराग का दार्ढ्य ही उक्त होता है । समारोपित—। 'अङ्गप्राप्ति में' यह शेष है ।

हे सखी,, तेरा पीला और झुलसा हुआ मुख, सरस हृदय, आलस्य भरा शरीर हृदय के भीतर नितान्त क्षेत्रिय रोग (अर्थात् इस शरीर से भी साध्य न होनेवाले रोग) को सूचित करते हैं ।

यहाँ करुण के उचित व्याधि श्लेष की भङ्गी से स्थापित है । 'कोप से', 'बाँध कर', और 'पीटा जाता है' रूपक के बल से आरोपित इन रौद्र के अनुभावों का उसके (रूपक के) निर्वाह न होने से ही अङ्गत्व है । और उसे पहले ही कह चुके हैं 'अत्यन्त निर्वाह करने की इच्छा नहीं' इसके बीच । अन्य—। अर्थात् यह चौथा प्रकार है ।

ध्वन्यालोकः

यथोक्तं 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादौ। कथं तत्राविरोध इति चेत्, द्वयोरपि तयोरन्यपरत्वेन व्यवस्थानात्। अन्यपरत्वेऽपि विरोधिनोः कथं विरोधनिवृत्तिरिति चेत्, उच्यते—विधौ विरुद्धसमावेशस्य दुष्टत्वं नानुवादे।

जैसे कहा है—'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि में। वहां विरोध कैसे नहीं है यदि कहें ता (समाधान है कि) वे दानों अन्यपर रूप से (अर्थात् अङ्गरूप से) व्यवस्थित होते हैं। यदि कहो कि अन्यपर होने पर भी दो विरोधियों के विरोध की निवृत्ति कैसे होगी, तो कहते हैं—विधि में (दो) विरोधियों के समावेश का दोष है, अनुवाद में नहीं।

लोचनम्

पूर्वं हि विरोधिनः प्रस्तुतरसान्तरेऽङ्गतोक्ता, अधुना तु द्वयोर्विरोधिनोर्वस्त्वन्तरेऽङ्गभाव इति शेषः। *क्षिप्त इति*। व्याख्यातमेतत् 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे' इत्यत्र। नन्वन्यपरत्वेऽपि स्वभावो न निवर्तते, स्वभावकृत एव च विरोध इत्यभिप्रायेणाह—*अन्यपरत्वेऽपीति*। *विरोधिनोरिति*। तत्स्वभावयोरिति हेतुत्वाभिप्रायेण विशेषणम्। *उच्यत इति*। अयं भावः—सामग्रीविशेषपतितत्वेन भावानां विरोधाविरोधौ न स्वभावमात्रनिबन्धनौ शीतोष्णयोरपि विरोधाभावात्। *विधाविति*। तदेव कुरु मा कार्षीरिति यथा। विधिशब्देनात्रैकदा प्राधान्यमुच्यते। अत एवातिरात्रे षोडशिनं गृह्णन्ति न गृह्णन्तीति विरुद्धविधिर्विकल्पपर्यवसायीति वाक्यविदः। *अनुवाद इति*। अन्याङ्गतायामित्यर्थः। क्रीडाङ्गत्वेन ह्यत्र

शेष यह कि विरोधी (रसाङ्ग) की प्रस्तुत रसान्तर में अङ्गता कही, अब दो विरोधी (रसाङ्गों) की (प्रस्तुत) वस्त्वन्तर में अङ्गभाव (कहते हैं)। 'क्षिप्तः'—। यह 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे' इस (कारिका) में व्याख्यात है। अन्यपर (अर्थात् अङ्ग रूप) होने पर भी स्वभाव निवृत्त नहीं होता, और विरोध स्वभावकृत ही होता है, इस अभिप्राय से कहते हैं—अन्यपर होने पर भी—। दो विरोधियों का—। उस (अर्थात् विरोध) के स्वभाव वाले' यह हेतुत्व के अभिप्राय से विशेषण है। कहते हैं—। भाव यह है—सामग्री-विशेष में अनुप्रवेश के कारण भावों के विरोध-अविरोध होते हैं, न कि स्वभावमात्र के कारण, क्योंकि (सामग्रीविशेष के अनुप्रवेश के कारण) शीत और उष्ण में भी विरोध नहीं होता। विधि में—। जैसे 'वही करो, मत करो'। 'विधि' शब्द से यहाँ एक समय प्राधान्य कहते कहा गया है। अतएव 'अतिरात्र में षोडशी (पात्र) को ग्रहण करते हैं, नहीं ग्रहण करते हैं' यह विरुद्ध विधि विकल्प में पर्यवसन्न होती है यह मीमांसकों (वाक्यविदों) का कथन है। अनुवाद में—। अर्थात् अन्य की अङ्गता में। यहाँ क्रीड़ा (खिलवाड़) का अङ्ग रूप से अभिधान है, इस कारण 'राजा के

ध्वन्यालोकः

यथा—

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः॥

इत्यादौ। अत्र हि विधिप्रतिषेधयोरनूद्यमानत्वेन समावेशे न विरोधस्तथेहापि भविष्यति। श्लोके ह्यस्मिन्नीर्ष्याविप्रलम्भशृङ्गारकरुण-वस्तुनोर्न विधीयमानत्वम्। त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वा-त्तदङ्गत्वेन च तयोर्व्यवस्थानात्।

न च रसेषु विध्यनुवादव्यवहारो नास्तीति शक्यं वक्तुम्, तेषां

जैसे—आओ, जाओ, बैठो, उठो, बोलो, चुप हो जाओ, इस प्रकार धनी लोग आशा के ग्रह से ग्रस्त याचकों के साथ खिलवाड़ करते हैं।

इत्यादि में। यहां विधि और प्रतिषेध के अनूद्यमान रूप में समावेश करने पर विरोध (दोष) नहीं है, उस प्रकार यहां ('क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि में) भी होगा। इस श्लोक में ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण विधीयमान नहीं हैं, क्योंकि त्रिपुरारि (शिव जी) का प्रभावातिशय वाक्यार्थ है और उसके अङ्ग के रूप से वे दोनों व्यवस्थित हैं।

नहीं कह सकते यह कि रसों में विधि-अनुवाद का व्यवहार नहीं है, क्योंकि

लोचनम्

विरुद्धानामर्थानामभिधानमिति राजनिकटव्यवस्थिताततायिद्वयन्यायेन विरुद्धा-नामप्यन्यमुखप्रेक्षितापरतन्त्रीकृतानां श्रौतेन क्रमेण स्वात्मपरामर्शेऽप्यविश्राम्य-ताम्, का कथा परस्पररूपचिन्तायां येन विरोधः स्यात्। केवलं विरुद्धत्वा-दरुणाधिकरणस्थित्या यो वाक्यीय एषां पाश्चात्त्यः सम्बन्धः सम्भाव्यते स विघटताम्।

ननु प्रधानतया यद्वाच्यं तत्र विधिः। अप्रधानत्वेन तु वाच्येऽनुवादः। न च रसस्य वाच्यत्वं त्वयैव सोढमित्याशङ्कमानः परिहरति—न चेति। प्रधाना-

निकट खड़े दो आततायी हैं' इस न्याय के अनुसार अन्यमुखप्रेक्षिता से परतन्त्र (अर्थात् उपसर्जनीकृत) हुए, सुने क्रम के अनुसार अपने परामर्श में भी विश्रान्ति न प्राप्त करते हुए विरुद्धों के भी परस्पर रूप की चिन्ता की कोई बात ही नहीं, जिससे विरोध होगा। विरुद्ध होने के कारण 'अरुणाधिकरण' न्याय के अनुसार जो वाक्य-प्रतिपाद्य इनका सम्बन्ध सम्भावित होगा वह केवल विघटित होगा।

प्रधान रूप से जो वाच्य है वहाँ विधि है, अप्रधान रूप से वाच्य में अनुवाद है, और रस का वाच्यत्व तुमने ही सहन नहीं किया है, यह आशङ्का करते हुए परिहार

ध्वन्यालोकः

वाक्यार्थत्वेनाभ्युपगमात् । वाक्यार्थस्य वाच्यस्य च यौ विध्यनुवादौ तौ तदाक्षिप्तानां रसानां केन वार्येते । यैर्वा साक्षात्काव्यार्थता रसादीनां नाभ्युपगम्यते, तैस्तेषां तन्निमित्तता तावदवश्यमभ्युपगन्तव्या । तथाप्यत्र श्लोके न विरोधः । यस्मादनूद्यमानाङ्गनिमित्तोभयरसवस्तु-सहकारिणो विधीयमानांशाद्भावविशेषप्रतीतिरुत्पद्यते ततश्च न कश्चिद्विरोधः । दृश्यते हि विरुद्धोभयसहकारिणः कारणात्कार्यविशेषो-

उनको वाक्यार्थ रूप में माना जाता है । वाक्यार्थ और वाच्य के जो विधि-अनुवाद हैं उन्हें उसके (वाच्यार्थ) द्वारा आक्षिप्त रसों में कौन वारण कर सकता है ? अथवा जो रसादि को साक्षात् काव्य का अर्थ नहीं मानते हैं उन्हें उन (रसादि) की तन्निमित्तता (अर्थात् काव्य के अर्थ से व्यङ्ग्यता) अवश्य माननी चाहिए । तथापि इस श्लोक में विरोध नहीं है । क्योंकि अनूद्यमान अङ्ग के निमित्त जो उभय रसवस्तु वह सहकारी है जिसका ऐसे विधीयमान अंश से भावविशेष की प्रतीति उत्पन्न होती है, इस कारण कोई विरोध नहीं है । दो विरुद्ध हैं सहकारी जिसके ऐसे कारण से

लोचनम्

प्रधानत्वमात्रकृतौ विध्यनुवादौ, तौ च व्यङ्ग्यतायामपि भवत एवेति भावः । मुख्यतया च रस एव काव्यवाक्यार्थ इत्युक्तम् । तेनामुख्यतया यत्र सोऽर्थस्तत्रानूद्यमानत्वं रसस्यापि युक्तम् । यदि वानूद्यमानविभावादिसमाक्षिप्तत्वाद्रसस्यानूद्यमानता तदाह—*वाक्यार्थस्येति* । यदि वा मा भूदनूद्यमानतया विरुद्धयो रसयोः समावेशः, सहकारितया तु भविष्यतीति सर्वथाविरुद्धयोर्युक्तियुक्तोऽङ्गाङ्गिभावो नात्र प्रयासः कश्चिदिति दर्शयति—*यैर्वेति* । *तन्निमित्ततेति* । काव्यार्थो विभावादिनिमित्तं येषां रसादीनां ते तथा तेषां भावस्तत्ता । अनूद्यमाना ये हस्तक्षेपादयो रसाङ्गभूता विभावादयस्तन्निमित्तं यदुभयं करुणविप्रलम्भात्मकं

करते हैं—नहीं—। भाव यह कि विधि और अनुवाद प्रधान-अप्रधानमात्रकृत हैं और वे व्यङ्ग्यता में भी होते ही हैं । यह कहा जा चुका है कि मुख्य रूप से रस ही काव्य-वाक्य का अर्थ है । इसलिए जहाँ वह अर्थ अमुख्य रूप से है वहाँ रस का भी अनूद्यमानत्व ठीक है । अथवा अनूद्यमान विभाव आदि द्वारा समाक्षिप्त होने के कारण रस की अनूद्यमानता है, उसे कहते हैं—वाक्यार्थ—। अथवा यदि अनूद्यमान रूप से विरुद्ध रसों का समावेश मत हो, किन्तु सहकारी रूप से होगा ! इस प्रकार सर्वथा दो विरुद्धों का अङ्गाङ्गिभाव युक्तियुक्त है, यहाँ कोई प्रयास नहीं, यह दिखाते हैं—अथवा जो—। तन्निमित्तता—। काव्यार्थ विभावादि निमित्त जिन रसादि का है उनका भाव । अनूद्यमान जो रसाङ्गभूत हस्तक्षेप आदि विभाव आदि तन्निमित्त जो उभय करुणविप्रल-

ध्वन्यालोकः

त्पत्तिः। विरुद्धफलोत्पादनहेतुत्वं हि युगपदेकस्य कारणस्य विरुद्धं न तु विरुद्धोभयसहकारित्वम्। एवंविधविरुद्धपदार्थविषयः कथमभिनयः

कार्यविशेष की उत्पत्ति देखी जाती है। एक साथ एक कारण का विरुद्ध फल के उत्पादन का हेतुत्व विरुद्ध है, न कि दो विरोधियों का सहकारी होना (विरुद्ध है।) यदि कहो कि इस प्रकार के विरुद्ध पदार्थों के विषय का अभिनय कैसे प्रयोग किया

लोचनम्

रसवस्तु रससजातीयं तत्सहकारि यस्य विधीयमानस्य शाम्भवशरवह्निजनितदुरितदाहलक्षणस्य तस्माद्भावविशेषे प्रेयोलङ्कारविषये भगवत्प्रभावातिशयलक्षणे प्रतीतिरिति सङ्गतिः। विरुद्धं यदुभयं वारितेजोगतं शीतोष्णं तत्सहकारि यस्य तण्डुलादेः कारणस्य तस्मात्कार्यविशेषस्य कोमलभक्तकरणलक्षणस्योत्पत्तिर्दृश्यते। सर्वत्र हीत्थमेव कार्यकारणभावो बीजाङ्कुरादौ नान्यथा।

ननु विरोधस्तर्हि सर्वत्राकिञ्चित्करः स्यादित्याशङ्क्याह—*विरुद्धफलेति*। तथा चाहुः—'नोपादानं विरुद्धस्य' इति। नन्वभिनेयार्थे काव्ये यदीदृशं वाक्यं भवेत्तदा यदि समस्ताभिनयः क्रियते तदा विरुद्धार्थविषयः कथं युगपदभिनयः कर्तुं शक्य इत्याशयेनाशङ्कमान आह—*एवमिति*। एतत्परिहरति—*अनूद्यमानेति*। अनूद्यमानमेवंविधं विरुद्धाकारं वाच्यं यत्र तादृशो यो विषयः 'एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ' इत्यादिस्तत्र या वार्ता सात्रापीति।

एतदुक्तं भवति—'क्षिप्तो हस्तावलग्न' इत्यादौ प्राधान्येन भीतविप्लुतादि-

म्भात्मक रसवस्तु अर्थात् रसजातीय वस्तु वह सहकारी है जिनका ऐसे शिवजी के बाण-वह्नि से उत्पन्न दुरितों का दाह रूप विधीयमान (अंश) से भावविशेष अर्थात् भगवत्प्रभावातिशय रूप प्रेयोऽलङ्कार के विषय में प्रतीति है यह सङ्गति है। विरुद्ध जो उभय जल और तेजगत शीत-उष्ण वह सहकारी है जिस तण्डुल आदि कारण का उससे कोमल भक्त का निर्माण रूप कार्यविशेष की उत्पत्ति देखी जाती है। सब जगह इस प्रकार का ही कार्यकारण भाव है, बीज-अङ्कुर आदि में अन्यथा नहीं है।

तब तो विरोध सभी जगह कुछ नहीं कर सकेगा! यह आशङ्का करके कहते हैं—विरुद्ध फल—। जैसा कि कहा है—'विरुद्ध के उपादान (? उत्पादन) नहीं'। अभिनेयार्थ काव्य में यदि इस तरह का वाक्य हो तब यदि समस्त अभिनय किया जाय तब विरुद्ध अर्थों के सम्बन्ध का अभिनय कैसे किया जा सकता है? इस आशय से आशङ्का करते हुए कहते हैं—इस प्रकार—। इसका परिहार करते हैं—अनूद्यमान—। अनूद्यमान इस प्रकार का अर्थात् विरुद्ध आकार का वाच्य जहाँ है उस प्रकार का जो विषय 'आओ, जाओ, बैठो, उठो' इत्यादि है वहाँ जो बात होगी वह यहाँ भी।

बात यह कही गई—'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि में प्राधान्यतः भीत, विप्लुत

ध्वन्यालोकः

प्रयोक्तव्य इति चेत्, अनूद्यमानैवंविधवाच्यविषये या वार्ता सात्रापि भविष्यति। एवं विध्यनुवादनयाश्रयेणात्र श्लोके परिहृतस्तावद्विरोधः।

किं च नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित्प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमाद-

जा सकता है तो (उत्तर है कि) अनूद्यमान इस प्रकार के वाच्य के सम्बन्ध में जो बात है वह यहां भी होगी। इस प्रकार विधि और अनुवाद की नीति का आश्रय लेकर इस श्लोक में विरोध का परिहार किया गया।

और भी, अभिनन्दनीय उदय वाले किसी नायक के प्रभावातिशय के वर्णन में उसके प्रतिपक्षों (विरोधियों) का जो करुण रस है वह परीक्षक लोगों को व्याकुल

लोचनम्

दृष्ट्युपपादनक्रमेण प्राकरणिकस्तावदर्थः प्रदर्शयितव्यः। यद्यप्यत्र करुणोऽपि पराङ्गमेव तथापि विप्रलम्भापेक्षया तस्य तावन्निकटं प्राकरणिकत्वं महेश्वरप्रभावं प्रति सोपयोगत्वात्। विप्रलम्भस्य तु कामीवेत्युत्प्रेक्षोपमाबलेनायातस्य दूरत्वात्। एवं च साम्रनेत्रोत्पलाभिरत्यन्तं प्राधान्येन करुणोपयोगाभिनयक्रमेण लेशतस्तु विप्रलम्भस्य करुणेन सादृश्यात्सूचनां कृत्वा। कामीवेत्यत्र यद्यपि प्रणयकोपोचितोऽभिनयः कृतस्तथापि ततः प्रतीयमानोऽप्यसौ विप्रलम्भः समनन्तराभिनीयमाने स दहतु दुरितमित्यादौ साटोपाभिनयसमर्पितो यो भगवत्प्रभावस्तत्राङ्गतायां पर्यवस्यतीति न कश्चिद्विरोधः। एतं विरोधपरिहारमुपसंहरति—*एवमिति*।

विषयान्तरे तु प्रकारान्तरेण विरोधपरिहारमाह—*किञ्चेति*। परीक्षकाणामिति सामाजिकानां विवेकशालिनाम्। *न वैक्लव्यमिति*। न तादृशे विषये

आदि दृष्टियों को उपपन्न करने के क्रम से प्राकरणिक अर्थ का प्रदर्शन (अभिनय) करना चाहिए। यद्यपि यहाँ करुण भी पराङ्ग ही है तथापि विप्रलम्भ की अपेक्षा उसका प्राकरणिकत्व निकट है, क्योंकि वह महेश्वर (शिव जी) के प्रभाव के प्रति उपयोगी है। किन्तु 'कामी की भाँति' इस उत्प्रेक्षा या उपमा के बल से प्राप्त विप्रलम्भ दूर पड़ जाता है। और इस प्रकार 'आँसू-भरे नेत्र कमलों वाली' इस अत्यन्त प्राधान्यत करुण के उपयोग के अभिनय के क्रम से लेशतः विप्रलम्भ की करुण के सादृश्य से सूचना करके (अभिनय है)। 'कामी की भाँति' यहाँ पर यद्यपि प्रणयकोप के उचित अभिनय किया गया है तथापि उससे प्रतीयमान भी वह विप्रलम्भ तुरंत बाद में अभिनीयमान 'वह दुरित को दहन करें' इत्यादि में सारोप अभिनय से समर्पित जो भगवान् का प्रभाव है उसकी अङ्गता में पर्यवसन्न हो जाता है, इस प्रकार कोई विरोध नहीं। इस विरोध के परिहार का उपसंहार करते हैं—इस प्रकार—।

किन्तु विषयान्तर में प्रकारान्तर से विरोध का परिहार करते हैं—और भी—। परीक्षक अर्थात् विवेकशाली सामाजिक। व्याकुल नहीं—। उस प्रकार के विषय में

ध्वन्यालोकः

धाति प्रत्युत प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यत इत्यतस्तस्य कुण्ठशक्तिकत्वात्तद्विरोधविधायिनो न कश्चिद्दोषः । तस्माद्वाक्यार्थीभूतस्य रसस्य भावस्य वा विरोधी रसविरोधीति वक्तुं न्याय्यः, न त्वङ्गभूतस्य कस्यचित् ।

नहीं करता, बल्कि अतिशय प्रीति का निमित्त बन जाता है, इस कारण उस (वीर रस के आस्वादातिशय का) विरोध करने वाला उस (करुण) के कुण्ठशक्तिक हो जाने के कारण कोई दोष नहीं । इसलिए वाक्यार्थीभूत (अर्थात् प्रधानभूत) रस अथवा भाव के विरोधी को 'रस का विरोधी' कहना ठीक है, किन्तु अङ्गभूत किसी (रस अथवा भाव के विरोधी) को 'रस का विरोधी' कहना ठीक नहीं ।

लोचनम्

चित्तद्रुतिरुत्पद्यते करुणास्वादविश्रान्त्यभावात् , किन्तु वीरस्य योऽसौ क्रोधो व्यभिचारितां प्रतिपद्यते तत्फलरूपोऽसौ करुणरसः स्वकारणाभिव्यञ्जनद्वारेण वीरास्वादातिशय एव पर्यवस्यति । यथोक्तम्—'रौद्रस्य चैव यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः' इति । तदाह—*प्रीत्यतिशयेति* । अत्रोदाहरणम्—

> कुरबक कुचाघातक्रीडासुखेन वियुज्यसे
> बकुलविटपिन् स्मर्तव्यं ते मुखासवसेचनम् ।
> चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक सशोकता-
> मिति निजपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदुः स्त्रियः ॥

भावस्य वेति । तस्मिन् रसे स्थायिनः प्रधानभूतस्य व्यभिचारिणो वा यथा विप्रलम्भश्रृङ्गार औत्सुक्यस्य ।

चित्तद्रुति उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि करुण के आस्वाद की विश्रान्ति नहीं । किन्तु वीर का जो वह क्रोध व्यभिचारी बन रहा है उसका फलरूप वह करुणरस अपने कारणों के अभिव्यञ्जन के द्वारा वीर के अतिशय आस्वाद में ही पर्यवसित होता है । जैसे, कहा है—रौद्र का जो ही कर्म है उसे करुण रस समझना चाहिए । उसे कहते हैं—अतिशय-प्रीति—। यहाँ उदाहरण है—

हे कुरुबक, तुम कुचाघात की क्रीड़ाओं के सुख से वियुक्त हो रहे हो, हे बकुलवृक्ष, मुखासव द्वारा सेवन याद रखना, हे अशोक, चरणाघात से रहित होकर तुम सशोक हो जाओगे, इस प्रकार जिसके शत्रुओं की पत्नियाँ अपने नगर के त्याग के अवसर पर कहने लगीं ।

अथवा भाव का—। उस रस में स्थायी अर्थात् प्रधानभूत का अथवा व्यभिचारी का, जैसे विप्रलम्भ श्रृङ्गार में औत्सुक्य का ।

ध्वन्यालोकः

अथवा वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित्करुणरसविषयस्य तादृशेन शृङ्गारवस्तुना भङ्गिविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायते। यतः प्रकृतिमधुराः पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः संस्मर्यमाणैर्विलासैरधिकतरं शोकावेशमुपजनयन्ति। यथा—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥

अथवा वाक्यार्थीभूत भी किसी करुण रस के विषय का उस प्रकार के शृङ्गार वस्तु के साथ भङ्गिविशेष का आधार लेकर संयोजन रस के परिपोष के लिए ही होता है। क्योंकि प्रकृतिमधुर पदार्थ शोचनीयता प्राप्त होकर पूर्व अवस्था में होने वाले, स्मरण किए जाते हुए विलासों के कारण अधिकतर शोकावेश उत्पन्न करते हैं। जैसे—

रशना को ऊपर खींचने वाला, पीन स्तनों का विमर्दन करने वाला, नाभि, ऊरु, जघन का स्पर्श करने वाला, नीवी को ढीली करने वाला वह यह हाथ है।

लोचनम्

अधुना पूर्वस्मिन्नेव श्लोके क्षिप्त इत्यादौ प्रकारान्तरेण विरोधं परिहरति—*अथवेति*। अयं चात्र भावः—पूर्वं विप्रलम्भकरुणयोरन्यत्राङ्गभावगमनान्निर्विरोधत्वमुक्तम्। अधुना तु स विप्रलम्भः करुणस्यैवाङ्गतां प्रतिपन्नः कथं विरोधीति व्यवस्थाप्यते—तथा हि करुणो रसो नामेष्टजनविनिपातादेर्विभावादित्युक्तम्। इष्टता च नाम रमणीयतामूला। ततश्च कामीवार्द्रापराध इत्युत्प्रेक्षयेदमुक्तम्। शांभवशरवह्निचेष्टितावलोकने प्राक्तनप्रणयकलहवृत्तान्तः स्मर्यमाण इदानीं विध्वस्ततया शोकविभावतां प्रतिपद्यते। तदाह—*भङ्गिविशेषेति*। अग्राम्यतया विभावानुभावादिरूपताप्रापणया ग्राम्योक्तिरहितयेत्यर्थः। अत्रैव दृष्टान्तमाह—*यथा अयमिति*। अत्र भूरिश्रवसः समरभुवि निपतितं बाहुं दृष्ट्वा

अब 'क्षिप्तः' इत्यादि पूर्व श्लोक में ही प्रकारान्तर से विरोध का परिहार करते हैं—अथवा—। यहाँ यह भाव है—पहले विप्रलम्भ और करुण का अन्यत्र (शिवजी के अतिशय प्रभाव में) अङ्गत्व प्राप्त होने से विरोध का अभाव कहा गया। अब वह विप्रलम्भ करुण का ही अङ्गत्व प्राप्त करके कैसे विरोधी होगा? यह व्यवस्थापन करते हैं—जैसा कि करुण रस इष्ट जन के विनिपात आदि विभाव आदि से होता है यह कह चुके हैं। रमणीयता इष्टता के मूल में होती है। और उस कारण 'आर्द्रापराध कामी की भाँति' यह उत्प्रेक्षा से कहा है। शिव जी के शराग्नि के कार्य के अवलोकन से स्मर्यमाण प्राक्तन प्रणयकलह का वृत्तान्त अब विध्वस्त होने के कारण शोक का विभाव बन गया है। उसे कहते हैं—भङ्गिविशेष—। अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि रूपता को प्राप्त कराने वाली ग्राम्योक्तिरहित अग्राम्यसा से। यहीं दृष्टान्त कहते हैं—जैसे—। भूरिश्रवा के युद्धक्षेत्र में गिरे बाहु को देख कर उसकी पत्नियों का यह अनुशोचन है।

ध्वन्यालोकः

इत्यादौ। तदत्र त्रिपुरयुवतीनां शाम्भवः शराग्निरार्द्रापराधः कामी यथा व्यवहरति स्म तथा व्यवहृतवानित्यनेनापि प्रकारेणास्त्येव निर्विरोधत्वम्। तस्माद्यथा यथा निरूप्यते तथा तथात्र दोषाभावः। इत्थं च—

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव पतद्बाष्पाम्बुधौताननाः।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वद्वैरिनाथोऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव॥

इत्यादि में। इसलिए यहां शिवजी के शराग्नि ने आर्द्रापराध काम जिस प्रकार व्यवहार करता है उस प्रकार व्यवहार किया, इस प्रकार से भी निर्विरोधत्व है ही। इसलिए जैसे-जैसे निरूपण होगा वैसे-वैसे यहां दोष का अभाव होगा। और इस प्रकार—

कोमल उंगलियों के क्षत हो जाने से रक्त टपकाते, मानों यावक (आलता) रस को गिराते, पैरों से कुशों वाली स्थलियों को पार करती, गिरते हुए बाष्पजल से धुले मुखों वाली, डरी हुई, पति के हाथ में हाथ पकड़ाए, तुम्हारे शत्रु की स्त्रियां इस समय वनाग्नि के चारों ओर भ्रमण करती हैं, मानों उनका विवाह पुनः होने लगा हो।

लोचनम्

तत्कान्तानामेतदनुशोचनम्। रशनां मेखलां सम्भोगावसरेषूर्ध्वं कर्षतीति रशनोत्कर्षी। अमुना विरोधोद्धरणप्रकारेण बहुतरं लक्ष्यमुपपादितं भवतीत्यभिप्रायेणाह—*इत्थं चेति*। होमाग्निधूमकृतं बाष्पाम्बु यदि वा बन्धुगृहत्यागदुःखोद्भवम्। भयं कुमारीजनोचितः साध्वसः। एवमियताङ्गभावं प्राप्तानामुक्तिरच्छलेति कारिकाभागोपयोगि निरूपितमित्युपसंहरति—*एवमिति*। तावद्ग्रहणेन वक्तव्यान्तरमप्यस्तीति सूचयति॥ २०॥

रशना अर्थात् मेखला को सम्भोग के अवसरों में ऊर्ध्व कर्षण करता है अतः रशनोत्कर्षी है। विरोध के उद्धरण के इस प्रकार से बहुत से लक्ष्य उपपादित हो जायेंगे, इस अभिप्राय से कहते हैं—और इस प्रकार—। होमाग्नि के धुयें से उत्पन्न बाष्पजल, अथवा बन्धुजनों के और गृह के त्याग के दुःख से उत्पन्न। भय अर्थात् कुमारीजन के उचित साध्वस। इस प्रकार इतने से 'अङ्गभाव को प्राप्त (विरोधियों) का कथन छलरहित (अर्थात् निर्दोष) है इस कारिका भाग के उपयोगी निरूपण किया, इसलिए उपसंहार करते हैं—इस प्रकार—। 'तब तक' ('तावत्') ग्रहण से यह सूचित करते हैं कि और भी वक्तव्य है॥ २०॥

ध्वन्यालोकः

इत्येवमादीनां सर्वेषामेव निर्विरोधत्वमवगन्तव्यम् ।

एवं तावद्रसादीनां विरोधिरसादिभिः समावेशासमावेशयोर्विषय-विभागो दर्शितः ॥ २० ॥

इदानीं तेषामेकप्रबन्धविनिवेशने न्याय्यो यः क्रमस्तं प्रतिपादयितु-मुच्यते—

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने ।
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥ २१ ॥

प्रबन्धेषु महाकाव्यादिषु नाटकादिषु वा विप्रकीर्णतयाङ्गाङ्गिभावेन बहवो रसा उपनिबध्यन्त इत्यत्र प्रसिद्धौ सत्यामपि यः प्रबन्धानां

इत्यादि प्रकार के सभी का निर्विरोधत्व समझना चाहिए।

इस प्रकार तब तक रसादि का विरोधी रसादि के साथ समावेश और असमावेश में विषय-विभाग दिखाया गया ॥ २० ॥

अब उन्हें एक प्रबन्ध में रखने में जो उचित क्रम है उसे प्रतिपादन के लिए कहते हैं—

प्रबन्धों में नाना रसों के निबन्धन के प्रसिद्ध होने पर भी उनका उत्कर्ष चाहने वाला (कवि) एक रस को अङ्गीकार करे ॥ २१ ॥

महाकाव्य आदि अथवा नाटक आदि प्रबन्धों में विप्रकीर्ण रूप में अङ्गाङ्गिभाव से बहुत रस उपनिबद्ध होते हैं, इसकी प्रसिद्धि होने पर भी जो (कवि) प्रबन्धों में

लोचनम्

तदेवावतारयति—*इदानीमि*त्यादिना। तेषां रसानां क्रम इति योजना। *प्रसिद्धेऽपी*ति। भरतमुनिप्रभृतिभिर्निरूपितेऽपीत्यर्थः। तेषामिति प्रबन्धानाम्। महाकाव्यादिष्वित्यादिशब्दः प्रकारे। अनभिनेयान्भेदानाह, द्वितीयस्त्वभि-नेयान्। *विप्रकीर्णत*येति। नायकप्रतिनायकपताकाप्रकरीनायकादिनिष्ठतयेत्यर्थः।

उसे ही उतारते हैं—'अब' इत्यादि द्वारा। 'उन रसों का क्रम' यह (वाक्य की) योजना है। प्रसिद्ध होने पर भी—। अर्थात् भरत मुनि प्रभृति द्वारा निरूपित होने पर भी। उनका अर्थात् प्रबन्धों का। 'महाकाव्य आदि' में 'आदि' पद 'प्रकार' अर्थ में है। (वह प्रकारार्थक 'आदि' शब्द) अनभिनेय भेदों को कहता है, परन्तु दूसरा ('आदि' शब्द) अभिनेय (भेदों को कहता है)। विप्रकीर्ण रूप में—। अर्थात् नायकनिष्ठ, प्रतिनायकनिष्ठ, पताकानायकनिष्ठ, प्रकरीनायकनिष्ठ आदि रूप में। अङ्गाङ्गिभाव से

ध्वन्यालोकः

छायातिशययोगमिच्छति तेन तेषां रसानामन्यतमः कश्चिद्विवक्षितो रसोऽङ्गित्वेन विनिवेशयितव्य इत्ययं युक्ततरो मार्गः ॥ २१ ॥

ननु रसान्तरेषु बहुषु प्राप्तपरिपोषेषु सत्सु कथमेकस्याङ्गिता न विरुध्यत इत्याशङ्क्येदमुच्यते—

रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः ।
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः ॥ २२ ॥

छायातिशय का योग चाहता है उसे उन रसों में से किसी एक विवक्षित रस को अङ्गी रूप से रखना चाहिए, यह मार्ग युक्ततर है ॥ २१ ॥

(शंका) बहुत से रसान्तरों के परिपोष प्राप्त होने पर कैसे एक का अङ्गी होना विरुद्ध नहीं होगा ? यह आशङ्का करके यह कहते हैं—

रसान्तरों के साथ जो प्रस्तुत रस का समावेश है वह स्थायी रूप से प्रतीत होने वाले इस (प्रधान रस) के अङ्गित्व को उपहत नहीं करता ॥ २२ ॥

लोचनम्

अङ्गाङ्गिभावेनेत्येकनायकनिष्ठत्वेन । युक्ततर इति । यद्यपि समवकारादौ पर्यायबन्धादौ च नैकस्याङ्गित्वं तथापि नायुक्तता तस्याप्येवंविधो यः प्रबन्धः तद्यथा नाटकं महाकाव्यं वा तदुत्कृष्टतरमिति तरशब्दस्यार्थः ॥ २१ ॥

नन्विति । स्वयं लब्धपरिपोषत्वे कथमङ्गत्वम् ? अलब्धपरिपोषत्वे वा कथं रसत्वमिति रसत्वमङ्गत्वं चान्योन्यविरुद्धं तेषां चाङ्गत्वायोगे कथमेकस्याङ्गित्वमुक्तमिति भावः । *रसान्तरेति* । प्रस्तुतस्य समस्तेतिवृत्तव्यापिनस्तत एव विततव्याप्तिकत्वेनाङ्गिभावोचितस्य रसस्य रसान्तरैरितिवृत्तवशायातत्वेन परिमितकथाशकलव्यापिभिर्यः समावेशः समुपबृंहणं स तस्य स्थायित्वेनेति-

अर्थात् एकनायकनिष्ठ रूप से । युक्ततर—। यद्यपि समवकार आदि में और पर्यायबन्ध आदि में एक अङ्गी नहीं होता, तथापि उसकी भी अयुक्तता नहीं है, इस प्रकार का जो प्रबन्ध वह जैसे नाटक अथवा महाकाव्य है वह उत्कृष्टतर है, यह 'तर' शब्द का अर्थ है ॥ २१ ॥

(शङ्का)—। स्वयं परिपोष प्राप्त कर लेने पर अङ्गत्व कैसे होगा ? अथवा परिपोष प्राप्त न होने पर रसत्व कैसे होगा, इस प्रकार रसत्व और अङ्गत्व दोनों परस्पर विरुद्ध हैं और उनके अङ्गत्व के न होने पर कैसे एक का अङ्गित्व कहा गया यह भाव है । रसान्तर—। अर्थात् प्रस्तुत अर्थात् समस्त इतिवृत्त में व्याप्त रहने वाले, इसी लिए व्याप्ति के विस्तृत होने से अङ्गित्व के उचित रस का, इतिवृत्तवश प्राप्त होने के कारण परिमित कथाखण्डों में व्याप्त रहने वाले रसान्तरों के साथ जो समावेश अर्थात् समुपबृंहण है वह स्थायी रूप से अर्थात् इतिवृत्त में व्यापक के रूप से भासित

ध्वन्यालोकः

प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलबन्धव्यापिनो रसान्तरैरन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स नाङ्गितामुपहन्ति ।

एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते ।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते ॥ २३ ॥

प्रबन्धों में पहले प्रस्तुत होता हुआ, बार-बार अनुसन्धीयमान होने के कारण स्थायी जो रस है, सकल रचना में व्याप्त रहने वाले उसके मध्यवर्ती रसान्तरों के साथ जो समावेश है वह अङ्गत्व को उपहत नहीं करता ।

इसे ही उपपादन करने के लिए कहते हैं—

जिस प्रकार प्रबन्ध का एक व्यापक कार्य बनाया जाता है उस प्रकार रस के भी विधान में कोई विरोध नहीं है ॥ २३ ॥

लोचनम्

वृत्तव्यापितया भासमानस्य नाङ्गितामुपहन्ति, अङ्गितां पोषयत्येवेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—अङ्गभूतान्यपि रसान्तराणि स्वविभावादिसामग्र्या स्वावस्थायां यद्यपि लब्धपरिपोषाणि चमत्कारगोचरतां प्रतिपद्यन्ते, तथापि स चमत्कारस्तावत्येव न परितुष्य विश्राम्यति किं तु चमत्कारान्तरमनुधावति । सर्वत्रैव ह्यङ्गाङ्गिभावेऽयमेवोदन्तः । यथाह तत्रभवान्—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते ।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥ इति ॥ २२ ॥

उपपादयितुमिति । दृष्टान्तस्य समुचितस्य निरूपणेनेति भावः । न्यायेन

होनेवाले उस (रस) अङ्गित्व को उपहत (विघात) नहीं करता, बल्कि अङ्गित्व को पुष्ट ही करता है ।

बात यह कही गई—अङ्गभूत भी रसान्तर अपने विभावादि की सामग्री से अपनी अवस्था में यद्यपि परिपोष प्राप्त करके चमत्कारगोचर बन जाते हैं तथापि वह चमत्कार उतने ही तक परितुष्ट होकर विश्राम कर लेता किन्तु अन्य चमत्कार का अनुधावन करता है । क्योंकि सभी अङ्गाङ्गिभाव में यही वृत्तान्त है । जैसा कि कहते हैं—

गुण (अर्थात् अङ्गभूत) अन्य के अपने संस्कार किये जाने पर प्रधान का अधिकाधिक उपकार करता है ॥ २२ ॥

उपपादन करने के लिए—। भाव यह कि समुचित दृष्टान्त के निरूपण के द्वारा

ध्वन्यालोकः

सन्ध्यादिमयस्य प्रबन्धशरीरस्य यथा कार्यमेकमनुयायि व्यापकं कल्प्यते न च तत्कार्यान्तरैर्न सङ्कीर्यते, न च तैः सङ्कीर्यमाणस्यापि तस्य प्राधान्यमपचीयते, तथैव रसस्याप्येकस्य सन्निवेशे क्रियमाणे

सन्धि आदि से युक्त प्रबन्ध-शरीर का एक अनुयायी व्यापक कार्य कल्पित करते हैं, ऐसा नहीं कि वह अन्य कार्यों से संकीर्ण नहीं होता और न कि उनसे संकीर्ण होकर भी उसके प्राधान्य का अपचय होता है, उसी प्रकार एक रस के भी सन्निवेश

लोचनम्

चैतदेवोपपद्यते, कार्यं हि तावदेकमेवाधिकारिकं व्यापकं प्रासङ्गिककार्यान्तरोपक्रियमाणमवश्यमङ्गीकार्यम्। तत्पृष्ठवर्तिनीनां नायकचित्तवृत्तीनां तद्बलादेवाङ्गाङ्गिभावः प्रवाहापतित इति किमत्रापूर्वमिति तात्पर्यम्। *तथेति*। व्यापितया। यदि वा एवकारो भिन्नक्रमः, तथैव तेनैव प्रकारेण कार्याङ्गाङ्गिभावरूपेण रसानामपि बलादेवासावापततीत्यर्थः। तथा च वृत्तौ वक्ष्यति 'तथैवे'ति।

कार्यमिति। 'स्वल्पमात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यद्विसर्पति' इति लक्षितं बीजम्। बीजात्प्रभृति प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणं यावत्समाप्तिबन्धं स तु बिन्दुः' इति बिन्दुरूपयार्थप्रकृत्या निर्वहणपर्यन्तं व्याप्नोति तदाह—*अनुयायीति*। अनेन बीजं बिन्दुश्चेत्यर्थप्रकृती सङ्गृहीते। *कार्यान्तरैरिति*। 'आगर्भादाविमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते' इति प्रासङ्गिकं यत्पताकालक्षणार्थप्रकृतिनिष्ठं कार्यं यानि च ततोऽप्यूनव्याप्तितया प्रकरीलक्षणानि कार्याणि तैरित्येवं

और न्याय के अनुसार यही उपपन्न होता है कि प्रासङ्गिक कार्यान्तरों से उपकृत होता हुआ एक ही आधिकारिक व्यापक कार्य अवश्य अङ्गीकार करना चाहिए। उस (कार्य) के पीछे चलने वाली नायक की चित्तवृत्तियों के उसके (अर्थात् कार्यों के अङ्गाङ्गिभाव के) बल से ही अङ्गाङ्गिभाव का क्रम चला है, यहाँ नई बात क्या है यह तात्पर्य है। उस प्रकार—। अर्थात् व्यापक रूप से। अथवा 'ही' (एवकार) भिन्न क्रम है, उसी प्रकार उसी प्रकार से कार्य के अङ्गाङ्गिभाव के रूप से रसों का भी बलपूर्वक वह (अङ्गाङ्गिभाव) होगा। जैसा कि वृत्ति में कहेंगे उसी प्रकार—।

कार्य—। 'बीज' का लक्षण है 'जो थोड़ी मात्रा में छोड़े जाने पर बहुत प्रकार से फैल जाता है'। 'बीज' से लेकर प्रयोजनों के विच्छेद की स्थिति में जो अविच्छेद का कारण समाप्तिपर्यन्त है वह 'बिन्दु' है। इस बिन्दुरूप अर्थप्रकृति से निर्वहणपर्यन्त व्याप्त रहता है उसे कहते हैं—अनुयायी—। इससे 'बीज' और 'बिन्दु' इन दो अर्थ प्रकृतियों को सङ्गृहीत किया। अन्य कार्यों से—। 'गर्भ' अथवा 'विमर्श' सन्धिपर्यन्त पताका लौटती है' इस पताका रूप अर्थ-प्रकृति में रहने वाला प्रासङ्गिक जो कार्य है और जो उससे भी अधिक व्याप्ति रूप से प्रकरी रूप कार्य हैं उनसे, इस प्रकार पाँच

ध्वन्यालोकः

विरोधो न कश्चित्। प्रत्युत प्रत्युदितविवेकानामनुसन्धानवतां सचेतसां तथाविधे विषये प्रह्लादातिशयः प्रवर्तते ॥ २३ ॥

किए जाने पर कोई विरोध नहीं है। बल्कि प्रत्युदित विवेक वाले एवं अनुसन्धानशील सहृदयों का उस प्रकार के विषय में अतिशय प्रह्लाद होता है।

लोचनम्

पञ्चानामर्थप्रकृतीनां वाक्यैकवाक्यतया निवेश उक्तः। *तथाविध* इति। यथा तापसवत्सराजे।

एवमनेन श्लोकेनाङ्गाङ्गितायां दृष्टान्तनिरूपणमितिवृत्तबलापतितत्वं च रसाङ्गाङ्गिभावस्येति द्वयं निरूपितम्। वृत्तिग्रन्थोऽप्युभयाभिप्रायेणैव नेयः। श्रृङ्गारेण वीरस्याविरोधो युद्धनयपराक्रमादिना कन्यारत्नलाभादौ। हास्यस्य तु स्पष्टमेव तदङ्गत्वम्। हास्यस्य स्वयमपुरुषार्थस्वभावत्वेऽपि समधिकतररञ्जनोत्पादनेन श्रृङ्गाराङ्गतयैव तथात्वम्। रौद्रस्यापि तेन कथञ्चिदविरोधः। यथोक्तम्—'श्रृङ्गारश्च तैः प्रसभं सेव्यते'। तैरिति रौद्रप्रभृतिभिः रक्षोदानवोद्धतमनुष्यैरित्यर्थः। केवलं नायिकाविषयमौग्र्यं तत्र परिहर्तव्यम्। असम्भाव्यपृथिवीसम्मार्जनादिजनितविस्मयतया तु वीराद्भुतयोः समावेशः। यथाह मुनिः—'वीरस्य चैव यत्कर्म सोऽद्भुतः' इति। वीररौद्रयोर्धीरोद्धते भीमसेनादौ समावेशः क्रोधोत्साहयोरविरोधात्। रौद्रकरुणयोरपि मुनिनैवोक्तः—

'रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः।' इति।

अर्थ-प्रकृतियों के वाक्यैकवाक्य रूप से निवेश कहा है। उस प्रकार के—। जैसे 'तापसवत्सराज' में।

इस प्रकार इस श्लोक से अङ्गाङ्गिभाव में दृष्टान्त का निरूपण और (इसके अङ्गाङ्गिभाव का) इतिवृत्त के बल से होना ये दो बातें निरूपण कीं। वृत्तिग्रन्थ को भी दोनों के अभिप्राय से ही समझना चाहिए। श्रृङ्गार के साथ वीर का अविरोध युद्ध, नीति और पराक्रम आदि द्वारा कन्यारत्न के लाभ आदि में। हास्य तो स्पष्ट ही उस (श्रृङ्गार) का अङ्ग है। हास्य स्वयं अपुरुषार्थ रूप है तथापि सम्यक् प्रकार से अधिकतर रञ्जन के उत्पन्न करने से श्रृङ्गार के अङ्गरूप से ही उस प्रकार (पुरुषार्थ) है। रौद्र का भी उस (श्रृङ्गार) के साथ कथञ्चित् विरोध नहीं। जैसे, कहा है—'वे लोग श्रृङ्गार का हठात् सेवन करते हैं'। 'वे लोग' अर्थात् रौद्र प्रभृति राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्य। केवल नायिका के सम्बन्ध का औग्र्य वहाँ परिहर्तव्य है। पृथ्वी के सम्मार्जन आदि असम्भाव्य कार्यों से विस्मय के उत्पन्न करने के कारण वीर और अद्भुत का समावेश है। जैसे मुनि कहते हैं—'और वीर का ही जो कर्म है वह अद्भुत है'। वीर और रौद्र का धीरोद्धत भीमसेन आदि में समावेश है, क्योंकि क्रोध और उत्साह में विरोध नहीं। रौद्र और करुण में भी मुनि ने ही कहा है—

'रौद्र का ही जो कर्म है उसे करुण रस समझना चाहिए।'

ध्वन्यालोकः

ननु येषां रसानां परस्पराविरोधः यथा—वीरशृङ्गारयोः शृङ्गार-हास्ययो रौद्रशृङ्गारयोर्वीराद्भुतयोर्वीररौद्रयो रौद्रकरुणयोः शृङ्गाराद्भुत-योर्वा तत्र भवत्वङ्गाङ्गिभावः। तेषां तु स कथं भवेद्येषां परस्परं बाध्य-बाधकभावः। यथा—शृङ्गारबीभत्सयोर्वीरभयानकयोः शान्तरौद्रयोः शान्तशृङ्गारयोर्वा इत्याशङ्क्येदमुच्यते—

अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता ॥ २४ ॥

(शङ्का) जिन रसों का परस्पर में अविरोध है, जैसे वीर और श्रृङ्गार का, श्रृङ्गार और हास्य का, रौद्र और श्रृङ्गार का, वीर और अद्भुत का, वीर और रौद्र का, रौद्र और करुण का अथवा श्रृङ्गार और अद्भुत का। उनमें अङ्गाङ्गिभाव हो। परन्तु उनका वह (अङ्गाङ्गिभाव) कैसे होगा जिनका परस्पर में बाध्यबाधक भाव है। जैसे श्रृङ्गार और बीभत्स का, वीर और भयानक का, शान्त और रौद्र का, अथवा शान्त और श्रृङ्गार का। यह आशङ्का करके यह कहते हैं—

अन्य रस के अङ्गी होने पर अविरोधी अथवा विरोधी रस को परिपोष तक नहीं पहुँचाना चाहिए, इस प्रकार विरोध नहीं होगा ॥ २४ ॥

लोचनम्

शृङ्गाराद्भुतयोरिति। यथा रत्नावल्यामैन्द्रजालिकदर्शने। *शृङ्गारबीभत्सयोरिति*। ययोर्हि परस्परोन्मूलनात्मकतयैवोद्भवस्तत्र कोऽङ्गाङ्गिभावः आलम्बननिमग्न-रूपतया च रतिरुत्तिष्ठति ततः पलायमानरूपतया जुगुप्सेति समानाश्रयत्वेन तयोरन्योन्यसंस्कारोन्मूलनत्वम्। भयोत्साहावप्येवमेव विरुद्धौ वाच्यौ। शान्तस्यापि तत्त्वज्ञानसमुत्थितसमस्तसंसारविषयनिर्वेदप्राणत्वेन सर्वतो निरीहस्वभावस्य विषयासक्तिजीविताभ्यां रतिक्रोधाभ्यां विरोध एव ॥ २३ ॥

अविरोधी विरोधी वेति। वाग्रहणस्यायमभिप्रायः—अङ्गिरसापेक्षया यस्य

श्रृङ्गार और अद्भुत का—। जैसे 'रत्नावली' में ऐन्द्रजालिक के दर्शन के प्रसङ्ग में। श्रृङ्गार और बीभत्स का—। जिन (श्रृङ्गार और बीभत्स का परस्पर उन्मूलनात्मक रूप से ही उद्भव है वहाँ कौन सा अङ्गाङ्गिभाव होगा ? आलम्बन में निमग्नरूपता से रति का उद्भव होता है और उस (आलम्बन) से पलायमानरूपता से जुगुप्सा का उदय होता है। इसलिए समानाश्रय रूप से दोनों एक दूसरे के संस्कारों का उन्मूलन करते हैं। भय और उत्साह भी इसी प्रकार विरुद्ध कहे जाने चाहिए। तत्त्वज्ञान से समुत्थित समस्त संसार के विषय में निर्वेद प्राण होने के कारण सब प्रकार से निरीहस्वभाव शान्त का भी विषयासक्ति से अनुप्राणित रति और क्रोध से विरोध ही है ॥ २३ ॥

अविरोधी अथवा विरोधी—। 'अथवा' ग्रहण का यह अभिप्राय है—अङ्गी रस की

ध्वन्यालोकः

अङ्गिनि रसान्तरे शृङ्गारादौ प्रबन्धव्यङ्ग्ये सति अविरोधी विरोधी वा रसः परिपोषं न नेतव्यः। तत्राविरोधिनो रसस्याङ्गिरसापेक्षयात्यन्तमाधिक्यं न कर्तव्यमित्ययं प्रथमः परिपोषपरिहारः। उत्कर्ष-साम्येऽपि तयोर्विरोधासम्भवात्।

यथा—

अन्य शृङ्गार आदि रस के अङ्गी अर्थात् प्रबन्धव्यङ्ग्य होने पर अविरोधी अथवा विरोधी रस को परिपोष तक नहीं पहुँचाना चाहिए। उसमें अविरोधी रस का अङ्गी रस की अपेक्षा अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिए, इस प्रकार यह पहला परिपोष का परिहार है। उत्कर्ष का साम्य होने पर भी उन दोनों का विरोध सम्भव नहीं। जैसे—

लोचनम्

रसान्तरस्योत्कर्षो निबध्यते तदा तदविरुद्धोऽपि रसो निबद्धश्चोद्यावहः। अथ तु युक्त्याङ्गिनि रसेऽङ्गभावतानयेनोपपत्तिर्घटते तद्विरुद्धोऽपि रसो वक्ष्यमाणेन विषयभेदादियोजनेनोपनिबध्यमानो न दोषावह इति विरोधाविरोधाव-किञ्चित्करौ। विनिवेशनप्रकार एव त्ववधातव्यमिति। *अङ्गिनीति सप्तम्यनादरे।* अङ्गिनं रसविशेषमनादृत्य न्यक्कृत्याङ्गभूतो न पोषयितव्य इत्यर्थः। *अविरोधि-तेति।* निर्दोषतेत्यर्थः। परिपोषपरिहारे त्रीन् प्रकारानाह—*तत्रेत्यादिना तृतीय इत्यन्तेन।* ननु न्यूनत्वं कर्तव्यमिति वाच्ये आधिक्यस्य का सम्भावना येनोक्त-माधिक्यं न कर्तव्यमित्याशङ्क्याह—*उत्कर्षसाम्य इति।*

अपेक्षा जिस अन्य रस का उत्कर्ष निबन्धन करते हैं तब उस (अङ्गी रस) के अविरुद्ध भी रस दोषावह होता है। परन्तु युक्तिपूर्वक अङ्गी रस में अङ्गभावता के प्रकार से उपपत्ति घटती है तो उसके (अङ्गी रस के) विरुद्ध भी रस वक्ष्यमाण विषयभेद आदि के योजन से उपनिबद्धयमान होकर दोषावह नहीं होता, इस प्रकार विरोध और अविरोध नहीं कुछ नहीं करते। केवल विनिवेशन के प्रकार में ही अवधान रखना चाहिए। अङ्गी में 'सप्तमी' अनादरार्थक है, अर्थात् अङ्गी रसविशेष का अनादर करके—तिरस्कार करके अङ्गभूत (रस) का पोषण नहीं करना चाहिए। विरोध नहीं (अविरोधिता)—। अर्थात् निर्दोषता। परिपोष के परिहार में तीन प्रकारों को कहते हैं—'उनमें' इत्यादि से लेकर 'तृतीय' तक। 'न्यूनत्व करना चाहिए' यह जब कि कहना चाहिए ऐसी स्थिति में आधिक्य की सम्भावना हो कौन, जिससे कहा कि 'अधिक्य नहीं करना चाहिए'! यह आशङ्का करके कहते हैं—उत्कर्ष का साम्य होने पर भी—।

ध्वन्यालोकः

एकन्तो रुअइ पिआ अण्णन्तो समरतूरणिग्घोसो ।
णेहेण रणरसेण अ भडस्स दोलाइअं हिअअम् ॥

यथा वा—

कण्ठाच्छित्त्वाक्षमालावलयमिव करे हारमावर्तयन्ती
कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विषधरपतिना मेखलाया गुणेन ।
मिथ्यामन्त्राभिजापस्फुरदधरपुटव्यञ्जिताव्यक्तहासा
देवी सन्ध्याभ्यसूयाहसितपशुपतिस्तत्र दृष्टा तु वोऽव्यात् ॥

एक ओर प्रिया रो रही है दूसरी ओर युद्ध के तूर्य का गर्जन है। स्नेह और रणराग से भट का हृदय दोलायित हो रहा है। अथवा जैसे—

कण्ठ से हार निकाल कर अक्षमाला-वलय की भांति हाथ में फेरती हुई, मेखला (करधनी) के गुणरूपी सर्पराज के द्वारा पर्यङ्कबन्ध आसन मार कर झूठमूठ के मंत्र पढ़ने से फुरफुराते अधरपुट के द्वारा अव्यक्त हास व्यञ्जित करती हुई, सन्ध्या (अपनी सौत) के प्रति ईर्ष्यावश पशुपति (शिव जी) का उपहास करती हुई देखी गई देवी (पार्वती) आप लोगों की रक्षा करें।

लोचनम्

एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः ।
स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥

इति च्छाया। रोदिति प्रियेत्यतो रत्युत्कर्षः । समरतूर्येति भटस्येति चोत्साहोत्कर्षः। दोलायितमिति तयोरन्यूनाधिकतया साम्यमुक्तम्। एतच्च मुक्तकविषयमेव भवति न तु प्रबन्धविषयमिति केचिदाहुस्तच्चासत्; आधिकारिकेष्वितिवृत्तेषु त्रिवर्गफलसमप्राधान्यस्य सम्भवात् । तथाहि— रत्नावल्यां सचिवायत्तसिद्धित्वाभिप्रायेण पृथिवीराज्यलाभ आधिकारिकं फलं कन्यारत्नलाभः प्रासङ्गिकं फलं, नायकाभिप्रायेण तु विपर्यय इति स्थिते मन्त्रिबुद्धौ नायकबुद्धौ च स्वाम्यमात्यबुद्ध्येकत्वात्फलमिति नीत्या एकीक्रिय-

'प्रिया रो रही है' यहाँ 'रति' का उत्कर्ष है। और 'युद्ध का तूर्य' यह भट के उत्साह का उत्कर्ष है। 'दोलायित' के द्वारा उन दोनों (रति और उत्साह) का अन्यूनाधिक (न कम न ज्यादा) होने के कारण साम्य कहा है। 'यह मुक्तक में ही होता है न कि प्रबन्ध में होता है' यह कुछ लोगों ने कहा है वह ठीक नहीं; क्योंकि आधिकारिक इतिवृत्तों में त्रिवर्ग रूप फल का समप्राधान्य सम्भव है। जैसा कि— 'रत्नावली' में 'सचिवायत्तसिद्धित्व' के अभिप्राय से पृथ्वी के राज्य का लाभ आधिकारिक फल है और कन्यारत्न का लाभ प्रासङ्गिक फल है, परन्तु नायक के अभिप्राय से विपरीत है, ऐसी स्थिति में स्वामी और अमात्य की बुद्धि के एक होने से फल होता है इस नीति से मन्त्री की बुद्धि और नायक की बुद्धि के एक किए जाने पर समप्राधान्य

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र ।

अङ्गिरसविरुद्धानां व्यभिचारिणां प्राचुर्येणानिवेशनम् , निवेशने वा क्षिप्रमेवाङ्गिरसव्यभिचार्यनुवृत्तिरिति द्वितीयः ।

अङ्गत्वेन पुनः पुनः प्रत्यवेक्षा परिपोषं नीयमानस्याप्यङ्गभूतस्य

यहाँ पर ।

अङ्गी रस के विरुद्ध व्यभिचारी भावों का अधिकता से निवेश न करना, अथवा निवेश करने पर शीघ्र ही अङ्गी रस के व्यभिचारी की अनुवृत्ति यह दूसरा (परिपोष का परिहार) है ।

परिपोष तक पहुँचाए गए भी अङ्गभूत रस की अङ्ग रूप से बार-बार प्रत्यवेक्षा,

लोचनम्

माणायां समप्राधान्यमेव पर्यवस्यति । यथोक्तम्-'कवेः प्रयत्नान्नेतॄणां युक्तानाम्' इत्यलमवान्तरेण बहुना ।

एवं प्रथमं प्रकारं निरूप्य द्वितीयमाह—*अङ्गीति* । *अनिवेशनमिति* । अङ्गभूते रस इति शेषः । नन्वेवं नासौ परितुष्टो भवेदित्याशङ्क्य—*निवेशने वेति* । अत एव वाग्रहणमुत्तरपक्षदार्ढ्यं सूचयति न विकल्पम् । तथा चैक एवायं प्रकारः । अन्यथा तु द्वौ स्याताम् । अङ्गिनो रसस्य यो व्यभिचारी तस्यानुवृत्तिरनुसन्धानम् । यथा—'कोपात्कोमललोल' इति श्लोकेऽङ्गिभूतायां रतावङ्गत्वेन यः क्रोध उपनिबद्धस्तत्र बद्ध्वा दृढम्-इत्यमर्षस्य निवेशितस्य क्षिप्रमेव रुदत्येति हसन्निति च इत्युचितेर्ष्यौत्सुक्यहर्षानुसन्धानम् ।

तृतीयं प्रकारमाह—*अङ्गत्वेनेति* । अत्र च तापसवत्सराजे वत्सराजस्य

ही पर्यवसित होता है । जैसे कहा है—'कवि के प्रयत्न से युक्त नायकों का०' यह बहुत अवान्तर चर्चा ठीक नहीं ।

इस प्रकार प्रथम प्रकार का निरूपण करके दूसरे को कहते हैं—अङ्गी—। निवेशन न करना—। शेष यह कि अङ्गभूत रस में । इस प्रकार वह परितुष्ट नहीं होगा, यह आशङ्का करके मतान्तर कहते हैं—अथवा निवेशन में—। अतएव 'अथवा' ग्रहण उत्तर पक्ष का दार्ढ्य सूचित करता है न कि विकल्प । जैसा कि यह एक ही प्रकार है, अन्यथा दो होते । अङ्गी रस का जो व्यभिचारी है उसकी अनुवृत्ति अर्थात् अनुसन्धान । जैसे—'कोपात् कोमललोल०' इस श्लोक में अङ्गिभूत रति में अङ्गरूप से जो क्रोध उपनिबद्ध किया गया है उसमें 'बद्ध्वा दृढं' से निवेशित अमर्ष के शीघ्र ही (व्यभिचारी रूप से) 'रुदत्या' और 'हसन्' इस रति के उचित औत्सुक्य और हर्ष से अनुसन्धान है ।

तीसरा प्रकार कहते हैं—अङ्ग रूप से—। यहाँ पर 'तापसवत्सराज' में वत्सराज का

ध्वन्यालोकः

रसस्येति तृतीयः। अनया दिशान्येऽपि प्रकारा उत्प्रेक्षणीयाः। विरोधिनस्तु रसस्याङ्गिरसापेक्षया कस्यचिन्न्यूनता सम्पादनीया। यथा शान्तेऽङ्गिनि शृङ्गारस्य शृङ्गारे वा शान्तस्य। परिपोषरहितस्य रसस्य कथं रसत्वमिति चेत्—उक्तमत्राङ्गिरसापेक्षयेति। अङ्गिनो हि रसस्य यावान् परिपोषस्तावांस्तस्य न कर्तव्यः, स्वतस्तु सम्भवी परिपोषः केन वार्यते। एतच्चापेक्षिकं प्रकर्षयोगित्वमेकस्य रसस्य

यह तीसरा (परिपोष का परिहार) है। इस प्रकार से अन्य प्रकारों की भी उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिए। अङ्गी रस की अपेक्षा किसी विरोधी रस की न्यूनता सम्पादन करनी चाहिए। जैसे अङ्गी शान्त (रस) में शृङ्गार की अथवा शृङ्गार में शान्त की। यदि कहो कि परिपोषरहित रस का रसत्व कैसा? तो यहाँ कह चुके हैं 'अङ्गी रस की अपेक्षा'। अङ्गी रस का जितना परिपोष है उतना उसका नहीं करना चाहिए, परन्तु स्वतः होने वाले परिपोष को कौन निवारण कर सकता है? बहुत रसों वाले प्रबन्धों में एक रस का रसों के साथ अङ्गाङ्गिभाव न स्वीकार करने वाला भी इस आपेक्षिक प्रकर्ष का निराकरण नहीं कर सकता, इस प्रकार से अविरोधी और विरोधी

लोचनम्

पद्मावतीविषयः सम्भोगशृङ्गार उदाहरणीकर्तव्यः। *अन्येऽपीति*। विभावानुभावानां चापि उत्कर्षो न कर्तव्योऽङ्गिरसविरोधिनां निवेशनमेव वा न कार्यम्, कृतमपि चाङ्गिरसविभावानुभावैरुपबृंहणीयम्। परिपोषिता अपि विरुद्धरसविभावानुभावा अङ्गत्वं प्रति जागरयितव्या इत्यादि स्वयं शक्यमुत्प्रेक्षितुम्। एवं विरोध्यविरोधिसाधारणं प्रकारमभिधाय विरोधिविषया साधारणदोषपरिहारप्रकारगतत्वेनैव विशेषान्तरमप्याह—*विरोधिन इति*। *सम्भवीति*। प्रधानाविरोधित्वेनेति शेषः। *एतच्चेति*। उपकार्योपकारकभावो रसानां नास्ति

पद्मावती के प्रति सम्भोग शृङ्गार को उदाहरण देना चाहिए। अन्य प्रकारों की भी—। और विभावों तथा अनुभाओं का भी उत्कर्ष नहीं करना चाहिए, अथवा अङ्गी रस के विरोधी (विभावों तथा अनुभावों) का निवेश ही नहीं करना चाहिए, कर देने पर भी अङ्गी रस के विभावों तथा अनुभावों का पोषण करना चाहिए। परिपोषित भी विरुद्ध रस के विभाव तथा अनुभावों को अङ्गत्व के प्रति जागरित करना चाहिए, इत्यादि स्वयं उत्प्रेक्षा की जा सकती है। इस प्रकार विरोधी और अविरोधी के साधारण प्रकार का अभिधान करके विरोधी के विषय में असाधारण दोषपरिहार के प्रकार में ही विशेषान्तर की चर्चा करते हैं—परन्तु विरोधी—। सम्भव होने वाला—। शेष यह कि प्रधान के अविरोधी रूप से। इस (आपेक्षिक)—। रसों का उपकार्योप-

ध्वन्यालोकः

बहुरसेषु प्रबन्धेषु रसानामङ्गाङ्गिभावमनभ्युपगच्छताप्यशक्यप्रतिक्षेप-मित्यनेन प्रकारेणाविरोधिनां विरोधिनां च रसानामङ्गाङ्गिभावेन समावेशे प्रबन्धेषु स्यादविरोधः। एतच्च सर्वं येषां रसो रसान्तरस्य व्यभिचारी-

रसों का अङ्गाङ्गिभाव से समावेश होने पर प्रबन्धों में विरोध न होगा। और यह सब उनके मत से कहा गया है जिनका यह सिद्धान्त है कि रस रसान्तर का व्यभि-

लोचनम्

स्वचमत्कारविश्रान्तत्वात्; अन्यथा रसत्वायोगात्, तदभावे च कथमङ्गाङ्गितेत्यपि येषां मतं तैरपि कस्यचिद्रसस्य प्रकृष्टत्वं भूयः प्रबन्धव्यापकत्वमन्येषां चाल्पप्रबन्धानुगामित्वमभ्युपगन्तव्यमितिवृत्तसङ्घटनाया एवान्यथानुपपत्तेः, भूयः प्रबन्धव्यापकस्य च रसस्य रसान्तरैर्यदि न काचित्सङ्गतिस्तदितिवृत्तस्यापि न स्यात्सङ्गतिश्चेदयमेवोपकार्योपकारकभावः। न च चमत्कारविश्रान्तेर्विरोधः कश्चिदिति समनन्तरमेवोक्तं तदाह—*अनभ्युपगच्छतापीति*। शब्दमात्रेणासौ नाभ्युपगच्छति। अकाम एवाभ्युपगमयितव्य इति भावः। अन्यस्तु व्याचष्टे-एतच्चापेक्षिकमित्यादिग्रन्थो द्वितीयमतमभिप्रेत्य यत्र रसानामुपकार्योपकारकता नास्ति, तत्रापि हि भूयो वृत्तव्याप्तत्वमेवाङ्गित्वमिति। एतच्चासत्; एवं हि *एतच्च सर्वमिति* सर्वशब्देन य उपसंहार एकपक्षविषयः मतान्तरेऽपीत्यादिना च यो द्वितीयपक्षोपक्रमः सोऽतीव दुःश्लिष्ट इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह बहुना संलापेन। *येषामिति*। भावाध्यायसमाप्तावस्ति श्लोकः—

कारकभाव नहीं है, क्योंकि (वे) अपने ही चमत्कार में विश्रान्त होते हैं। अन्यथा (उनका) रसत्व नहीं बन सकेगा। और रसत्व के अभाव में (उनका) अङ्गाङ्गिभाव कैसा ? यह भी जिनका मत है उन्हें भी किसी रस का प्रकृष्टत्व अर्थात् प्रबन्ध में अधिक व्यापकत्व और अन्य (रसों) का थोड़े प्रबन्ध में अनुगामित्व स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना इतिवृत्त सङ्घटन ही उपपन्न होगा। और प्रबन्ध में अधिक व्यापक रस का रसान्तरों के साथ यदि कोई सम्बन्ध नहीं, तब इतिवृत्त का भी सम्बन्ध नहीं है, (इस लिए) यही उपकार्योपकारकभाव है। चमत्कारविश्रान्ति का कोई विरोध नहीं है यह जो अभी कहा है उसे कहते हैं—न स्वीकार करने वाला भी—। वचनमात्र से वह स्वीकार नहीं करता। भाव यह कि नहीं चाहता हुआ भी वह स्वीकार कराने योग्य है। किन्तु दूसरे व्याख्यान करते हैं—'इस आपेक्षिक' इत्यादि ग्रन्थ दूसरे मत को अभिप्रेत करके है, जहाँ रसों का उपकार्योपकारकभाव नहीं है, वहाँ भी वृत्त (अर्थात् कथा) में अधिक व्याप्तत्व रूप ही अङ्गित्व है'। यह (व्याख्यान) ठीक नहीं। क्योंकि इस प्रकार 'और यह सब' यहाँ 'सब' शब्द से एक पक्ष का उपसंहार है और 'मतान्तर में भी' इत्यादि द्वारा जो-जो दूसरे पक्ष का उपक्रम है वह अतीव दुःश्लिष्ट (बेमेल) होगा। अपने पूर्वजों के साथ बहुत संलाप ठीक नहीं। जिनका—। भावाध्याय की समाप्ति में श्लोक है—

लोचनम्

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु।
स मन्तव्यो रसस्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः ॥ इति।

तत्रोक्तक्रमेणाधिकारिकेतिवृत्तव्यापिका चित्तवृत्तिरवश्यमेव स्थायित्वेन भाति प्रासङ्गिकवृत्तान्तगामिनी तु व्यभिचारितयेति रस्यमानतासमये स्थायिव्यभिचारिभावस्य न कश्चिद्विरोध इति केचिद्व्याचचक्षिरे। तथा च भागुरिरपि किं रसानामपि स्थायिसञ्चारितास्तीत्याक्षिप्याभ्युपगमेनैवोत्तरमवोचद्बाढमस्तीति।

अन्ये तु स्थायितया पठितस्यापि रसस्य रसान्तरे व्यभिचारित्वमस्ति, यथा क्रोधस्य वीरे व्यभिचारितया पठितस्यापि स्थायित्वमेव रसान्तरे, यथा तत्त्वज्ञानविभावकस्य निर्वेदस्य शान्ते; व्यभिचारिणो वा सत एव व्यभिचार्यन्तरापेक्षया स्थायित्वमेव, यथा विक्रमोर्वश्यामुन्मादस्य चतुर्थेऽङ्के इतीयन्तमर्थमवबोधयितुमयं श्लोकः बहूनां चित्तवृत्तिरूपाणां भावानां मध्ये यस्य बहुलं रूपं यथोपलभ्यते स स्थायी भावः, स च रसो रसीकरणयोग्यः; शेषास्तु सञ्चारिण इति व्याचक्षते, न तु रसानां स्थायिसञ्चारिभावेनाङ्गाङ्गितोक्तेति। अत एवान्ये रसस्थायीति षष्ठ्या सप्तम्या द्वितीयया वाश्रितादिषु गम्यादीना-

बहुत से समवेत भावों में जिस (भाव) का रूप बहुत (अर्थात् व्यापक) हो उस स्थायी (भाव) को रस मानना चाहिए, शेष सञ्चारी (भाव) माने जाते हैं।

उस (श्लोक) में उक्त क्रम के अनुसार आधिकारिक इतिवृत्त में व्याप्त रहने वाली चित्तवृत्ति अवश्य ही स्थायी रूप से प्रतीत होती है और प्रासङ्गिक वृत्तान्त में रहने वाली (चित्तवृत्ति) व्यभिचारी रूप से (प्रतीत होती है), इस प्रकार रसास्वाद के समय में स्थायी और व्यभिचारी भाव का कोई विरोध नहीं है, यह कुछ लोगों ने व्याख्यान किया है। जैसा कि भागुरि ने भी 'क्या रसों का भी स्थायित्व और सञ्चारित्व है ?' इस (प्रश्न) का आक्षेप करके 'अभ्युपगम' से ही उत्तर कहा है 'हां जरूर है'।

किन्तु अन्य लोग यह व्याख्यान करते हैं कि स्थायी रूप से पठित भी रस रसान्तर में व्यभिचारी हो जाता है, जैसे क्रोध वीर में; व्यभिचारी रूप से पठित भी (रस) रसान्तर में स्थायी ही हो जाता है, जैसे तत्त्वज्ञान रूप विभाव वाला निर्वेद शान्त में; अथवा व्यभिचारी की अवस्था में ही अन्य व्यभिचारी की अपेक्षा स्थायी ही होता है, जैसे 'विक्रमोर्वशी' में उन्माद चतुर्थ अङ्क में; इतने अर्थ को जताने के लिए यह श्लोक है, बहुत से चित्तवृत्ति रूप भावों के बीच जिसका बहुत रूप जैसे उपलब्ध होता है वह स्थायी भाव है, और वह रस रसीकरण के योग्य है, शेष तो सञ्चारी (भाव) हैं। न कि रसों का स्थायित्व और सञ्चारित्व रूप से अङ्गाङ्गिभाव कहा गया है। अतएव अन्य लोग 'रसस्थायी' यह षष्ठी, सप्तमी अथवा द्वितीया से आश्रित आदि में 'गम्यादीनां०' से

ध्वन्यालोकः

भवति इति दर्शनं तन्मतेनोच्यते। मतान्तरे'पि रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद्रसशब्देनोक्तास्तेषामङ्गत्वं निर्विरोधमेव ॥ २४ ॥

एवमविरोधिनां विरोधिनां च प्रबन्धस्थेनाङ्गिना रसेन समावेशे साधारणमविरोधोपायं प्रतिपाद्येदानीं विरोधिविषयमेव तं प्रतिपादयितुमिदमुच्यते—

विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्।
स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ॥ २५ ॥

ऐकाधिकरण्यविरोधी नैरन्तर्यविरोधी चेति द्विविधो विरोधी।

चारी होता है। किन्तु मतान्तर में भी रसों के स्थायी भाव उपचार से (लक्षणा द्वारा) 'रस' शब्द से कहे गए हैं, उनका अङ्गत्व निर्विरोध ही है ॥ २४ ॥

इस प्रकार अविरोधी और विरोधी (रसों) का प्रबन्ध में रहने वाले अङ्गी रस के साथ समावेश में अविरोध का साधारण उपाय प्रतिपादन करके अब उस विरोधी (रस) के उसे ही प्रतिपादन करने के लिए यह कहते हैं—

स्थायी का जो विरोधी एकाश्रय रूप से विरोधी हो उसे विभिन्नाश्रय कर देना चाहिए, (ऐसी स्थिति में) उसके परिपोष होने पर भी दोष नहीं ॥ २५ ॥

विरोधी (रस) दो प्रकार का है—ऐकाधिकरण्यविरोधी और नैरन्तर्यविरोधी। विरुद्ध एक आश्रय वाला जो विरोधी है, जैसे वीर के साथ भयानक, उसे विभिन्नाश्रय

लोचनम्

मिति समासं पठन्ति। तदाह—*मतान्तरेऽपीति*। *रसशब्देनेति*। 'रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः' इत्यादिप्राक्तनकारिकानिविष्टेनेत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथ साधारणं प्रकारमुपसंहरन्नसाधारणमासूत्रयति—*एवमिति*। तमित्यविरोधोपायम्। विरुद्धेति विशेषणं हेतुगर्भम्। यस्तु स्थायी स्थाय्यन्तरेणासंभाव्यमानैकाश्रयत्वाद्विरोधी भवेद्यथोत्साहेन भयं स विभिन्नाश्रयत्वेन नायकविपक्षा-

समास पढ़ते हैं। उसे कहते हैं—मतान्तर में भी—। 'रस' शब्द से—। अर्थात् 'प्रस्तुत रस का जो रसान्वर में समावेश है' इत्यादि प्राचीन कारिका में निविष्ट ('रस' शब्द से) ॥ २४ ॥

अब साधारण प्रकार का उपसंहार करते हुए असाधारण (प्रकार) का सूत्र बनाते हैं—इस प्रकार—। 'उसे' अर्थात् अविरोध का उपाय। 'विरुद्ध' यह हेतुगर्भ विशेषण है। जो स्थायी अन्य स्थायी के साथ एकाश्रय रूप से रहने में सम्भव न होने कारण विरोधी हो, जैसे उत्साह के साथ भय, वह विभिन्नाश्रय रूप से नायक के विपक्ष आदि में

ध्वन्यालोकः

तत्र प्रबन्धस्थेन स्थायिनाङ्गिना रसेनौचित्यापेक्षया विरुद्धैकाश्रयो यो विरोधी यथा वीरेण भयानकः स विभिन्नाश्रयः कार्यः। तस्य वीरस्य य आश्रयः कथानायकस्तद्विपक्षविषये सन्निवेशयितव्यः। तथा सति च तस्य विरोधिनोऽपि यः परिपोषः स निर्दोषः। विपक्षविषये हि भयातिशयवर्णने नायकस्य नयपराक्रमादिसम्पत्सुतरामुद्द्योतिता भवति। एतच्च एमदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसङ्गे वैशद्येन प्रदर्शितम्।

एवमैकाधिकरण्यविरोधिनः प्रबन्धस्थेन स्थायिना रसेनाङ्गभाव-

कर देना चाहिए। उस वीर (रस) का जो आश्रय कथानायक है उसके विपक्ष (अर्थात् प्रतिनायक) में (उस भयानक रस) का सन्निवेश करना चाहिए। ऐसी स्थिति में उस विरोधी का भी जो परिपोष है वह निर्दोष है। क्योंकि विपक्ष में अतिशय भय के वर्णन करने पर नायक की नीति, पराक्रम आदि सम्पत्ति सुतरां प्रकाशित हो जाती है। यह मेरे 'अर्जुनचरित' में अर्जुन के पातालावतरण के प्रसंग में स्पष्ट रूप से दिखाया गया है।

इस प्रकार ऐकाधिकरण्यविरोधी का प्रबन्ध में रहने वाले स्थायी रस के साथ

लोचनम्

दिगामित्वेन कार्यः। *तस्येति*। तस्य विरोधिनोऽपि तथाकृतस्य तथानिबद्धस्य परिपुष्टतायाः प्रत्युत निर्दोषता नायकोत्कर्षाधानात्। अपरिपोषणन्तु दोष एवेति यावत्। अपिशब्दो भिन्नक्रमः। एवमेव वृत्तावपि व्याख्यानात्। ऐकाधिकरण्यमेकाश्रयेण सम्बन्धमात्रम्, तेन विरोधी यथा—भयेनोत्साहः, एकाश्रयत्वेऽपि सम्भवति कश्चिन्निरन्तरत्वेन निर्व्यवधानत्वेन विरोधी, यथा रत्या निर्वेदः। *प्रदर्शितमिति*। 'समुत्थिते धनुर्ध्वनौ भयावहे किरीटिनो महानुपप्लवोऽभवत्पुरे पुरन्दरद्विषाम्।' इत्यादिना ॥ २५ ॥

जाने वाला किया जाना चाहिए। उसका—। उस प्रकार निबद्ध उस विरोधी की भी परिपुष्टता के कारण प्रत्युत निर्दोषता होगी, क्योंकि नायक के उत्कर्ष का आधान होता है। अपरिपोषण तो दोष ही होगा। 'भी' शब्द भिन्नक्रम है। क्योंकि इसी प्रकार वृत्ति में भी व्याख्यान है। ऐकाधिकरण्य अर्थात् एक आश्रय से सम्बन्ध मात्र, उससे विरोधी, जैसे भय से उत्साह। एकाश्रयत्व के सम्भव होने पर भी कोई नैरन्तर्य अर्थात् निर्व्यवधानत्व के कारण विरोधी होता है, जैसे रति से निर्वेद दिखाया गया है—। 'अर्जुन के गाण्डीव की भयावह आवाज के होने पर इन्द्र-शत्रु असुरों के नगर में बड़ी खलबली मच गई' इत्यादि द्वारा ॥ २५ ॥

ध्वन्यालोकः

गमने निर्विरोधित्वं यथा तथा तद्दर्शितम्। द्वितीयस्य तु तत्प्रतिपादयितुमुच्यते—

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यः सुमेधसा ॥ २६ ॥

यः पुनरेकाधिकरणत्वे निर्विरोधो नैरन्तर्ये तु विरोधी स रसान्तरव्यवधानेन प्रबन्धे निवेशयितव्यः। यथा शान्तशृङ्गारौ नागानन्दे निवेशितौ।

अङ्गभाव प्राप्त करने में निर्विरोधत्व जैसा है वैसा उसे दिखाया। दूसरे का उसे प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

एकाश्रय होने में निर्दोष और नैरन्तर्य में विरोधी रस को सुमेधा (कवि) रसान्तर का व्यवधान करने से व्यञ्जित करे ॥ २६ ॥

जो एकाधिकरण होने में निर्विरोध है, किन्तु नैरन्तर्य में विरोधी है उसे रसान्तर के व्यवधान से प्रबन्ध में निवेशित करना चाहिए। जैसे शान्त और शृङ्गार नागानन्द में निवेशित किए गए हैं।

लोचनम्

द्वितीयस्येति। नैरन्तर्यविरोधिनः। *तदिति*। निर्विरोधित्वम्। एकाश्रयत्वेन निमित्तेन यो निर्दोषः न विरोधी किं तु निरन्तरत्वेन निमित्तेन विरोधमेति स तथाविधविरुद्धरसद्वयाविरुद्धेन रसान्तरेण मध्ये निवेशितेन युक्तः कार्य इति कारिकार्थः। *प्रबन्ध* इति बाहुल्यापेक्षं, मुक्तकेऽपि कदाचिदेवं भवेदपि। यद्वक्ष्यति—'एकवाक्यस्थयोरपि' *इति*। *यथेति*। तत्र हि—'रागस्यास्पदमित्यवैमि न हि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः' इत्यादिनोपक्षेपात्प्रभृति परार्थशरीरवितरणात्मकनिर्वहणपर्यन्तः शान्तो रसस्तस्य विरुद्धो मलयवतीविषयः शृङ्गारस्तदुभयाविरुद्धमद्भुतमन्तरीकृत्य क्रमप्रसरसम्भावनाभिप्रायेण कविना

दूसरे का—। अर्थात् नैरन्तर्यविरोधी का। उसे—। निर्विरोधित्व को। कारिका का अर्थ यह है कि एकाश्रयत्व रूप कारण से जो निर्दोष अर्थात् विरोधी नहीं है, किन्तु निरन्तरत्व रूप कारण से विरोध ग्रहण करता है उसे उस प्रकार के विरुद्ध दो रसों के बीच अविरुद्ध रसान्तर के साथ युक्त करना चाहिए। प्रबन्ध में—। अपेक्षा करके बहुल रूप से, कदाचित् उस प्रकार मुक्तक में भी हो सकता है। जिसे कहेंगे—'एक वाक्य में स्थित का भी'। जैसे—। क्योंकि वहां—'जिस (शरीर) का राग का आस्पद' करके समझता हूं, (वह शरीर) मेरा विश्वास नहीं कि ध्वंसशील नहीं है !' इत्यादि 'उपक्षेप' से लेकर दूसरे के लिए शरीर का वितरण रूप 'निर्वहण' तक शान्त रस है, उसके विरुद्ध मलयवतीविषयक शृङ्गार को, उन दोनों (शान्त और शृङ्गार) के अविरुद्ध अद्भुत

ध्वन्यालोकः

शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव। तथा चोक्तम्—

और शान्त, तृष्णाक्षय रूप सुख का जो परिपोष है तद्‌रूप रस प्रतीत होता ही है। जैसा कि कहा है—

लोचनम्

निबद्धः 'अहो गीतमहो वादित्रम्' इति। एतदर्थमेव 'व्यक्तिर्व्यंञ्जनधातुना' इत्यादि नीरसप्रायमप्यत्र निबद्धमद्‌भुतरसपरिपोषकतयात्यन्तरसरसतावहमिति 'निर्दोषदर्शनाः कन्यकाः' इति च क्रमप्रसरो निबद्धः। यथाहुः—'चित्तवृत्तिप्रसरप्रसंख्यानधनाः सांख्याः पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेने'ति। अनन्तरं च निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गागतो यः शेखरकवृत्तान्तोदितहास्यरसोपकृतः शृङ्गारस्तस्य विरुद्धो यो वैराग्यशमपोषको नागीयकलेवरास्थिजालावलोकनादिवृत्तान्तः स मित्रावसोः प्रविष्टस्य मलयवतीनिर्गमनकारिणः 'संसर्पद्भिः समन्तात्' इत्यादि काव्योपनिबद्धक्रोधव्यभिचार्युपकृतवीररसान्तरितो निवेशितः।

ननु नास्त्येव शान्तो रसः तस्य तु स्थाय्येव नोपदिष्टो मुनिनेत्याशङ्क्याह—*शान्तश्चेति*। तृष्णानां विषयाभिलाषाणां यः क्षयः सर्वतो निवृत्तिरूपो निर्वेदः

(रस) को मध्य में रखकर कवि ने क्रम से प्रसर की सम्भावना के अभिप्राय से निबन्धन किया है 'अहो गीतं अहो वादित्रं'। एतदर्थं ही 'व्यक्तिर्व्यंञ्जनधातुना' इत्यादि अद्भुत रस के परिपोषक रूप से अत्यन्त रस की रसता का वहन करने वाले इस नीरसप्राय को भी यहां निबन्धन किया है और 'निर्दोषदर्शनाः कन्यकाः' यह क्रम से प्रसर को भी निबन्धन किया है। जैसे चित्तवृत्ति के प्रसरों में दोषदर्शन करने वाले साङ्‌ख्य लोग कहते हैं—'निमित्त (धर्म आदि) और नैमित्तिक (स्थूल देह आदि) के प्रसङ्ग (सम्बन्ध) से यह (लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीर नट की भांति विविध रूप धारण करके) पुरुषार्थ फल के लिए व्यवस्थित होता है'। अनन्तर जो निमित्त-नैमित्तिक के प्रसङ्ग से आया हुआ, शेखरक के वृत्तान्त से उत्पन्न हास्य-रस से उपकृत शृङ्गार है उसके विरुद्ध जो वैराग्य एवं शम का पोषक, नाग के शरीर में अस्थिजाल का अवलोकन आदि वृत्तान्त है वह मलयवती का निर्गमन करने वाले प्रविष्ट मित्रावसु के 'संसर्पद्भिः समन्तात्' इत्यादि काव्य द्वारा उपनिबद्ध क्रोध के व्यभिचारी से उपकृत रस से अन्तरित होकर रखा गया है।

(शङ्का) शान्त रस तो है ही नहीं, क्योंकि मुनि ने उसके स्थायी का उपदेश नहीं किया है, यह आशङ्का करके कहते हैं—और शान्त—। विषयाभिलाष रूप तृष्णाओं का जो क्षय अर्थात् सब से निवृत्ति रूप निर्वेद है तद्रूप ही सुख है, स्थायी रूप में उस

ध्वन्यालोकः

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

लोक में जो कामसुख है और जो दिव्य महान् सुख है, ये दोनों तृष्णाक्षय रूप सुख के षोडशांश भी प्राप्त नहीं करते।

लोचनम्

तदेव सुखं तस्य स्थायिभूतस्य यः परिपोषो रस्यमानताकृतस्तदेव लक्षणं यस्य स शान्तो रसः। *प्रतीयत एवेति* । स्वानुभवेनापि निवृत्तभोजनाद्यशेषविषयेच्छाप्रसरत्वकाले सम्भाव्यत एव ।

अन्ये तु सर्वचित्तवृत्तिप्रशम एवास्य स्थायीति मन्यन्ते । तृष्णासद्भावस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपत्वे चेतोवृत्तित्वाभावेन भावत्वायोगात् । पर्युदासे त्वस्मत्पक्ष एवायम् । अन्ये तु—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥

इति भरतवाक्यं दृष्टवन्तः सर्वरससामान्यस्वभावं शान्तमाचक्षाणा अनुपजातविशेषान्तरचित्तवृत्तिरूपं शान्तस्य स्थायिभावं मन्यन्ते । एतच्च नातीवास्मत्पक्षाद् दूरम् । प्रागभावप्रध्वंसाभावकृतस्तु विशेषः । युक्तश्च प्रध्वंस एव

(निर्वेद) का जो रस्यमानताकृत परिपोष है वह रूप है जिसका ऐसा शान्त रस है। प्रतीत होता ही है—। भोजन आदि अशेष विषयों की इच्छा के प्रसरत्व के समय अपने अनुभव से भी सम्भावित होता ही है।

अन्य लोग सभी चित्तवृत्तियों का प्रशम ही इसका स्थायी है ऐसा मानते हैं। तृष्णा के सद्भाव के प्रसज्यप्रतिषेध (अर्थात् अत्यन्ताभाव) होने पर चित्तवृत्ति मात्र के अभाव से भावत्व सम्भव नहीं होगा। पर्युदास के प्रकार से (मानने पर) तो हमारा पक्ष ही यह है (हमें भी यह स्वीकार है कि सभी चित्तवृत्तियों का प्रशम का अर्थ सभी चित्तवृत्तियों का विरोधी चित्तवृत्तिविशेष है)। अन्य लोग तो—

भाव अपना-अपना निमित्त पाकर शान्त से प्रवृत्त होता है, परन्तु फिर निमित्त के समाप्त होने पर शान्त में ही प्रलीन हो जाता है।

इस भरत-वाक्य को देख कर सभी रस के सामान्य स्वरूप का अभाव रूप शान्त को कहते हुए शान्त का स्थायी भाव विशेष में उत्पन्न न होने वाली आन्तर (अर्थात् आत्मविषयक) चित्तवृत्ति को मानते हैं। यह भी हमारे पक्ष से अतीव दूर नहीं है। किन्तु भेद प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का है (अर्थात इस मत का प्रागभाव में पर्यवसान है और हमारे मत का प्रध्वंसाभाव में)। तृष्णाओं का प्रध्वंसक ही ठीक है।

लोचनम्

तृष्णानाम्। यथोक्तम्—'वीतरागजन्मादर्शनात्' इति। प्रयीयत एवेति। मुनिनाप्यङ्गीक्रियत एव 'क्वचिच्छमः' इत्यादि वदता। न च तदीया पर्यन्तावस्था वर्णनीया येन सर्वचेष्टोपरमादनुभावाभावेनाप्रतीयमानता स्यात्। 'शृङ्गारादेरपि फलभूमावर्णनीयतैव पूर्वभूमौ तु 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्', 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' इति सूत्रद्वयनीत्या चित्राकारा यमनियमादिचेष्टा राज्यधुरोद्वहनादिलक्षणा वा शान्तस्यापि जनकादेर्दृष्टैवेत्यनुभावसद्भावाद्यमनियमादिमध्यसम्भाव्यमानभूयोव्यभिचारिसद्भावाच्च प्रतीयत एव।

ननु न प्रतीयते नास्य विभावाः सन्तीति चेत्—न; प्रतीयत एव तावदसौ। तस्य च भवितव्यमेव प्राक्तनकुशलपरिपाकपरमेश्वरानुग्रहाध्यात्मरहस्यशास्त्रवीतरागपरिशीलनादिभिर्विभावैरितीयतैव विभावानुभावव्यभिचारिसद्भावः स्थायी च दर्शितः। ननु तत्र हृदयसंवादाभावाद्रस्यमानतैव नोपपन्ना। क एवमाह स नास्तीति, यतः प्रतीयत एवेत्युक्तम्।

जैसा कि कहा है—'क्योंकि रागरहित (पुरुष) का जन्म नहीं देखा जाता'। प्रतीत होता ही है—। 'कहीं पर शम है' इत्यादि कथन करते हुए मुनि ने भी अङ्गीकार किया ही है। उस (शान्त) की पर्यन्त अवस्था का वर्णन नहीं करना चाहिए, जिससे समस्त चेष्टाओं के उपरम हो जाने से उस शान्त की) अप्रतीति हो। फल-भूमि (अर्थात् सुरत आदि पर्यन्त भूमि) में शृङ्गार आदि की भी अवर्णनीयता है ही। 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (अर्थात उक्त निरोध के संस्कार से वह चित्त विक्षेपरहित होकर प्रशान्तवाही अर्थात् सदृशप्रवाहपरिणामी हो जाता है) और 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' (अर्थात् उस समाधि में स्थित योगी के छिद्रों = अन्तरालों में प्रत्ययान्तर = व्युत्थान रूप ज्ञान होते हैं अर्थात् प्राग्भूत व्युत्थान के अनुभव से उत्पन्न 'अहं मम' इत्याकारक क्षीयमाण संस्कारों से भी व्युत्थान रूप ज्ञान होते हैं) इन दोनों सूत्रों के अनुसार राज्यधुरा के उद्वहन रूप यम-नियमादि आश्चर्यकारिणी चेष्टाजनक आदि की भी देखी ही गई है इस कारण अनुभावों के सद्भाव से और यम, नियम आदि के बीच सम्भाव्यमान बहुत से व्यभिचारी भावों के सद्भाव से (शान्त रस) प्रतीत होता ही है।

यदि यह कहो कि (शान्त रस) प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसके विभाव नहीं हैं, तो ऐसा; वह तो प्रतीत ही होता है और उसके प्राक्तन कुशल (सत्कर्मों) का विपाक, परमेश्वर का अनुग्रह तथा अध्यात्मरहस्य के शास्त्रों और वीतरागों के सम्बन्ध में परिशीलन आदि विभाव होने ही चाहिए, इस प्रकार इतने से ही विभाव, अनुभाव, सञ्चारी का सद्भाव और स्थायी दिखाया गया। (शङ्का) उस (शान्त रस) में हृदयसंवाद के न होने से रस्यमानता ही नहीं बनती! (समाधान) कौन ऐसा कहता है कि वह (हृदयसंवाद) नहीं है, क्योंकि 'प्रतीत होता ही है' यह कहा जा चुका है।

ध्वन्यालोकः

यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति नैतावतासावलोकसामान्यमहानुभावचित्तवृत्तिविशेषः प्रतिक्षेप्तुं शक्यः। न च वीरे तस्यान्तर्भावः कर्तुं युक्तः। तस्याभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात्। अस्य चाहङ्कारप्रशमैकरूपतया स्थितेः। तयोश्चैवंविधविशेषसद्भावेऽपि

यदि वह (शान्त) सभी लोगों के अनुभव का गोचर नहीं है, इतने से अलोकसामान्य महापुरुषों के चित्तवृत्तिविशेष को निराकरण नहीं किया जा सकता। और वीर में उसका अन्तर्भाव करना ठीक नहीं। क्योंकि उस (वीर) का अभिमानमय रूप से व्यवस्थापन होता है। और यह (शान्त) अहङ्कार के एकमात्र प्रशमरूप से

लोचनम्

ननु प्रतीयते सर्वस्य श्लाघास्पदं न भवति। तर्हि वीतरागाणां शृङ्गारो न श्लाघ्य इति सोऽपि रसत्वाच्च्यवतामिति तदाह—*यदि नामेति*। ननु धर्मप्रधानोऽसौ वीर एवेति सम्भावयमान आह—*न चेति*। तस्येति वीरस्य। *अभिमानमयत्वेनेति*। उत्साहो ह्यहमेवंविध इत्येवंप्राण इत्यर्थः। अस्य चेति शान्तस्य। *तयोश्चेति*। ईहामयत्वनिरीहत्वाभ्यामत्यन्तविरुद्धयोरपीति चशब्दार्थः। वीररौद्रयोस्त्वत्यन्तविरोधोऽपि नास्ति। समानं रूपं च धर्मार्थकामार्जनोपयोगित्वम्।

नन्वेवं दयावीरो धर्मवीरो दानवीरो वा नासौ कश्चित्, शान्तस्यैवेदं नामान्तरकरणम्। तथा हि मुनिः—

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च।
रसवीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधसम्मितम्॥

(शङ्का) प्रतीत तो होता है पर सब की प्रशंसा का पात्र नहीं होता (अर्थात् सब लोग उसे नहीं चाहते)। (समाधान) तब तो वीतराग पुरुषों की दृष्टि में शृङ्गार श्लाध्य नहीं है तो वह भी रसत्व से च्युत हो जाय! इसे कहते हैं—यदि—। 'वह (शान्त) धर्मप्रधान वीर ही है' यह सम्भावना करते हुए कहते हैं—वीर में...ठीक नहीं—। 'उसका' अर्थात् वीर का। अभिमानमय रूप से—। अर्थात् 'मैं इस प्रकार का हूं' एतद्-रूप उत्साह होता है। 'और' शब्द का अर्थ है कि ईहामयत्व और निरीहत्व से अत्यन्त विरुद्ध भी (उन दोनों में)। वीर और रौद्र का तो अत्यन्त विरोध भी नहीं है। धर्म, अर्थ, काम के अर्जन का उपयोगित्व समान रूप है।

(शङ्का) इस प्रकार वह दयावीर, धर्मवीर अथवा दानवीर कोई नहीं, बल्कि यह शान्त का ही दूसरा नामकरण है। जैसा कि मुनि कहते हैं—

दानवीर, धर्मवीर और उसी प्रकार युद्धवीर ये रस वीर को ही ब्रह्माजी ने तीन प्रकार से विभक्त करके कहा है।

ध्वन्यालोकः

यद्यैक्यं परिकल्प्यते तद्वीररौद्रयोरपि तथा प्रसङ्गः। दयावीरादीनां च चित्तवृत्तिविशेषाणां सर्वाकारमहङ्काररहितत्वेन शान्तरसप्रभेदत्वम्, इतरथा तु वीरप्रभेदत्वमिति व्यवस्थाप्यमाने न कश्चिद्विरोधः। तदेवमस्ति शान्तो रसः। तस्य चाविरुद्धरसव्यवधानेन प्रबन्धे विरोधिरससमावेशे सत्यपि निर्विरोधत्वम्। यथा प्रदर्शिते विषये।

रहता है। और उन दोनों में इस प्रकार के विशेष (भेद) के विद्यमान रहने पर भी यदि ऐक्य (अभेद) की परिकल्पना करते हैं तो वीर और रौद्र में भी उस प्रकार का प्रसङ्ग होगा। और दयावीर आदि चित्तवृत्ति-विशेषों के सब प्रकार से अहङ्काररहित होने के कारण शान्त रस के प्रभेद हो सकते हैं, अन्यथा वीर रस के प्रभेद हैं, इस प्रकार व्यवस्था करने पर कोई विरोध नहीं है। तो इस प्रकार शान्त रस है। और प्रबन्ध में अविरुद्ध रस का व्यवधान करके उसके विरोधी रस का समावेश होने पर भी विरोध नहीं होगा। जैसे प्रदर्शित विषय में।

लोचनम्

इत्यागमपुरःसरं त्रैविध्यमेवाभ्यधात्। तदाह—दयावीरादीनाञ्चेत्यादिग्रहणेन। विषयजुगुप्सारूपत्वाद् बीभत्सेऽन्तर्भावः शङ्क्यते। सा त्वस्य व्यभिचारिणी भवति न तु स्थायितामेति, पर्यन्तनिर्वाहे तस्या मूलत एव विच्छेदात्। आधिकारिकत्वेन तु शान्तो रसो न निबद्धव्य इति चन्द्रिकाकारः। तच्चेहास्माभिर्न पर्यालोचितं, प्रसङ्गान्तरात्। मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः। स चायमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयपूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यलं बहुना॥ २६॥

इस आगम के अनुसार त्रैविध्य ही कहा है। उसे कहते हैं—'और दयावीर आदि' इत्यादि ग्रहण द्वारा। (शान्त रस के स्थायी के) विषयजुगुप्सा रूप होने के कारण बीभत्स में अन्तर्भाव की (कुछ लोग) सम्भावना करते हैं। परन्तु वह (जुगुप्सा) इसकी (शान्त की) व्यभिचारी भाव होती है, न कि स्थायी भाव है, पर्यन्त तक निर्वाह की स्थिति में वह मूल में ही विच्छिन्न हो जाती है। चन्द्रिकाकार का कहना है कि आधिकारिक रूप से शान्त रस को निवन्धन नहीं करना चाहिए। प्रसङ्गान्तर होने के कारण हमने उसका पर्यालोचन नहीं किया है। मोक्ष रूप फल वाला होने के कारण परमपुरुषार्थनिष्ठ होने से यह (शान्त) सभी रसों में प्रधानतम है। उसे हमारे उपाध्याय भट्टतौत ने 'काव्यकौतुक' में और हमने उसके 'विवरण' में पूर्वपक्ष और सिद्धान्त के द्वारा बहुत प्रकार से निर्णय किया है॥ २६॥

ध्वन्यालोकः

एतदेव स्थिरीकर्तुमिदमुच्यते—

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि ।
निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥ २७ ॥

रसान्तरव्यवहितयोरेकप्रबन्धस्थयोर्विरोधिता निवर्तत इत्यत्र न काचिद्भ्रान्तिः । यस्मादेकवाक्यस्थयोरपि रसयोरुक्तया नीत्या विरुद्धता निवर्तते । यथा—

भूरेणुदिग्धान्नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः ।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान्सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानांल्ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥

इसे ही स्थिर करने के लिए यह कहते हैं—

एक ही वाक्य में स्थित रहने वाले होने पर भी दो रसों का दूसरे रस के बीच में होने से समावेश होने पर विरोध नहीं होता ॥ २७ ॥

दूसरे रस के बीच में होने से एक ही प्रबन्ध में रहने वाले भी (रसों का) विरोध निवृत्त हो जाता है, इसमें कोई भ्रम नहीं। क्योंकि उक्त नीति के अनुसार एक वाक्य में रहने वाले (रसों) का भी विरोध निवृत्त हो जाता है। जैसे—

नये पारिजात की माला के पराग से वासित बाहुमध्य वाले, सुराङ्गनाओं द्वारा आलिङ्गन किए जाते हुए भुजमध्य वाले, सुगन्धि चन्दन के पानी के छिड़काव से युक्त कल्पलता के दुकूलों द्वारा झले जाते गए, विमान के पर्यङ्क पर बैठे वीरों ने ललनाओं की उंगलियों से दिखाए जाते हुए पृथ्वी की धूल में सने, सियारियों द्वारा कसकर पकड़े जाते हुए, खून से भिंगे और चमकते हुए मांसभक्षी पक्षियों के पंखों से झले जाते हुए अपने शरीरों को उस समय कुतूहल से आविष्ट होकर देखा।

लोचनम्

स्थिरीकर्तुमिति । शिष्यबुद्धावित्यर्थः । अपिशब्देन प्रबन्धविषयतया सिद्धोऽयमर्थ इति दर्शयति—*भूरेण्विति* । विशेषणैरतीव दूरापेतत्वमसम्भावनास्पद-

स्थिर करने के लिए—। अर्थात् शिष्य की बुद्धि में। 'भी' शब्द से यह बात सिद्ध हो चुकी है' यह दिखाते हैं—नये पारिजात—। विशेषणों से बहुत दूर की बात होना

ध्वन्यालोकः

इत्यादौ । अत्र हि शृङ्गारबीभत्सयोस्तदङ्गयोर्वा वीररसव्यवधानेन समावेशो न विरोधी ।

विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत् ।
विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतमा ह्यसौ ॥ २८ ॥

यथोक्तलक्षणानुसारेण विरोधाविरोधौ सर्वेषु रसेषु प्रबन्धेऽन्यत्र च निरूपयेत्सहृदयः; विशेषतस्तु शृङ्गारे । स हि रतिपरिपोषात्मकत्वाद्

इत्यादि में । यहाँ श्रृङ्गार और बीभत्स का अथवा उनके अङ्गों का बीच में वीर रस को रखकर समावेश विरोधी नहीं है ।

इस प्रकार सभी जगह विरोध और अविरोध का निरूपण करे, किन्तु श्रृङ्गार में विशेष रूप से; क्योंकि वह सबसे सुकुमार है ॥ २८ ॥

सहृदय (कवि) यथोक्त लक्षण के अनुसार सब रसों में, प्रबन्ध में और अन्यत्र विरोध और अविरोध का निरूपण करे, विशेष रूप से श्रृङ्गार में; क्योंकि वह रति का

लोचनम्

मुक्तम् । स्वदेहानित्यनेन देहत्वाभिमानादेव तादात्म्यसम्भावनानिष्पत्तेरेकाश्रयत्वमस्ति, अन्यथा विभिन्नविषयत्वात्को विरोधः । ननु वीर एवात्र रसो न शृङ्गारो न बीभत्स; किन्तु रतिजुगुप्से हि वीरं प्रति व्यभिचारीभूते। भवत्वेवम् , तथापि प्रकृतोदाहरणता तावदुपपन्ना । तदाह—*तदङ्गयोर्वेति* । तयोरङ्गे तत्स्थायिभावावित्यर्थः। *वीररसेति* । 'वीराः स्वदेहान्' इत्यादिना तदीयोत्साहाद्यवगत्या कर्तृकर्मणोः समस्तवाक्यार्थानुयायितया प्रतीतिरिति मध्यपाठाभावेऽपि सुतरां वीरस्य व्यवधायकतेति भावः ॥ २७ ॥

अन्यत्र चेति मुक्तकादौ। स हि शृङ्गारः सुकुमारतम इति सम्बन्धः।

और सम्भावना का आस्पद न होना कहा है । 'अपने शरीरों को' इससे शरीरत्वाभिमान के कारण ही तादात्म्य (अभेद) की सम्भावना निष्पन्न होती है अतः एकाश्रयत्व है, अन्यथा विभिन्न विषय होने के कारण कौन विरोध होता ! (शङ्का) यहां वीर ही रस है, न श्रृङ्गार है, न बीभत्स है, किन्तु रति और जुगुप्सा वीर के प्रति व्यभिचारी भाव हो गए हैं । (समाधान) इस प्रकार हो भी, तथापि प्रकृत में उदाहरण होना उपपन्न है । उसे कहते हैं—अथवा उनके अङ्गों का—। उनके अङ्ग अर्थात् उनके स्थायी भाव । वीर रस—। भाव यह कि 'वीरों ने अपने शरीरों को' इत्यादि से उनके उत्साह आदि के ज्ञान से कर्ता और कर्म की समस्त वाक्यार्थ में अनुगत रूप से प्रतीति होती है, इसके अनुसार बीच में पाठ न होने पर भी सुतरां वीर ही व्यवधायक है ।। २७ ।।

और अन्यत्र—। मुक्तक आदि में । वह श्रृङ्गार सुकुमारतम है, यह (वाक्य का)

ध्वन्यालोकः

रतेश्च स्वल्पेनापि निमित्तेन भङ्गसम्भवात्सुकुमारतमः सर्वेभ्यो रसेभ्यो मनागपि विरोधिसमावेशं न सहते ।

अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः ।
भवेत्तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते ॥ २९ ॥

तत्रैव च रसे सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः सौकुमार्यातिशययोगिनि कविरवधानवान् प्रयत्नवान् स्यात् । तत्र हि प्रमाद्यतस्तस्य सहृदयमध्ये क्षिप्रमेवावज्ञानविषयता भवति । श्रृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः ।

एवं च सति—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा ।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ॥ ३० ॥

परिपोषरूप होने से और रति का थोड़े भी निमित्त से भङ्ग सम्भव हो जाने से सब रसों से अधिक सुकुमार होता है, थोड़ा भी विरोधी का समावेश नहीं सहन करता ।

सत्कवि उसी रस में अतिशय अवधान करे, क्योंकि उसमें प्रमाद झट से लक्षित हो जाता है ॥ २९ ॥

सभी रसों से अतिशय सौकुमार्य रखने वाले उसी रस में कवि अवधान करे, प्रयत्नशील हो । क्योंकि उसमें प्रमाद करते हुए उसका अज्ञान शीघ्र ही सहृदयों के मध्य में विदित हो जायगा । श्रृङ्गार रस संसारी जनों के नियमतः अनुभव का विषय होने के कारण सभी रसों से कमनीय होने के कारण प्रधानभूत है ।

और ऐसा होने पर—

शिष्यों को उन्मुख करने के लिए जो काव्य की शोभा है उसके लिए ही उसके विरुद्ध रसों में उसके अङ्गों का स्पर्श अथवा दूषित नहीं होता ॥ ३० ॥

लोचनम्

सुकुमारस्तावद्रसजातीयस्ततोऽपि करुणस्ततोऽपि श्रृङ्गार इति तमप्रत्ययः ॥ २८–२९ ॥

एवं चेति । यतोऽसौ सर्वसंवादीत्यर्थः । तदिति । श्रृङ्गारस्य विरुद्धा ये शान्तादयस्तेष्वपि तदङ्गानां श्रृङ्गाराङ्गानां सम्बन्धी स्पर्शो न दुष्टः । तया

सम्बन्ध है । एक तो रसमात्र सुकुमार होता है, उसमें भी करुण और उसमें भी श्रृङ्गार इस लिए 'तमप्' प्रत्यय है ॥ २८–२९ ॥

और ऐसा— । अर्थात् जिस कारण वह (श्रृङ्गार) सर्वसंवादी (अर्थात् सभी सहृदयों के हृदय का संवाद रखने वाला) है । उसके— । श्रृङ्गार के विरुद्ध जो शान्त

ध्वन्यालोकः

शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः शृङ्गाराङ्गानां यः स न केवलमविरोधलक्षणयोगे सति न दुष्यति यावद्विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति। शृङ्गाररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः

शृङ्गार के विरुद्ध रसों में शृङ्गार के अङ्गों का जो स्पर्श है वह न केवल अविरोध के लक्षणों का योग होने पर नहीं दूषित होता, बल्कि शिष्यों को उन्मुख करने के निमित्त काव्य की शोभा के लिए ही अथवा किया जाता हुआ नहीं दूषित होता। क्योंकि शृङ्गार रस के अङ्गों द्वारा उन्मुख किए जाने पर शिष्य लोग सुखपूर्वक विनय के

लोचनम्

भङ्ग्या रसान्तरगता अपि विभावानुभावाद्या वर्णनीया यया शृङ्गाराङ्गभावमुपागमन्। यथा ममैव स्तोत्रे—

त्वां चन्द्रचूडं सहसा स्पृशन्ती प्राणेश्वरं गाढवियोगतप्ता।
सा चन्द्रकान्ताकृतिपुत्रिकेव संविद्विलीयापि विलीयते मे॥

इत्यत्र शान्तविभावानुभावानामपि शृङ्गारभङ्ग्या निरूपणम्। विनेयानुन्मुखीकर्तुं या काव्यशोभा तदर्थं नैव दुष्यतीति सम्बन्धः। वाग्रहणेन पक्षान्तरमुच्यते। तदेव व्याचष्टे—*न केवलमिति*। वाशब्दस्यैतद्व्याख्यानम्। अविरोधलक्षणं परिपोषपरिहारादि पूर्वोक्तम्। विनेयानुन्मुखीकर्तुं या काव्यशोभा तदर्थमपि वा विरुद्धसमावेशः न केवलं पूर्वोक्तैः प्रकारैः, न तु काव्यशोभा विनेयोन्मुखीकरणमन्तरेणास्ते, व्यवधानाव्यवधाने नापि लभ्येते

आदि हैं उनमें भी उस शृङ्गार के अङ्गों का सम्बन्धी स्पर्श दोषयुक्त नहीं। उस अङ्गी से रसान्तरगत भी विभाव, अनुभाव आदि का वर्णन करना चाहिए जिससे (वे) शृङ्गार के अङ्ग बन जाँय। जैसे, मेरे ही स्तोत्र में—

चन्द्र का भूषण धारण करने वाले तुम प्राणेश्वर को सहसा स्पर्श करती हुई, गाढ वियोग से तप्त मेरी संवित् (अन्तःकरण अथवा उसकी वृत्ति) चन्द्रकान्त की बनी पुतली की भांति विलीन होकर भी विलीन हो रही है।

यहां शान्त के विभाव और अनुभावों का भी शृङ्गार की भङ्गी से निरूपण है। 'शिष्यों को उन्मुख करने के लिए जो काव्य की शोभा है उसके लिए नहीं दूषित होता' यह (वाक्य का) सम्बन्ध है। 'अथवा' ग्रहण से पक्षान्तर कहा गया है। उसी का व्याख्यान करते हैं—न केवल—। 'अथवा' शब्द का यह व्याख्यान है। परिपोष परिहार आदि अविरोध के लक्षण पहले कहे जा चुके हैं। शिष्यों को उन्मुख करने के लिए जो काव्य की शोभा है उसके लिए भी अथवा विरुद्ध समावेश है, न केवल पूर्वोक्त प्रकारों से (विरुद्ध समावेश नहीं दूषित होता है), न कि काव्य की शोभा शिष्यों को उन्मुख करने के बिना हो सकती है, (बल्कि वह तो रसान्तर से व्यवधान और

ध्वन्यालोकः

सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति । सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता ।

किं च शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात्तदङ्गसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो न विरोधी । ततश्च—

उपदेशों को ग्रहण कर लेते हैं । सदाचार के उपदेशरूप नाटक आदि गोष्ठियों को मुनियों ने शिष्य जनों के हित के लिए ही निकाला है ।

और भी, शृङ्गार क्योंकि समस्त लोगों के मन को हरण करने वाला एवं सुन्दर होता है इस कारण उसके अङ्गों का समावेश काव्य में अतिशय शोभा को पुष्ट करता है, इस प्रकार भी विरोधी रस में शृङ्गार के अङ्गों का समावेश विरोधी नहीं । और इसलिए—

लोचनम्

यथान्यैर्व्याख्याते । *सुखमिति* । रञ्जनापुरःसरमित्यर्थः । ननु काव्यं क्रीडारूपं क च वेदादिगोचरा उपदेशकथा इत्याशङ्क्याह—*सदाचारेति* । *मुनिभिरिति*—भरतादिभिरित्यर्थः । एतच्च प्रभुमित्रसम्मितेभ्यः शास्त्रेतिहासेभ्यः प्रीतिपूर्वकं जायासम्मितत्वेन नाट्यकाव्यगतं व्युत्पत्तिकारित्वं पूर्वमेव निरूपितमस्माभिरिति न पुनरुक्तभयादिह लिखितम् ।

ननु शृङ्गाराङ्गताभङ्ग्या यद्विभावादिनिरूपणमेतावतैव किं विनेयोन्मुखीकारः । न; अस्ति प्रकारान्तरं, तदाह—*किं चेति* । *शोभातिशयमिति* । अलङ्कारविशेषमुपमाप्रभृतिं पुष्यति सुन्दरीकरोतीत्यर्थः । यथोक्तम्—'काव्यशोभायाः

अव्यवधान से भी प्राप्त होती है, जैसा कि अन्य लोगों द्वारा किए गए व्याख्यान में । सुखपूर्वक अर्थात् रञ्जनापूर्वक । 'काव्य तो क्रीडा रूप है फिर वेद आदि में रहने वाली उपदेश की कथा कहां ?' यह आशङ्का करके कहते हैं—सदाचार—। मुनियों ने—'। अर्थात् भरत आदि ने । प्रभुसम्मित तथा मित्रसम्मित शास्त्रों और इतिहासों से (अतिरिक्त ही) यह प्रीतिपूर्वक जायासम्मित रूप से नाट्यगत और काव्यगत व्युत्पत्तिकारित्व को हमने पहले ही निरूपण किया है, इसलिए पुनरुक्त होने के भय से यहां नहीं लिखा ।

(शङ्का) शृङ्गार के अङ्ग होने की भङ्गी जो विभाव आदि का निरूपण है उतने से ही (काम चल जायगा) शिष्यों को उन्मुख करना क्या ? (समाधान) नहीं; प्रकारान्तर है, उसे कहते हैं—और भी—। अतिशय शोभा को—। अर्थात् उपमा प्रभृति अलङ्कार विशेष को पुष्ट करता है । जैसे, कहा है—'काव्य की शोभा करने वाले धर्म

ध्वन्यालोकः

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
किं तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥

इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः ।

विज्ञायेत्थं रसादीनामविरोधविरोधयोः ।
विषयं सुकविः काव्यं कुर्वन्मुह्यति न क्वचित् ॥ ३१ ॥

'यह ठीक है कि स्त्रियां मनोरम होती हैं, यह ठीक है कि विभूतियां रम्य होती हैं, किन्तु जीवन मतवाली अङ्गना के कटाक्ष-भङ्ग की भांति चञ्चल होता है।'

इत्यादि में रसविरोध का दोष नहीं है।

इस प्रकार रस आदि के अविरोध और विरोध के विषय को जान कर सुकवि काव्य निर्माण करता हुआ कहीं पर भ्रमित नहीं होता ॥ ३१ ॥

लोचनम्

कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा' इति । *मत्ताङ्गनेति* । अत्र हि शान्तविभावे सर्वस्यानित्यत्वे वर्ण्यमाने न कस्यचिद्विभावस्य शृङ्गारभङ्ग्या निबन्धः कृतः, किं तु सत्यमिति परहृदयानुप्रवेशेनोक्तम्; न खल्वलीकवैराग्यकौतुकरुचिं प्रकटयामः, अपि तु यस्य कृते सर्वमभ्यर्थ्यते तदेवेदं चलमिति; तत्र मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गस्य शृङ्गारं प्रति सम्भाव्यमानविभावानुभावत्वेनाङ्गस्य लोलतायामुपमानतोक्तेति प्रियतमाकटाक्षो हि सर्वस्याभिलषणीय इति च तत्प्रीत्या प्रवृत्तिमान् गुडजिह्विकया प्रसक्तानुप्रसक्तवस्तुतत्त्वसंवेदनेन वैराग्ये पर्यवस्यति विनेयः ॥ ३० ॥

तदेतदुपसंहरन्नस्योक्तस्य प्रकरणस्य फलमाह—*विज्ञायेत्थमिति* ॥ ३१ ॥

गुण है और (शोभा) को बढ़ाने वाले अलङ्कार हैं'। मतवाली अङ्गना—। यहां सभी का अनित्यत्व रूप शान्त के विभाव के वर्णन में किसी विभाव का शृङ्गार की भङ्गी से निबन्धन नहीं किया है, 'किन्तु ठीक है' यह दूसरे के हृदय में अनुप्रवेश के द्वारा कहा है; हम मिथ्या वैराग्य के कौतुक के प्रति रुचि प्रकट करते हैं, अपितु जिसके लिए सब कुछ चाहते हैं वही यह (जीवन) चञ्चल है; वहां शृङ्गार के प्रति विभाव और अनुभाव के सम्भाव्यमान होने से अङ्गभूत मतवाली अङ्गना के अपाङ्गभङ्ग की चञ्चलता में उपमानता कही गई है, क्यों कि प्रियतमा का कटाक्ष सबका अभिलषणीय है इसलिए उसकी प्रीति से प्रवृत्त होकर शिष्य गुडजिह्विका द्वारा प्रसक्तानुप्रसक्त वस्तुओं के तत्त्व के संवेदन से वैराग्य में पर्यवसित होगा ॥ ३० ॥

तो इसका उपसंहार करते हुए इस उक्त प्रकरण का फल कहते हैं—इस प्रकार " जानकर ॥ ३१ ॥

ध्वन्यालोकः

इत्थमनेनानन्तरोक्तेन प्रकारेण रसादीनां रसभावतदाभासानां परस्परं विरोधस्याविरोधस्य च विषयं विज्ञाय सुकविः काव्यविषये प्रतिभातिशययुक्तः काव्यं कुर्वन्न क्वचिन्मुह्यति।

एवं रसादिषु विरोधाविरोधनिरूपणस्योपयोगित्वं प्रतिपाद्य व्यञ्जकवाच्यवाचकनिरूपणस्यापि तद्विषयस्य तत्प्रतिपाद्यते—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ ३२ ॥

वाच्यानामितिवृत्तविशेषाणां वाचकानां च तद्विषयाणां रसादि-

इस प्रकार अभी कहे गए प्रकार के अनुसार रस आदि रस, भाव उसके आभास के परस्पर विरोध और अविरोध के विषय को जान कर सुकवि काव्य के विषय में अतिशय प्रतिभा से युक्त होकर काव्य निर्माण करता हुआ कहीं पर भ्रमित नहीं होता।

इस प्रकार रस आदि में विरोध और अविरोध के निरूपण की उपयोगिता का प्रतिपादन करके उनके विषय (सम्बन्ध) के व्यञ्जक वाच्य तथा वाचक के निरूपण की भी उस (उपयोगिता) का प्रतिपादन करते हैं—

वाच्य और वाचकों का जो रसादिविषयक औचित्य से जोड़ना है महाकवि मुख्य कर्म है ॥ ३२ ॥

वाच्य अर्थात् इतिवृत्त विशेषों का और उनके विषय के वाचकों का रसादिविषयक

लोचनम्

रसादिषु रसादिविषये व्यञ्जकानि यानि वाच्यानि विभावादीनि वाचकानि च सुप्तिङादीनि तेषां यन्निरूपणं तस्येति। *तद्विषयस्येति*। रसादिविषयस्य। *तदिति* उपयोगित्वम्। *मुख्यमिति*। 'आलोकार्थी' इत्यत्र यदुक्तं तदेवोपसंहृतम्। *महाकवेरिति* सिद्धवत्फलनिरूपणम्। एवं हि महाकवित्वं नान्यथेत्यर्थः। *इतिवृत्तविशेषाणामिति*। इतिवृत्तं हि प्रबन्धवाच्यं तस्य विशेषाः प्रागुक्ताः— 'विभावभावानुभाव-सञ्चार्यौचित्यचारुणः। विधिः कथाशरीरस्य' इत्यादिना।

रसादि में अर्थात् रसादि के विषय में जो वाच्य विभावादि और वाचक सुप् तिङ् आदि हैं उनका जो निरूपण है उसका। उनके विषय के—। रसादि के विषय के। उस—। उपयोगिता। मुख्य—। 'आलोकार्थी' में जो कहा है उसी का उपसंहार किया है। महाकवि—। सिद्ध की भांति फल का निरूपण है, अर्थात् इस प्रकार महाकवित्व होता है अन्यथा नहीं। इतिवृत्तविशेष—। इतिवृत्त प्रबन्ध का वाच्य होता है, उसके विशेष पहले कहे गए हैं—विभाव, भाव, अनुभाव और सञ्चारी के औचित्य से

ध्वन्यालोकः

विषयेणौचित्येन यद्योजनमेतन्महाकवेर्मुख्यं कर्म। अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबन्धनम्।

एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति प्रतिपादयितुमाह—

औचित्य के साथ जो जोड़ना है, यह महान् कवि का मुख्य कर्म है। महाकवि का मुख्य यही व्यापार है जो रसादि को मुख्य रूप से काव्य का अर्थ बना कर उनकी व्यञ्जना के अनुगुण रूप से शब्दों और अर्थों का उपनिबन्धन है।

और यह रसादि के तात्पर्य से काव्य का निबन्धन भरत आदि में भी सुप्रसिद्ध ही है यह प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

लोचनम्

काव्यार्थीकृत्येति। अन्यथा लौकिकशास्त्रीयवाक्यार्थेभ्यः कः काव्यार्थस्य विशेषः। एतच्च निर्णीतमाद्योद्द्योते-'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' इत्यत्रान्तरे॥ ३२॥

एतच्चेति। यदस्माभिरुक्तमित्यर्थः। भरतादावित्यादिग्रहणादलङ्कारशास्त्रेषु परुषाद्या वृत्तय इत्युक्तं भवति। *द्वयोरपि तयोरिति*। वृत्तिलक्षणयोर्व्यवहारयोरित्यर्थः। *जीवभूता* इति। 'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इति ब्रुवाणेन मुनिना रसोचितेतिवृत्तसमाश्रयणोपदेशेन रसस्यैव जीवितत्वमुक्तम्। भामहादिभिश्च—

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं वाक्यार्थमुपभुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्॥

सुन्दर कथाशरीर का विधान०' इत्यादि द्वारा। काव्य का अर्थ बनाकर—। अन्यथा लौकिक और शास्त्रीय वाक्यार्थों से काव्यार्थ का विशेष (भेद) कौन होगा? यह प्रथम उद्योत में निर्णय कर चुके हैं—'काव्य का आत्मा वही अर्थ है' इस प्रसङ्ग में॥ ३२॥

और यह—। अर्थात् जिसे हमने कहा है। 'भरत आदि में' इस ग्रहण से यह बात कही गई कि अलङ्कार शास्त्रों में परुषा आदि वृत्तियां हैं। उन दोनों के भी—। अर्थात् दोनों वृत्ति रूप व्यवहारों के। जीवभूत—। 'वृत्तियां काव्य की माताएं होती हैं' यह कथन करते हुए मुनि ने रसोचित वृत्ति के समाश्रय के उपदेश द्वारा रस का ही जीवितत्व कथन किया है। और भामह आदि ने—

स्वादु काव्य के रस से मिले वाक्यार्थ का उपयोग करते हैं, (इसका मतलब हुआ कि) पहले मधु का आलेहन करके कटु औषध का पान करते हैं।

ध्वन्यालोकः

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः ॥३३॥

व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कैशिक्याद्या वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः। वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण संनिवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च च्छायामावहन्ति। रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवभूताः। इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव।

अत्र केचिदाहुः—'गुणगुणिव्यवहारो रसादीनामितिवृत्तादिभिः सह युक्तः, न तु जीवशरीरव्यवहारः। रसादिमयं हि वाच्यं प्रतिभासते न तु रसादिभिः पृथग्भूतम्' इति। अत्रोच्यते—यदि रसादिमयमेव

अर्थ और शब्द का रसादि के अनुगुण रूप से जो औचित्यवान् व्यवहार है वह ये दो प्रकार की वृत्तियां मानी गई हैं ॥ ३३ ॥

व्यवहार 'वृत्ति' कहलाता है। वहां रस के अनुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रित जो व्यवहार है वे ये कैशिकी आदि वृत्तियां हैं। और वाचकाश्रित (वृत्तियां) उपनागरिका आदि हैं। वृत्तियां रसादि के तात्पर्य से संनिवेशित होकर नाट्य और काव्य की अपूर्व शोभा कर देती हैं। रसादि उन दोनों के भी जीवभूत हैं। इतिवृत्त आदि तो शरीरभूत ही हैं।

यहां कुछ लोग कहते हैं—'रसादि का इतिवृत्त आदि के साथ गुणगुणिव्यवहार ठीक है न कि जीव-शरीरव्यवहार। क्यों कि वाच्य रसादिमय प्रतीत होता है न कि रसादि से पृथग्भूत (प्रतीत होता है)'। यहां कहते हैं—यदि वाच्य रसादिमय ही

लोचनम्

इत्यादिना रसोपयोगजीवितः शब्दवृत्तिलक्षणो व्यवहार उक्तः। *शरीरभूतमिति*। 'इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरं' इति मुनिः। नाट्यं च रस एवेत्युक्तं प्राक्।

गुणगुणिव्यवहार इति। अत्यन्तसम्मिश्रतया प्रतिभासनाद्धर्मधर्मिव्यवहारो युक्तः। *न त्विति*। क्रमस्यासंवेदनादिति भावः।

इत्यादि द्वारा रस के उपयोग से जीवित शब्दवृत्तिरूप व्यवहार कहा गया है। शरीरभूत—। मुनि के अनुसार 'इतिवृत्त नाट्य का शरीर है'। और नाट्य रस ही है यह पहले कह चुके हैं।

गुणगुणिव्यवहार—। अत्यन्त मिले-जुले (सम्मिश्र) रूप से मालूम पड़ने के कारण धर्मधर्मिव्यवहार ठीक है। न कि—। भाव यह कि क्रम मालूम नहीं पड़ता।

ध्वन्यालोकः

वाच्यं यथा गौरत्वमयं शरीरम्। एवं सति यथा शरीरे प्रतिभासमाने नियमेनैव गौरत्वं प्रतिभासते सर्वस्य तथा वाच्येन सहैव रसादयोऽपि सहृदयस्यासहृदयस्य च प्रतिभासेरन्। न चैवम्; तथा चैतत्प्रतिपादितमेव प्रथमोद्द्योते।

स्यान्मतम्; रत्नानामिव जात्यत्वं प्रतिपत्तृविशेषतः संवेद्यं वाच्यानां

है, जैसे शरीर गौरत्वमय है। ऐसा होने पर जैसे शरीर के प्रतीत होने पर नियमतः ही गौरत्व सबको प्रतीत होता है उस प्रकार वाच्य के साथ ही रसादि भी सहृदय और असहृदय को प्रतीत होने चाहिए। और ऐसा नहीं होता, जैसा कि प्रथम उद्योत में प्रतिपादन किया ही जा चुका है।

यह कह सकते हैं कि रत्नों के जात्यत्व की भांति वाच्यों का रसादिरूपत्व प्रति-

लोचनम्

प्रथमेति। 'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते' इत्यादिना प्रतिपादितमदः। ननु यद्यस्य धर्मरूपं तत्तत्प्रतिभाने सर्वस्य नियमेन भातीत्यनैकान्तिकमेतत्। माणिक्यधर्मो हि जात्यत्वलक्षणो विशेषो न तत्प्रतिभासेऽपि सर्वस्य नियमेन भातीत्याशङ्कते—*स्यादिति*। एतत्परिहरति—*नैवमिति*। एतदुक्तं भवति—अत्यन्तोन्मग्नस्वभावत्वे सति तद्धर्मत्वादिति विशेषणमस्माभिः कृतम्। उन्मग्नरूपता च न रूपवज्जात्यत्वस्य, अत्यन्तलीनस्वभावत्वात्। रसादीनां चोन्मग्नतास्त्येवेत्येवं केचिदेतं ग्रन्थमनैषुः। अस्मद्गुरवस्त्वाहुः—अत्रोच्यत इत्यनेनेदमुच्यते—यदि रसादयो वाच्यानां धर्मास्तथा सति द्वौ पक्षौ रूपादिसदृशा

प्रथम—। 'शब्द और अर्थ के शासन के ज्ञान मात्र से नहीं जाना जाता है' इत्यादि द्वारा यह प्रतिपादन किया जा चुका है।

(शङ्का) जो (गौरत्वादि) जिस (शरीरादि) का धर्मरूप है, वह (गौरत्वादि) उस (शरीरादि) के प्रतीत होने पर सब को नियमतः प्रतीत होते हैं, यह (नियम) अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है, क्योंकि माणिक्य का धर्म जात्यत्वरूप विशेष उस (माणिक्य) के प्रतीत होने पर भी सबको नियमतः प्रतीत नहीं होता, यह आशङ्का करते हैं—यह कह सकते हैं—। इसका परिहार करते हैं—ऐसा नहीं—। बात यह कही गई—'हमने यह विशेषण बनाया है कि उसका धर्म अत्यन्त उन्मग्न स्वभाव वाला होना चाहिए (अर्थात् धर्म को वस्तु से अत्यन्त भिन्न रूप से प्रतीत होना चाहिए)। और जात्यत्व में रूप की भांति उन्मग्नरूपता (वस्तु से भिन्नरूपता) नहीं, क्योंकि वह अत्यन्त लीन स्वभाव का है। और रसादि में उन्मग्नता है ही' इस प्रकार इसको कुछ लोगों ने लगाया है। परन्तु हमारे गुरु कहते हैं—'यहां कहते हैं' इससे यह बात कही गई है—यदि रसादि वाच्यों के धर्म हैं, ऐसा होने पर दो पक्ष होंगे (तो वे रसादि

ध्वन्यालोकः

रसादिरूपत्वमिति । नैवम्; यतो यथा जात्यत्वेन प्रतिभासमाने रत्ने रत्नस्वरूपानतिरिक्तत्वमेव तस्य लक्ष्यते तथा रसादीनामपि विभावानुभावादिरूपवाच्याव्यतिरिक्तत्वमेव लक्ष्येत । न चैवम्; न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः । अत एव च विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः

पत्ता विशेष द्वारा संवेद्य है । (किन्तु) ऐसा नहीं; क्योंकि जिस प्रकार जात्यत्व रूप से प्रतिभासमान रत्न में उस (जात्यत्व) को रत्न के स्वरूप से अनतिरिक्तता लक्षित होती है उस प्रकार रसादि की भी विभाव, अनुभाव आदि रूप वाच्य से अव्यतिरिक्तता ही लक्षित होनी चाहिए । किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि किसी के ऐसी प्रतीति नहीं होती कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी ही रस हैं । और इसलिए विभावादि की प्रतीति की अविनाभाविनी रसादि की प्रतीति है, इस प्रकार उन

लोचनम्

वा स्युर्माणिक्यगतजात्यत्वसदृशा वा । न तावत्प्रथमः पक्षः, सर्वान् प्रति तथानवभासात् । नापि द्वितीयः, जात्यत्ववदनतिरिक्तत्वेनाप्रकाशनात् । एष च हेतुराद्येऽपि पक्षे सङ्गच्छत एव । तदाह—स्यान्मतमित्यादिना न चैवमित्यन्तेन । एतदेव समर्थयति—*न हीति* । *अत एव चेति* । यतो न वाच्यधर्मत्वेन रसादीनां प्रतीतिः, यतश्च तत्प्रतीतौ वाच्यप्रतीतिः सर्वथानुपयोगिनी तत एव हेतोः क्रमेणावश्यं भाव्यं, सहभूतयोरुपकारायोगात् । स तु सहृदयभावनाभ्यासान्न लक्ष्यते अन्यथा तु लक्ष्येतापीत्युक्तं प्राक् । यस्यापि प्रतीतिविशेषात्मैव रस इत्युक्तिः, प्राक्तस्यापि व्यपदेशिवत्त्वाद्रसादीनां प्रतीतिरित्येवमन्यत्र ।

धर्म) रूपादि के सदृश हैं अथवा माणिक्य में रहने वाले जात्यत्व के सदृश हैं । प्रथम पक्ष नहीं होगा, क्योंकि (रसादि धर्म) सब को उस प्रकार प्रतीत नही होते । दूसरा भी नहीं होगा, क्योंकि जात्यत्व की भांति अनतिरिक्त रूप से प्रकाशित नहीं होते । यह हेतु प्रथम पक्ष में संगत होता ही है । उसे कहते हैं—'यह कह सकते हैं' इत्यादि द्वारा 'ऐसा नहीं इस (ग्रन्थ) तक । इसी का समर्थन करते हैं—नहीं होती कि—। और इसलिए—। जिस कारण वाच्य के धर्म के रूप में रसादि की प्रतीति नहीं है और जिस कारण उस (रसादि) की प्रतीति में वाच्य की प्रतीति सर्वथा अनुपयोगिनी है उसी कारण से क्रम को अवश्य होना चाहिए । क्योंकि साथ में उत्पन्न होने वाले एक दूसरे का उपकार नहीं कर सकते । परन्तु वह क्रम सहृदयों की भावना के अभ्यास से नहीं लक्षित होता अन्यथा लक्षित भी होता यह पहले कह चुके हैं । पहले जिसकी भी यह उक्ति है कि रस प्रतीतिविशेष रूप ही है उसकी भी रसादि की प्रतीति ('राहु का सिर' की भांति) व्यपदेशिवद्भाव (भेदारोप) से होगी । इसी प्रकार अन्यत्र भी ।

ध्वन्यालोकः

कार्यकारणभावेन व्यवस्थानात्क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न प्रकाश्यते 'इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादयः' इत्युक्तम्।

ननु शब्द एव प्रकरणाद्यवच्छिन्नो वाच्यव्यङ्ग्ययोः सममेव प्रतीतिमुपजनयतीति किं तत्र क्रमकल्पनया। न हि शब्दस्य वाच्यप्रतीतिपरामर्श एव व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति। न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः। अत्रापि

प्रतीतियों में कार्यकारणभाव के होने से क्रम अवश्यम्भावी है, परन्तु वह लाघव के कारण प्रकाशित नहीं होता, इस लिए 'अलक्ष्यक्रम होते हुए ही रसादि व्यङ्ग्य होते हैं' यह कहा गया है।

(शङ्का) शब्द ही प्रकरणादि से सहकृत होकर वाच्य और व्यङ्ग्य की साथ ही प्रतीति उत्पन्न करता है, वहाँ क्रम की कल्पना से क्या? वाच्य की प्रतीति का परामर्श ही शब्द के व्यञ्जक होने में कारण तो है नहीं। जैसा कि गीत आदि शब्दों से भी रस की अभिव्यक्ति है, न कि बीच में उन (गीतादि शब्दों) के वाच्य का

लोचनम्

ननु भवन्तु वाच्यादतिरिक्ता रसादयस्तत्रापि क्रमो न लक्ष्यत इति तावत्त्वयैवोक्तम्। तत्कल्पने च प्रमाणं नास्ति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थप्रतीतिमन्तरेण रसप्रतीत्युदयस्य पदविरहितस्वरालापगीतादौ शब्दमात्रोपयोगकृतस्य दर्शनात्। ततश्चैकयैव सामग्र्या सहैव वाच्यं व्यङ्ग्याभिमतं च रसादि भातीति वचनव्यञ्जनव्यापारद्वयेन न किञ्चिदिति तदाह—*नन्विति*। यत्रापि गीतशब्दानामर्थोऽस्ति तत्रापि तत्प्रतीतिरनुपयोगिनी ग्रामरागानुसारेणापहस्तितवाच्यानुसारतया रसोदयदर्शनात्। न चापि सा सर्वत्र भवन्ती दृश्यते, तदेतदाह—*न चेति*। तेषामिति गीतादिशब्दानाम्। आदिशब्देन वाद्यविल-

मानते हैं कि रसादि वाच्य से अतिरिक्त हैं, उनमें भी क्रम लक्षित नहीं होता यह बात तुमने ही कही है। उस (क्रम) की कल्पना में प्रमाण नहीं है। क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से अर्थ की प्रतीति के बिना, पदविरहित स्वरालाप वाले गीतादि में शब्दमात्र के उपयोग से हुआ रस-प्रतीति का उदय देखा जाता है। तब एक ही सामग्री से साथ ही वाच्य और व्यङ्ग्य के रूप में अभिमत रसादि प्रतीत होता है, इस प्रकार दो वचन और व्यञ्जन व्यापार से कुछ नहीं होता, उसे कहते हैं—(शङ्का)—। जहां भी गीत के शब्दों का अर्थ है वहां भी उसकी प्रतीति का उपयोग नहीं, क्योंकि ग्राम्य, राग के अनुसार वाच्य का अनुसरण छोड़ देने से रस का उदय देखा जाता है। ऐसा नहीं कि वह (वाच्य की प्रतीति) सब जगह होती देखी जाती है, इसलिए यह कहते हैं—न कि—। 'उनका' गीतादि शब्दों का। 'आदि' शब्द से वाद्य शब्द, विलपित शब्द आदि

ध्वन्यालोकः

ब्रूमः—प्रकरणाद्यवच्छेदेन व्यञ्जकत्वं शब्दानामित्यनुमतमेवैतदस्माकम्। किं तु तद्व्यञ्जकत्वं तेषां कदाचित्स्वरूपविशेषनिबन्धनं कदाचिद्वाचकशक्तिनिबन्धनम्। तत्र येषां वाचकशक्तिनिबन्धनं तेषां यदि वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव स्वरूपप्रतीत्या निष्पन्नं तद्भवेन्न तर्हि वाचकशक्तिनिबन्धनम्। अथ तन्निबन्धनं तन्नियमेनैव वाच्यवाचकभावप्रतीत्युत्तरकालत्वं व्यङ्ग्यप्रतीतेः प्राप्तमेव।

परामर्श होता है। (समाधान) यहां भी हम कहते हैं—प्रकरण आदि के सहकार से शब्दों का व्यञ्जकत्व है यह हमें अनुमत ही है। किन्तु वह व्यञ्जकत्व उनका कभी स्वरूप विशेष के कारण और कभी वाचक शक्ति के कारण है। उनमें जिनका वाचक शक्ति के कारण है उनके यदि वाच्य की प्रतीति के बिना ही स्वरूप की प्रतीति से वह निष्पन्न हो तो वाचकशक्तिमूलक नहीं है और यदि वाचकशक्तिमूलक है तो नियमतः ही व्यङ्ग्य की प्रतीति का वाच्यवाचकभाव की प्रतीति के उत्तरकाल में होना प्राप्त ही है।

लोचनम्

पितशब्दादयो निर्दिष्टाः। *अनुमतमिति*। 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति ह्यवोचामेति भावः। *न तर्हीति*। ततश्च गीतवदेवार्थावगमं विनैव रसावभासः स्यात्काव्यशब्देभ्यः, न चैवमिति वाचकशक्तिरपि तत्रापेक्षणीया; सा च वाच्यनिष्ठैवेति प्राग्वाच्ये प्रतिपत्तिरित्युपगन्तव्यम्। तदाह—*अथेति*। तदिति वाचकशक्तिः। *वाच्यवाचकभावेति*। सैव वाचकशक्तिरित्युच्यते।

एतदुक्तं भवति—मा भूद्वाच्यं रसादिव्यञ्जकम्; अस्तु शब्दादेव तत्प्रतीतिस्तथापि तेन स्ववाचकशक्तिस्तस्यां कर्तव्यायां सहकारितयावश्यापेक्षणीयेत्यायातं वाच्यप्रतीतेः पूर्वभावित्वमिति। ननु गीतशब्दवदेव वाचकशक्तिरत्रा-

निर्दिष्ट हैं। अनुमत—। भाव यह कि 'जहां अर्थ अथवा शब्द'० यह हमने कहा है। तो वाचकशक्तिमूलक नहीं है—। तब तो गीत ही की भांति अर्थज्ञान के बिना ही काव्य-शब्दों से रस की प्रतीति होगी, पर ऐसा नहीं, इसलिए वहां वाचकशक्ति की अपेक्षा है; और वह वाच्यनिष्ठ ही है, अतः पहले वाक्य का ज्ञान मानना चाहिए। उसे कहते हैं—यदि—। 'वह' अर्थात् वाचकशक्ति। वाच्यवाचकभाव—। वही वाचकशक्ति कहलाता है।

बात यह कही गई—वाच्य रसादि का व्यञ्जक मत हो; शब्द ही से उनकी प्रतीति हो, तथापि उसे (शब्द को) अपनी वाचकशक्ति की उसे (रसादि की प्रतीति को) उत्पन्न करने में अवश्य अपेक्षा करनी होगी, इस कारण वाच्य की प्रतीति का पहले उत्पन्न होने की बात आ जाती है। (शङ्का) गीत शब्दों की भांति ही यहां भी वाचक-

ध्वन्यालोकः

स तु क्रमो यदि लाघवान्न लक्ष्यते तत्किं क्रियते। यदि च वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दमात्रसाध्या रसादिप्रतीतिः स्यात्तदनवधारितप्रकरणानां वाच्यवाचकभावे च स्वयमव्युत्पन्नानां प्रतिपत्तॄणां काव्यमात्रश्रवणादेवासौ भवेत्। सहभावे च वाच्यप्रतीते-

वह क्रम यदि लाघव के कारण लक्षित नहीं होता तो क्या किया जाय? और यदि वाच्य-प्रतीति के बिना ही प्रकरणादि से सहकृत शब्दमात्र से साध्य रसादि की प्रतीति हो तो प्रकरण को नहीं समझे और स्वयं वाच्यवाचकभाव में व्युत्पत्तिरहित ज्ञाताओं को काव्यमात्र के सुनने से वह (रसादि की प्रतीति) होनी चाहिए। (वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति के) साथ होने पर वाच्य की प्रतीति का कोई उपयोग

लोचनम्

र्व्यनुपयोगिनी, यत्तु क्वचिच्छ्रुतेऽपि काव्ये रसप्रतीतिर्न भवति तत्रोचितः प्रकरणावगमादिः सहकारी नास्तीत्याशङ्क्याह - *यदि चेति*। प्रकरणावगमो हि क उच्यते? किं वाक्यान्तरसहायत्वम्? अथ वाक्यान्तराणां सम्बन्धिवाच्यम्। उभयपरिज्ञानेऽपि न भवति प्रकृतवाक्यार्थावेदने रसोदयः। *स्वयमिति*। प्रकरणमात्रमेव परेण केनचिद्येषां व्याख्यातमिति भावः। न चान्वयव्यतिरेकवर्तीं वाच्यप्रतीतिमपह्नुत्यादृष्टसद्भावाभावौ शरणत्वेनाश्रितौ मात्सर्यादधिकं किञ्चित्पुष्णीत इत्यभिप्रायः।

नन्वस्तु वाच्यप्रतीतेरुपयोगः क्रमाश्रयेण किं प्रयोजनम्, सहभावमात्रमेव ह्युपयोग एकसामग्र्यधीनतालक्षणमित्याशङ्क्याह—*सहेति*। एवं ह्युपयोग इति अनुपकारके सञ्ज्ञाकरणमात्रं वस्तुशून्यं स्यादिति भावः। उपकारिणो हि पूर्व-

शक्ति का कोई उपयोग नहीं, किन्तु जो कहा पर काव्य के सुनने पर भी रस की प्रतीति नहीं होती है वहां उचित प्रकरण-ज्ञान आदि सहकारी नहीं है, यह आशङ्का करके कहते हैं—और यदि—। प्रकरण-ज्ञान किसको कहते हैं? सहकारी वाक्यान्तर क्या है? यदि वाक्यान्तरों का वाच्य है तो दोनों के (वाक्यान्तर और उसका वाच्य) परिज्ञान से भी प्रकृत वाक्य के अर्थ का ज्ञान करने पर रस का उदय नहीं होता। स्वयं—। भाव यह कि किसी दूसरे ने किन्हीं (ज्ञाताओं) का प्रकरणमात्र ही व्याख्यान किया है। अभिप्राय यह कि यदि अन्वय-व्यतिरेक वाली वाच्यप्रतीति का अपह्नव करके प्रयोजक रूप से अदृष्ट के सद्भाव और अभाव को मानते हैं तो वे मात्सर्य से अधिक और की पुष्टि नहीं करते हैं।

अच्छा, वाच्य की प्रतीति का उपयोग तो माना, पर क्रम के आश्रयण से क्या प्रयोजन है? एक सामग्री की अधीनतारूप सहभावमात्र ही उपयोग है, यह आशङ्का करके कहते हैं—सहभाव—। भाव यह कि इस प्रकार यदि उपयोग है तो अनुपकारक का सिर्फ नामकरण वस्तुशून्य होगा। क्योंकि आपने भी अङ्गीकार किया है कि जो

ध्वन्यालोकः

रनुपयोगः, उपयोगे वा न सहभावः। येषामपि स्वरूपविशेषप्रतीतिनिमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीतादिशब्दानां तेषामपि स्वरूपप्रतीतेर्व्यङ्ग्यप्रतीतेश्च नियमभावी क्रमः। तत्तु शब्दस्य क्रियापौर्वापर्यमनन्यसाध्यतत्फलघटनास्वाशुभाविनीषु वाच्येनाविरोधिन्यभिधेयान्तरविलक्षणे रसादौ न प्रतीयते।

नहीं है और यदि उपयोग है तो (उन दोनों का) सहभाव नहीं होगा। और जिनका भी स्वरूपविशेष प्रतीतिमूलक व्यञ्जकत्व है, जैसे गीतादि शब्दों का, उनकी भी स्वरूपप्रतीति और व्यङ्ग्यप्रतीति का नियमतः क्रम है। किन्तु वह शब्द की क्रियाओं का पौर्वापर्य अनन्यसाध्य उस फल वाली आशुभाविनी घटनाओं में वाच्य से विरोध न रखने वाले तथा अन्य वाच्य से विलक्षण रसादि में प्रतीत नहीं होता है।

लोचनम्

भावितेति त्वयाप्यङ्गीकृतमित्याह—*येषामिति*। त्वद्दृष्टान्तेनैव वयं वाच्यप्रतीतेरपि पूर्वभावितां समर्थयिष्याम इति भावः। ननु संश्चेत्क्रमः किं न लक्ष्यत इत्याशङ्क्याह- *तत्त्विति*। क्रियापौर्वापर्यमित्यनेन क्रमस्य स्वरूपमाह—*क्रियेते इति*। क्रिये वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीती यदि वाभिधाव्यापारो व्यञ्जनापरपर्यायो ध्वननव्यापारश्चेति क्रिये तयोः पौर्वापर्यं न प्रतीयते। क्वेत्याह—*रसादौ* विषये। कीदृशि? अभिधेयान्तरात्तदभिधेयविशेषाद्विलक्षणे सर्वथैवानभिधेये अनेन भवितव्यं तावत्क्रमेणेत्युक्तम्। तथा वाच्येनाविरोधिनि, विरोधिनि तु लक्ष्यत एवेत्यर्थः। कुतो न लक्ष्यते इति निमित्तसप्तमीनिर्दिष्टं हेत्वन्तरगर्भं हेतुमाह—*आशुभाविनीष्विति*। अनन्यसाध्यतत्फलघटनासु घटनाः पूर्वं माधुर्यादिलक्षणाः

उपकारी होता है वह पहले होता है, यह कहते हैं—जिनका—। भाव यह कि तुम्हारे दृष्टान्त से ही हम वाच्य-प्रतीति का भी पूर्व में होना समर्थन करेंगे। तो यदि क्रम है तो क्यों नहीं लक्षित होता, यह आशङ्का करके कहते हैं—किन्तु वह—। 'क्रियाओं का पौर्वापर्य' इसके द्वारा क्रम का स्वरूप कहते हैं—क्रिया—। 'जो की जांय' वे क्रिया हैं, यहां वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीतियां (क्रिया) हैं, अथवा अभिधाव्यापार और व्यञ्जनाख्य ध्वनन व्यापार, ये क्रियायें हैं, उनका पौर्वापर्य प्रतीत नहीं होता। कहां? इस पर कहते हैं—रसादि विषय में। किस प्रकार के? उस अभिधेय विशेष अभिधेयान्तर से विलक्षण, अर्थात् उसे सर्वथा ही अनभिधेय होना चाहिए इसलिए 'क्रम से' यह कहा है। अर्थात् वह भी वाच्य से विरोध वाले (रसादि में), अविरोध वाले में तो लक्षित ही हो जाता है। किस कारण लक्षित नहीं होता, इस (प्रश्न के समाधान में) निमित्तसप्तमी के द्वारा निर्देश करके दूसरा हेतु देते हुए हेतु कहते हैं—आशुभाविनी—। 'अनन्यसाध्य उस फल वाली घटनाओं में' पहले गुणनिरूपण के अवसर में प्रतिपादित

लोचनम्

प्रतिपादिता गुणनिरूपणावसरे ताश्च तत्फलाः रसादिप्रतीतिः फलं यासाम्, तथा अनन्यत्तदेव साध्यं यासाम्, न ह्योजोघटनायाः करुणादिप्रतीतिः साध्या ।

एतदुक्तं भवति—यतो गुणवति काव्येऽसंकीर्णविषयतया सङ्घटना प्रयुक्ता ततः क्रमो न लक्ष्यते। ननु भवत्वेवं सङ्घटनानां स्थितिः, क्रमस्तु किं न लक्ष्यते अत आह—*आशुभाविनीषु*। वाच्यप्रतीतिकालप्रतीक्षणेन विनैव झटित्येव ता रसादीन् भावयन्ति तदास्वादं विदधतीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—सङ्घटनाव्यङ्ग्यत्वाद्रसादीनामनुपयुक्तेऽप्यर्थविज्ञाने पूर्वमेवोचितसङ्घटनाश्रवण एव यत आसूत्रितो रसास्वादस्तेन वाच्यप्रतीत्युत्तरकालभवेन परिस्फुटास्वाद-युक्तोऽपि पश्चादुत्पन्नत्वेन न भाति। अभ्यस्ते हि विषयेऽविनाभावप्रतीतिक्रम इत्थमेव न लक्ष्यते। अभ्यासो ह्ययमेव यत्प्रणिधानादिनापि विनैव संस्कारस्य बलवत्त्वात्सदैव प्रबुभुत्सुतया अवस्थापनमित्येवं यत्र धूमस्तत्राग्निरिति हृदय-स्थितत्वाद्व्याप्तेः पक्षधर्मज्ञानमात्रमेवोपयोगि भवतीति परामर्शस्थानमाक्रमति, झटित्युत्पन्ने हि धूमज्ञाने तद्व्याप्तिस्मृत्युपकृते तद्विजातीयप्रणिधानानुसरणादि-प्रतीत्यन्तरानुप्रवेशविरहादाशुभाविन्यामग्निप्रतीतौ क्रमो न लक्ष्यते तद्वदिहापि ।

माधुर्यादि लक्षण घटनाएं, रसादि की प्रतीति रूप फल है जिनका ऐसे वे (घटनाएं), तथा नहीं अन्य (अर्थात् वही) है साध्य जिनका (ऐसी वे घटनाएं), ओज वाली घटना का साध्य करुण आदि की प्रतीति नहीं है।

बात यह कही गई—जिस कारण गुणवान् काव्य में असङ्कीर्ण विषय के रूप में सङ्घटनाएं प्रयुक्त होती हैं, उस कारण क्रम लक्षित नहीं होता। इस प्रकार की सङ्घट-नाओं की स्थिति हो, किन्तु क्रम क्यों नहीं लक्षित होता है? इसलिए कहते हैं—आशुभाविनी—। वाच्य की प्रतीतिकाल की प्रतीक्षा के बिना ही झट से वे रसादि का भावन करने लगती है, अर्थात् उनका आस्वाद कराने लगती हैं। बात यह कही गई—रसादि के सङ्घटना से व्यङ्ग्य होने के कारण अर्थज्ञान के अनुपयुक्त होने पर भी पहले ही उचित सङ्घटना के श्रवण में ही जिस कारण थोड़ा स्फुरित (आसूत्रित) रसास्वाद होता है, (वह) वाच्य की प्रतीति के उत्तरकाल में होने वाले उस कारण से परिस्फुट आस्वाद से युक्त होकर भी पश्चात् उत्पन्न रूप से प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अभ्यस्त विषय में अविनाभाव (अर्थात् व्याप्ति) की प्रतीति का क्रम यों ही नहीं लक्षित होता। अभ्यास यही है जो कि प्रविधान आदि के बिना ही संस्कार के प्रबल होने के कारण हमेशा जानने के इच्छुक भाव से अवस्थापन है, इस प्रकार 'जहां धूम है वहां अग्नि है' इस व्याप्ति के हृदय में स्थित होने के कारण केवल (धूम आदि का पक्षधर्मता ज्ञान ही उपयोगी होता है, इस कारण परामर्श का स्थान ग्रहण कर लेता है, क्योंकि उस (वह्नि) की व्याप्ति की स्मृति से उपकृत धूमज्ञान के झटिति उत्पन्न होने पर उन (धूमज्ञान और व्याप्तिस्मृति) से विजातीय प्रणिधान का अनुसरण आदि अन्य प्रतीतियों का अनु-प्रवेश न होने से आशु होने वाली अग्नि की प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता है, उस

ध्वन्यालोकः

क्वचित्तु लक्ष्यत एव। यथानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिषु। तत्रापि कथमिति चेदुच्यते—अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ तावदभिधेयस्य तत्सामर्थ्याक्षिप्तस्य चार्थस्याभिधेयान्तरविलक्षणतयात्यन्तविलक्षणे ये प्रतीती तयोरशक्यनिह्नवो निमित्तनिमित्तिभाव इति स्फुटमेव तत्र पौर्वापर्यम्। यथा प्रथमोद्द्योते प्रतीयमानार्थसिद्ध्यर्थ-

परन्तु कहीं पर प्रतीत होता ही है, जैसे अनुरणन रूप व्यङ्ग्य की प्रतीतियों में। यदि कहो कि वहां पर भी कैसे? तो कहते हैं—अर्थशक्तिमूल अनुरणनरूपव्यङ्ग्य ध्वनि में अभिधेय की और उसकी सामर्थ्य से आक्षिप्त अर्थ की अन्य अभिधेय से विलक्षण रूप होने के कारण अत्यन्त विलक्षण जो प्रतीतियां हैं, उनके निमित्तनिमित्ति-भाव को छिपाया नहीं जा सकता, इसलिए स्पष्ट ही वहां पौर्वापर्य है। जैसे प्रथम उद्योत में प्रतीयमान अर्थ को सिद्ध करने के लिए उदाहृत गाथाओं में। और उस

लोचनम्

यदि तु वाच्याविरोधी रसो न स्यादुचिता च घटना न भवेत्तल्लक्ष्यतैव क्रम इति।

चन्द्रिकाकारस्तु पठितमनुपठतीति न्यायेन गजनिमीलिकया व्याचचक्षे—तस्य शब्दस्य फलं तद्वा फलं वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्यात्मकं तस्य घटना निष्पादना यतोऽनन्यसाध्या शब्दव्यापारैकजन्येति। न चात्रार्थसतत्त्वं व्याख्याने किञ्चिदुत्पश्याम इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन बहुना।

यत्र तु सङ्घटनाव्यङ्ग्यत्वं नास्ति तत्र लक्ष्यत एवेत्याह—*क्वचित्त्विति*। तुल्ये व्यङ्ग्यत्वे कुतो भेद इत्याशङ्कते—*तत्रापीति*। *स्फुटमेवेति*।

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः॥

प्रकार यहां भी। किन्तु यदि रस वाच्य का अविरोधी न हो और घटना उचित हो तो क्रम लक्षित होगा ही।

परन्तु 'चन्द्रिकाकार' ने 'पढ़े को ही पढ़ते हैं' इस न्याय के अनुसार गजनिमीलिका (हाथी की भांति ऊंघते हुए) व्याख्यान किया है—'उस शब्द का फल, अथवा वाच्य-व्यङ्ग्य प्रतीतात्मक वह फल, उसकी घटना अर्थात् निष्पादना जिस कारण अनन्य साध्य है, अर्थात् एकमात्र शब्द के व्यापार से जन्य है।' इस व्याख्यान में कोई अर्थतत्त्व हम नहीं देखते। पूर्वजों के साथ बहुत विवाद अनावश्यक है!

किन्तु जहां सङ्घटना द्वारा व्यङ्ग्यत्व नहीं है वहां प्रतीत होता ही है, यह कहते हैं—परन्तु कहीं पर—। व्यङ्ग्यत्व के सदृश होने पर कैसे भेद है, यह आशङ्का करते हैं—वहां पर भी—। स्पष्ट ही—।

अविवक्षितवाच्य और उससे इतर अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य होता है।

ध्वन्यालोकः

मुदाहृतासु गाथासु। तथाविधे च विषये वाच्यव्यङ्ग्ययोरत्यन्त-विलक्षणत्वाद्यैव एकस्य प्रतीतिः सैवेतरस्येति न शक्यते वक्तुम्। शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्ये तु ध्वनौ—

गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु

इत्यादावर्थद्वयप्रतीतौ शाब्द्यामर्थद्वयस्योपमानोपमेयभावप्रतीति-रुपमावाचकपदविरहे सत्यर्थसामर्थ्यादाक्षिप्तेति, तत्रापि सुलक्ष्यमभिधेय-व्यङ्ग्यालङ्कारप्रतीत्योः पौर्वापर्यम्।

पदप्रकाशशब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्येऽपि ध्वनौ विशेषणपद-स्योभयार्थसम्बन्धयोग्यस्य योजकं पदमन्तरेण योजनमशाब्दमप्यर्था-

प्रकार के विषय में वाच्य और व्यङ्ग्य के अत्यन्त विलक्षण होने के कारण जो ही एक की प्रतीति है वही अन्य की है ऐसा नहीं कह सकते। किन्तु शब्दशक्तिमूल अनुरणन-रूपव्यङ्ग्य ध्वनि में—

'पावनों में श्रेष्ठ किरणें (गायें) आप लोगों की अपरिमित प्रीति उत्पन्न करें।'

इत्यादि में, दो अर्थों की शाब्दी प्रतीति में उपमानोपमेयभाव की प्रतीति उपमा-वाचक पद के अभाव में अर्थ की सामर्थ्य से आक्षिप्त है, इसलिए वहां भी अभिधेय और व्यङ्ग्य अलङ्कार की प्रतीतियों का पौर्वापर्य स्पष्ट लक्षित हो जाता है।

पदप्रकाश शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूपव्यङ्ग्य ध्वनि में भी उभय अर्थ के साथ सम्बन्ध के योग्य विशेषण पद को जोड़ने वाले पद के बिना जोड़ना अशाब्द हो जाता

लोचनम्

इति हि पूर्वं वर्णसङ्घटनादिकं नास्य व्यञ्जकत्वेनोक्तमिति भावः। *गाथा-स्विति*। 'भम धम्मिअ' इत्यादिकासु। ताश्च तत्रैव व्याख्याताः। *शाब्द्यामिति*। शाब्द्यामपीत्यर्थः। उपमावाचकं यथेवादि। *अर्थसामर्थ्यादिति*। वाक्यार्थसाम-र्थ्यादिति यावत्।

एवं वाक्यप्रकाशशब्दशक्तिमूलं विचार्य पदप्रकाशं विचारयति—*पद-प्रकाशेति*। *विशेषणपदस्येति*। जड इत्यस्य। *योजकमिति*। कूप इति च

भाव यह कि इसमें पहले इस (ध्वनि) के व्यञ्जक रूप से वर्ण, सङ्घटना आदि को नहीं कहा है। गाथाओं में—। 'भम धम्मिअ' इत्यादि में। वे वहीं पर व्याख्यात हो चुकी हैं। शाब्दी (प्रतीति) में—। अर्थात् शाब्दी (प्रतीति) में भी। उपमावाचक यथा, इव आदि। अर्थ की सामर्थ्य से—। वाक्यार्थ की सामर्थ्य से।

इस प्रकार वाक्यप्रकाश शब्द शक्ति (ध्वनि) का विचार करके पदप्रकाश का विचार करते हैं—पदप्रकाश—। विशेषण पद को—। 'जड' इसको।—जोड़नेवाले—।

ध्वन्यालोकः

दवस्थितमित्यत्रापि पूर्ववदभिधेयतत्सामर्थ्याक्षिप्तालङ्कारमात्रप्रतीत्योः सुस्थितमेव पौर्वापर्यम्। आर्थ्यपि च प्रतिपत्तिस्तथाविधे विषये उभयार्थसम्बन्धयोग्यशब्दसामर्थ्यप्रसावितेति शब्दशक्तिमूला कल्प्यते। अविवक्षितवाच्यस्य तु ध्वनेः प्रसिद्धस्वविषयवैमुख्यप्रतीतिपूर्वकमेवार्थान्तरप्रकाशनमिति नियमभावी क्रमः। तत्राविवक्षितवाच्यत्वादेव वाच्येन सह व्यङ्ग्यस्य क्रमप्रतीतिविचारो न कृतः।

है तथापि अर्थ से अवस्थित होता है, इसलिए यहां भी पहले की भांति अभिधेय की और उसकी सामर्थ्य से आक्षिप्त अलङ्कारमात्र की प्रतीति का पौर्वापर्य सुस्थित ही है। उस प्रकार के विषय में आर्थी भी प्रतीति को उभय अर्थ के साथ सम्बन्ध के के योग्य शब्द से उत्पन्न की जाने के कारण शब्दशक्तिमूल मानी जाती है। अविवक्षितवाच्य ध्वनि का तो प्रसिद्ध अपने विषय में वैमुख्य की प्रतीतिपूर्वक ही अर्थान्तर का प्रकाशन है, अतः क्रम नियमतः होगा। वहां अविवक्षितवाच्य होने के कारण ही वाच्य के साथ व्यङ्ग्य के क्रम की प्रतीति का विचार नहीं किया है।

लोचनम्

अहमिति चोभयसमानाधिकरणतया संवलनम्। अभिधेयं च तत्सामर्थ्याक्षिप्तं च तयोरलङ्कारमात्रयोः। ये प्रतीती तयोः पौर्वापर्यं क्रमः। *सुस्थितं* सुलक्षितमित्यर्थः। मात्रग्रहणेन रसप्रतीतिस्तत्राप्यलक्ष्यक्रमैवेति दर्शयति। नन्वेवमार्थत्वं शब्दशक्तिमूलत्वं चेति विरुद्धमित्याशङ्क्याह—*आर्थ्यपीति*। नात्र विरोधः कश्चिदिति भावः। एतच्च वितत्य पूर्वमेव निर्णीतमिति न पुनरुच्यते। *स्वविषयेति*। अन्धशब्दादेरुपहतचक्षुष्कादिः स्वो विषयः, तत्र यद्वैमुख्यमनादर इत्यर्थः। *विचारो न कृत इति*। नामधेयनिरूपणद्वारेणेति शेषः। सहभावस्य शङ्कितुमत्रायुक्तत्वादिति भावः। एवं रसादयः कैशिक्यादीनामितिवृत्तभाग-

'कूप' और 'मैं' इन दोनों को समानाधिकरण रूप से सम्मिश्रण है। अभिधेय और उसकी सामर्थ्य से आक्षिप्त उन दो अलङ्कार मात्रों की। जो प्रतीतियाँ हैं उनका पौर्वापर्य अर्थात् क्रम। सुस्थित है अर्थात् सुलक्षित है। 'मात्र' ग्रहण से यह दिखाते हैं कि रस की प्रतीति वहाँ भी सुलक्ष ही है। तब तो इस प्रकार आर्थ होना और शब्दशक्तिमूल होना विरुद्ध है, यह आशङ्का करके कहते हैं—आर्थी भी—। भाव यह कि यहाँ कोई विरोध नहीं। इसे विस्तारपूर्वक पहले ही निर्णय कर चुके हैं, इसलिये फिर नहीं कहते हैं। अपने विषय में—। अर्थात् 'अन्ध' आदि शब्द का 'उपहतचतुष्क' (अंधी आँखों वाला आदमी) अपना विषय है, उसमें वैमुख्य अर्थात् अनादर। विचार नहीं किया है—। शेष यह है—'नाम के निरुपण द्वारा'। भाव यह कि यहाँ सहभाव की शङ्का भी ठीक नहीं। इस प्रकार इतिवृत्त के भाग रूप कैशिकी आदि

ध्वन्यालोकः

तस्मादभिधानाभिधेयप्रतीत्योरिव वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योर्निमित्तनिमित्तिभावान्नियमभावी क्रमः । स तूक्तयुक्त्या क्वचिल्लक्ष्यते क्वचिन्न लक्ष्यते ।

तदेवं व्यञ्जकमुखेन ध्वनिप्रकारेषु निरूपितेषु कश्चिद् ब्रूयात्—किमिदं व्यञ्जकत्वं नाम व्यङ्ग्यार्थप्रकाशनम्, न हि व्यञ्जकत्वं

इसलिए अभिधान और अभिधेय की प्रतीति की भांति ही वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति का निमित्तनिमित्तिभाव के कारण क्रम नियमभावी है। किन्तु वह उक्त युक्ति के अनुसार कहीं पर लक्षित होता है, कहीं पर नहीं लक्षित होता है।

(शङ्का) तो इस प्रकार व्यञ्जक के द्वारा ध्वनि के प्रकारों का निरूपण होने पर यदि कोई कहे—क्या यह व्यञ्जकत्व व्यङ्ग्य अर्थ का प्रकाशन (रूप) है ? अर्थ का

लोचनम्

रूपाणां वृत्तीनां जीवितमुपनागरिकाद्यानां च सर्वस्यास्योभयस्यापि वृत्तिव्यवहारस्य रसादिनियन्त्रितविषयत्वादिति यत्प्रस्तुतं तत्प्रसङ्गेन रसादीनां वाच्यातिरिक्तत्वं समर्थयितुं क्रमो विचारित इत्येतदुपसंहरति—*तस्मादिति* । अभिधानस्य शब्दरूपस्य पूर्वं प्रतीतिस्ततोऽभिधेयस्य । यदाह तत्र भवान्—

'विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते' इत्यादि ।

अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात्किमाहेत्यभिधीयते' इत्यत्रापि चाविनाभाववत्समयस्याभ्यस्तत्वात्क्रमो न लक्ष्येतापि ।

उद्द्योतारम्भे यदुक्तं व्यञ्जनमुखेन ध्वनेः स्वरूपं प्रतिपाद्यत इति तदिदानीमुपसंहरन्व्यञ्जकभावं प्रथमोद्द्योते समर्थितमपि शिष्याणामेकप्रघट्टकेन हृदि निवेशयितुं पूर्वपक्षमाह—*तदेवमिति* । *कश्चिदिति* । मीमांसकादिः । *किमिदमिति* ।

और उपनागरिका आदि वृत्तियों के जीवित हैं, क्योंकि यह समस्त वृत्तिव्यवहार का विषय रसादि से नियन्त्रित होता है, यह जो प्रस्तुत था उसके प्रसंग से रसादि का वाच्यातिरिक्तत्व समर्थन करने के लिए क्रम विचार किया है। अब इसे उपसंहार करते हैं—इसलिए–। पहले शब्दरूप अभिधान की प्रतीति तब अभिधेय की। क्योंकि महानुभाव का कहते हैं—

'स्वयं ज्ञात न हुए शब्दों से अर्थ प्रकाशित नहीं होता है' इत्यादि।

इसलिए रूप के ज्ञात न होने के कारण 'क्या कहते हैं ?' 'यह कहते हैं' यहाँ पर भी (अर्थात् आभिधान और अभिधेय की प्रतीतियों में भी) अविनाभाव की भाँति समय (अर्थात् सङ्केत) के अभ्यस्त होने के कारण क्रम लक्षित न भी होगा।

उद्योत के आरम्भ में जो कहा है कि व्यञ्जक के द्वारा ध्वनि का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं, उसका अब उपसंहार करते हुए व्यञ्जकत्व का प्रथम उद्योत में समर्थन हो जाने पर भी एक प्रकरण के द्वारा शिष्यों के हृदय में निविष्ट करने के लिए पूर्वपक्ष कहते हैं—

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यत्वं चार्थस्य व्यञ्जकसिद्ध्यधीनं व्यङ्ग्यत्वम्, व्यङ्ग्यापेक्षया च व्यञ्जकत्वसिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयादव्यवस्थानम्। ननु वाच्यव्यतिरिक्तस्य व्यङ्ग्यस्य सिद्धिः प्रागेव प्रतिपादिता तत्सिद्ध्यधीना च व्यञ्जकसिद्धिरिति कः पर्यनुयोगावसरः। सत्यमेवैतत्; प्रागुक्तयुक्तिभिर्वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सिद्धिः कृता, स त्वर्थो व्यङ्ग्यतयैव

व्यञ्जकत्व और व्यङ्ग्यत्व इसलिए अव्यवस्थित है कि व्यङ्ग्यत्व की सिद्धि व्यञ्जक की सिद्धि के अधीन है और व्यङ्ग्य की अपेक्षा से व्यञ्जकत्व की सिद्धि है यह अन्योन्याश्रय हो जाता है। (समाधान) वाच्य से व्यतिरिक्त व्यङ्ग्य की सिद्धि का प्रतिपादन पहले ही कर चुके हैं, और उसके अधीन व्यञ्जक की सिद्धि है, फिर प्रश्न का अवसर कैसा? (शङ्का) यह ठीक ही है; पहले कही हुई युक्तियों द्वारा वाच्य से व्यतिरिक्त वस्तु की सिद्धि की है, परन्तु उस अर्थ को व्यङ्ग्यरूप से ही क्यों व्यपदेश करते हैं? और जहां (वह अर्थ) प्राधान्यतः रहता है वहां उसे वाच्यरूप से ही व्यपदेश

लोचनम्

वक्ष्यमाणश्चोदकस्याभिप्रायः। *प्रागेवेति*। प्रथमोद्द्योते अभाववादनिराकरणे। अतश्च न व्यञ्जकसिद्ध्य तत्सिद्धिर्येनान्योन्याश्रयः शङ्क्येत, अपि तु हेत्वन्तरैस्तस्य साधितत्वादिति भावः। तदाह—*तत्सिद्धीति*। *स त्विति*। अस्त्वसौ द्वितीयोऽर्थः, तस्य यदि व्यङ्ग्य इति नाम कृतम्, वाच्य इत्यपि कस्मान्न क्रियते? व्यङ्ग्य इति वा वाच्याभिमतस्यापि कस्मान्न क्रियते? अवगम्यमानत्वेन हि शब्दार्थत्वं तदेव वाचकत्वम्। अभिधा हि यत्पर्यन्ता तत्रैवाभिधायकत्वमुचितम्, तत्पर्यन्तता च प्रधानीभूते तस्मिन्नर्थ इति मूर्धाभिषिक्तं ध्वनेर्य-

तो इस प्रकार—। कोई—। मीमांसक आदि। क्या यह—। अर्थात् चोद्यवादी (दोषद्रष्टा) का वक्ष्यमाण अभिप्राय। पहले ही—। प्रथम उद्योत में अभाववाद के निराकरण के प्रसङ्ग में। भाव यह कि इसलिए व्यञ्जक की सिद्धि से उसकी सिद्धि नहीं होती है, जिससे अन्योन्याश्रय की शङ्का की जाय, बल्कि अन्य हेतुओं से वह सिद्ध किया जाता है। इसलिए कहते हैं—उसकी सिद्धि—। परन्तु उस—। माना कि वह दूसरा अर्थ है, यदि उसका 'व्ङ्ग्य' नाम देते हैं तो 'वाच्य' भी नाम क्यों नहीं करते? अथवा वाच्य रूप से अभिमत का भी 'व्यङ्ग्य' क्यों नहीं (नाम) करते है? शब्द के द्वारा जो अवगम्यमानत्व है वही वाचकत्व है। जहाँ तक अभिधा है वहीं अभिधायकत्व उचित है और उस (अभिधा) की पर्यन्तता प्रधानीभूत उस अर्थ में है, इस प्रकार जो ध्वनि का मूर्धाभिषिक्त रूप निरुपण किया गया है, उसमें ही अभिधा व्यापार को होना ठीक है।

ध्वन्यालोकः

कस्माद्व्यपदिश्यते यत्र च प्राधान्येनानवस्थानं तत्र वाच्यतयैवासौ व्यपदेष्टुं युक्तः, तत्परत्वाद्वाक्यस्य। अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापारः। किं तस्य व्यापारान्तरकल्पनया? तस्मात्तात्पर्यविषयो योऽर्थः स तावन्मुख्यतया वाच्यः। या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीतिः सा तत्प्रतीतेरुपायमात्रं पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीतेः।

करना ठीक है, क्योंकि वाक्य का तात्पर्य उसी में है। और इसलिए उस (अर्थ) के प्रकाशक वाक्य का वाचकत्व ही व्यापार है। उसके अन्य व्यापार की कल्पना से क्या लाभ? इसलिए जो अर्थ तात्पर्य का विषय है वह मुख्यरूप से वाच्य है। किन्तु जो उस प्रकार के विषय में बीच में वाच्यान्तर की प्रतीति है वह उस उस प्रतीति का वाक्यार्थप्रतीति का पदार्थप्रतीति की भांति उपायमात्र है।

लोचनम्

तत्रैवाभिधाव्यापारेण भवितुं युक्तम्। तदाह—*यत्र चेति* *इति*। तद्व्यङ्ग्याभिमतं प्रकाशयत्यवश्यं यद्वाक्यं तस्येति। *उपायमात्रमित्यनेन* साधारण्योक्त्या भाट्टं प्राभाकरं वैयाकरणं च पूर्वपक्षं सूचयति। भाट्टमते हि—

वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥

इति शब्दावगतैः पदार्थैस्तात्पर्येण योऽर्थ उत्थाप्यते स एव वाक्यार्थः, स एव च वाच्य इति। प्राभाकरदर्शनेऽपि दीर्घदीर्घो व्यापारो निमित्तिनि वाक्यार्थे, पदार्थानां तु निमित्तभावः पारमार्थिक एव। वैयाकरणानां तु सोऽपारमार्थिक

इसलिए कहते हैं—और जहाँ—। उसके प्रकाशक—. उस व्यङ्ग्य रूप अभिमत को जो वाक्य अवश्य प्रकाशित करता है उसका। 'उपाय मात्र' साधारण कथन से भाट्ट, प्राभाकर और वैयाकरण पूर्वपक्ष को सूचित करते हैं। क्योंकि भाट्टमत में वाक्यार्थ के ज्ञान के लिए उन (पदों) की प्रवृत्ति में पदार्थ का प्रतिपादन पाक कार्य में काष्ठों की ज्वाला की भाँति नान्तरीयक (उपाय मात्र) है।

इसलिए शब्दों से अवगत पदार्थों द्वारा तात्पर्य रूप से जो अर्थ उठाया जाता है वही वाक्यार्थ है और वही वाच्य है। प्राभाकरदर्शन में भी दीर्घदीर्घ व्यापार नैमित्तिक कार्यरूप-वाक्यार्थ में (होता है), किन्तु पदार्थों का निमित्तभाव पारमार्थिक ही होता है। (वैयाकरणों की दृष्टि में) वह अपारमार्थिक है यह विशेष है। इसे हमने प्रथम

ध्वन्यालोकः

अत्रोच्यते—यत्र शब्दः स्वार्थमभिदधानोऽर्थान्तरमवगमयति तत्र यत्तस्य स्वार्थाभिधायित्वं यच्च तदर्थान्तरावगमहेतुत्वं तयोरविशेषो विशेषो वा। न तावदविशेषः; यस्मात्तौ द्वौ व्यापारौ भिन्नविषयौ भिन्नरूपौ च प्रतीयेते एव। तथाहि वाचकत्वलक्षणो व्यापारः शब्दस्य स्वार्थविषयः गमकत्वलक्षणस्त्वर्थान्तरविषयः । न च स्वपरव्यवहारो वाच्यव्यङ्ग्ययोरपह्नोतुं शक्यः, एकस्य सम्बन्धित्वेन प्रतीतेरपरस्य सम्बन्धिसम्बन्धित्वेन। वाच्यो ह्यर्थः साक्षाच्छब्दस्य

यहां कहते हैं—जहां शब्द अपने अर्थ का अभिधान करता हुआ अर्थान्तर का अवगमन कराता है वहां जो उसका उसका स्वार्थाभिधायित्व और जो उसके अर्थान्तर का अवगमहेतुत्व है उन दोनों में अविशेष है अथवा विशेष ? अविशेष तो नहीं है, क्योंकि वे दोनों व्यापार भिन्न विषय और भिन्नरूप प्रतीत होते ही हैं। जैसा कि शब्द का वाचकत्वरूप व्यापार अपने अर्थ को विषय करता है, किन्तु गमकत्वरूप (व्यापार) अर्थान्तर को विषय करता है। वाच्य और व्यङ्ग्य के स्व-पर व्यवहार का अपह्नव नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक सम्बन्धीरूप से प्रतीत होता है दूसरा सम्बन्धी के सम्बन्धी रूप से। वाच्य अर्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी है, किन्तु

लोचनम्

इति विशेषः। एतच्चास्माभिः प्रथमोद्द्योत एव वितत्य निर्णीतमिति न पुनरायस्यते ग्रन्थयोजनैव तु क्रियते। तदेतन्मतत्रयं पूर्वपक्षे योज्यम्।

अत्रेति, पूर्वपक्षे। *उच्यत* इति सिद्धान्तः। वाचकत्वं गमकत्वं चेति स्वरूपतो भेदः स्वार्थेऽर्थान्तरे च क्रमेणेति विषयतः। ननु तस्माच्चेदसौ गम्यतेऽर्थः कथं तर्ह्युच्यतेऽर्थान्तरमिति। नो चेत्स तस्य न कश्चिदिति को विषयार्थ इत्याशङ्क्याह—*न चेति*। *न स्यादिति*! एवकारो भिन्नक्रमः, नैव स्यादित्यर्थः। यावता न साक्षात्सम्बन्धित्वं तेन युक्त एवार्थान्तरव्यवहार इति विषयभेद

उद्योत में ही विस्तार करके निर्णय किया है, इसलिए पुनः श्रम नहीं करते, किन्तु ग्रन्थ की योजना है कर देते हैं। इन तीनों मतों को पूर्वपक्ष में लगाना चाहिए।

यहां अर्थात् पूर्वपक्ष में। कहते हैं सिद्धान्त। वाचकत्व और गमकत्व यह स्वरूपतः भेद है और क्रम से स्वार्थ में और अर्थान्तर में विषयतः (भेद) है। यदि उस (शब्द) से वह अर्थ (व्यङ्ग्य अर्थ) अवगत होता है तो क्यों अर्थान्तर कहते हैं ? यदि नहीं, तो उसका (वह) कोई नहीं, फिर 'विषय' का अर्थ क्या ? यह आशङ्का करके कहते हैं—स्व-पर व्यवहार—। नहीं होगा—। 'ही' भिन्नक्रम है, अर्थात् नहीं ही होगा। जिस कारण साक्षात् सम्बन्धित्व नहीं है उस कारण अर्थान्तर व्यवहार ठीक ही

ध्वन्यालोकः

सम्बन्धी तदितरस्त्वभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तः सम्बन्धिसम्बन्धी। यदि च स्वसम्बन्धित्वं साक्षात्तस्य स्यात्तदार्थान्तरत्वव्यवहार एव न स्यात्। तस्माद्विषयभेदस्तावत्तयोर्व्यापारयोः सुप्रसिद्धः। रूपभेदोऽपि प्रसिद्ध एव। न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः। अवाचकस्यापि गीतशब्दादे रसादिलक्षणार्थावगमदर्शनात्। अशब्दस्यापि चेष्टादेरर्थविशेषप्रकाशनप्रसिद्धेः। तथाहि 'व्रीडायोगान्नतवदनया' इत्यादिश्लोके चेष्टाविशेषः सुकविनार्थप्रकाशनहेतुः प्रदर्शित एव। तस्माद्भिन्नविषय-

उससे इतर (व्यङ्ग्य अर्थ) अभिधेय की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर सम्बन्धी का सम्बन्धी है। यदि वह शब्द का साक्षात् सम्बन्धी होगा तब (उसमें) अर्थान्तरत्व का व्यवहार ही नहीं होगा। इसलिए उन दोनों व्यापारों का विषयभेद सुप्रसिद्ध है। रूपभेद भी प्रसिद्ध ही है, क्योंकि जो ही अभिधानशक्ति है वही अवगमनशक्ति नहीं है। क्योंकि अवाचक भी गीत शब्द आदि से रसादिरूप अर्थ का अवगम देखा जाता है अशब्द भी चेष्टा आदि से अर्थविशेष के प्रकाशन की प्रसिद्धि है। जैसा कि 'व्रीडायोगान्नतवदनया' इत्यादि श्लोक में सुकवि ने अर्थ प्रकाशन के हेतु चेष्टाविशेष को दिखाया ही है। इसलिए भिन्न विषय और भिन्नरूप होने के कारण शब्द का जो

लोचनम्

उक्तः। ननु भिन्नेऽपि विषये अक्षशब्दादेर्बह्वर्थस्य एक एवाभिधालक्षणो व्यापार इत्याशङ्क्य रूपभेदमुपपादयति—*रूपभेदोऽपीति*। प्रसिद्धिमेव दर्शयति—*न हीति*। विप्रतिपन्नं प्रति हेतुमाह—*अवाचकस्यापीति*। यदेव वाचकत्वं तदेव गमकत्वं यदि स्यादवाचकस्य गमकत्वमपि न स्यात्, गमकत्वे नैव वाचकत्वमपि न स्यात्। न चैतदुभयमपि गीतशब्दे शब्दव्यतिरिक्ते चाधोवक्त्रत्वकुचकम्पनबाष्पावेशादौ तस्यावाचकस्याप्यवगमकारित्वदर्शनादवगमकारिणोऽप्यवाचकत्वेन प्रसिद्धत्वादिति तात्पर्यम्। एतदुपसंहरति—*तस्माद्भिन्नेति*।

है, इसलिए विषयभेद कहा है। विषय भिन्न होने पर भी बह्वर्थ 'अक्ष' आदि शब्दों का एक ही अभिधारूप व्यापार होगा, यह आशङ्का करके रूपभेद का उपपादन करते हैं—रूपभेद भी—। प्रसिद्धि को ही दिखाते हैं—नहीं—। विप्रतिपन्न के प्रति हेतु कहते हैं—अवाचक का—। तात्पर्य यह कि यदि जो ही वाचकत्व है वही गमकत्व है तो अवाचक का भी गमकत्व न होगा, गमकत्व न होने पर वाचकत्व भी नहीं ही होगा। यह दोनों भी (वाचकत्व और गमकत्व) गीत शब्द में और शब्दव्यतिरिक्त नीच मुख होना, कुचकम्पन, वाष्पावेश आदि में नहीं हैं, क्योंकि वह अवाचक (गीत शब्द भी) अवगमकारी देखा जाता है और अवगमकारी भी अवाचक रूप से प्रसिद्ध होता है। इसका उपसंहार करते हैं—इसलिए भिन्न—। नहीं—। वाच्य अभिधा

ध्वन्यालोकः

त्वाद्भिन्नरूपत्वाच्च स्वार्थाभिधायित्वमर्थान्तरावगमहेतुत्वं च शब्दस्य यत्तयोः स्पष्ट एव भेदः। विशेषश्चेन्न तर्हीदानीमवगमनस्याभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तस्यार्थान्तरस्य वाच्यत्वव्यपदेश्यता। शब्दव्यापारगोचरत्वं तु तस्यास्माभिरिष्यत एव, तत्तु व्यङ्ग्यत्वेनैव न वाच्यत्वेन। प्रसिद्धाभिधानान्तरसम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्यार्थान्तरस्य प्रतीतेः शब्दान्तरेण स्वार्थाभिधायिना यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता।

स्वार्थाभिधायित्व और अर्थान्तरावगमहेतुत्व है, उन दोनों का भेद स्पष्ट ही है। यदि भेद है तो फिर अब अवगमनरूप, अभिधेय की सामर्थ्य से आक्षिप्त अर्थान्तर को वाच्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु वह शब्द व्यापार का गोचर है यह हम तो स्वीकार करते ही हैं, किन्तु उसे व्यङ्ग्यरूप से हो, न कि वाच्यरूप से। और प्रसिद्ध अभिधान से अतिरिक्त सम्बन्ध के योग्य रूप से उस अर्थान्तर की प्रतीति का जो स्वार्थ का अभिधान करने वाले शब्दान्तर के द्वारा विषयीकरण है वहां 'प्रकाशन' यह कथन ही ठीक है।

लोचनम्

न तर्हीति। वाच्यत्वं ह्यभिधाव्यापारविषयता न तु व्यापारमात्रविषयता, तथात्वे तु सिद्धसाधनमित्येतदाह—*शब्दव्यापारेति*।

ननु गीतादौ मा भूद्वाचकत्वमिह त्वर्थान्तरेऽपि शब्दस्य वाचकत्वमेवोच्यते, किं हि तद्वाचकत्वं सङ्कोच्यत इत्याशङ्क्याह—*प्रसिद्धेति*। शब्दान्तरेण तस्यार्थान्तरस्य यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता न वाचकत्वोक्तिः शब्दस्य, नापि वाच्यत्वोक्तिरर्थस्य तत्र युक्ता, वाचकत्वं हि समयवशादव्यवधानेन प्रतिपादकत्वं, यथा तस्यैव शब्दस्य स्वार्थे; तदाह-*स्वार्थाभिधायिनेति*। वाच्यत्वं हि समयबलेन निर्व्यवधानं प्रतिपाद्यत्वं यथा तस्यैवार्थस्य शब्दान्तरं प्रति-

व्यापार का विषय होता है, न कि व्यापारमात्र का विषय होता है, ऐसा होने पर तो सिद्धसाधन होगा, यह कहते हैं—शब्द व्यापार—।

गीत आदि में वाचकत्व मत हो, परन्तु यहाँ अर्थान्तर में भी शब्द का वाचकत्व ही कहा जायगा, उसके वाचकत्व को सङ्कुचित क्यों करते हैं ? यह आशङ्का करके कहते हैं—और प्रसिद्ध—। शब्दान्तर द्वारा उस अर्थान्तर का जो विषयीकरण है वहां 'प्रकाशन' कथन ही ठीक हो न कि शब्द का 'वाचकत्व' कथन। और अर्थ का वहां वाच्यत्व कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि समय (सङ्केत) के द्वारा बिना किसी व्यवधान के प्रतिपादकत्व 'वाचकत्व' है, जैसे उसी शब्द का अपने अर्थ में, उसे कहते हैं—स्वार्थ का अभिधान करने वाले—। समय (सङ्केत) के बल से बिना किसी व्यवधान के

ध्वन्यालोकः

न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययोः। यतः पदार्थप्रतीतिरसत्यैवेति कैश्चिद्विद्वद्भिरास्थितम्। यैरप्यसत्यत्वमस्या नाभ्युपेयते तैर्वाक्यार्थपदार्थयोर्घटतदुपादानकारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः। यथाहि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भस्तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पदतदर्थानां तेषां तदा विभक्ततयोपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव

वाच्य और व्यङ्ग्य में पदार्थ और वाक्यार्थ का न्याय नहीं चलेगा, क्योंकि कुछ विद्वानों का निश्चय है कि पदार्थ की प्रतीति असत्य ही है। जो इसे असत्य नहीं स्वीकार करते उन्हें पदार्थ और वाक्यार्थ में घट और उसके उपादानकारणों का न्याय स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि जैसे घट के निष्पन्न होने पर उसके उपादान कारणों का अलग से उपलम्भ नहीं होता, उसी प्रकार वाक्य अथवा उसके अर्थ के प्रतीत होने पर पदों का अथवा उनके अर्थों का तब अलग से उपलम्भ होने पर वाक्यार्थ-

लोचनम्

तदाह—*प्रसिद्धेति*। प्रसिद्धेन वाचकतयाभिधानान्तरेण यः सम्बन्धो वाच्यत्वं तदेव तत्र वा यद्योग्यत्वं तेनोपलक्षितस्य। न चैवंविधं वाचकत्वमर्थं प्रति शब्दस्येहास्ति, नापि तं शब्दं प्रति तस्यार्थस्योक्तरूपं वाच्यत्वम्। यदि नास्ति तर्हि कथं तस्य विषयीकरणमुक्तमित्याशङ्क्याह-*प्रतीतेरिति*। अथ च प्रतीयते सोऽर्थो न च वाच्यवाचकत्वव्यापारेणेति विलक्षण एवासौ व्यापार इति यावत्।

नन्वेवं मा भूद्वाचकशक्तिस्तथापि तात्पर्यशक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—*न चेति*। *कैश्चिदिति* वैयाकरणैः। *यैरपीति* भट्टप्रभृतिभिः। तमेव न्यायं व्याचष्टे-*यथाहीति*। *तदुपादानकारणानामिति*। समवायिकारणानि कपालानि अनयोक्त्या निरूपितानि। सौगतकापिलमते तु यद्यप्युपादातव्यघटकाले उपादाना-

प्रतिपाद्यत्व वाच्यत्व है, उसी अर्थ का शब्दान्तर के प्रति, उसे कहते हैं—प्रसिद्ध—। वाचक रूप से प्रसिद्ध अभिधानान्तर के साथ जो सम्बन्ध वाच्यत्व है वही अथवा वहां जो योग्यत्व है उससे उपलक्षित। इस प्रकार का वाचकत्व अर्थ के प्रति शब्द का यहां नहीं है और उस शब्द के प्रति उस उक्तरूप अर्थ का वाच्यत्व भी नहीं है। यदि नहीं है, तो कैसे उसका विषयीकरण कहा है, यह आशङ्का करके कहते हैं—प्रतीति का—। वह अर्थ प्रतीत होता है, न कि वाच्यवाचकत्व व्यापार द्वारा (प्रतीत होता है), इसलिए वह व्यापार विलक्षण ही है।

इस प्रकार वाचक शक्तिमत हो, तथापि तात्पर्य शक्ति होगी, यह आशङ्का करके कहते हैं—वाच्य और—। कुछ अर्थात् वैयाकरण लोग। जो भट्ट प्रभृति। उसी न्याय की व्याख्या करते हैं—क्योंकि जैसे—। उसके उपादानकारणों का—। इस कथन से समवायी कारण कपाल निरूपित होते हैं। परन्तु बौद्ध और साङ्ख्य के मत में यद्यपि

ध्वन्यालोकः

दूरीभवेत्। न त्वेष वाच्यव्यङ्ग्ययोर्न्यायः, न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति, वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात्। तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयोः, यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद्व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः। यत्तु

बुद्धि ही दूर हो जायगी। परन्तु यह न्याय वाच्य और व्यङ्ग्य में नहीं है, क्योंकि व्यङ्ग्य के प्रतीयमान होने पर वाच्य की बुद्धि दूर नहीं होती, उसका प्रकाशन वाच्य के साथ अविनाभाव से होता है। इसलिए उन दोनों में घट और प्रदीप का न्याय है, क्योंकि जैसे ही कि प्रदीप के द्वारा घट की प्रतीति उत्पन्न होने पर प्रदीप का प्रकाश निवृत्त नहीं होता उसी प्रकार व्यङ्ग्य की प्रतीति में वाच्य का अवभास। जो

लोचनम्

नां न सत्ता एकत्र क्षणक्षयित्वेन परत्र तिरोभूतत्वेन तथापि पृथक्तया नास्त्युपलम्भ इतीयत्यंशे दृष्टान्तः। *दूरीभवेदिति*। अर्थैकत्वस्याभावादिति भावः। एवं पदार्थवाक्यार्थन्यायं तात्पर्यशक्तिसाधकं प्रकृते विषये निराकृत्याभिमतां प्रकाशशक्तिं साधयितुं तदुचितं प्रदीपघटन्यायं प्रकृते योजयन्नाह—*तस्मादिति*। यतोऽसौ पदार्थवाक्यार्थन्यायो नेह युक्तस्तस्मात्, प्रकृतं न्यायं व्याकरणपूर्वकं दार्ष्टान्तिके योजयति—*यथैव हीति*।

ननु पूर्वमुक्तम्—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाक्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥

इति तत्कथं स एव न्याय इह यत्नेन निराकृत इत्याशङ्क्याह—*यत्त्विति*।

उपादातव्य घट के काल में उपादानों की सत्ता एक में (बौद्ध मत में) क्षण भर स्थायी होने के कारण और दूसरे में (सांख्य मत में) तिरोभूत होने के कारण नहीं होती तथापि अलग से उपलम्भ नहीं है इस अंश में दृष्टान्त है। दूर हो जायगी—। भाव यह कि एक अर्थ के न होने के कारण। इस प्रकार तात्पर्य शक्ति के साधक पदार्थ वाक्यार्थ न्याय को प्रकृत विषय में निराकरण करके अभिमत प्रकाश शक्ति को सिद्ध करने के लिए उसके उचित प्रदीप-घट न्याय को प्रकृत में लगाते हुए कहते हैं—इसलिए—। जिस लिए वह पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय यहीं ठीक नहीं है, इसलिए, प्रकृत न्याय को विवरणपूर्वक दार्ष्टान्तिक में लगाते हैं—जैसे ही कि—।

पहले कहा है—

'जैसे पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ प्रतीत होता है उसी प्रकार उस (व्यङ्ग्यरूप) वस्तु की प्रतिपत्ति वाच्यार्थ की प्रतीतिपूर्वक होती है।'

तो कैसे उस न्याय को यहां यत्न से निराकरण किया है? यह आशङ्का करके

ध्वन्यालोकः

प्रथमोद्द्योते 'यथा पदार्थद्वारेण' इत्याद्युक्तं तदुपायत्वमात्रात्साम्य-विवक्षया।

नन्वेवं युगपदर्थद्वययोगित्वं वाक्यस्य प्राप्तं तद्भावे च तस्य वाक्यतैव विघटते, तस्या ऐकार्थ्यलक्षणत्वात्; नैष दोषः; गुणप्रधानभावेन तयोर्व्यवस्थानात्। व्यङ्ग्यस्य हि क्वचित्प्राधान्यं वाच्यस्योपसर्जनभावः क्वचिद्वाच्यस्य प्राधान्यमपरस्य गुणभावः। तत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तमेव; वाच्यप्राधान्ये तु प्रकारान्तरं निर्देक्ष्यते।

कि 'प्रथम उद्योत' में 'यथा पदार्थद्वारेण' इत्यादि कहा है वह उपायमात्र के अंश में साम्य की विवक्षा से।

तब ती इस प्रकार एक काल में वाक्य दो अर्थों से युक्त होगा, ऐसा होने पर उसकी वाक्यता ही विघटित होगी, क्योंकि 'एकार्थत्व उसका लक्षण है! (उत्तर) यह दोष नहीं; क्योंकि उन दोनों का गुण-प्रधानरूप से व्यवस्थान है। कहीं पर व्यङ्ग्य का प्राधान्य है, वाच्य का उपसर्जनभाव और कहीं पर वाच्य का प्राधान्य है, अपर का गुणभाव। उनमें, व्यङ्ग्य के प्राधान्य में ध्वनि है यह कहा जा चुका है, किन्तु वाच्य के प्राधान्य में प्रकारान्तर का निर्देश करेंगे। इसलिए यह निश्चित

लोचनम्

तदिति। न तु सर्वथा साम्येनेत्यर्थः। *एवमिति*। प्रदीपघटवद्युगपदुभयावभासप्रकारेणेत्यर्थः। तस्या इति वाक्यतायाः। ऐकार्थ्यलक्षणमर्थकत्वाद्धि वाक्यमेकमित्युक्तम्। सकृत् श्रुतो हि शब्दो यत्रैव समयस्मृतिं करोति स चेदनेनैवावगमितः तद्विरम्यव्यापाराभावात्समयस्मरणानां बहूनां युगपदयोगात्कोऽर्थभेदस्यावसरः। पुनः श्रुतस्तु स्मृतो वापि नासाविति भावः। *तयोरिति* वाच्यव्यङ्ग्ययोः। *तत्रेति*। उभयोः प्रकारयोर्मध्याद्यदा प्रथमः प्रकार इत्यर्थः। *प्रकारान्तरमिति*। गुणीभूतव्यङ्ग्यसञ्ज्ञितम्। *व्यङ्ग्यत्वमेवेति* प्रकाश्यत्वमेवेत्यर्थः।

कहते हैं—जो कि—। वह—। अर्थात् न कि सर्वथा साम्यपूर्वक। इस प्रकार—। अर्थात् प्रदीप-घट की भांति एक काल में दोनों के अवभास के प्रकार से। उसका वाक्यता का। 'अर्थ एक होने से एकार्थत्व रूप एक वाक्य होता है' यह कहा है। भाव यह कि एक बार श्रुत शब्द जहां पर हो समय (सङ्केत) की स्मृति करता है वह यदि इसी से (एक बार श्रुत शब्द ही से) विदित हो गया तो विरत होने पर व्यापार नहीं होता इसलिए बहुत से सङ्केत के स्मरणों एक समय में न होने के कारण अर्थभेद का अवसर ही कहां? वह (शब्द) फिर से न श्रुत है अथवा न स्मृत है। उन दोनों का वाच्य और व्यङ्ग्य का। उनमें—। अर्थात् दोनों प्रकारों के बीच से जब प्रथम प्रकार होगा। प्रकारान्तर—। गुणीभूतव्यङ्ग्यसंज्ञक। व्यङ्ग्यत्व ही अर्थात् प्रकाश्यत्व ही।

ध्वन्यालोकः

तस्मात्-स्थितमेतत् —व्यङ्ग्यपरत्वेऽपि काव्यस्य न व्यङ्ग्यस्याभिधेयत्वमपि तु व्यङ्ग्यत्वमेव।

किं च व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षायां वाच्यत्वं तावद्भवद्भिर्नाभ्युपगन्तव्यमतत्परत्वाच्छब्दस्य। तदस्ति तावद्व्यङ्ग्यः शब्दानां कश्चिद्विषय इति। यत्रापि तस्य प्राधान्यं तत्रापि किमिति तस्य स्वरूपमपह्नूयते। एवं तावद्वाचकत्वादन्यदेव व्यञ्जकत्वम्; इतश्च वाचकत्वाद्व्यञ्जकत्वस्यान्यत्वं यद्वाचकत्वं शब्दैकाश्रयमितरत्तु शब्दाश्रयमर्थाश्रयं च शब्दार्थयोर्द्वयोरपि व्यञ्जकत्वस्य प्रतिपादितत्वात्।

हुआ—काव्य का व्यङ्ग्य में तात्पर्य होने पर भी व्यङ्ग्य का अभिधेयत्व नहीं, अपितु व्यङ्ग्यत्व ही है।

और भी, प्राधान्य से व्यङ्ग्य की विवक्षा न होने पर शब्द के तत्पर न होने के कारण आप वाच्यत्व को नहीं मानेंगे। इसलिए शब्दों का कोई विषय व्यङ्ग्य है। जहां भी उसका प्राधान्य है वहां उसके स्वरूप का अपह्नव क्यों करते हैं? इस प्रकार व्यञ्जकत्व वाचकत्व से अन्य ही है। और इस कारण भी व्यञ्जकत्व वाचकत्व से अन्य है कि वाचकत्व एकमात्र शब्द के आश्रित है, परन्तु दूसरा शब्द के और अर्थ के आश्रित है, क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों के भी व्यञ्जकत्व का प्रतिपादन कर चुके हैं।

लोचनम्

ननु यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये वाच्यत्वमेव न्याय्यम्, तर्ह्यप्राधान्ये किं युक्तं व्यङ्ग्यत्वमिति चेत्सिद्धो नः पक्षः, एतदाह—*किञ्चेति*। ननु प्राधान्ये मा भूद्व्यङ्ग्यत्वमित्याशङ्क्याह—*यत्रापीति*। अर्थान्तरत्वं सम्बन्धिसम्बन्धित्वमनुपयुक्तसमयत्वमिति व्यङ्ग्यतायां निबन्धनं, तच्च प्राधान्येऽपि विद्यत इति स्वरूपमहेयमेवेति भावः। एतदुपसंहरति—*एवमिति*। विषयभेदेन स्वरूपभेदेन चेत्यर्थः। *तावदिति* वक्तव्यान्तरमासूत्रयति। तदेवाह—*इतश्चेति*। अनेन सामग्रीभेदात्कारणभेदोऽप्यस्तीति दर्शयति। एतच्च

'शब्द जिसमें तात्पर्य रखता हो वह शब्दार्थ है' इसके अनुसार व्यङ्ग्य के प्राधान्य में वाच्यत्व ही उचित है, तो अप्राधान्य में क्या व्यङ्ग्यत्व ठीक है? तब तो हमारा पक्ष सिद्ध हो गया, इसे कहते हैं—और भी—। प्राधान्य में व्यङ्ग्यत्व मत हो, यह आशङ्का करके कहते हैं—जहां भी—। अर्थान्तर होना, सम्बन्धी का सम्बन्धी होना, अनुपयुक्त समय (सङ्केत) का होना, यह व्यङ्ग्य होने में कारण है, और यह प्राधान्य में भी विद्यमान है, इस प्रकार स्वरूप अत्याज्य ही है, यह भाव है। इसका उपसंहार करते हैं—इस प्रकार—। अर्थात् विषयभेद से और स्वरूपभेद से। दूसरा वक्तव्य प्रस्तुत करते हैं। उसे ही कहते हैं—और इस कारण भी—। 'सामग्रीभेद से कारणभेद

ध्वन्यालोकः

गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति। किन्तु ततोऽपि व्यञ्जकत्वं स्वरूपतो विषयतश्च भिद्यते। रूपभेदस्तावदयम्-यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धा। व्यञ्जकत्वं तु मुख्यतयैव शब्दस्य व्यापारः। न ह्यर्थाद्व्यङ्ग्यत्रयप्रतीतिर्या तस्या अमुख्यत्वं मनागपि लक्ष्यते।

अयं चान्यः स्वरूपभेदः—यद्गुणवृत्तिरमुख्यत्वेन व्यवस्थितं वाचकत्वमेवोच्यते। व्यञ्जकत्वं तु वाचकत्वादत्यन्तं विभिन्नमेव। एतच्च

गुणवृत्ति तो उपचार और लक्षणा से शब्द और अर्थ दोनों के भी आश्रित होती है। किन्तु उससे भी व्यञ्जकत्व स्वरूप से और विषय से भिन्न हो जाता है। रूपभेद यह है कि गुणवृत्ति अमुख्यरूप से व्यापार प्रसिद्ध है, परन्तु व्यञ्जकत्व मुख्यरूप से ही शब्द का व्यापार है। अर्थ से तीनों व्यङ्ग्यों की जो प्रतीति है उसका अमुख्यत्व थोड़ा भी नहीं दिखाई देता।

और यह दूसरा स्वरूप भेद है कि अमुख्यरूप से व्यवस्थित वाचकत्व को ही गुणवृत्ति कहते हैं। परन्तु व्यञ्जकत्व अत्यन्त विभिन्न ही है। इसे प्रतिपादन कर चुके

लोचनम्

वितत्य ध्वनिलक्षणे 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति वाग्रहणं 'व्यङ्क्तः' इति द्विर्वचनं च व्याचक्षाणैरस्माभिः प्रथमोद्द्योत एव दर्शितमिति पुनर्न विस्तार्यते।

एवं विषयभेदात्स्वरूपभेदात्कारणभेदाच्च वाचकत्वान्मुख्यात्प्रकाशकत्वस्य भेदं प्रतिपाद्योभयाश्रयत्वाविशेषात्तर्हि व्यञ्जकत्वगौणत्वयोः को भेद इत्याशङ्क्यामुख्यादपि प्रतिपादयितुमाह—*गुणवृत्तिरिति*। *उभयाश्रयापीति* शब्दार्थाश्रया। उपचारलक्षणयोः प्रथमोद्द्योत एव विभज्य निर्णीतं स्वरूपमिति न पुनर्लिख्यते। *मुख्यतयैवेति*। अस्खलद्गतित्वेनेत्यर्थः।

भी है' यह इससे दिखाते हैं। इसे विस्तार करके 'ध्वनि' लक्षण में 'यत्रार्थः शब्दो वा' यहां 'वा' ग्रहण और 'व्यङ्क्तः' इसमें द्विर्वचन का व्याख्यान करते हुए हमने प्रथम उद्योत में ही दिखा दिया है इसलिए फिर विस्तार नहीं करते हैं।

इस प्रकार विषयभेद, स्वरूपभेद और कारणभेद द्वारा मुख्य वाचकत्व से प्रकाशकत्व के भेद का प्रतिपादन करके (शब्द और अर्थ रूप) उभय के आश्रित होने के अविशेष होने से, व्यञ्जकत्व और गौणत्व का क्या भेद है ? यह आशङ्का करके अमुख्य से भी (भेद) प्रतिपादनार्थ कहते हैं—गुणवृत्ति—। उभय के आश्रित अर्थात् शब्द और अर्थ के आश्रित। उपचार और लक्षणा का स्वरूप प्रथम उद्योत में ही निर्णीत हो चुका है इसलिए फिर नहीं लिखते हैं। मुख्यरूप से ही—। अर्थात् अस्खलद्गतिरूप से ही।

ध्वन्यालोकः

प्रतिपादितम् । अयं चापरो रूपभेदो यद्गुणवृत्तौ यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्षयति तदोपलक्षणीयार्थात्मना परिणत एवासौ सम्पद्यते। यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ। व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत् । यथा—'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' इत्यादौ। यदि च यत्रातिरस्कृतस्वप्रतीतिरर्थोऽर्थान्तरं लक्षयति तत्र लक्षणाव्यवहारः क्रियते, तदेवं सति लक्षणैव मुख्यः शब्दव्यापार इति प्राप्तम् । यस्मात्प्रायेण वाक्यानां वाच्यव्यतिरिक्ततात्पर्यविषयार्थावभासित्वम् ।

हैं। और यह अन्य रूपभेद है कि जब गुणवृत्ति में अर्थ अर्थान्तर का उपलक्षित करता है तब उपलक्षणीय अर्थ के रूप से परिणत हो वह होता है। जैसे—'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में। परन्तु व्यञ्जकत्व मार्ग में जब अर्थ अर्थान्तर को द्योतित करता है तब प्रदीप की भांति स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ ही वह अन्य का प्रकाशक प्रतीत होता है। जैसे—पार्वती लीलाकमल के पत्ते गिनने लग गई' इत्यादि में। और यदि जहां अर्थ अपनी प्रतीति को तिरस्कृत करता हुआ अर्थान्तर को लक्षित करता है वहां लक्षणाव्यवहार किया जाता है, तो इस प्रकार होने पर लक्षणा ही मुख्य शब्द का व्यापार है, यह प्राप्त होता है। जिस कारण प्रायः करके वाक्य वाच्य से व्यतिरिक्त तात्पर्य विषयक अर्थ के अवभासक होते हैं।

लोचनम्

प्रतिपादितमिति । इदानीमेव । *परिणत इति* । स्वेन रूपेणानिर्भासमान इत्यर्थः।

कीदृश इति मुख्यो वा न वा प्रकारान्तराभावात् । मुख्यत्वे वाचकत्वमन्यथा गुणवृत्तिः, गुणो निमित्तं सादृश्यादि तद्द्वारिका वृत्तिः शब्दस्य व्यापारो गुणवृत्तिरिति भावः। मुख्य एवासौ व्यापारः सामग्रीभेदाच्च वाचकत्वाद्व्यतिरिच्यत इत्यभिप्रायेणाह—*उच्यत इति* । एवमस्खलद्गतित्वात् कथञ्चिदपि

तीनों व्यङ्ग्य— वस्तु, अलङ्कार और रस रूप। प्रतिपादन कर चुके हैं—अभी ही। परिणत—। अर्थात् अपने रूप से प्रतीत न होता हुआ।

किस प्रकार का मुख्य अथवा नहीं (अर्थात् अमुख्य), क्योंकि तीसरा प्रकार नहीं है। मुख्य होने पर वाचकत्व (व्यापार) होगा, अन्यथा गुणवृत्ति (व्यापार) होगी। भाव यह कि गुण अर्थात् सादृश्य आदि निमित्त, उसके द्वारा वृत्ति अर्थात् शब्द का व्यापार 'गुणवृत्ति' है। वह व्यापार है मुख्य ही है और सामग्री के भेद से वाचकत्व से अलग हो जाता है, इस अभिप्राय से कहते हैं—कहते हैं—। इस प्रकार स्खलद्गति न

ध्वन्यालोकः

ननु त्वत्पक्षेऽपि यदार्थो व्यङ्ग्यत्रयं प्रकाशयति तदा शब्दस्य कीदृशो व्यापारः। उच्यते—प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दवशेनैवार्थस्य तथाविधं व्यञ्जकत्वमिति शब्दस्य तत्रोपयोगः कथमपह्नूयते। विषयभेदोऽपि गुणवृत्तिव्यञ्जकत्वयोः स्पष्ट एव। यतो व्यञ्जकत्वस्य रसादयोऽलङ्कारविशेषा व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु चेति त्रयं विषयः। तत्र रसादिप्रतीतिर्गुणवृत्तिरिति न केनचिदुच्यते न च शक्यते वक्तुम्। व्यङ्ग्यालङ्कारप्रतीतिरपि तथैव। वस्तुचारुत्वप्रतीतये स्वशब्दानभिधेयत्वेन

तुम्हारे पक्ष में भी जब अर्थ तीनों व्यङ्ग्यों को प्रकाशित करता है तब शब्द का व्यापार किस प्रकार का होता है? कहते हैं—प्रकरण आदि से सहकृत शब्द के वश से ही अर्थ का उस प्रकार का व्यञ्जकत्व है, इसलिए शब्द का वहां उपयोग कैसे छिपाया जा सकता है! गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व में विषयभेद भी स्पष्ट ही है, क्योंकि रसादि, अलङ्कारविशेष और व्यङ्ग्यरूप से अवच्छिन्न वस्तु ये तीनों व्यञ्जकत्व के विषय हैं। उनमें, रसादि की प्रतीति को गुणवृत्ति नहीं कहता और न कह सकता है। व्यङ्ग्य अलङ्कार की प्रतीति भी उसी प्रकार है। वस्तु के चारुत्व की प्रतीति के

लोचनम्

समयानुपयोगात्पृथगाभासमानत्वाच्चेति त्रिभिः प्रकारैः प्रकाशकत्वस्यैतद्विपरीतरूपत्रयायाश्च गुणवृत्तेः स्वरूपभेदं व्याख्याय विषयभेदमप्याह—*विषयभेदोऽपीति*। वस्तुमात्रं गुणवृत्तेरपि विषय इत्यभिप्रायेण विशेषयति—*व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नमिति*। व्यञ्जकत्वस्य यो विषयः स गुणवृत्तेर्न विषयः अन्यश्च तस्या विषयभेदो योज्यः। तत्र प्रथमं प्रकारमाह—*तत्रेति*। न च *शक्यत इति*। लक्षणासामग्र्यास्तत्राविद्यमानत्वादिति हि पूर्वमेवोक्तम्। *तथैवेति*। न तत्र गुणवृत्तिर्युक्तेत्यर्थः। वस्तुनो यत्पूर्वं विशेषणं कृतं तद्व्याचष्टे—*चारुत्वप्रतीतय*

होने के कारण, किसी प्रकार समय (सङ्केत) के उपयोग न होने के कारण और पृथक् आभासमान होने के कारण, इन तीनों प्रकारों से प्रकाशकत्व (व्यञ्जकत्व) का और इनके विपरीत तीन रूपों वाली गुणवृत्ति का स्वरूपभेद व्याख्यान करके विषयभेद को भी कहते हैं—विषयभेद भी—। वस्तु मात्र गुणवृत्ति का भी विषय है यह विशेषता बताते हैं—व्यङ्ग्य रूप से अवच्छिन्न—। जो व्यञ्जकत्व का विषय है वह गुणवृत्ति का विषय नहीं है, और अन्य उसका विषयभेद लगा लेना चाहिए। उनमें प्रथम प्रकार को कहते हैं—उनमें—। नहीं कह सकता है—। क्योंकि यह पहले ही कह चुके हैं कि लक्षणा की सामग्री वहां विद्यमान नहीं। उसी प्रकार है—। अर्थात् वहां गुणवृत्ति ठीक नहीं। वस्तु का जो पहले विशेषण किया है उसकी व्याख्या करते हैं—चारुत्व की

ध्वन्यालोकः

यत्प्रतिपिपादयितुमिष्यते तद्व्यङ्ग्यम्। तच्च न सर्वं गुणवृत्तेर्विषयः प्रसिद्ध्यनुरोधाभ्यामपि गौणानां शब्दानां प्रयोगदर्शनात्। तथोक्तं प्राक्। यदपि च गुणवृत्तेर्विषयस्तदपि च व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेन। तस्माद्गुणवृत्तेरपि व्यञ्जकत्वस्यात्यन्तविलक्षणत्वम्। वाचकत्वगुणवृत्तिविलक्षणस्यापि च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानम्।

लिए स्वशब्द द्वारा अनभिधेय रूप से जिसे प्रतिपादन करना चाहते हैं वह व्यङ्ग्य है। वह सब नहीं गुणवृत्ति का विषय है, क्योंकि प्रसिद्धि और अनुरोध से भी गौण शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। जैसा कि पहले कह चुके हैं। और जो भी गुणवृत्ति का विषय होगा वह भी व्यञ्जकत्व के सम्बन्ध से होगा। इसलिए गुणवृत्ति से भी व्यञ्जकत्व अत्यन्त विलक्षण है। वाचकत्व और गुणवृत्ति से विलक्षण भी वह (व्यञ्जकत्व) दोनों के आश्रित रूप से रहता है।

लोचनम्

इति। *न सर्वमिति*। किंचित्तु भवति। यथा—'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इति। यदुक्तम्—'कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्' इति। प्रसिद्धितो लावण्यादयः शब्दाः, वृत्तानुरोधव्यवहारानुरोधादेः 'वदति बिसिनीपत्रशयनम्' इत्येवमादयः। *प्रागिति*। प्रथमोद्द्योते 'रूढा ये विषयेऽन्यत्र' इत्यत्रान्तरे। न सर्वमिति यथास्माभिर्व्याख्यातं तथा स्फुटयति—*यदपि चेति*। गुणवृत्तेरिति पञ्चमी। अधुनेतररूपोपजीवकत्वेन तदितरस्मात्तदितररूपोपजीवकत्वेन च तदितरस्मादित्यनेन पर्यायेण वाचकत्वाद् गुणवृत्तेश्च द्वितयादपि भिन्नं व्यञ्जकत्वमित्युपपादयति—*वाचकत्वेति*। चोऽवधारणे भिन्नक्रमः, अपिशब्दोऽपि। न केवलं पूर्वोक्तो हेतुकलापो यावत्तदुभयाश्रयत्वेन मुख्योपचाराश्रयत्वेन यद्व्य-

प्रतीति के लिए—। सब नहीं—। कुछ तो होता है, जैसे 'निःश्वासान्ध इवादर्शः'। क्योंकि कहा है—'किसी ध्वनि के भेद का वह उपलक्षण हो सकती है'। प्रसिद्धि से 'लावण्य' आदि शब्द। वृत्तानुरोध और व्यवहारानुरोध आदि से 'वदति बिसिनीपत्रशयनम्' इत्यादि। पहले—। प्रथम उद्योत में 'रूढा ये विषयेऽन्यत्र' इसके बीच। 'सब नहीं' को जिस प्रकार हमने व्याख्यान किया है उस प्रकार स्पष्ट करते हैं—और जो कि—। 'गुणवृत्ति' यहां पञ्चमी विभक्ति है। अब (व्यञ्जकत्व) इतर रूप (गुणवृत्ति) के उपजीवक (आश्रय) रूप के कारण इतर रूप (वाचकत्व) से (भिन्न होता है) और इतर रूप (वाचकत्व) के उपजीवक रूप से उससे इतररूप (गुणवृत्ति) से (भिन्न होता है), इस प्रकार क्रम से वाचकत्व और गुणवृत्ति इन दोनों से भी व्यञ्जकत्व भिन्न होता है यह उपपादन करते हैं—वाचकत्व—। 'और' शब्द अवधारणार्थक और भिन्न क्रम है। 'भी' शब्द भी भिन्नक्रम है। न केवल पूर्वोक्त हेतुसमूह बल्कि दोनों के आश्रित

ध्वन्यालोकः

व्यञ्जकत्वं हि क्वचिद्वाचकत्वाश्रयेण व्यवतिष्ठते, यथा विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ। क्वचित्तु गुणवृत्त्याश्रयेण यथा अविवक्षितवाच्ये ध्वनौ। तदुभयाश्रयत्वप्रतिपादनायैव च ध्वनेः प्रथमतरं द्वौ प्रभेदावुपन्यस्तौ। तदुभयाश्रितत्वाच्च तदेकरूपत्वं तस्य न शक्यते वक्तुम्। यस्मान्न तद्वाचकत्वैकरूपमेव, क्वचिल्लक्षणाश्रयेण वृत्तेः। न च लक्षणैकरूपमेवान्यत्र वाचकत्वाश्रयेण व्यवस्थानात्। न चोभयधर्मत्वेनैव तदेकैकरूपं न भवति। यावद्वाचकत्वलक्षणादिरूपरहितशब्दधर्मत्वेनापि। तथाहि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्ति रसादिविषयम्। न च

व्यञ्जकत्व कहीं पर वाचकत्व के आश्रय से व्यवस्थित होता है, जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में, परन्तु कहीं पर गुणवृत्ति के आश्रय से, जैसे अविवक्षितवाच्य ध्वनि में। और उन दोनों (वाचकत्व और गुणवृत्ति) के आश्रयत्व के प्रतिपादनार्थ ही ध्वनि के पहले-पहल दो प्रभेद उपन्यस्त हैं। और उन दोनों पर आश्रित होने के कारण वह (व्यञ्जकत्व) उनके साथ एक रूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह वाचकत्व के साथ एक रूप ही नहीं है, क्योंकि कहीं पर लक्षणा के आश्रय से भी रहता है। और लक्षणा के साथ एक रूप ही नहीं है, अन्यत्र वाचकत्व के आश्रय से भी व्यवस्थित होता है। और न केवल उभयधर्म रूप से ही वह एक-एकरूप का नहीं होता है, अपि तु वाचकत्व, लक्षणा आदि रूप से रहित शब्द के धर्म रूप से भी। जैसा कि गीत ध्वनियों का भी रसादिविषयक व्यञ्जकत्व है। किन्तु उनका

लोचनम्

वस्थानं तदपि वाचकगुणवृत्तिविलक्षणस्यैवेति व्याप्तिघटनम्। तेनायं तात्पर्यार्थः—तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानात्तदुभयवैलक्षण्यमिति।

एतदेव विभजते—*व्यञ्जकत्वं हीति*। *प्रथमतरमिति*। प्रथमोद्द्योते 'स च' इत्यादिना ग्रन्थेन। हेत्वन्तरमपि सूचयति—*न चेति*। वाचकत्वगौणत्वोभयवृत्तान्तवैलक्षण्यादिति सूचितो हेतुः। तमेव प्रकाशयति—*तथाहीत्यादिना*।

होकर मुख्य और उपचार के आश्रित रूप से जो व्यवस्थान है वह भी वाचक और गुणवृत्ति से विलक्षण उस व्यञ्जक की व्याप्ति बनी है। इससे यह तात्पर्यार्थ है—उन दोनों के आश्रित रूप से रहने के कारण उन दोनों से वैलक्षण्य है।

इसी का विभाग करते हैं—व्यञ्जकत्व—। पहले-पहल—। प्रथम उद्योत में 'और वह' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा। दूसरा हेतु सूचित करते हैं—और लक्षणा—। 'वाचकत्व और गौणत्व इन दोनों वृत्तान्तों से वैलक्षण्य के कारण' यह हेतु सूचित किया है। उसे ही प्रकाशित करते हैं—जैसा कि—। इत्यादि द्वारा। उनका गीतादि शब्दों का। दूसरा

ध्वन्यालोकः

तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथञ्चिल्लक्ष्यते। शब्दादन्यत्रापि विषये व्यञ्जकत्वस्य दर्शनाद्वाचकत्वादिशब्दधर्मप्रकारत्वमयुक्तं वक्तुम्। यदि च वाचकत्वलक्षणादीनां शब्दप्रकाराणां प्रसिद्धप्रकारविलक्षणत्वेऽपि व्यञ्जकत्वं प्रकारत्वेन परिकल्प्यते तच्छब्दस्यैव प्रकारत्वेन कस्मान्न परिकल्प्यते। तदेवं शाब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकारा:—वाचकत्वं गुणवृत्तिर्व्य-

वाचकत्व अथवा लक्षणा किसी प्रकार नहीं लक्षित होती। शब्द के अतिरिक्त भी विषय में व्यञ्जकत्व के देखे जाने के कारण वाचकत्व आदि शब्द-धर्मों का प्रकार कहना ठीक नहीं। और यदि प्रसिद्ध प्रकारों से विलक्षण होने पर भी व्यञ्जकत्व को वाचकत्व और लक्षणा आदि शब्द-प्रकारों प्रकार (धर्म) बनाते हैं तो शब्द का ही प्रकार रूप से क्यों नहीं (उसे) बनाते हैं?

तो इस प्रकार शाब्द व्यवहार में तीन प्रकार हैं—वाचकत्व, गुणवृत्ति और

लोचनम्

तेषामिति। गीतादिशब्दानाम्। हेत्वन्तरमपि सूचयति—*शब्दादन्यत्रेति*। वाचकत्वगौणत्वाभ्यामन्यद् व्यञ्जकत्वं शब्दादन्यत्रापि वर्तमानत्वात्प्रमेयत्वादिवदिति हेतुः सूचितः। नन्वन्यत्रावाचके यद्व्यञ्जकत्वं तद्भवतु वाचकत्वादेर्विलक्षणम्, वाचके तु यद् व्यञ्जकत्वं तदविलक्षणमेवास्त्वित्याशङ्क्याह—*यदीति*। आदिपदेन गौणं गृह्यते। *शब्दस्यैवेति*। व्यञ्जकत्वं वाचकत्वमिति यदि पर्यायौ कल्प्येते तर्हि व्यञ्जकत्वं शब्द इत्यपि पर्यायता कस्मान्न कल्प्यते, इच्छाया अव्याहतत्वात्। व्यञ्जकत्वस्य तु विविक्तं स्वरूपं दर्शितं तद्विषयान्तरे कथं विपर्यस्यताम्। एवं हि पर्वतगतो धूमोऽनग्निजोऽपि स्यादिति भावः। अधुनोपपादितं विभागमुपसंहरति—*तदेवमिति*। व्यवहारग्रहणेन समुद्रघोषादीन् व्युदस्यति।

हेतु भी सूचित करते हैं—शब्द के अतिरिक्त—। व्यञ्जकत्व वाचकत्व और गौणत्व से भिन्न है, क्योंकि शब्द के अतिरिक्त भी (स्थल में) वर्तमान रहता है, प्रमेयत्व आदि की भांति' यह हेतु सूचित किया। अन्यत्र अवाचक (गीतादि) स्थल में जो व्यञ्जकत्व है वह वाचकत्व आदि से विलक्षण हो, परन्तु जो वाचक में व्यञ्जकत्व है वह विलक्षण नहीं है, यह आशङ्का करके कहते हैं—और यदि—। 'आदि' पद से गौण को ग्रहण करते हैं। शब्द का ही—। व्यञ्जकत्व और वाचकत्व को यदि पर्याय बनाते हो तो व्यञ्जकत्व और शब्द को क्यों नहीं पर्याय बना लेते हैं, क्योंकि इच्छा तो अव्याहत होती है। व्यञ्जकत्व का तो अलग रूप दिखा चुके हैं वह विषयान्तर में कैसे विपर्यस्त होगा? भाव यह कि इस प्रकार तो पर्वतगत धूम अनग्निज भी हो सकता है। अब उपपादित विभाग का उपसंहार करते हैं—तो इस प्रकार—। 'व्यवहार' के ग्रहण से समुद्र की आवाज आदि का निराकरण करते हैं।

ध्वन्यालोकः

ञ्जकत्वं च। तत्र व्यञ्जकत्वे यदा व्यङ्ग्यप्राधान्यं तदा ध्वनिः, तस्य चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ प्रभेदावनुक्रान्तौ प्रथमतरं तौ सविस्तरं निर्णीतौ।

अन्यो ब्रूयात्—ननु विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ गुणवृत्तिता नास्तीति यदुच्यते तद्युक्तम्। यस्माद्वाच्यवाचकप्रतीतिपूर्विका यत्रार्थान्तरप्रतिपत्तिस्तत्र कथं गुणवृत्तिव्यवहारः, न हि गुणवृत्तौ यदा निमित्तेन केनचिद्विषयान्तरे शब्द आरोप्यते अत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थः यथा—

व्यञ्जकत्व। उनमें से व्यञ्जकत्व में जब व्यङ्ग्य का प्राधान्य होता है तब ध्वनि होती है, और उसके अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ये दो प्रभेद क्रम-प्राप्त होते हैं, उन्हें पहले ही विस्तारपूर्वक निर्णय कर चुके हैं।

अन्य कोई कह सकता है—विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में गुणवृत्ति व्यवहार नहीं है यह जो कहते हैं सो ठीक है, क्योंकि वाच्य-वाचक की प्रतीतिपूर्वक जहां अर्थान्तर की प्रतीति होती है वहां गुणवृत्तिव्यवहार कैसे हो सकता है? गुणवृत्ति में जब किसी निमित्त से अत्यन्त तिरस्कृत स्वार्थ शब्द को विषयान्तर में आरोप करते

लोचनम्

ननु वाचकत्वरूपोपजीवकत्वाद् गुणवृत्त्यनुजीवकत्वादिति च हेतुद्वयं यदुक्तं तदविवक्षितवाच्यभागे सिद्धं न भवति तस्य लक्षणैकशरीरत्वादित्यभिप्रायेणोपक्रमते-*अन्यो ब्रूयादिति*। यद्यपि च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानादिति ब्रुवता निर्णीतचरमेवैतत्, तथापि गुणवृत्तेरविवक्षितवाच्यस्य च दुर्निरूपं वैलक्षण्यं यः पश्यति तं प्रत्याशङ्कानिवारणार्थोऽयमुपक्रमः। अत एवाद्यभेदस्याङ्गीकरणपूर्वकमयं द्वितीयभेदाक्षेपः। *विवक्षितान्यपरवाच्य* इत्यादिना पराभ्युपगमस्य स्वाङ्गीकारो दर्श्यते। गुणवृत्तिव्यवहाराभावे हेतुं दर्शयितुं तस्या एव गुणवृत्तेस्तावद् वृत्तान्तं दर्शयति—*न हीति*। गुणतया वृत्तिर्व्यापारो

जो कि वाचकत्व रूप उपजीवकत्व और गुणवृत्ति रूप अनुजीवकत्व ये दो हेतु कहे हैं वह अविवक्षितवाच्य के अंश में सिद्ध नहीं होते, क्योंकि उसका एकमात्र शरीर लक्षणा है, इस अभिप्राय से उपक्रम करते हैं—अन्य कोई कह सकता है—। 'वह उन दोनों के आश्रय से व्यवस्थित होता है' यह यद्यपि कथन करते हुए निर्णय कर ही चुके हैं तथापि जो व्यक्ति गुणवृत्ति और अविवक्षितवाच्य का वैलक्षण्य दुर्निरूप देखता है उसकी आशङ्का के निवारणार्थ यह उपक्रम है। इसी लिए यह प्रथम भेद का अङ्गीकारपूर्वक दूसरे भेद का आक्षेप है। 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में' इत्यादि द्वारा अन्य किसी के मन्तव्य की स्वीकृति दिखाते हैं। गुणवृत्ति व्यवहार के न होने का कारण दिखाने के लिए उसी गुणवृत्ति का वृत्तान्त दिखाते हैं—गुणवृत्ति में—। गुण रूप

ध्वन्यालोकः

'अग्निर्माणवकः' इत्यादौ, यदा वा स्वार्थमंशेनापरित्यजंस्तत्सम्बन्धद्वारेण विषयान्तरमाक्रामति, यथा—'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ। तदाविवक्षितवाच्यत्वमुपपद्यते। अत एव च विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ वाच्यवाचकयोर्द्वयोरपि स्वरूपप्रतीतिरर्थावगमनं च दृश्यत इति व्यञ्जकत्वव्यवहारो युक्त्यनुरोधी। स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परावभासको व्यञ्जक इत्युच्यते, तथाविधे विषये वाचकत्वस्यैव व्यञ्जकत्वमिति गुणवृत्तिव्यवहारो नियमेनैव न शक्यते कर्तुम्।

हैं, जैसे 'माणवक अग्नि है' इत्यादि में; अथवा जब (शब्द) स्वार्थ को अंशतः नहीं छोड़ता हुआ विषयान्तर पर पहुँच जाता है, जैसे 'गङ्गा में घोष' इत्यादि में, विवक्षितवाच्यत्व नहीं बनता। और इसीलिए विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में वाच्य और वाचक दोनों की भी स्वरूपप्रतीति और अर्थ का ज्ञान देखा जाता है इस लिए व्यञ्जकत्वव्यवहार युक्त्यनुकूल है। स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ भी अन्य को अवभासित कराने वाला 'व्यञ्जक' कहलाता है, उस प्रकार के विषय में वाचकत्व का ही व्यञ्जकत्व है, इसलिए गुणवृत्ति-व्यवहार नियमतः ही नहीं किया जा सकता।

लोचनम्

गुणवृत्तिः। गुणेन निमित्तेन सादृश्यादिना वृत्तिः अर्थान्तरविषयेऽपि शब्दस्य सामानाधिकरण्यमिति गौणं दर्शयति। *यदा वा स्वार्थमिति* लक्षणां दर्शयति। अनेन भेदद्वयेन च स्वीकृतमविवक्षितवाच्यभेदद्वयात्मकमिति सूचयति। अत एव *अत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थशब्देन विषयान्तरमाक्रामति* चेत्यनेन शब्देन तदेव भेदद्वयं दर्शयति—*अत एव चेति*। यत एव न तत्रोक्तहेतुबलाद् गुणवृत्तिव्यवहारो न्याय्यस्तत इत्यर्थः। युक्तिं लोकप्रसिद्धिरूपामबाधितां दर्शयति—*स्वरूपमिति*। उच्यत इति प्रदीपादिः, इन्द्रियादेस्तु करणत्वान्न व्यञ्जकत्वं प्रतीत्युत्पत्तौ।

(अप्रधान रूप) से वृत्ति अर्थात् व्यापार गुणवृत्ति है। सादृश्य आदि गुण के निमित्त से वृत्ति अर्थात् अर्थान्तर के विषय में शब्द का सामानाधिकरण्य ('गुणवृत्ति') है, इससे गौण भेद दिखाते हैं। 'अथवा जब स्वार्थ को' इससे लक्षणा को दिखाते हैं। इन दोनों भेदों से अविवक्षितवाच्य का स्वीकृत भेदद्वयात्मक है' यह सूचित करते हैं। इसी लिए और 'अत्यन्ततिरस्कृत स्वार्थं' शब्द से और 'विषयान्तर पर पहुँच जाता है' इस शब्द से उन्हीं दोनों भेदों को दिखाते हैं—और इसीलिए—। अर्थात् जिस कारण ही वहां उक्त हेतु के बल से गुणवृत्ति व्यवहार ठीक नहीं है उस कारण। लोकप्रसिद्धिरूप अबाधित युक्ति दिखाते हैं—स्वरूप की—। कहलाता है प्रदीप आदि, किन्तु इन्द्रियादिकरण होते हैं अतः प्रतीति की उत्पत्ति में व्यञ्जक नहीं कहलाते।

ध्वन्यालोकः

अविवक्षितवाच्यस्तु ध्वनिर्गुणवृत्तेः कथं भिद्यते । तस्य प्रभेदद्वये गुणवृत्तिप्रभेदद्वयरूपता लक्ष्यत एव यतः । अयमपि न दोषः । यस्मादविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्गुणवृत्तिमार्गाश्रयोऽपि भवति न तु गुणवृत्तिरूप एव । गुणवृत्तिर्हि व्यञ्जकत्वशून्यापि दृश्यते । व्यञ्जकत्वं च यथोक्तचारुत्वहेतुं व्यङ्ग्यं विना न

परन्तु अविवक्षितवाच्य ध्वनि गुणवृत्ति से भिन्न कैसे होगा, जब कि उसके दोनों प्रभेदों में गुणवृत्ति के दो प्रभेदों की रूपता लक्षित ही होती है ! यह भी दोष नहीं है, क्योंकि अविवक्षितवाच्यध्वनि गुणवृत्ति के मार्ग पर आश्रित भी होता है, न कि गुणवृत्तिरूप ही होता है। क्योंकि गुणवृत्ति व्यञ्जकत्व से रहित भी देखी जाती है। और व्यञ्जकत्व यथोक्त चारुत्व के हेतु व्यङ्ग्य के बिना व्यवस्थित नहीं होता। परन्तु

लोचनम्

एवमभ्युपगमं प्रदर्श्याक्षेपं दर्शयति—*अविवक्षितेति* । तुशब्दः पूर्वस्माद्विशेषं द्योतयति । *तस्येति* । अविवक्षितवाच्यस्य यत्प्रभेदद्वयं तस्मिन् गौणलाक्षणिकत्वात्मकं प्रकारद्वयं *लक्ष्यते* निर्भास्यत इत्यर्थः । एतत्परिहरति—*अयमपीति* । गुणवृत्तेर्यो मार्गः प्रभेदद्वयं स आश्रयो निमित्ततया प्राक्कक्ष्यानिवेशी यस्येत्यर्थः । एतच्च पूर्वमेव निर्णीतम् । ताद्रूप्याभावे हेतुमाह—*गुणवृत्तिरिति* । गौणलाक्षणिकरूपोभयी अपीत्यर्थः । ननु व्यञ्जकत्वेन कथं शून्या गुणवृत्तिर्भवति, यतः पूर्वमेवोक्तम्—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ इति ।

इस प्रकार अभ्युपगम को दिखा कर आक्षेप दिखाते हैं—अविवक्षित—। 'परन्तु' शब्द पहले से विशेष को प्रकट करता है। उसके—। अविवक्षित वाच्य के जो दो प्रभेद हैं उनमें गौण और लाक्षणिक रूप दो प्रकार लक्षित होते हैं, अर्थात् निर्भासित होते हैं। (इसका परिहार करते हैं—यह भी—। गुणवृत्ति का जो मार्ग पप्रभेदद्वय है वह आश्रय अर्थात् निमित्त रूप से पहली कक्ष्या में रहने वाला है जिसका। इसे पहले ही निर्णय कर चुके हैं। तादरूप्य के अभव का हेतु कहते हैं—गुणवृत्ति—। अर्थात् गौण और लाक्षणिक रूप दोनों भी। गुणवृत्ति व्यंजकत्व से शून्य कैसे हो सकती है ? क्योंकि पहले ही कहा है—

'जिस फल को उद्देश्य करके, मुख्य वृत्ति को छोड़ कर गुण वृत्ति द्वारा अर्थ का ज्ञान कराते हैं उसमें शब्दस्खलद्गति (अर्थात् बाधित अर्थ वाला) नहीं है।'

ध्वन्यालोकः

व्यवतिष्ठते। गुणवृत्तिस्तु वाच्यधर्माश्रयेणैव व्यङ्ग्यमात्राश्रयेण चाभेदोपचाररूपा सम्भवति, यथा—तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवकः, आह्लादकत्वाच्चन्द्र एवास्या मुखमित्यादौ। यथा च 'प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम्' इत्यादौ। यापि लक्षणरूप गुणवृत्तिः साप्युपलक्षणीयार्थसंबन्धमात्राश्रयेण चारुरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिं विनापि सम्भवत्येव, यथा—मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ विषये।

गुणवृत्ति वाच्यधर्म के आश्रय से ही और व्यङ्ग्यमात्र के आश्रय से अभेदोपचार रूप सम्भव होती है, जैसे 'तीक्ष्ण होने से माणवक अग्नि है'; आह्लादक होने से इस इसका मुख चन्द्र ही है' इत्यादि में। और जैसे 'प्रिय जन में पुनरुक्ति नहीं है' इत्यादि में। जो भी लक्षणारूप गुणवृत्ति है वह भी उपलक्षणीय अर्थ के साथ सम्बन्ध मात्र के आश्रय से चारुरूप व्यङ्ग्य की प्रतीति के बिना भी सम्भव होती है, जैसे—'मञ्च आक्रोश करते हैं' इत्यादि विषय में।

लोचनम्

न हि प्रयोजनशून्य उपचारः प्रयोजनांशनिवेशी च व्यञ्जनव्यापार इति भवद्भिरेवाभ्यधायीत्याशङ्क्याभिमतं व्यञ्जकत्वं विश्रान्तिस्थानरूपं तत्र नास्तीत्याह-*व्यञ्जकत्वं चेति*। *वाच्यधर्मेति*। वाच्यविषयो यो धर्मोऽभिधाव्यापारस्तस्याश्रयेण तदुबृंहणायेत्यर्थः। श्रुतार्थापत्ताविवार्थान्तरस्याभिधेयार्थोपपादन एव पर्यवसानादिति भावः। तत्र गौणस्योदाहरणमाह—*यथेति*। द्वितीयमपि प्रकारं व्यञ्जकत्वशून्यं निदर्शयितुमुपक्रमते—*यापीति*। चारुरूपं विश्रान्तिस्थानं, तदभावे स व्यञ्जकत्वव्यापारो नैवोन्मीलति, प्रत्यावृत्त्य वाच्य एव विश्रान्तेः, क्षणदृष्टनष्टदिव्यविभवप्राकृतपुरुषवत्।

आप ही कह चुके हैं कि उपचार प्रयोजनशून्य नहीं होता और व्यंजन व्यापार प्रयोजन के अंश में रहता है, यह आशङ्का करके विश्रान्तिस्थान रूप अभिमत व्यंजकत्व वहाँ नहीं है—और व्यञ्जकत्व—। वाच्यधर्म—। अर्थात् वाच्यविषयक जो धर्म अभिधा व्यापार उसके आश्रय से उसके उपबृंहण के लिए। भाव यह कि क्योंकि श्रुतार्थापत्ति की भाँति अर्थान्तर का पर्यवसान अभिधेय अर्थ के उपपादन में ही होता है। उनमें, गौण का उदाहरण कहते हैं—जैसे—। व्यंजकत्वरहित दूसरे प्रकार को भी दिखाने के लिए उपक्रम करते हैं—जो भी—। चारु रूप अर्थात् विश्रान्ति का स्थान, उसके अभाव में वह व्यंजकत्व व्यापार उन्मीलित नहीं होता, क्योंकि लौट कर वाच्य में ही विश्रान्ति हो जाती है, उस दरिद्र पुरुष की भाँति जिसकी दिव्य सम्पत्ति क्षण में ही दिख जाने के बाद नष्ट हो जाती है।

ध्वन्यालोकः

यत्र तु सा चारुरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिहेतुस्तत्रापि व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेनैव वाचकत्ववत्। असम्भविना चार्थेन यत्र व्यवहारः, यथा—'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इत्यादौ तत्र चारुरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिरेव प्रयोजिकेति तथाविधेऽपि विषये गुणवृत्तौ सत्यामपि ध्वनिव्यवहार एव

परन्तु जहाँ वह (गुणवृत्ति) चारुरूप व्यङ्ग्य की प्रतीति का कारण है वहाँ भी वाचकत्व की भाँति व्यञ्जकत्व के अनुप्रवेश से ही और असम्भवी अर्थ के साथ जहाँ व्यवहार है, जैसे, 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं' इत्यादि में, वहाँ चारुरूप व्यङ्ग्य की प्रतीति ही प्रयोजिका है, इसलिए उस प्रकार के भी विषय में गुणवृत्ति के होने पर भी ध्वनिव्यवहार ही युक्ति के अनुकूल है। इसलिए अविवक्षित वाच्यध्वनि में

लोचनम्

ननु यत्र व्यङ्ग्येऽर्थे विश्रान्तिस्तत्र किं कर्तव्यमित्याशङ्क्याह—*यत्र त्विति*। अस्ति तत्रापरो व्यञ्जनव्यापारः परिस्फुट एवेत्यर्थः। दृष्टान्तं पराङ्गीकृतमेवाह—*वाचकत्ववदिति*। वाचकत्वे हि त्वयैवाङ्गीकृतो व्यञ्जनव्यापारः प्रथमं ध्वनिप्रभेदमप्रत्याचक्षाणेनेति भावः। किञ्च वस्त्वन्तरे मुख्ये सम्भवति सम्भवदेव वस्त्वन्तरं मुख्यमेवारोप्यते विषयान्तरमात्रतस्त्वारोपव्यवहार इति जीवितमुपचारस्य, सुवर्णपुष्पाणां तु मूलत एवासम्भवात्तदुच्चयनस्य तत्र क आरोपव्यवहारः; 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इति हि स्यादारोपः, तस्मादत्र व्यञ्जनव्यापार एव प्रधानभूतो नारोपव्यवहारः, स परं व्यञ्जनव्यापारानुरोधितयोत्तिष्ठति। तदाह—*असम्भविनेति*। *प्रयोजिकेति*। व्यङ्ग्यमेव हि प्रयोजनरूपं प्रतीतिविश्रामस्थान-

जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ में विश्रान्ति हो जाती है वहाँ क्या करना चाहिए? यह आशङ्का करके कहते हैं—परन्तु जहाँ—। अर्थात् वहाँ दूसरा व्यंजन व्यापार स्पष्ट ही है। दूसरे द्वारा अङ्गीकृत ही दृष्टान्त को कहते हैं—वाचकत्व की भाँति—। भाव यह कि वाचकत्व में प्रथम ध्वनि प्रभेद का प्रत्याख्यान न करते हुए तुमने ही व्यंजन व्यापार को स्वीकार कर लिया है। और भी, मुख्य सम्भव वस्त्वन्तर में सम्भव होता हुआ ही मुख्य वस्त्वन्तर आरोपित होता है, और आरोप का व्यवहार विषयान्तर होने के कारण होता है, यह उपचार (आरोप) का जीवित है, परन्तु सुवर्णपुष्प तो मूलतः ही सम्भव नहीं, फिर उनके चुनने का आरोप व्यवहार कैसा? 'सुर्वर्णपुष्पां पृथिवीं' यह आरोप होगा, इस लिए व्यंजन व्यापार ही यहाँ प्रधानभूत है न कि आरोप व्यवहार। वह (आरोप व्यवहार) केवल व्यंजन व्यापार के अनुरोध से उठता है। उसे कहते हैं—असम्भवी—। प्रयोजिका—। प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य ही प्रतीति का विश्रामस्थान

ध्वन्यालोकः

युक्त्यनुरोधी। तस्मादविवक्षितवाच्ये ध्वनौ द्वयोरपि प्रभेदयोर्व्यञ्जकत्वविशेषाविशिष्टा गुणवृत्तिर्न तु तदेकरूपा सहृदयहृदयाह्लादिनी प्रतीयमाना प्रतीतिहेतुत्वाद्विषयान्तरे तद्रूपशून्याया दर्शनात्। एतच्च सर्वं प्राक्सूचितमपि स्फुटतरप्रतीतये पुनरुक्तम्।

दोनों भेदों में भी समान व्यञ्जकत्व विशेष वाली गुणवृत्ति है, न कि उस (व्यञ्जकत्व) की प्रतीति का हेतु होने के कारण सहृदयों को आह्लादित करने वाली उस (व्यञ्जकत्व) के साथ एक रूप की होती है। क्यों कि दूसरे स्थल में उस (व्यञ्जकत्व) के रूप से शून्य देखी जाती है। ये सभी बातें पहले सूचित हो चुकी हैं तथापि स्पष्ट रूप से प्रतीत होने के लिए पुनः कही गई है।

लोचनम्

मारोपिते त्वसम्भवति प्रतीतिविश्रान्तिराशङ्कनीयापि न भवति। *सत्यामपीति*। व्यञ्जनव्यापारसम्पत्तये क्षणमात्रमवलम्बितायामिति भावः। *तस्मादिति*। व्यञ्जकत्वलक्षणो यो विशेषस्तेनाविशिष्टा अविद्यमानं विशिष्टं विशेषो भेदनं यस्याः व्यञ्जकत्वं न तस्या भेद इत्यर्थः। यदि वा व्यञ्जकत्वलक्षणेन व्यापारविशेषेणाविशिष्टा न्यक्कृतस्वभावा आसमन्ताद्व्याप्ता। *तदेकेति*। तेन व्यञ्जकत्वलक्षणेन सहैकं रूपं यस्याः सा तथाविधा न भवति। अविवक्षितवाच्ये व्यञ्जकत्वं गुणवृत्तेः पृथक्चारुप्रतीतिहेतुत्वात् विवक्षितवाच्यनिष्ठव्यञ्जकत्ववत्, न हि गुणवृत्तेश्चारुप्रतीतिहेतुत्वमस्तीति दर्शयति—*विषयान्तर* इति। अग्निर्वटुरित्यादौ। *प्रागिति* प्रथमोद्द्योते।

नियतस्वभावाच्च वाच्यवाचकत्वादौपाधिकत्वेनानियतं व्यञ्जकत्वं कथं न

होता है, सम्भव न होते हुए आरोपित में प्रतीतिविश्रान्ति की आशङ्का भी नहीं की जा सकती। होने पर भी—। भाव यह कि व्यंजन व्यापार को सम्पन्न करने के लिए क्षण मात्र (गुणवृत्ति के) अवलम्बित होने पर भी इसलिए—। व्यंजकत्व रूप जो विशेष उससे अविशिष्ट अर्थात् जिसका विशिष्ट = विशेष = भेदन विद्यमान नहीं, अर्थात् व्यंजकत्व उस (गुणवृत्ति) का भेद (अवान्तर धर्म) नहीं। अथवा व्यंजकत्व रूप व्यापार विशेष से अविशिष्ट तिरस्कृत स्वभाव वाली, या आ समन्तात् व्याप्त। उस व्यंजकत्व रूप (व्यापार) के साथ एक रूप है जिसका, वह उस प्रकार की नहीं होगी। अविवक्षित वाच्य में व्यंजकत्व गुणवृत्ति के अलग से चारुप्रतीति का हेतु होने के कारण विवक्षित वाच्य में रहने वाले व्यंजकत्व की भाँति होता है, गुणवृत्ति चारु की प्रतीति का हेतु नहीं है यह दिखाते हैं—दूसरे स्थल में—। 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि में। पहले—। प्रथम उद्योत में।

नियत स्वरूप वाच्य वाचक भाव से औपाधिक होने के कारण अनियत होने से

ध्वन्यालोकः

अपि च व्यञ्जकत्वलक्षणो यः शब्दार्थयोर्धर्मः स प्रसिद्धसम्बन्धानुरोधीति न कस्यचिद्विमतिविषयतामर्हति। शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाख्यस्तमनुरुन्धान एव व्यञ्जकत्वलक्षणो व्यापारः सामग्र्यन्तरसम्बन्धादौपाधिकः प्रवर्तते। अत एव वाचकत्वात्तस्य विशेषः। वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। स त्वनियतः, औपाधिकत्वात्। प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथा त्वप्रतीतेः। ननु यद्यनियतस्तत्किं तस्य स्वरूपपरीक्षया। नैष दोषः; यतः शब्दात्मनि तस्यानियतत्वम्, न तु स्वे विषये व्यङ्ग्यलक्षणे। लिङ्ग-

और भी, व्यञ्जकत्व रूप जो शब्द और अर्थ का धर्म है वह प्रसिद्ध सम्बन्ध की अपेक्षा करता है इसमें किसी को विवाद नहीं। शब्द और अर्थ का प्रसिद्ध जो वाच्यवाचकभाव नामक सम्बन्ध है उसे अपेक्षा करता हुआ ही व्यञ्जकत्व रूप व्यापार दूसरी सामग्री के सम्बन्ध से औपाधिक रूप से प्रवृत्त होता है। इसी लिए वाचकत्व से उसका भेद है। वाचकत्व शब्दविशेष का नियत आत्मा है, क्योंकि व्युत्पत्तिकाल से लेकर वह उसके (शब्द के) अविनाभाव से प्रसिद्ध है। परन्तु वह (व्यञ्जकत्व) औपाधिक होने के कारण अनियत है। क्योंकि प्रकरण आदि के सहयोग से उसकी प्रतीति होती है, अन्यथा प्रतीति नहीं होती। (शङ्का) यदि अनियत है तो उसके स्वरूप की परीक्षा से क्या लाभ? (समाधान) यह दोष नहीं है, क्योंकि शब्द रूप में वह अनियत है, न कि व्यङ्ग्य रूप अपने विषय में। और

लोचनम्

भिन्ननिमित्तमिति दर्शयति—*अपि चेति*। *औपाधिक इति*। व्यञ्जकत्ववैचित्र्यं यत्पूर्वमुक्तं तत्कृत इत्यर्थः। अत एव समयनियमितादभिधाव्यापाराद्विलक्षण इति यावत्। एतदेव स्फुटयति—*अत एवेति*। औपाधिकत्वं दर्शयति—*प्रकरणादीति*। *किं तस्येति*। अनियतत्वाद्यथारुचि कल्प्येत पारमार्थिकं रूपं नास्तीति; न चावस्तुनः परीक्षोपपद्यत इति भावः। *शब्दात्मनीति*। सङ्केतास्पदे

व्यंजकत्व कैसे भिन्न निमित्त वाला नहीं है? यह दिखाते हैं—और भी—। औपाधिक—। अर्थात् व्यंजकत्व का वैचित्र्य जो पहले कहा है तत्कृत (औपाधिक)। इसीलिए सङ्केत में नियमित अभिधा व्यापार से विलक्षण है। इसे ही स्पष्ट करते हैं—इसी लिए—। औपाधिकत्व को दिखाते हैं—प्रकरण आदि—। उसके स्वरूप की—। भाव यह कि अनियत होने के कारण जो चाहे कल्पित हो सकता है, (उसका) पारमार्थिक रूप नहीं है, और अवस्तु की परीक्षा उपपन्न नहीं। शब्द

त्वन्यायश्चास्य व्यञ्जकभावस्य लक्ष्यते, यथा लिङ्गत्वमाश्रयेष्वनियतावभासम्, इच्छाधीनत्वात्; स्वविषयाव्यभिचारि च। तथैवेदं यथा दर्शितं व्यञ्जकत्वम्। शब्दात्मन्यनियतत्वादेव च तस्य वाचकत्वप्रकारता न शक्या कल्पयितुम्। यदि हि वाचकत्वप्रकारता तस्य भवेत्तच्छब्दात्मनि नियततापि स्याद्वाचकत्ववत्। स च तथाविध औपाधिको धर्मः शब्दानामौत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिना वाक्यतत्त्वविदा पौरुषापौरुषेययोर्वाक्ययोर्विशेषमभिदधता नियमेनाभ्युपगन्तव्यः, तदनभ्युपगमे हि तस्य शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वे सत्यप्यपौरुषेयपौरुषे-

इस व्यञ्जकत्व का लिङ्गत्वसाम्य मालूम पड़ता है, जैसे लिङ्गत्व आश्रयों में अनियत रूप से मालूम पड़ता है, क्योंकि (वह) इच्छा के अधीन होता है और अपने विषय में अव्यभिचारी होता है। उसी प्रकार यह व्यञ्जकत्व है, जैसा कि दिखा चुके हैं। और शब्द रूप में अनियत होने के कारण ही उसे वाचकत्व का प्रकार नहीं बनाया जा सकता। यदि वह वाचकत्व का प्रकार होगा तो शब्द-रूप में नियतता भी वाचकत्व की भाँति होगी। और शब्द और अर्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध मानने वाले, पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों का भेद कहने वाले वाक्यतत्त्ववेत्ता (मीमांसक) को शब्दों का उस प्रकार का वह औपाधिक धर्म नियमतः स्वीकार-करना चाहिए, क्योंकि उसके स्वीकार न करने पर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के नित्य होने पर अपौरुषेय और पौरुषेय वाक्यों के अर्थ के प्रतिपादन में कोई भेद न होगा।

लोचनम्

पदस्वरूपमात्र इत्यर्थः। *आश्रयेष्विति*। न हि धूमे वह्निगमकत्वं सदातनम्, अन्यगमकत्वस्य वह्न्यगमकत्वस्य च दर्शनात्। *इच्छाधीनत्वादिति*। इच्छात्र पक्षधर्मत्वजिज्ञासाव्याप्तिसुस्मूर्षाप्रभृतिः। *स्वविषयेति*। स्वस्मिन्विषये च गृहीते त्रैरूप्यादौ न व्यभिचरति। न कस्यचिद्विमतिमेतीति यदुक्तं तत्स्फुटयति—*स चेति*। व्यञ्जकत्वलक्षण इत्यर्थः। *औत्पत्तिकेति*। जन्मना द्वितीयो भावविकारः सत्तारूपः सामीप्याल्लक्ष्यते विपरीतलक्षणातो वानुत्पत्तिः, रूढ्या

रूप—। अर्थात् सङ्केत के आस्पद पदस्वरूप मात्र। आश्रमों में—। धूम का वह्निबोधक भाव सदातन नहीं है, क्योंकि वह अन्य का बोधक और वह्नि का अबोधक भी देखा गया है क्योंकि इच्छा के अधीन होता है—। यहाँ इच्छा पक्षधर्मता (व्याप्य धूम की पक्ष पर्वत में स्थिति) की जिज्ञासा और व्याप्ति के स्मरण की इच्छा प्रभृति। अपने विषय के गृहीत होने पर त्रैरूप्य (पक्षसत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व) आदि में व्यभिचरित नहीं होता। 'किसी को विवाद नहीं' यह जो कहा है उसे स्पष्ट करते हैं—वह औपाधिक—। अर्थात् व्यंजकत्व रूप। औत्पत्तिक—। जन्म (उत्पत्ति) से दूसरा सत्तारूप भावविकार सामीप्य से लक्षित होता

ध्वन्यालोकः

ययोर्वाक्ययोरर्थप्रतिपादने निर्विशेषत्वं स्यात्। तदभ्युपगमे तु पौरुषेयाणांवाक्यानां पुरुषेच्छानुविधानसमारोपितौपाधिकव्यापारान्तराणां सत्यपि स्वाभिधेयसम्बन्धापरित्यागे मिथ्यार्थतापि भवेत्।

दृश्यते हि भावानामपरित्यक्तस्वस्वभावानामपि सामग्र्यन्तर-सम्पातसम्पादितौपाधिकव्यापारान्तराणां विरुद्धक्रियत्वम्। तथा हि-हिममयूखप्रभृतीनां निर्वापितसकलजीवलोकं शीतलत्वमुद्वहतामेव

परन्तु उसके स्वीकार कर लेने पर पुरुष की इच्छा के अनुविधान से समारोपित औपाधिक व्यापारान्तर वाले पौरुषेय वाक्य अपने अभिधेय के सम्बन्ध का परित्याग होने पर भी मिथ्यार्थ भी होंगे।

क्योंकि अन्य सामग्री के उपस्थित होने से सम्पादित औपाधिक व्यापारान्तर वाले, अपना स्वभाव न छोड़ने वाले भावों की भी विरुद्ध क्रिया देखी जाती है। जैसा कि समस्त जीवलोक का ताप दूर करने वाली ठंढक धारण करने वाले ही

लोचनम्

वा औत्पत्तिकशब्दो नित्यपर्यायः तेन नित्यं यः शब्दार्थयोः शक्तिलक्षणं संबन्धमिच्छति जैमिनेयस्तेनेत्यर्थः। *निर्विशेषत्वमिति*। ततश्च पुरुषदोषानुप्रवेशस्याकिञ्चित्करत्वात्तन्निबन्धं पौरुषेयेषु वाक्येषु यदप्रामाण्यं तन्न सिध्येत्। प्रतिपत्तुरेव हि यदि तथा प्रतिपत्तिस्तर्हि वाक्यस्य न कश्चिदपराध इति कथमप्रामाण्यम्। अपौरुषेये वाक्येऽपि प्रतिपत्तृदौरात्म्यात्तथा स्यात्।

ननु धर्मान्तराभ्युपगमेऽपि कथं मिथ्यार्थता, न हि प्रकाशकत्वलक्षणं स्वधर्मं जहाति शब्द इत्याशङ्क्याह—*दृश्यत* इति। *प्राधान्येनेति*। यदाह—

है, अथवा विपरीत लक्षणा से (औत्पत्तिक शब्द से) 'अनुत्पत्ति' (रूप अर्थ का ग्रहण होगा), अथवा रूढ़ि से औत्पत्तिक शब्द नित्य का पर्याय (माना जायगा—), इसलिए जो नित्य शब्द-अर्थ का शक्ति रूप सम्बन्ध चाहता है उस जैमिनेय (मीमांसक) को। भेद (निर्विशेषत्व)—। और उस कारण पुरुष के दोषों का अनुप्रवेश कुछ नहीं कर सकेगा, इसलिए पौरुषेय वाक्यों में तत्प्रयुक्त जो अप्रामाण्य है वह सिद्ध न होगा। यदि प्रतिपत्ता की ही उस प्रकार प्रतिपत्ति है तो वाक्य का कोई अपराध नहीं है, इसलिए अप्रामाण्य कैसे होगा? (यदि औपाधिक धर्म को स्वीकार नहीं करते हो तब) अपौरुषेय वाक्य में भी प्रतिपत्ता के दोष से उस प्रकार (अयथार्थता की प्रतीति से अप्रामाण्य) होगा।

धर्मान्तर को स्वीकार करने पर भी मिथ्यार्थता कैसे होगी, क्योंकि शब्द अपने प्रकाशकत्व रूप धर्म को नहीं छोड़ता है, यह आशङ्का करके कहते हैं—देखी जाती

ध्वन्यालोकः

प्रियाविरहदहनदह्यमानमानसैर्जनैरालोक्यमानानां सतां सन्तापकारित्वं प्रसिद्धमेव। तस्मात्पौरुषेयाणां वाक्यानां सत्यपि नैसर्गिकेऽर्थसम्बन्धे मिथ्यार्थत्वं समर्थयितुमिच्छता वाचकत्वव्यतिरिक्तं किंचिद्रूपमौपाधिकं व्यक्तमेवाभिधानीयम्। तच्च व्यञ्जकत्वादृते नान्यत्। व्यङ्ग्यप्रकाशनं हि व्यञ्जकत्वम्। पौरुषेयाणि च वाक्यानि प्राधान्येन पुरुषाभिप्रायमेव प्रकाशयन्ति। स च व्यङ्ग्य एव न त्वभिधेयः, तेन सहाभिधानस्य वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धाभावात्। नन्वनेन न्यायेन सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानां ध्वनिव्यवहारः प्रसक्तः। सर्वेषामप्यनेन न्यायेन व्यञ्जकत्वात्। सत्यमेतत्; किं तु वक्त्रभिप्रायप्रकाशनेन यद्व्यञ्जकत्वं तत्सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानामविशिष्टम्। तत्तु

चन्द्र प्रभृति प्रियतमा की विरहाग्नि से दह्यमान चित्त वाले लोगों को सन्तप्त करने वाले प्रसिद्ध ही हैं। इसलिए पौरुषेय वाक्यों का नैसर्गिक सम्बन्ध होने पर भी मिथ्यार्थता का समर्थन करना चाहते हुए (मीमांसक) को वाचकत्व से अतिरिक्त किञ्चिद्रूप औपाधिक स्पष्ट ही अभिधान करना चाहिए। और वह (औपाधिक) व्यञ्जकत्व के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं। व्यङ्ग्य का प्रकाशन व्यञ्जकत्व है। और पौरुषेय वाक्य प्राधान्यतः पुरुष के अभिप्राय को ही प्रकाशित करते हैं। और वह (अभिप्राय) व्यङ्ग्य ही होता है, न कि अभिधेय, क्योंकि उसके साथ अभिधान का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध नहीं होता। (शङ्का) इस न्याय से सभी लौकिक वाक्यों में ध्वनि व्यवहार प्रसक्त होगा। क्योंकि इस न्याय से सभी व्यञ्जक हैं। (समाधान) यह ठीक है, किन्तु वक्ता के अभिप्राय के प्रकाशन से जो व्यञ्जकत्व है वह सभी लौकिक वाक्यों में अविशिष्ट है। परन्तु वह वाचकत्व से भिन्न नहीं है,

लोचनम्

'एवमयं पुरुषो वेदेति भवति प्रत्ययः न त्वेवमयमर्थ' इति। तथा प्रमाणान्तरदर्शनमत्र बाध्यते, न तु शाब्दोऽन्वय इत्यनेन पुरुषाभिप्रायानुप्रवेशादेवाङ्गुल्यग्रवाक्यादौ मिथ्यार्थत्वमुक्तम्। *तेन सहेति*। अनियततया नैसर्गिकत्वाभावादिति

है—। प्रधान्यतः—। क्योंकि कहा है—'इस पुरुष ने इस प्रकार समझा' यह प्रत्यय होता है, यह प्रत्यय नहीं होता कि यह अर्थ इस प्रकार है। इस प्रकार यहाँ प्रमाणान्तर का दर्शन बाधित होता है न कि शाब्द अन्वय, इसलिए पुरुष के अभिप्राय के अनुप्रवेश के कारण ही 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' इत्यादि वाक्य में मिथ्यार्थता कही गई है।—उसके साथ—। भाव यह कि अनियत होने से नैसर्गिकता के अभाव के

ध्वन्यालोकः

वाचकत्वान्न भिद्यते व्यङ्ग्यं हि तत्र नान्तरीयकतया व्यवस्थितम्। न तु विवक्षितत्वेन। यस्य तु विवक्षितत्वेन व्यङ्ग्यस्य स्थितिः तद्व्यञ्जकत्वं ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम्।

यत्त्वभिप्रायविशेषरूपं व्यङ्ग्यं शब्दार्थाभ्यां प्रकाशते तद्भवति विवक्षितं तात्पर्येण प्रकाश्यमानं सत्। किन्तु तदेव केवलमपरिमितविषयस्य ध्वनिव्यवहारस्य न प्रयोजकमव्यापकत्वात्। तथा दर्शितभेदत्रयरूपं तात्पर्येण द्योत्यमानमभिप्रायरूपमनभिप्रायरूपं च सर्वमेव

व्यङ्ग्य वहाँ नान्तरीयक रूप से रहता है न कि विवक्षित रूप से। परन्तु जो व्यंग्य विवक्षित रूप से रहता है वह ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक है।

जो कि अभिप्राय विशेष रूप व्यङ्ग्य शब्द-अर्थ से प्रकाशित होता है वह तात्पर्य से प्रकाश्यमान होकर विवक्षित होता है। किन्तु वही केवल अपरिमित विषय वाले ध्वनि व्यवहार का अव्यापक होने के कारण प्रयोजक नहीं होता है। इस प्रकार दिखाए जा चुके तीन भेदों वाला, तात्पर्य से द्योत्यमान अभिप्रायरूप और अनभि-

लोचनम्

भावः। *नान्तरीयकतयेति*। गामानयेति श्रुतेऽप्यभिप्राये व्यक्ते तदभिप्रायविशिष्टोऽर्थ एवाभिप्रेतानयनादिक्रियायोग्यो न त्वभिप्रायमात्रेण किंचित्कृत्यमिति भावः। *विवक्षितत्वेनेति*। प्राधान्येनेत्यर्थः। *यस्य त्विति*। ध्वन्युदाहरणेष्विति भावः। काव्यवाक्येभ्यो हि न नयनानयनाद्युपयोगिनी प्रतीतिरभ्यर्थ्यते, अपि तु प्रतीतिविश्रान्तिकारिणी, सा चाभिप्रायनिष्ठैव नाभिप्रेतवस्तुपर्यवसाना।

नन्वेवमभिप्रायस्यैव व्यङ्ग्यत्वात्त्रिविधं व्यङ्ग्यमिति यदुक्तं तत्कथमित्याह—*यत्त्विति*। एवं मीमांसकानां नात्र विमतिर्युक्तेति प्रदर्श्य वैयाकरणानां नैवात्र

कारण। नान्तरीयक रूप से—। भाव यह कि 'गाय को लाओ' यह सुनने पर अभिप्राय के व्यक्त होने पर भी उस अभिप्राय से विशिष्ट अर्थ ही अभिप्रेत आनयन आदि क्रिया के योग्य है, न कि अभिप्रायमात्र कुछ होगा। विवक्षित रूप से—। अर्थात् प्राधान्यतः। परन्तु जो—। भाव यह कि ध्वनि के उदाहरणों में। काव्य वाक्यों से नयन-आनयन आदि क्रियाओं के उपयोग की प्रतीति नहीं उपस्थापित होती है, बल्कि (उस) प्रतीति की विश्रान्तिकारिणी प्रतीति (उपस्थापित होती है) और वह (प्रतीति) अभिप्राय में ही रहती है, न कि अभिप्रेत वस्तु (वाच्य अर्थ) में पर्यवसित होती है।

इस प्रकार जब कि अभिप्राय ही व्यङ्ग्य होता है तो 'तीन प्रकार का व्यङ्ग्य होता है' यह जो कहा है वह कैसे? यह कहते हैं—जोकि—। इस प्रकार यहाँ मीमांसकों की विमति ठीक नहीं यह दिखा कर यहाँ वह वैयाकरणों की (भी ठीक)

ध्वन्यालोकः

ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकमिति यथोक्तव्यञ्जकत्वविशेषे ध्वनिलक्षणे नातिव्याप्तिर्न चाव्याप्तिः। तस्माद्वाक्यतत्त्वविदां मतेन तावद्व्यञ्जकत्वलक्षणः शाब्दो व्यापारो न विरोधी प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते। परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते। कृत्रिम-

प्रायरूप सभी ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक होता है, इस प्रकार यथोक्त व्यञ्जकत्व विशेषरूप ध्वनि के लक्षण में न अतिव्याप्ति है और न अव्याप्ति है। इसलिए वाक्य-तत्त्ववेत्ताओं (मीमांसकों) के मत से भी व्यञ्जकत्व रूप शाब्द व्यवहार विरोधी नहीं, बल्कि अनुकूल ही लक्षित होता है। निरपभ्रंश शब्दब्रह्म को परिनिश्चित करने वाले विद्वानों (वैयाकरणों) के मत के आधार पर ही यह ध्वनिव्यवहार प्रवृत्त हुआ है, इसलिए जिनके (उनके ?) साथ विरोध-अविरोध की चिन्ता क्यों की

लोचनम्

सास्तीति दर्शयति—*परिनिश्चितेति*। परितः निश्चितं प्रमाणेन स्थापितं निरपभ्रंशं गलितभेदप्रपञ्चतया अविद्यासंस्काररहितं शब्दाख्यं प्रकाशपरामर्शस्वभावं ब्रह्म व्यापकत्वेन बृहद्विशेषशक्तिनिर्भरतया च बृंहित विश्वनिर्माणशक्तीश्वरत्वाच्च बृंहणम् *यैरिति*।

एतदुक्तं भवति—वैयाकरणास्तावद्ब्रह्मपदेनात्यत्किंचिदिच्छन्ति तत्र का कथा वाचकत्वव्यञ्जकत्वयोः, अविद्यापदे तु तैरपि व्यापारान्तरमभ्युपगतमेव। एतच्च प्रथमोद्द्योते वितत्य निरूपितम्। एवं वाक्यविदां पदविदां चाविमतिविषयत्वं प्रदर्श्य माणतत्त्वविदां तार्किकाणामपि न युक्तात्र विमतिरिति दर्शयितुमाह—*कृत्रिमेति*। कृत्रिमः सङ्केतमात्रस्वभावः परिकल्पितः शब्दार्थयोः

नहीं यह दिखाते हैं—परिनिश्चित—। जिन्होंने शब्दाख्य प्रकाशपरामर्शस्वभाव ब्रह्म—व्यापक होने के कारण और बृहत् एवं विशेष शक्ति से पूर्ण होने के कारण बृंहित तथा विश्व का निर्माण करने वाली शक्ति का ईश्वर होने के कारण बृंहण (परिपोष रूप)—को निरपभ्रंश अर्थात् भेद प्रपंच के गलित हो जाने से अविद्या के संस्कार से रहित परिनिश्चित अर्थात् प्रमाण से स्थापित किया है।

बात यह कही गई—वैयाकरण लोग 'ब्रह्म' पद से कुछ दूसरा ही चाहते हैं, वहाँ वाचकत्व और व्यंजकत्व का प्रसंग ही नहीं, परन्तु उन्होंने भी अविद्या की स्थिति में व्यापारान्तर को स्वीकार किया ही है। इसे प्रथम उद्योत में विस्तार करके निरूपण कर चुके हैं। इस प्रकार वाक्यविदों (मीमांसकों) और पदविदों (वैयाकरणों) की अविमति का विषयत्व दिखा कर प्रमाणतत्त्वविद तार्किकों (नैयायिकों) की भी विमति यहां ठीक नहीं है यह दिखाने के लिए कहते हैं—कृत्रिम—। कृत्रिम अर्थात्

ध्वन्यालोकः

शब्दार्थसम्बन्धवादिनां तु युक्तिविदामनुभवसिद्ध एवायं व्यञ्जकभावः शब्दानामर्थान्तराणामिवाविरोधश्चेति न प्रतिक्षेप्यपदवीमवतरति।

वाचकत्वे हि तार्किकाणां विप्रतिपत्तयः प्रवर्तन्ताम्, किमिदं स्वाभाविकं शब्दानामाहोस्वित्सामयिकमित्याद्याः। व्यञ्जकत्वे तु तत्पृ-

जाय ? शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को कृत्रिम मानने वाले युक्तिवेत्ताओं (नैयायिकों) के मत में यह शब्दों का व्यञ्जकत्व अन्य अर्थों (के व्यञ्जकत्व) की भाँति सिद्ध एवं विरोधरहित है, अतः निराकरण के योग्य नहीं है।

वाचकत्व के सम्बन्ध में तार्किकों की विप्रतिपत्तियां हो सकती हैं, क्या शब्दों का यह (वाचकत्व) स्वाभाविक है अथवा सङ्केतकृत (सामयिक) है इत्यादि। परन्तु

लोचनम्

सम्बन्ध इति ये वदन्ति नैयायिकसौगतादयः। यथोक्तम्—'न सामयिकत्वाच्छब्दार्थप्रत्ययस्ये'ति। तथा शब्दाः संकेतित प्राहुरिति। *अर्थान्तराणामिति*। दीपादीनाम्। नन्वनुभवेन द्विचन्द्राद्यपि सिद्धं तच्च विमतिपदमित्याशङ्क्याह—*अविरोधश्चेति*। अविद्यमानो विरोधो निरोधो बाधकात्मको द्वितीयेन ज्ञानेन यस्य तेनानुभवसिद्धश्चाबाधितश्चेत्यर्थः। अनुभवसिद्धं न प्रतिक्षेप्यं यथा वाचकत्वम्।

ननु तत्राप्येषां विमतिः। नैतत्; न हि वाचकत्वे सा विमतिः, अपि तु वाचकत्वस्य नैसर्गिकत्वकृत्रिमत्वादौ तदाह—*वाचकत्वे हीति*। नन्वेवं व्यञ्जकत्वस्यापि धर्मान्तरमुखेन विप्रतिपत्तिविषयतापि स्यादित्याशङ्क्याह—*व्यञ्जकत्वे*

सङ्केम मात्र स्वभाव का बनाया गया शब्द-अर्थ का सम्बन्ध है यह जो कहते हैं, नैयायिक, बौद्ध आदि। जैसे कहा है—'शब्द लिङ्ग द्वारा अर्थ का बोधक नहीं होता क्योंकि शब्द के अर्थ का बोध सामयिक (अर्थात् सङ्केतकृत) होता है। इस प्रकार शब्द संकेतित (अर्थ) को कहते हैं। अन्य अर्थों—। दीप आदि। द्विचन्द्र आदि भी अनुभव से सिद्ध है और उसमें विमति होगी, यह आशङ्का करके कहते हैं—विरोध रहित—। अर्थात् जिस (व्यंजकत्व) का द्वितीय ज्ञान का बाधकात्मक निरोध रूप विरोध विद्यमान नहीं, इसलिए (व्यंजकत्व) अनुभवसिद्ध और अबाधित है। अनुभव से सिद्ध को निराकरण नहीं किया जा सकता, जैसे वाचकत्व को।

(शङ्का) उस (वाचकत्व के विषय) में भी इन (नैयायिकों) की विमति है। (समाधान) यह नहीं, वाचकत्व के विषय में वह विमति नहीं है, अपितु वाचकत्व के नैसर्गिकत्व और कृत्रिमत्व आदि के सम्बन्ध में है, उसे कहते हैं—वाचकत्व के सम्बन्ध में—। तब तो इस प्रकार धर्मान्तर (नैसर्गिकत्व आदि) के द्वारा व्यंजकत्व के विषय में भी विप्रतिपत्ति हो सकती है ! यह आशङ्का करके कहते हैं—व्यंजकत्व में—।

ध्वन्यालोकः

ष्टभाविनि भावान्तरसाधारणे लोकप्रसिद्ध एवानुगम्यमाने को विमतीनामवसरः। अलौकिके ह्यर्थे तार्किकाणां विमतयो निखिलाः प्रवर्तन्ते न तु लौकिके। न हि नीलमधुरादिष्वशेषलोकेन्द्रियगोचरे बाधारहिते तत्त्वे परस्परं विप्रतिपन्ना दृश्यन्ते। न हि बाधारहितं नीलं नीलमिति ब्रुवन्नपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नीलं पीतमेतदिति। तथैव व्यञ्जकत्वं वाचकानां शब्दानामवाचकानां च गीतध्वनीनामशब्दरूपाणां च चेष्टादीनां यत्सर्वेषामनुभवसिद्धमेव तत्केनापह्नूयते।

उसके (वाचकत्व के) बाद होने वाले, भावान्तर-साधारण, लोकप्रसिद्ध, अनुगम्यमान व्यञ्जकत्व में विमतियों का अवसर हो कहां? क्योंकि तार्किकों की विमतियाँ अलौकिक पदार्थ में प्रवृत्त होती हैं न कि लौकिक में। नील, मधुर आदि अशेष लोगों की इन्द्रियों के गोचर बाधारहित तत्त्व में परस्पर विप्रतिपन्न नहीं देखे जाते। बाधारहित नील को 'नील' कहते हुए को 'यह पीत है नील नहीं' यह (कह कर) दूसरा कोई प्रतिषेध नहीं करता। उसी प्रकार वाचक शब्दों का, अवाचक गीत ध्वनियों का और अशब्दरूप चेष्टा आदि का जो व्यञ्जकत्व सभी का अनुभव सिद्ध है

लोचनम्

त्विति । *भावान्तरेति* । अक्षिनिकोचादेः साङ्केतिकत्वं चक्षुरादिकस्यानादिर्योग्यतेति दृष्ट्वा काममस्तु संशयः शब्दास्याभिधेयप्रकाशने व्यञ्जकत्वं तु यादृशमेकरूपं भावान्तरेषु तादृगेव प्रकृतेऽपीति निश्चितैकरूपे कः संशयस्यावकाश इत्यर्थः। नैतन्नीलमिति नीले हि न विप्रतिपत्तिः, अपि तु प्राधानिकमिदं पारमाणवमिदं ज्ञानमात्रमिदं तुच्छमिदमिति तत्सृष्टावलौकिक्य एव विप्रतिपत्तयः। *वाचकानामिति* । ध्वन्युदाहरणेष्विति भावः। *अशब्दमिति* । अभिधाव्यापारेणा-

भावान्तर—। अर्थात् अक्षिनिकोच आदि का सांकेतिकत्व चक्षु आदि की अनादि योग्यता है यह देख कर शब्द के अभिधेय के प्रकाशन में चाहे जो संशय हो परन्तु व्यंजकत्व जिस प्रकार भावान्तरों में एकरूप है उस प्रकार ही प्रकृत में भी है इस प्रकार निश्चित एक रूप वाले (व्यंजकत्व) में संशय का अवकाश कहाँ? 'यह नील नहीं है' यह विप्रतिपत्ति नील में नहीं, अपि तु उस (जगत्) की सृष्टि में अलौकिक में ही यह प्रधान (अर्थात् मूल प्रकृति) द्वारा रचित है, यह परमाणुओं द्वारा रचित है, यह ज्ञान मात्र है, यह तुच्छ (शून्य) है ये विप्रतिपत्तियाँ हैं। वाचक शब्दों का—। भाव यह कि ध्वनि के उदाहरणों में। शब्दरहित—। अर्थात् अभिधा व्यापार से

ध्वन्यालोकः

अशब्दमर्थं रमणीयं हि सूचयन्तो व्याहारास्तथा व्यापारा निबद्धा-श्चानिबद्धाश्च विदग्धपरिषत्सु विविधा विभाव्यन्ते। तानुपहास्यता-मात्मनः परिहरन् कोऽतिसन्दधीत सचेताः। ब्रूयात्, अस्त्यतिसन्धा-नावसरः व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिङ्गत्वमतश्च व्यङ्ग्य-प्रतीतिर्लिङ्गिप्रतीतिरेवेति लिङ्गिलिङ्गभाव एव तेषां व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नापरः कश्चित्। अतश्चैतदवश्यमेव बोद्धव्यं यस्माद्वक्त्रभिप्रायापेक्षया व्यञ्जकत्वमिदानीमेव त्वया प्रतिपादितं वक्त्रभिप्रायश्चानुमेयरूप एव।

उसे कौन छिपा सकता है? विदग्ध जनों की सभाओं में शब्दरहित रमणीय अर्थ को सूचित करने वाले वचन तथा व्यापार विविध प्रकार के निबद्ध और अनिबद्ध रूप में मिलते हैं। अपनी उपहास्यता से बचता हुआ कौन सचेता उन्हें अतिसन्धान करेगा? कोई कह सकता है, अतिसन्धान का है अवसर। शब्दों का गमकत्व (बोधकत्व) व्यञ्जकत्व है और वह लिङ्गत्व है, और इसलिए व्यङ्ग्य की प्रतीति लिङ्गी की प्रतीति ही है, इस प्रकार उनका (शब्दों का) लिङ्गलिङ्गिभाव ही है, दूसरा कोई व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव नहीं। और यह अवश्य जान लेना चाहिए क्योंकि आपने अभी ही वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा से व्यञ्जकत्व का प्रतिपादन किया है और वक्ता का अभिप्राय अनुमेय रूप ही है।

लोचनम्

स्पृष्टमित्यर्थः। *रमणीयमिति*। यद्गोप्यमानतयैव सुन्दरीभवतीत्यनेन ध्वन्यमा-नतायामसाधारणप्रतीतिलाभः प्रयोजनमुक्तम्। *निबद्धाः* प्रसिद्धाः। *तानिति* व्यवहारान्। कः सचेता अतिसन्दधीत नाद्रियेतेत्यर्थः। लक्षणे शत्रादेशः आत्मनः कर्मभूतस्य योपहसनीयता तस्याः परिहारेणोपलक्षितस्तां परिजिहीर्षुरित्यर्थः। *अस्तीति*। व्यञ्जकत्वं नापह्नूयते तत्त्वतिरिक्तं न भवति अपि तु लिङ्गिलिङ्गभाव एवायम्। *इदानीमेवेति*। जैमिनीयमतोपक्षेपे।

अस्पृष्ट। रमणीय—। जो गोप्यमान रूप से ही सुन्दर होता है, इससे (अर्थ की) ध्वन्यमानता में असाधारण प्रतीति का लाभ इस प्रयोजन को कहा है। निबद्ध प्रसिद्ध। उन्हें व्यवहारों को। कौन सचेता अतिसन्धान करेगा, अर्थात् आदर नहीं करेगा। लक्षण में शतृ आदेश कर्मभूत आत्मा की अर्थात् अपनी जो उपहसनीयता है उसका परिहार उपलक्षित है, अर्थात् उस (उपहसनीयता) को छोड़ देना चाहने वाला। है (अवसर)—। व्यंजकत्व को छिपाते नहीं, परन्तु वह अतिरिक्त नहीं अपितु यह लिङ्गलिङ्गि भाव ही है। अभी ही—। जैमिनीय मत के निराकरण के प्रसङ्ग में।

ध्वन्यालोकः

अत्रोच्यते—नन्वेवमपि यदि नाम स्यात्तत्किं नश्छिन्नम्। वाचकत्वगुणवृत्तिव्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। तस्य चैवमपि न काचित् क्षतिः। तद्धि व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमस्तु अन्यद्वा। सर्वथा प्रसिद्धशाब्दप्रकारविलक्षणत्वं शब्दव्यापारविषयत्वं च तस्यास्तीति नास्त्येवावयोर्विवादः। न पुनरयं परमार्थो यद्व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च लिङ्गिप्रतीतिरेवेति।

यहाँ कहते हैं—यदि इस प्रकार भी हो तो हमारा कुछ नहीं बिगड़ा है। वाचकत्व और गुणवृत्ति से व्यतिरिक्त व्यञ्जकत्व रूप शब्द व्यापार है यह हमने स्वीकार किया है। उसकी इस प्रकार भी कोई हानि नहीं। वह व्यञ्जकत्व लिङ्गत्व हो अथवा और कुछ सर्वथा वह प्रसिद्ध शाब्द प्रकार से विलक्षण और शब्दव्यापार का विषय है, इस प्रकार हम दोनों में विवाद ही नहीं। फिर यह (कोई) परमार्थ नहीं कि व्यञ्जकत्व लिङ्गत्व ही है और सर्वत्र व्यङ्ग्य की प्रतीति लिङ्गी की प्रतीति ही है।

लोचनम्

यदि नाम स्यादिति। प्रौढवादितयाभ्युपगमेऽपि स्वपक्षस्तावन्न सिध्यतीति दर्शयति—*शब्देति*। शब्दस्य व्यापारः सन् विषयः शब्दव्यापारविषयः, अन्ये तु शब्दस्य यो व्यापारस्तस्य विषयो विशेष इत्याहुः। *न पुनरिति*। प्रदीपालोकादौ लिङ्गिलिङ्गभावशून्योऽपि हि व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽस्तीति व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य लिङ्गिलिङ्गभावोऽव्यापक इति कथं तादात्म्यम्। *विषय इति*। शब्द उच्चरिते यावति प्रतिपत्तिस्तावान्विषय इत्युक्तः। तत्र शब्दप्रयुयुक्षा अर्थप्रतिपिपादयिषा चेत्युभय्यपि विवक्षानुमेया तावत्। यस्तु प्रतिपादयिषायां कर्मभूतोऽर्थस्तत्र शब्दः करणत्वेन व्यवस्थितः न त्वसावनुमेयः, तद्विषया हि प्रति-

यदि इस प्रकार भी हो—। प्रौढ़वादी बन कर स्वीकार करने पर भी (पूर्वपक्षी का) अपना पक्ष सिद्ध नहीं होता, यह दिखाते हैं—शब्द—। शब्द का व्यापार होता हुआ विषय शब्दव्यापार का विषय है, परन्तु अन्य लोग 'शब्द का जो व्यापार उसका विषय अर्थात् विशेष' यह कहते हैं। फिर—। प्रदीप के आलोक आदि में लिङ्गिलिङ्गभाव से रहित भी व्यङ्ग्यव्यंजक भाव है, इस प्रकार व्यङ्ग्यव्यंजक भाव का लिङ्गिलिङ्गभाव अव्यापक है, इसलिए तादात्म्य (अभेद) कैसे होगा? विषय—। शब्द के उच्चरित होने पर जितने अंश में ज्ञान होगा उतना विषय है यह कहा गया है। वहां शब्द के प्रयोग की इच्छा और अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा ये दोनों विवक्षायें अनुमेय हैं। परन्तु जो प्रतिपादन की इच्छा में कर्मभूत अर्थ है उसमें शब्द करण रूप से व्यवस्थित है न कि वह अनुमेय है, क्योंकि उसके विषय की

ध्वन्यालोकः

यदपि स्वपक्षसिद्धयेऽस्मदुक्तमनूदितं त्वया वक्त्रभिप्रायस्य व्यङ्ग्यत्वेनाभ्युपगमात्तत्प्रकाशने शब्दानां लिङ्गत्वमेवेति तदेतद्यथास्माभिरभिहितं तद्विभज्यं प्रतिपाद्यते श्रूयताम्—द्विविधो विषयः शब्दानाम्—अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च। तत्रानुमेयो विवक्षालक्षणः। विवक्षा च शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा शब्देनार्थप्रकाशनेच्छा चेति द्विप्रकारा। तत्राद्या न शाब्दव्यवहाराङ्गम्। सा हि प्राणित्वमात्रप्रतिपत्तिफला। द्वितीया तु शब्दविशेषावधारणावसितव्यवहितापि शब्दकरणव्यवहारनिबन्धनम्। ते तु द्वे अप्यनुमेयो विषयः शब्दानाम्। प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रतिपादनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः।

स च द्विविधः—वाच्यो व्यङ्ग्यश्च। प्रयोक्ता हि कदाचित्स्वश-

और जो कि अपने पक्ष की सिद्धि के लिए तुमने हमारे-कथन को अनूदित किया है कि वक्ता के अभिप्राय को व्यङ्ग्य रूप से स्वीकार करने के कारण उस (व्यङ्ग्य) के प्रकाशन में शब्द लिङ्ग ही होते हैं, तो इसे जैसा कि हमने कहा है उसे प्रतिपादन करते हैं, सुनो—शब्दों का विषय दो प्रकार का है अनुमेय और प्रतिपाद्य। उनमें अनुमेय विवक्षा रूप है। और दो प्रकार की है, शब्द के स्वरूप के प्रकाशन की इच्छा और शब्द से अर्थ के प्रकाशन की इच्छा। उनमें पहली शब्द व्यवहार का अङ्ग नहीं है। क्योंकि उसका फल प्राणित्व मात्र का ज्ञान है। परन्तु दूसरी शब्द विशेष के अवधारण से अवसित (समाप्त) एवं व्यवहित होकर भी शब्दकरणक व्यवहार का निबन्धन है। वे दोनों ही शब्दों का विषय अनुमेय हैं। प्रतिपाद्य तो प्रयोक्ता की अर्थप्रतिपादन की इच्छा से विषयीकृत अर्थ है।

और वह दो प्रकार का है—वाच्य और व्यङ्ग्य। प्रयोक्ता कभी अपने शब्द से

लोचनम्

पिपादयिषैव केवलमनुमीयते। न च तत्र शब्दस्य करणत्वे यैव लिङ्गस्येतिकर्तव्यता पक्षधर्मत्वग्रहणादिका सास्ति, अपि त्वन्यैव संकेतस्फुरणादिका तन्न तत्र शब्दो लिङ्गम्। इतिकर्तव्यता च द्विधा-एकयाभिधाव्यापारं करोति द्वितीयया व्यञ्जनाव्यापारम्। तदाह—*तत्रेत्यादिना*।

प्रतिपादनेच्छा ही केवल अनुमेय होती है। शब्द के करणत्व में जो ही लिङ्ग की यक्षधर्मत्व ग्रहण आदि इतिकर्तव्यता (सहकारी कारण) है वह है, बल्कि अन्य ही सङ्केतस्फुरण आदि (इतिकर्तव्यता) है, इसलिए वहाँ शब्द लिङ्ग नहीं है। इतिकर्तव्यता दो प्रकार की है—(शब्द) एक से अभिधा व्यापार करता है, दूसरी से व्यंजना व्यापार। उसे कहते हैं—वहाँ इत्यादि द्वारा। किसी अपेक्षा से—। अर्थात्

ध्वन्यालोकः

ब्देनार्थं प्रकाशयितुं समीहते कदाचित्स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कयाचित्। स तु द्विविधोऽपि प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गितया स्वरूपेण प्रकाशते, अपि तु कृत्रिमेणाकृत्रिमेण वा सम्बन्धान्तरेण। विवक्षाविषयत्वं हि तस्यार्थस्य शब्दैर्लिङ्गितया प्रतीयते न तु स्वरूपम्। यदि हि लिङ्गितया तत्र शब्दानां व्यापारः स्यात्तच्छब्दार्थे सम्यङ् मिथ्यात्वादि विवादा एव न प्रवर्तेरन् धूमादिलिङ्गानुमितानुमेयान्तरवत्। व्यङ्ग्यश्चार्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ततया वाच्यवच्छब्दस्य सम्बन्धी भवत्येव। साक्षादसाक्षाद्भावो हि सम्बन्धस्याप्रयोजकः। वाच्यवाचकभावाश्रयत्वं च व्यञ्जकत्वस्य प्रागेव दर्शितम्। तस्माद्वक्त्रभिप्रायरूप एव व्यङ्ग्ये लिङ्गतया शब्दानां व्यापारः। तद्विषयीकृते तु प्रतिपाद्यतया। प्रतीयमाने तस्मिन्नभिप्रायरूपेऽनभिप्रायरूपे च वाचकत्वे नैव व्यापारः सम्बन्धान्तरेण वा। न तावद्वाचकत्वेन यथोक्तं प्राक्।

अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है, कभी प्रयोजन की किसी अपेक्षा से अपने शब्द के अनभिधेय रूप से। वह दोनों प्रकार का भी शब्दों का प्रतिपाद्य विषय लिङ्गी (अनुमेय) रूप से स्वरूपतः प्रकाशित नहीं होता, अपि तु कृत्रिम अथवा अकृत्रिम सम्बन्धान्तर से। शब्दों से इस अर्थ का विवक्षाविषयत्व लिङ्गी (अनुमेय) रूप से प्रतीत होता है न कि (अर्थ का) स्वरूप नहीं (प्रतीत होता)। यदि वहाँ शब्दों का व्यापार लिङ्गी रूप से हो तो धूम आदि लिङ्ग से अनुमित अन्य अनुमेय की भाँति शब्द के अर्थ में 'सम्यक् है या मिथ्या है' ऐसे विवाद ही न हों और व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त होने के कारण वाच्य की भाँति शब्द का सम्बन्धी होता ही है, क्योंकि साक्षात् और असाक्षाद् भाव सम्बन्ध का प्रयोजक नहीं है। और व्यञ्जकत्व का वाच्यवाचक भावाश्रयत्व पहले ही दिखाया जा चुका है। इसलिए वक्ता के अभिप्राय रूप ही व्यङ्ग्य में लिङ्ग रूप से शब्दों का व्यापार होता है और उसके द्वारा विषयीकृत (अर्थ) में प्रतिपाद्य रूप से। अभिप्राय रूप और अनभिप्राय रूप उस प्रतीयमान में वाचकत्व से ही व्यापार होगा अथवा सम्बन्धान्तर से? वाचकत्व से तो नहीं होगा जैसा कि पहले कह चुके हैं। सम्बन्धान्तर से, व्यञ्जकत्व

लोचनम्

कयाचिदिति। गोपनकृतसौन्दर्यादिलाभाभिसन्धानादिकयेत्यर्थः। शब्दार्थे

गोपनकृत सौन्दर्यादिलाभ के अभिसन्धान आदि अपेक्षा से। शब्द के अर्थ में—। भाव

ध्वन्यालोकः

सम्बन्धान्तरेण व्यञ्जकत्वमेव। न च व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वरूपमेव आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात्। तस्मात्प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गित्वेन सम्बन्धी वाच्यवत्। यो हि लिङ्गित्वेन तेषां सम्बन्धी यथा दर्शितो विषयः स न वाच्यत्वेन प्रतीयते, अपि तूपाधित्वेन। प्रतिपाद्यस्य च विषयस्य लिङ्गित्वे तद्विषयाणां विप्रतिपत्तीनां लौकिकैरेव क्रियमाणानामभावः प्रसज्येतेति। एतच्चोक्तमेव।

ही है और व्यञ्जकत्व लिङ्गत्व रूप नहीं है, आलोक आदि में अन्यथा देखा जा चुका है। इसलिए शब्दों का प्रतिपाद्य विषय वाच्य की भाँति ही लिङ्गी रूप से सम्बन्ध न रखता। जो लिङ्गी रूप से उनका सम्बन्धी है, जैसा विषय दिखाया जा चुका है, व[illegible] वाच्य रूप से प्रतीत नहीं होता, अपि तु उपाधि रूप से। और प्रतिपाद्य विषय के लि[illegible] होने में उनके सम्बन्ध की लौकिक लोगों द्वारा ही की गई विप्रतिपत्तियों का अभाव प्रसक्त होगा। इसे कह चुके ही हैं।

लोचनम्

इति। अनुमानं हि निश्चयस्वरूपमेवेति भावः। *उपाधित्वेनेति*। वक्तिरिच्छा हि वाच्यादेरर्थस्य विशेषणत्वेन भाति। *प्रतिपाद्यस्येति*। अर्थाद्व्यङ्ग्यस्य। *लिङ्गित्व* इति। अनुमेयत्व इत्यर्थः। *लौकिकैरेवेति*। इच्छायां लोको न विप्रतिपद्यतेऽर्थे तु विप्रतिपत्तिमानेव।

ननु यदा व्यङ्ग्योऽर्थः प्रतिपन्नस्तदा सत्यत्वनिश्चयोऽस्यानुमानादेव प्रमाणान्तरात् क्रियत इति पुनरप्यनुमेय एवासौ। मैवम्; वाच्यस्यापि हि सत्यत्वनिश्चयोऽनुमानादेव। यदाहुः—

'आप्तवादाविसंवादसामान्यादत्र चेदनुमानता' इति।

यह कि अनुमान निश्चयस्वरूप ही होता है। उपाधिरूप से—। वक्ता की इच्छा वाच्यादि अर्थ के विशेषण रूप से प्रतीत होती है। प्रतिपाद्य विषय के—। अर्थात् व्यङ्ग्य के। लिङ्गी होने में—। अर्थात् अनुमेय होने में। लौकिक लोगों द्वारा ही—। लोग इच्छा में विप्रतिपन्न नहीं होते, परन्तु अर्थ में विप्रतिपत्तिमान् होते ही हैं।

(शङ्का) जब व्यंग अर्थ ज्ञात होता है तब उसके सत्यत्व का निश्चय अन्य प्रमाण अनुमान से ही किया जाता है इसलिए फिर भी वह अनुमेय ही है (समाधान) ऐसा नहीं, क्योंकि वाच्य के भी सत्यत्व का निश्चय अनुमान से ही होगा। क्योंकि कहते हैं—

'यहाँ आप्तवाद के अविसंवाद होने से अनुमानता होगी।'

ध्वन्यालोकः

यथा च वाच्यविषये प्रमाणान्तरानुगमेन सम्यक्त्वप्रतीतौ क्वचित्क्रियमाणायां तस्य प्रमाणान्तरविषयत्वे सत्यपि न शब्दव्यापारविषयताहानिस्तद्व्यङ्ग्यस्यापि। काव्यविषये च व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते। तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम्।

और जैसे वाच्य के विषय में प्रमाणान्तर के अनुगमन से कहीं पर सम्यक्त्व की प्रतीति करने पर उसके प्रमाणान्तर का विषय होने पर भी शब्दव्यापार विषयत्व की हानि नहीं होती उसी प्रकार व्यङ्ग्य की भी। और काव्य के विषय में व्यङ्ग्य की प्रतीतियों का सत्यासत्यनिरूपण अप्रयोजक ही है, इसलिए वहाँ प्रमाणान्तर के व्यापार की परीक्षा उपहासास्पद ही होगी। इसलिए लिङ्गी की प्रतीति ही सर्वत्र व्यङ्ग्य की प्रतीति है यह नहीं कह सकते।

लोचनम्

न चैतावता वाच्यस्य प्रतीतिरानुमानिकी किं तु तद्गतस्य ततोऽधिकस्य सत्यत्वस्य तद्वद्व्यङ्ग्येऽपि भविष्यति। एतदाह—*यथा चेत्यादिना*। एतच्चाभ्युपगम्योक्तं न त्वनेन नः प्रयोजनमित्याहुः। *काव्यविषये चेति*। *अप्रयोजकत्वमिति*। न हि तेषां वाक्यानामाग्निष्टोमादिवाक्यवत्सत्यार्थप्रतिपादनद्वारेण प्रवर्तकत्वाय प्रामाण्यमन्विष्यते, प्रीतिमात्रपर्यवसायित्वात्। प्रीतेरेव चालौकिकचमत्काररूपाया व्युत्पत्त्यङ्गत्वात्। एतच्चोक्तं वितत्य प्राक्। *उपहासायैवेति*। नायं सहृदयः केवलं शुष्कतर्कोपक्रमकर्कशहृदयः प्रतीतिं परामष्टुं नालमित्येष उपहासः।

इतने मात्र से वाच्य की प्रतीति अनुमान-प्राप्त नहीं समझी जा सकती, उसे व्यङ्ग्य मानने पर भी उसके अधिक सत्यत्व की (प्रतीति) हो सकती है। इसे कहते हैं—और जैसे—। इत्यादि द्वारा। इसे अभ्युपगम करके कहा है इससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है यह कहते हैं। और काव्य के विषय में—। अप्रयोजक—। अग्निष्टोमादि वाक्यों ('अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत') की भाँति सत्य अर्थ के प्रतिपादन के द्वारा प्रवृत्त कराने के लिए उन वाक्यों का प्रामाण्य नहीं ढूँढ़ते, क्योंकि (ये) प्रीति मात्र तक पर्यवसित हो जाते हैं। क्योंकि अलौकिक चमत्कार रूप प्रीति ही व्युत्पत्ति का अङ्ग है। इसे विस्तारपूर्वक कह चुके हैं। उपहासास्पद ही—। यह सहृदय नहीं है, केवल शुष्क तर्क के उपक्रम से कर्कश हृदय वाला व्यक्ति है क्योंकि प्रतीति का परामर्श नहीं कर सकता, यह उपहास है।

ध्वन्यालोकः

यत्त्वनुमेयरूपव्यङ्ग्यविषयं शब्दानां व्यञ्जकत्वं तद्ध्वनिव्यवहार-स्याप्रयोजकम्। अपि तु व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दानां व्यापार औत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिनाप्यभ्युपगन्तव्य इति प्रदर्शनार्थमुपन्यस्त-म्। तद्धि व्यञ्जकत्वं कदाचिल्लिङ्गत्वेन कदाचिद्रूपान्तरेण शब्दानां वाचकानामवाचकानां च सर्ववादिभिरप्रतिक्षेप्यमित्ययमस्माभिर्यत्न

जो कि अनुमेय रूप व्यङ्ग्य के विषय वाला शब्दों का व्यञ्जकत्व है, वह ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक नहीं। अपितु शब्दों के व्यञ्जकत्वरूप व्यापार को शब्दार्थ सम्बन्ध को औत्पत्तिक मानने वाले को भी स्वीकार करना चाहिए, यह दिखाने के लिए उपन्यस्त किया है। वाचक और अवाचक शब्दों के उस व्यञ्जकत्व को कभी अनुमान के द्वारा कभी रूपान्तर से सभी वादियों को मानना ही होगा, इसलिए यह यत्न हमने किया है। तो इस प्रकार गुणवृत्ति, वाचकत्व आदि शब्द के प्रकारों

लोचनम्

नन्वेवं तर्हि मा भूद्यत्र यत्र व्यञ्जकता तत्र तत्रानुमानत्वम्; यत्र यत्रानु-मानत्वं तत्र तत्र व्यञ्जकत्वमिति कथमपह्नूयत इत्याशङ्क्याह—*यत्त्वनुमेयेति*। तद्व्यञ्जकत्वं न ध्वनिलक्षणमभिप्रायव्यतिरिक्तविषयाव्यापारादिति भावः। नन्वभिप्रायविषयं यद्व्यञ्जकत्वमनुमानैकयोगक्षेमं तच्चेन्न प्रयोजकं ध्वनिव्यव-हारस्य तर्हि किमर्थं तत्पूर्वमुपक्षिप्तमित्याशङ्क्याह—*अपि त्विति*। एतदेव संक्षिप्य निरूपयति—*तद्धीति*। अत एव हि क्वचिदनुमानानेनभिप्रायादौ क्वचित्प्रत्यक्षेण दीपालोकादौ क्वचित्कारणत्वेन गीतध्वन्यादौ क्वचिदभिधया विक्षितान्यपरे क्वचिद्गुणवृत्त्या अविवक्षितवाच्येऽनुगृह्यमाणं व्यञ्जकत्वं दृष्टं

इस प्रकार जहाँ-जहाँ व्यंजकता है वहाँ-वहाँ अनुमानता मत हो, किन्तु जहाँ-जहाँ अनुमानता है वहाँ-वहाँ व्यंजकत्व है इसे कैसे छिपाया जा सकता है, यह आशङ्का करके कहते हैं—जो कि अनुमेय—। भाव यह कि वह व्यंजकत्व ध्वनिरूप नहीं है, क्योंकि अभिप्राय से व्यतिरिक्त विषय (रस अलङ्कार आदि व्यङ्ग्य) में व्यापार-रहित है। एकमात्र अनुमान के साथ योगक्षेम वाला जो अभिप्राय के विषय का व्यंजकत्व है वह यदि ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक नहीं है तो उसे पहले कैसे उपन्यस्त किया है ? यह आशंका करके कहते हैं—अपि तु—। इसे ही संक्षेप में निरूपण करते हैं—उस व्यंजकत्व को—। जिस कारण कहीं अनुमान से, जैसे अभिप्राय आदि में, कहीं प्रत्यक्ष से जैसे दीप के आलोक आदि में, कहीं कारण रूप से जैसे गीत ध्वनि आदि में, कहीं अभिधा से विवक्षितान्यपर से, कहीं गुणवृत्ति जैसे अविवक्षितवाच्य में अनुगृह्यमाण

ध्वन्यालोकः

आरब्धः। तदेवं गुणवृत्तिवाचकत्वादिभ्यः शब्दप्रकारेभ्यो नियमेनैव तावद्विलक्षणं व्यञ्जकत्वम्। तदन्तः पातित्वेऽपि तस्य हठादभिधीयमाने तद्विशेषस्य ध्वनेर्यत्प्रकाशनं विप्रतिपत्तिनिरासाय सहृदयव्युत्पत्तये वा तत्क्रियमाणमनतिसन्धेयमेव। न हि सामान्यमात्रलक्षणेनोपयोगिविशेषलक्षणानां प्रतिक्षेपः शक्यः कर्तुम्। एवं हि सति सत्तामात्रलक्षणे कृते सकलसद्वस्तुलक्षणानां पौनरुक्त्यप्रसङ्गः। तदेवम्—

से व्यञ्जकत्व नियमतः ही विलक्षण है। जबर्दस्ती अभिधा में उसे (व्यञ्जकत्व) अन्तर्भुक्त करने पर भी उसके विशेष रूप ध्वनि का जो प्रकाशन विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिए अथवा सहृदयों की व्युत्पत्ति के लिए किया जा रहा है उसे अतिसंधान नहीं किया जा सकता। सामान्य मात्र के लक्षण कर देने पर उपयोगी विशेष के लक्षणों का निराकरण नहीं किया जा सकता। क्योंकि ऐसा होने पर 'सत्ता' मात्र के लक्षण कर दिये जाने पर समस्त सद्वस्तुओं का पौनरुक्त प्रसक्त होगा। तो इस प्रकार—

लोचनम्

तत एव तेभ्यः सर्वेभ्यो विलक्षणमस्य रूपं नस्सिध्यति तदाह—*तदेवमिति*।

ननु प्रसिद्धस्य किमर्थं रूपसंकोचः क्रियते अभिधाव्यापारगुणवृत्त्यादेः। तस्यैव सामग्र्यन्तरोपनिपाताद्यद्विशिष्टं रूपं तदेव व्यञ्जकत्वमुच्यतामित्याशङ्क्याह—*तदन्तःपातित्वेऽपीति*। न वयं संज्ञानिवेशनादि निषेधाम इति भावः। विप्रतिपत्तिस्तादृग्विशेषो नास्तीति। व्युत्पत्तिः संशयाज्ञाननिरासः। *न हीति*। उपयोगिषु विशेषेषु यानि लक्षणानि तेषाम्। उपयोगिपदेनानुपयोगिनां काकदन्तादीनां व्युदासः। *एवं हीति*। त्रिपदार्थसङ्करी सत्तेत्यनेनैव द्रव्यगुणकर्मणां लक्षितत्वाच्छ्रुतिस्मृत्यायुर्वेदधनुर्वेदप्रभृतीनां सकललोकयात्रोपयोगिनामनारम्भः

व्यंजकत्व देखा गया है इसी कारण इन सभी से इसका विलक्षण रूप हमें सिद्ध होता है, उसे कहते हैं—तो इस प्रकार—।

प्रसिद्ध अभिधा व्यापार, गुणवृत्ति आदि का रूपसंकोच किसलिए करते हैं, उसी (अभिधा व्यापार आदि) का अन्य सामग्री के प्राप्त होने से जो विशिष्ट रूप है वही व्यंजकत्व कहा जाय, यह आशङ्का करके कहते हैं—अन्तर्भुक्त करने पर भी—। भाव यह कि हम नाम के प्रवेश आदि का निषेध नहीं करते। विप्रतिपत्ति अर्थात् इस प्रकार का विशेष (व्यंजकत्व) नहीं है (यह विरुद्ध ज्ञान) व्युत्पत्ति अर्थात् संशय और अज्ञान का निराकरण। सामान्य मात्र—। उपयोगी विशेषों में जो लक्षण हैं उनका। 'उपयोगी' पद से अनुपयोगी काकदन्त आदि का निराकरण है। क्योंकि ऐसा होने पर—। भाव यह कि 'सत्ता तीन पदार्थों में रहती है। इसी (लक्षण) से ही द्रव्य, गुण, कर्म लक्षित हो जाने पर सकल लोकयात्रा के उपयोगी श्रुति, स्मृति, आयुर्वेद.

ध्वन्यालोकः

विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः ।
ध्वनिसञ्ज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम् ॥
प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत् ॥३४॥

व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम् । तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूत-

हमेशा से अविदितस्वरूप होने के कारण जो मनीषी लोगों की विमति का विषय था, काव्य के ध्वनि नाम के उस इस प्रकार को व्यञ्जित किया गया ।

जहाँ व्यङ्ग्य का सम्बन्ध होने पर वाच्य का चारुत्व प्रकृष्ट होता है, काव्य का (वहाँ) अन्य प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य देखा जाता है ॥ ३४ ॥

ललना के लावण्य के समान जो व्यङ्ग्य अर्थ प्रतिपादन किया गया है उसके प्राधान्य में ध्वनि है यह कह चुके हैं । किन्तु उसके गुणीभाव से वाच्य के चारुत्व

लोचनम्

स्यादिति भावः । विमतिविषयत्वे हेतुः—*अविदितसतत्त्व इति* । अत एवाधुनात्र न कस्यचिद्विमतिरेतस्मात्क्षणात्प्रभृतीति प्रतिपादयितुम्—*आसीत्* इत्युक्तम् ॥३३॥

एवं यावद्ध्वनेरात्मीयं रूपं भेदोपभेदसहितं यच्च व्यञ्जकभेदमुखेन रूपं तत्सर्वं प्रतिपाद्य प्राणभूतं व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावमेकप्रघट्टकेन शिष्यबुद्धौ विनिवेशयितुं व्यञ्जकवादस्थानं रचितमिति ध्वनिं प्रति यद्वक्तव्यं तदुक्तमेव । अधुना तु गुणीभूतोऽप्ययं व्यङ्ग्यः कविवाचः पवित्रयतीत्यमुना द्वारेण तस्यैवात्मत्वं समर्थयितुमाह—*प्रकार इति* । व्यङ्ग्येनान्वयो वाच्यस्योपस्कार इत्यर्थः । *प्रतिपादित इति* । 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यत्र । *उक्तमिति* । 'यत्रार्थः शब्दो

धनुर्वेद प्रभृत्ति शास्त्र बन्द हो जाँयगे । विमति का विषय होने में कारण है—अविदित-स्वरूप—। अतएव अब इस क्षण से इसमें किसी की विमति नहीं है इसे प्रतिपादन करने के लिए 'था' यह कहा है ॥ ३३ ॥

इस प्रकार जितना ध्वनि का भेदोपभेदसहित स्वरूप है और जो व्यंजक के भेद के प्रकार से रूप है उन सबको प्रतिपादन करके प्राणभूत व्यङ्ग्यव्यंजक भाव को एक प्रघट्टक द्वारा शिष्य की बुद्धि में बैठाने के लिए व्यंजकवाद का स्थान बनाया है । इस प्रकार ध्वनि के प्रति जो कहना चाहिए वह कह ही चुके । अब गुणीभूत भी यह व्यङ्ग्य कवियों की वाणी को पवित्र करता है, इसलिए इस द्वारा उसी (व्यङ्ग्य) का स्वरूप समर्थनार्थ कहते हैं—जहाँ व्यङ्ग्य—। व्यङ्ग्य का सम्बन्ध और वाच्य का उपस्कार । प्रतिपादन किया गया है—। 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इस स्थल में । कह चुके

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते। तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता।

यथा—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥

का प्रकर्ष होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य नाम का काव्य का प्रभेद कल्पित किया जाता है। वहाँ तिरस्कृत वाच्य वाले (शब्दों) से प्रतीयमान व्यङ्ग्य का कभी वाच्य रूप वाक्यार्थ की अपेक्षा गुणीभाव होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्यता होती है। जैसे—

यहाँ यह कौन विलक्षण ही लावण्य की नदी है जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैर रहे हैं, जिसमें हाथी के कुम्भ का अग्रभाग निकल रहा है और जिसमें विलक्षण ही कदलीकाण्ड और मृणाल दण्ड हैं।

लोचनम्

वा' इत्यत्रान्तरे व्यङ्ग्यं च वस्त्वादित्रयं तत्र वस्तुनो व्यङ्ग्यस्य ये भेदा उक्तास्तेषां क्रमेण गुणभावं दर्शयति—*तत्रेति*। *लावण्येति*। अभिलाषविस्मयगर्भेयं कस्यचित्तरुणस्योक्तिः।

अत्र सिन्धुशब्देन परिपूर्णता, उत्पलशब्देन कटाक्षच्छटाः, शशिशब्देन वदनं, द्विरदकुम्भतटीशब्देन स्तनयुगलं, कदलिकाण्डशब्देनोरुयुगलं, मृणालदण्डशब्देन दोर्युग्ममिति ध्वन्यते। तत्र चैषां स्वार्थस्य सर्वथानुपपत्तेरन्धशब्दोक्तेन न्यायेन तिरस्कृतवाच्यत्वम्। स च प्रतीयमानोऽप्यर्थविशेषः 'अपरैव हि केयं' इत्युक्तिगर्भीकृते वाच्येंऽशे चारुत्वच्छायां विधत्ते, वाच्यस्यैव स्वात्मोन्म-

हैं—। 'यत्रार्थः शब्दो वा' इसके प्रसङ्ग में वस्तु आदि तीन व्यङ्ग्य कहे गये हैं। उनमें वस्तु व्यङ्ग्य के जो भेद कहे गये हैं उनका क्रम से गुणभाव दिखाते हैं—वहाँ —।—लावण्य—। यह किसी तरुण की अभिलाष और विस्मय से युक्त उक्ति है।

यहाँ 'नदी' शब्द से परिपूर्णता, 'कमल' शब्द से कटाक्ष की छटा, 'शशी' शब्द से मुख, 'हाथ के कुम्भ का अग्रभाग' शब्द से स्तनयुगल 'कदलीकाण्ड' शब्द से ऊरुयुगल, 'मृणालदण्ड' शब्द से हस्तयुगल ध्वनित होते हैं और वहाँ इनके स्वार्थ के सर्वथा अनुपपन्न होने के कारण 'अन्ध' शब्द में कहे गये न्याय के अनुसार तिरस्कृत वाच्यत्व है। और वह प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) भी अर्थविशेष 'यह कौन विलक्षण ही' इस उक्ति से युक्त वाच्य अंश में चारुत्वच्छाया का विधान करता है,

ध्वन्यालोकः

अतिरस्कृतवाच्येभ्योऽपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य कदाचिद्वाच्यप्राधान्येन काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता, यथोदाहृतम्—'अनुरागवती सन्ध्या' इत्येवमादि।

अतिरस्कृतवाच्य भी शब्दों से प्रतीयमान व्यङ्ग्य की कभी वाच्य के प्राधान्य से काव्य चारुत्व की अपेक्षा गुणीभाव होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्यता होती है, जैसे उदाहरण दे चुके हैं 'अनुरागवती सन्ध्या' इस प्रकार आदि। उसी (व्यङ्ग्य) का

लोचनम्

ज्जनया निमज्जितव्यङ्ग्यजातस्य सुन्दरत्वेनावभासनात्। सुन्दरत्वं चास्यासम्भाव्यमानसमागमसकललोकसारभूतकुवलयादिभाववर्गस्यातिसुभगैकाधिकरणविश्रान्तिलब्धसमुच्चयरूपतया विस्मयविभावनाप्राप्तिपुरस्कारेण व्यङ्ग्यार्थोपस्कृतस्य तथा विचित्रस्यैव वाच्यरूपोन्मज्जनेनाभिलाषादिविभावत्वात्। अत एवेयति यद्यपि वाच्यस्य प्राधान्यं, तथापि रसध्वनौ तस्यापि गुणतेति सर्वस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य प्रकारे मन्तव्यम्। अत एव ध्वनेरेवात्मत्वमित्युक्तचरं बहुशः।

अन्ये तु जलक्रीडावतीर्णतरुणीजनलावण्यद्रवसुन्दरीकृतनदीविषयेयमुक्तिरिति सहृदयाः, तत्रापि चोक्तप्रकारेणैव योजना। यदि वा नदीसन्निधौ स्नानावतीर्णयुवतिविषया। सर्वथा तावद्विस्मयमुखेनेयति व्यापाराद्गुणताव्यङ्ग्यस्य। *उदाहृतमिति*। एतच्च प्रथमोद्द्योत एव निरूपितम्। अनुरागशब्दस्य चाभिलाषे तदुपरक्तत्वलक्षणया लावण्यशब्दवत्प्रवृत्तिरित्यभिप्रायेणातिरस्कृतवाच्यत्वमु-

क्योंकि वाच्य के ही स्वरूप के उन्मज्जित होने और व्यङ्ग्यसमूह के निमज्जित होने से सुन्दर रूप से प्रतीति होती है। सुन्दरत्व इस लिए है कि जिनका समागम सम्भाव्यमान नहीं है ऐसे सकललोक के सारभूत कुवलयादि भाव वर्ग की अतिसुभग (नायिकारूप) एक अधिकरण में विश्रान्ति से समुच्चयरूप प्राप्त होने से विस्मय के विभावत्व की प्राप्तिपूर्वक व्यङ्ग्य अर्थ से उपस्कृत तथा विचित्र ही (वाच्य) वाच्य रूप के उन्मज्जन के कारण अभिलाष आदि का विभाव बन जाता है। इसी लिए इतने में यद्यपि वाच्य का प्राधान्य है तथापि रसध्वनि में उसका भी गुणभाव हो जाता है, इस प्रकार सभी गुणीभूत व्यङ्ग्य के प्रकार में मानना चाहिए। इसीलिए बहुत बार कह चुके हैं कि ध्वनि ही काव्य का आत्मा है।

किन्तु अन्य सहृदय लोगों के अनुसार यह जलक्रीड़ा के लिए अवतीर्ण युवतियों के लावण्यद्रव से सुन्दरीकृत नदी के सम्बन्ध में उक्ति है और वहाँ पर भी उक्त प्रकार से ही योजना होगी। अथवा यह नदी में स्नानार्थ अवतीर्ण युवतियों के सम्बन्ध में (उक्ति) है। सब प्रकार से विस्मय के प्रकार से इतने में व्यापार होने से व्यङ्ग्य का गुणीभाव है। उदाहरण दे चुके हैं—। इसे प्रथम उद्योत में ही निरूपण कर चुके हैं। 'अनुराम' शब्द की 'अभिलाष' अर्थ में उसमें उपरक्तत्व में लक्षणा द्वार 'लावण्य'

ध्वन्यालोकः

तस्यैव स्वयमुक्त्या प्रकाशीकृतत्वेन गुणीभावः, यथोदाहृतम्—'सङ्केतकालमनसम्' इत्यादि। रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभावो रसवदलङ्कारे दर्शितः; तत्र च तेषामाधिकारिकवाक्यापेक्षया गुणीभावो विवहनप्रवृत्तभृत्यानुयायिराजवत्। व्यङ्ग्यालङ्कारस्य गुणीभावे दीपकादिविषयः।

तथा—

स्वयं उक्ति से प्रकाशित होने पर गुणीभाव होता है, जैसे उदाहरण दे चुके हैं 'सङ्केतकालमनसं०' इत्यादि। रसादि रूप व्यङ्ग्य का गुणीभाव रसवद अलङ्कार में दिखाया जा चुका है, वहाँ उनका आधिकारिक वाक्य की अपेक्षा गुणीभाव विवाह में प्रवृत्त भृत्य का अनुगमन करने वाले राजा की भांति होता है। व्यङ्ग्य अलङ्कार के गुणीभाव में दीपक आदि विषय हैं।

उस प्रकार—

लोचनम्

क्तम्। *तस्यैवेति*। वस्तुमात्रस्य। *रसादीति*। आदिशब्देन भावादयः रसवच्छब्देन प्रेयस्विप्रभृतयोऽलङ्कारा उपलक्षिताः।

नन्वत्यर्थं प्रधानभूतस्य रसादेः कथं गुणीभावः, गुणीभावे वा कथमचारुत्वं न स्यादित्याशङ्क्य प्रत्युत सुन्दरता भवतीति प्रसिद्धदृष्टान्तमुखेन दर्शयति—*तत्र चेति*। रसवदाद्यलङ्कारविषये। एवं वस्तुनो रसादेश्च गुणीभावं प्रदर्श्यालङ्कारात्मनोऽपि तृतीयस्य व्यङ्ग्यप्रकारस्य तं दर्शयति—*व्यङ्ग्यालङ्कारस्येति*। उपमादेः॥ ३४॥

एवं प्रकारत्रयस्यापि गुणभावं प्रदर्श्य बहुतरलक्ष्यव्यापकतास्येति दर्शयितुमाह—*तथेति*। प्रसन्नानि प्रसादगुणयोगाद्गम्भीराणि च व्यङ्ग्यार्थाक्षेपकत्वा-

शब्द की भाँति प्रवृत्ति है, इसलिए अतिरस्कृत वाच्यत्व कहा है उसी का—। वस्तु मात्र का। रसादि—। 'आदि' शब्द से भाव आदि, 'रसवत्' शब्द से प्रेयस्वी प्रभृति अलङ्कार उपलक्षित होते हैं।

अत्यन्त प्रधानभूत रस आदि का गुणीभाव कैसे होगा? या गुणीभाव होने पर अचारुत्व कैसे नहीं होगा? यह आशङ्का करके 'बल्कि सुन्दरता होती है' इस बात को प्रसिद्ध दृष्टान्त के द्वारा दिखाते हैं—वहाँ—। रसवत् आदि अलङ्कारों के विषय में। इस प्रकार वस्तु रूप और रसादि का गुणीभाव प्रदर्शित करके अलङ्कार रूप उस तीसरे व्यङ्ग्य प्रकार को दिखाते हैं—व्यङ्ग्य अलङ्कार के—। उपमा आदि के—॥ ३४॥

इस प्रकार तीनों प्रकारों का भी गुणभाव दिखाकर इसकी बहुत लक्ष्यों में व्यापकता है यह दिखाने के लिए कहते हैं—उस प्रकार—। प्रसादगुण के योग से प्रसन्न और

ध्वन्यालोकः

प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः ।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा ॥ ३५ ॥

ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथाविधार्थरमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम योजनीयः । यथा—

प्रसन्न और गम्भीर पद वाले जो सुखावह काव्यबन्ध होते हैं उनमें सुमेधा को यही प्रकार जोड़ना चाहिए ॥ ३५ ॥

और जो ये अपरिमितस्वरूप भी प्रकाशमान उस प्रकार के अर्थ रमणीय होते हुए विवेकी जनों के सुखावह काव्य बन्ध हैं उन सभी में यह गुणीभूत व्यङ्ग्य नाम का प्रकार जोड़ना चाहिए । जैसे—

लोचनम्

त्पदानि येषु । *सुखावहा इति* चारुत्वहेतुः । तत्रायमेव प्रकार इति भावः । *सुमेधसेति* । यस्त्वेतं प्रकारं तत्र योजयितुं न शक्तः स परमलीकसहृदयभावनामुकुलितलोचनोक्त्योपहसनीयः स्यादिति भावः ।

लक्ष्मीः सकलजनाभिलाषभूमिर्दुहिता । जामाता हरिः यः समस्तभोगापवर्गदानसततोद्यमी । तथा गृहिणी गङ्गा यस्याः समभिलषणीये सर्वस्मिन्वस्तुन्यपहत उपायभावः । अमृतमृगाङ्कौ च सुतौ, अमृतमिह वारुणी । तेन गङ्गास्नानहरिचरणाराधनाद्युपायशतलब्धाया लक्ष्म्याश्चन्द्रोदयपानगोष्ठ्युपभोगलक्षणं मुख्यं फलमिति त्रैलोक्यसारभूतता प्रतीयमाना सती अहो कुटुम्बं महोदधेरित्यहोशब्दाच्च गुणीभावमनुभवत ॥ ३५ ॥

व्यङ्ग्य अर्थ के आक्षेपक होने से गम्भीर पद हैं जिनमें । सुखावह अर्थात् चारुत्व के हेतु । भाव वह कि यहाँ भी यही प्रकार—है । सुमेधा को—। भाव यह कि जो इस प्रकार को वहाँ जोड़ने में समर्थ नहीं है वह 'अलीक सहृदय भावना से मुकुलित लोचनों वाला है' इस कथन से उपहास के योग्य है ।

समस्त लोगों के अभिलाष की भूमि लक्ष्मी पुत्री है । जामाता विष्णु जी समस्त भोग और अपवर्ग (मोक्ष) को देने के लिए सतत उद्यमशील रहते हैं । पत्नी गङ्गा जिसका उपायभाव समभिलषणीय समस्त वस्तु में अपहत है और अमृत तथा चन्द्रमा पुत्र हैं । 'अमृत' यहाँ वारुणी (मदिरा) है । इस (अर्थ) से गङ्गास्नान, हरिचरण के आराधन आदि सैकड़ों उपायों से लक्ष्मी का मुख्य फल चन्द्रोदय और पानगोष्ठी का उपभोग है, इस प्रकार (समुद्र की) त्रैलोक्य में सारभूतता प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) होती हुई 'वाह रे, महासमुद्र का परिवार !' यहाँ 'वाह रे' शब्द से गुणीभाव को प्राप्त करती है ॥ ३५ ॥

ध्वन्यालोकः

लच्छी दुहिदा जामाउओ हरी तंस घरिणिआ गङ्गा ।
अमिअमिअङ्का अ सुआ अहो कुडुम्बं महोअहिणो ॥
वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥ ३६ ॥

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशस्यालङ्कारस्य वस्तुमात्रस्य वा यथायोगमनुगमे सति च्छायातिशयं बिभ्रल्लक्षणकारैरेकदेशेन दर्शितः। स तु तथारूपः प्रायेण सर्व एव परीक्ष्यमाणो लक्ष्ये निरीक्ष्यते।

उसकी पुत्री लक्ष्मी जामाता विष्णु, पत्नी गङ्गा और अमृत और चन्द्रमा पुत्र हैं वाह रे ! यह समुद्र का परिवार है ?

यह वाच्य अलङ्कारवर्ग व्यङ्ग्य—अंश का अनुगम होने पर प्रायः करके अतिशय शोभा धारण करता हुआ लक्ष्य में देखा जाता है ॥ ३६ ॥

यह वाच्य अलङ्कारवर्ग व्यङ्ग्यांश अलङ्कार अथवा वस्तुमात्र का यथायोग्य अनुगम होने पर अतिशय शोभा को धारण करता हुआ लक्षणकारों द्वारा एक देश से (स्थालीपुलाक न्याय से) दिखाया गया है। उस प्रकार का वह परीक्षा करने पर प्रायः

लोचनम्

एव निरलङ्कारेपूत्तानतायां तुच्छतयैव भासमानममुनान्तःसारेण काव्यं पवित्रीकृतमित्युक्त्वालङ्कारस्याप्यनेनैव रम्यतरत्वमिति दर्शयति—*वाच्येति*। अंशत्वं गुणमात्रत्वम्। *एकदेशेनेति*। एकदेशविवर्तिरूपकमनेन दर्शितम्।

तदयमर्थः—एकदेशविवर्तिरूपके—

राजहंसैरवीज्यन्त शरदैव सरोनृपाः

इत्यत्र हंसानां यच्चामरत्वं प्रतीयमानं तन्नृपा इति वाच्येऽर्थे गुणतां प्राप्तमलङ्कारकारैर्यावदेव दर्शितं तावदमुना द्वारेण सूचितोऽयं प्रकार इत्यर्थः। अन्ये त्वेकदेशेन वाच्यभागवैचित्र्यमात्रेणेत्यनुद्भिन्नमेव व्याचचक्षिरे। व्यङ्ग्यं यद-

इस प्रकार निरलङ्कार (काव्यों) में आपातः प्रतीति में तुच्छरूप से भासमान काव्य इस अन्तःसार (गुणीभूत व्यङ्ग्य) द्वारा पवित्र कर दिया गया है यह कह कर अलङ्कार का भी इसी से रम्यतरत्व होता है यह दिखाते हैं—यह वाच्य—। अंश अर्थात् गुणमात्र। एकदेश से—। इससे एकदेशविवर्त्ति रूपक को दिखाया है।

तो यह अर्थ है—एकदेशविवर्तिरूपक में—

'शरद ने ही सरोवररूपी राजाओं के राजहंसों से झले।'

अर्थात् यहाँ जो हंसों का चामरत्व व्यङ्ग्य हो रहा है वह 'राजा' इस वाच्य अर्थ में गुणता को प्राप्त है, इस प्रकार आलङ्कारिकों ने जितना ही दिखाया है उस प्रकार को इस ढंग से सूचित किया है। किन्तु अन्य लोगों ने 'एकदेश से अर्थात् वाच्यभाग

ध्वन्यालोकः

तथा हि—दीपकसमासोक्त्यादिवदन्येऽप्यलङ्काराः प्रायेण व्यङ्ग्यालङ्कारान्तरवस्त्वन्तरसंस्पर्शिनो दृश्यन्ते। यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति, कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा

सभी लक्ष्य में देखा जाता है। जैसा कि—दीपक, समासोक्ति आदि की भाँति अन्य भी अलङ्कार प्रायः करके व्यङ्ग्य अलङ्कान्तर और वस्त्वन्तर का स्पर्श करने वाले देखे जाते हैं। क्योंकि पहले तो सब अलङ्कारों में अतिशयोक्ति—गर्भता हो सकती है। महाकवियों द्वारा की जाने पर ही वह कुछ अपूर्व काव्य की शोभा बढ़ाती है। क्योंकि

लोचनम्

लङ्कारान्तरं वस्त्वन्तरं च संस्पृशन्ति ये स्वात्मनः संस्कारायाश्लिष्यन्तीति ते तथा। *महाकविभिरिति*। कालिदासादिभिः। काव्यशोभां पुष्यतीति यदुक्तं तत्र हेतुमाह—*कथं हीति*। हिशब्दो हेतौ। अतिशययोगिता कथं नोत्कर्षमावहेत् काव्ये नास्त्येवासौ प्रकार इत्यर्थः। स्वविषये यदौचित्यं तेन चेद्धृदयस्थितेन तामतिशयोक्तिं कविः करोति। यथा भट्टेन्दुराजस्य—

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥

अत्र हि भगवतो मन्मथवपुषः सौभाग्यविषयः सम्भाव्यत एवायमतिशय

के वैचित्र्यमात्र से' यह अस्पृष्टार्थक व्याख्यान किया है। जो व्यङ्ग्य अलङ्कारान्तर और वस्त्वन्तर का स्पर्श करते हैं, अपने संस्कार के लिए आश्लेष करते हैं वे उस प्रकार। महाकवियों द्वारा—। कालिदास आदि द्वारा। 'काव्य की शोभा को बढ़ाती है' यह जो कहा है उसमें हेतु कहते हैं—अतिशययोगिता—। ('हि' शब्द हेतु' अर्थ में है।) अतिशययोगिता कैसे नहीं उत्कर्ष लायेगी अर्थात् काव्य में वह प्रकार नहीं ही है। अपने विषय में जो औचित्य है उस हृदयस्थित (औचित्य से) उस अतिशयोक्ति को कवि करता है। जैसे भट्ट इन्दुराज का—

दृष्टिपातों के प्रसंग में बहुत बार आँखें विश्राम करके जो स्थैर्यरहित हो जाती हैं, अङ्ग प्रतिदिन कहे हुए कमलिनी के नाल की भाँति जो सूखते जा रहे हैं, गालों में दूर्वाकाण्ड का अनुकरण करने वाला घना जो कि पीलापन है, युवक कृष्ण के प्रति तरुणी गोपियों में ऐसी ही वेषरचना हो गई है।

यहाँ मन्मथ की भाँति शरीर वाले भगवान् का सौभाग्यविषयक अतिशय सम्भा-

ध्वन्यालोकः

सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत् । भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ इति ।

अतिशय योगिता अपने विषय के औचित्य से की जाने पर कैसे नहीं काव्य में उत्कर्ष लायेगी ? भामहने भी अतिशयोक्ति के लक्षण में जो यह कहा है—

यह सभी ही (अतिशयोक्ति) वक्रोक्ति है, इससे अर्थ शोभित हो जाता है। इसमें कवि को यत्न करना चाहिए। इसके बिना कौन अलङ्कार है !

लोचनम्

इति तत्काव्ये लोकोत्तरैव शोभोल्लसति । अनौचित्येन तु शोभा लीयेत एव । यथा—

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा ।

इदमेवंविधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम् ॥ इति ।

नन्वतिशयोक्तिः सर्वालङ्कारेषु व्यङ्ग्यतयान्तर्लीनैवास्त इति यदुक्तं तत्कथम् ? यतो भामहोऽतिशयोक्तिं सर्वालङ्कारसामान्यरूपामवादीत् । न च सामान्यं शब्दाद्विशेषप्रतीतेः पृथग्भूततया पश्चात्तनत्वेन चकास्तीति कथमस्य व्यङ्ग्यत्वमित्याशङ्क्याह—*भामहेनेति* । भामहेनापि यदुक्तं तत्रायमेवार्थोऽवगन्तव्य इति दूरेण सम्बन्धः । किं तदुक्तम्—*सैषेति* । यातिशयोक्तिर्लक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलङ्कारप्रकारः सर्वः ।

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ।

इति वचनात् । शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन

वित ही हो रहा है, इसलिए काव्य में लोकोत्तर ही शोभा उल्लसित होती है। परन्तु अनौचित्य से शोभा समाप्त ही हो जाती है। जैसे—

इस प्रकार के होने वाले तेरे स्तन के उठान को ध्यान में न रख कर ही विधाता ने आकाश को छोटा बना दिया।

अतिशयोक्ति सभी अलंकारों में व्यङ्ग्यरूप से अन्तर्लीन ही है यह जो कहा है वह कैसे ? क्योंकि भामह ने अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारों का सामान्यरूप कहा है। सामान्य शब्द से विशेष की प्रतीति होने से पृथग्भूत होकर पश्चाद्भावी रूप से नहीं प्रतीति होता है, तो फिर कैसे इसका व्यङ्ग्यत्व है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—भामह ने—। भामह ने भी जो कहा है वहाँ यही अर्थ समझना चाहिए यह दूर से अन्वय है। वह क्या कथन है—वह सभी—। जो अतिशयोक्ति लक्षित की गई है वही सब वक्रोक्ति अलङ्कार का सब प्रकार है।

वक्र अर्थ और शब्द की उक्ति वाणी की अलंकृति मानी जाती है।

स वचन से। शब्द की वक्रता और अभिधेय की वक्रता अर्थात् लोकोत्तीर्णरूप से

ध्वन्यालोकः

तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालङ्काररूपेत्ययमेवार्थोऽवग-

वहाँ, अतिशयोक्ति जिस अलङ्कार कवि की प्रतिभा के वश से जिस अलङ्कार पर अधिष्ठित होती है, उसमें अतिशय चारुत्व का योग्य हो जाता है और अन्य अलङ्कारमात्र होते हैं, इस प्रकार सभी अलङ्कारों के शरीर को अङ्गीकार की योग्यता

लोचनम्

रूपेणावस्थानमित्ययमेवासावलङ्कारभावः ; लोकोत्तरतैव चातिशयः, तेनातिशयोक्तिः सर्वालङ्कारसामान्यम् । तथा हि—अनया अतिशयोक्त्या, अर्थः सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते । तथा प्रमदोद्यानादिः विभावतां नीयते । विशेषेण च भाव्यते रसमयीक्रियते, इति तावत्तेनोक्तं, तत्र कोऽसावर्थ इत्यत्राह—*अभेदोपचारात्सैव सर्वालङ्काररूपेति* । उपचारे निमित्तमाह—*सर्वालङ्कारेति* । उपचारे प्रयोजनमाह—*अतिशयोक्तिरित्यादिना अलङ्कारमात्रतैवेत्यन्तेन* । मुख्यार्थबाधोऽप्यत्रैव दर्शितः *कविप्रतिभावशादित्यादिना* ।

अयं भावः—यदि तावदतिशयोक्तेः सर्वालङ्कारेषु सामान्यरूपता सा तर्हि तादात्म्यपर्यवसायिनीति तद्व्यतिरिक्तो नैवालङ्कारो दृश्यत इति कविप्रतिभानं न तत्रापेक्षणीयं स्यात् । अलङ्कारमात्रं च न किञ्चिद्दृश्येत । अथ सा काव्यजीवितत्वेनेत्थं विवक्षिता, तथाप्यनौचित्येनापि निबध्यमाना तथा स्यात् ।

अवस्थान, यही वह अलङ्कार का अलङ्कारत्व है । और लोकोत्तरता ही अतिशय है, इस कारण अतिशयोक्ति सब अलङ्कार का सामान्य है । जैसा कि—इस अतिशयोक्ति से, बहुत लोगों के द्वारा उपयोग करने से पुराना हुआ भी अर्थ विचित्र रूप से मालूम पड़ता है । उस प्रकार प्रमदा, उद्यान आदि को विभाव बनाते हैं । विशेषरूप से भावित किया जाता है, अर्थात् रसमय किया जाता है, यह जो उसने कहा है उसका अर्थ क्या है, इस प्रसंग में कहते हैं—अभेदोपचार से वही सर्वालङ्काररूप है । उपचार में निमित्त कहते हैं—सर्वालङ्कार—। उपचार में प्रयोजन कहते हैं—अतिशयोक्ति से लेकर अलङ्कारमात्र होते हैं तक । कवि की प्रतिभा के वश से—इत्यादि से मुख्यार्थबाध भी यहीं दिखा दिया गया ।

भाव यह है—यदि अतिशयोक्ति सभी अलङ्कारों में सामान्यरूप है और वह (उसकी सामान्यरूपता) तादात्म्य में पर्यवसित होती है । (अर्थात् सभी अलङ्कार अतिशयोक्तिरूप हैं) तो उस (अतिशयोक्ति) से व्यतिरिक्त अलङ्कार नहीं है, ऐसी स्थिति में कवि की प्रतिभा की अपेक्षा नहीं रह जायगी, और कोई (अतिशयोक्ति से अतिरिक्त) अलंकारमात्र नहीं दिखेगा । यदि वह (अतिशयोक्ति) काव्य का जीवितरूप से विवक्षित है, ऐसी स्थिति में भी औचित्य से भी निबन्ध्यमान होकर

ध्वन्यालोकः

न्तव्यः । तस्याश्चालङ्कारान्तरसंकीर्णत्वं कदाचिद्वाच्यत्वेन कदाचिद्व्यङ्ग्यत्वेन । व्यङ्ग्यत्वमपि कदाचित्प्राधान्येन कदाचिद्गुणभावेन । तत्राद्ये पक्षे वाच्यालङ्कारमार्गः । द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भावः । तृतीये तु गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपता ।

हो जाने से अभेदोपचार से वही सर्वालङ्कार स्वरूप है, यही अर्थ समझना चाहिए। और वह अलङ्कारान्तर से सङ्कीर्ण कभी वाच्यरूप से कभी व्यङ्ग्य रूप से होती है। व्यङ्ग्यत्व भी कभी प्राधान्य से कभी गुणभाव से होता है। उनमें पहले पक्ष में वाच्य अलङ्कार का मार्ग है, दूसरे में ध्वनि में अन्तर्भाव है और तीसरे में गुणीभूत-व्यङ्ग्यरूपता है।

लोचनम्

औचित्यवती जीवितमिति चेत्—औचित्यनिबन्धनं रसभावादि मुक्त्वा नान्यत्किञ्चिदस्तीति तदेवान्तर्यामि मुख्यं जीवितमित्यभ्युपगन्तव्यं न तु सा। एतेन यदाहुः केचित्—औचित्यघटितसुन्दरशब्दार्थमये काव्ये किमन्येन-ध्वनिनात्मभूतेनेति ते स्ववचनमेव ध्वनिसद्भावाभ्युपगमसाक्षिभूतं मन्यमानाः प्रत्युक्ताः। तस्मान्मुख्यार्थबाधादुपचारे च निमित्तप्रयोजनसद्भावादभेदोपचार एवायम्। ततश्चोपपन्नमतिशयोक्तेर्व्यङ्ग्यत्वमिति। यदुक्तमलङ्कारान्तरस्वीकरणं तदेव त्रिधा विभजते—*तस्याश्चेति*। *वाच्यत्वेनेति*। सापि वाच्या भवति। यथा-'अपरैव हि केयमत्र' इति। अत्र रूपकेऽप्यतिशयः शब्दस्पृगेव। अस्य त्रैविध्यस्य विषयविभागमाह—*तत्रेति*। तेषु प्रकारेषु मध्ये य आद्यः प्रकारस्तस्मिन्।

वह उस प्रकार (काव्य का जीवित) हो सकती है। औचित्य वाली अतिशयोक्ति (काव्य का) जीवित है यदि कहो तो औचित्य के निबन्धन रस, भाव आदि को छोड़ कर कोई दूसरा नहीं है, इसलिए वही अन्तर्यामी होने से मुख्य जीवित है यह मानना चाहिए न कि वह (औचित्ययुक्त अतिशयोक्ति)। इसलिए जो कि कुछ लोग कहते हैं कि औचित्यघटितसुन्दरशब्दार्थमय काव्य में अन्य किसी आत्मभूत ध्वनि से क्या होगा ? वे अपने वचन को ही ध्वनि के सद्भाव के स्वीकार का साक्षिभूत मानते हुए जवाब दिये जा चुके। इसलिए मुख्यार्थ के बाध से और निमित्तरूप प्रयोजन के सद्भाव से यह अभेदोपचार ही है। इसलिए अतिशयोक्ति के व्यङ्ग्य होने की बात बन गई। जो कि अलङ्कारान्त का स्वीकरण कहा है उसे ही तीन प्रकार से विभाग करते हैं—और वह अलङ्कारान्तर से—। वाच्यरूप से—। वह (अतिशयोक्ति) भी वाच्य होती है (जैसे—'अपरैव हि केयमत्र'। यहाँ रूपक में भी अतिशय शब्द का स्पर्श कर ही रहा है (अर्थात् वाच्य ही है) इस त्रैविध्य का विषयविभाग कहते हैं—उनमें—। उन प्रकारों के बीच जो पहला प्रकार है उसमें।

ध्वन्यालोकः

अयं च प्रकारोऽन्येषामप्यलङ्काराणामस्ति, तेषां तु न सर्वविषयः। अतिशयोक्तेस्तु सर्वालङ्कारविषयोऽपि सम्भवतीत्ययं विशेषः। येषु चालङ्कारेषु सादृश्यमुखेन तत्त्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमातुल्ययोगितानिदर्शनादिषु तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषयाः। समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तत्त्वव्यवस्थानाद्गुणीभूतव्यङ्गता निर्विवादैव। तत्र च

यह प्रकार अन्य अलङ्कारों का भी है, परन्तु उनका (प्रकार) सब विषय वाला नहीं है, परन्तु अतिशयोक्ति का (प्रकार) सब अलङ्कार के विषय वाला भी सम्भव होता है इस प्रकार यह विशेष है। जिन अलङ्कारों में सादृश्य के द्वारा तत्त्व (अलङ्कारत्व) का लाभ होता है, जैसे रूपक, उपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि, उनमें गम्यमान धर्म के प्रकार से ही जो सादृश्य है वही अतिशय शोभा वाला होता है, इस प्रकार वे सभी अतिशय चारुत्व से युक्त होते हुए गुणीभूत व्यङ्ग्य के ही विषय होते हैं। किन्तु समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि में गम्यमान अंश के अविनाभाव से ही तत्त्व (अलङ्कारत्व) की व्यवस्था होने से गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवाद ही

लोचनम्

नन्वतिशयोक्तिरेव चेदेवम्भूता तत्किमपेक्षया प्रथमं तावदिति क्रमः सूचित इत्याशङ्क्याह—*अयं चेति*। योऽतिशयोक्तौ निरूपितोऽलङ्कारान्तरेऽप्यनुप्रवेशात्मकः। नन्वेवमपि प्रथममिति केनाशयेनोक्तमित्याशङ्क्याह—*तेषामिति*। एवमलङ्कारेषु तावद्व्यङ्ग्यस्पर्शोऽस्तीत्युक्त्या तत्र किं व्यङ्ग्यत्वेन भातीति विभागं व्युत्पादयति—*येषु चेति*। रूपकादीनां पूर्वमेवोक्तं स्वरूपम्। निदर्शनायास्तु 'क्रिययैव तदर्थस्य विशिष्टस्योपदर्शनम्। इष्टा निदर्शने'ति। उदाहरणम्—

जब अतिशयोक्ति इस प्रकार की है तो किस अपेक्षा से 'पहले' यह क्रम सूचित किया है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—यह प्रकार—। अतिशयोक्ति में अलङ्कारान्तर में अनुप्रवेशरूप जो निरूपण किया गया है। फिर भी 'पहले' यह किस आशय से कहा है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—उनका—। इस प्रकार 'अलङ्कारों में व्यङ्ग्य का स्पर्श है' यह कह कर व्यङ्ग्यत्व से क्या होता है यह व्युत्पादन करते हैं—और जिन अलंकारों में—। रूपक आदि का स्वरूप पहले ही कह चुके हैं। किन्तु निदर्शना का (लक्षण है)—'क्रिया के द्वारा ही उसके विशिष्ट अर्थ का उपदर्शन निदर्शना मानी जाती है' उदाहरण—

ध्वन्यालोकः

गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामलङ्काराणां केषाञ्चिदलङ्कारविशेषगर्भतायां नियमः। यथा व्याजस्तुतेः प्रेयोलङ्कारगर्भत्वे। केषाञ्चिदलङ्कारमात्रगर्भतायां नियमः। यथा सन्देहादीनामुपमागर्भत्वे। केषाञ्चिदलङ्काराणां परस्परगर्भतापि सम्भवति। यथा दीपकोपमयोः। तत्र दीपकमुपमागर्भत्वेन प्रसिद्धम्। उपमापि कदाचिद्दीपकच्छायानुयायिनी। यथा मालोपमा। तथा हि 'प्रभामहत्या शिखयेव दीपः' इत्यादौ स्फुटैव दीपकच्छाया लक्ष्यते।

तदेवं व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलङ्काराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः। गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च

है। और उस गुणीभूतव्यङ्ग्यता में कुछ अलङ्कार नियमतः—अलङ्कार विशेषगर्भ होते हैं, जैसे व्याजस्तुति प्रेयोऽलङ्कारगर्भ होती है; कुछ (अलङ्कार) नियमतः अलङ्कारमात्रगर्भ होते हैं, जैसे सन्देह आदि उपमागर्भ होते हैं; कुछ अलङ्कार परस्पर गर्भ भी सम्भव होते हैं, जैसे दीपक और उपमा में वहाँ दीपक उपमागर्भ रूप से प्रसिद्ध है। उपमा भी कभी दीपक की छायानुयायिनी हो जाती है, जैसे मालोपमा। जैसा कि 'प्रभा महत्या शिखयेव दीपः' इत्यादि में स्पष्ट ही दीपक की छाया लक्षित होती है।

तो इस प्रकार व्यङ्ग्यांश का संस्पर्श होने पर रूपक आदि अलङ्कार अतिशय चारुत्व से युक्त होते हैं, यह सभी गुणीभूतव्यङ्ग्य का मार्ग है। उस प्रकार की जाति

लोचनम्

अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान्॥

प्रेयोलङ्कारेति। चाटुपर्यवसायित्वात्तस्याः। सा चोदाहृतैव द्वितीयोद्द्योतेऽस्माभिः। उपमागर्भत्व इत्युपमाशब्देन सर्व एव तद्विशेषा रूपकादयः, अथवौपम्यं सर्वसामान्यमिति तेन सर्वमाक्षिप्तमेव। *स्फुटैवेति*। 'तया स पूतश्च विभूषितश्च' इत्येतेन दीपस्थानीयेन दीपनाद्दीपकमत्रानुप्रविष्टं प्रतीयमानतया,

यह मन्द प्रकाश वाला सूर्य 'उदय पतन के लिए होता है' यह वैभवशाली लोगों को बोध कराता हुआ अस्त जाना चाहता है।

प्रेयोऽलङ्कार—। क्योंकि वह (व्याजस्तुति) चाटु में पर्यवसान प्राप्त करती है। और उसे हमने दूसरे उद्योत में उदाहृत किया ही है। 'उपमागर्भ' यहाँ 'उपमा' शब्द से उसके सभी विशेष रूपक आदि, अथवा 'औपम्य सब में सामान्य है' इसलिए सब आक्षिप्त ही हैं। स्पष्ट हो—। 'तया स पूतश्च विभूषितश्च' इस दीपस्थानीय से दीपन होने के कारण प्रतीमयान रूप से यहां दीपक अनुप्रविष्ट है। इस उपमा में साधारण-

ध्वन्यालोकः

तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेवोक्तानुक्तानां सामान्यम्। तल्लक्षणे सर्वे

वाले उन उक्त और अनुक्त सभी का गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व सामान्य है। उसके लक्षण में सभी ये सुष्ठु प्रकार से लक्षित हो जाते हैं। सामान्य लक्षण से रहित प्रत्येक का

लोचनम्

साधारणधर्माभिधानं ह्येतदुपमायां स्पष्टेनाभिधाप्रकारेणैव। *तथाजातीयानामिति*। चारुत्वातिशयवतामित्यर्थः। सुलक्षिता इति यत्किलैषां तद्विनिर्मुक्तं रूपं न तत्काव्येऽभ्यर्थनीयम्। उपमा हि 'यथा गौस्तथा गवयः' इति। रूपकं 'खलेवाली यूप' इति। श्लेषः 'द्विर्वचनेऽची'ति तन्त्रात्मकः। यथासंख्यं 'तुदीशालातुरे'ति। दीपकं 'गामश्वम्' इति। ससन्देहः 'स्थाणुर्वा स्यात्' इति। अपह्नुतिः 'नेदं रजतम्' इति। पर्यायोक्तं 'पीनो दिवा नात्ति' इति। तुल्ययोगिता 'स्थाध्वोरिच्च' इति। अप्रस्तुतप्रशंसा सर्वाणि ज्ञापकानि, यथा पदसंज्ञायामन्तवचनम्—'अन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न' इति। आक्षेपश्चोभयत्र विभाषासु विकल्पात्मकविशेषाभिधित्सया इष्टस्यापि विधेः पूर्वं निषेधनात्प्रतिषेधेन समीकृत इति न्यायात्। अतिशयोक्तिः 'समुद्रः कुण्डिका' 'विन्ध्योवर्धितवानर्कवर्त्मागृहणात्' इति। एवमन्यत्।

न चैवमादि काव्योपगीति, गुणीभूतव्यङ्ग्यतैवात्रालङ्कारतायां मर्मभूता लक्षिताः तान् सुष्ठु लक्षयति। यया सुपूर्णं कृत्वा लक्षिताः सङ्गृहीता

धर्म का अभिधान स्पष्ट अभिधा प्रकार से ही है। उस प्रकार की जाति वाले—। अर्थात् अतिशय चारुत्व वाले। सुष्ठु प्रकार से लक्षित—। जो कि इन (उपमा आदि अलङ्कारों) का उस (गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व) से रहित रूप है वह काव्य में अभीष्ट नहीं है। क्योंकि उपमा—'जैसा गौ वैसा गवय'। रूपक—'खलेवाली यूप है'। श्लेष—'द्विर्वचनेऽचि' तन्त्रात्मक है। यथासङ्ख्य—'तुदीशालातुर०'। दीपक—'गौ अश्व'। ससन्देह—'अथवा स्थाणु होगा' अपह्नुति—'यह रजत नहीं है'। पर्यायोक्त—'पीन दिन में भोजन नहीं करता है'। तुल्ययोगिता—स्थघ्वोरिच्च'। अप्रस्तुतप्रशंसा—सब ज्ञापक, जैसे पदसंज्ञा में अन्तवचन—'अन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न'। आक्षेप—विभाषाओं में दोनों जगह विकल्परूप विशेष के अभिधान की इच्छा से इष्ट भी विधि के निषेध से प्रतिषेध के समान बना हुआ' इस न्याय से। अतिशयोक्ति—'कुण्डिका समुद्र है'; 'विन्ध्य ने बढ़ कर सूर्य के मार्ग को छेक लिया'। इस प्रकार दूसरा।

इत्यादि को काव्य नहीं कहते। अलङ्कारता में मर्मभूत गुणीभूतव्यङ्ग्यता ही यहाँ लक्षित होकर उन्हें सुष्ठु प्रकार से लक्षित करती है। जिस (गुणीभूतव्यङ्ग्यता से) सुपूर्ण करके लक्षित अर्थात् संगृहीत होते हैं, अन्यथा अवश्य अव्याप्ति हो जाती। उसे

ध्वन्यालोकः

एवैते सुलक्षिता भवन्ति। एकैकस्य स्वरूपविशेषकथनेन तु सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपादपाठेनेव शब्दा न शक्यन्ते तत्त्वतो निर्ज्ञातुम्, आनन्त्यात्। अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः। गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च प्रकारान्तरेणापि व्यङ्ग्यार्थानुगमलक्षणेन

स्वरूपविशेष कहने से तो प्रत्येक पद के पाठ से शब्दों की भांति अनन्त होने के कारण तत्त्वतः ज्ञान नहीं किया जा सकता। क्योंकि वाग्विकल्प अनन्त है और अलङ्कार उनके प्रकार ही है।—गुणीभूतव्यङ्ग्य का विषय व्यङ्ग्य अर्थ के अनुगम से प्रकारान्तर

लोचनम्

भवन्ति, अन्यथा त्ववश्यमव्याप्तिर्भवेत्। तदाह—*एकैकस्येति*। न चातिशयोक्तिवक्रोक्त्युपमादीनां सामान्यरूपत्वं चारुताहीनानामुपपद्यते, चारुता चैतदायत्तेत्येतदेव गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं सामान्यलक्षणम्। व्यङ्ग्यस्य च चारुत्वं रसाभिव्यक्तियोग्यतात्मकम्, रसस्य स्वात्मनैव विश्रान्तिधाम्न आनन्दात्मकत्वमिति नानवस्था काचिदिति तात्पर्यम्। *अनन्ता हीति*। प्रथमोद्द्योत एव व्याख्यातमेतत् 'वाग्विकल्पानामानन्त्यात्' इत्यत्रान्तरे।

ननु सर्वेष्वलङ्कारेषु नालङ्कारान्तरं व्यङ्ग्यं चकास्ति; तत्कथं गुणीभूतव्यङ्ग्येन लक्षितेन सर्वेषां संग्रहः। मैवम्; वस्तुमात्रं वा रसो वा व्यङ्ग्यं सद्गुणीभूतं भविष्यति तदेवाह—*गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य चेति*। *प्रकारान्तरेण* वस्तु रसात्मनोपलक्षितस्य।

यदि वेत्थमवतरणिका—ननु गुणीभूतव्यङ्ग्येनालङ्कारा यदि लक्षितास्तर्हि

कहते हैं—प्रत्येक का—। चारुताहीन अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, उपमा आदि का सामान्यरूपत्व बन सकता है, और चारुता इसके अधीन है, यही गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व सामान्य लक्षण है और व्यङ्ग्य का चारुत्व रसाभिव्यक्ति योग्यतारूप है, इस स्वस्वरूप से ही विश्रान्तिधाम है, अतएव आनन्दात्मक है, इस प्रकार कोई अनवस्था नहीं है यह तात्पर्य है। क्योंकि अनन्त—। प्रथम उद्योत में ही 'वाग्विकल्पानामानन्त्यात्' इस प्रसंग में यह व्याख्यान किया जा चुका है।

(प्रश्न) सब अलङ्कारों में अलङ्कारान्तर व्यङ्ग्य नहीं होता, तो गुणीभूतव्यङ्ग्य के लक्षित होने पर कैसे सभी का संग्रह होगा? (उत्तर) ऐसा नहीं, वस्तुमात्र अथवा रस व्यङ्ग्य होता हुआ गुणीभूत होगा, उसे ही कहते हैं—गुणीभूतव्यङ्ग्य का—। वस्तु और रसरूप प्रकारान्तर से—। उपलक्षित।

अथवा अवतरणिका इस प्रकार है—गुणीभूतव्यङ्ग्य से यदि अलङ्कार लक्षित हो गये तो लक्षण कहना चाहिए, फिर क्यों नहीं कहा, यह आशङ्का करके कहते हैं—

ध्वन्यालोकः

विषयत्वमस्त्येव । तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः । सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम् । तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिर्भावनीयम् ।

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥ ३७ ॥

से भी होता ही है । इसलिए ध्वनिनिष्यन्द रूप, महाकवियों का विषय, अतिरमणीय दूसरा भी सहृदयों को लक्षित करना चाहिए । सहृदय हृदयहारी काव्य का वह सर्वथा प्रकार नहीं ही है जिसमें प्रतीयमान अर्थ के संस्पर्श से सौभाग्य नहीं है । तो यह उत्कृष्ट काव्यरहस्य है यह विद्वानों को समझना चाहिए ।

महाकवियों को अलङ्कार युक्त भी वाणी की यह प्रतीयमानकृत छाया स्त्रियों की लज्जा की भाँति मुख्य भूषा है ।

लोचनम्

लक्षणं वक्तव्यं किमिति नोक्तमित्याशङ्क्याह—*गुणीभूतेति* । *विषयत्वमिति* लक्षणीयत्वमिति यावत् । केन लक्षणीयत्वं ध्वनिव्यतिरिक्तो यः प्रकारो व्यङ्ग्यत्वेनार्थानुगमो नाम तदेव लक्षणं तेनेत्यर्थः । व्यङ्ग्ये लक्षिते तद्गुणीभावे च निरूपिते किमन्यदस्य लक्षणं क्रियतामिति तात्पर्यम् । एवं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति निर्वाह्योपसंहरति—*तदयमित्यादिना सौभाग्यमित्यन्तेन* । यत्प्रागुक्तं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमिति तन्न प्रतारणमात्रमर्थवादरूपं मन्तव्यमिति दर्शयितुम्-*तदिदमिति* ॥ ३६ ॥

मुख्या भूषेति । अलङ्कृतिभृतामपिशब्दादलङ्कारशून्यानामपीत्यर्थः । प्रतीयमानकृता छाया शोभा सा च लज्जासदृशी गोपनासारसौन्दर्यप्राणत्वात् । अलङ्कारधारिणीनामपि नायिकानां लज्जा मुख्यं भूषणम् । प्रतीयमाना च्छाया

गुणीभूतव्यङ्ग्य का—। विषय अर्थात् लक्षणीय । अर्थात् किससे लक्षणीय होगा, व्यङ्ग्य-रूप से अर्थानुगम नाम का ध्वनिव्यतिरिक्त जो प्रकार है वही लक्षण है उससे । व्यङ्ग्य के लक्षित होने पर और उसके गुणीभाव के निरूपण किये जाने पर दूसरा लक्षण क्या किया जाय, यह तात्पर्य है । इस प्रकार 'काव्य का आत्मा ध्वनि है' यह निर्वाह करके उपसंहार करते हैं—इसलिए—। इत्यादि से लेकर सौभाग्य तक । जो पहले कहा है कि समस्त सत्कवियों के काव्य का उपनिषद्भूत है वह प्रतारणमात्र नहीं है, बल्कि अर्थवाद-रूप मानना चाहिए यह दिखाने के लिए—तो यह—॥ ३६ ॥

मुख्य भूषा—। 'अलङ्कारयुक्त भी' शब्द से 'अलङ्कारशून्य भी' यह अर्थ है । प्रतीयमानकृत छाया अर्थात् शोभा, वह लज्जा के समान है, क्योंकि गोपना के सार

ध्वन्यालोकः

अनया सुप्रसिद्धोऽप्यर्थः किमपि कामनीयकमानीयते ।

तद्यथा—

विश्रम्भोत्था मन्मथाज्ञाविधाने ये मुग्धाक्ष्याः केऽपि लीलाविशेषाः ।
अक्षुण्णास्ते चेतसा केवलेन स्थित्वैकान्ते सन्ततं भावनीयाः ॥

इससे सुप्रसिद्ध भी अर्थ कुछ कमनीय बन जाता है।

वह जैसे—

मन्मथ की आज्ञा के विधान में जो मुग्धाक्षी के विश्रम्भ से उत्पन्न कुछ अपूर्व लीला-विशेष हैं, अक्षुण्ण उन्हें एकान्त में स्थित होकर केवल (एकाग्र) चित्त से भावना के योग्य हैं।

लोचनम्

अन्तर्मदनोद्भेदजहृदयसौन्दर्यरूपा यया, लज्जा ह्यन्तरुद्भिन्नमान्मथविकार-जुगोपयिषारूपा मदनविजृम्भैव। वीतरागाणां यतीनां कौपीनापसारणेऽपि त्रपाकलङ्कादर्शनात्। तथा हि कस्यापि कवेः—'कुरङ्गीवाङ्गानि' इत्यादिश्लोकः। तथा प्रतीयमानस्य प्रियतमाभिलाषानुनाथनमानप्रभृतेः छाया कान्तिः यया। शृङ्गाररसतरङ्गिणी हि लज्जावरुद्धा निर्भरतया तांस्तान् विलासान्नेत्रगात्र-विकारपरम्परारूपान् प्रसूत इति गोपनासारसौन्दर्यलज्जाविजृम्भितमेत-दिति भावः।

विश्रम्भेति। मन्मथाचार्येण त्रिभुवनवन्द्यमानशासनेन अत एव लज्जासाध्व-सध्वंसिना दत्ता येयमलङ्घनीयाज्ञा तदनुष्ठानेऽवश्यकर्तव्ये सति साध्वसलज्जा-त्यागेन विस्रम्भसम्भोगकालोपनताः, *मुग्धाक्ष्या* इति अकृतकसम्भोगपरिभावं-

सौन्दर्य का प्राण है। अलङ्कार धारण करने वाली भी नायिकाओं की लज्जा मुख्य भूषण है। अन्तर्मदन के उद्भेद से उत्पन्न सौन्दर्यरूप छाया प्रतीयमान हो जिससे, क्योंकि लज्जा भीतर उद्भिन्न मान्मथविकार की गोपनेच्छारूप मदनजृम्भा ही है। क्योंकि वीतराग यतियों के कौपीन हटा देने पर भी त्रपा का कलङ्क नहीं दिखता। जैसा कि किसी कवि का—'कुरङ्गीवाङ्गानि०' इत्यादि श्लोक। उस प्रकार प्रतीयमान प्रियतम के अभिलाप, अनुनाथन प्रभृति की छाया अर्थात् कान्ति है जिससे। भाव यह कि शृङ्गार रस की तरङ्गिणी लज्जा से अवरुद्ध होकर नेत्र और गात्र के विकार परम्परा-रूप उन-उन विलासों को उत्पन्न करती है, इस प्रकार यह गोपनारूप द्वार वाले सौन्दर्यवाली लज्जा का विजृम्भित है।

मन्मथ की—। त्रिभुवन द्वारा वन्द्यमान शासन वाले, अतएव लज्जा और साध्वस के ध्वंस कर देने वाले मन्मथाचार्य की दी हुई जो यह अलङ्घनीय आज्ञा है उसके अनुष्ठान अर्थात् अवश्यकर्तव्य की अवस्था में साध्वस और लज्जा के त्याग से विस्रम्भ-सम्भोग के अवसर में प्राप्त, मुग्धाक्षी के—अकृत्रिम सम्भोग के परिभावन से उचित

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र केऽपीत्यनेन पदेन वाच्यमस्पष्टमभिदधता प्रतीयमानं वस्त्वक्लिष्टमनन्तमर्पयता का छाया नोपपादिता।

अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता॥ ३८॥

यहाँ वाच्य का अस्पष्ट अभिधान करते हुए 'कुछ' इस पद ने अक्लिष्ट और अनन्त प्रतीयमान को अर्पित करते हुए कौन शोभा उत्पन्न नहीं की है?

और काकु से जो यह अर्थान्तर की गति देखी जाती है वह व्यङ्ग्य के गुणीभाव होने पर इस प्रकार को आश्रयण करती है॥ ३८॥

लोचनम्

नोचितदृष्टिप्रसरपवित्रिता येऽन्ये विलासा गात्रनेत्रविकाराः, अत एवाक्षुण्णाः नवनवरूपतया प्रतिक्षणमुन्मिषन्तस्ते, केवलेनान्यत्राव्यग्रेणैकान्तावस्थानपूर्वं सर्वेन्द्रियोपसंहारेण भावयितुं शक्या अर्हा उचिताः। यतः केऽपि नान्येनोपायेन शक्यनिरूपणाः॥ ३७॥

गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणान्तरमाह—*अर्थान्तरेति*। 'कक लौल्ये' इत्यस्य धातोः काकुशब्दः। तत्र हि साकाङ्क्षनिराकाराकाङ्क्षादिक्रमेण पठ्यमानोऽसौ शब्दः प्रकृतार्थातिरिक्तमपि वाञ्छतीति लौल्यमस्याभिधीयते। यदि वा ईषदर्थे कुशब्दस्तस्य कादेशः। तेन हृदयस्थवस्तुप्रतीतेरीषद्भूमिः काकुः तया याऽर्थान्तरगतिः स काव्यविशेष इमं गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारमाश्रितः। अत्र हेतुर्व्यङ्ग्यस्य तत्र गुणीभाव एव भवति। अर्थान्तरगतिशब्देनात्र काव्यमेवो-

दृष्टिप्रसार द्वारा पवित्रित जो अन्य गात्र और नेत्र के विकाररूप विलास हैं, अतएव अक्षुण्ण अर्थात् नवनवरूप से प्रतिक्षण उन्मिषित हो रहे हैं, उन्हें केवल अर्थात् अन्यत्र व्यग्रतारहित, एकान्त में अवस्थानपूर्वक समस्त इन्द्रियों का उपसंहार करके भावना के योग्य, उचित हैं। क्योंकि 'कुछ अपूर्व' है अर्थात् अन्य उपाय से निरूपण नहीं किए जा सकते॥ ३७॥

गुणीभूतव्यङ्ग्य का अन्य उदाहरण कहते हैं—और काकु—। 'कक लौल्ये' इस धातु का 'काकु' शब्द है। वहां साकांक्ष और निराकांक्ष आदि क्रम से पढ़ा गया वह शब्द प्रकृत अर्थ से अतिरिक्त की भी इच्छा करता है यह इसका 'लौल्य' प्रकट करता है। अथवा 'ईषत्' अर्थ में 'कु' शब्द है, उसका 'का' आदेश है। इसलिए हृदयस्थ वस्तु की प्रतीति की ईषद् भूमि काकु है, उससे जो अर्थान्तर की प्रतीति है वह काव्यविशेष इस गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकार का आश्रयण करता है। यहां हेतु वहां व्यङ्ग्य का गुणीभाव ही होता है। 'अर्थान्तरगति' शब्द से यहां काव्य ही कहा गया है। यहां

ध्वन्यालोकः

या चैषा काक्वा क्वचिदर्थान्तरप्रतीतिर्दृश्यते सा व्यङ्ग्यस्यार्थस्य गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणं काव्यप्रभेदमाश्रयते। यथा—'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः'।

यथा वा—आम असइओ ओरम पइव्वए ण तुएँ मलिणिअं सीलम्।

और जो यह काकु से कहीं पर अर्थान्तर की प्रतीति देखी जाती है वह व्यङ्ग्य अर्थ के गुणीभाव होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप काव्य प्रभेद का आश्रयण करती है। जैसे—'मेरे जीते जी धृतराष्ट्र के पुत्र स्वस्थ हो जांए!'

अथवा जैसे—

हाँ, हम तो बदचलन हैं, रुक जा, री पतिबरता, तूने आबरू को मैला नहीं

लोचनम्

च्यते। न तु प्रतीतेरत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं वक्तव्यं, प्रतीतिद्वारेण वा काव्यस्य निरूपितम्।

अन्ये त्वाहुः—व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽयं प्रकारः अन्यथा तु तत्रापि ध्वनित्वमेवेति। तच्चासत्; काकुप्रयोगे सर्वत्र शब्दस्पृष्टत्वेन व्यङ्ग्यस्योन्मीलितस्यापि गुणीभावात्, काकुर्हि शब्दस्यैव कश्चिद्धर्मस्तेन स्पृष्टं 'गोप्यैवं गदितः सलेशम्' इति, 'हसन्नेत्रार्पिताकूतम्' इतिवच्छब्देनैवानुगृहीतम्। अत एव 'भम धम्मिअ' इत्यादौ काकुयोजने गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव व्यक्तोक्तत्वेन तदाभिमानाल्लोकस्य। स्वस्था इति, भवन्ति इति, मयि जीवति इति, धार्तराष्ट्रा इति च साकाङ्क्षदीप्तगद्गदतारप्रशमनोद्दीपनचित्रिता काकुरसम्भाव्योऽयमर्थोऽत्यर्थमनुचितश्चेत्यमुं व्यङ्ग्यमर्थं स्पृशन्ती तेनैवोपकृता सती क्रोधानुभावरूपतां व्यङ्ग्योपस्कृतस्य वाच्यस्यैवाधत्ते। *आमेति*।

प्रतीति का गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व नहीं कहना चाहिए, अथवा प्रतीति के द्वारा काव्य का (गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व) निरूपण किया है।

किन्तु अन्य लोग कहते हैं—'व्यङ्ग्य का गुणीभाव होने पर यह प्रकार है, अन्यथा वहां भी ध्वनित्व ही है'। वह ठीक नहीं; क्योंकि काकु के प्रयोग में सभी जगह शब्दस्पृष्ट होने के कारण उन्मीलित भी व्यङ्ग्य का गुणीभाव हो जाता है। काकु शब्द का ही कोई धर्म है, उससे स्पृष्ट 'गोप्यैवं गदितः सलेशं' और 'हसन्नेत्रार्पिताकूतं' की भांति शब्द से ही अनुगृहीत होता है। इसीलिए 'भम धम्मिअ' इत्यादि में काकु की योजना करने पर गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व ही व्यक्त होगा, तब उक्त रूप से लोग समझेंगे। 'स्वस्थ' 'हो जांए' 'मेरे जीते जी' 'धार्तराष्ट्र' इस साकांक्ष, दीप्त, गद्गद, तार, प्रशमन, और उद्दीपन से चित्रित काकु 'यह अर्थ असम्भाव्य है और अत्यन्त अनुचित है' इस व्यङ्ग्य अर्थ का स्पर्श करती हुई उसी के द्वारा उपकृत होती हुई व्यङ्ग्य से उपस्कृत

ध्वन्यालोकः

किं उण जणस्स जाअ व्व चन्दिलं तं ण कामेमो ॥

शब्दशक्तिरेव हि स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तकाकुसहाया सत्यर्थ-विशेषप्रतिपत्तिहेतुर्न काकुमात्रम्। विषयान्तरे स्वेच्छाकृतात्काकुमात्रात्तथाविधार्थप्रतिपत्त्यसम्भवात्। स चार्थः काकुविशेषसहायशब्दव्यापारोपारूढोऽप्यर्थसामर्थ्यलभ्य इति व्यङ्ग्यरूप एव। वाचकत्वानुगमेनैव

किया, और फिर हम तो (किसी) आदमी की पत्नी की तरह उस नाई को नहीं चाहतीं।

शब्द शक्ति ही अपने अभिधेय की सामर्थ्य से आक्षिप्त काकु की सहायता से अर्थ-विशेष की प्रतिपत्ति का हेतु है न कि काकुमात्र। क्योंकि विषयान्तर में स्वेच्छा से प्रयुक्त काकुमात्र से उस प्रकार के अर्थ की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं। और वह अर्थ काकुविशेष की सहायता वाले शब्द के व्यापार से उपारूढ होकर भी अर्थ की सामर्थ्य

लोचनम्

आम् असत्यः उपरम पतिव्रते न त्वया मलिनितं शीलम्।
किं पुनर्जनस्य जायेव नापितं तं न कामयामहे ॥

इति च्छाया। आम् असत्यो भवामः इत्यभ्युपगमकाकुः साकाङ्क्षोपहासा। उपरमेति निराकाङ्क्षतया सूचनगर्भा। पतिव्रते इति दीप्तस्मितयोगिनी। न त्वया मलिनितं शीलमिति सगद्गदाकाङ्क्षा। किं पुनर्जनस्य जायेव मन्मथान्धीकृता, चन्दिलं नापितमिति पामरप्रकृति न कामयामहे इति निराकाङ्क्षगद्गदोपहासगर्भा। एषा हि कयाचिन्नापितानुरक्तया कुलवध्वा दृष्टाविनयाया उपहास्यमानायाः प्रत्युपहासावेशगर्भोक्तिः काकुप्रधानैवेति। गुणीभावं दर्शयितुं शब्दस्पृष्टतां तावत्साधयति—*शब्दशक्तिरेवेत्यादिना*। नन्वेवं व्यङ्ग्यत्वं कथमित्याशङ्क्याह—*स चेति*। अधुना गुणीभावं दर्शयति—*वाचकत्वेति*।

वाच्य की ही क्रोध के अनुभावरूपता का आधान करती है। हां हम तो—। 'हां हम बदमाश औरतें हैं' अभ्युपगम काकु आकांक्षा और उपहास के सहित है। 'रुक जा' यह निराकांक्ष होने के कारण सूचनगर्भ (काकु) है। 'री पतिबरता' यह दीप्त स्मित से युक्त है, 'तूने आबरू को मैला नहीं किया' यह गद्‌गद भाव और आकांक्षा से युक्त है, 'और फिर किसी आदमी की पत्नी की तरह चन्दिल अर्थात् नाई को हम नहीं चाहतीं' यह निराकांक्ष गद्‌गदभाव एवं उपहास से युक्त है। यह किसी नाई से फंसी कुलवधू द्वारा अविनय देखकर खिल्ली उड़ाई गई किसी (नायिका) की प्रत्युपहास के आवेश से युक्त उक्ति है, काकुपूर्ण ही है। गुणीभाव को दिखाने के लिए शब्द के स्पर्श को सिद्ध कर रहे हैं—शब्दशक्ति ही इत्यादि से। तो इस प्रकार व्यङ्ग्यत्व कैसे होगा? यह आशङ्का करके कहते हैं—और वह अर्थ—। अब गुणीभाव को दिखाते

ध्वन्यालोकः

तु यदा तद्विशिष्टवाच्यप्रतीतिस्तदा गुणीभूतव्यङ्ग्यतया तथाविधार्थ-द्योतिनः काव्यस्य व्यपदेशः। व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिधायिनो हि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्।

प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना॥ ३९॥

से प्राप्त है, इसलिए व्यङ्ग्यरूप ही है। परन्तु जब उस (व्यङ्ग्य) विशिष्ट वाच्य की प्रतीति वाचकत्व के अनुगम से ही होती है तब उस प्रकार का अर्थ द्योतन करनेवाले काव्य का गुणीभूत व्यङ्ग्यरूप से व्यपदेश होता है। क्योंकि उस (व्यङ्ग्य) से विशिष्ट वाच्य का अभिधान करनेवाला गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

और जो विषय इस प्रभेद का युक्ति से प्रतीत होता है वहां सहृदयों को ध्वनि की योजना नहीं करनी चाहिए॥ ३९॥

लोचनम्

वाचकत्वेऽनुगमो गुणत्वं व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्यप्रतीत्या तत्रैव काव्यस्य प्रकाशकत्वं कल्प्यते; तेन च तथा व्यपदेश इति काकुयोजनायां सर्वत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव। अत एव 'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्' इत्यादौ विपरीतलक्षणां य आहुस्ते न सम्यक्परामममृशुः। यतोऽत्रोच्चारणकाल एव 'न कोपात्' इति दीप्ततारगद्गदसाकाङ्क्षकाकुबलान्निषेधस्य निषिध्यमानतयैव युधिष्ठिराभिमतसन्धिमार्गाक्षमारूपत्वाभिप्रायेण प्रतिपत्तिरिति मुख्यार्थबाधाद्यनुसरणविघ्नाभावात्को लक्षणाया अवकाशः। 'दर्शे यजेत' इत्यत्र तु तथाविधकाकाद्युपायान्तराभावाद्भवतु विपरीतलक्षणा इत्यलमवान्तरेण बहुना॥ ३८॥

अधुना संकीर्णं विषयं विभजते—*प्रभेदस्येति*। *युक्त्येति*। चारुत्वप्रतीति-

हैं—परन्तु जब—। वाचकत्व में अनुगम अर्थात् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव का गुणत्व है, व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्य की प्रतीति से वहीं पर काव्य का प्रकाशकत्व माना जाता है, और इसलिए उस प्रकार व्यपदेश होता है, इस प्रकार काकु की योजना में सर्वत्र गुणीभूत-व्यङ्ग्यता ही है। अतएव 'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्' इत्यादि में जिन्होंने विपरीत लक्षणा कही है, उन्होंने सम्यक् परापर्श नहीं किया है। क्योंकि यहां उच्चारण-काल में ही 'न कोपात्' इस दीप्त, तार, गद्गद और साकांक्ष काकु के बल से निषेध का निषिध्यमानरूप से ही युधिष्ठिर के अभिमत सन्धि के मार्ग के अक्षम्यत्व के प्रभिप्राय से प्रतीति हो जाती है, इस प्रकार मुख्यार्थबाध आदि के अनुसरण का विघ्न न होने के कारण लक्षणा का अवकाश कहां? परन्तु दर्शे यजेत' (दर्श अर्थात् अमावास्या में याग करे) इस स्थल में उस प्रकार के काकु आदि उपायान्तर के न होने से विपरीतलक्षणा हो सकती है। बहुत अवान्तर चर्चा व्यर्थ है॥ ३८॥

अब सङ्कीर्ण विषय का विभाग करते हैं—और जो विषय—। युक्ति से—। यहां

ध्वन्यालोकः

सङ्कीर्णो हि कश्चिद्ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च लक्ष्ये दृश्यते मार्गः। तत्र यस्य युक्तिसहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्तव्यः। न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम्। यथा—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥

यथा च—

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता।

लक्ष्य में कुछ मार्ग ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का सङ्कीर्ण देखा जाता है। वहां जिसके साथ युक्ति हो वहां उससे व्यपदेश करना चाहिए। सर्वत्र ध्वनि का पक्षपाती नहीं होना चाहिए। जैसे—

'पति के सिर की चन्द्रकला को इससे स्पर्श करना' (यह कह कर) सखी द्वारा परिहासपूर्वक चरणों को रंग कर असीसी गई उस (पार्वती) ने बिना कुछ कहे माल्य से उस (सखी) को मारा। और जैसे—

ऊँचे से फूल देते हुए प्रियतम से विपक्ष (सौत) का नाम लिए जाने पर मानिनी

लोचनम्

रेवात्र युक्तिः। *पत्युरिति*। *अनेनेति*। अलक्तकोपरक्तस्य हि चन्द्रमसः परभागलाभोऽनवरतपादपतनप्रसादनैर्विना न पत्युर्झटिति यथेष्टानुवर्तिन्या भाव्यमिति चोपदेशः। शिरोधृता या चन्द्रकला तामपि परिभवेति सपत्नीलोकापजय उक्तः।

निर्वचनमिति। अनेन लज्जावहित्थहर्षेर्ष्यासाध्वससौभाग्याभिमानप्रभृति यद्यपि ध्वन्यते, तथापि तन्निर्वचनशब्दार्थस्य कुमारीजनोचितस्याप्रतिपत्तिलक्षणस्यार्थस्योपस्कारकतां केवलमाचरति। उपस्कृतस्त्वर्थः शृङ्गाराङ्गतामेतीति।

प्रयच्छतेति। *उच्चैरिति*। उच्चैर्यानि कुसुमानि कान्तया स्वयं ग्रहीतुमश-

चारुत्वप्रतीति ही युक्ति है। पति के—। इससे—। आलते से रंगे हुए चन्द्रमा को दूसरे (चरण) के भाग (अंश) का लाभ करना अर्थात् निरन्तर पैरों पर गिर कर प्रसादन के बिना झट से पति की इच्छा के अनुकूल मत चलना, यह उपदेश है। सिर पर रखी हुई जो चन्द्रकला है उसे भी परिभूत करो, इस प्रकार सपत्नी जन का पराजय कहा है। बिना कुछ कहे—। इससे यद्यपि लज्जा, अवहित्थ, हर्ष, ईर्ष्या, साध्वस, सौभाग्याभिमान ध्वनित होते हैं तथापि वे कुमारी जन के उचित 'बिना कुछ कहे' शब्द के अर्थ अप्रतिपत्तिरूप अर्थ के उपस्कारक हो जाते हैं। और उपस्कृत अर्थ शृङ्गार का अङ्ग बन जाता है।

ऊँचे से—। अर्थात् जो फूल ऊंची डाल पर थे प्रियतमा ने स्वयं ग्रहण करने में

ध्वन्यालोकः

न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख बाष्पाकुललोचना भुवम् ॥

इत्यत्र 'निर्वचनं जघान' 'न किञ्चिदूचे' इति प्रतिषेधमुखेन व्यङ्ग्यस्यार्थस्योक्त्या किञ्चिद्विषयीकृतत्वाद् गुणीभाव एव शोभते। यदा वक्रोक्तिं विना व्यङ्ग्योऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते तदा तस्य प्राधान्यम्। यथा 'एवं वादिनि देवर्षौ' इत्यादौ। इह पुनरुक्तिर्भङ्ग्यास्तीति वाच्यस्यापि प्राधान्यम्। तस्मान्नात्रानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यपदेशो विधेयः।

ने कुछ नहीं कहा, केवल बाष्प से आकुल आँखों वाली चरण से जमीन कुरेदने लगी।

यहां 'बिना कुछ कहे मारा' 'कुछ नहीं बोली' इस प्रतिषेध के द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ का उक्ति द्वारा कुछ विषय कर दिए जाने के कारण गुणीभाव ही शोभता है। जब वक्रोक्ति के बिना व्यङ्ग्य अर्थ तात्पर्य से प्रतीत होता है तब उसका प्राधान्य है। जैसे 'एवं वादिनि देवर्षौ' इत्यादि में। यहां भङ्गी से उक्ति है इसलिए वाच्य का भी प्राधान्य है। इसलिए यहाँ अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि का व्यपदेश नहीं करना चाहिए।

लोचनम्

कयत्वाद्याचितानीत्यर्थः। अस्मदुपाध्यायास्तु हृद्यतमानि पुष्पाणि अमुके, गृहाण गृहाणेत्युच्चैस्तारस्वरेणादरातिशयार्थं प्रयच्छता। अत एव लम्भितेति। *न किंचिदिति*। एवं विधेषु शृङ्गारावसरेषु तामेवायं स्मरतीति मानप्रदर्शनमेवात्र न युक्तमिति सातिशयमन्युसंभारो व्यङ्ग्यो वचननिषेधस्यैव वाच्यस्य संस्कारः। तद्वदयति-*उक्तिर्भङ्ग्यास्तीति*। तस्येति व्यङ्ग्यस्य। इहेति पत्युरित्यादौ। *वाच्यस्यापीति*। अपिशब्दो भिन्नक्रमः। प्राधान्यमपि भवति वाच्यस्य, रसाद्यपेक्षया तु गुणंतापीत्यर्थः। अत एवोपसंहारे ध्वनिशब्दस्य विशेषणमुक्तम्॥ ३९॥

असमर्थ होकर याचना की। परन्तु हमारे उपाध्याय (कहते हैं कि) अरी अमुके! इन अच्छे फूलों को ले, ले' इस प्रकार ऊंचे तारस्वर से अतिशय आदर के लिए देते हुए। अतएव 'लम्भिता'। 'कुछ नहीं'। इस प्रकार के शृङ्गार के अवसरों में उसे ही यह स्मरण करता है, इसलिए यहां मानप्रदर्शन ही ठीक नहीं, इस व्यङ्ग्य सातिशय मन्युभार वचननिषेधरूप वाच्य का ही संस्कार (क) है। उसे कहेंगे—उक्ति भङ्गी से है—। उसका अर्थात् व्यङ्ग्य का। यहां 'पत्युः' इत्यादि में। वाच्य का भी—। 'भी' शब्द भिन्नक्रम है। अर्थात् वाच्य का प्राधान्य भी होता है, किन्तु रसादि की अपेक्षा से गुणता भी होती है। अतएव उपसंहार में ध्वनि शब्द का विशेषण (अनुरणनरूपव्यङ्ग्य) कहा है॥ ३९॥

ध्वन्यालोकः

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥ ४० ॥

गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते । यथात्रैवानन्तरोदाहृते श्लोकद्वये । यथा च—

दुराराधा राधा सुभंग यदनेनापि मृजत-

यह गुणीभूतव्यङ्ग्य भी प्रकार रसादि के तात्पर्य के पर्यालोचन से पुनः ध्वनि-रूप हो जाता है ॥ ४० ॥

गुणीभूतव्यङ्ग्य भी काव्य का प्रकार रसभावादि के तात्पर्य के पर्यालोचन करने पर पुनः ध्वनि ही बन जाता है । जैसे यहीं अभी उदाहृत दोनों श्लोकों में । और जैसे—

'हे सुभग, जो कि प्राणेश्वरी के इस जघन (सुरतकालीन) वस्त्र से भी गिरे

लोचनम्

एतदेव निर्वाहयन् काव्यात्मत्वं ध्वनेरेव परिदीपयति–*प्रकार इति* । *श्लोकद्वय इति* तुल्यच्छायं यदुदाहृतं पत्युरित्यादि तत्रेति द्वयशब्दादेवंवादिनीत्यस्यानवकाशः । *दुराराधेति* । अकारणकुपिता पादपतिते मयि न प्रसीदसि अहो दुराराधासि मा रोदीरित्युक्तिपूर्वं प्रियतमेऽश्रूणि मार्जयति इयमस्या अभ्युपगमगर्भोक्तिः । *सुभगेति* । प्रियया यः स्वसंभोगभूषणविहीनः क्षणमपि मोक्तुं न पार्यसे । *अनेनापीति* । पश्येदं प्रत्यक्षेणेत्यर्थः । तदेव च यदेवमादृतं यत् लज्जादित्यागेनाप्येवं धार्यते । *मृजत* इत्यनेन हि प्रत्युत स्रोतस्सहस्रवाही बाष्पो भवति । इयच्च त्वं हतचेतनो यन्मां विस्मृत्य तामेव कुपितां मन्यसे । अन्यथा

इसे ही निर्वाह करते हुए (कारिकाकार) ध्वनि को ही काव्य का आत्मा प्रकाशित करते हैं—यह गुणीभूत—। दोनों श्लोकों में—। समान छायावाला जो उपहृत है 'पत्युः'० इत्यादि, तहां, । 'दो' शब्द 'एवं वादिनि' इस श्लोक का अवसर नहीं ।

हे सुभग—। विना कारण के कुपित तू पैरों पर गिरने पर भी मुझ पर प्रसन्न नहीं होती, हन्त दुराराधा अर्थात् प्रसन्न होने वाली नहीं है, मत रो' यह कह कर प्रियतम जब आंसू पोछने लगे तब उसकी यह अभ्युपगमगर्भ उक्ति है । सुभग—। अपने सम्भोग के भूषणों से विहीन जो तुम प्रियतमा द्वारा क्षणभर भी छोड़े नहीं जाते । इस···से भी—। अर्थात् इसे प्रत्यक्ष देख लो । जो कि उसे जिसे आदरपूर्वक लज्जा आदि का त्याग करके भी धारण कर रहे हो । पोंछने से—। इससे बल्कि बाष्प हजारों स्रोतों में बहता है । इतना भी तुम्हें होश नहीं कि जो मुझे छोड़ कर उस

ध्वन्यालोकः

स्तवैतत्प्राणेशाजघनवसनेनाश्रु पतितम् ।
कठोरं स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैर्विरम हे
क्रियात्कल्याणं वो हरिरनुनयष्वेवमुदितः ॥

हुए आँसू को तुम्हारे पोंछने से राधा प्रसन्न होने वाली नहीं है । स्त्री का चित्त कठोर होता है, उपचार व्यर्थ हैं, बस करो' इस प्रकार अनुनय के (अवसरों में राधा द्वारा) कहे गये कृष्ण आप लोगों का कल्याण करें ।

लोचनम्

कथमेवं कुर्याः । *पतितमिति* । गत इदानीं रोदनावकाशोऽपीत्यर्थः । यदि तूच्यते इयताप्यादरेण किमिति कोपं न मुञ्चसि, तत्किं क्रियते कठोरस्वभावं स्त्रीचेतः । *स्त्रीति* हि प्रेमाद्ययोगाद्वस्तुविशेषमात्रमेतत्; तस्य चैष स्वभावः, आत्मनि चैतत्सुकुमारहृदया योषित इति न किञ्चिद्वज्रसाराधिकमासां हृदयं यदेवंविध-वृत्तान्तसाक्षात्कारेऽपि सहस्रधा न दलति । *उपचारैरिति* । दाक्षिण्यप्रयुक्तैः । *अनुनयेष्विति* बहुवचनेन वारं वारमस्य बहुवल्लभस्येयमेव स्थितिरिति सौभाग्यातिशय उक्तः । एवमेष व्यङ्ग्यार्थसारो वाच्यं भूषयति । तत्तु वाच्यं भूषितं सदीर्ष्याविप्रलम्भाङ्गत्वमेतीति । यस्तु त्रिष्वपि श्लोकेषु प्रतीयमानस्यैव रसाङ्गत्वं व्याचष्टे स्म । स देवं विक्रीय तद्यात्रोत्सवमकार्षीत् । एवं हि व्यङ्ग्य-स्य या गुणीभूतता प्रकृता सैव समूलं त्रुट्येत् । रसादिव्यतिरिक्तस्य हि व्यङ्ग्य-स्य रसाङ्गभावयोगित्वमेव प्राधान्यं नान्यत्किञ्चिदित्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन ।

कुपिता को ही मानते हो, अन्यथा ऐसा तुम क्यों करते ! गिरे हुए—। अर्थात् अब तो रोने का समय भी नहीं रहा । यदि कहते हो कि इतने आदर से भी कोप का त्याग क्यों नहीं करती तो क्या करूं स्त्री का चित्त कठोर स्वभाव का होता है । स्त्री यह प्रेम का योग न होने से वस्तुमात्र है, और उस (वस्तुमात्र) का यह स्वभाव । अपने में (यह सोचना) कुछ नहीं कि स्त्रियाँ सुकुमार हृदय की होती हैं, इनका हृदय वज्रसार से भी अधिक (कठोर) होता है क्योंकि इस प्रकार के वृत्तान्त का साक्षात्कार होने पर भी हजार टुकड़े नहीं हो जाता । उपचार दाक्षिण्यप्रयुक्त । अनुनय के अवसरों में इस बहुबचन से इस बहुवल्लभ की बार-बार की यही स्थिति है, यह अतिशय सौभाग्य कहा है । इस प्रकार यह व्यङ्ग्यार्थ का सार वाच्य को अलङ्कृत करता है । वह वाच्य भूषित होकर ईर्ष्याविप्रलम्भ का अङ्ग हो जाता है । जिसने कि 'तीनों श्लोकों में प्रतीयमान ही रस का अङ्ग है' यह व्याख्यान किया है उसने देवता को बेच कर उनकी यात्रा का उत्सव मनाया है । क्योंकि इस प्रकार (व्याख्यान करने पर) जो व्यङ्ग्य की गुणीभूतता प्रकृत है वही समूल टूट जायगी । रसादि से व्यतिरिक्त व्यंङ्ग्य का रस का अङ्गभाव प्राप्त करना ही प्राधान्य है, दूसरा कुछ नहीं । पूर्वजों के साथ विवाद व्यर्थ है ।

ध्वन्यालोकः

एवं स्थिते च 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादिश्लोकनिर्दिष्टानां पदानां व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्यप्रतिपादनेऽप्येतद्वाक्यार्थीभूतरसापेक्षया व्यञ्जकत्वमुक्तम्। न तेषां पदानामर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिभ्रमो विधातव्यः, विवक्षितवाच्यत्वात्तेषाम्। तेषु हि व्यङ्ग्यविशिष्टत्वं वाच्यस्य प्रतीयते न तु व्यङ्ग्यरूपपरिणतत्वम्। तस्माद्वाक्यं तत्र ध्वनिः, पदानि तु गुणीभूतव्यङ्ग्यानि। न च केवलं गुणीभूतव्यङ्ग्यान्येव पदान्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनेर्व्यञ्जकानि यावदर्थान्तरसंक्रमितवाच्यानि ध्वनिप्रभेदरूपाण्यपि। यथात्रैव श्लोके रावण इत्यस्य प्रभेदान्तररूपव्यञ्जकत्वम्। यत्र तु वाक्ये रसादितात्पर्यं नास्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यैः पदैरुद्भासितेऽपि तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव समुदायधर्मः।

इस प्रकार स्थित होने पर 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोकों में निर्दिष्ट पदों का व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्य के प्रतिपादन में इसके वाक्यार्थीभूत रस की अपेक्षा से व्यञ्जकत्व कहा है। उन पदों में अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यध्वनि का भ्रम नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे विवक्षितवाच्य होते हैं। उनमें वाच्य का व्यङ्ग्यविशिष्टत्व प्रतीत होता है न कि व्यङ्ग्यरूप में परिणतत्व (प्रतीत होता है)। इसलिए वाक्य वहां ध्वनिरूप है और पद गुणीभूतव्यङ्ग्य हैं। केवल गुणीभूतव्यङ्ग्य ही पद अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के व्यञ्जक नहीं होते, बल्कि ध्वनि के प्रभेदरूप अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य भी। जैसे इसी श्लोक में 'रावण' इस पद का प्रभेदान्तररूप का व्यञ्जकत्व है। परन्तु जिस वाक्य में रसादि में तात्पर्य नहीं है, गुणीभूतव्यङ्ग्य पदों से उद्भासित भी उसमें गुणीभूतव्यङ्ग्यता ही समुदाय का धर्म है।

लोचनम्

एवं स्थित इति। अनन्तरोक्तेन प्रकारेण ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोर्विभागे स्थिते सतीत्यर्थः। कारिकागतमपिशब्दं व्याख्यातुमाह—*न चेति*। एष च श्लोकः पूर्वमेव व्याख्यात इति न पुनर्लिख्यते। *यत्र त्विति*। यद्यपि चात्र विषयनिर्वेदात्मकशान्तरसप्रतीतिरस्ति, तथापि चमत्कारोऽयं वाच्यनिष्ठ एव।

इस प्रकार स्थित—। अर्थात् अनन्तरोक्त प्रकार से ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का विभाग स्थित होने पर। कारिकागत 'भी' शब्द का व्याख्यान करने के लिए कहते हैं—केवल—। यह श्लोक पहले ही व्याख्यात हो चुका है, इसलिए फिर नहीं लिखते हैं। जिस वाक्य में—। यद्यपि यहां विषय के प्रति निर्वेदरूप शान्तरस की प्रतीति होती है तथापि यह चमत्कार वाक्य में ही है। असम्भाव्यत्व, विपरीतकारित्वादि व्यङ्ग्य

ध्वन्यालोकः

यथा—

राजानमपि सेवन्ते विषमप्युपयुञ्जते।
रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः॥

इत्यादौ। वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्यविवेके परः प्रयत्नो विधातव्यः, येन ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरलङ्काराणां चासङ्कीर्णो विषयः सुज्ञातो भवति। अन्यथा तु प्रसिद्धालङ्कारविषय एव व्यामोहः प्रवर्तते। यथा—

जैसे—राजाओं की भी सेवा करते हैं, विष का भी भक्षण करते हैं और स्त्रियों के साथ भी रमण करते हैं, मानव बड़े कुशल होते हैं।

इत्यादि में। वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य के विवेक में अधिक प्रयत्न करना चाहिए, जिससे ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का तथा अलङ्कारों का असङ्कीर्ण विषय सुविदित होता है। अन्यथा अलङ्कार के प्रसिद्ध विषय में ही व्यामोह हो जाता है। जैसे—

लोचनम्

व्यङ्ग्यं त्वसम्भाव्यत्वविपरीतकारित्वादि तस्यैवानुयायि, तच्चापिशब्दाभ्यामुभयतो योजिताभ्यां चशब्देन स्थानत्रययोजितेन खलुशब्देन चोभयतो योजितेन मानवशब्देन स्पृष्टमेवेति गुणीभूतम्। विवेकदर्शना चेयं न निरुपयोगिनीति दर्शयति—*वाच्यव्यङ्ग्ययोरिति*। *अलङ्काराणां चेति*। यत्र व्यङ्ग्यं नास्त्येव तत्र तेषां शुद्धानां प्राधान्यम्। *अन्यथा त्विति*। यदि प्रयत्नवता न भूयत इत्यर्थः।

व्यङ्ग्यप्रकारस्तु यो मया पूर्वमुत्प्रेक्षितस्तस्यासंदिग्धमेव व्यामोहस्थानत्वमित्येवकाराभिप्रायः। द्रविणशब्देन सर्वस्वप्रायत्वमनेकस्वकृत्योपयोगित्वमुक्तम्।

उसी का अनुगमन करते हैं। और वह (व्यङ्ग्य) दो 'भी' श[ब्द] के दो जगहों (कर्म और क्रिया) में लगाये जाने से, 'और' शब्द के तीनों स्थानों पर लगाये जाने से, (श्लोक में) 'खलु' शब्द के दोनों जगहों ('कुशल' शब्द और 'मानव' शब्द के साथ) लगाये जाने से और 'मानव' शब्द से स्पष्ट होने ही के कारण गुणीभूत है। विवेक की यह दृष्टि निरुपयोगिनी नहीं है यह दिखाते हैं—वाच्य और व्यङ्ग्य के—। तथा अलङ्कारों का—। जहां व्यङ्ग्य नहीं ही है वहां शुद्ध (अलङ्कारों) का प्राधान्य है। अन्यथा—। अर्थात् यदि प्रयत्न नहीं करते हैं।

'ही' का अभिप्राय यह है कि जो मैंने व्यङ्ग्य के प्रकार की पहले उत्प्रेक्षा की है उसमें व्यामोह होना असन्दिग्ध ही है। (लावण्य में) 'द्रविण' शब्द से सर्वस्वप्रायत्व तथा अपने अनेक कार्यों का उपयोगी होना कहा है। परवाह—।

ध्वन्यालोकः

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥

इत्यत्र व्याजस्तुतिरलङ्कार इति व्याख्यायि केनचित्तन्न चतुरस्रम्; यतोऽस्याभिधेयस्यैतदलङ्कारस्वरूपमात्रपर्यवसायित्वे न सुश्लिष्टता। यतो न तावदयं रागिणः कस्यचिद्विकल्पः। तस्य 'एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता' इत्येवंविधोक्त्यनुपपत्तेः। नापि नीरागस्य;

विधाता ने लावण्य के धन के व्यय की परवाह न की, महान क्लेश उठाया, स्वच्छन्द भाव से सुखपूर्वक निवास करते हुए लोगों के (मन में) चिन्ता की आग लगाई, और इस बेचारी को भी समान प्रिय के न प्राप्त होने से स्वयं ही मार डाला (कुछ समझ में नहीं आता) विधाता ने उसकी शरीर-रचना करते हुए, मन में क्या लाभ सोच रखा था ?

यहां व्याजस्तुति अलङ्कार है यह किसी ने व्याख्यान किया है सो ठीक नहीं है, क्योंकि यह अभिधेय इस अलङ्कार के स्वरूप में पर्यवसित होने में सुसङ्गत नहीं है। क्योंकि यह किसी रागी पुरुष का विकल्प नहीं है, क्योंकि 'इस बेचारी को समान प्रिय न प्राप्त होने से स्वयं ही मार डाला' यह उसकी उक्ति उपपन्न नहीं होती। रागरहित

लोचनम्

गणित इति। चिरेण हि यो व्ययः सम्पद्यते न तु विद्युदिव झटिति तत्रावश्यं गणनया भवितव्यम्। अनन्तकालनिर्माणकारिणोऽपि तु विधेर्न विवेकलेशोऽप्युदभूदिति परमस्योपेक्षावत्त्वम्। अत एवाह— *क्लेशो महानिति*। *स्वच्छन्दस्येति*। विश्रृङ्खलस्येत्यर्थः। *एषापीति*। यत्स्वयं निर्मीयते तदेव च निहन्यत इति महद्वैशसमपिशब्देन एवकारेण चोक्तम्। *कोऽर्थ इति*। न स्वात्मनो न

जो व्यय देर तक होता रहता है, न कि बिजली की तरह झट से हो जाता है, उसमें परवाह अवश्य होती है। अनन्त काल से निर्माण करने वाले भी विधाता को विवेक का लेश भी न हुआ यह उसकी परम उपेक्षाकारिता है। इसीलिए कहते हैं—महान् क्लेश—। स्वच्छन्द—। अर्थात् शृङ्खलारहित है। इस बेचारी—। जिसे स्वयं बनाता है उसे ही मार डालता है यह बड़ी क्रूरता है यह 'भी' और 'ही' से कहा है। क्या लाभ सोच—। अर्थात् न अपना न संसार का, न निर्मित का

ध्वन्यालोकः

तस्यैवंविधविकल्पपरिहारैकव्यापारत्वात् । न चायं श्लोकः क्वचित्प्रबन्ध इति श्रूयते, येन तत्प्रकरणानुगतार्थतास्य परिकल्प्यते ।

पुरुष का भी (विकल्प) नहीं है, क्योंकि उसका इस प्रकार के (विकल्पों) का परिहार एकमात्र व्यापार है न कि यह श्लोक कहीं प्रबन्ध में है ऐसा सुना जाता है जिससे इसका उस प्रकरण के अनुगत अर्थ परिकल्पित होगा । इसलिए यह अप्रस्तुत-

लोचनम्

लोकस्य न निर्मितस्येत्यर्थः । *तस्येति* । रागिणो हि वराकी हतेति कृपणतालिङ्गितममङ्गलोपहतं चानुचितं वचनम् । तुल्यरमणाभावादिति स्वात्मन्यत्यन्तमनुचितम् । आत्मन्यपि तद्रूपासम्भावनायां रागितायां च पशुप्रायत्वं स्यात् ।

ननु च रागिणोऽपि कुतश्चित्कारणात्परिगृहीतकतिपयकालव्रतस्य वा रावणप्रायस्य वा सीतादिविषये दुष्यन्तप्रायस्य वाऽनिर्ज्ञातजातिविशेषे शकुन्तलादौ किमियं स्वसौभाग्याभिमानगर्भा तत्स्तुतिगर्भा चोक्तिर्न भवति । वीतरागस्य वा अनादिकालाभ्यस्तरागवासनावासिततया मध्यस्थत्वेनापि तां वस्तुतस्तथा पश्यतो नेयमुक्तिः न संभाव्या । न हि वीतरागा विपर्यस्तान् भावान् पश्यति । न ह्यस्य वीणाक्वणितं काकरटितकल्पं प्रतिभाति । तस्मात्प्रस्तुतानुसारेणोभयस्यापीयमुक्तिरुपपद्यते । अप्रस्तुतप्रशंसायामपि ह्यप्रस्तुतः सम्भवन्नेवार्थो वक्तव्यः, न हि तेजसीत्थमप्रस्तुतप्रशंसा सम्भवति—अहो धिक्ते कार्ष्ण्यमिति सा पर प्रस्तुतपरतयेति नात्रासम्भव इत्याशङ्क्याह—*न चेति* । निस्सामान्येति

उसकी—। 'बेचारी को मार डाला' यह कृपणता से आलिङ्गित और अमङ्गल से उपहत वचन रागी पुरुष के अनुचित है । अपने आप के सम्बन्ध में 'समान रमण के प्राप्त न होने से' यह वचन तो अत्यन्त अनुचित है । अपने में भी उसके समान रूप की न सम्भावना में और फिर भी रागिता में पशुप्रायता होगी ।

सीता आदि के विषय में रावणप्राय की अथवा अविदित जातिविशेष वाली शकुन्तला आदि के विषय में क्या यह किसी कारणवश कुछ काल के लिये व्रत धारण किए हुए रागी पुरुष की भी अपने सौभाग्य के अभिमान से युक्त और उसकी (नायिका की) स्तुति से युक्त उक्ति नहीं हो सकती है ? अथवा अनादिकाल से राग की वासना से वासित होने के कारण मध्यस्थ रूप से भी उस (नायिका) को देखते हुए वीतराग पुरुष की यह उक्ति नहीं सम्भावित है ? वीतराग पुरुष भावों को विपर्यस्तरूप से नहीं देखता, वीणा का क्वणित उसे काकरटित कल्प प्रतीत नहीं होता । इस लिए प्रस्तुत के अनुसार यह उक्ति दोनों की (रागी अथवा वीतराग की) उपपन्न होती है । अप्रस्तुतप्रशंसा में भी अप्रस्तुत अर्थ सम्भव होता हुआ ही कहा जाना चाहिए । (प्रस्तुत) तेज के विषय में अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं हो सकती । 'अहो तेरी कालिमा को धिक्कार है' इस प्रकार वह (अप्रस्तुतप्रशंसा) बल्कि प्रस्तुत में

ध्वन्यालोकः

तस्मादप्रस्तुतप्रशंसेयम्। यस्मादनेन वाच्येन गुणीभूतात्मना निस्सामान्यगुणावलेपाध्मातस्य निजमहिमोत्कर्षजनितसमत्सरजनज्वरस्य विशेषज्ञमात्मनो न कञ्चिदेवापरं पश्यतः परिदेवितमेतदिति प्रकाश्यते। तथा चायं धर्मकीर्तेः श्लोक इति प्रसिद्धिः। सम्भाव्यते च तस्यैव। यस्मात्—

प्रशंसा है। क्योंकि इस गुणीभूतरूप वाक्य से, (अपने) असाधारण गुण के दर्प से भरे, अपनी महिमा के उत्कर्ष से ईर्ष्यालु जनों को ज्वर उत्पन्न करनेवाले, तथा दूसरे किसी विशेषज्ञ को नहीं देखते हुए (किसी विद्वान् का) यह परिदेवित (क्रन्दन) है यह प्रकाशित किया जाता है। जैसा कि ऐसी प्रसिद्धि है कि यह धर्मकीर्ति का श्लोक है। और सम्भावित होता है उन्हींका। क्योंकि—

लोचनम्

निजमहिमेति विशेषज्ञमिति परिदेवितमित्येतैश्चतुर्भिर्वाक्यखण्डैः क्रमेण पादचतुष्टयस्य तात्पर्यं व्याख्यातम्। नन्वत्रापि किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह—*तथा चेति*। ननु किमियतेत्याशङ्क्य तदाशयेन निर्विवादतदीयश्लोकार्पितेनास्याशयं संवादयति—*सम्भाव्यत इति*। अवगाहनमध्यवसितमपि न यत्र आस्तां तस्य सम्पादनम्। परमं यदर्थतत्त्वं कौस्तुभादिभ्योऽप्युत्तमम्, अलब्धं प्रयत्नपरीक्षितमपि न प्राप्तं सदृशं यस्य तथाभूतं प्रतिग्राहमेकैको ग्राहो जलचरः प्राणी ऐरावतोच्चैःश्रवोधन्वन्तरिप्रायो यत्र तदलब्धसदृशप्रतिग्राहकम्।

एवंविध इति। परिदेवितविषय इत्यर्थः। इयति चार्थे अप्रस्तुतप्रशंसोपमालक्षणमलङ्कारद्वयम्। अनन्तरं तु स्वात्मनि विस्मयधामतयाद्भुते विश्रान्तिः।

तात्पर्य रखती है इसलिए यहां असम्भव नहीं, यह आशङ्का करके कहते हैं—नकि—। असाधारण०, अपनी महिमा०, विशेषज्ञ०, परिदेवित इन चार वाक्यखण्डों से क्रम से (श्लोक के) चारो चरणों के तात्पर्य का व्याख्यान किया। यहां भी क्या प्रमाण है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—जैसा कि—। इतने से क्या ? यह आशङ्का करके निर्विवाद उनके (धर्मकीर्ति के) श्लोक से अर्पित उनके आशय से इसके आशय का संवाद करते हैं—सम्भावित होता है—। जिसमें अवगाहन अध्यवसाय का विषय भी नहीं बना है तो उसका सम्पादन दूर रहे। परम जो अर्थतत्त्व कौस्तुभ आदि हैं उससे भी उत्तम, अलब्ध अर्थात् प्रयत्न से परीक्षा करने पर भी नहीं प्राप्त है सदृश जिसका ऐसा प्रतिग्राह अर्थात् एक-एक ग्राह जलचर प्राणी ऐरावत, उच्चैःश्रवा, धन्वन्तरि प्राय हैं जहाँ वह अलब्धसदृश प्रतिग्राहक है।

इस प्रकार का—। अर्थात् परिदेवित का विषय। इतने अर्थ में अप्रस्तुतप्रशंसा और उपमारूप से अलङ्कार हैं। अनन्त अपने आप में (धर्मकीर्ति को) विस्मय का

ध्वन्यालोकः

अनध्यवसितावगाहनमनल्पधीशक्तिना-
प्यदृष्टपरमार्थतत्त्वमधिकाभियोगैरपि ।
मतं मम जगत्यलब्धसदृशप्रतिग्राहकं
प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम् ॥

इत्यनेनापि श्लोकेनैवंविधोऽभिप्रायः प्रकाशित एव । अप्रस्तुतप्रशंसायां च यद्वाच्यं तस्य कदाचिद्विवक्षितत्वं, कदाचिदविवक्षितत्वं, कदाचिद्विवक्षिताविवक्षितत्वमिति त्रयी बन्धच्छाया । तत्र विवक्षितत्वं यथा—

जिसका अवगाहन अनल्प धीशक्तिवाले द्वारा भी अध्यवसाय का विषय नहीं हुआ है, अधिक अभियोग (प्रयत्न) करनेवालों द्वारा भी जिसका परमार्थ तत्त्व देखा नहीं गया है, संसार में अपने योग्य प्रतिग्राहक (समझवाला) जिसे प्राप्त नहीं, ऐसा मेरा मत (सिद्धान्त) समुद्र के जल की भांति अपने शरीर में ही जरा को प्राप्त होगा ।

इस श्लोक से भी इस प्रकार का अभिप्राय प्रकाशित ही है । अप्रस्तुतप्रशंसा में जो वाच्य है वह कभी विवक्षित, कभी अविवक्षित और कभी विविक्षिताविवक्षित होता है यह तीन प्रकार की बन्धच्छाया है । उनमें से विवक्षित, जैसे—

लोचनम्

परस्य च श्रोतृजनस्यात्यादरास्पदतया प्रयत्नग्राह्यतया चोत्साहजननेनैवंभूतमत्यन्तोपादेयं सत्कतिपयसमुचितजनानुग्राहकं कृतमिति स्वात्मनि कुशलकारिताप्रदर्शनया धर्मवीरस्पर्शनेन वीररसे विश्रान्तिरिति मन्तव्यम् । अन्यथा परिदेवितमात्रेण किं कृतं स्यात् । अपेक्षापूर्वकारित्वमात्मन्यावेदितं चेत्किं ततः स्वार्थपरार्थासम्भवादित्यलं बहुना ।

ननु यथास्थितस्यार्थस्यासङ्गतौ भवत्वप्रस्तुतप्रशंसा, इह तु सङ्गतिरस्त्येवेत्याशङ्क्य सङ्गतावपि भवत्येवैषेति दर्शयितुमुपक्रमते—*अप्रस्तुतेति* ।

धाम होने के कारण अद्भुत में विश्रान्ति है । और दूसरे श्रोता जन के अत्यादर का आस्पद होने से और प्रयत्नग्राह्य होने से उत्साह के जनन द्वारा एवंभूत अत्यन्त उपादेय होता हुआ, कतिपय समुचित जनों का अनुग्राहक किया है, इस प्रकार अपने में कुशलकारिता के प्रदर्शन से धर्मवीर के स्पर्श द्वारा वीररस में विश्रान्ति है यह मानना चाहिए । अन्यथा परिदेवितमात्र से क्या लाभ होता । यदि अपने में अपेक्षापूर्वकारित्व का आवेदन किया है तो उस स्वार्थ और परार्थ के असम्भव से क्या ! अलं बहुना !

जब कि यथास्थित अर्थ की सङ्गति न हो तो अप्रस्तुतप्रशंसा हो सकती है, यहां तो सङ्गति ही है, यह आशंका करके 'सङ्गति में भी यही होगी' यह दिखाने के लिए

ध्वन्यालोकः

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः ॥

यथा वा ममैव—

अमी ये दृश्यन्ते ननु सुभगरूपाः सफलता
भवत्येषां यस्य क्षणमुपगतानां विषयताम् ।
निरालोके लोके कथमिदमहो चक्षुरधुना
समं जातं सर्वैर्न सममथवान्यैरवयवैः ॥

अनयोर्हि द्वयोः श्लोकयोरिक्षुचक्षुषी विवक्षितस्वरूपे एव न च

दूसरों के लिए जो पीड़ा का अनुभव करता है, भङ्ग होने पर भी जो मधुर बना रहता है, जिसका विकार भी यहां सभी के अभिमत होता है, यदि वह इक्षु खराब क्षेत्र में गिर कर नहीं वृद्धि प्राप्त हुआ तो वह दोष क्या इक्षु का है गुणरहित मरुभूमि का नहीं ?

अथवा जैसे मेरा ही—

ये जो सुभग रूपोंवाले (शरीर के अवयव) दिखाई देते हैं इनकी जिसका क्षण भर विषय हो जाने से सफलता होती है, आश्चर्य है यह चक्षु भी अब अन्धकारमय जगत् में सभी अन्य अवयवों के समान भी नहीं रहा।

इन दोनों श्लोकों में इक्षु और चक्षु विवक्षितस्वरूप ही हैं न कि प्रस्तुत हैं।

लोचनम्

नन्विति । यैरिदं जगद्भूषितमित्यर्थः । यस्य चक्षुषो विषयतां क्षणं गतानामेषां सफलता भवति तदिदं चक्षुरिति सम्बन्धः। आलोको विवेकोऽपि। *न सममिति*। हस्तो हि परस्पर्शादानादावप्युपयोगी। *अवयवैरिति* । अतितुच्छप्रायैरित्यर्थः अप्राप्तः पर उत्कृष्टो भागोऽर्थलाभात्मकः स्वरूपप्रथनलक्षणो वा येन तस्य। कथयामीत्यादिप्रत्युक्तिः। अनेन पदेनेदमाह—अकथनीयमेतत् श्रूयमाणं हि निर्वेदाय

उपक्रम करते हैं—अप्रस्तुतप्रशंसा—। सुभग—। अर्थात् जिन्होंने इस जगत् को भूषित कर रखा है। सम्बन्ध यह कि जिस चक्षु की विषयता क्षण भर प्राप्त हुए इनकी सफलता होती है वह यह चक्षु। आलोक विवेक भी। समान भी नहीं—। हाथ दूसरे का स्पर्श ग्रहण करने आदि में भी उपयोगी है। अवयवों—। अर्थात् अतितुच्छप्राय। जिसने पर अर्थात् उत्कृष्ट अर्थलाभरूप अथवा स्वरूपख्यातिरूप भाग प्राप्त नहीं किया है उसका। 'कहता हूँ' इत्यादि प्रत्युक्ति है। इस पद से यह कहा है—यह कहने की बात नहीं,

ध्वन्यालोकः

प्रस्तुते। महागुणस्याविषयपतितत्वादप्राप्तपरभागस्य कस्यचित्स्वरूप-मुपवर्णयितुं द्वयोरपि श्लोकयोस्तात्पर्येण प्रस्तुतत्वात्। अविवक्षित-त्वं यथा—

कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि, साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरिणी मार्गस्थितस्यापि मे॥

क्योंकि महान् गुणवाला, अविषय में पड़े होने के कारण परभाग को प्राप्त न हुआ कोई (व्यक्ति) स्वरूप वर्णन करने के लिए दोनों श्लोकों में तात्पर्य के कारण प्रस्तुत है। अविवक्षित, जैसे—

'हे तुम कौन हो, कहता हूँ, 'मुझे दैव का मारा शाखोटक समझो', जैसे वैराग्य से बोल रहे हो', 'तुमने ठीक समझा', 'यह क्यों' 'यह कहता हूँ?' बाईं ओर यहां वटवृक्ष है, उसे पथिकजन सब प्रकार से सेवन करते हैं, मार्ग पर पड़े भी मेरी छाया भी परोपकार करने वाली नहीं।'

लोचनम्

भवति, तथापि तु यदि निर्बन्धस्तत्कथयामि *वैराग्यादिति*। काक्वा दैवहतकमि-त्यादिना च सूचितं ते वैराग्यमिति यावत्। *साधु विदितमित्युत्तरम्*। कस्मादिति वैराग्ये हेतुप्रश्नः। इदं कथ्यत इत्यादिसनिर्वेदस्मरणोपक्रमं कथंकथमपि निरू-पणीयतयोत्तरम्। *वामेनेति*। अनुचितेन कुलादिनोपलक्षित इत्यर्थः। वट *इति*। च्छायामात्रकरणादेव फलदानादिशून्यादुद्धुरकन्धर इत्यर्थः। *छायापीति*। शाखोटको हि स्मशानाग्निज्वालालीढलतापल्लवादिस्तरुविशेषः।

सुनने से निर्वेद होगा, तथापि यदि आग्रह है तो कहता हूँ। वैराग्य से—। काकु से और 'दैव का मारा' इत्यादि से तुम्हारा वैराग्य मालूम हो गया। 'तुमने ठीक समझा' यह उत्तर है। 'क्यों' यह वैराग्य के सम्बन्ध में हेतु प्रश्न है। 'यह कहता हूँ' इत्यादि निर्वेदसहित स्मरण का उपक्रम करते हुए किसी-किसी प्रकार, निरूपणीय होने के कारण उत्तर है। बाईं ओर—। अर्थात् अनुचित कुल आदि से उपलक्षित। वट वृक्ष—। अर्थात् फलदान आदि से रहित केवल छाया करने से ऊपर कंधा किए हुए। छाया भी—। स्मशान की आग की ज्वाला से झुलसे लता-पल्लवों आदि वाला कोई वृक्ष 'शाखोटक' है।

ध्वन्यालोकः

न हि वृक्षविशेषेण सहोक्तिप्रत्युक्ती सम्भवत इत्यविवक्षिताभिधेयेनैवानेन श्लोकेन समृद्धासत्पुरुषसमीपवर्तिनो निर्धनस्य कस्यचिन्मनस्विनः परिदेवितं तात्पर्येण वाक्यार्थीकृतमिति प्रतीयते।

विवक्षितत्वाविवक्षितत्वं यथा—

उप्पहजाआएँ असोहिणीएँ फलकुसुमपत्तरहिआए
वेरीएँ वइं देन्तो पामर हो ओहसिज्जिहसि॥

अत्र हि वाच्यार्थो नात्यन्तं सम्भवी न चासम्भवी। तस्माद्वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्ये यत्नतो निरूपणीये।

किसी वृक्ष के साथ बातचीत सम्भव नहीं, इसलिए अविवक्षित अभिधेय वाले ही इस श्लोक से समृद्ध असत्पुरुष के समीप रहनेवाले किसी निर्धन मनस्वी का निर्वेद-वचन तात्पर्य द्वारा वाक्यार्थ किया गया है, यह प्रतीत होता है। विवक्षित-अविवक्षित जैसे—

'हे पामर, कुमार्ग में पैदा हुई, अशोभन, फल और फूल और पत्रोंरहित बदरी को बोता हुआ तू उपहास का पात्र बनेगा।'

यहां वाच्य अर्थ अत्यन्त सम्भवी है और न असम्भवी है। इसलिए वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य का यत्नपूर्वक निरूपण करना चाहिए।

लोचनम्

अत्राविवक्षायां हेतुमाह—*न हीति*। समृद्धो योऽसत्पुरुषः। 'समृद्धसत्पुरुष' इति पाठे समृद्धेन ऋद्धिमात्रेण सत्पुरुषो न तु गुणादिनेति व्याख्येयम्। *नात्यन्तमिति*। वाच्यभावनियमो नास्तीति न शक्यं वक्तुं, व्यङ्ग्यस्यापि भावादिति तात्पर्यम्। तथा हि उत्पथजातायाा इति न तथाकुलोद्भूतायाः। अशोभनाया इति लावण्यरहितायाः। फलकुसुमपत्ररहिताया इत्येवम्भूतापि काचित्पुत्रिणी वा भ्रात्रादिपक्षपरिपूर्णतया सम्बन्धिवर्गपोषिता वा परिरक्ष्यते। बदर्या वृत्तिं ददत्पामर भोः, हसिष्यसे सर्वलोकैरिति भावः। एवमप्रस्तुतप्रशंसां प्रसङ्गतो

यहां अविवक्षा में हेतु कहते हैं—किसी वृक्ष—। समृद्ध जो असत्पुरुष। 'समृद्धसत्पुरुष' इस पाठ में समृद्ध से अर्थात् ऋद्धिमात्र से सत्पुरुष, न कि गुण आदि से, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए। अत्यन्त—। तात्पर्य यह कि वाच्य का सम्भव नहीं है यह नहीं कह सकते, क्योंकि व्यङ्ग्य भी सम्भव है। जैसा कि कुमार्ग में पैदा हुई अर्थात् उस प्रकार कुलीन नहीं। अशोभन अर्थात् लावण्यरहित। फल, फूल और पत्तों से रहित, इस प्रकार की भी कोई पुत्रवाली अथवा भाई आदि के भरे होने से अथवा संबन्धि-वर्ग द्वारा पोषित होकर रक्षित होती है। हे पामर, बदरी को बोता हुआ सभी लोगों द्वारा उपहास का पात्र बनेगा, यह भाव है। इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा को प्रसङ्गतः निरूपण करके

ध्वन्यालोकः

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥ ४१ ॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥ ४२ ॥

व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता । ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम् । न तन्मुख्यं काव्यम् । काव्यानुकारो ह्यसौ । तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं यथा दुष्करयमकादि ।

प्रधानाभाव और गुणभाव के द्वारा इस प्रकार व्यङ्ग्य के व्यवस्थित होने पर काव्य दो प्रकार के हैं, उनसे जो अन्य है वह 'चित्र' कहलाता है ॥ ४१ ॥

शब्द और अर्थ के भेद से चित्र दो प्रकार का होता है, उनमें कुछ शब्दचित्र होता है, उससे दूसरा वाच्यचित्र ॥ ४२ ॥

व्यङ्ग्य अर्थ के प्राधान्य में ध्वनि नाम का काव्य प्रकार होता है, गुणभाव में गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है । उनसे अन्य रस, भाव आदि के तात्पर्य से रहित और व्यङ्ग्य अर्थ की प्रकाशन की शक्ति से शून्य काव्य केवल वाच्य और वाचक के वैचित्र्य-मात्र के आश्रय से उपनिबद्ध होकर जो आलेख्य (चित्र) की भांति मालूम होता है वह 'चित्र' है । वह मुख्य काव्थ नहीं है । वह काव्य का अनुकरण है । उनमें कुछ शब्दचित्र हैं, जैसे दुष्कर यमक आदि । उस शब्दचित्र से अन्य, व्यङ्ग्य अर्थ के संस्पर्श से

लोचनम्

निरूप्य प्रकृतमेव यन्निरूपणीयं तदुपसहरति—*तस्मादिति* । अप्रस्तुतप्रशंसायामपि लावण्येत्यत्र श्लोके यस्माद्व्यामोहो लोकस्य दृष्टस्ततो हेतोरित्यर्थः ॥४०॥

एवं व्यङ्ग्यस्वरूपं निरूप्य सर्वथा यत्तच्छून्यं तत्र का वार्तेति निरूपयितुमाह—*प्रधानेत्यादिना* । कारिकाद्वयेन ।

प्रकृत ही जो निरूपणीय है उसका उपसंहार करते हैं—इस लिए—। अर्थात् अप्रस्तुत-प्रशंसा में भी 'लावण्यद्रविण०' इस श्लोक में जो लोगों का व्यामोह देखा जा चुका है उस कारण ॥ ४० ॥

इस प्रकार व्यङ्ग्य का स्वरूप-निरूपण करके जो सर्वथा उस (व्यङ्ग्य) से शून्य है उसकी बात क्या, यह निरूपण करने के लिए कहते हैं—प्रधान—। इत्यादि दो

ध्वन्यालोकः

वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद्व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादितात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि ।

अथ किमिदं चित्रं नाम ? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः । प्रतीयमानो ह्यर्थस्त्रिभेदः प्राक्प्रदर्शितः । तत्र यत्र वस्त्वलङ्कारान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः । यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव । यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन । चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः, न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद्यन्न चित्तवृत्तिविशेष-

रहित, प्राधान्य अर्थात् वाक्यार्थरूप से स्थित, एवं रस आदि के तात्पर्य से रहित उत्प्रेक्षा आदि वाच्यचित्र हैं ।

यह 'चित्र' क्या है ? जहां प्रतीयमान अर्थ का संस्पर्श न हो । प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का पहले प्रदर्शित हो चुका है । वहां जहां वस्तु अथवा अलङ्कारान्तर व्यङ्ग्य नहीं है वह चित्र का विषय समझ लीजिए । परन्तु जहां रसादि का विषयत्व नहीं वह काव्य का प्रकार हो सकता हो नहीं । क्योंकि काव्य में वस्तुसंस्पर्श का अभाव नहीं बन सकता और संसार की सभी वस्तुएँ अवश्य किसी रस का अथवा भाव की अङ्ग बन जाती है, अन्ततः विभावरूप से । रसादि चित्तवृत्ति विशेष हैं । वह कोई ऐसी वस्तु नहीं जो चित्तवृत्तिविशेष को उत्पन्न नहीं करती, यदि वह उसे

लोचनम्

शब्दचित्रमिति । यमकचक्रबन्धादिचित्रतया प्रसिद्धमेव तत्तुल्यमेवार्थचित्रं मन्तव्यमिति भावः । *आलेख्यप्रख्यमिति* । रसादिजीवरहितं मुख्यप्रतिकृतिरूपं चेत्यर्थः ।

अथ किमिदमिति । आक्षेपे वक्ष्यमाण आशयः । अत्रोत्तरम्—*यत्र नेति* । आक्षेप्ता स्वाभिप्रायं दर्शयति—*प्रतीयमान इति* । *अवस्तुसंस्पर्शितेति* । कचटतपादिवन्निरर्थकत्वं दशदाडिमादिवदसंबद्धार्थत्वं वेत्यर्थः ।

कारिकाओं से । शब्दचित्र—। भाव यह कि यमक, चित्रबन्ध आदि चित्ररूप से प्रसिद्ध ही हैं, उनके तुल्य ही अर्थचित्र को समझना चाहिए । आलेख्य की भांति—। अर्थात् रसादिरूप जीव से रहित और मुख्य अनुकरणरूप ।

यह चित्र—। आक्षेप में वक्ष्यमाण आशय है । यहां उत्तर है—जहां प्रतीयमान—। आक्षेप करनेवाला अपना अभिप्राय दिखाता है—प्रतीयमान—। वस्तु संस्पर्श का अभाव—। अर्थात् क च ट त प आदि की भांति निरर्थक होगा अथवा दशदाडिम आदि की भांति असम्बद्धार्थ होगा ।

ध्वन्यालोकः

मुपजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् कविविषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते ।

अत्रोच्यते—सत्यं न तादृक्काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः । किं तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य

उत्पन्न न करे तो वह कवि का विषय ही नहीं होगी और कुछ कवि का विषय चित्ररूप से निरूपण किया जाता है ।

यहां कहते हैं—ठीक है, वह काव्य का कोई प्रकार नहीं है जहां रसादि की प्रतीति न हो । किन्तु जब रस, भाव आदि की विवक्षा से रहित कवि शब्दालङ्कार अथवा अर्थालङ्कार का उपनिबन्धन करता है तब उसकी विवक्षा की अपेक्षा अर्थ रसादि-

लोचनम्

ननु मा भूत्कविविषय इत्याशङ्क्याह—*कविविषयश्चेति* । काव्यरूपतया यद्यपि न निर्दिष्टस्तथापि कविगोचरीकृत एवासौ वक्तव्यः अन्यस्य वासुकिवृत्तान्ततुल्यस्येहाभिधानायोगात् कवेश्चेद्गोचरो नूनममुना प्रीतिर्जनयितव्या सा चावश्यं विभावानुभावव्यभिचारिपर्यवसायिनीति भावः । *किं त्विति* ।

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथंचन ।

इत्यादिर्योऽलंकारनिवेशने समीक्षाप्रकार उक्तस्तं यदा नानुसरतीत्यर्थः । *रसादिशून्येति* । नैव तत्र रसप्रतीतिरस्ति यथा पाकानभिज्ञसूदविरचिते मांसपाकविशेषे । ननु वस्तुसौन्दर्याद्वश्यं भवति कदाचित्तथास्वादोऽकुशलकृता-

कवि का विषय मत हो (तो क्या हानि है !) यह आशंका करके कहते हैं—और कवि का विषय—। भाव यह कि काव्यरूप से यद्यपि निर्दिष्ट नहीं है तथापि उसे कवि द्वारा गोचरीकृत ही कहना चाहिए क्योंकि वासुकि के वृत्तान्त के सदृश अन्य का यहाँ अभिधान नहीं है, यदि कवि का गोचर है तो निश्चय ही इसे प्रीति उत्पन्न करनी चाहिए, और वह (प्रीति) अवश्य ही विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी में पर्यवसित होती है । किन्तु—। अर्थात् 'तत्पररूप से विवक्षा होनी चाहिए, अङ्गीरूप से नहीं होनी चाहिए' इत्यादि जो अलङ्कार के निवेशन में समीक्षा का प्रकार कहा है जब उसे अनुसरण नहीं करता है । रसादिशून्यता—।

वहाँ रस की प्रतीति नहीं ही है, जैसे पाकक्रिया को न जानने वाले रसोइया के बनाये हुए किसी मांस के पाक में । वस्तु के सौन्दर्य से भी उस प्रकार का आस्वाद कदाचित् हो सकता है जैसे अकुशल व्यक्ति द्वारा (दही आदि को मिलाकर बनाई

ध्वन्यालोकः

परिकल्प्यते । विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः । वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते । तदिदमुक्तम्—

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा ।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः ॥'

शून्यता मानी जाती है। क्योंकि काव्य में शब्दों का अर्थ (कवि की) विवक्षा के उपारूढ ही होता है। और वाच्य की सामर्थ्य के वश कवि की विवक्षा के न होने पर भी उस प्रकार के विषय में रसादि की प्रतीति होती हुई बहुत दुर्बल होती है, इस प्रकार से भी नीरसत्व को मान कर चित्र का विषय व्यवस्थित करते हैं। इसलिए यह कहा है—

'रस, भाव आदि के विषय की विवक्षा न होने पर जो अलङ्कार का निबन्ध है वह 'चित्र' का विषय माना गया है।

परन्तु जब रसादि में तात्पर्य रखनेवाली विवक्षा हो तब वह काव्य नहीं है जहाँ ध्वनि का गोचर न हो।

लोचनम्

यामपि शिखरिण्यामिवेत्याशङ्क्याह—*वाच्येत्यादि* । *अनेनापीति* । पूर्वं सर्वथा तच्छून्यत्वमुक्तमधुना तु दौर्बल्यमित्यपिशब्दस्यार्थः । अज्ञकृतायां च शिखरिण्यामहो शिखरिणीति न तज्ज्ञानाच्चमत्कारः अपि तु दधिगुडमरिचं चैतदसमञ्जसयोजितमिति वक्तारो भवन्ति । *उक्तमिति* । मयैवेत्यर्थः ।

अलङ्काराणां शब्दार्थगतानां निबन्ध इत्यर्थः । ननु 'तच्चित्रमभिधीयते'

हुई) शिखरिणी में, यह आशङ्का करके कहते हैं—वाच्य की सामर्थ्य के वश—। इस प्रकार से भी—। पहले तो उस (रसादि) का सर्वथा शून्यत्व कहा है परन्तु अब दौर्बल्य को (कहते हैं) यह 'भी' शब्द का अर्थ है। बेवकूफ द्वारा रचित शिखरिणी में 'कमाल की शिखरिणी है' यह चमत्कार उसके ज्ञान से नहीं होता बलिक 'यह दही, गुड़ और और मरिच को बेकायदे डालकर बनाया गया है' यह कहने वाले हो जाते हैं। कहा है—। अर्थात् मैंने ही।

अर्थात् शब्दगत और अर्थगत अलङ्कारों का निबन्ध। तो उस चित्र का अभिधान

ध्वन्यालोकः

एतच्च चित्रं कवीनां विश्रृङ्खलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्य-प्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। इदानीन्तनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्य-प्रकारः। यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते। रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणीभवति। अचेतना अपि हि भावा यथायथमुचित-रसविभावतया चेतनवृत्तान्तयोजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम्। तथा चेदमुच्यते—

और निरङ्कुश वाणी वाले कवियों की रसादि के तात्पर्य की अपेक्षा न करके ही प्रवृत्ति देखी जाने से हमने इस 'चित्र' की परिकल्पना की है। परन्तु न्यायानुकूल काव्यमार्ग का व्यवस्थान हो जाने पर अब के कवियों के लिए ध्वनि से व्यतिरिक्त काव्य का प्रकार नहीं ही है। क्योंकि परिपाक वाले कवियों का रसादि के तात्पर्य के अभाव में व्यापार ही नहीं शोभा देता। और रसादि के तात्पर्य में वह वस्तु नहीं ही है जो अभिमत रस का अंग होती हुई प्रगुण न हो जाती हो। अचेतन भी वे भाव यथानुकूल उचित रस के विभाव के रूप में अथवा चेतन वृत्तान्त की योजना से नहीं ही हैं जो रस का अङ्ग नहीं बन जाते हैं। जैसा कि यह कहते हैं—

लोचनम्

इति किमनेनोपदिष्टेन। अकाव्यरूपं हि तदिति कथितम्। हेयतया तदुपदिश्यत इति चेत्—घटे कृते कविर्न भवतीत्येतदपि वक्तव्यमित्याशङ्क्य कविभिः खलु तत्कृतमतो हेयतयोपदिश्यत इत्येतन्निरूपयति—*एतच्चेत्यादिना*। *परिपाकवतामिति*। शब्दार्थविषयो रसौचित्यलक्षणः परिपाको विद्यते येषाम्।

यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।

करते हैं' इस उपदेश से क्या लाभ? क्योंकि उसे अकाव्यरूप कह चुके हैं। यदि कहें कि 'हेय रूप होने से उसका उपदेश करते हैं तो 'घट निर्माण करने पर कवि नहीं होता है' यह भी कहना चाहिए, यह आशङ्का करके यह निरूपण करते हैं कि कवियों ने उसे किया है इसलिए हेयरूप से उसका निरूपण करते हैं—और निरङ्कुश—। परिपाक वाले—। शब्द और अर्थ का रसौचित्यरूप परिपाक है जिनका।

'जो कि पद परिवर्तन का सहन नहीं ही करते (उसे शब्दन्यास में निष्णात लोग शब्दपाक कहते हैं)'।

ध्वन्यालोकः

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥
भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

अपार काव्य-संसार में कवि एक प्रजापति है जिस प्रकार उसे विश्व लगता है उस प्रकार उसे बदल देता है ।

यदि कवि काव्य में शृंगारी है तो संसार रसमय हो गया और वही वीतराग है तो सभी वह नीरस हो गया ।

सुकवि स्वतन्त्ररूप से काव्य में अचेतन भी भावों को चेतन की भांति और चेतन को अचेतन की भांति यथेष्ट व्यवहार करता है ।

लोचनम्

इत्यपि रसौचित्यशरणमेव वक्तव्यमन्यथा निर्हेतुकं तत्। *अपार इति*। अनाद्यन्त इत्यर्थः। यथारुचि परिवृत्तिमाह—*शृङ्गारीति*। शृङ्गारोक्तविभावानुभावव्यभिचारिचर्वणारूपप्रतीतिमयो न तु स्त्रीव्यसनीति मन्तव्यम्। अत एव भरतमुनिः—'कवेरन्तर्गतं भावं' 'काव्यार्थान् भावयति' इत्यादिषु कविशब्दमेव मूर्धाभिषिक्ततया प्रयुङ्क्ते। निरूपितं चैतद्रसस्वरूपनिर्णयावसरे। *जगदिति*। तद्रसनिमज्जनादित्यर्थः। शृङ्गारपदं रसोपलक्षणम्। *स एवेति*। यावद्रसिको न भवति तदा परिदृश्यमानोऽप्ययं भाववर्गो यद्यपि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यमात्रं लौकिकं वितरति, तथापि कविवर्णनोपारोहं विना लोकातिक्रान्तरसास्वादभुवं नाधिशेत इत्यर्थः। चारुत्वातिशयं यन्न पुष्णाति तन्नास्त्येवेति संबन्धः।

यह रसौचित्य की शरण में ही कहना चाहिए, अन्यथा उसका कोई कारण न होगा । अपार—। अर्थात् आदि-अन्त रहित । रुचि के अनुसार परिवर्तन कहते हैं—शृङ्गारी—। शृङ्गार के उक्त विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की चर्वणारूप प्रतीति रखने वाला, न कि स्त्रीव्यसनी, ऐसा समझना चाहिए। अतएव भरत मुनि 'कवि के अन्तर्गत भाव को' 'काव्य के अर्थों का भावन करता है' इत्यादि में 'कवि' शब्द को ही मूर्धाभिषिक्त रूप से प्रयोग करते हैं। रसस्वरूप के निर्णय के अवसर में इसे निरूपण कर चुके हैं। संसार—। अर्थात् उस रस में डूब जाने से (रसमय हो गया)। 'शृङ्गार' पद रस का उपलक्षण है। वही—। अर्थात् जब तक रसिक नहीं होता तब तक परिदृश्यमान भी यह भावसमूह यद्यपि लौकिक सुख, दुःख, मोह के माध्यस्थ्य (अनुभव) मात्र का वितरण करता है तथापि कवि के वर्णन के उपारोह के बिना अलौकिक रसास्वाद की भूमि को नहीं प्राप्त करता। जो अतिशय चारुत्व की पुष्टि

ध्वन्यालोकः

तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसाङ्गतां न धत्ते। तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति। सर्वमेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते। अस्माभिरपि स्वेषु काव्यप्रबन्धेषु यथायथं दर्शितमेव। स्थिते चैवं सर्व एव काव्यप्रकारो न ध्वनिधर्मतामतिपतति रसाद्यपेक्षायां कवेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणोऽपि प्रकारस्तदङ्गतामवलम्बत इत्युक्तं प्राक्। यदा तु चाटुषु देवतास्तुतिषु वा रसादीनामङ्गतया व्यवस्थानं हृदयवतीषु च

इसलिए रस में तात्पर्य रखनेवाले कवि की कोई वह वस्तु नहीं है जो सब प्रकार से उसकी इच्छा से उसके अभिमत रस का अङ्गभाव नहीं प्राप्त करती है अथवा उस प्रकार उपनिबध्यमान होकर अतिशय चारुत्व को नहीं बढ़ाती है। और यह सब महाकवियों के काव्यों में देखा जाता है। हमने भी अपने काव्य-प्रबन्धों में यथानुसार दिखाया ही है। और इस प्रकार स्थित होने पर सभी काव्य के प्रकार ध्वनि के धर्मभाव का अतिक्रमण नहीं करते, कवि की रसादि की अपेक्षा में गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप भी प्रकार उसका अङ्गभाव बन जाता है यह पहले कह चुके हैं। जब चाटुओं में अथवा देवता की स्तुतियों में रसादि का अंगरूप से व्यवस्थान होता है और हृदय-

लोचनम्

स्वेष्विति। विषमबाणलीलादिषु। *हृदयवतीष्विति*। 'हिअअलिआ' इति प्राकृतकविगोष्ठ्यां प्रसिद्धासु। त्रिवर्गोपायोपेयकुशलासु सप्रज्ञाकाः सहृदया उच्यन्ते। तद्गाथा यथा भट्टेन्दुराजस्य—

लङ्घिअगअणा फलहीलआओ होन्तुत्ति वढ्ढअन्तीअ।
हालिअस्स आसिसं पालिवेसवतुआ विणिठ्ठविआ॥

अत्र लङ्घितगगना कर्पासलता भवन्त्विति हालिकस्याशिषं वर्धयन्त्या

नहीं करता वह नहीं ही है यह (वाक्य का) सम्बन्ध है। अपने काव्य-प्रबन्धों में—। 'विषमबाणलीला' आदि में। हृदयवती—। 'हिअअलिआ' इस प्रकार से प्राकृत कवियों की गोष्ठियों में प्रसिद्ध (गाथाओं में)। धर्म आदि त्रिवर्ग के उपायरूप ज्ञातव्य में कुशल (गोष्ठियों में) सप्रज्ञक लोग सहृदय कहे जाते हैं। वह गाथा जैसे भट्ट इन्दुराज की—

'कपास की लत्तरें आकाश को लांघ जांय' यह हालिक को बार-बार असीसती हुई पड़ोस में रहने वाली स्त्री बहुत आनन्दित हुई।'

यहाँ 'कपास की लत्तरें आकाश को लांघ जांय' यह हालिक को बार-बार असीसती

ध्वन्यालोकः

सप्रज्ञकगाथासु कासुचिद्व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्ये प्राधान्यं तदपि गुणीभूत-व्यङ्ग्यस्य ध्वनिनिष्पन्दभूतत्वमेवेत्युक्तं प्राक्। तदेवमिदानींतनकवि-काव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत्। तदयमत्र संग्रहः—

यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते।
संवृत्त्याभिहितौ वस्तु यत्रालङ्कार एव वा॥

वती सप्रज्ञक जनों (सहृदयों) की किन्ही गाथाओं में व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्य में प्राधान्य हो तब भी गुणीभूतव्यङ्ग्य ध्वनि का निष्पन्द रूप ही है यह पहले कह चुके हैं। तो इस प्रकार आधुनिक कवि के काव्य के मार्ग का उपदेश किए जाने पर प्राथमिक अभ्यासार्थी (कवियों) का चित्र से व्यवहार हो सकता है। परन्तु प्राप्त परिपाक वालों के लिए ध्वनि ही काव्य है यह निश्चित है। तो यह यहां सङ्ग्रह है—

जिस काव्य के मार्ग में रस अथवा भाव तात्पर्यरूप से प्रकाशित हों, जहां वस्तु

लोचनम्

प्रातिवेश्यकवधुका निर्वृतिं प्रापिता इति चौर्यसंभोगाभिलाषिणीयमित्यनेन व्यङ्ग्येन विशिष्टं वाच्यमेव सुन्दरम्।

गोलाकच्छकुडङ्गे भरेण जम्बूसु पच्चमाणासु।
हलिअबहुआ णिअंसइ जम्बूरसरत्तअं सिअअम्॥

अत्र गोदावरीकच्छलतागहने भरेण जम्बूफलेषु पच्यमानेषु। हालिकवधूः परिधत्ते जम्बूफलरसरक्तं निवसनमिति त्वरितचौर्यसंभोगसंभाव्यमानजम्बूफलरसरक्तत्वपरभागनिह्नवनं गुणीभूतव्यङ्ग्यमित्यलं बहुना।

ध्वनिरेव काव्यमिति। आत्मात्मिनोरभेद एव वस्तुतो व्युत्पत्तये तु विभागः कृत इत्यर्थः। वाग्रहणात्तदाभासादेः पूर्वोक्तस्य ग्रहणम्। *संवृत्येति*। गोप्यमान-

हुई पड़ोस में रहने वाली स्त्री बहुत आनन्दित हुई' इससे 'चौर्य सुरत की अभिलाषा रखने वाली है' इस व्यङ्ग्य से विशिष्ट वाच्य ही सुन्दर है।

'गोदावरी नदी के तीर पर जामुनों के खूब पक जाने पर हालिक की पत्नी जामुन के रस में रंगा कपड़ा धारण करती है' यहां त्वरित चौर्यसम्भोग जो सम्भाव्यमान है उसके लिए जामुन के रस की लाली से परभाग (दूसरे अंश) का गोपन गुणीभूतव्यङ्ग्य है। अलं बहुना।

ध्वनि ही काव्य है—। अर्थात् आत्मा और आत्मी (शरीर) का वस्तुतः अभेद ही है, किन्तु विभाग व्युत्पत्ति के लिए किया है। 'अथवा' ग्रहण से पूर्वोक्त 'तदाभास' आदि का ग्रहण है। गोपन के प्रकार से—। अर्थात् गोप्यमान रूप से प्राप्त सौन्दर्य

ध्वन्यालोकः

काव्याध्वनि ध्वनिर्व्यङ्ग्यप्राधान्यैकनिबन्धनः ।
सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहृदयैर्जनैः ॥
सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते बहुधा ॥ ४३ ॥

तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येन वाच्यालङ्कारैश्च सङ्कर-संसृष्टिव्यवस्थायां क्रियमाणायां बहुप्रभेदता लक्ष्ये दृश्यते । तथाहि स्वप्रभेदसङ्कीर्णः, स्वप्रभेदसंसृष्टो गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णो गुणीभूतव्य-

अथवा अलंकार ही गोपन के प्रकार से अभिहित हों, वहाँ सर्वत्र व्यङ्ग्य के प्राधान्य में एकमात्र होनेवाले ध्वनि को सहृदयजन विषयी (विषय वाला) समझें ।

(वह ध्वनि) गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ, अलंकारों के साथ और अपने प्रभेदों के साथ सङ्कर और संसृष्टि द्वारा फिर और भी बहुत प्रकार से प्रकाशित होता है ॥४३॥

वह ध्वनि अपने प्रभेदों से, गुणीभूतव्यङ्ग से और वाच्य अलङ्कारों से संकर और संसृष्टि की व्यवस्था की जाने पर लक्ष्य में बहुत प्रभेदों वाला देखा जाता है । जैसा कि अपने प्रभेद से संकीर्ण, अपने प्रभेद से संसृष्ट, गुणीभूतव्यङ्ग्य से सङ्कीर्ण, गुणीभूत-

लोचनम्

तया लब्धसौन्दर्य इत्यर्थः । *काव्याद्ध्वनीति* । काव्यमार्गे । *विषयीति* । स त्रिवि-धस्य ध्वनेः काव्यमार्गो विषय इति यावत् ॥ ४१–४२ ॥

एवं श्लोकद्वयेन संग्रहार्थमभिधाय बहुप्रकारत्वप्रदर्शिकां पठति—*सगुणीति* । सहगुणीभूतव्यङ्ग्येन सहालंकारैर्ये वर्तन्ते स्वे ध्वनेः प्रभेदास्तैः संकीर्णतया संसृष्ट्या वानन्तप्रकारो ध्वनिरिति तात्पर्यम् । बहुप्रकारतां दर्शयति—*तथाहीति* । स्वभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येनालंकारैः प्रकाश्यत इति त्रयो भेदाः । तत्रापि प्रत्येकं संकरेण संसृष्ट्या चेति षट् । संकरस्यापि त्रयः प्रकाराः अनुग्राह्यानुग्राहकभावेन संदेहास्पदत्वेनैकपदानुप्रवेशेनेति द्वादश भेदाः । पूर्वं च ये पञ्चत्रिंशद्भेदा

वाले । काव्य के मार्ग में—। विषयी—। वह काव्यमार्ग तीन प्रकार की ध्वनियों का विषय है ॥ ४१, ४२ ॥

इस प्रकार दो श्लोकों से सङ्ग्रहार्थ का अभिधान करके (ध्वनि का) बहुप्रकारत्व प्रदर्शन करने वाली (कारिका को) पढ़ते हैं—वह ध्वनि—। गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ, अलङ्कारों के साथ जो हैं वे ध्वनि के अपने प्रभेद, उनसे संकीर्ण होने के कारण अथवा संसृष्टि के कारण ध्वनि अनन्त प्रकार की है यह तात्पर्य है । बहुप्रकारता को दर्शाते हैं—जैसा कि—। अपने प्रभेदों के साथ, गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ, अलङ्कारों के साथ प्रकाशित होता है यह तीन भेद हुए । उनमें भी प्रत्येक सङ्कर और संसृष्टि से छ हुए । संकर के भी तीन प्रकार हैं—अनुग्राह्यानुग्राहकभाव से, संदेहास्पद होने से और

ध्वन्यालोकः

ङ्ग्यसंसृष्टो वाच्यालङ्कारान्तरसङ्कीर्णो वाच्यालङ्कारान्तरसंसृष्टः संसृष्टालङ्कारसङ्कीर्णः संसृष्टालङ्कारसंसृष्टश्चेति बहुधा ध्वनिः प्रकाशते ।

तत्र स्वप्रभेदसङ्कीर्णत्वं कदाचिदनुग्राह्यानुग्राहकभावेन । यथा—'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादौ । अत्र ह्यर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रभेदेनालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिप्रभेदोऽनुगृह्यमाणः प्रतीयते । एवं कदाचित्प्रभेदद्वयसम्पातसन्देहेन । यथा—

व्यङ्ग्य से संसृष्ट, वाच्य अलङ्कारान्तर से सङ्कीर्ण, वाच्य अलङ्कारान्तर से संसृष्ट, संसृष्ट अलङ्कार से सङ्कीर्ण और संसृष्ट अलङ्कार से संसृष्ट इस प्रकार बहुत प्रकार से ध्वनि प्रकाशित होती है ।

उनमें, अपने प्रभेद से सङ्कीर्णत्व कभी अनुग्राह्यानुग्राकभाव से होता है । जैसे—'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि में। यहां अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य (नामक) ध्वनिप्रभेद द्वारा अलक्ष्यक्रमव्यंगय (नाम का) ध्वनिप्रभेद अनुगृह्यमाण प्रतीत होता है । इस प्रकार कभी दो प्रभेदों के सम्पात के संदेह से । जैसे—

लोचनम्

उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि मन्तव्याः। स्वप्रभेदास्तावन्तोऽलंकार इत्येकसप्ततिः। तत्र संकरत्रयेण संसृष्ट्या च गुणने द्वे शते चतुरशीत्यधिके। तावता पञ्चत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणने सप्तसहस्राणि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि भवन्ति। अलंकाराणामानन्त्यात्वसंख्यत्त्वम्।

तत्र व्युत्पत्तये कतिपयभेदेषूदाहरणानि दित्सुः स्वप्रभेदानां कारिकायामन्यपदार्थत्वेन प्रधानतयोक्तत्वात्तदाश्रयाण्येव चत्वार्युदाहरणान्याह—*तत्रेति*। *अनुगृह्यमाण इति*। लज्जया हि प्रतीतया। अभिलाषशृङ्गारोऽत्रानुगृह्यते व्यभिचारिभूतत्वेन। क्षण उत्सवस्तत्र निमन्त्रणेनानीता हे देवर ! एषा ते जायया

एकपदानुप्रवेश से। इस प्रकार बारह भेद हुए। और पहले जो पैंतीस भेद कहे जा चुके हैं वे गुणीभूतव्यङ्ग्य के भी माने जाने चाहिएँ। उतने (पैंतीस) अपने प्रभेद अलङ्कार में भी, इस प्रकार इकहत्तर भेद हुए। वहाँ तीन संकर और संसृष्टि से गुणन करने पर २८४ भेद हुए। उनके साथ पैंतीस मुख्य भेदों का गुणन करने पर सात हजार चार सौ बीस (?) होते हैं। अलङ्कारों के आनन्त्य से (ध्वनिभेद) असंख्य हो जाता है।

वहाँ व्युत्पत्ति के लिए कतिपय भेदों में उदाहरण देने के इच्छुक (वृत्तिकार) कारिका में 'अपने प्रभेदों' के (दो बहुव्रीहियों में) अन्यपदार्थ होने से प्रधान रूप से उक्त होने के कारण उनके आश्रित ही चार उदाहरणों को कहते हैं—उनमें—। अनुगृह्यमान—। प्रतीत हुई लज्जा से। व्यभिचारी रूप से अभिलाष शृङ्गार यहाँ अनुगृहीत होता है। क्षण अर्थात् उत्सव, उसमें निमन्त्रण से लाई गई, हे देवर, यह तेरी पत्नी से कुछ कही

ध्वन्यालोकः

खणपाहुणिआ देअर एसा जाआएँ किंपि दे भणिदा।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई॥

(क्षणप्राघुणिका देवर एषा जायया किमपि ते भणिता।
रोदिति शून्यवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी॥ इति च्छाया।)

अत्र ह्यनुनीयतामित्येतत्पदमर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन च सम्भाव्यते। न चान्यतरपक्षनिर्णये प्रमाणमस्ति। एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन तु व्यङ्ग्यत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य

हे देवर, उत्सव में पाहुन बन कर आई हुई यह तेरी पत्नी कुछ कही जाने पर रो रही है। बेचारी का सूनी अटारी में मनावन करो।

यहाँ 'मनावन करो' यह पद अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यरूप से और विवक्षितान्यपरवाच्यरूप से सम्भावित होता है। दोनों में किसी एक पक्ष के निर्णय में प्रमाण नहीं है। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का एकव्यञ्जकानुप्रवेश से व्यङ्ग्यत्व अपने अन्य

लोचनम्

किमपि भणिता रोदिति। पडोहरे शून्ये वलभीगृहे अनुनीयतां वराकी। सा तावद्देवरानुरक्ता तज्जायया विदितवृत्तान्तया किमप्युक्तेत्येषोक्तिस्तद्वृत्तान्तं दृष्टवत्या अन्यस्यास्तद्देवरचौरकामिन्याः। तत्र तव गृहिण्यायं वृत्तान्तो ज्ञात इत्युभयतः कलहायितुमिच्छन्त्येवमाह। तत्रार्थान्तरे संभोगेनैकान्तोचितेन परितोष्यतामित्येवंरूपे वाच्यस्य संक्रमणम्। यदि वा त्वं तावदेतस्यामेवानुरक्त इतीर्ष्याकोपतात्पर्यादनुनयनमन्यपरं विवक्षितम्। एषा तवेदानीमुचितमगर्हणीयं प्रेमास्पदमित्यनुनयो विवक्षितः, वयं त्विदानीं गर्हणीयाः संवृत्ता इत्येतत्परतया उभयथापि च स्वाभिप्रायप्रकाशनादेकतरनिश्चये प्रमाणाभाव इत्युक्तम्।

जाने पर रो रही है। पडोहर अर्थात् शून्य बलभी गृह (सूनी अंटारी) में मनावन करो। वह देवर में अनुराग करती है, वृत्तान्त जान कर उसकी (देवर की) पत्नी ने उसे कुछ कह दिया' यह उस वृत्तान्त को देखने वाली अन्य उस देवर की चौरकामिनी की उक्ति है। वहाँ 'तुम्हारी घर वाली ने यह वृत्तान्त जान लिया है' दोनों ओर लड़ाई लगाना चाहती हुई इस प्रकार कहती है। वहां 'एकान्त में उचित सम्भोग से उसे परितुष्ट करो' इस प्रकार के अर्थान्तर में वाच्य का सङ्क्रमण है। अथवा 'तुम तो इसी में अनुरक्त हो' इस ईर्ष्याकोप के तात्पर्य से अन्य पर (ईर्ष्या कोप व्यङ्ग्य में तात्पर्य वाला) अनुनयन विवक्षित है। 'इस समय यह तुम्हारे लिये उचित अगर्हणीय प्रेमास्पद है' इस प्रकार अनुनय विवक्षित है, 'हम तो अब गर्हणीय हो गई' इसमें तात्पर्य होने के कारण और दोनों में अपना अभिप्राय प्रकाशन करने से एकतरफे निश्चय में प्रमाण

ध्वन्यालोकः

स्वप्रभेदान्तरापेक्षया बाहुल्येन सम्भवति । यथा—'स्निग्धश्यामल' इत्यादौ । स्वप्रभेदसंसृष्टत्वं च यथा पूर्वोदाहरण एव । अत्र ह्यर्थान्तर-संक्रमितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य च संसर्गः । गुणीभूतव्यङ्ग्य-सङ्कीर्णत्वं यथा—'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादौ । यथा वा—

प्रभेदों की अपेक्षा करने से बहुत हो सकता है । जैसे—'स्निग्ध श्यामल' इत्यादि में । अपने प्रभेद से संसृष्टत्व, जैसे पहले उदाहरण में ही । यहां अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य का और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य का संसर्ग है । गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णत्व जैसे—'यक्कारो ह्ययमेव मे' इत्यादि में । अथवा जैसे—

लोचनम्

विवक्षितस्य हि स्वरूपस्थस्यैवान्यपरत्वम्, संक्रान्तिस्तु तस्यैतद्रूपतापत्तिः । यदि वा देवरानुरक्ताया एव तं देवरमन्यया सहावलोकितसंभोगवृत्तान्तं प्रतीय-मुक्तिः, देवरेत्यामन्त्रणात् । पूर्वव्याख्याने तु तदपेक्षया देवरेत्यामन्त्रणं व्याख्या-तम् । *बाहुल्येनेति* । सर्वत्र काव्ये रसादितात्पर्यं तावदस्ति तत्र रसध्वनेर्भावध्व-नेश्चैकेन व्यञ्जकेनाभिव्यञ्जनं स्निग्धश्यामलेत्यत्र विप्रलम्भशृङ्गारस्य तद्व्यभि-चारिणश्च शोकावेगात्मनश्चर्वणीयत्वात् । एवं त्रिविधं संकरं व्याख्याय संसृष्टि-मुदाहरति—*स्वप्रभेदेति* । *अत्र हीति* । लिप्तशब्दादौ तिरस्कृतो वाच्यः, रामादौ तु संक्रान्त इत्यर्थः ।

एवं स्वप्रभेदं प्रति चतुर्भेदानुदाहृत्य गुणीभूतव्यङ्ग्यं प्रत्युदाहरति—*गुणी-भूतेति* ।

नहीं है यह कहा है । विवक्षित (वाच्य) का अपने रूप में स्थित अवस्था में ही अन्यपरत्व है, किन्तु संक्रान्ति उसका अन्य रूप को प्राप्त होना है । अथवा देवर में अनुरक्त ही (नायिका) की अन्य नायिका के साथ जिसका सम्भोग वृत्तान्त देख चुकी ऐसे देवर के प्रति यह उक्ति है, क्योंकि 'देवर' यह आमन्त्रण है । किन्तु पूर्व व्याख्यान में उसकी (जो पाहुन है) अपेक्षा से 'देवर' यह आमन्त्रण व्याख्यात है । बहुत—। सभी काव्य में रसादि का तात्पर्य है, वहां रसध्वनि और भावध्वनि का एक व्यञ्जक द्वारा अभिव्यञ्जन है क्योंकि 'स्निग्धश्यामल' यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार और शोकावेग रूप व्यभिचारी चर्वणीय हैं । इस प्रकार त्रिविध शङ्कर का व्याख्यान करके संसृष्टि का उदाहरण देते हैं—अपने प्रभेद—। यहाँ—। अर्थात् 'लिप्त' आदि शब्द में वाच्य तिरस्कृत है और 'राम' आदि में संक्रान्त है ।

इस प्रकार अपने प्रभेद के प्रति चार भेदों को उदाहृत करके गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रति उदाहरण देते हैं—गुणीभूत—।

ध्वन्यालोकः

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः ।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥

अत्र ह्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वाक्यार्थीभूतस्य व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्या-

जुये के छल करनेवाला, लाह का बना घर जलाने वाला, वह अभिमानी, द्रौपदी के केश और उत्तरीय को हटाने में चतुर, पाण्डव जिसके दास हैं, दुःशासन आदि सौ भाइयों में बड़ा, अङ्गराज कर्ण का मित्र वह दुर्योधन कहां है ? बताओ, हम दोनों क्रोध से नहीं, (केवल) देखने के लिए आये हैं।

वहां वाक्यार्थीभूत अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्य का अभिधान

लोचनम्

अत्र हीत्युदाहरणद्वयेऽपि । अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्येति । रौद्रस्य व्यङ्ग्यविशिष्टे-त्यनेन गुणता व्यङ्ग्यस्योक्ता । पदैरित्युपलक्षणे तृतीया । तेन तदुपलक्षिता योऽर्थो व्यङ्ग्यगुणीभावेन वर्तते तेन संमिश्रता संकीर्णता । सा चानुग्राह्यानु-ग्राहकभावेन सन्देहयोगेनैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति यथासंभवमुदाहरणद्वये योज्या । तथा हि—मे यदरय इत्यादिभिः सर्वैरेव पदार्थैः कर्तेत्यादिभिश्च विभा-वादिरूपतया रौद्र एवानुगृह्यते ।

कर्तेत्यादौ च प्रतिपदं प्रत्यवान्तरवाक्यं प्रतिसमासं च व्यङ्ग्यमुत्प्रेक्षितुं शक्यमेवेति न लिखितम् । पाण्डवा यस्य दासा इति तदीयोक्त्यनुकारः । तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतापि योजयितुं शक्या, वाच्यस्यैव क्रोधोद्दीपकत्वात् । दासैश्च कृतकृत्यैः स्वाम्यवश्यं द्रष्टव्य इत्यर्थशक्त्यनुरणनरूपतापि । उभयथापि चारु-

यहाँ—दोनों उदाहरणों में । अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की—। 'व्यङ्ग्यविशिष्ट' इस (कथन) से व्यङ्ग्य रौद्र का गुणाभाव कहा है । 'पदों के साथ' यहाँ उपलक्षण में तृतीया । उससे उपलक्षित, अर्थात् जो अर्थ गुणीभूतव्यङ्ग्य भाव से है उससे सम्मिश्रता अर्थात् सङ्कीर्णता । और उसे (सङ्कीर्णता को) अनुग्राह्यानुग्राहकभाव से, सन्देह-योग से और एक व्यञ्जकानुप्रवेश से यथासम्भव दोनों उदाहरणों में लगा लेना चाहिए । जैसा कि 'मे यदरयः' इत्यादि सभी पदार्थों से और 'कर्त्ता' इत्यादि द्वारा विभावादि रूप से रौद्र ही अनुगृहीत होता है ।'कर्ता' इत्यादि में प्रति पद, प्रति अवान्तर वाक्य और प्रति समास व्यङ्ग्य की उत्प्रेक्षा की ही जा सकती है यह नहीं लिखा है । 'पाण्डव जिसके दास हैं' यह उस (दुर्योधन) की उक्ति का अनुकरण है । वहां गुणीभूतव्यङ्ग्यभाव को भी लगा सकते हैं, क्योंकि वाच्य ही क्रोध का उद्दीपक है । और 'कृतकृत्य दासों को चाहिए कि स्वामी को अवश्य देखें' यह अर्थशक्त्यनुरणन रूपता भी है । दोनों प्रकार से भी चारुत्व

ध्वन्यालोकः

भिधायिभिः पदैः सम्मिश्रता। अत एव च पदार्थाश्रयत्वे गुणीभूतव्यङ्गयस्य वाक्यार्थाश्रयत्वे च ध्वनेः सङ्कीर्णतायामपि न विरोधः स्वप्रभेदान्तरवत्। यथाहि ध्वनिप्रभेदान्तराणि परस्परं सङ्कीर्यन्ते पदार्थवाक्यार्थाश्रयत्वेन च न विरुद्धानि।

किं चैकव्यङ्गयाश्रयत्वे तु प्रधानगुणभावो विरुध्यते न तु व्यङ्गयभेदापेक्षया, ततोऽप्यस्य न विरोधः। अयं च सङ्करसंसृष्टिव्यवहारो

करनेवाले पदों के साथ सम्मिश्रता है। और इसीलिए गुणीभूतव्यङ्गय के पदार्थाश्रित होने में और ध्वनि के वाक्यार्थाश्रित होने में सङ्कीर्णता होने पर भी अपने अन्य प्रभेद की भांति विरोध नहीं है। जैसा कि ध्वनि के अन्य प्रभेद परस्पर सङ्कीर्ण होते हैं, और पदार्थ और वाक्यार्थ के आश्रित होने से विरुद्ध नहीं हैं।

और भी, एक व्यङ्गय में आश्रित होने से प्रधानभाव और गुणभाव विरुद्ध हो सकते हैं न कि व्यङ्गयभेद की अपेक्षा से। इस कारण भी इसका विरोध नहीं है।

लोचनम्

त्वादेकपक्षग्रहे प्रमाणाभावः। एकव्यञ्जकानुप्रवेशस्तु तैरेव पदैः गुणीभूतस्य व्यङ्गयस्य प्रधानीभूतस्य च रसस्य विभावादिद्वारतयाभिव्यञ्जनात्। *अत एव चेति*। यतोऽत्र लक्ष्ये दृश्यते तत इत्यर्थः। ननु व्यङ्गयं गुणीभूतं प्रधानं चेति विरुद्धमेव तद्दृश्यमानमप्युक्तत्वान्न श्रद्धेयमित्याशङ्कय व्यञ्जकभेदात्तावन्न विरोध इति दर्शयति—*अत एवेति*। *स्वेति*। स्वप्रभेदान्तराणि संकीर्णतया पूर्वमुदाहृतानीति तान्येव दृष्टान्तयति। तदेव व्याचष्टे—*यथाहीति*। तथात्रापीत्यध्याहारोऽत्र कर्तव्यः। 'तथा हि' इति वा पाठः।

ननु व्यञ्जकभेदात्प्रथमभेदयोः परिहारोऽस्तु एकव्यञ्जकानुप्रवेशे तु किं वक्तव्यमित्याशङ्कय पारमार्थिकं परिहारमाह—*किञ्चेति*। *ततोऽपीति*। यतोऽन्य-

के कारण एक पक्ष के ग्रहण में प्रमाण नहीं है। एक व्यञ्जकानुप्रवेश उन्हीं पदों से गुणीभूत व्यङ्गय और प्रधानीभूत रस का विभावादि के प्रकार से अभिव्यञ्जन से होता है। और इसी लिए—। अर्थात् जिस कारण इस लक्ष्य में देखा जाता है उस कारण। गुणीभूत और प्रधान व्यङ्गय दोनों देखे जाने पर भी विरुद्ध ही है, केवल कह देने से श्रद्धा के योग्य नहीं, यह आशङ्का करके 'व्यञ्जक भेद से विरोध नहीं है' यह दिखाते हैं—इसी लिए—। अपने—। अपने अन्य प्रभेद सङ्कीर्ण रूप से पहले उदाहृत हो चुके हैं उन्हें ही दृष्टान्त करते हैं। उसे ही व्याख्यान करते हैं—जैसा कि'—। 'उस प्रकार यहाँ भी' इसका अध्याहार यहाँ करना चाहिए। अथवा 'तथाहि' यह पाठ है।

व्यञ्जक के भेद से प्रथम दो भेदों में (विरोध का) परिहार हो जाय, किन्तु एक व्यंजकानुप्रवेश में क्या कहियेगा? यह आशङ्का करके पारमार्थिक परिहार कहते हैं—

ध्वन्यालोकः

बहूनामेकत्र वाच्यवाचकभाव इव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽपि निर्विरोध एव मन्तव्यः। यत्र तु पदानि कानिचिदविवक्षितवाच्यान्यनुरणनरूप-व्यङ्ग्यवाच्यानि वा तत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः संसृष्टत्वम्। यथा—'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इत्यादौ। अत्र हि 'विलाससुहृदां' 'राधारहःसाक्षिणाम्' इत्येते पदे ध्वनिप्रभेदरूपे 'ते' 'जाने' इत्येते च पदे गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपे।

और इस संसृष्टि और सङ्कर व्यवहार को एक जगह बहुतों के वाच्यवाचक भाव की भाँति व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव में भी निर्विरोध ही मानना चाहिए। परन्तु जहां कुछ पद अविवक्षितवाच्य और कुछ पद अनुरणनरूप व्यङ्ग्यपरक हों वहाँ ध्वनि गुणीभूतव्यङ्ग्य की संसृष्टि है। जैसे—'तेषां गोपवधूविलाससुहृदां' इत्यादि में। यहां 'विलाससुहृदां' 'राधारहःसाक्षिणां' ये दो पद ध्वनिप्रभेद रूप हैं और 'ते' 'जाने' ये पद गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप हैं।

लोचनम्

द्व्यङ्ग्यं गुणीभूतमन्यच्च प्रधानमिति को विरोधः। ननु वाच्यालंकारविषये श्रुतोऽयं संकरादिव्यवहारो न तु व्यङ्ग्यविषय इत्याशङ्क्याह—*अयं चेति*। *मन्तव्य इति*। मननेन प्रतीत्या तथा निश्चेयः उभयत्रापि प्रतीतेरेव शरणत्वादिति भावः। एवं गुणीभूतव्यङ्ग्यसंकरभेदांस्त्रीनुदाहृत्य संसृष्टिमुदाहरति—*यत्र तु पदानीति*। कानिचिदित्यनेन संकरावकाशं निराकरोति। सुहृच्छब्देन साक्षिशब्देन चाविवक्षितवाच्यो ध्वनिः 'ते' इतिपदेनासाधारणगुणगणोऽभिव्यक्तोऽपि गुणत्वमवलम्बते, वाच्यस्यैव स्मरणस्य प्राधान्येन चारुत्वहेतुत्वात्।

और भी—। इस कारण भी—। क्योंकि गुणीभूत व्यङ्ग्य अन्य है और प्रधान व्यङ्ग्य अन्य है, फिर विरोध कैसा? (शङ्का) वाच्य अलङ्कारों के विषय में यह सङ्कर आदि का व्यवहार सुनने में आता है न कि व्यङ्ग्य के विषय में, यह आशङ्का करके कहते हैं—और इस—। मानना चाहिए—। मनन अर्थात् प्रतीति से उस प्रकार निश्चय करना चाहिए, भाव यह कि क्योंकि दोनों स्थानों में प्रतीति ही शरण है। इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कर के तीन भेदों को उदाहृत करके संसृष्टि को उदाहृत करते हैं—परन्तु जहां कुछ पद—। 'कुछ' इस (कथन) से संकर के अवकाश का निराकरण करते हैं। 'सुहृत्' शब्द और 'साक्षी' शब्द से अविवाक्षित वाच्य ध्वनि है। 'ते' इस पद से असाधारण गुणसमूह अभिव्यक्त होकर भी (वाच्य के प्रति) गुणभाव प्राप्त कर लेता है, क्योंकि वाच्य स्मरण ही प्राधान्यतः चारुत्व का हेतु है। उत्प्रेक्ष्यमाण

ध्वन्यालोकः

वाच्यालङ्कारसङ्कीर्णत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यापेक्षया रसवति सालङ्कारे काव्ये सर्वत्र सुव्यवस्थितम्। प्रभेदान्तराणामपि कदाचित्सङ्कीर्णत्वं भवत्येव। यथा ममैव—

वाच्य अलंकारों का संकीर्णत्व अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की अपेक्षा के साथ रसयुक्त और अलंकारयुक्त सभी काव्य में सुनिश्चित है। अन्य प्रभेदों का भी कदाचित संकीर्णत्व (संकर) होता ही है। जैसे मेरा ही—

लोचनम्

'जाने' इत्यनेनोत्प्रेक्ष्यमाणानन्तधर्मव्यञ्जकेनापि वाच्यमेवोत्प्रेक्षणरूपं प्रधानीक्रियते। एवं गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपि चत्वारो भेदा उदाहृताः।

अधुनालंकारगतांस्तान्दर्शयति—*वाच्यालङ्कारेति*। व्यङ्ग्यत्वे त्वलंकाराणामुक्तभेदाष्टक एवान्तर्भाव इति वाच्यशब्दस्याशयः। *काव्य इति*। एवंविधमेव हि काव्यं भवति। *सुव्यवस्थितमिति*। 'विवक्षा तत्परत्वेन' इति द्वितीयोद्द्योतमूलोदाहरणेभ्यः संकरत्रयं संसृष्टिश्च लभ्यत एव। 'चलापाङ्गां दृष्टिम्' इत्यत्र हि रूपकव्यतिरेकस्य प्राग्व्याख्यातस्य शृङ्गारानुग्राहकत्वं स्वभावोक्तेः शृङ्गारस्य चैकानुप्रवेशः। 'उप्पह जाया' इति गाथायां पामरस्वभावोक्तिर्वा ध्वनिर्वेति प्रकरणाद्यभावे एकतरग्राहकं प्रमाणं नास्ति।

यद्यप्यलङ्कारो रसमवश्यमनुगृह्णाति, तथापि 'नातिनिर्वहणैषिता' इति यदभिप्रायेणोक्तं तत्र सङ्करासम्भवात्संसृष्टिरेवालङ्कारेण रसध्वनेः। यथा—'बाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढम्' इत्यत्र। *प्रभेदान्तराणामपीति*। रसादिध्वनिव्यति-

अनन्त धर्म के व्यंजक भी 'जाने' इस से उत्प्रेक्षण रूप वाच्य ही प्राधानीकृत होता है। इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य में भी चार भेद उदाहृत हुए।

अब अलंकारत उन्हें दिखाते हैं—वाच्य अलंकारों का—। व्यङ्ग्य होने पर अलङ्कारों का उक्त आठ भेदों में ही अन्तर्भाव है यह 'वाच्य' शब्द का आशय है। काव्य में—। इस प्रकार का ही काव्य होता है। सुनिश्चित—। 'विवक्षा तत्परत्वेन' इस द्वितीय उद्योत के मूल के उदाहरणों से तीनों संकर और संसृष्टि प्राप्त ही होते हैं। 'चलपाङ्गा दृष्टि' यहां पहले व्याख्यात रूपक और व्यतिरेक शृङ्गार के अनुग्राहक हैं, स्वभावोक्ति का और शृंगार का एकानुप्रवेश है। उप्पइ जाया' इस गाथा में पामर की स्वभावोक्ति है अथवा ध्वनि है, प्रकरण आदि के अभाव में दोनों में से एक का ग्राहक प्रमाण नहीं है।

यद्यपि अलंकार रस को अवश्य अनुगृहीत करता है तथापि जिस अभिप्राय से 'नातिनिर्वहणैषिता' (अर्थात् अलंकार को अत्यन्त निर्वाह करने की इच्छा न रखना) कहा है। कहाँ संकर के सम्भव न होने से अलंकार के साथ रसध्वनि की संसृष्टि ही होती है। जैसे 'बाहुललिकायाशेन बद्ध्वा दृढं' यहां (रूपक के साथ रस की संसृष्टि ही है)। अन्य प्रभेदों का भी—। रसादि ध्वनि से व्यतिरिक्त। व्यापारशील—। कह

ध्वन्यालोकः

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ।

हे समुद्र में शयन करनेवाले भगवान्, जो रसों के आस्वाद करने के लिए व्यापारशील कवियों की नई कोई दृष्टि है और परिनिष्ठित है अर्थ के विषय में उन्मेष

लोचनम्

रिक्तानाम् । *व्यापारवतीति* । निष्पादनप्राणो हि रस इत्युक्तम् । तत्र विभावादियोजनात्मिका वर्णना, ततः प्रभृति घटनापर्यन्ता क्रिया व्यापारः, तेन सततयुक्ता । *रसानिति* । रस्यमानतासारान् स्थायिभावान् रसयितुं रस्यमानतापत्तियोग्यान् कर्तुम् । *काचिदिति* लोकवार्तापतितबोधावस्थात्यागेनोन्मीलन्ती । अत एव ते कवयः वर्णनायोगात् तेषाम् । *नवेति* । क्षणे क्षणे नूतनैर्नूतनैर्वैचित्र्यैर्जगन्त्यासूत्रयन्ती । *दृष्टिरिति* । प्रतिभारूपा, तत्र दृष्टिश्चाक्षुषं ज्ञानं षाडवादि रसयतीति । विरोधालङ्कारोऽत एव नवा । तदनुगृहीतश्च ध्वनिः, तथाहि चाक्षुषं ज्ञानं नाविवक्षितमत्यन्तमसम्भवाभावात् । न चान्यपरम्; अपि त्वर्थान्तरे ऐन्द्रियकविज्ञानाभ्यासोल्लसिते प्रतिभानलक्षणेऽर्थे संक्रान्तम् । संक्रमणे च विरोधोऽनुग्राहक एव । तद्वक्ष्यति—'विरोधालङ्कारेण' इत्यादिना । या चैवंविधा दृष्टिः परिनिष्ठितोऽचलः अर्थविषये निश्चेतव्ये विषये उन्मेषो यस्याः । तथ परिनिष्ठिते लोकप्रसिद्धेऽर्थे न तु कविवदपूर्वस्मिन्नर्थे उन्मेषो यस्याः सा ।

चुके हैं कि रस का प्राण निष्पादन है। वहाँ विभावादि की योजना रूप वर्णना होती है, उससे लेकर घटना (तत्तत् पदों की घटना) तक क्रिया व्यापार है। उस (व्यापार) से सततयुक्त । रसों के—। रस्यमानतासार स्थायिभावों के आस्वाद कराने अर्थात् रस्यमानता की प्राप्ति के योग्य करने । कोई— । लोकवार्ता में प्राप्त बोधावस्था के त्याग से उन्मीलित रोती हुई । इसी लिए वे 'कवि' हैं क्योंकि उनमें वर्णना का योग होता है। नई— । क्षण-क्षण में नये-नये वैचित्र्यों से संसार को प्रासूत्रित (प्रकाशित) करती हुई । दृष्टि— । प्रतिभा रूप, वहाँ दृष्टि अर्थात् चाक्षुष ज्ञान, षाडव् आदि पेय द्रव्यों को आस्वाद करती है, यह विरोध अलङ्कार है, इसी लिए नई । और उससे अनुगृहीत ध्वनि है जैसा कि चाक्षुष ज्ञान अत्यन्त अविवक्षित (अर्थात् अत्यन्त तिरस्कृत) नहीं है, क्योंकि अत्यन्त असम्भव नहीं है और अन्य पर (अर्थात् विवक्षित भी) नहीं है, बल्कि ऐन्द्रियक विज्ञान के अभ्यास से उल्लसित प्रतिमान रूप अर्थ में सङ्क्रान्त है। और सङ्क्रमण में विरोध अनुग्राहक ही है। उसे कहेंगे—'विरोध अलङ्कार से' इत्यादि द्वारा । जो इस प्रकार की दृष्टि है, परिनिष्ठित अर्थात् अचल है अर्थ के विषय में अर्थात् निश्चेतव्य विषय में उन्मेष जिसका । उस प्रकार परिनिष्ठित अर्थात् लोकप्रसिद्ध अर्थ में, न कि कवि की भाँति अपूर्व अर्थ में उन्मेष है जिसका वह । विपश्चित् (विद्वान्) लोगों

ध्वन्यालोकः

ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥

जिसका ऐसी जो विद्वानों की दृष्टि है उन दोनों को अवलम्बन करके निरन्तर विश्व को निर्वर्णन करते हुए हम थक गये, तुम्हारी भक्ति के तुल्य सुख नहीं पाया।

लोचनम्

विपश्चितामियं वैपश्चिती। ते *अवलम्ब्येति*। कवीनामिति वैपश्चितीति वचनेन नाहं कविर्न पण्डित इत्यात्मनोऽनौद्धत्यं ध्वन्यते। अनात्मीयमपि दरिद्रगृह इवोपकरणतयान्यत आहृतमेतन्मया दृष्टिद्वयमित्यर्थः। ते द्वे *अपीति*। न ह्येकया दृष्ट्या सम्यङ्निर्वर्णनं निर्वहति। *विश्वमित्यशेषम्*। *अनिशमिति*। पुनः पुनरनवरतम्। निर्वर्णयन्तो वर्णनया, तथा निश्चितार्थं वर्णयन्तः इदमित्थमिति परामर्शानुमानादिना निर्भज्य निर्वर्णनं किमत्र सारं स्यादिति तिलशस्तिलशो विचयनम्। यच्च निर्वर्ण्यते तत्खलु मध्ये व्यापार्यमाणया मध्ये चार्थविशेषेषु निश्चितोन्मेषया निश्चलया दृष्ट्या सम्यङ्निर्वर्णितं भवति। *वयमिति*। मिथ्या-तत्त्वदृष्ट्याहरणव्यसनिन इत्यर्थः। *श्रान्ता इति*। न केवलं सारं न लब्धं यावत्प्रत्युत खेदः प्राप्त इति भावः। चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे। *अब्धिशयनेति*। योगनिद्रया त्वमत एव सारस्वरूपवेदी स्वरूपावस्थित इत्यर्थः। श्रान्तस्य शयनस्थितं प्रति बहुमानो भवति। *त्वद्भक्तीति*। त्वमेव परमात्मस्वरूपो विश्व-

की यह वैपश्चिती। उन्हें अवलम्बन करके—। 'कवियों की' 'विद्वानों की' इस कथन से 'मैं कवि नहीं हूँ, पण्डित नहीं हूँ' यह अपना अनौद्धत्य ध्वनित होता है। अर्थात् दरिद्र के घर में की भाँति अपनी न होने पर भी उपकरण के रूप में अन्य के यहाँ से मैंने दोनों दृष्टियाँ लाई हैं—उन दोनों को—। क्योंकि एक दृष्टि से सम्यक् निर्वर्णन नहीं पूर्ण हो सकता। विश्व अर्थात् अशेष। निरन्तर—। बार-बार अनवरत। निर्वर्णन करते हुए—। वर्णना द्वारा उस प्रकार निश्चितार्थ रूप में वर्णन करते हुए, 'यह इस प्रकार है' यह परामर्श आदि से विभाग करके निर्वर्णन अर्थात् यहाँ सार क्या होगा यह तिल-तिल विचयन करके। जो निर्वर्णित होता है वह मध्य में व्यापार्यमाण और मध्य में अर्थविशेषों में निश्चित उन्मेष वाली निश्चल दृष्टि से सम्यक् निर्वर्णित होता है। हम—। अर्थात् मिथ्यादृष्टि और तत्त्वदृष्टि के आहरण में शौक रखने वाले। थक गए—। भाव यह कि न केवल सार नहीं पाया, प्रत्युत खेद भी पाया। 'और' शब्द (श्लोक में 'च' शब्द) 'तु' शब्द के अर्थ में है। समुद्र में शयन करने वाले—। अर्थात् योगनिद्रा के द्वारा तुम इसीलिए सारस्वरूप को जानने वाले स्वरूप में अवस्थित हो। थके हुए आदमी के सोये हुए के प्रति गौरव होता है। तुम्हारी भक्ति—। तुम्हीं परमात्मस्वरूप विश्व का सार हो, उस (विश्वसार) की भक्ति अर्थात् श्रद्धादिपूर्वक

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र विरोधालङ्कारेणार्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ध्वनिप्रभेदस्य सङ्कीर्णत्वम्।

यहाँ विरोध अलङ्कार से अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य (नामक) ध्वनि के प्रभेद का सङ्कर है।

लोचनम्

सारस्तस्य भक्तिः श्रद्धादिपूर्वक उपासनाक्रमजस्तदावेशस्तेन तुल्यमपि न लब्धमास्तां तावत्तज्जातीयम्।

एवं प्रथममेव परमेश्वरभक्तिभाजः कुतूहलमात्रावलम्बितकविप्रामाणिकोभयवृत्तेः पुनरपि परमेश्वरभक्तिविश्रान्तिरेव युक्तेति मन्वानस्येयमुक्तिः। सकलप्रमाणपरिनिश्चितदृष्टादृष्टविषयविशेषजं यत्सुखं, यदपि वा लोकोत्तरं रसचर्वणात्मकं तत उभयतोऽपि परमेश्वरविश्रान्त्यानन्दः प्रकृष्यते तदानन्दविप्रुण्मात्रावभासो हि रसास्वाद इत्युक्तं प्रागस्माभिः। लौकिकं तु सुखं ततोऽपि निकृष्टप्रायं बहुतरदुःखानुषङ्गादिति तात्पर्यम्। तत्रैव दृष्टिशब्दापेक्षयैकपदानुप्रवेशः। दृष्टिमवलम्ब्य निर्वर्णनमिति विरोधालङ्कारो वाश्रीयताम्, अन्धपदन्यासेन दृष्टिशब्दोऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो वास्तु इत्येकतरनिश्चये नास्ति प्रमाणम्, प्रकारद्वयेनापि हृद्यत्वात्। न च पूर्वत्राप्येवं वाच्यम्। नवाशब्देन शब्दशक्त्यनुरणनतया विरोधस्य सर्वथावलम्बनात्।

उपासनाक्रम से उत्पन्न तद्विषयक आवेश (प्रेमातिशय), उसके तुल्य भी (सुख) नहीं पाया उसकी जाति का (तज्जातीय सुख) तो दूर रहे।

इस प्रकार परयेश्वर के प्रति भक्ति रखने वाले और यह मानने वाले कि यह उक्ति है कि कुतूहल मात्र से कवि और प्रामाणिक (विपश्चित्) दोनों के व्यवहारों को अवलम्बन करके फिर भी परमेश्वर की भक्ति में विश्रान्ति ही ठीक है। सकल प्रमाणो से परिनिश्चित् दृष्ट-अदृष्ट विषय-विशेष से उत्पन्न जो सुख है अथवा जो कि लोकोत्तर चर्वणा रूप (सुख) है उन दोनों से भी परमेश्वर में विश्रान्ति का आनन्द प्रकृष्ट है, हम पहले कह चुके हैं कि रसास्वाद उस आनन्द के बिन्दुमात्र का अवभास है। तात्पर्य यह कि बहुतर दुःखों के मिश्रण से लौकिक सुख उस (रसास्वाद) से भी निकृष्टप्राय है। वहीं 'पर'—। 'दृष्टि' शब्द की अपेक्षा से एकपदानुपवेश है। अथवा 'दृष्टि' का अवलम्बन करके 'निर्वर्णन' यह विरोध अलङ्कार आश्रयण किया जाय, अथवा 'अन्ध' पद के न्यास की भाँति 'दृष्टि' शब्द अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य हो, इनमें से एक के निश्चय में प्रमाण नहीं है, क्योंकि हृद्यता दोनों प्रकार से है। पहले में भी इस प्रकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'नई' शब्द से शब्द शक्त्यनुरणन रूप से विरोध का सर्वथा अवलम्बन है।

ध्वन्यालोकः

वाच्यालङ्कारसंसृष्टत्वं च पदापेक्षयैव। यत्र हि कानिचित्पदानि वाच्यालङ्कारभाञ्जि कानिचिच्च ध्वनिप्रभेदयुक्तानि। यथा—

दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां

और वाच्यालङ्कार की संसृष्टि पद की अपेक्षा से ही होती है। क्योंकि जहां कुछ पद वाच्यालङ्कार वाले होते हैं और कुछ ध्वनि प्रभेदयुक्त। जैसे—

जहाँ सारस पक्षियों के पटु एवं मदकल कूजित को बढ़ाता हुआ, प्रातःकालों में

लोचनम्

एवं सङ्करं त्रिविधमुदाहृत्य संसृष्टिमुदाहरति—*वाच्येति*। सकलवाक्ये हि यद्यलङ्कारोऽपि व्यङ्ग्यार्थोऽपि प्रधानं तदानुग्राह्यानुग्राहकत्वसङ्करस्तदभावे त्वसङ्गतिरित्यलङ्कारेण वा ध्वनिना वा पर्यायेण द्वाभ्यामपि वा युगपत्पदविश्रान्ताभ्यां भाव्यमिति त्रयो भेदाः। एतद्गर्भीकृत्य सावधारणमाह—*पदापेक्षयैवेति*। यत्रानुग्राह्यानुग्राहकभावं प्रत्याशङ्कापि नावतरति तं तृतीयमेव प्रकारमुदाहर्तुमुपक्रमते—*यत्र हीति*। यस्माद्यत्र कानिचिदलङ्कारभाञ्जि कानिचिद्ध्वनियुक्तानि, यथा दीर्घीकुर्वन्नित्यत्रेति। तथाविधपदापेक्षयैव वाच्यालङ्कारसंसृष्टत्वमित्यावृत्त्या पूर्वग्रन्थेन सम्बन्धः कर्तव्यः। *अत्र हीति*। अत्रत्यो हिशब्दो मैत्रीपदमित्यस्यानन्तरं योज्य इति ग्रन्थसङ्गतिः।

दीर्घीकुर्वन्निति। सिप्रावातेन हि दूरमप्यसौ शब्दो नीयते, तथा कुसुमारपवनस्पर्शजातहर्षाः चिरं कूजन्ति, तत्कूजितं च वातान्दोलितसिप्रातरङ्गजमधुरशब्दमिश्रं भवतीति दीर्घत्वम्। *पट्विति*। तथासौ सुकुमारो वायुर्येन तज्ज्ञः

इस प्रकार त्रिविध सङ्कर को उदाहृत करके संसृष्टि को उदाहृत करते हैं—वाच्य–। यदि सम्पूर्ण वाक्य में अलङ्कार भी व्यङ्ग्य अर्थ भी प्रधान हो तब अनुग्राह्यानुग्राहकरूप सङ्कर होगा, उसके अभाव में असङ्गति होगी, इस प्रकार अलङ्कार को अथवा ध्वनि को अथवा क्रम से दोनों को एक ही पद में विश्रान्त होना चाहिए, इस प्रकार तीन भेद हैं। इसे भीतर रखकर अवधारणपूर्वक कहते हैं—पद की अपेक्षा से ही—। जहाँ अनुग्राह्यानुग्राहकभाव के प्रति आशङ्का भी नहीं होती उस तृतीय प्रकार को उदाहृत करने के लिए उपक्रम करते हैं—क्योंकि जहाँ कुछ अलङ्कार वाले, कुछ ध्वनियुक्त (पद), जैसे 'जहाँ सारस पक्षियों के' यहाँ। 'उस प्रकार के पद की अपेक्षा से ही वाच्य अलङ्कार की संसृष्टि है' यह आवृत्ति द्वारा पूर्वग्रन्थ से सम्बन्ध लगा लेना चाहिए। यहाँ—। (वृत्तिग्रन्थ में) यहाँ का 'हि' शब्द 'मैत्रीपद' के बाद जोड़ना चाहिए। इस प्रकार ग्रन्थ की सङ्गति है।

जहाँ सारस—। सिप्रा का वायु उस शब्द को दूर ले जाता है, उस प्रकार सुकुमार पवन स्पर्श से प्रसन्न होकर (सारस) देर तक कूजन करते हैं, और वह कूजित वातान्दोलित सिप्रा की तरङ्गों से उत्पन्न मधुर शब्दों से मिल जाता है अतः

ध्वन्यालोकः

प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥

खिले कमलों की गन्ध की मैत्री से कषाय, अङ्गानुकूल सिप्रा का वायु प्रियतम में प्रार्थनाचाटुकार की भांति स्त्रियों का सुरत-खेद हरण करता है।

लोचनम्

शब्दः सारसकूजितमपि नाभिभवति प्रत्युत तत्सब्रह्मचारी तदेव दीपयति। न च दीपनं तदीयमनुपयोगि यतस्तन्मदेन कलं मधुरमाकर्णनीयम्। प्रत्यूषेष्विति। प्रभातस्य तथाविधसेवावसरत्वम्। बहुवचनं सदैव तत्रैषा हृद्यतेति निरूपयति। स्फुटितान्यन्तर्वर्तमानमकरन्दभरेण। तथा स्फुटितानि विकसितानि नयनहारीणि यानि कमलानि तेषां य आमोदस्तेन या मैत्री अभ्यासाङ्गावियोगपरस्परानुकूल्यलाभस्तेन कषाय उपरक्तो मकरन्देन च कषायवर्णीकृतः। स्त्रीणामिति। सर्वस्य तथाविधस्य त्रैलोक्यसारभूतस्य य एवं करोति सुरतकृतां ग्लानिं तान्तिं हरति, अथ च तद्विषयां ग्लानिं पुनः सम्भोगाभिलाषोद्दीपनेन हरति।

न च प्रसह्य प्रभूततयापि त्वङ्गानुकूलो हृद्यस्पर्शः हृदयान्तर्भूतश्च। प्रियतमे तद्विषये प्रार्थनार्थं चाटूनि कारयति। प्रियतमोऽपि तत्पवनस्पर्शप्रबुद्धसम्भो-

दीर्घ हो जाता है। पटु—। उस प्रकार वह वायु सुकुमार है जिससे कि उससे उत्पन्न शब्द सारसों के कूजित को भी अभिभूत नहीं करता प्रत्युत उसका सब्रह्मचारी होकर उसे ही बढाता है। उसका बढ़ाना अनुपयोगी नहीं है, क्योंकि वह मद से कल अर्थात मधुर आकर्णनीय है। प्रातःकालों में—। प्रभात उस प्रकार की सेवा का अवसर है। बहुवचन 'वहाँ यह हृद्यता सदैव है' यह निरूपण करता है। भीतर वर्तमान मकरन्द के भार से खिले। उस प्रकार स्फुटित अर्थात् विकसित (खिले) नयनहारी जो कमल हैं उनकी जो गन्ध उससे जो मैत्री अर्थात् अविच्छिन्न आलिङ्गन से परस्पर आनुकूल्य का लाभ उससे कषाय अर्थात् उपरक्त, और मकरन्द से कषाय वर्ण का बना दिया गया। स्त्रियों का—। सभी उस प्रकार के त्रैलोक्यसारभूत की जो (वायु) इस प्रकार सुरतकृत ग्लानि अर्थात् तान्ति (खेद) को हरण करता है, और तद्विषयक ग्लानि को बार-बार सम्भोग के अभिलाष के उद्दीपन द्वारा हरण करता है।

न कि प्रभूत होने के कारण हठात् (हरण करता है) बल्कि अङ्गानुकूल अर्थात् हृद्य स्पर्शवाला और हृदय के अन्तर्भूत है। प्रियतम में अर्थात् उसके विषय में प्रार्थना

ध्वन्यालोकः

अत्र हि मैत्रीपदमविवक्षितवाच्यो ध्वनिः। पदान्तरेष्वलंकारान्तराणि।

यहाँ 'मैत्री' पद अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। अन्य पदों में अलङ्कारान्तर हैं।

लोचनम्

गाभिलाषः। प्रार्थनार्थं चाटूनि करोतीति तेन तथा कार्यत इति परस्परानुरागप्राणशृङ्गारसर्वस्वभूतोऽसौ पवनः। युक्तं चैतत्तस्य यतः सिप्रापरिचितोऽसौ वात इति नागरिको न त्वविदग्धो ग्राम्यप्राय इत्यर्थः। प्रियतमोऽपि रतान्तेऽङ्गानुकूलः संवाहनादिना प्रार्थनार्थं चाटुकार एवमेव सुरतग्लानिं हरति। कूजितं चानङ्गीकरणवचनादि मधुरध्वनितं दीर्घीकरोति। चाटुकरणावसरे च स्फुटितं विकसितं यत्कमलकान्तिधारिवदनं तस्य यामोदमैत्री सहजसौरभपरिचयस्तेन कषाय उपरक्तो भवति। अङ्गेषु चातुष्षष्टिकप्रयोगेष्वनुकूलः एवं शब्दरूपगन्धस्पर्शा यत्र हृद्या यत्र च पवनोऽपि तथा नागरिकः स तवाऽवश्यमभिगन्तव्यो देश इति मेघदूते मेघं प्रति कामिन इयमुक्तिः। उदाहरणे लक्षणं योजयति—*मैत्रीपदमिति*। हिशब्दोऽनन्तरं पठितव्य इत्युक्तमेव। *अलङ्कारान्तराणीति*। उत्प्रेक्षास्वभावोक्तिरूपकोपमाः क्रमेणेत्यर्थः। एवमियता

के लिए चाटु करवाता है। प्रियतम भी उस पवन के स्पर्श से प्रबुद्ध सम्भोग का अभिलषावाला है। प्रार्थनार्थ चाटु करता है उसके द्वारा उस प्रकार कराया जाता है इस प्रकार परस्परानुरागप्राण शृङ्गार का सर्वस्वभूत वह पवन है। अर्थात् और उसके लिए यह ठीक है क्योंकि वह वात सिप्रा से परिचित है अतः नागरिक है, न कि अविदग्ध ग्राम्यप्राय है। प्रियतम भी रतान्त में अङ्गानुकूल होकर संवाहन आदि द्वारा प्रार्थनार्थ चाटुकार होकर इसी प्रकार सुरतग्लानि को हरण करता है। और कूजित अर्थात् अस्वीकार केवचन आदि मधुर आवाज को बढ़ा देता है। और चाटु करने के अवसर में स्फुटित अर्थात् विकसित जो कमल की कान्ति धारण करने वाला वदन उसकी जो आमोद-मैत्री अर्थात् सहज सौरभ का परिचय उससे कषाय अर्थात् उपरक्त होता है। अङ्गों में अर्थात् चातुःषष्टिक प्रयोगों में अनुकूल होता है। इस प्रकार शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्श जहाँ हृद्य हैं और जहाँ पवन भी उस प्रकार नागरिक है वह देश तुम्हारे अवश्य जाने योग्य है, 'मेघदूत' में मेघ के प्रति कामी की यह उक्ति है। उदाहरण में लक्षण को घटाते हैं—**मैत्री पद—**। ('हि' शब्द को बाद में पढ़ना चाहिए यह कह ही चुके हैं। **अलङ्कारान्तर—**। अर्थात् क्रम से उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, रूपक, उपमा। इस प्रकार इतने से—

ध्वन्यालोकः

संसृष्टालंकारान्तरसंकीर्णो ध्वनिर्यथा—

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि

प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे ।

संसृष्ट अलंकारान्तर से संकीर्ण ध्वनि, जैसे—

उत्पन्न सघन पुलक वाले आपके शरीर में रक्त के मन वाली (पक्ष में अनुरक्त

लोचनम्

सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सहप्रभेदैः स्वैः ।

सङ्करसंसृष्टिभ्याम् ।

इत्येतदन्तं व्याख्यायोदाहरणानि च निरूप्य 'पुनरपि' इति यत्कारिकाभागे पदद्वयं तस्यार्थं प्रकाशयत्युदाहरणद्वारेणैव—*संसृष्टेत्यादि* । पुनःशब्दस्यायमर्थः—न केवलं ध्वनेः स्वप्रभेदादिभिः संसृष्टिसङ्करौ विवक्षितौ यावत्तेषामन्योन्यमपि स्वप्रभेदानां स्वप्रभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येन वा सङ्कीर्णानां संसृष्टानां च ध्वनीनां सङ्कीर्णत्वं संसृष्टत्वं च दुर्लक्षमिति विस्पष्टोदाहरणं न भवतीत्यभिप्रायेणालङ्कारस्यालंकारेण संसृष्टस्य संकीर्णस्य वा ध्वनौ संकरसंसर्गौ प्रदर्शनीयौ ।

तदस्मिन् भेदचतुष्टये प्रथमं भेदमुदाहरति—*दन्तक्षतानीति* । बोधिसत्त्वस्य स्वकिशोरभक्षणप्रवृत्तां सिंहीं प्रति निजशरीरं वितीर्णवतः केनचिच्चाटुकं क्रियते।

(वह ध्वनि) गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ, अलङ्कारों के साथ और अपने प्रभेदों के साथ संकर और संसृष्टि द्वारा ।

यहाँ तक व्याख्यान करके और उदाहरणों को निरूपण करके 'फिर और भी' यह जो कारिकाभाग में दो पद हैं, उनका अर्थ उदाहरण के द्वारा ही प्रकाशित करते हैं—संसृष्ट इत्यादि । 'फिर' शब्द का यह अर्थ है—न केवल ध्वनि के अपने प्रभेद आदि के साथ संसृष्टि और सङ्कर विवक्षित हैं, बल्कि उनका परस्पर भी अपने प्रभेदों का अपने प्रभेदों से अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्य से सङ्कीर्ण और संसृष्ट ध्वनियों का सङ्कीर्णत्व और संसृष्टत्व दुर्लक्ष है इस प्रकार स्पष्ट उदाहरण नहीं होता, इस अभिप्राय से अलङ्कार का अलङ्कार से संसृष्ट के अथवा सङ्कीर्ण की ध्वनि में सङ्कर और संसर्ग दिखाने चाहिए ।

तो इन चारो भेदों में से प्रथम भेद को उदाहृत करते हैं—उत्पन्न सघन— । अपने बच्चे को खाने में प्रवृत्त सिंही अपने शरीर देनेवाले बोधिसत्त्व का किसी ने चाटु

ध्वन्यालोकः

दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥

अत्र हि समासोक्तिसंसृष्टेन विरोधालंकारेण संकीर्णस्यालक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रकाशनम्। दयावीरस्य परमार्थतो वाक्यार्थी-भूतत्वात्।

मनवाली) मृगराजवधू (सिंहनी, पक्ष में राजवधू) द्वारा दिए गए दन्तक्षतों और नखों द्वारा विदारणों को उत्पन्न स्पृहा वाले मुनियों ने भी देखा।

यहाँ समासोक्ति से संसृष्ट (जो) विरोधालङ्कार (उसके) द्वारा संकीर्ण अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का प्रकाशन है। क्योंकि परमार्थ रूप से दयावीर वाक्यार्थीभूत है।

लोचनम्

प्रोद्भूतः सान्द्रः पुलकः परार्थसम्पत्तिजेनानन्दभरेण यत्र। रक्ते रुधिरे मनोऽभिलाषो यस्याः, अनुरक्तं च मनो यस्याः। मुनयश्चोद्बोधितमदनावेशाश्चेति विरोधः। जातस्पृहैरिति च वयमपि कदाचिदेवं कारुणिकपदवीमधिरोक्ष्यामस्तदा सत्यतो मुनयो भविष्याम इति मनोराज्ययुक्तैः। समासोक्तिश्च नायिकावृत्तान्तप्रतीतेः। *दयावीरस्येति*। दयाप्रयुक्तत्वादत्र धर्मस्य धर्मवीर एव दयावीरशब्देनोक्तः। वीरश्चात्र रसः, उत्साहस्यैव स्थायित्वादिति भावः। दयावीरशब्देन वा शान्तं व्यपदिशति। सोऽत्र रसः संसृष्टालङ्कारेणानुगृह्यते। समासोक्तिमहिम्ना ह्ययमर्थः सम्पद्यते—यथा कश्चिन्मनोरथशतप्रार्थितप्रेयसीसम्भोगा-

किया है। उत्पन्न सघन पुलक परार्थ सम्पत्ति से उत्पन्न आनन्दभर से है जहाँ। रक्त अर्थात् रुधिर में मन अर्थात् अभिलाष है जिसका, अनुरक्त है मन जिसका। मुनि हैं और उद्बोधित मदन के आवेश वाले हैं यह विरोध है। उत्पन्न स्पृहा वाले कि हम भी कदाचित् इस प्रकार कारुणिक की पदवी पर पहुँच जांय तब सत्यरूप से मुनि हो जायेंगे इस प्रकार के मनोराज्य से युक्त। नायिका वृत्तान्त के प्रतीत होने से समासोक्ति है। दयावीर—। धर्म का यहाँ दयाप्रयुक्त होने के कारण धर्मवीर ही दयावीर शब्द से कहा गया है। भाव यह कि यहाँ वीररस है, क्योंकि उत्साह ही स्थायी भाव है। अथवा 'दयावीर' शब्द से 'शान्त' को व्यपदेश करते हैं। वह रस यहाँ संसृष्ट अलङ्कार द्वारा अनुगृहीत होता है। समासोक्ति की महिमा से यह अर्थ सम्पन्न होता है—जैसे कोई सैकड़ों मनोरथ से प्राप्त प्रियतमा के सम्भोग के अवसर में रोमाञ्चित हो जाता है

ध्वन्यालोकः

संसृष्टालङ्कारसंसृष्टत्वं च ध्वनेर्यथा—

अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु दिअहेसु ।
सोहइ पसारिअगिआणं णच्चिअं मोरवन्दाणम् ॥

संसृष्ट अलङ्कारों से ध्वनि का संसृष्टत्व, जैसे—

नये बादलों के गर्जन से भरे तथा पथिकों के प्रति श्यामायित दिनों में गर्दन पसारे हुए मोरों का नाच अच्छा लगता है ।

लोचनम्

वसरे जातपुलकस्तथा त्वं परार्थसम्पादनाय स्वशरीरदान इति करुणातिशयोऽनुभावसम्पदोद्दीपितः ।

द्वितीयं भेदमुदाहरति—*संसृष्टेति* । अभिनवं हृद्यं पयोदानां मेघानां रसितं येषु दिवसेषु । तथा पथिकान् प्रति श्यामायितेषु मोहजनकत्वाद्रात्रिरूपतामाचरितवत्सु । यदि वा पथिकानां श्यामायितं दुःखवशेन श्यामिका येभ्यः । शोभते प्रसारितग्रीवाणां मयूरवृन्दानां नृत्तम् । अभिनयप्रयोगरसिकेषु पथिकसामाजिकेषु सत्सु मयूरवृन्दानां प्रसारितगीतानां प्रकृष्टसारणानुसारिगीतानां तथा ग्रीवारेचकाय प्रसारितग्रीवाणां नृत्तं शोभते । पथिकान् प्रति श्यामा इवाचरन्तीति क्यच् । प्रत्ययेन लुप्तोपमा निर्दिष्टा । पथिकसामाजिकेष्विति कर्मधारयस्य स्पष्टत्वाद्रूपकम् । ताभ्यां ध्वनेः संसर्ग इति ग्रन्थकारस्याशयः । अत्रैवोदाहरणेऽन्यद् भेदद्वयमुदाहर्तुं शक्यमित्याशयेनोदाहरणान्तरं न दत्तम् ।

वैसे ही तू परार्थसम्पादन के लिए अपने शरीर के दान में, इस प्रकार अतिशय करुणा को अनुभाव और विभाव की सम्पदा से उद्दीप्त किया है ।

द्वितीय भेद को उदाहृत करते हैं—संसृष्ट— । अभिनव अर्थात् हृद्य पयोद अर्थात् मेघों का रसित है जिन दिनों में, तथा पथिकों के प्रति श्यामायित अर्थात् मोहजनक होने के कारण रात्रिरूपता को आचरण करते हुए, अथवा पथिक जनों की दुःख के कारण श्यामिका पड़ गई है जिनके कारण (ऐसे दिनों में) गर्दन पसारे हुए मोरों का नाच शोभा देता है । अभिनय के प्रयोगों में रसिक पथिक रूप सामाजिकों के होने पर प्रसारितगीत अर्थात् प्रकृष्ट सारण के अनुसारी गीत वाले तथा ग्रीवारेचक के लिए फैला दी हुई ग्रीवा वाले मोरों का नृत्त शोभा देता है । पथिकों के प्रति श्यामा की भाँति आचरण करने वाले यहाँ क्यच् प्रत्यय है । (क्यच्) प्रत्यय से लुप्तोपमा निर्देश की गई है । 'पथिक सामाजिक' यहाँ कर्मधारय के स्पष्ट होने से रूपक है । उनसे ध्वनि का संसर्ग है यह ग्रन्थकार का आशय है । इसी उदाहरण में अन्य दो भेद उदाहृत हो सकते हैं, इस आशय से अन्य उदाहरण नहीं दिया है । जैसा कि—व्याघ्रादि से

ध्वन्यालोकः

अत्र ह्युपमारूपकाभ्यां शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः संसृष्टत्वम् ।

एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते ।

संख्यातुं दिङ्मात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभिः ॥ ४४ ॥

अनन्ता हि ध्वनेः प्रकाराः सहृदयानां व्युत्पत्तये तेषां दिङ्मात्रं कथितम् ।

यहाँ उपमा और रूपक के शब्दशक्त्युद्भव अनुरणन रूपव्यङ्ग्य ध्वनि की संसृष्टि है ।

इस प्रकार ध्वनि के प्रभेदों और प्रभेदों के भेदों की गणना कौन कर सकता है, उनका यह हमने दिङ्मात्र कहा है ॥ ४४ ॥

ध्वनि के अनन्त प्रकार हैं, सहृदयों की व्युत्पत्ति के लिये उन्हें दिङ्मात्र कहा है ।

लोचनम्

तथाहि—व्याघ्रादेराकृतिगणत्वे पथिकसामाजिकेष्वित्युपमारूपकाभ्यां सन्देहास्पदत्वेन सङ्कीर्णाभ्यामभिनयप्रयोगे, अभिनवप्रयोगे च रसिकेष्विति प्रसारितगीतानामिति यः शब्दशक्त्युद्भवस्तस्य संसर्गमात्रमनुग्राह्यत्वाभावात् । 'पहिअसामाइएसु' इत्यत्र तु पदे सङ्कीर्णाभ्यां ताभ्यामुपमारूपकाभ्यां शब्दशक्तिमूलस्य ध्वनेः सङ्कीर्णत्वमेकव्यञ्जकानुप्रवेशादिति सङ्कीर्णालङ्कारसंसृष्टः । सङ्कीर्णालङ्कारसङ्कीर्णश्चेत्यपि भेदद्वयं मन्तव्यम् ॥ ४३ ॥

एतदुपसंहरति—*एवमिति* । स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

अथ 'सहृदयमनःप्रीतये' इति यत्सूचितं तदिदानीं न शब्दमात्रमपि तु

आकृतिगण होने पर 'पथिक सामाजिक' यहाँ सन्देहास्पद होने के कारण कङ्कीर्ण उपमा और रूपक से 'अभिनव प्रयोगों में रसिक' 'प्रसारित गीतोंवाले' इस प्रकार जो शब्दशक्त्युद्भव है उसका संसर्ग मात्र है क्योंकि अनुग्राह्यता नहीं है । 'पहिअसामाइएसु' इस पद में सङ्कीर्ण उन उपमा और रूपक से शब्दशक्तिमूल ध्वनि का सङ्कर एकव्यञ्जकानुप्रवेश से है इस प्रकार सङ्कीर्णालङ्कार संसृष्ट, और सङ्कीर्ण से सङ्कीर्ण है, इस प्रकार इन दोनों भेदों को भी मानना चाहिए ॥ ४३ ॥

इसका उपसंहार करते हैं—इस प्रकार— । स्पष्ट है ॥ ४४ ॥

'सहृदयों के मन को प्रसन्न करने के लिए' यह जो सूचित किया है वह अब

ध्वन्यालोकः

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः ।
सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः ॥ ४५ ॥

उक्तस्वरूपध्वनिनिरूपणनिपुणा हि सत्कवयः सहृदयाश्च नियतमेव काव्यविषये परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति ।

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम् ।
अशुक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥ ४६ ॥

एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरितं सदशक्नुवद्भिः प्रतिपादयितुं वैदर्भी गौडी पाञ्चाली चेति रीतयः प्रवर्तिताः । रीतिलक्षणविधायिनां हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया मनाक्स्फुरितमासी-

सत्काव्य को करने अथवा समझने के लिए अभियुक्त सज्जनों को इस प्रकार उक्त लक्षण वाली जो ध्वनि है उसे प्रयत्न करके विवेचन करना चाहिए ॥ ४५ ॥

उक्त स्वरूप ध्वनि के निरूपण में निपुण सत्कवि और सहृदय निश्चय ही काव्य के विषय में अत्यन्त प्रकर्ष पदवी को प्राप्त कर जाते हैं ।

यह अस्फुटस्फुरित काव्यतत्त्व जैसे कहा गया है उसे व्याकृत करने में असमर्थ हुए लोगों ने रीतियाँ प्रवर्तित की हैं ॥ ४६ ॥

इस ध्वनिप्रवर्तन से निर्णीत काव्यतत्त्व को अस्फुटस्फुरित की स्थिति में प्रतिपादन करने में असमर्थ होते हुए (लोगों ने) वैदर्भी, गौणी और पाञ्चाली इन रीतियों को प्रवर्तित किया है । रीति का लक्षण विधान करने वालों के यह काव्यतत्त्व

लोचनम्

निर्व्यूढमित्याशयेनाह—*इत्युक्तेति* । यः प्रयत्नतो विवेच्यः अस्माभिश्चोक्तलक्षणो ध्वनिरेतदेव काव्यतत्त्वं यथोदितेन प्रपञ्चनिरूपणादिना व्याकर्तुमशक्नुवद्भिरलङ्कारैः रीतयः प्रवर्तिता इत्युत्तरकारिकया सम्बन्धः । अन्ये तु यच्छब्दस्थाने 'अयं' इति पठन्ति । *प्रकर्षपदवीमिति* । निर्माणे बोधे चेति भावः । व्याकर्तुम-

शब्दमात्र नहीं, अपितु निर्वाह किया गया है इस आशय से कहते हैं—सत्काव्य— । जो प्रयत्न से विवेचनीय और हमारे द्वारा उक्तस्वरूप ध्वनि है इसी काव्यतत्त्व को यथोदित प्रपञ्च निरूपण आदि द्वारा व्याख्या करने में असमर्थ अलङ्कारों ने (?) (आलङ्कारिकों ने) रीतियों को चलाया है । अन्य लोग 'जो' के स्थान पर 'यह' पाठ करते हैं । प्रकर्षपदवी— । भाव यह कि निर्माण और बोध में । व्याख्या करने में

ध्वन्यालोकः

दिति लक्ष्यते तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितेनान्येन रीतिलक्षणेन न किञ्चित् ।

शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥ ४७ ॥

अस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावविवेचनमये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति याः काश्चित्प्रसिद्धा उपनागरिकाद्याः शब्दतत्त्वाश्रया वृत्तयो याश्चार्थ-तत्त्वसम्बद्धाः कैशिक्यादयस्ताः सम्यग्रीतिपदवीमवतरन्ति । अन्यथा तु तासामदृष्टार्थानामिव वृत्तीनामश्रद्धेयत्वमेव स्यान्नानुभवसिद्धत्वम् ।

अस्फुटरूप से स्फुरित हो चुका था ऐसा प्रतीत होता है। तो यह स्पष्टरूप से प्रदर्शित अन्य रीति के लक्षण से कुछ नहीं।

इस काव्यलक्षण के ज्ञात होने पर कुछ शब्दतत्त्व के आश्रित और दूसरी अर्थतत्त्व के साथ योग वाली वृत्तियाँ प्रकाशित होती हैं ॥ ४७ ॥

इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के विवेचनमय काव्यलक्षण के ज्ञात होने पर जो कुछ प्रसिद्ध उपनागरिका आदि शब्दतत्त्व के आश्रित वृत्तियां हैं और जो अर्थतत्त्व से सम्बद्ध कैशिकी आदि हैं वे सम्यक् प्रकार से रीति की स्थिति में आ जाती हैं। अन्यथा अदृष्ट अर्थों के समान ही वृत्तियां अश्रद्धेय ही हो जायंगी अनुभवसिद्ध नहीं। इस

लोचनम्

शक्नुद्भिरित्यत्र हेतुः—अस्फुटं कृत्वा स्फुरितमिति। *लक्ष्यत इति*। रीतिर्हि गुणेष्वेव पर्यवसिता। यदाह—विशेषो गुणात्मा गुणाश्च रसपर्यवसायिन एवेति ह्युक्तं प्राग्गुणनिरूपणे 'शृङ्गार एव मधुरः' इत्यत्रेति ॥ ४५-४६ ॥

प्रकाशन्त इति। अनुभवसिद्धतां काव्यजीवितत्वे प्रयान्तीत्यर्थः। *रीतिपदवीमिति*। तद्वदेव रसपर्यवसायित्वात्। प्रतीतिपदवीमिति वा पाठः। नागरिकया

असमर्थ होते हुए यहाँ हेतु है—अस्फुट करके स्फुरित। प्रतीत होता है—। रीति गुणों में ही पर्यवसित है। क्योंकि कहते हैं—विशेष गुणरूप है, और गुणरस में पर्यवसायी ही होते हैं यह पहले गुण के निरूपण में कह चुके हैं 'शृङ्गार ही मधुर होता है' यहाँ ॥ ४५-४६ ॥

प्रकाशित होते हैं—। अर्थात् काव्य के जीवित रूप में अनुभवसिद्ध हैं। रीति की स्थिति में—। क्योंकि उसी (रीति) के समान ही रस में पर्यवसान प्राप्त करते हैं। अथवा प्रतीति की पदवी (स्थिति) यह पाठ है। नागरिका से 'उपमिता' यह

ध्वन्यालोकः

एवं स्फुटतयैव लक्षणीयं स्वरूपमस्य ध्वनेः। यत्र शब्दानामर्थानां च केषाञ्चित्प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यं जात्यत्वमिव रत्नविशेषाणां चारुत्वमनाख्येयमवभासते काव्ये तत्र ध्वनिव्यवहार इति यल्लक्षणं ध्वनेरुच्यते

प्रकार स्फुटरूप से ही इस ध्वनि का स्वरूप समझ लेना चाहिये। जिसमें कुछ शब्दों और अर्थों का रत्नविशेषों के जात्यत्व की भांति विशेष प्रतिपत्ता (जानकार) द्वारा संवेद्य चारुत्व अनाख्येयरूप से प्रतीत होता है उस काव्य में ध्वनि का व्यवहार है'

लोचनम्

ह्युपमितेत्यनुप्रासवृत्तिः शृङ्गारादौ विश्राम्यति। परुषेति दीप्तेषु रौद्रादिषु। कोमलेति हास्यादौ। तथा—'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एव चेष्टाविशेषो वृत्तिः। यदाह—

'कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या शृंगाररससम्भवा' इत्यादि।

इयता 'तस्याभावं जगदुरपरे' इत्यादावभावविकल्पेषु 'वृत्तयो रीतयश्च गताः श्रवणगोचरं, तदतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरि'ति। तत्र कथञ्चिदभ्युपगमः कृतः कथञ्चिच्च दूषणं दत्तमस्फुटस्फुरितमिति वचनेन। इदानीं 'वाचां स्थितमविषये' इति यदूचे तत्तु प्रथमोद्द्योते दूषितमपि दूषयति सर्वप्रपञ्चकथने हि असम्भाव्यमेवानाख्येयत्वमित्यभिप्रायेण। *अक्लिष्टत्व इति*। श्रुतिकष्टाद्यभाव इत्यर्थः। अप्रयुक्तस्य प्रयोग इत्यपौनरुक्त्यम्। ताविति शब्दगतोऽर्थगतश्च। विवेकस्यावसादो यत्र तस्य भावो निर्विवेकत्वम्। सामान्यस्पर्शी यो विकल्पस्ततो यः शब्दः दृष्टान्तेऽपि अनाख्येयत्वं नास्तीति दर्शयति—*रत्नविशेषाणां चेति*। ननु

अनुप्रासवृत्ति शृङ्गार आदि में विश्रान्त होती है। 'परुषा' दीप्त रौद्र आदि में। कोमला हास्य आदि में। तथा—'वृत्तियाँ काव्य की माताएं हैं' यह जो कि मुनि ने कहा है उसमें रसोचित ही चेष्टा विशेष वृत्ति है। क्योंकि कहते हैं—'श्लक्ष्णनेपथ्यवाली कैशिकी शृङ्गाररस में सम्भव होती है' इत्यादि। 'कुछ लोगों ने उसका अभाव कहा है' इत्यादि अभावविकल्पों में 'वृत्तियाँ और रीतियाँ श्रवणगोचर हुई हैं उससे अतिरिक्त यह ध्वनि कौन है ?' वहाँ कुछ स्वीकार किया है और 'अस्फुट करके स्फुरित' इस वचन से किसी प्रकार दोष दिया है। अब 'वाणी के अविषय में स्थित' जो कहा है वह प्रथम उद्योत में दूषित है तब भी दूषित करते हैं, सारे प्रपञ्च के कहे जाने पर अनाख्येयत्व असम्भाव्य ही है इस अभिप्राय से। अक्लिष्ट—। अर्थात् श्रुतिकष्ट आदि का अभाव होने पर। 'अप्रयुक्त का प्रयोग' यह पौनरुक्त्य नहीं है। वे दोनों—। शब्दगत और अर्थगत। विवेक का अभाव (अवसाद) है जहाँ उसका भाव निर्विवेकत्व। सामान्य का स्पर्श करने वाला जो विकल्प उससे जो शब्द। दृष्टान्त में भी अनाख्येयत्व नहीं है यह दिखाते हैं—और रत्नविशेषों का—। सब उसे नहीं जानेंगे यह आशङ्का करके

ध्वन्यालोकः

केनचित्तदयुक्तमिति नाभिधेयतामर्हति। यतः शब्दानां स्वरूपाश्रयस्तावदक्लिष्टत्वे सत्यप्रयुक्तप्रयोगः। वाचकाश्रयस्तु प्रसादो व्यञ्जकत्वं चेति विशेषः। अर्थानां च स्फुटत्वेनावभासनं व्यङ्ग्यपरत्वं व्यङ्ग्यांशविशिष्टत्वं चेति विशेषः।

तौ च विशेषौ व्याख्यातुं शक्येते व्याख्यातौ च बहुप्रकारम्। तद्व्यतिरिक्तानाख्येयविशेषसम्भावना तु विवेकावसादभावमूलैव। यस्मादनाख्येयत्वं सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित्सम्भवति। अन्ततोऽनाख्येयशब्देन तस्याभिधानसम्भवात्। सामान्यसंस्पर्शिविकल्पशब्दागोचरत्वे सति, प्रकाशमानत्वं तु यदनाख्येयत्वमुच्यते क्वचित् तदपि काव्यविशेषाणां रत्नविशेषाणामिव न सम्भवति। तेषां लक्षणकारैर्व्याकृतरूपत्वात्। रत्नविशेषाणां च सामान्यसम्भावनयैव मूल्यस्थितिपरिकल्पनादर्शनाच्च। उभयेषामपि तेषां प्रतिपत्तृविशेषसंवे-

यह जो ध्वनि का लक्षण कोई कहता है वह ठीक नहीं, अतः कहा नहीं जा सकता। क्योंकि शब्दों का स्वरूप के आश्रित (विशेष) अक्लिष्ट होने पर अप्रयुक्त का प्रयोग और वाचक के आश्रित (विशेष) प्रसाद और व्यञ्जकत्व है। और अर्थों का विशेष स्फुटरूप से अवभासन, व्यङ्ग्यपरत्व और व्यङ्ग्य अंश से विशिष्टत्व है।

वे दोनों विशेष व्याख्यात हो सकते हैं और बहुत प्रकार से व्याख्यात हुए हैं। उनसे व्यतिरिक्त अनाख्येय विशेष की सम्भावना का तो विवेक का अभाव ही कारण है। क्योंकि सभी शब्दों के अगोचर रूप से अनाख्येयत्व किसी का सम्भव नहीं है, अन्ततः अनाख्येय शब्द से उसका अभिधान सम्भव है। सामान्य का स्पर्श करनेवाला विकल्प शब्द का गोचर न होकर जो प्रकाशमान है वह अनाख्येय है जो कहीं पर यह कहा है वह भी रत्नविशेषों की भाँति काव्यविशेषों का सम्भव नहीं है। क्योंकि उनके रूप की लक्षणकारों ने व्याख्या की है। और रत्नविशेषों के सामान्य की सम्भावना से ही मूल्य की स्थिति की कल्पना देखी जाती है। उन दोनों का भी

लोचनम्

सर्वेण तन्न संवेद्यत इत्याशङ्क्याभ्युपगमेनैवोत्तरयति—*उभयेषामिति*। रत्नानां काव्यानां च।

ननु नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपीति, अनिर्देश्यस्य वेदकमित्यादौ कथमनाख्ये-

अभ्युगम से ही उत्तर देते हैं—उन दोनों का—। रत्नों का और काव्यों का।

'अर्थ को शब्द स्पर्श भी नहीं करते' 'अनिर्देश्य का ज्ञापक (वेदक)' इत्यादि में

ध्वन्यालोकः

द्यत्वमस्त्येव। वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः, सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः।

यत्त्वनिर्देश्यत्वं सर्वलक्षणविषयं बौद्धानां प्रसिद्धं तत्तन्मतपरीक्षायां ग्रन्थान्तरे निरूपयिष्यामः। इह तु ग्रन्थान्तरश्रवणलवप्रकाशनं सहृदयवैमनस्यप्रदायीति न प्रक्रियते। बौद्धमतेन वा यथा प्रत्यक्षादिलक्षणं तथास्माकं ध्वनिलक्षणं भविष्यति। तस्माल्लक्षणान्तरस्याघटनादशब्दार्थत्वाच्च तस्योक्तमेव ध्वनिलक्षणं साधीयः। तदिदमुक्तम्—

प्रतिपत्ता विशेष द्वारा संवेद्यत्व है ही। वैकटिक लोग ही रत्न के तत्त्व के जानकार होते हैं और सहृदय लोग ही काव्यों के रसज्ञ होते हैं। यहाँ कौन सन्देह करता है?

जो कि बौद्धों का सभी लक्षणों के सम्बन्ध में 'अनिर्देश्यत्व' अलक्षणीयत्व प्रसिद्ध है उसे उनके मत की परीक्षा के अवसर में ग्रन्थान्तर में निरूपण करेंगे। यहाँ ग्रन्थान्तर के सुनने का लवमात्र भी प्रकाशन सहृदयों के वैमनस्य प्रदान करनेवाला होगा, इसलिए नहीं करते हैं। अथवा बौद्ध मत से जैसे प्रत्यक्ष आदि का लक्षण है उस प्रकार हमारा ध्वनि का लक्षण होगा। इसलिए दूसरे लक्षण के न घटने से और अशब्दार्थ (ध्वनिशब्द का अर्थ न) होने से पूर्वोक्त लक्षण ही ठीक है। तो यह कहा है—

लोचनम्

यत्वं वस्तूनामुक्तमिति चेदत्राह—*यत्त्विति*। एवं हि सर्वभाववृत्तान्ततुल्य एव ध्वनिरिति ध्वनिस्वरूपमनाख्येयमित्यतिव्यापकं लक्षणं स्यादिति भावः। *ग्रन्थान्तर इति*। विनिश्चयटीकायां धर्मोत्तर्यां या विवृतिरमुना ग्रन्थकृता कृता तत्रैव तद्व्याख्यातम्। *उक्तमिति*। संग्रहार्थं मयैवेत्यर्थः। अनाख्येयांशस्याभासो विद्यते यस्मिन् काव्ये तस्य भावस्तन्न लक्षणं ध्वनेरिति सम्बन्धः। अत्र

वस्तुओं का अनाख्येयत्व कैसे कहा है? ('यहाँ निर्णयसागरीय लोचन' में पाठ भ्रष्ट है, किन्तु बालप्रिया में इसका सम्भावित संशोधन किया गया है) इस पर कहते हैं—

जो कि—। भाव यह कि सभी भाव पदार्थ के वृत्तान्त के तुल्य ही ध्वनि है, इस लिए ध्वनि स्वरूप अनाख्येय है, इस प्रकार लक्षण अतिव्यापक होगा। ग्रन्थान्तर 'धर्मोत्तरी' नाम की 'विनिश्चय' ग्रन्थ की टीका में इस ग्रन्थकार ने जो विवृति की है वहीं पर उसे व्याख्यान किया है। कहा है—। अर्थात् मैं ने ही। अनाख्येय अंश का आभास है जिस काव्य में उसभाव, वह ध्वनि का लक्षण नहीं है यह सम्बन्ध है।

ध्वन्यालोकः

अनाख्येयांशभासित्वं निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः ।
न लक्षणं, लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितम् ॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके तृतीय उद्द्योतः ॥

ध्वनि के निर्वाच्यार्थ होने के कारण अनाख्येय अंश का भासित होना लक्षण नहीं है, जैसा कि लक्षण कहा है (वह) ठीक है ।

श्रीराजानक आनन्दवर्धनाचार्य विरचित ध्वन्यालोक में तीसरा उद्योत समाप्त ।

लोचनम्

हेतुः—*निर्वाच्यार्थतयेति* । निर्विभज्य वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः । अन्यस्तु 'निर्वाच्यार्थतया' इत्यत्र निसो नञर्थत्वं परिकल्प्यानाख्येयांशभासित्वेऽयं हेतुरिति व्याचष्टे, तत्तु क्लिष्टम् । हेतुश्च साध्याविशिष्ट इत्युक्तव्याख्यानमेवेति शिवम् ।

काव्यालोके प्रथां नीतान् ध्वनिभेदान् परामृशत् ।
इदानीं लोचनं लोकान् कृतार्थान्संविधास्यति ॥
आसूत्रितानां भेदानां स्फुटतापत्तिदायिनीम् ।
त्रिलोचनप्रियां वन्दे मध्यमां परमेश्वरीम् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोके-
लोचने ध्वनिसङ्केते तृतीय उद्द्योतः ॥

यहाँ हेतु है—निर्वाच्यार्थ होने के कारण— । अर्थात् विभाग करके कहे जा सकने के कारण । किन्तु अन्य ने 'निर्वाच्यर्थतया' में 'निर' को नञर्थ समझकर अनाख्येयांशभासी होने में यह हेतु है' यह व्याख्यान किया है, किन्तु वह क्लिष्ट है । और हेतु साध्य से विशिष्ट है यह व्याख्यान उक्त है । शिवम् ।

काव्यालोक में फैले हुए ध्वनिभेदों का परामर्श करता हुआ यह लोचन लोगों को कृतार्थ करेगा ।

आसूचित भेदों को स्फुटता प्राप्त कराने वाली त्रिलोचन (शिव) की प्रिया परमेश्वरी मध्यमा की वन्दना करता हूँ ।

श्री महामाहेश्वराचार्यवर्य अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित ध्वनिसङ्केत
सहृदयालोकलोचन में तृतीय उद्योत समाप्त हुआ ।

चतुर्थ उद्द्योतः

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनिं सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद्य तद्व्युत्पादने प्रयोजनान्तरमुच्यते—

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ॥ १ ॥

य एष ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फलान्तरं कविप्रतिभानन्त्यम् ।

इस प्रकार ध्वनि का प्रपञ्च विस्तार के साथ विरुद्ध शङ्का के निवारण के लिए व्युत्पादन करके उस (ध्वनि) के व्युत्पादन में दूसरा प्रयोजन कहते हैं—

गुणीभूतव्यङ्ग्य के सहित ध्वनि का जो मार्ग दिखाया जा चुका है, इससे कवियों का प्रतिभागुण अनन्त (अनेकानेक) हो जाता है ॥ १ ॥

जो यह ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का मार्ग (पूर्व उद्योतों में) प्रकाशित किया है उसका दूसरा फल (प्रयोजन) कवि की प्रतिभा का आनन्त्य है ।

लोचनम्

कृत्यपञ्चकनिर्वाहयोगेऽपि परमेश्वरः ।
नान्योपकरणापेक्षो यया तां नौमि शाङ्करीम् ॥

उद्योतान्तरसङ्गतिं विरचयितुं वृत्तिकार आह—*एवमिति । प्रयोजनान्तरमिति ।* यद्यपि 'सहृदयमनःप्रीतय' इत्यनेन प्रयोजनं प्रागेवोक्तं, तृतीयोद्योतावधौ च सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वेति तदेवेषत्स्फुटीकृतं, तथापि स्फुटतरीकर्तुमिदानीं यत्नः । यतस्सुस्पष्टरूपत्वेन विज्ञायते, अतोऽस्पष्टनिरूपितात्स्पष्टनिरूपणमन्यथैव प्रतिभातीति प्रयोजनान्तरमित्युक्तम् । अथवा पूर्वोक्तयोः प्रयोजनयोरन्तरं विशे-

मैं उस शाङ्करी (शङ्कर की माया शक्ति) को नमन करता हूँ जिसके कारण परमेश्वर (सृष्टि आदि) पाँच प्रकार के कार्यों को पूरा करने में भी दूसरे उपकरण की अपेक्षा नहीं रखते ।

अन्य उद्योत की सङ्गति बैठाने के लिए वृत्तिकार कहते हैं—इस प्रकार— । दूसरा प्रयोजन— । यद्यपि 'सहृदयमनःप्रीयते' इसके द्वारा प्रयोजन पहले ही कहा जा चुका है, और तृतीय उद्योत के अन्त में 'सत्काव्यं कर्तुं ज्ञातुं वा' से उसे ही कुछ स्फुट किया है तथापि और अधिक स्फुट (स्फुटतर) करने के लिए अब यत्न है । जिससे सुस्पष्ट रूप से जाना जाता है, अतः अस्पष्ट रूप से निरूपण किए गए (प्रयोजन से) स्पष्ट निरूपण अन्यथा ही मालूम पड़ता है, सो दूसरा प्रयोजन यह कहा । अथवा,

ध्वन्यालोकः

कथमिति चेत्—

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥ २ ॥

अतो ध्वनेरुक्तप्रभेदमध्यादन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता सती

वह कैसे ? तो—

इसमें से एक भी प्रकार से विभूषित वाणी प्राचीन अर्थ के साथ सम्बन्ध रखती हुई भी नवत्व प्राप्त कर लेती है ॥ २ ॥

इस ध्वनि के कहे गए प्रभेदों के बीच से एक भी प्रकार से विभूषित होती हुई

लोचनम्

षोऽभिधीयते; केन विशेषेण सत्काव्यकरणमस्य प्रयोजनं, केन च सत्काव्य-बोध इति विशेषो निरूप्यते। तत्र सत्काव्यकरणे कथमस्य व्यापार इति पूर्वं वक्तव्यं निष्पादितस्य ज्ञेयत्वादिति तदुच्यते—*ध्वनेर्य* इति ॥ १ ॥

ननु ध्वनिभेदात् प्रतिभानामानन्त्यमिति व्यधिकरणमेतदित्यभिप्रायेणाशङ्कते—*कथमितीति*।

अत्रोत्तरम्—*अतो हीति*। आसतान्तावद् बहवः प्रकाराः, एकेनाप्येवं भव-

पहले कहे गए दोनों प्रयोजनों का अन्तर अर्थात् विशेष कहते हैं—किस विशेष से सत्काव्य का निर्माण इसका प्रयोजन है और किससे सत्काव्य बोध (इसका प्रयोजन है !) इस प्रकार विशेष का निरूपण करते हैं। वहाँ सत्काव्य के निर्माण में कैसे इसका (व्युत्पादन का) व्यापार है ? यह पहले वक्तव्य है क्योंकि जो निष्पादित (व्युत्पादित) होता है वही ज्ञेय या ज्ञान का विषय होता है, अतः उसे कहते हैं—जो यह—।

ध्वनि के भेद से प्रतिभा का आनन्त्य, यह व्यधिकरण[1] है, इस अभिप्राय से आशङ्का करते हैं—कैसे—।

यहाँ उत्तर है—इसमें से—। हों बहुत से प्रकार (प्रभेद), एक (प्रकार या

१. प्रस्तुत शङ्का का तात्पर्य है कि ध्वनि का भेद काव्यनिष्ठ है और प्रतिभा का आनन्त्य कविनिष्ठ है, और जैसा कि कार्यकारणभाव का नियम है कि वह समानाधिकरण में होता है, यहाँ दोनों का अधिकरण समान नहीं है, ऐसी स्थिति में ध्वनि के भेद और प्रतिभा के आनन्त्य का कार्य-करण-भाव कैसे बन सकता ? इसका समाधान यह है कि ध्वनि के भेद का ज्ञान प्रतिभा के आनन्त्य का कारण है, यह आचार्य का वक्तव्य है। इसी बात को दूसरे प्रकार से द्वितीय कारिका में कहा गया है। कवि ध्वनि के भेदों का ज्ञान करके अनन्त प्राचीन कवियों के वर्णित भी विषय के वर्णन में प्रतिभान प्राप्त करके अपनी वाणी में नवत्व उत्पन्न कर लेता है। ध्वनि के ज्ञान का फल प्रतिभा का आनन्त्य है तो प्रतिभा के आनन्त्य का फल वाणी का नवत्व है।

ध्वन्यालोकः

वाणी पुरातनकविनिबद्धार्थसंस्पर्शवत्यपि नवत्वमायाति। तथाह्यविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः प्रकारद्वयसमाश्रयणेन नवत्वं पूर्वार्थानुगमेऽपि यथा—

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः

वाणी पुराने जमाने के कवि द्वारा बांधे गए अर्थ का संस्पर्श रखती हुई भी नवत्व प्राप्त कर लेती है (नई बन जाती है)। जैसा कि अविवक्षित वाच्यध्वनि के दो प्रकारों के समाश्रयण से प्राचीन अर्थ का अनुगम (सम्बन्ध) होने पर भी नवत्व है, जैसे—

'कुछ स्मित मुग्ध (बन जाता है), आँखों का विभव (ऐश्वर्य) तरल एवं

लोचनम्

तीत्यपिशब्दार्थः। एतदुक्तं भवति—वर्णनीयवस्तुनिष्ठः प्रज्ञाविशेषः प्रतिभानं, तत्र वर्णनीयस्य पारिमित्यादाद्यकविनैव स्पृष्टत्वात् सर्वस्य तद्विषयं प्रतिभानं तज्जातीयमेव स्यात्। ततश्च काव्यमपि तज्जातीयमेवेति भ्रष्ट इदानीं कविप्रयोगः, उक्तवैचित्र्येण तु त एवार्था निरवधयो भवन्तीति तद्विषयाणां प्रतिभानामानन्त्यमुपपन्नमिति। ननु प्रतिभानन्त्यस्य किं फलमिति निर्णेतुं *वाणी नवत्वमायातीत्युक्तं*, तेन वाणीनां काव्यवाक्यानां तावन्नवत्वमायाति। तच्च प्रतिभानन्त्ये सत्युपपद्यते, तच्चार्थानन्त्ये, तच्च ध्वनिप्रभेदादिति।

तत्र प्रथममत्यन्ततिरस्कृतवाच्यान्वयमाह—*स्मितमिति*। मुग्धमधुरविभ-

प्रभेद) से भी इस प्रकार (प्रतिभा का आनन्त्य) हो जाता है, यह 'भी' ('अपि') शब्द का अर्थ है। बात यह हुई—वर्णनीय वस्तु में रहने वाला (कवि का) प्रज्ञाविशेष प्रतिभान (कहलाता है), वहाँ वर्णनीय (वस्तु) के परिमित होने से पूर्व के कवि द्वारा ही स्पर्श कर लिए जाने के कारण सबका उस (वर्णनीय वस्तु) को विषय (करने वाला) प्रतिभान उसी जाति का ही होगा। और तब काव्य भी उसी जाति का ही (हो जायगा, ऐसी स्थिति में) इस समय कवि का प्रयोग बेकार (भ्रष्ट) है, किन्तु उक्त (ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के) वैचित्र्य से वे ही वर्णनीय अर्थ अवधिरहित (अनन्त) हो जाते हैं, इस प्रकार तद्विषयक (वर्णनीय अर्थविषयक) प्रतिभानों का आनन्त्य बन जाता है। शङ्का—प्रतिभा के आनन्त्य का क्या फल है? इसका निर्णय करने के लिए 'वाणी नवत्व को प्राप्त करती है' यह कहा। उससे वाणियों अर्थात् काव्य वाक्यों का नवत्व आ जाता है। वह (वाणी का नवत्व) प्रतिभा के आनन्त्य होने पर ही बनता है, और वह (प्रतिभा का आनन्त्य) अर्थ (वर्णनीय वस्तु) के आनन्त्य होने पर (बनता है) और वह (अर्थ का आनन्त्य) ध्वनि के प्रभेद से (बनता है)।

वहाँ, पहले अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य (ध्वनि) का अन्वय कहते हैं—कुछ

ध्वन्यालोकः

परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोर्भिसरसः ।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः ॥

इत्यस्य,

सविभ्रमस्मितोद्भेदा लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्गिरः ।

मधुर (हो जाता है), बातों का लगातार (चल पड़ना) नये हाव-भाव की तरंगों से रसीला (बन जाता है), चालों शुरुआत किसलय वाली (किसलयित) लीला का पराग (बन जाता है), इस प्रकार तरुनाई को छूती (स्पर्श करती) हुई हिरन जैसी आँखों वाली का क्या नहीं चौचक (लगता है !) ।'

इसका,

विलास-सहित मुस्कानों के उद्भेद वाली, चंचल आँखों वाली, लड़खड़ाती

लोचनम्

वसरसकिसलयितपरिमलस्पर्शनान्यत्यन्ततिरस्कृतानि । तैरनाहृतसौन्दर्यसर्वजनवाल्लभ्याक्षीणप्रसरत्वसन्तापप्रशमनतर्पकत्वसौकुमार्यसार्वकालिकतत्संस्कारानुवृत्तित्वयत्नाभिलषणीयसङ्गतत्वानि ध्वन्यमानानि यानि, तैः स्मितादेः प्रसिद्धस्यार्थस्य स्थविरवेधीविहितधर्मव्यतिरेकेण धर्मान्तरपात्रता यावत् क्रियते, तावत्तदपूर्वमेव सम्पद्यत इति सर्वत्रेति मन्तव्यम् । *अस्येति* अपूर्वत्व-

मुस्कुराना-— । मुग्ध, मधुर, विभव (ऐश्वर्य), रसीला (सरस), किसलयित, परिमल और स्पर्शन, ये अत्यन्ततिरस्कृत (पूर्ण रूप से छोड़ दिए गए) हैं । उनसे, (क्रमशः) अनाहृत (न-आहृत अर्थात् अकृत्रिम, स्वाभाविक) सौन्दर्य, सब लोगों का प्रिय होना प्रसार या प्रभाव का क्षीण न होना, मन की आग ठंढी करना, तृप्त करना, मुलायमी, (लीला) के संस्कार को सब काल में (हमेशा) अनुवर्तन, यत्नपूर्वक अभिलषणीय (कमनीय—चाहने लायक) के साथ सङ्गत होना, जो ध्वनित हो रहे हैं, उन (ध्वन्यमान अर्थों) से स्मित आदि प्रसिद्ध अर्थ का बूढ़े ब्रह्मा (द्वारा) विहित धर्म के व्यतिरेक (त्याग) से (अकृत्रिम सौन्दर्य आदि) दूसरे धर्मों की पात्रता जब कर देते हैं तब वह (स्मित आदि) अपूर्व (नया) ही बन जाता[1] है, यह सर्वत्र मानना चाहिए । इसका—'अपूर्वत्व

१. प्रस्तुत पद्य में कवि ने स्थित आदि के प्रसिद्ध अर्थ को उनके प्राकृतिक धर्मों के स्थान पर अपनी ओर से धर्मान्तर का आधान जो किया है उससे उनसे वे अपूर्व जैसे हो गए हैं । जैसा कि स्मित को मुग्ध कह कर स्वाभाविक सौन्दर्य को, 'मधुर' शब्द से दृष्टि की सर्वजनप्रियता एवं अक्षीणप्रभावत्व आदि को व्यञ्जित किया है। इस प्रकार व्यञ्जनाओं के कारण प्रत्येक वस्तु में अपूर्वता या नवीनता का अनुभव होता है ।

ध्वन्यालोकः

नितम्बालसगामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रियाः ॥

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि तिरस्कृतवाच्यध्वनिसमाश्रयेणापूर्वत्वमेव प्रतिभासते । तथा—

यः प्रथमः प्रथमः स तु तथाहि हतहस्तिबहलपललाशी ।
श्वापदगणेषु सिंहः सिंहः केनाधरीक्रियते ॥

इत्यस्य,

स्वतेजःक्रीतमहिमा केनान्येनातिशय्यते ।
महद्भिरपि मातङ्गैः सिंहः किमभिभूयते ॥

आवाज वाली, नितम्ब (के भार से) अलसा कर चलने वाली कामिनियां किसे प्रिय नहीं हैं ?

इत्यादि श्लोकों के (पहले से) होने पर भी तिरस्कृत वाच्यध्वनि के समाश्रयण से अपूर्वत्व (नवत्व) ही प्रतिभासित होता है । इसी प्रकार—

जो पहला है वह तो पहला है, जैसा कि मारे गए हाथी के पर्याप्त मांस को खाने वाला, जंगली जानवरों में सिंह किससे नीचा किया जाता है ?

इसका,

अपने पराक्रम से खरीदा हुआ बड़प्पन किस दूसरे द्वारा दबाया जाता है ? बड़े भी हाथियों से सिंह क्या अभिभूत होता है ?

लोचनम्

मेव भासत इति दूरेण सम्बन्धः । सर्वत्रैवास्य नवत्वमिति सङ्गतिः । द्वितीयः प्रथमशब्दोऽर्थान्तरेऽनपाकरणीयप्रधानत्वासाधारणत्वादिव्यंग्यधर्मान्तरे संक्रान्त स्वार्थं व्यनक्ति । एवं सिंहशब्दोऽपि वीरत्वानपेक्षत्वविस्मयनीयत्वादौ व्यंग्यधर्मान्तरे सङ्क्रान्तं स्वार्थं ध्वनति ।

(नवत्व) ही भासित होता है' यह दूसरे से सम्बन्ध (अन्वय) है । सब जगह ही इसका नवत्व (अपूर्वत्व) है, यह सङ्गति है । दूसरा 'पहला' शब्द (अन्वित न होने के कारण) दूसरे अर्थ में 'जिसकी प्रधानता निराकरण के योग्य नहीं है (अनपाकरणीय प्रधानत्व)' (और) असाधारणत्व आदि रूप व्यङ्ग्य धर्मान्तर में सङ्क्रान्त अपने अर्थ (स्वार्थ) को व्यंजित करता है । इसी प्रकार—'सिंह' शब्द भी वीरत्व, अनपेक्षत्व (दूसरे की अपेक्षा न करना), विस्मयनीयत्व आदि व्यङ्ग्य धर्मान्तर में सङ्क्रान्त अपने अर्थ (स्वार्थ) को ध्वनित करता है ।

ध्वन्यालोकः

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वप्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिसमाश्रयेण नवत्वम्। विवक्षितान्यपरवाच्यस्याप्युक्तप्रकारसमाश्रयेण नवत्वं यथा—

निद्राकैतविनः प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रं वधू-
बोधत्रासनिरुद्धचुम्बनरसाप्याभोगलोलं स्थिता।
वैलक्ष्याद्विमुखीभवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः
साकाङ्क्षप्रतिपत्ति नाम हृदयं यातं तु पारं रतेः॥

इत्यादि श्लोकों के होने पर भी (पूर्वोक्त श्लोक में) अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि के समाश्रयण से नवत्व है। जैसे—

नींद की ढोंग करने वाले प्रिय के मुख पर (अपना) मुख रखकर नई-नौहर वधू (उसके) जग जाने के डर से चुम्बन की इच्छा रोक कर भी पूरी तरह देखने के कारण चंचल हो बैठी। लजा जाने से विमुख हो जायगी इससे फिर (अपनी ओर से) आरम्भ न करने वाले उस प्रिय का भी हृदय साकांक्ष की स्थिति में पहुँच कर परम आनन्द (रति) की सीमा तक चला गया।

लोचनम्

एवं प्रथमस्य द्वौ भेदावुदाहृत्य द्वितीयस्याप्युदाहर्तुमासूत्रयति—*विवक्षितेति*। निद्रायां कैतवी कृतकसुप्त इत्यर्थः। *वदने विन्यस्य वक्त्रमिति*। वदनस्पर्शजमेव तावद्दिव्यं सुखं त्यक्तुन्न पारयतीति। अतएव *प्रियस्येति*। वधूः नवोढा। बोधत्रासेन प्रियतमप्रबोधभयेन निरुद्धो हठात् प्रवर्तमानः प्रवर्तमानोऽपि कथञ्चित्कथञ्चिन्न क्षणमात्रन्धृतश्चुम्बनाभिलाषो यया। अतएव आभोगेन पुनः पुनर्निद्राविचारनिर्वर्णनया विलोलं कृत्वा स्थिता, न तु सर्वथैव चुम्बनान्निव-

इस प्रकार प्रथम (अविवक्षितवाच्य ध्वनि) के दोनों भेदों को उदाहृत करके द्वितीय (विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि) के (भेदों को) भी उदाहृत करने के लिए निर्देश करते हैं—विवक्षितान्यपरवाच्य—। नींद में ढोंगी अर्थात् बनावटी सोया हुआ। मुख पर मुख को रख कर—। मुख का स्पर्श करने से उत्पन्न दिव्य सुख को ही छोड़ नहीं पाता। अतएव प्रिय का। नई-नौहर (वधू) तुरन्त की व्याही हुई। जग जाने के डर से, प्रियतम के जग जाने के डर से निरुद्ध, हठपूर्वक प्रवर्त्तमान—प्रवर्तमान भी किसी-किसी प्रकार क्षण भर रोक रखा है चुम्बन के अभिलाष को जिसने। अतएव पूरी तरह देखने के कारण (आभोग से) बार-बार नींद को विचार करके देखने से, चंचल हो गई, न कि सब प्रकार से चुम्बन से निवृत्त हो सकती है, यह अर्थ है। ऐसी

ध्वन्यालोकः

इत्यादेः श्लोकस्य,

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

इत्यादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि नवत्वम् । यथा वा—'तरङ्गभ्रूभङ्गा' इत्यादिश्लोकस्य 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रूः' इत्यादिश्लोकापेक्षयान्यत्वम् ॥२॥

इत्यादि श्लोक का,

सूने शयनकक्ष को देख, कुछ धीरे पलंग से उठ कर, नींद की ढोंग किए हुए पति के मुख को देर तक निहार कर, विश्वास के साथ जोर से चुम्बन कर, (तत्पश्चात्) उत्पन्न रोमाञ्च वाली (पति की) गण्डस्थली को देख कर लज्जा से झुके मुख वाली बाला हंसते हुए प्रिय द्वारा देर तक चुम्बित हुई।

इत्यादि श्लोकों के होते हुए भी नवत्व है। अथवा, जैसे—'तरङ्गभ्रूभङ्गा०'—इत्यादि श्लोक का 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रू०'—इत्यादि श्लोक की अपेक्षा अन्यत्व (नवत्व) है।

लोचनम्

र्तितुं शक्नोतीत्यर्थः। एवंभूतैषा यदि मया परिचुम्ब्यते, तद्विलक्षा विमुखीभवेदिति *तस्यापि* प्रियस्य परिचुम्बनविषये निरारम्भस्य। हृदयं *साकांक्षप्रतिपत्ति नामेति*। साकांक्षा साभिलाषा प्रतिपत्तिः स्थितिर्यस्य तादृशं रुहरुहिकाकदर्थितं न तु मनोरथसम्पत्तिचरितार्थं, किन्तु रतेः परस्परजीवितसर्वस्वाभिमानरूपायाः परिनिर्वृतेः केन चिदप्यनुभवेनालब्धावगाहनायाः पारङ्गतमिति परिपूर्णीभूत एव शृङ्गारः। द्वितीयश्लोके तु परिचुम्बनं सम्पन्नं लज्जा स्वशब्देनोक्ता। तेनापि सा परिचुम्बितेति यद्यपि पोषित एव शृङ्गारः, तथापि प्रथमश्लोके

हुई यह यदि मेरे द्वारा चूमी जाती है लजा कर (मुझसे) विमुख हो जायगी, इस प्रकार वह प्रिय भी परिचुम्बन के विषय में आरम्भशून्य है। हृदय साकांक्ष की स्थिति वाला—। आकांक्षा, अभिलाष से सहित है प्रतिपत्ति अर्थात् स्थिति जिसकी, उस प्रकार का (हृदय) उत्सुकता से पीड़ित, न कि मनोरथ की सम्पत्ति से चरितार्थ; किन्तु रति के अर्थात् परस्पर जीवन के सर्वस्व होने के अभिमान रूप परम निर्वृत्ति (आनन्द) के, जिसका किसी के द्वारा भी, अनुभव से अवगाहन न हुआ, पार पहुँच गया, इस प्रकार शृङ्गार परिपूर्ण ही हो गया। परन्तु दूसरे श्लोक में परिचुम्बन कर लिया गया, लज्जा अपने (लज्जा) शब्द से कह दी गई है। 'उसके द्वारा वह परिचुम्बित हुई, इससे यद्यपि शृङ्गार पोषित ही हुआ तथापि पहले श्लोक में एक-दूसरे के

ध्वन्यालोकः

युक्त्याऽनयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः ।
मिथोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात् ॥ ३ ॥

बहुविस्तारोऽयं रसभावतदाभासतत्प्रशमनलक्षणो मार्गो यथास्वं विभावानुभावप्रभेदकलनया यथोक्तं प्राक् । स सर्व एवानया युक्त्यानुसर्तव्यः । यस्य रसादेराश्रयादयं काव्यमार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्रसंख्यैरसंख्यैर्वा बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्ततामेति । रसभावा-

इस युक्ति से बहुत विस्तार वाले रस आदि को अनुसरण करना चाहिए, जिसके आश्रय (आधार) से थोड़ा भी काव्य का मार्ग अनन्तता को प्राप्त है ॥ ३ ॥

जैसा कि पहले कह चुके हैं, यह रस, भाव, भावाभास, भावप्रशम रूप मार्ग, विभाव, अनुभाव के प्रभेदों की गणना से बहुत विस्तृत हो जाता है, वह सभी इस युक्ति से अनुसरण करने योग्य है । जिस रसादि के आश्रय से यह काव्य-मार्ग पुराने हजारों अथवा असंख्य कवियों द्वारा बहुत प्रकार से अभ्यस्त होने के कारण थोड़ा भी अनन्त बन जाता है । रस, भाव आदि का प्रत्येक विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी का

लोचनम्

परस्पराभिलाषप्रसरनिरोधपरम्परापर्यवसानासम्भवेन या रतिरुक्ता, सोभयोरप्येकस्वरूपचित्तवृत्त्यनुप्रवेशमाचक्षाणा रतिं सुतरां पोषयति ॥ २ ॥

एवं मौलं भेदचतुष्टयमुदाहृत्यालक्ष्यक्रमभेदेष्वतिदेशमुखेन सर्वोपभेदविषयनिर्देशं करोति—*युक्त्यानयेति*। *अनुसर्तव्य इति*। उदाहर्तव्य इत्यर्थः। *यथोक्तमिति*।

अभिलाष-वेग के रुकने के क्रम में पर्यवसान न होने से जो रति कही गई है वह दोनों (प्रिय और प्रिया) की एक स्वरूप वाली चित्तवृत्ति की स्थिति (अनुप्रवेश) को स्पष्ट कहती हुई रति को पूर्ण रूप से पुष्ट करती है[1] ॥ २ ॥

इस प्रकार मूल के (आदि के) चार भेदों को उदाहृत करके अलक्ष्यक्रम ध्वनि के अतिदेश के प्रकार से समस्त उपभेदों के सम्बन्ध में निर्देश करते हैं—इस युक्ति से— । अनुसरण करना चाहिए—। अर्थात् उदाहृत कर लेना चाहिए । जैसा कि कहा है— ।

१. प्रथम 'निद्राकैतविनः०' और द्वितीय 'शून्यं वासगृहं०' इन दोनों की परिस्थितियां प्रायः समान ही हैं, किन्तु प्रथम श्लोक में नायक और नायिका दोनों अपने अभिलाष को किसी प्रकार रोक कर परस्पर जीवित सर्वस्व होने की भावना से समान चित्त वृत्ति का अनुभव कर रहे हैं, इस प्रकार यहां रति परिपोष प्राप्त करके यहाँ शृङ्गार की अवस्था तक पहुँच जाती है । द्वितीय श्लोक में यद्यपि शृङ्गार पोषित है तथापि लज्जा के स्वशब्द से उक्त हो जाने के कारण कुछ शिथिलता अवश्य आ गई है ।

ध्वन्यालोकः

दीनां हि प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिसमाश्रयादपरिमितत्वम्। तेषां चैकैकप्रभेदापेक्षयापि तावज्जगद्वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्त-दिच्छावशादन्यथा स्थितमप्यन्यथैव विवर्तते। प्रतिपादितं चैतच्चित्र-विचारावसरे। गाथा चात्र कृतैव महाकविना—

अतहट्ठिए वि तहसण्ठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ।
अत्थविसेसे सा जअइ विकडकइगोअरा वाणी॥

[अतथास्थितानपि तथासंस्थितानिव हृदये या निवेशयति।

पूर्ण रूप से आश्रय लेने के कारण आनन्त्य है। और उनके एक-एक प्रभेद की अपेक्षा से भी संसार का व्यवहार उपनिबध्यमान होकर सुकवियों द्वारा उनकी इच्छावश दूसरे प्रकार से स्थित होकर भी दूसरे प्रकार का हो जाता है (मालूम होने लगता है) और इसे 'चित्र' (काव्य) के विचार के प्रसंग में प्रतिपादन किया है। और, महाकवि ने यह गाथा भी कही है—

'महाकवि की वह वाणी सब से बढ़ कर है, जो उस प्रकार (रमणीय रूप में)

लोचनम्

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदाः स्वगताश्च ये।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पना॥

इत्यत्र। *प्रतिपादितं चैतदिति*। चशब्दोऽपिशब्दार्थे भिन्नक्रमः। एतदपि प्रतिपादितं 'भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवदि'त्यत्र। *अतथास्थि-तानपि बहिस्तथासंस्थितानिवेति*। इवशब्देन एकतरत्र विश्रान्तियोगाभावादेव सुतरां विचित्ररूपानित्यर्थः। *हृदय इति*। प्रधानतमे समस्तभावकनकनिकष-स्थान इत्यर्थः। *निवेशयति* यस्य यस्य हृदयमस्ति, तस्य तस्य अचलतया तत्र स्थापयतीत्यर्थः। अतएव ते प्रसिद्धार्थेभ्योऽन्य एवेत्यर्थविशेषास्सम्पद्यन्ते।

उस (ध्वनि) के जो प्रभेद हैं और स्वगत जो प्रभेद हैं उनका आनन्त्य परस्पर सम्बन्ध की परिकल्पना है॥

इसमें। और'''प्रतिपादित किया है—। 'और' शब्द 'भी' शब्द के अर्थ में क्रम को भिन्न (करके पठनीय है)। इसे भी प्रतिपादन किया है—अचेतन भावों को भी चेतन की भांति, चेतन (भावों को) अचेतन की भाँति—इस स्थल में। इस प्रकार नहीं स्थित हुए भी बाहर उस प्रकार पूर्ण स्थित जैसे—। 'जैसे' शब्द से एक स्थान पर विश्राम के न मिलने के कारण ही पूर्णरूपेण विचित्र रूप वाले—यह अर्थ है। हृदय में—। प्रधानतम अर्थात् सम्पूर्ण भाव (वर्णनीय अर्थ) रूपी सोने की कसौटी रूप (हृदय में)। निवेश कर देती है—अर्थात् जिस जिसका हृदय है, उस उसके अचल रूप से वहां स्थापित कर देती है। अतएव वे पदार्थ (अर्थविशेष) प्रसिद्ध अर्थों से

ध्वन्यालोकः

अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी ॥ इति छाया ।]

तदित्थं रसभावाद्याश्रयेण काव्यार्थानामानन्त्यं सुप्रतिपादितम् । एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

न भी स्थित पदार्थों को हृदय में उस प्रकार (रमणीय रूप में) स्थित जैसे निवेश कर देती है ।'

तो इस प्रकार रस, भाव आदि के आश्रय से काव्यार्थों का आनन्त्य सुष्ठु प्रतिपादित हुआ । इसे ही उपपादन के लिए कहते हैं—

लोचनम्

हृदयनिविष्टा एव च तथा भवन्ति नान्यथेत्यर्थः । *सा जयति* परिच्छिन्नशक्तिभ्यः प्रजापतिभ्योऽप्युत्कर्षेण वर्तते । तत्प्रसादादेव कविगोचरो वर्णनीयोऽर्थो विकटो निस्सीमा सम्पद्यते ॥ ३ ॥

प्रतिभानां वाणीनाञ्चानन्त्यं ध्वनिकृतमिति यदनुद्भिन्नमुक्तं, तदेव कारिकया भङ्ग्या निरूप्यत इत्याह—*उपपादयितुमिति* । उपपत्त्या निरूपयितुमित्यर्थः । यद्यप्यर्थानन्त्यमात्रे हेतुवृत्तिकारेणोक्तः, तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति भावः । यदि वा उच्यते संग्रहश्लोकोऽयमिति भावः । अत एवास्य श्लोकस्य वृत्तिग्रन्थे व्याख्यानं न कृतम् ।

अन्य (भिन्न) ही हो जाते हैं । अर्थात् हृदय में निवेश पाकर ही उस प्रकार हो जाते हैं अन्यथा नहीं । सबसे बढ़ कर है—। सीमित (परिच्छिन्न) शक्ति वाले प्रजापतियों से भी बढ़ कर है । उसके प्रसाद से ही कवि की दृष्टि में आया हुआ वर्णनीय अर्थ विकट अर्थात् सीमारहित हो जाता है ।

प्रतिभाओं का और वाणियों का आनन्त्य ध्वनि द्वारा होता है, यह जो अस्पष्ट कहा है उसे ही कारिका द्वारा ढंग (भङ्गी) से निरूपित करते हैं, यह कहते हैं—उपपादन करने लिए—। अर्थात् उपपत्ति द्वारा निरूपण करने के लिए । भाव यह कि यद्यपि अर्थ के आनन्त्य में हेतु को वृत्तिकार ने कहा है तथापि कारिकाकार ने (इसे) नहीं कहा है । अथवा यदि कहते हैं तो सङ्ग्रह श्लोक यह है, यह भाव है । अतएव इस श्लोक का वृत्तिग्रन्थ में व्याख्यान नहीं किया है ।'

१ कारिकाओं में कारिकाकार ने ध्वनि के कारण प्रतिभा और कवि की वाणी के आनन्त्य का निर्देश किया था, किन्तु अर्थ के आनन्त्य के सम्बन्ध में कारिकाकार का निर्देश नहीं है, इसे वृत्तिकार ने ३।३ कारिका के व्याख्यान में कहा है । ऐसी स्थिति में, आगे वाली कारिका ३।४ जब अर्थ के आनन्त्य के सम्बन्ध का निर्देश करती है तो यह बात संगत प्रतीत नहीं होती । पीछे की कारिकाओं में, जहाँ प्रतिभा और वाणी के आनन्त्य की प्रतिज्ञा की है वहीं अर्थ के आनन्त्य की भी प्रतिज्ञा करनी चाहिए थी । अतएव लोचनकार ने अपना अन्तिम मत यह दिया कि दृष्टपूर्वा० (३।४) यह वृत्तिकार का 'संग्रहश्लोक' है, इस बात को उपपन्न करने के लिए लोचनकार का यह

ध्वन्यालोकः

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ ४॥

तथा हि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रकारसमाश्रयेण नवत्वम्। यथा—'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' इत्यादेः।

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रते भुवम्॥

इत्यादिषु सत्स्वपि। तस्यैवार्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यसमाश्रयेण नवत्वम्। यथा—'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि श्लोकस्य।

पहले देखे हुए भी अर्थ काव्य में रस के परिग्रह से सब नवीन जैसे लगते हैं, वसन्त-मास में जैसे वृक्ष॥ ४॥

जैसा कि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का, शब्द की शक्ति से उत्पन्न हुए अनुरणन रूप व्यङ्ग्य के समाश्रयण से नवत्व है, जैसे—'पृथ्वी के धारण के लिए इस समय तुम शेष हो' इत्यादि का,।

'शेष (शेष नाग), हिमालय और तुम (तीनों) महान्, भारी और स्थिर हो, जो कि नहीं लंघित है मर्यादा जिनकी (ऐसे तीनों) चलती हुई पृथ्वी को धारण करते हैं।'

इत्यादि (श्लोकों के) होने पर भी। उस (विवक्षितान्यपरवाच्य) का ही अर्थ-शक्ति से उत्पन्न अनुरणन रूप व्यङ्ग्य के समाश्रयण से नवत्व है, जैसे—'देवर्षि के इस प्रकार कहने पर।' इत्यादि का।

लोचनम्

दृष्टपूर्वा इति। बहिः प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः प्राक्तनैश्च कविभिरित्युभयथा

पहले से देखे गए—। बाहर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से और प्राचीन कवियों द्वारा इस उभय प्रकार से (अर्थ को) ले जाना चाहिए। काव्य मधुमास के स्थान पर है,

---

तर्क भी है कि इस श्लोक का वृत्तिग्रन्थ में व्याख्यान नहीं है। इस श्लोक को कारिका माना जाय या संग्रह श्लोक, इसका निर्णय जब प्रमाणभूत आचार्य लोचनकार अभिनवगुप्त 'संग्रह श्लोक' के पक्ष में दे रहे हैं तब भी ध्वन्यालोक के पूर्व के अनेक संस्करणों में इस श्लोक को कारिका के रूप में ही सम्पादनकर्ताओं ने छापा है! ऐसा करने का तात्पर्य यही हो सकता है कि कारिका के रूप में यह श्लोक बहुत प्राचीन काल से. अभिनवगुप्त के युग से ही जब माना जाता है, तभी तो इसे 'संग्रह श्लोक' माना जाय यह अभिनवगुप्त का युक्तिसंगत पक्ष विचारणीय होगा, अन्यथा इसे 'संग्रहश्लोक' स्वीकार कर लेने पर 'लोचन' के वक्तव्य के निर्मूल हो जाने की स्थिति उत्पन्न होगी,

ध्वन्यालोकः

कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः ।
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः ॥

इत्यादिषु सत्सु अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविप्रौढोक्तिनिर्मितशरीरत्वेन नवत्वम् । यथा—'सज्जेइ सुरहिमासो' इत्यादेः ।

सुरभिसमये प्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः ।
रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकारकलिकाभिः ॥

इत्यादिषु सत्स्वप्यपूर्वत्वमेव ।

'वरके सम्बन्ध में बातचीत की जाने पर रोमाञ्च के उद्गमों द्वारा भीतर की लज्जा से झुके हुए मुखों वाली क्वारियां अभिलाष को सूचित करती हैं ।'

इत्यादि श्लोकों के होने पर (भी) । अर्थ शक्ति से उत्पन्न अनुरणन रूप व्यङ्ग्य का, कवि की प्रौढ़ोक्ति से निष्पन्नशरीर होने के कारण नवत्व है, जैसे—'वसन्तमास सजाता है ।' इत्यादि का ।

वसन्तमास के प्रवृत्त होने पर रागियों (प्रणयिजनों) की उत्कलिकाएं (उत्कण्ठाएं) आमों की कलिकाओं के साथ ही प्रादुर्भूत हो जाती हैं ।

इत्यादि श्लोकों के होने पर भो अपूर्वत्व ही है ।

लोचनम्

नेयम् । काव्यं मधुमांसस्थानीयम् , *स्पृहां लज्जामिति*, *रागवतामुत्कलिका* इति च । शब्दस्पृष्टेऽर्थे का हृद्यता ।

एतानि चोदाहरणानि वितत्य पूर्वमेव व्याख्यातानीति किं पुनरुक्त्या सत्यपि प्राक्तनकविस्पृष्टत्वे नूतनत्वं भवत्येवैतत्प्रकारानुग्रहादित्येतावति तात्पर्यं हि ग्रन्थस्याधिकन्नान्यत् । करिणीवैधव्यकरो मम पुत्रः एकेन काण्डेन विनि-

'स्पृहा', 'लज्जा' और 'राग वालों की उत्कलिका (उत्कण्ठा)' इस प्रकार शब्द द्वारा स्पष्ट अर्थ में क्या हृद्यता (मनोहरता) होगी ?

इन उदाहरणों की विस्तार करके पहले ही व्याख्या हो चुकी है, पुनः कथन से क्या (लाभ) ? प्राचीन कवि द्वारा स्पृष्ट होने पर भी इस प्रकार के अनुग्रह से नूतनता होती ही है, इतने में ही ग्रन्थ का तात्पर्य है, दूसरा नहीं । 'हथिनी को विधवा बना देने वाला मेरा पुत्र एक बाण से गिरा देने में समर्थ है, मुई पतोहू ने ऐसा कर डाला

जो किसी प्रकार ठीक नहीं । अतएव प्रस्तुत संस्करण में मैंने इस श्लोक को कारिकाओं के क्रम में मोटे टाइप से छाप करके भी संख्या नहीं दी है, जिससे इसके सम्बन्ध में अध्ययन करने वालों की जिज्ञासा पढ़ते ही उत्पन्न हो ।

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्र-निष्पन्नशरीरत्वेन नवत्वम्। यथा—'वाणिअअ हत्थिदन्ता' इत्यादिगाथार्थस्य।

करिणीवेहव्वअरो मह पुत्तो एक्ककाण्डविणिवाइ।
हअसोन्हाएँ तह कहो जह कण्डकरण्डअं वहइ॥
[करिणीवैधव्यकरो मम पुत्र एकक्काण्डविनिपाती।
हतस्नुषया तथा कृतो यथा काण्डकरण्डकं वहति॥ इतिच्छाया]
एवमादिष्वर्थेषु सत्स्वप्यनालीढतैव।

यथा व्यङ्ग्यभेदसमाश्रयेण ध्वनेः काव्यार्थानां नवत्वमुत्पद्यते, तथा व्यञ्जकभेदसमाश्रयेणापि। तत्तु ग्रन्थविस्तरभयान्न लिख्यते, स्वयमेव सहृदयैरभ्यूह्यम्। अत्र च पुनःपुनरुक्तमपि सारतयेदमुच्यते—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥ ५॥

अस्मिन्नर्थानन्त्यहेतौ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे विचित्रे शब्दानां सम्भव-

अर्थशक्ति से उत्पन्न अनुरणन रूप व्यङ्ग्य का, कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति मात्र से निष्पन्नशरीर होने के कारण नवत्व है जैसे—'ओ व्यापारी, हाथी के दांत' इत्यादि गाथा के अर्थ का।

इत्यादि अर्थों के होने पर भी अस्पृष्टत्व (अनालीढत्व) है॥ ४॥

जैसे ध्वनि के व्यङ्ग्य भेद के समाश्रयण से काव्यार्थों का नवत्व उत्पन्न होता है, उसी प्रकार व्यञ्जक भेद के समाश्रयण से भी। किन्तु उसे ग्रन्थ के विस्तृत हो जाने के भय से नहीं लिखते हैं, स्वयं ही सहृदय लोग ऊह कर लेंगे। और यहाँ, बार-बार भी उक्त इसे सार रूप से यह कहते हैं—

इस व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव के बहुत प्रकार के सम्भव होने पर भी कवि रसादि रूप अर्थ में सावधान हो।

अर्थ के आनन्त्य के हेतु, व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव के विचित्र होने पर भी अपूर्व अर्थ के

लोचनम्

पातनसमर्थः हतस्नुषया तथा कृतो यथा काण्डकरणकं वहतीत्युत्तान एवायमर्थः, गाथार्थस्यानालीढतैवेति सम्बन्धः॥ ४॥

है कि वाणों का करण्ड (तरकस) लिए रहता है। यह सीधा ही अर्थ है। सम्बन्ध यह कि गाथा के अर्थ का अस्पृष्टत्व (अनालीढत्व है)॥ ४॥

ध्वन्यालोकः

त्यपि कविरपूर्वार्थलाभार्थी रसादिमय एकस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे यत्नादवदधीत। रसभावतदाभासरूपे हि व्यङ्ग्ये तद्व्यञ्जकेषु च यथानिर्दिष्टेषु वर्णपदवाक्यरचनाप्रबन्धेष्ववहितमनसः कवेः सर्वमपूर्वं काव्यं सम्पद्यते। तथा च रामायणमहाभारतादिषु सङ्ग्रामादयः पुनःपुनरभिहिता अपि नवनवाः प्रकाशन्ते। प्रबन्धे चाङ्गी रस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थविशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णाति। कस्मिन्निवेति चेत्—यथा रामायणे यथा वा महाभारते। रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता। महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं

लाभ का इच्छुक कवि रसादिमय एक व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव में यत्नपूर्वक ध्यान दे। क्योंकि रस, भाव, रसाभास, भावाभास रूप व्यङ्ग्य में और व्यञ्जकों में जैसे निर्देश किए गए वर्ण, पद, वाक्य, रचना और प्रबन्धों में अवधानयुक्त मन वाले कवि का पूरा काव्य अपूर्व (नवीन) बन जाता है। जैसा कि रामायण, महाभारत आदि (काव्यों) में सङ्ग्राम आदि बार-बार कहे जाने पर भी नये-नये होकर प्रकाशित होते हैं। और प्रबन्ध (काव्य) में अङ्गी रस एक ही उपनिबध्यमान होकर अर्थविशेष के लाभ को और शोभातिशय को बढ़ाता है। किस प्रबन्ध के समान ? ऐसा (पूछने) पर तो—जैसे, रामायण में अथवा जैसे महाभारत में। जैसा कि रामायण में करुग रस को स्वयं आदिकवि (वाल्मीकि) ने सम्यक् प्रकार से निर्देश किया है, 'शोक ही श्लोकत्व को प्राप्त हो गया, इस प्रकार कहते हुए। और उन्होंने ही सीता के अत्यन्त वियोग तक अपने प्रबन्ध को बनाते हुए करुण रस का निर्वाह किया है। शास्त्र और काव्य की छाया से युक्त महाभारत में भी वृष्णियों (यादवों) और पाण्डवों के रसहीन अवसान में वैमनस्य (निर्वेद) उत्पन्न कर देने वाली समाप्ति का उपनिबन्धन करते हुए महामुनि

लोचनम्

अत्यन्तग्रहणेन निरपेक्षभावतया विप्रलम्भाशङ्कां परिहरति। वृष्णीनां परस्परक्षयः, पाण्डवानामपि महापथक्लेशेनानुचिता विपत्तिः, कृष्णस्यापि

'अत्यन्त' के ग्रहण से, (करुण रस के निरपेक्ष भाव) होने के कारण विप्रलम्भ (शृङ्गार) की आशङ्का का परिहार करते हैं। वृष्णियों का परस्पर क्षय, पाण्डवों की

ध्वन्यालोकः

प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः। एतच्चांशेन विवृतमेवान्यैर्व्याख्याविधायिभिः। स्वयमेव चैतदुद्गीर्णं तेनोदीर्णमहामोहमग्नमुज्जिहीर्षता लोकमतिविमलज्ञानालोकदायिना लोकनाथेन—

यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥

(व्यास) ने वैराग्य के जनन रूप तात्पर्य को प्रधान रूप से अपने प्रबन्ध का दिखाते हुए, मोक्ष रूप मुख्यार्थ को और शान्त रस को मुख्यतः विवक्षा के विषय के रूप में सूचित किया है। और इसे अंश रूप से अन्य व्याख्याकारों ने स्पष्ट किया ही है। स्वयं ही उन्होंने भारी मोह में पड़े हुए संसार के उद्धार की इच्छा करते हुए, अत्यन्त निर्मल ज्ञान के प्रकाश को देने वाले, संसार के नाथ (स्वामी) उन्होंने इसे कहा है—

जैसे-जैसे लोक-प्रपञ्च असार विपरीत रूप में प्रतीत होता जाता है, वैसे-वैसे यहाँ विराग उत्पन्न होता जाता है, इसमें सन्देह नहीं।

लोचनम्

व्याधाद्विध्वंस इति सर्वस्यापि विरसमेवावसानमिति। *मुख्यतयेति*। यद्यपि 'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे चे'त्युक्तं, तथापि चत्वारश्चकारा एवमाहुः—यद्यपि धर्मार्थकामानां सर्वस्वं तादृङ्नास्ति यदन्यत्र न विद्यते, तथापि पर्यन्तविरसत्वमत्रैवावलोक्यताम्। मोक्षे तु यद्रूपं तस्य सारतात्रैव विचार्यतामिति।

यथा यथेति। लोकैस्तन्त्र्यमाणं यत्नेन सम्पाद्यमानन्धर्मार्थकामतत्साधनलक्षणं वस्तुभूततयाभिमतमपि। येन येनार्जनरक्षणक्षयादिना प्रकारेण। असारवत्तुच्छेन्द्रजालादिवत्। *विपर्येति*। प्रत्युत विपरीतं सम्पद्यते। आस्तान्तस्य स्वरूपचिन्तेत्यर्थः। तेन तेन प्रकारेण अत्र लोकतन्त्रे। *विरागो जायत*। इत्यनेन

भी महापथ के क्लेश के कारण अनुचित विपत्ति, कृष्ण का भी बहेलिया से विनाश, इस प्रकार सभी का रसहीन ही अवसान है। मुख्य रूप से—। यद्यपि 'और धर्म में, और अर्थ में, और काम में और मोक्ष में' यह कहा है, तथापि चार (बार प्रयुक्त) 'और' ('चकार') इस प्रकार कहते हैं—यद्यपि धर्म, अर्थ और काम का प्रधान स्वरूप (सर्वस्व) उस प्रकार का नहीं है जो अन्यत्र नहीं है, तथापि परिणाम में विरसत्व को यहीं देखिए। मोक्ष में तो जो स्थिति है उसकी सारता (महत्त्व) यहीं विचारणीय है।

जैसे-जैसे—। जैसे-जैसे लोगों द्वारा तन्त्र्यमाण यत्न से सम्पाद्यमान धर्म, अर्थ, काम और उनके साधन रूप वस्तु रूप में अभिमत भी। जिस-जिस अर्जन, रक्षण और क्षय (नाश) आदि प्रकार से। असार अर्थात् तुच्छ इन्द्रजाल आदि की भांति।

ध्वन्यालोकः

इत्यादि बहुशः कथयता। ततश्च शान्तो रसो रसान्तरैर्मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इति महाभारततात्पर्यं सुव्यक्तमेवावभासते। अङ्गाङ्गिभावश्च यथा रसानां तथा प्रतिपादितमेव।

पारमार्थिकान्तस्तत्त्वानपेक्षया शरीरस्येवाङ्गभूतस्य रसस्य पुरुषार्थस्य च स्वप्राधान्येन चारुत्वमप्यविरुद्धम्। ननु महाभारते यावान्विवक्षाविषयः सोऽनुक्रमण्यां सर्व एवानुक्रान्तो न चैतत्तत्र दृश्यते, प्रत्युत सर्वपुरुषार्थप्रबोधहेतुत्वं सर्वरसगर्भत्वं च महाभारतस्य तस्मिन्नुद्देशे स्वशब्दनिवेदितत्वेन प्रतीयते। अत्रोच्यते—सत्यं शान्तस्यैव रसस्या-

इत्यादि बहुत प्रकार से कहते हुए। और इसलिए शान्त रस दूसरे रसों से, मोक्ष रूप पुरुषार्थ दूसरे पुरुषार्थों से, उन्हें उपसर्जन कर देने के कारण अङ्गी होकर विवक्षा का विषय है, यह महाभारत का तात्पर्य बिलकुल साफ ही अवभासित होता है। अङ्गाङ्गिभाव जैसा कि रसों का होता है, उस प्रकार प्रतिपादित किया ही गया है।

पारमार्थिक आभ्यन्तर तत्त्व (आत्मा) की अपेक्षा न करके शरीर की भाँति अङ्ग रूप रस का और पुरुषार्थ का अपने प्राधान्य से चारुत्व भी अविरुद्ध है। (शङ्का) महाभारत में तो जितना कुछ विवक्षा का विषय है वह अनुक्रमणी में सब कुछ ही अनुक्रान्त (निर्दिष्ट) है, किन्तु यह देखा जाता है, प्रत्युत सब पुरुषार्थों के ज्ञान का हेतुत्व और सर्वरसगर्भत्व महाभारत के उस उद्देश (प्रकरण) में अपने शब्द द्वारा निवेदित होने के रूप में प्रतीत होता है। (समाधान) यहाँ

लोचनम्

तत्त्वज्ञानोत्थितं निर्वेदं शान्तरसस्थायिनं सूचयता तस्यैव च सर्वेतरासारत्वप्रतिपादनेन प्राधान्यमुक्तम्।

ननु शृङ्गारवीरादिचमत्कारोऽपि तत्र भातीत्याशङ्क्याह—*पारमार्थिकेति*। भोगाभिनिवेशिनां लोकवासनाविष्टानामङ्गभूतेऽपि रसे तथाभिमानः, यथा

विपरीत रूप में हो जाता है—। इससे तत्त्वज्ञान से उत्पन्न, शान्त रस के स्थायी निर्वेद को सूचित करते हुए और उसीका ही सब दूसरों की असारता (तुच्छता) के प्रतिपादन से प्राधान्य कहा है।

शृङ्गार, वीर आदि (रसों) का भी चमत्कार वहाँ प्रतीत होता है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—**पारमार्थिक**—। भोग (इन्द्रियजन्य सुख) में अभिनिवेश रखने वालों

ध्वन्यालोकः

ङ्गित्वं महाभारते मोक्षस्य च सर्वपुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यमित्येतन्न स्वशब्दाभिधेयत्वेनानुक्रमण्या दर्शितम्, दर्शितं तु व्यङ्ग्यत्वेन—

'भगवान्वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः'

इत्यस्मिन् वाक्ये। अनेन ह्ययमर्थो व्यङ्ग्यत्वेन विवक्षितो यदत्र महाभारते पाण्डवादिचरितं यत्कीर्त्यते तत्सर्वमवसानविरसमविद्याप्रपञ्चरूपश्च, परमार्थसत्यस्वरूपस्तु भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते। तस्मात्तस्मिन्नेव परमेश्वरे भगवति भवत भावितचेतसो, मा भूत विभूतिषु निःसारासु रागिणो गुणेषु वा नयविनयपराक्रमादिष्वमीषु केवलेषु केषुचित्सर्वात्मना प्रतिनिविष्टधियः। तथा चाग्रे—पश्यत निःसारतां संसारस्येत्यमुमेवार्थं द्योतयन् स्फुटमेवावभासते व्यञ्जकशक्त्यनुगृहीतश्च

यह कहते हैं—ठीक है, महाभारत में शान्त रस का ही अङ्गित्व और मोक्ष का सब पुरुषार्थों से प्राधान्य, यह अपने शब्द द्वारा अभिधेय रूप में अनुक्रमणी में नहीं दिखाया है, किन्तु व्यङ्ग्य के रूप में दिखाया है—

'और सनातन भगवान् वासुदेव की यहाँ कीर्ति गाई गई है।' इस वाक्य में। इससे यह अर्थ व्यङ्ग्य रूप में विवक्षित है कि यहां महाभारत में पाण्डवादिचरित जो कीर्तित हैं वह सब अवसान में रसहीन और अविद्या के कारण प्रपंच रूप हैं, किन्तु परमार्थ-सत्यस्वरूप भगवान् वासुदेव की यहां कीर्ति गाई गई है। इसलिए उसी परमेश्वर भगवान् में भावभरे चित्त वाले बनो, सारहीन विभूतियों में रागयुक्त, अथवा नय, विनय, पराक्रम आदि इन केवल किन्हीं गुणों में सब प्रकार से अभिनिवेश प्राप्त बुद्धि से युक्त मत हो। और वैसे आगे—'संसार की सारहीनता देखो।' इसी अर्थ को द्योतित करता हुआ स्पष्ट ही व्यञ्जकशक्ति से अनुगृहीत शब्द प्रतीत

लोचनम्

शरीरे प्रमातृत्वाभिमानः प्रमातुर्भोगायतनमात्रेऽपि। *केवलेष्विति*। परमेश्वरभक्त्युपकरणेषु तु न दोष इत्यर्थः। विभूतिषु रागिणो गुणेषु च निविष्टधियो मा भूतेति सम्बन्धः। *अग्र इति*। अनुक्रमण्यनन्तरं यो भारतग्रन्थः तत्रेत्यर्थः।

एवं संसार की वासना में आविष्ट (लोगों) का अङ्गरूप भी उस रस में उस प्रकार का अभिमान (मान्यता) होता है, जैसे भोग के आयतन मात्र शरीर में प्रमाता का प्रमातृत्व का अभिमान होता है। केवल—। अर्थात् किन्तु परमेश्वर की भक्ति के उपकरणों में तो दोष नहीं है। विभूतियों (ऐश्वर्यों) में रागयुक्त और गुणों में अभिनिवेश बुद्धि वाले मत बनो, यह सम्बन्ध है। आगे—। अर्थात् अनुक्रमणी के बाद जो भारत ग्रन्थ

ध्वन्यालोकः

शब्दः। एवंविधमेवार्थं गर्भीकृतं सन्दर्शयन्तोऽनन्तरश्लोका लक्ष्यन्ते—'स हि सत्यम्' इत्यादयः।

अयं च निगूढरमणीयोऽर्थो महाभारतावसाने हरिवंशवर्णनेन समाप्तिं विदधता तेनैव कविवेधसा कृष्णद्वैपायनेन सम्यक्स्फुटीकृतः। अनेन चार्थेन संसारातीते तत्त्वान्तरे भक्त्यतिशयं प्रवर्तयता सकल एव सांसारिको व्यवहारः पूर्वपक्षीकृतो न्यक्षेण प्रकाशते। देवतातीर्थतपःप्रभृतीनां च प्रभावातिशयवर्णनं तस्यैव परब्रह्मणः प्राप्त्युपायत्वेन तद्विभूतित्वेनैव देवताविशेषाणामन्येषां च। पाण्डवादिचरितवर्णनस्यापि वैराग्यजननतात्पर्याद्वैराग्यस्य च मोक्षमूलत्वान्मोक्षस्य च भगवत्प्राप्त्युपायत्वेन मुख्यतया गीतादिषु प्रदर्शितत्वात्परब्रह्मप्राप्त्युपायत्वमेव परम्परया। वासुदेवादिसञ्ज्ञाभिधेयत्वेन चापरिमितशक्त्या-

होता है। बाद के श्लोक इसी प्रकार के गर्भीकृत अर्थ को सम्यक निर्देश करते हुए मालूम पड़ते हैं—'क्योंकि वह सत्य है०' इत्यादि।

और यह निगूढ़ एवं रमणीय अर्थ—महाभारत के अन्त में हरिवंशवर्णन से समाप्ति करते हुए उसी कविवेधा कृष्णद्वैपायन (व्यास) ने सम्यक् प्रकार से स्पष्ट कर दिया है। और इस अर्थ से अलौकिक तत्त्वान्तर में अधिक भक्ति को प्रवृत्त करते हुए सारा ही सांसारिक व्यवहार पूर्वपक्षीकृत होकर पूर्ण रूप से प्रकाशित है। और देवताओं, तीर्थों, तपों आदि का एवं उस (परब्रह्म) की विभूति के रूप में देवता विशेष और अन्य के अतिशय प्रभाव का वर्णन उसी पर ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय के रूप में है। पाण्डव आदि के चरित के वर्णन का भी तात्पर्य वैराग्य का जनन होने से और वैराग्य का मूल मोक्ष के होने से, और मोक्ष का भगवान् की प्राप्ति के उपाय होने से मुख्य रूप से गीता आदि ग्रन्थों में प्रदर्शित होने के कारण परम्परया (पाण्डवादि चरित का वर्णन) परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय ही है। और वासुदेव आदि संज्ञाओं द्वारा अभिधेय होने के कारण अपरिमित शक्ति का प्रतिष्ठान, परात्पर

लोचनम्

ननु वसुदेवापत्यं वासुदेव इत्युच्यते, न परमेश्वरः परमात्मा महादेव इत्याशङ्क्याह—*वासुदेवादिसंज्ञाभिधेयत्वेनेति*।

है वहां वसुदेव का अपत्य (सन्तान) 'वासुदेव' कहा जाता है, न कि परमेश्वर, परमेश्वर, महादेव ?, यह आशङ्का करके कहते हैं—'वासुदेव' आदि संज्ञाओं द्वारा अभिधेय होने के कारण—।

ध्वन्यालोकः

स्पदं परं ब्रह्म गीतादिप्रदेशान्तरेषु तदभिधानत्वेन लब्धप्रसिद्धि माथुरप्रादुर्भावानुकृतसकलस्वरूपं विवक्षितं न तु माथुरप्रादुर्भावांश एव, सनातनशब्दविशेषितत्वात्। रामायणादिषु चानया सञ्ज्ञया भगवन्मूर्त्यन्तरे व्यवहारदर्शनात्। निर्णीतश्चायमर्थः शब्दतत्त्वविद्भिरेव।

ब्रह्म गीता आदि दूसरे स्थानों में उसी संज्ञा से उसके प्रसिद्ध होने के कारण, मथुरा में प्रादुर्भाव के अवसर में प्राप्त समग्र स्वरूप युक्त विवक्षित है न कि मथुरा में प्रादुर्भाव (प्राप्त हुए कृष्ण) का अंशमात्र (विवक्षित है); क्योंकि (महाभारत के उपर्युक्त पद्यांश में) 'सनातन' इस विशेषण रूप शब्द से विशेषित हैं। और रामायण आदि में इस संज्ञा से भगवान् की अन्य मूर्ति (के विषय) में व्यवहार देखा जाता है। और इस अर्थ का निर्णय शब्दतत्त्ववेत्ताओं ने ही किया है।

लोचनम्

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वम्……।

इत्यादौ अंशिरूपमेवत्संज्ञाभिधेयमिति निर्णीतं तात्पर्यम्। *निर्णीतश्चेति*। शब्दा हि नित्या एव सन्तोऽनन्तरं काकतालीयवशात्तथा सङ्केतिता इत्युक्तम्—'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्चे'त्यत्र।

'बहुत जन्मों के बाद ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है।
वासुदेव सब कुछ हैं—' (गीता ७।१९)

इत्यादि में 'अंशीरूप (पर ब्रह्म) इस संज्ञा का अभिधेय है' यह तात्पर्य निर्णय किया है। और निर्णय किया है—'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इस (पाणिनिसूत्र) पर (काशिकाकार ने) कहा है कि शब्द नित्य ही होते हैं, बाद में काकतालीयवश उस प्रकार सङ्केतित हो जाते हैं।'

---

१ प्रश्न है कि जब 'वासुदेव' आदि संज्ञाएँ किसी समय मथुरा में प्रादुर्भूत वसुदेव के अपत्य रूप श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में प्रयुक्त हैं ऐसी स्थिति में अंशी परब्रह्म के अर्थ में उनके प्रयोग का कोई प्रामाणिक संकेत होना चाहिए। इसके समाधान में आनन्दवर्धन ने 'गीता' आदि में भी इस संज्ञा का अंशीभूत पारमार्थिक तत्त्व परब्रह्म में ही संकेत का निर्देश किया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (गीता ७।१९)

यहाँ 'वासुदेव सब कुछ है' यह कहते हुए 'वासुदेव' का अभिधेय परब्रह्म ही निर्णय किया है। जैसा कि आचार्य आनन्दवर्धन ने इस सम्बन्ध में शब्दतत्त्ववेत्ताओं का स्मरण किया है, लोचनकार ने काशिकाकार के वचन को उद्धृत किया है। उसका तात्पर्य यह है सभी शब्द नित्य होते हैं, किन्तु जब उनका किसी देश या काल से सम्बद्ध अनित्य वस्तु के लिए प्रयोग करते हैं तो उन्हें काकतालीयवश (आकस्मिकता से, घटनावश) उन अर्थों में सङ्केतित समझना चाहिए। प्रस्तुत में

ध्वन्यालोकः

तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्व्यतिरेकिणः सर्वस्यान्यस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्। अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यङ्ग्यत्वेनैव दर्शितो न तु वाच्यत्वेन। सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न

तो, इस प्रकार भगवान् के अतिरिक्त सबकी अनित्यता को प्रकाशित करते हुए अनुक्रमणी में निर्दिष्ट वाक्य से मोक्ष रूप ही एक अन्तिम पुरुषार्थ शास्त्रदृष्टि से (विवक्षित है) और काव्यदृष्टि से तृष्णा के क्षय से (उत्पन्न) सुख का परिपोष (वृद्धि) रूप शान्त रस महाभारत के अङ्गी के रूप में विवक्षित है, यह प्रतिपादन किया। और अत्यन्त सारभूत होने के कारण यह अर्थ व्यङ्ग्य रूप से ही दिखाया गया है, न कि वाच्य रूप से। क्योंकि सारभूत अर्थ अपने शब्द से अनभिधेय रूप से प्रकाशित (होकर) सुतरां ही शोभा प्राप्त करता है। और, विदग्धों, विद्वानों की परिषदों में यह प्रसिद्धि है ही कि अभिमततर (प्रियतर) वस्तु को व्यङ्ग्य

लोचनम्

शास्त्रनय इति। तत्रास्वादयोगाभावे पुरुषेणार्थ्यत इत्ययमेव व्यपदेशः सादरः, चमत्कारयोगे तु रसव्यपदेश इति भावः। एतच्च ग्रन्थकारेण तत्त्वालोके वितत्योक्तमिह त्वस्य न मुख्योऽवसर इति नास्माभिस्तद्दर्शितम्। *सुतरामेवेति*। यदुक्तं तत्र हेतुमाह—*प्रसिद्धिश्चेति*। चशब्दो यस्मादर्थे। यत इयं लौकिकी प्रसिद्धिरनादिस्ततो भगवद्व्यासप्रभृतीनामप्ययमेवास्वशब्दाभिधाने

शास्त्रदृष्टि से—। भाव यह कि वहां आस्वाद के सम्बन्ध के अभाव में पुरुष द्वारा अर्थित होता है यही व्यपदेश आदरयुक्त है, चमत्कार के योग (सम्बन्ध) में तो रस का व्यपदेश है। और इसे ग्रन्थकार ने तत्त्वालोक में विस्तार करके कहा है यहां तो इसका मुख्य अवसर नहीं है अतः हमने नहीं दिखाया है। सुतरां ही—। यह जो कहा है वहाँ हेतु कहते हैं—और प्रसिद्धि है ही। 'और' ('च') शब्द 'जिस कारण' के

'वासुदेव' यह संज्ञा शब्द सनातन परब्रह्म का ही हमेशा से सूचक होता चला आ रहा था कि अकस्मात् मथुरा में प्रादुर्भूत अंशभूत वसुदेवपुत्र भगवान् कृष्ण के लिए भी प्रयुक्त होने लगा।

इसी प्रकार महाभाष्य के टीकाकार 'कैयट' ने भी उपर्युक्त पाणिनि-सूत्र पर ही यह लिखा है—

'कथं पुनः नित्यानां शब्दानां अनित्यान्धकादिवंशाश्रयेणान्वाख्यानं युज्यते? अत्र समाधिः। त्रिपुरुषानूकं नाम कुर्यादिति न्यायेनान्धकादिवंशा अपि नित्या एव। अथवाऽनित्योपाश्रयेणापि नित्यान्वाख्यानं दृश्यते। यथा शकाश्रयेण कालस्य।'

ध्वन्यालोकः

साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन। तस्मात्स्थितमेतत्—अङ्गिभूतरसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवार्थलाभो भवति बन्धच्छाया च महती सम्पद्यत इति। अत एव च रसानुगुणार्थविशेषोपनिबन्धमलङ्कारान्तरविरहेऽपि छायातिशययोगि लक्ष्ये दृश्यते। यथा—

रूप से ही प्रकाशित किया जाता है न (कि) साक्षात् शब्द द्वारा वाच्य रूप से। अतः यह स्थिर हुआ—अङ्गिभूत रसादि के आश्रय से काव्य रचे जाने पर नये अर्थ का लाभ होता है और बन्ध की छाया (शोभा) अधिक (महती) होती है। और इसी लिए रस के अनुगुण (अनुरूप) अर्थ-विशेष का उपनिबन्ध अलङ्कारान्तर के अभाव में भी लक्ष्य (काव्य) में अतिशयशोभायुक्त देखा जाता है। जैसे—

लोचनम्

आशयः, अन्यथा हि क्रियाकारकसम्बन्धादौ 'नारायणं नमस्कृत्ये'त्यादिशब्दार्थनिरूपणे च तथाविध एव तस्य भगवत आशय इत्यत्र किं प्रमाणमिति भावः। विदग्धविद्वद्ग्रहणेन काव्यनये शास्त्रनय इति चानुसृतम्। रसादिमय एतस्मिन् कविः स्यादवधानवानिति यदुक्तं, तदेव प्रसङ्गागतभारतसम्बन्धनिरूपणानन्तरमुपसंहरति—*तस्मात्स्थितमिति*। अत इति। यत एवं स्थितमत एवेदमपि यल्लक्ष्ये दृश्यते, तदुपपन्नमन्यथा तदनुपपन्नमेव, न च तदनुपपन्नम्; चारुत्वेन प्रतीतेः। तस्याश्चैतदेव कारणं रसानुगुणार्थत्वमेवेत्याशयः। *अलङ्कारान्तरेति*। अन्तरशब्दो विशेषवाची। यदि वा दित्सिते उदाहरणे रसवदलङ्कारस्य विद्यमानत्वात्तदपेक्षयालङ्कारान्तरशब्दः।

अर्थ में। जिस कारण यह लौकिक प्रसिद्धि अनादि है उस कारण भगवान् व्यास प्रभृतियों का भी यही अपने शब्द से न कथन में आशय है, अन्यथा क्योंकि क्रिया-कारक सम्बन्ध आदि में 'नारायण को नमस्कार करके' इत्यादि शब्द के निरूपण में उस प्रकार का ही उन भगवान् का आशय है, यहां क्या प्रमाण है? यह भाव है। 'विदग्ध' और 'विद्वान्' के ग्रहण से काव्यदृष्टि से शास्त्रदृष्टि से इसका अनुसरण किया है। 'रसादिरूप इसमें कवि सावधान हो' यह जो कहा है उसे ही प्रसंग से प्राप्त 'भारत' के सम्बन्ध में निरूपण के बाद उपसंहार करते हैं—अतः यह स्थित हुआ—। इस कारण—। जिस कारण इस प्रकार स्थिर हुआ इस कारण ही यह भी लक्ष्य में देखा जाता है, वह संगत (उपपन्न) है, अन्यथा अनुपपन्न ही है, किन्तु वह अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि चारु रूप से प्रतीत होता है। अन्तर' शब्द विशेष का वाचक है। अथवा देने के लिए इच्छित उदाहरण में रसवदलङ्कार के विद्यमान होने के कारण उसकी अपेक्षा से 'अलङ्कारान्तर' शब्द है।

ध्वन्यालोकः

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः ।
येनैकचुलके दृष्टौ तौ दिव्यौ मत्स्यकच्छपौ ॥

इत्यादौ । अत्र ह्यद्भुतरसानुगुणमेकचुलके मत्स्यकच्छपदर्शनं छायातिशयं पुष्णाति । तत्र ह्येकचुलके सकलजलधिसन्निधानादपि दिव्यमत्स्यकच्छपदर्शनमक्षुण्णत्वादद्भुतरसानुगुणतरम् । क्षुण्णं हि वस्तु लोकप्रसिद्ध्याद्भुतमपि नाश्चर्यकारि भवति । न चाक्षुण्णं वस्तूपनिबध्यमानमद्भुतरसस्यैवानुगुणं यावद्रसान्तरस्यापि । तद्यथा—

योगियों में श्रेष्ठ, महात्मा अगस्त्य (कुम्भसम्भव) मुनि की जय हो, जिन्होंने एक चुल्लू में उन दिव्य मत्स्य और कच्छप को देख लिया ।

इत्यादि में । यहां अद्भुत रस के अनुकूल एक चुल्लू में मत्स्य और कच्छप का दर्शन अधिक शोभातिशय को पोषण करता है । वहां एक चुल्लू में पूरे समुद्र के सन्निधान से भी दिव्य मत्स्य और कच्छप का दर्शन क्षुण्ण (अभ्यस्त) न होने के कारण अद्भुत रस के अधिक अनुकूल है । क्योंकि अभ्यस्त वस्तु लोक की प्रसिद्धि के कारण अद्भुत भी (होकर) आश्चर्यकारी नहीं होती । और अनभ्यस्त वस्तु का उपनिबन्धन केवल अद्भुत रस के ही अनुकूल नहीं होता बल्कि दूसरे रस के भी । वह जैसे—

लोचनम्

ननु मत्स्यकच्छपदर्शनात्प्रतीयमानं यदेकचुलके जलनिधिसन्निधानं ततो मुनेर्माहात्म्यप्रतिपत्तिरिति न रसानुगुणेनार्थेन च्छायापोषितेत्याशङ्क्याह—*अत्र हीति*। नन्वेवं प्रतीयमानं जलनिधिदर्शनमेवाद्भुतानुगुणं भवत्विति रसानुगुणोऽत्र वाच्योऽर्थ इत्यस्मिन्नंशे कथमिदमुदाहरणमित्याशङ्क्याह—*तत्रेति* । *क्षुण्णं हीति* । पुनः पुनर्वर्णननिरूपणादिना यत्पिष्टपिष्टत्वादतिनिर्भिन्नस्वरूपमित्यर्थः । बहुतरलक्ष्यव्यापकञ्चैतदिति दर्शयति—*न चेत्यादिना* । रथ्या-

मत्स्य और कच्छप के दर्शन से प्रतीयमान जो एक चुल्लू में जलराशि का सन्निधान है उससे मुनि के माहात्म्य का ज्ञान होता है, न कि रस के अनुकूल अर्थ से शोभा (छाया) पोषित है, यह आशङ्का करके कहते हैं—यहां—। इस प्रकार प्रतीयमान जलराशि का दर्शन ही अद्भुत (रस) के अनुकूल हो, (इस प्रकार) 'रस के अनुकूल यहां वाच्य अर्थ है' इस अंश में, कैसे यह उदाहरण है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—वहां ।—क्योंकि अभ्यस्त—। अर्थात् बार-बार वर्णन (और) निरूपण आदि द्वारा जो पिष्ट-पिष्ट हो जाने से अत्यन्त निर्भिन्न-स्वरूप है । और यह बहुत लक्ष्यों में व्यापक है, यह दिखाते हैं—और अनभ्यस्त इत्यादि से । रथ्या

ध्वन्यालोकः

सिज्जइ रोमञ्चिज्जइ वेवइ रत्थातुलग्गपडिलग्गो ।
सोपासो अज्ज वि सुहअ जेणासि वोलीणो ॥

एतद्गाथार्थाद्भाव्यमानाद्या रसप्रतीतिर्भवति, सा त्वां स्पृष्ट्वा स्विद्यति रोमाञ्चते वेपते इत्येवंविधादर्थात्प्रतीयमानान्मनागपि नो जायते ।

तदेवं ध्वनिप्रभेदसमाश्रयेण यथा काव्यार्थानां नवत्वं जायते तथा प्रतिपादितम् । गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि त्रिभेदव्यङ्ग्यापेक्षया ये प्रकारा-

'हे सुभग, वह पार्श्वभाग, जो गली में (मेरी सखी का) तुमसे अनजाने में छू गया था और तुम चले गए थे, आज भी स्वेद, रोमाञ्च और कम्प से युक्त हो रहा है ।'

इस गाथा के भावित होते हुए अर्थ से जो रस की प्रतीति होती है वह 'तुम्हें देखकर पसीज जाती है, रोमाञ्चित हो जाती है, कांपने लगती है' इस प्रकार के प्रतीत हुए अर्थ से, थोड़ी भी नहीं उत्पन्न होती है ।

तो इस प्रकार ध्वनि-प्रभेद के समाश्रयण से जैसे काव्य के अर्थों का नवत्व हो जाता है उस प्रकार प्रतिपादन किया । गुणीभूतव्यङ्ग्य के भी तीन भेद वाले व्यङ्ग्य की

लोचनम्

यान्तुलाग्रेण काकतालीयेन प्रतिलग्नस्साम्मुख्येन स पार्श्वोऽद्यापि सुभग तस्या येनास्यतिक्रान्तः । *रसप्रतीतिरिति* । परस्परहेतुकश्रृङ्गारप्रतीतिः । अस्यार्थस्य रसानुगुणत्वं व्यतिरेकद्वारेण द्रढयति—*सा त्वामित्यादिना* ।

'ध्वनेर्यस्सगुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शित'

इत्युद्योतारम्भे यः श्लोकः तत्र ध्वनेरध्वना कवीनां प्रतिभागुणोऽनन्तो भवतीत्येष भागो व्याख्यात इत्युपसंहरति—*तदेवमित्यादिना* । सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्येत्यमुं भागं व्याचष्टे-*गुणीभूतेत्यादिना* । त्रिप्रभेदो वस्त्वलङ्कारसात्मना यो व्यङ्ग्यः तस्य यापेक्षा वाच्ये गुणीभावः तयेत्यर्थः । तत्र सर्वे ये ध्वनिभेदा-

(गली) में तुलाग्र (काकतालीय) से छू गया हुआ, सामने से वह पार्श्व आज भी हे सुभग उसका जिससे तुम चले गए थे । रस की प्रतीति—। परस्पर हेतु वाले श्रृङ्गार की प्रतीति । इस अर्थ का रसानुकूलत्व व्यतिरेक द्वारा दृढ़ करते हैं—वह तुझे० इत्यादि से ।

'गुणीभूत व्यङ्ग्य के सहित ध्वनि का जो मार्ग दिखाया गया है ।'

यह उद्योत के आरम्भ में जो श्लोक है उसमें ध्वनि के मार्ग से कवियों का प्रतिभागुण अनन्त हो जाता है, यह भाग व्याख्यान किया, इसे उपसंहार करते हैं—तो इस प्रकार० इत्यादि से । 'गुणीभूतव्यङ्ग्य के सहित' इस भाग का व्याख्यान करते हैं—गुणीभूत० इत्यादि से । अर्थात् तीन प्रभेदों वाला वस्तु, अलङ्कार और रस के रूप में जो व्यङ्ग्य है उसकी जो अपेक्षा अर्थात् वाच्य में गुणीभाव उससे ।

ध्वन्यालोकः

स्तत्समाश्रयेणापि काव्यवस्तूनां नवत्वं भवत्येव। तत्त्वतिविस्तारकारीति नोदाहृतं सहृदयैः स्वयमुत्प्रेक्षणीयम् ॥ ५ ॥

अपेक्षा से जो प्रकार हैं उनके समाश्रयण से भी काव्य की वस्तुओं का नवत्व हो ही जाता है। वह तो ज्या विस्तार करेगा इसलिए उदाहृत नहीं किया, सहृदय लोग स्वयं उत्प्रेक्षा कर लें ॥ ५ ॥

लोचनम्

स्तेषां गुणीभावादानन्त्यमिति तदाह—*अतिविस्तरेति*। *स्वयमिति*। तत्र वस्तुना व्यंग्येन गुणीभूतेन नवत्वं सत्यपि पुराणार्थस्पर्शे यथा ममैव—

भअविहलरक्खणेक्कमल्लसरणागआणअत्थाण।
खणमत्तं विण दिण्णा विस्सामकहेत्ति जुत्तमिणम् ॥

अत्र त्वमनवरतमर्थांस्त्यजसीति औदार्यलक्षणं वस्तु ध्वन्यमानं वाच्यस्योपस्कारकं नवत्वन्ददाति, सत्यपि पुराणकविस्पृष्टेऽर्थे। तथाहि पुराणी गाथा—

चाइअणकरपरम्परसञ्चारणखे अणिस्सहससरीरा।
अत्था किवणघरत्था सत्थावत्थासुवंतीव ॥

अलङ्कारेण व्यङ्ग्येन वाच्योपस्कारे नवत्वं यथा ममैव—

वसन्तमत्तालिपरम्परोपमाः कचास्तवासन् किल रागवृद्धये।
श्मशानभूभागपरागभासुराः कथन्तदेतेन मनाग्विरक्तये ॥

वहां सब जो ध्वनि के भेद हैं उनके गुणीभाव से आनन्त्य है, उसे कहते हैं—अत्यन्त विस्तार—। स्वयं—। वहां, गुणीभूत व्यङ्ग्य वस्तु से नवत्व, पुराने अर्थ का स्पर्श होने पर भी, जैसे मेरा ही—

'भय से व्याकुल हो, रक्षा करने में एक ही मल्ल (तुम्हारी) शरण में आए हुए अर्थों (धनों) को क्षणमात्र भी (तुमने) विश्राम नहीं दिया, यह ठीक है ?'

यहां 'तुम हमेशा अर्थों को त्याग देते हो' यह औदार्य रूप ध्वन्यमान वस्तु वाच्य का उपस्कारक होकर नवत्व अर्पित करता है, पुराने कवि द्वारा स्पृष्ट अर्थ के होने पर भी। जैसी कि पुरानी गाथा है—

'त्यागीजनों के हाथों की परम्परा में सञ्चार करने के खेद से थके-मांदे शरीर वाले अर्थ (धन) कृपण के घर में स्थित (होने से) स्वस्थ अवस्था वाले (होकर) शयन करते हैं।'

व्यङ्ग्य अलङ्कार द्वारा वाच्य का उपस्कार होने पर नवत्व, जैसे—मेरा ही,।

(पहले) बसन्त के मतवाले भौरों के समूह की उपमा वाले तेरे बाल राग (लाली-प्रेम) की वृद्धि के लिए थे, (अब) श्मशान के भूभाग की धूल की भांति

ध्वन्यालोकः

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात् ।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥६॥

'ध्वनि के और गुणीभूतव्यङ्ग्य के इस प्रकार समाश्रय से काव्य के अर्थ का विराम नहीं है यदि प्रतिभा रूप गुण हो ।'

लोचनम्

अत्र ह्याक्षेपेण विभावनया च ध्वन्यमानाभ्यां वाच्यमुपस्कृतमिति नवत्वं सत्यपि पुराणार्थयोगित्वे । तथाहि पुराणश्लोकः—

क्षुत्तृष्णाकाममात्सर्यं मरणाच्च महद्भयम् ।
पञ्चैतानि विवर्धन्ते वार्धके विदुषामपि ॥ इति ।

व्यङ्ग्येन रसेन गुणीभूतेन वाच्योपस्कारेण नवत्वं यथा ममैव—

जरा नेयं मूर्ध्नि ध्रुवमयमसौ कालभुजगः
क्रुधान्धः फूत्कारैः स्फुटगरलफेनान् प्रकिरति ॥
तदेनं संपश्यत्यथ च सुखितम्मन्यहृदयः
शिवो पायन्नेच्छन् बत बत सुधीरः खलु जनः ॥

अत्राद्भुतेन व्यङ्ग्येन वाच्यमुपस्कृतं शान्तरसप्रतिपत्त्यङ्गत्वाच्चारु भवतीति नवत्वं सत्यप्यस्मिन् पुराणश्लोके—

जराजीर्णशरीरस्य वैराग्यं यत्र जायते,
तन्नूनं हृदये मृत्युर्दृढन्नास्तीति निश्चयः ॥ ५ ॥

चमकने वाले ये (तेरे बाल) क्यों नहीं थोड़ी (भी) विरक्ति के लिए (होते हैं) !

यहाँ ध्वनित होते हुए 'आक्षेप' से और 'विभावना' अलङ्कारों से वाच्य उपस्कृत हुआ है, यह नवत्व है, पुराने अर्थ का सम्बन्ध होने पर भी। जैसा कि पुराना श्लोक है—

'भूख, तृष्णा, काम, देखजरनी और मरने का बड़ा डर, पाँच ये विद्वानों के भी बूढ़ा होने पर बढ़ते हैं ।'

व्यङ्ग्य एवं गुणीभूत रस द्वारा वाच्य के उपस्कार से नवत्व, जैसे मेरा ही—

'सिर पर यह बुढ़ापा नहीं है, निश्चय ही यह कालरूपी सर्प (बैठा) है, (जो) क्रोध से अन्धा, फू-फू करके स्पष्ट ही विष के फेनों को उगल रहा है, तो इसे (आदमी) खूब देखता है और हृदय में सुखी मान लेता है, कल्याण के उपाय की इच्छा न करता हुआ मनुष्य हन्त-हन्त बड़ा धीर (बन बैठा है ।'

यहाँ व्यङ्ग्य अद्भुत द्वारा वाच्य उपस्कृत (होकर) शान्त रस के बोध का अङ्ग होने के कारण चारु हो जाता है, यह नवत्व है, इस पुराने श्लोक के होते हुए भी—

'बुढ़ापे से जर्जर शरीर वाले (व्यक्ति) के जो वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, वह निश्चय ही (उसके) हृदय में 'मृत्यु दृढ़ (अवश्यम्भावी) नहीं है' ऐसा निश्चय हो चुका है ।'

ध्वन्यालोकः

सत्स्वपि पुरातनकविप्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभागुणः, तस्मिंस्त्वसति न किञ्चिदेव कवेर्वस्त्वस्ति। बन्धच्छायाप्यर्थद्वयानुरूपशब्दसन्निवेशोऽर्थप्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते। अनपेक्षितार्थविशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम्। एवं हि सत्यर्थानपेक्षचतुरमधुरवचनरचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत। शब्दार्थयोः साहित्येन

पुराने कवियों के प्रबन्धों के होने पर भी, यदि प्रतिभा रूप गुण हो; उसके न होने पर कवि के लिए कोई वस्तु नहीं है। दोनों अर्थों (ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य) के अनुरूप शब्द का संनिवेश रूप बन्धच्छाया भी अर्थ के प्रतिभान के अभाव में कैसे बन (सकती) है? अर्थ की अपेक्षा न करके अक्षररचना ही बन्धच्छाया है, यह सहृदयों के नेदीयस् (निकटतर) नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले चतुर (और) मधुर वचन की रचना में भी काव्य का व्यवहार चल पड़ेगा। शब्द और अर्थ के साहित्य से काव्यत्व के होने पर कैसे उस प्रकार के विषय में

लोचनम्

सत्स्वपीत्यादि कारिकाया उपस्कारः। त्रीन् पादान् स्पष्टान्मत्वा तुर्यं पादं व्याख्यातुं पठति—*यदीति*। विद्यमानो ह्यसौ प्रतिभागुण उक्तरीत्या भूयान् भवति, न त्वत्यन्तासन्नेवेत्यर्थः। *तस्मिन्निति*। अनन्तीभूते प्रतिभागुणे। *न किञ्चिदेवेति*। सर्वं हि पुराणकवि... किमिदानीं वर्ण्यं, यत्र कवेर्वर्णनाव्यापारस्स्यात्। ननु यद्यपि वर्ण्यमपूर्वन्नास्ति, तथाप्युक्तिपरिपाकगुम्फघटनाद्यपरपर्यायबन्धच्छाया ...नवा भविष्यति। यन्निवेशने काव्यान्तराणां संरम्भ इत्याशङ्क्याह—*बन्धच्छायापीति*। *अर्थद्वयं* गुणीभूतव्यंग्यं प्रधानभूतं व्यंग्यं च। *नेदीय इति*। निकटतरं हृदयानुप्रवेशि न भवतीत्यर्थः। अत्र हेतुमाह—*एवं हि सतीति*। चतुरत्वं समासङ्घटना। मधुरत्वमपारुष्यम्।

होने पर भी—। यह कारिका का उपस्कार (प्रतिपादन) है। तीन पादों को स्पष्ट मान कर चौथे पाद का व्याख्यान करने के लिए पढ़ते हैं—यदि—। अर्थात् क्योंकि विद्यमान वह प्रतिभा रूप गुण उक्त रीति से बहुत हो जाता है, न कि अत्यन्त न विद्यमान ही। उसके—। अनन्त प्रतिभारूप गुण के। नहीं कोई ही—। सब तो पुराने कवि ने ही स्पर्शकर लिया तो अब वर्णनीय क्या है? जहां कवि का वर्णनाव्यापार हो? यद्यपि वर्णनीय अपूर्व नहीं है, तथापि उक्ति के परिपाक के गूँथने की घटना, दूसरे शब्द में छाया, नई-नई हो जायगी। जिसके निवेशन में दूसरे काव्यों का संरम्भ (उपक्रम) है, यह आशङ्का करके कहते हैं—बन्धच्छाया भी—। दो अर्थ गुणीभूतव्यङ्ग्य और प्रधानभूत व्यङ्ग्य। नेदीयस्—। निकटतर, अर्थात् हृदय में प्रवेश कर जाने वाला, नहीं होता है। यहां हेतु कहते हैं—क्योंकि ऐसा होने पर—।

ध्वन्यालोकः

काव्यत्वे कथं तथाविधे विषये काव्यव्यवस्थेति चेत्—परोपनिबद्धार्थविरचने यथा तत्काव्यत्वव्यवहारस्तथा तथाविधानां काव्यसन्दर्भाणाम् ॥ ६ ॥

न चार्थानन्त्यं व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव यावद्वाच्यार्थापेक्षयापीति प्रतिपादयितुमुच्यते—

अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते ।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ॥ ७ ॥

शुद्धस्यानपेक्षितव्यङ्ग्यस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव जायते स्वभा-

काव्य की व्यवस्था (होगी ?)। (इस पर कहते हैं कि) दूसरे द्वारा उपनिबद्ध अर्थ के बनाने में जैसे वह काव्य का व्यवहार (है) वैसे उस प्रकार (अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले) काव्यसन्दर्भों का ॥ ६ ॥

न केवल अर्थ का आनन्त्य, व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा से ही है वरन् वाच्य अर्थ की अपेक्षा से भी है—यह प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

अवस्था, देश, काल आदि के विशेषों (भेदों) से भी स्वभाव से शुद्ध भी वाच्य का आनन्त्य ही होता है ।

शुद्ध (अर्थात्) व्यङ्ग्य की अपेक्षा न रखने वाले भी वाच्य का आनन्त्य ही

लोचनम्

तथाविधानामिति । अपूर्वबन्धच्छायायुक्तानामपि परोपनिबद्धार्थनिबन्धने परकृतकाव्यत्वव्यवहार एव स्यादित्यर्थस्यापूर्वत्वमाश्रयणीयम् । कवनीयं काव्यं तस्य भावः काव्यत्वं, न त्वयं भावप्रत्ययान्तात् भावप्रत्यय इति शङ्कितव्यम् ।

प्रतिपादयितुमिति । प्रसङ्गादिति शेषः । यदि वा वाच्यन्तावद्द्विविधव्यंग्योपयोगि तदेव चेदनन्तं तद्बलादेव व्यंग्यानन्त्यं भवतीत्यभिप्रायेणेदं प्रकृतमेवोच्यते । *शुद्धस्येति* । व्यंग्यविषयो यो व्यापारः तत्स्पर्शं विनाप्यानन्त्यं

चतुरत्व (अर्थात्) समास की संघटना । मधुरत्व (अर्थात्) पारुष्य का अभाव । उस प्रकार के—। अपूर्व (जो पहले न हो) बन्धच्छाया से युक्त (काव्य-सन्दर्भों) के भी दूसरे (कवि द्वारा) उपनिबद्ध अर्थ के निबन्धन में दूसरे (कवि) द्वारा बनाया गया काव्य का व्यवहार ही होगा, अत; अर्थ के अपूर्वत्व का आश्रयण करना चाहिए । कवनीय (वर्णनीय) काव्य, उसका भाव काव्यत्व, न कि यह भाव-प्रत्ययान्त (काव्य शब्द) से भाव-प्रत्यय हुआ है, यह शङ्का करनी चाहिए ।

प्रतिपादन करने के लिए—। प्रसङ्ग से—यह शेष है । अथवा वाच्य दो प्रकार के व्यङ्ग्य का उपयोगी है, वही अनन्त है तो उसके बल से ही व्यङ्ग्य का आनन्त्य हो जाता है—इस अभिप्राय से यह प्रकृत ही कहा गया है । शुद्ध वाच्य का—।

ध्वन्यालोकः

वतः। स्वभावो ह्ययं वाच्यानां चेतनानामचेतनानां च यदवस्थाभेदाद्देशभेदात्कालभेदात्स्वालक्षण्यभेदाच्चानन्तता भवति। तैश्च तथाव्यवस्थितैः सद्भिः प्रसिद्धानेकस्वभावानुसरणरूपया स्वभावोक्त्यापि तावदुपनिबध्यमानैर्निरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते। तथा ह्यवस्थाभेदान्नवत्वं यथा—भगवती पार्वती कुमारसम्भवे 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादिभिरुक्तिभिः प्रथममेव परिसमापितरूपवर्णनापि पुनर्भगवतः शम्भोर्लोचनगोचरमायान्ती 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' मन्मथोपकरणभूतेन भङ्ग्यन्तरेणोपवर्णिता। सैव च पुनर्नवोद्वाहसमये प्रसाध्यमाना 'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्' इत्याद्युक्तिभिर्नवेनैव प्रकारेण निरूपि-

स्वभावतः उत्पन्न होता है। क्योंकि यह चेतनों और अचेतनों का स्वभाव ही है कि अवस्था के भेद से, देश के भेद से, काल के भेद से और स्वालक्षण्य (स्वरूप) के भेद से अनन्तता होती है। और उनके उस प्रकार व्यवस्थित होने से प्रसिद्ध अनेक स्वभावों के अनुसरण रूप वाली स्वभावोक्ति से भी उपनिबध्यमान (वाच्यार्थों से) अवधिशून्य काव्यार्थ सम्पन्न होता है। अवस्था के भेद से नवत्व, जैसे—भगवती पार्वती 'कुमार-सम्भव' में 'समस्त उपमाद्रव्य के समूह से०' इत्यादि उक्तियों द्वारा पहले ही परिसमाप्त रूप के वर्णन से युक्त होकर भी पुनः भगवान् शिव के लोचन-गोचर होती हुई 'बसन्त के पुष्पों का आभरण धारण करती हुई' मन को मथन करने वाले (कामदेव) के उपकरण (सामग्री) हुए दूसरे प्रकार से उपवर्णित हैं। और वही फिर नये विवाह के समय में प्रसाधित होती हुई (भगवती पार्वती) का

लोचनम्

स्वरूपमात्रेणैव पश्चात्तु तथा स्वरूपेणानन्तं सद्व्यङ्ग्यं व्यनक्तीति भावः। न तु सर्वथा तत्र व्यंयं नास्तीति मन्तव्यमात्मभूततद्रूपाभावे काव्यव्यवहारहानेः; तथा चोदाहरणेषु रसध्वनेस्सद्भावोऽस्त्येव। आदिग्रहणं व्याचष्टे—*स्वालक्षण्येति*। स्वरूपेत्यर्थः। यथा रूपस्पर्शयोस्तीव्रैकावस्थयोरेकद्रव्यनिष्ठयोरेककालयोश्च।

भाव यह कि व्यङ्ग्य-विषयक जो व्यापार है उसके स्पर्श के बिना भी आनन्त्य स्वरूप मात्र से ही है, पीछे तो इस प्रकार स्वरूप से अनन्त होता हुआ व्यङ्ग्य को व्यक्त करता है। न कि सब प्रकार से वहां व्यङ्ग्य नहीं है यह मानना चाहिए क्योंकि आत्मा रूप उस (व्यङ्ग्यरूप) के अभाव में काव्य के व्यवहार की हानि होगी। और जैसा कि उदाहरणों में रसध्वनि का सद्भाव है ही। आदि के ग्रहण का व्याख्यान करते हैं—स्वालक्षण्य—। स्वरूप' यह अर्थ है। जैसे, तीव्र एक अवस्था वाले, एक द्रव्य में रहने वाले और एक काल में उत्पन्न रूप और स्पर्श का।

ध्वन्यालोकः

तरूपसौष्ठवा। न च ते तस्य कवेरेकत्रैवासकृत्कृता वर्णनप्रकारा अपुनरुक्तत्वेन वा नवनवार्थनिर्भरत्वेन वा प्रतिभासन्ते। दर्शितमेव चैतद्विषमबाणलीलायाम्—

ण अ ताण घडइ ओही ण अ ते दीसन्ति कह वि पुनरुत्ता।
जे विब्भमा पिआणं अत्था वा सुकइवाणीणम्॥

अयमपरश्चावस्थाभेदप्रकारो यदचेतनानां सर्वेषां चेतनं द्वितीयं रूपमभिमानित्वप्रसिद्धं हिमवद्गङ्गादीनाम्। तच्चोचितचेतनविषयस्वरूप-

'उस कृश शरीर वाली को पूर्व की ओर मुँह करके बैठाकर' इत्यादि उक्तियों से नये ही प्रकार से रूप के सौष्ठव का निरूपण है। उस कवि के, एक जगह ही बार-बार किए गए वे वर्णन-प्रकार फिर नहीं कहे गए (अपुनरुक्त) रूप से अथवा नये नये अर्थों से भरे (नवनवार्थनिर्भर) रूप से प्रतिभासित नहीं होते हैं। इसे 'विषमबाणलीला' में दिखाया ही है—

'जो प्रियाओं के विभाव (हाव-भाव) अथवा सुकवि की वाणियों के अर्थ हैं उनकी अवधि (समाप्ति) नहीं होती है, किसी प्रकार वे पुनरुक्त नहीं प्रतीत होते हैं।'

और यह दूसरा अवस्थाभेद का प्रकार है जो हिमवान् और गङ्गा आदि समस्त अचेतनों का चेतन दूसरा रूप अभिमानी रूप से प्रसिद्ध है। और वह उचित चेतन-सम्बन्धी स्वरूप की योजना से उपनिबध्यमान होकर अन्य हो जाता है। जैसे,

लोचनम्

न च तेषां घटतेऽवधिः, न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ताः।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम्॥

चकाराभ्यामतिविस्मयस्सूच्यते। *कथमपीति*। प्रयत्नेनापि विचार्यमाणं पौनरुक्त्यं न लभ्यमिति यावत्। *प्रियाणामिति*। बहुवल्लभो हि सुभगो राधावल्लभप्रायस्तास्ताः कामिनीः परिभोगसुभगमुपभुञ्जानोऽपि न विभ्रमपौनरुक्त्यं पश्यति तदा। एतदेव प्रियात्वमुच्यते, यदाह—

दो चकारों ('और' के प्रयोगों) से अत्यन्त विस्मय सूचित होता है। किसी प्रकार—। प्रयत्न से भी विचार किया जाय (तो भी) पौनरुक्त्य नहीं मिलेगा, यह भाव है। प्रियाओं का—। बहुत वल्लभाओं वाला सुभग (नायक) राधा के प्रिय (कृष्ण) के सदृश, उन उन कामिनियों का परिभोग के सुभग प्रकार से उपभोग करता हुआ भी विभ्रम के पौनरुक्त्य को तब नहीं देखता। यही 'प्रियात्व' कहा जाता है, जो कहा है—

ध्वन्यालोकः

योजनयोपनिबध्यमानमन्यदेव सम्पद्यते। यथा कुमारसम्भव एव पर्वतस्वरूपस्य हिमवतो वर्णनं, पुनः सप्तर्षिप्रियोक्तिषु चेतनतत्स्वरूपापेक्षया प्रदर्शितं तदपूर्वमेव प्रतिभाति। प्रसिद्धश्चायं सत्कवीनां मार्गः। इदं च प्रस्थानं कविव्युत्पत्तये विषमबाणलीलायां सप्रपञ्चं दर्शितम्। चेतनानां च बाल्याद्यवस्थाभिरन्यत्वं सत्कवीनां प्रसिद्धमेव। चेतनानामवस्थाभेदेऽप्यवान्तरावस्थाभेदान्नानात्वम्। यथा कुमारीणां कुसुमशरभिन्नहृदयानामन्यासां च। तत्रापि विनीतानामविनीतानां च। अचेतनानां च भावानामारम्भाद्यवस्थाभेदभिन्नानामेकैकशः स्वरूपमुपनिबध्यमानमानन्त्यमेवोपयाति। यथा—

हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरासज्यते कूजता-

'कुमारसम्भव' में ही पर्वत स्वरूप हिमवान् का वर्णन है, फिर सप्तर्षियों की प्रिय उक्तियों में चेतन उसके स्वरूप की अपेक्षा से दिखाया गया है, वह अपूर्व ही मालूम पड़ता है। और यह सत्कवियों का मार्ग प्रसिद्ध है। और यह प्रस्थान कवियों की व्युत्पत्ति के लिए 'विषमबाणलीला' में प्रपञ्च के साथ दिखाया है। और चेतनों का बाल्य आदि अवस्थाओं से अन्य होना सत्कवियों के प्रसिद्ध ही है। चेतनों का अवस्थाभेद में भी अवान्तर अवस्थाभेद से नानात्व है, जैसे कामदेव के बाणों से बिंधे हृदय वाली कुमारियों का, और दूसरी (नायिकाओं) का। वहाँ भी विनीतों का और अविनीतों का। और आरम्भ आदि अवस्थाओं के भेद से भिन्न अचेतन भावों का एक-एक करके स्वरूप उपनिबध्यमान होकर आनन्त्य को ही प्राप्त करता है। जैसे—

'कूजते हुए हंसों की आवाजों में जो कोई दूसरा कसैले कंठ में लोटने से घर-

लोचनम्

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया इति।

प्रियाणामिति चासंसारं प्रवहद्रूपो योऽयं कान्तानां विभ्रमविशेषः स नवनव एव दृश्यते। न ह्यसावग्निचयनादिवदन्यतशिशक्षितः, येन तत्सादृश्यात्पुनरुक्ततां गच्छेत्। अपि तु निसर्गोद्भिद्यमानमदनाङ्कुरविकासमात्रन्तदिति

'क्षण-क्षण में जो नवत्व प्राप्त करता है रमणीयता का वही रूप है।' प्रियाओं का—। संसार के अस्तित्व से लेकर प्रवाहित होता हुआ जो यह कान्ताओं का विभ्रम विशेष है वह नया-नया ही दिखाता है। न कि वह 'अग्निचयनादि' (यज्ञक्रियाओं) की तरह अन्य से सीखा गया है, जिससे उसके समान होने से पुनरुक्तता को प्राप्त करता। अपि तु यह स्वभाव से उकसते हुए मदनाङ्कुर का विकासमात्र है, इसलिए

ध्वन्यालोकः

मन्यः कोऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रमः।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पर्धिनो
निर्याताः कमलाकरेषु बिसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थयः॥

एवमन्यत्रापि दिशानयानुसर्तव्यम्।

देशभेदान्नानात्वमचेतनानां तावत्। यथा वायूनां नानादिग्देश-चारिणामन्येषामपि सलिलकुसुमादीनां प्रसिद्धमेव। चेतनानामपि मानुषपशुपक्षिप्रभृतीनां ग्रामारण्यसलिलादिसमेधितानां परस्परं महान्विशेषः समुपलक्ष्यत एव। स च विविच्य यथायथमुपनिबध्यमान-स्तथैवानन्त्यमायाति। तथा हि—मानुषाणामेव तावद्दिग्देशादि-भिन्नानां ये व्यवहारव्यापारादिषु विचित्रा विशेषास्तेषां केनान्तः शक्यते गन्तुम्, विशेषतो योषिताम्। उपनिबध्यते च तत्सर्वमेव सुकविभिर्यथाप्रतिभम्।

घराहट के रूप में विभ्रम को आसक्त कर देती हैं वे इस समय कोमल हाथी की पत्नी के दन्तांकुर के साथ स्पर्धा करने वाली कमलिनी के कन्द के अगले हिस्से की गाँठें कमलाकरों (सरोवरों) में निकल पड़ीं।'

इस प्रकार अन्यत्र भो इस दिशा से अनुसरण करना चाहिए।

अचेतनों का देश के भेद से तावत् नानात्व। जैसे, नाना दिशाओं, देशों में विचरण करनेवाली हवाओं का, अन्य भी जल, फूल आदि का नानात्व प्रसिद्ध ही है। ग्राम, जंगल, जल आदि में बढ़े हुए चेतन मनुष्य, पशु, पक्षी प्रभृतियों का परस्पर महान् विशेष समुपलक्षित होता ही है। और वह विवेचन करके ठीक-ठीक उपनिबध्यमान होकर उसी प्रकार आनन्त्य को प्राप्त करता है। जैसा कि—दिशा और देश आदि से भिन्न मनुष्यों के ही जो व्यवहार और व्यापार आदि में विचित्र विशेष (भेद) हैं उनका किसके द्वारा पार पाया जा सकता है? विशेष रूप से स्त्रियों के। और उन सबको ही सुकवि लोग प्रतिभा के अनुसार उपनिबद्ध करते हैं।

लोचनम्

नवनवत्वम्। तद्वत्परकीयशिक्षानपेक्षनिजप्रतिभागुणनिष्यन्दभूतः काव्यार्थ इति भावः।

तावदिति। उत्तरकालन्तु व्यंग्यस्पर्शनेन विचित्रतां परां भजतान्नाम,

नवनवत्व है। भाव यह कि उस प्रकार दूसरे द्वारा शिक्षा की अपेक्षा न करके अपनी प्रतिभा के गुण का निष्यन्द काव्यार्थ है।

तब तक—। बाद में तो व्यङ्ग्य के स्पर्श से उत्कृष्ट विचित्रता को प्राप्त कर ले।

ध्वन्यालोकः

कालभेदाच्च नानात्वम्। यथर्तुभेदाद्दिग्व्योमसलिलादीनामचेतनानाम्। चेतनानां चौत्सुक्यादयः कालविशेषाश्रयिणः प्रसिद्धा एव। स्वालक्षण्यप्रभेदाच्च सकलजगद्गतानां वस्तूनां विनिबन्धनं प्रसिद्धमेव। तच्च यथावस्थितमपि तावदुपनिबध्यमानमनन्ततामेव काव्यार्थस्यापादयति।

अत्र केचिदाचक्षीरन्—यथा सामान्यात्मना वस्तूनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते न विशेषात्मना ; तानि हि स्वयमनुभूतानां सुखादीनां तन्निमित्तानां च स्वरूपमन्यत्रारोपयद्भिः स्वपरानुभूतरूपसामान्यमात्राश्रयेणोपनिबध्यन्ते कविभिः। न हि तैरतीतमनागतं वर्तमानश्च परिचितादिस्वलक्षणं योगिभिरिव प्रत्यक्षीक्रियते ; तच्चानुभाव्यानु-

और काल के भेद से नानात्व। जैसे, ऋतु के भेद से दिशा, आकाश और सलिल आदि अचेतनों का। और चेतनों के औत्सुक्य आदि (भेद) कालविशेष का आश्रयण करने वाले प्रसिद्ध ही हैं। और स्वालक्षण्य (स्वरूप) के प्रभेद से समस्त संसार की वस्तुओं का विनिबन्धन प्रसिद्ध ही है। और वह जैसा है उस प्रकार भी अवस्थित होकर उपनिबद्ध होता हुआ काव्य के अर्थ को आनन्त्य प्राप्त कराता है।

यहाँ कुछ लोग (अगर) कहें—जैसे सामान्य रूप से वस्तुएँ वाच्यभाव को प्राप्त होती हैं, न कि विशेष रूप से; क्योंकि वे स्वयं अनुभव किए गए सुख आदि के और उनके निमित्तों (कारणों) के स्वरूप को अन्यत्र आरोपित करते हुए कवियों द्वारा अपने और पराये के द्वारा अनुभूत रूप सामान्य मात्र के आश्रयण से उपनिबद्ध किए जाते हैं। न कि वे (कवि) अतीत, अनागत और वर्तमान परिचित आदि स्वलक्षण (स्वरूप) को योगियों की भांति प्रत्यक्ष करते हैं; बल्कि वह अनुभव के

लोचनम्

तावति तु स्वभावेनैव सा विचित्रेति तावच्छब्दस्याभिप्रायः। *तन्निमित्तानाञ्चेति*। ऋतुमाल्यादीनाम्। *स्वेति*। स्वानुभूतपरानुभूतानां यत्सामान्यं तदेव विशेषान्तररहितन्तन्मात्रं तस्याश्रयेण। *न हि तैरिति* कविभिः। एतच्चात्यन्तासंभावनार्थमुक्तम्। प्रत्यक्षदर्शनेऽपि हि—

तब तक तो स्वभाव से ही वह विचित्रता होती है यह 'तब तक' शब्द का अभिप्राय है। उनके निमित्तों का—। ऋतु, माल्य आदि का। अपने अनुभूतों का दूसरों के अनुभूतों का जो सामान्य वही विशेषान्तर से रहित (होकर) तन्मात्र है, उस तन्मात्र के आश्रयण से। न कि उनसे अर्थात् कवियों से। इसे अत्यन्त असम्भावन के लिए कहा है। प्रत्यक्ष देखने में भी—

ध्वन्यालोकः

भवसामान्यं सर्वप्रतिपत्तृसाधारणं परिमितत्वात्पुरातनानामेव गोचरीभूतम्, तस्याविषयत्वानुपपत्तेः। अतएव स प्रकारविशेषो यैरद्यतनैरभिनवत्वेन प्रतीयते तेषामभिमानमात्रमेव भणितिकृतं वैचित्र्यमात्रमत्रास्तीति।

तत्रोच्यते—यत्तूक्तं सामान्यमात्राश्रयेण काव्यप्रवृत्तिस्तस्य च परिमितत्वेन प्रागेव गोचरीकृतत्वान्नास्ति नवत्वं काव्यवस्तूनामिति, तदयुक्तम्; यतो यदि सामान्यमात्रमाश्रित्य काव्यं प्रवर्तते किङ्कृतस्तर्हि महाकविनिबध्यमानानां काव्यर्थानामतिशयः। वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्यान्यस्य कविव्यपदेश एव वा सामान्यव्यतिरिक्तस्यान्यस्य काव्यार्थस्याभावात्, सामान्यस्य चादिकविनैव प्रदर्शितत्वात्। उक्तिवैचित्र्यान्नैष दोष इति चेत्—किमिदमुक्तिवैचित्र्यम्?

के योग्य (वस्तु) के अनुभव का सामान्य सब जानकारों के लिए साधारण, (और) परिमित होने के कारण प्राचीन कवियों का ही विषय किया हुआ है क्योंकि उसका अविषयत्व उपपन्न नहीं है। अतएव वह प्रकार विशेष को जिन आज के लोगों ने अभिनव रूप से समझा है उन्हें अभिमानमात्र ही है। भणिति द्वारा किया हुआ वैचित्र्य मात्र यहाँ है।

वहाँ कहते हैं—जो कि कहा है सामान्य मात्र के आश्रयण से काव्य की प्रवृत्ति होती है और उस (सामान्य मात्र) के परिचित होने के कारण पहले ही विषय कर लिए जाने से काव्य वस्तुओं का नवत्व नहीं है यह, वह ठीक नहीं; क्योंकि यदि सामान्य मात्र का आश्रयण करके काव्य प्रवृत्त होता है तो किसके द्वारा महाकवियों द्वारा बनाए गये काव्यार्थों का अतिशय (वैचित्र्य) होगा? अथवा, वाल्मीकि को छोड़ कर दूसरे का 'कवि' व्यपदेश (नाम) ही (किसके द्वारा किया गया होगा?) (जब कि) सामान्य को छोड़कर दूसरे भाव्यार्थ का अभाव है, क्योंकि आदि कवि के

लोचनम्

शब्दास्संकेतितं प्राहुर्व्यवहाराय स स्मृतः।
तदा स्वलक्षणं नास्ति सङ्केतस्तेन तत्र नः॥

इत्यादियुक्तिभिस्सामान्यमेव स्पृश्यते। *किमिति*। असंवेद्यमानमर्थपौनरुक्त्यं कथं प्राकरणिकैरङ्गीकार्यमिति भावः। तमेव प्रकटयति—न *चेदिति*।

शब्द-संकेतित (अर्थ) को कहते हैं, व्यवहार के लिए वह माना गया है, तब स्वरूप (स्वलक्षण) नहीं होता, उस (स्वलक्षण) से वहाँ हमें संकेत (होता है)।

इत्यादि युक्तियों से सामान्य ही स्पष्ट होता है। क्या—। नहीं जाना जाता हुआ (असंवेद्यमान) अर्थ का पौनरुक्त्य कैसे प्राकरणिकों द्वारा स्वीकार्य होगा यह भाव

ध्वन्यालोकः

उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादि वचनम् । तद्वैचित्र्ये कथं न वाच्यवैचित्र्यम् । वाच्यवाचकयोरविनाभावेन प्रवृत्तेः । वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते । तेनोक्तिवैचित्र्यवादिना वाच्यवैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यम् । तदयमत्र सङ्क्षेपः—

द्वारा सामान्य प्रदर्शित किया जा चुका है । उक्तिवैचित्र्य के कारण यह दोष नहीं है यह (कहें) तो (प्रश्न उठता है) कि यह उक्तिवैचित्र्य क्या है ? उक्ति वाच्यविशेष के प्रतिपादन करने वाले वचन को कहते हैं, उसके वैचित्र्य में कैसे नहीं वाच्य का वैचित्र्य होगा ? क्योंकि वाच्य और वाचक की अविनाभाव से प्रवृत्ति होती है । और प्रतिभासमान वाच्यों का भाव्य में जो रूप है वह तो ग्राह्य विशेष के अभेद से ही प्रतीत होता है । उससे उक्तिवैचित्र्यवादी को वाच्य के वैचित्र्य की इच्छा न रखते हुए भी अवश्य ही मानना चाहिए । तो यह यहाँ संक्षेप है—

लोचनम्

उक्तिर्हीति । पर्यायमात्रतैव यद्युक्तिविशेषस्तत्पर्यायान्तरैरविकलं तदर्थोपनिबन्धे अपौनरुक्त्याभिमानो न भवति । तस्माद्विशिष्टवाच्यप्रतिपादकेनैवोक्तेर्विशेष इति भावः । *ग्राह्यविशेषेति* । ग्राह्यः प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्यो विशेषः तस्य यः अभेदः ।

तेनायमर्थः—पदानान्तावत्सामान्ये वा तद्वति वाऽपोहे वा यत्र कुत्रापि वस्तुनि समयः, किमनेन वादान्तरेण ? वाक्यात्तद्विशेषः प्रतीयत इति कस्यात्र वादिनो विमतिः । अन्विताभिधानतद्विपर्ययसंसर्गभेदादिवाक्यार्थपक्षेषु सर्वत्र विशेषस्याप्रत्याख्येयत्वात् । उक्तिवैचित्र्यञ्च न पर्यायमात्रकृतमित्युक्तम् । अन्यत्तु

है । उसी को प्रकट करते हैं—नहीं—। उक्ति—। दूसरे शब्द (पर्याय) के द्वारा निर्देश ही यदि उक्ति विशेष है तो पर्यायान्तरों से अविकल (रूप में) उस अर्थ के उपनिबन्ध होने पर अपौनरुक्त्य का अभिमान नहीं होगा । भाव यह कि इसलिए विशिष्ट वाच्य के प्रतिपादक से ही उक्ति का विशेष है । ग्राह्यविशेष—। ग्राह्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जो विशेष उसका जो अभेद ।

उससे यह अर्थ है—पदों का सामान्य (जाति) में (मीमांसक मतानुसार) अथवा तद्वान् (न्यायमतानुसार) में अथवा अपोह (बौद्धमतानुसार) में जहाँ कहीं भी वस्तु में समय (संकेत) है, इस दूसरे बाद के उपस्थित करने से क्या लाभ ? वाक्य से उस (वस्तु) का विशेष प्रतीत होता है, यहाँ किस वादी का वैमत्य है ? क्योंकि अन्विताभिधान और उसके विपर्यय (अभिहितान्वयवाद) के संसर्गभेद आदि के वाक्यार्थ पक्षों में सर्वत्र विशेष का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता । यह कह चुके हैं कि उक्तिवैचित्र्य पर्यायमात्र से नहीं होता है । और अन्य जो है वह प्रत्युत हमारे पक्ष का

ध्वन्यालोकः

वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित् ।
इष्यते प्रतिभार्थेषु तत्तदानन्त्यमक्षयम् ॥

किञ्च, उक्तिवैचित्र्यं यत्काव्यनवत्वे निबन्धनमुच्यते तदस्मत्पक्षानुगुणमेव । यतो यावानयं काव्यार्थानन्त्यभेदहेतुः प्रकारः प्राग्दर्शितः स सर्व एव पुनरुक्तिवैचित्र्याद्द्विगुणतामापद्यते । यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारवर्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्यादुपनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शतशाखताम् । भणितिश्च स्वभाषाभेदेन व्यवस्थिता सती

वाल्मीकि को छोड़ कर यदि किसी एक (कवि) की प्रतिभा अर्थों में मान ली जाती है तो वह नहीं क्षय होने वाला आनन्त्य है ।

और भी, उक्तिवैचित्र्य को जो काव्य के नवत्व में निबन्धन (प्रयोजक) कहते हैं, वह हमारे पक्ष के अनुकूल ही है । क्योंकि जितना यह काव्य के अर्थ के आनन्त्य-भेद को करने वाला प्रकार पहले दिखाया गया है वह सब ही फिर उक्तिवैचित्र्य के कारण दुगुना बन जायगा । और जो यह उपमा, श्लेष आदि अलंकार-वर्ग प्रसिद्ध है वह भणितिवैचित्र्य से उपनिबद्ध किया जाता हुआ स्वयं ही अवधिरहित (होकर)

लोचनम्

यत्तत्प्रत्युतास्माकं पक्षसाधकमित्याह—*किञ्चेति* । *पुनरिति* । भूय इत्यर्थः । उपमा हि निभ, प्रतिम, च्छल, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छाय, तुल्य, सदृशाभासादिभिर्विचित्राभिरुक्तिभिर्विचित्रीभवत्येव । वस्तुत एतासामुक्तीनामर्थवैचित्र्यस्य विद्यमानत्वात् । नियमेन भानयोगाद्धि निभशब्दः, तदनुकारतया तु प्रतिमशब्द इत्येवं सर्वत्र वाच्यं केवलं बालोपयोगि काव्यटीकापरिशीलनदौरात्म्यादेषु पर्यायत्वभ्रम इति भावः । एवमर्थानन्त्यमलङ्कारानन्त्यञ्च भणितिवैचित्र्याद्भवति । अन्यथाऽपि च तत्ततो भवतीति दर्शयति—*भणितिश्चेति* । प्रतिनियताया भाषाया गोचरो वाच्यो योऽर्थस्तत्कृतं यद्वैचित्र्यं तन्निबन्धनं निमित्तं

साधक है, यह कहते हैं—और भी—। फिर—। अर्थात् भूयः, फिर से । उपमा निभ, प्रतिम, छल, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छाय, तुल्य, सदृश, आभास आदि विचित्र उक्तियों से विचित्र हो जाती हो है । क्योंकि वस्तुतः इन उक्तियों में अर्थ का वैचित्र्य विद्यमान रहती ही है । भाव यह कि नियमतः कान के योग से 'निभ' शब्द है, उसके अनुभार रूप से प्रतिम शब्द है इस प्रकार यह सर्वत्र कहा जा सकता है, केवल बालोपयोगी काव्य की टीका के परिशीलन की दुष्टता से पर्यायत्व का भ्रम हो गया है । इस प्रकार भणिति के वैचित्र्य से अर्थों का आनन्त्य और अलङ्कारों का आनन्त्य होता है । अन्यथा भी वह उस कारण हो जाता है यह दिखाते हैं—और भणिति—। प्रतिनियत भाषा का गोचर वाच्य जो अर्थ है तत्कृत जो वैचित्र्य वह निबन्धन अर्थात् निमित्त है जिसका,

ध्वन्यालोकः

प्रतिनियतभाषागोचरार्थवैचित्र्यनिबन्धनं पुनरपरं काव्यार्थानामानन्त्यमापादयति। यथा ममैव—

महमह इत्ति भणन्तउ वज्जदि कालो जणस्स।
तोइ ण देउ जणद्दण गोअरी भोदि मणसो॥ ७॥

इत्थं यथा यथा निरूप्यते तथा तथा न लभ्यतेऽन्तः काव्यार्थानाम्। इदं तूच्यते—

अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।

फिर सैकड़ों शाखाओं में परिवर्तित हो जायगा। और भणिति अपनी भाषा के भेद से व्यवस्थित होती हुई प्रतिनियत भाषा में रहने वाले अर्थवैचित्र्य के निबन्धन रूप काव्यार्थों का आनन्त्य फिर भी उत्पन्न कर देती है। जैसे मेरा ही—

'मेरा' 'मेरा' की रट लगाते हुए व्यक्ति का समय बीत जाता है, तथापि देव जनार्दन मन के गोचर नहीं होते।

इस प्रकार जैसे-जैसे निरूपण करते हैं वैसे-वैसे काव्यार्थों का अन्त मालूम नहीं पड़ता। परन्तु यह कहते हैं—

अवस्था आदि से विभिन्न वाच्यों का निबन्धन—जो पहले प्रदर्शित हो चुका

लोचनम्

यस्य, अलङ्काराणां काव्यार्थानाञ्चानन्त्यस्य। तत्कर्मभूतं भणितिवैचित्र्यं कर्तृभूतमापादयतीति सम्बन्धः। कर्मणो विशेषणच्छलेन हेतुर्दर्शितः।

मम मम इति भणतो व्रजति कालो जनस्य।
तथापि न देवो जनार्दनो गोचरो भवति मनसः॥

मधुमथन इति यः अनवरतं भणति, तस्य कथन्न देवो मनोगोचरो भवतीतिविरोधालङ्कारच्छाया। सैन्धवभाषया महमह इत्यनया भणित्या समुन्मेषिता॥ ७॥

अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात्॥

अलङ्कारों और काव्यार्थों के आनन्त्य का। वह कर्मभूत भणितिवैचित्र्य कर्तृभूत होकर उत्पन्न करता है, यह सम्बन्ध है। कर्म के विशेषण के व्याज से हेतु दिखा दिया है।

'मधुमथन' यह शब्द जो निरन्तर कहता रहता है, देवता क्यों नहीं उसके मनोगोचर होते हैं, यह विरोध अलङ्कार की छाया है। 'महमह' इस सैन्धव भाषा की उक्ति से वह (विरोधच्छाया) समुन्मेषित हुई है॥ ७॥

ध्वन्यालोकः

यत्प्रदर्शितं प्राक्

भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये-

न तच्छक्यमपोहितुम् ।

-तत्तु भाति रसाश्रयात् ॥ ८ ॥

तदिदमत्र सङ्क्षेपेणाभिधीयते सत्कवीनामुपदेशाय—

रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी ।

अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥ ९ ॥

तत्का गणना कवीनामन्येषां परिमितशक्तीनाम् ।

वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।

निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥ १० ॥

यथा हि जगत्प्रकृतिरतीतकल्पपरम्पराविर्भूतविचित्रवस्तुप्रपञ्चा

है—लक्ष्य में बहुतायत से देखा जाता है—उसका निराकरण नहीं किया जा सकता है—वह तो रस के आश्रय से शोभा देता है ॥ ८ ॥

तो यहाँ यह सत्कवियों के उपदेश के लिए संक्षेप से कहते हैं—

यदि रस, भाव आदि से सम्बद्ध, औचित्य का अनुसरण करने वाली, देश, काल आदि की भेद वाली वस्तुगति का अनुगमन करते हैं ॥ ९ ॥

तो अन्य परिमित शक्ति वाले कवियों की क्या गणना ?

हजारों हजार वाचस्पतियों द्वारा भी यत्नपूर्वक निबद्ध वह जगत् की प्रकृति की भाँति क्षीण नहीं हो सकती ॥ १० ॥

जिस प्रकार जगत् की प्रकृति अतीत कल्पों की परम्परा से विचित्र वस्तुप्रपञ्च को

लोचनम्

इति कारिका । अन्यस्तु ग्रन्थो मध्योपस्कारः ॥ ८ ॥

अत्र तु पादत्रयस्यार्थमनूद्य चतुर्थपादार्थोऽपूर्वतयाभिधीयते । तदित्यादि शक्तीनामित्यन्तं कारिकयोर्मध्योपस्कारः । द्वितीयकारिकायास्तुर्यं पादं व्याचष्टे-यथाहीति ॥ ९-१० ॥

कारिका के अतिरिक्त ग्रन्थ बीच का उपस्कार है ॥ ८ ॥

यहाँ तीन पादों का अर्थ अनुवाद करके चतुर्थ पाद का अर्थ अपूर्व रूप से अभिहित किया गया है । 'तो' से लेकर 'गणना' तक का ग्रन्थ दोनों कारिकाओं के बीच का उपस्कार है । दूसरी कारिका के चतुर्थ पाद की व्याख्या करते हैं—जैसे—॥ ९-१० ॥

ध्वन्यालोकः

सती पुनरिदानीं परिक्षीणा परपदार्थनिर्माणशक्तिरिति न शक्यतेऽभिधातुम्। तद्वदेवेयं काव्यस्थितिरनन्ताभिः कविमतिभिरुपभुक्तापि नेदानीं परिहीयते, प्रत्युत नवनवाभिर्व्युत्पत्तिभिः परिवर्धते। इत्थं स्थितेऽपि—

संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्।

स्थितं ह्येतत् संवादिन्य एव मेधाविनां बुद्धयः। किन्तु—

नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥ ११ ॥

कथमिति चेत्—

संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।

आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥ १२ ॥

आविर्भूत करती है, फिर अब पदार्थों के निर्माण की शक्ति परिक्षीण हो चुकी ऐसा नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार यह काव्यस्थिति अनन्त कविबुद्धियों द्वारा भी होकर इस समय समाप्त नहीं है, बल्कि नई-नई व्युत्पत्तियों से बढ़ती जाती है। इस प्रकार स्थित होने पर भी—

बहुलतया सुमेधा जनों के संवाद हो ही जाते हैं।

क्योंकि यह माना जाता है कि मेधावी लोगों की बुद्धियाँ संवादिनी होती हैं। किन्तु—

विद्वान को उन सबको एक रूप से नहीं मानना चाहिए ॥ ११ ॥

यदि कहो कैसे ? (तो कहते हैं)—

संवाद अन्य का सादृश्य होता है, वह फिर शरीरियों के प्रतिबिम्ब की भांति, चित्र के आकार की भांति और तुल्य शरीरी की भांति रहता है ॥ १२ ॥

लोचनम्

संवादा इति कारिकाया अर्धं, *नैकरूपतयेति* द्वितीयम् ॥ ११ ॥

किमियं राजाज्ञेत्यभिप्रायेणाशङ्कते—*कथमिति चेदिति*। अत्रोत्तरम्—

संवादो ह्यन्यसादृश्यन्तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।

आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥

इत्यनया कारिकया। एषा खण्डीकृत्य वृत्तौ व्याख्याता। शरीरिणामित्य-

'बहुलतया' यह कारिका का अर्धभाग है; 'विद्वान् को' यह दूसरा भाग है ॥ ११ ॥

क्या यह राजाज्ञा है ! इस अभिप्राय से आशङ्का करते हैं—कैसे—। यहाँ उत्तर इस (११वीं) कारिका से है। इसे वृत्ति में खण्ड करके व्याख्यान किया है। और 'शरीरियों के' यह शब्द प्रति वाक्य में देखना चाहिए यह दिखाया है। शरीरी (अन्य

ध्वन्यालोकः

संवादो हि काव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्यवस्तुना सादृश्यम्। तत्पुनः शरीरिणां प्रतिबिम्बवदालेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च त्रिधा व्यवस्थितम्। किञ्चिद्धि काव्यवस्तु वस्त्वन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्बकल्पम्, अन्यदालेख्यप्रख्यम्, अन्यत्तुल्येन शरीरिणा सदृशम्।

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः ॥१३॥

तत्र पूर्वं प्रतिबिम्बकल्पं काव्यवस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना। यतस्तदनन्यात्म तात्त्विकशरीरशून्यम्। तदनन्तरमालेख्यप्रख्यमन्यसाम्यं

(वह) काव्यार्थ का संवाद कहलाता है जो कि अन्य काव्य वस्तु के साथ सादृश्य है। फिर वह (सादृश्य) शरीरियों के प्रतिबिम्ब की भांति, आलेख्य के आकार की भांति और तुल्य शरीरी की भांति तीन प्रकार से व्यवस्थित है। क्योंकि कुछ काव्यवस्तु शरीरी अन्य वस्तु का प्रतिबिम्ब समान होता है, अन्य आलेख्य समान होता है और अन्य तुल्य शरीरी के सदृश होता है।

उनमें पहला अनन्यात्म रूप होता है, उसके बाद का तुच्छात्म होता है, किन्तु तीसरा प्रसिद्धात्म होता है, कवि अन्य के साम्य का त्याग न करे ॥ १३ ॥

उनमें पहला प्रतिबिम्ब समान काव्यवस्तु सुमति के लिए त्याज्य है। क्योंकि वह अनन्यरूप अर्थात् तात्त्विक शरीर से शून्य होता है। उसके बाद का आलेख्य-

लोचनम्

यच्चशब्दः प्रतिवाक्यं द्रष्टव्य इति दर्शितम्। *शरीरिण इति*। पूर्वमेव प्रतिलब्धस्वरूपतया प्रधानभूतस्येत्यर्थः ॥ १२ ॥

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयन्तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यन्त्यजेत्कविः ॥

इति कारिका। अनन्यः पूर्वोपनिबन्धकाव्यादात्मा स्वभावो यस्य तदनन्यात्म येन रूपेण भाति तत्प्राक्कविस्पृष्टमेव, यथा येन रूपेण प्रतिबिम्बं भाति, तेन रूपेण बिम्बमेवैतत्। स्वयन्तु तत्कीदृशमित्यत्राह—*तात्त्विकशरीरशून्य-*

वस्तु) का—। अर्थात् पहले ही स्वरूप प्राप्त कर लेने का कारण प्रधानभूत का ॥१२॥

(१३वीं) कारिका। नहीं अन्य है पूर्व हुए उपनिबन्धन वाले काव्य से आत्मा (रूप) स्वभाव जिसका वह अनन्यात्म है, जिस रूप से प्रतीत होता है वह पहले कवि द्वारा स्पृष्ट ही हुआ है, जैसे जिस रूप से प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है उस रूप से यह बिम्ब ही है। किन्तु वह स्वयं कैसा है इस पर कहा है—तात्त्विक शरीर से शून्य—।

ध्वन्यालोकः

शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम् । तृतीयं तु विभिन्नकमनीयशरीरसद्भावे सति ससंवादमपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना । न हि शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुम् ॥१३॥

एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥१४॥

समान अर्थात् अन्य का साम्य वाला अन्य शरीर से युक्त होकर भी तुच्छरूप होने के कारण त्याज्य है । परन्तु तीसरा विभिन्न प्रकार के कमनीय शरीर के सद्भाव होने पर संवाद युक्त होने पर भी कवि के द्वारा काव्यवस्तु त्याज्य नहीं है । शरीरी अन्य शरीर से सदृश भी होकर 'एक ही है' यह नहीं कहा जा सकता ।

इसी के उपपादनार्थ कहते हैं—

अन्य आत्मा के सद्भाव में अन्य की पूर्व स्थिति का अनुसरण करने वाला भी वस्तु (काव्यार्थ) तन्वी के शशिच्छाय मुख की भांति अधिकतर शोभा देता है ॥ १४ ॥

लोचनम्

मिति । न हि तेन किञ्चिदपूर्वमुत्प्रेक्षितं प्रतिबिम्बमप्येवमेव । एवं प्रकारं व्याख्याय द्वितीयं व्याचष्टे-*तदनन्तरन्त्विति* । द्वितीयमित्यर्थः । अन्येन साम्यं यस्य तत्तथा । *तुच्छात्मेति* । अनुकारे ह्यनुकार्यबुद्धिरेव चित्रपुस्तादाविव न तु सिन्दूरादिबुद्धिः स्फुरति, सापि च न चारुत्वायेति भावः ॥ १३ ॥

एतदेवेति तृतीयस्य रूपस्यात्याज्यत्वम् ।

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ।
वस्तु भातितरान्तन्व्याश्शशिच्छायमिवाननम् ॥

इति कारिका खण्डीकृत्य वृत्तौ पठिता । केषुचित्पुस्तकेषु कारिका

उस (नये कवि) ने कुछ अपूर्व की उत्प्रेक्षा नहीं की, प्रतिबिम्ब भी इसी प्रकार का होता है । इस प्रकार प्रथम प्रकार का व्याख्यान करके दूसरे का व्याख्यान करते हैं—उसके बाद का—। अर्थात् दूसरा । अन्य के साथ साम्य जिसका है वह उस प्रकार । तुच्छात्म—। भाव यह कि चित्रपुस्त आदि की भांति अनुकार में अनुकार्य की बुद्धि ही स्फुरित होती है न कि सिन्दूर आदि की बुद्धि । और वह भी चारुत्व के लिए नहीं होती ॥ १३ ॥

'इसी के'—तृतीय रूप का यही अत्याज्यत्व है । (१४वीं) कारिका खण्ड करके

ध्वन्यालोकः

तत्त्वस्य सारभूतस्यात्मनः सद्भावेऽन्यस्य पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि वस्तु भातितराम् । पुराणरमणीयच्छायानुगृहीतं हि वस्तु शरीरवत्परां शोभां पुष्यति । न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते । तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ।

एवं तावत्ससंवादानां समुदायरूपाणां वाक्यार्थानां विभक्ताः सीमानः । पदार्थरूपाणां च वस्त्वन्तरसदृशानां काव्यवस्तूनां नास्त्येव दोष इति प्रतिपादयितुमुच्यते—

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी ।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥ १५॥

तत्त्व अर्थात् सारभूत आत्मा के सद्भाव में अन्य की पूर्व स्थिति का अनुसरण करने वाला भी वस्तु अधिकतर शोभा देता है। पुरानी रमणीय छाया से अनुगृहीत वस्तु शरीर की भांति अधिक शोभा को बढ़ाती है। न कि पुनरुक्त रूप से अवभासित होती है। तन्वी के शशिच्छाय मुख की भांति।

इस प्रकार ससंवाद समुदायरूप वाक्यार्थों की सीमाएँ विभक्त हैं। और पदार्थरूप वस्त्वन्तरसदृश काव्यवस्तुओं का दोष नहीं है यह प्रतिपादनार्थ कहते हैं—

अक्षरादि की रचना की भांति जहाँ पुरानी वस्तुरचना की जाती है, नूतन काव्यवस्तु के स्फुरित होने पर स्पष्ट ही वह दूषित नहीं होती है ॥ १५ ॥

लोचनम्

अखण्डीकृता एव दृश्यन्ते। आत्मन इत्यस्य शब्दस्य पूर्वपठिताभ्यामेव तत्त्वस्य सारभूतस्येति च पदाभ्यामर्थो निरूपितः ॥ १४ ॥

ससंवादानामिति पाठः। संवादानामिति तु पाठे वाक्यार्थरूपाणां समुदायानां ये संवादाः तेषामिति वैयधिकरण्येन संगतिः। वस्तुशब्देन एको वा द्वौ वा त्रयो वा चतुरादयो वा पदानामर्थाः। *तानि त्विति*। अक्षराणि च पदानि च। *तान्येवेति*। तेनैव रूपेण युक्तानि मनागप्यन्यरूपतामनागतानीत्यर्थः।

वृत्ति में पढ़ी है। किन्हीं पुस्तकों में कारिकाएँ अखण्डीकृत ही देखी जाती हैं। 'आत्मा' इस शब्द के पहले ही पठित 'तत्त्व' और 'सारभूत' इन पदों से अर्थ-निरूपण किया है ॥ १४ ॥

'ससंवाद' यह पाठ है। 'संवाद' इस पाठ में तो 'वाक्यार्थरूप समुदायों के जो संवाद हैं उनकी' यह वैयधिकरण्य से संगति होगी। 'वस्तु' शब्द से एक अथवा दो अथवा तीन अथवा चार आदि पदार्थ (विवक्षित हैं)। वे—। अक्षर और पद। वे ही—। उसी रूप से युक्त अर्थात् थोड़ी भी अन्य रूपता को न प्राप्त हुई। इस प्रकार

ध्वन्यालोकः

न हि वाचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानिचिदपूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते। तानि तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति। तथैव पदार्थरूपाणि श्लेषादिमयान्यर्थतत्त्वानि।

तस्मात्–

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्-
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते।

वाचस्पति भी कुछ अपूर्व अक्षरों अथवा पदों को बना नहीं सकते। वे तो वे ही उपनिबद्ध होकर काव्य आदि में नवीनता का विरोध नहीं करते। उसी प्रकार पदार्थ रूप श्लेषादिभव अर्थतत्त्व भी। इसलिए जहाँ लोगों की 'यह नई सूझ (स्फुरण) है' यह बुद्धि उत्पन्न होती है वह जो भी हैं 'रम्य' (कहलाता) है।

यह कोई (अपूर्व) स्फुरण है यह सहृदयों के चमत्कार उत्पन्न होता है।

लोचनम्

एवमक्षरादिरचनैवेति दृष्टान्तभागं व्याख्याय दार्ष्टान्तिके योजयति—*तथैवेति*। श्लेषादिमयानीति। श्लेषादिस्वभावानीत्यर्थः। सद्वृत्ततेजस्विगुणद्विजादयो हि शब्दाः पूर्वपूर्वैरपि कविसहस्रैः श्लेषच्छायया निबध्यन्ते, निबद्धाश्चन्द्रादयश्चोपमानत्वेन। तथैव पदार्थरूपाणीत्यत्र नापूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते इत्यादि विरुध्यन्तीत्येवमन्तं प्राक्तनं वाक्यमभिसन्धानीयम्॥ १५॥

'लोकस्ये'ति व्याचष्टे—*सहृदयानामिति*। चमत्कृतिरिति। आस्वादप्रधाना बुद्धिरित्यर्थः। 'अभ्युज्जिहीत' इति व्याचष्टे—*उत्पद्यत इति*। उदेतीत्यर्थः। बुद्धेरेवाकारं दर्शयति—*स्फुरणेयं काचिदिति*।

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।

'अक्षर आदि की रचना की भांति' इस दृष्टान्त भाग की व्याख्या करके दार्ष्टान्तिक में लगाते हैं—उसी प्रकार—। श्लेषादिमय—। अर्थात् श्लेष आदि के स्वभाव वाले। 'सवृत्त' 'तेजस्वी' 'गुण' 'द्विज' आदि शब्दों को पहले के हजारों कवियों ने श्लेष की छाया से निबन्धन किया है, और चन्द्र आदि को उपमान रूप से निबन्धन किया है। उसी प्रकार 'पदार्थ रूप' इसमें 'अपूर्व की घटना नहीं की जा सकती 'विरोध नहीं करते' इत्यादि पूर्व वाक्यों को लगा लेना चाहिए।

'लोगों की' इसकी व्याख्या करते हैं—सहृदयों के—। चमत्कार—। अर्थात् आस्वाद प्रधान बुद्धि। ('अभ्युज्जिहीते') इसकी व्याख्या करते हैं—उत्पन्न होता है—। अर्थात्

ध्वन्यालोकः

अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति ॥ १६ ॥

तदनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक् तादृक्षं सुकविर्विवक्षितव्यङ्ग्यवाच्यार्थसमर्पणसमर्थशब्दरचनारूपया बन्धच्छाययोपनिबध्नन्निन्द्यतां नैव याति । तदित्थं स्थितम्—

प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा
न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये ।

सन्ति नवाः काव्यार्थाः परोपनिबद्धार्थविरचने न कश्चित्कवेर्गुण इति भावयित्वा ।

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः

पूर्व की छाया से अनुगत भी वस्तु को उस प्रकार सुकवि उपनिबन्धन करता हुआ निन्दा का पात्र नहीं बनता ॥ १६ ॥

वह पूर्व की छाया से अनुगत भी वस्तु को उस प्रकार सुकवि विवक्षितव्यङ्ग्य और वाच्य अर्थ के समर्पण में समर्थ शब्द की रचना रूप बन्धच्छाया से उपनिबन्धन करता हुआ सुकवि निन्दा का पात्र नहीं बनता ।

तो ऐसा ठहरा—

(कवि लोग) अमृत रस के तुल्य विविध अर्थोंवाली वाणियों का प्रसार करें, कवियों को अनवद्य अपने विषय के प्रति विषाद नहीं करना चाहिए ।

नये अर्थ हैं, दूसरे द्वारा उपनिबद्ध अर्थ की रचना में कवि का कोई गुण नहीं यह सोच कर ।

दूसरे के स्व (विषय) के ग्रहण से विरत मन वाले सुकवि के यह सरस्वती

लोचनम्

अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयति ॥

इति कारिका खण्डीकृत्य पठिता ॥ १६ ॥

स्वविषय इति । स्वयन्तात्कालिकत्वेनास्फुरित इत्यर्थः । परस्वादानेच्छेत्यादि-द्वितीयं श्लोकार्धं पूर्वोपस्कारेण सह पठति—परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु

उदित होता है। बुद्धि का ही आकार दिखाते हैं—'कोई (अपूर्व) स्फुरण'—। (१६वीं) कारिका को खण्ड करके पढ़ा है ।

अपने विषय के प्रति—। अर्थात् स्वयं तात्कालिक रूप से स्फुरित न हुए । 'परस्वादानेच्छा' इत्यादि द्वितीय श्लोकार्ध को पहले उपस्कार के साथ पढ़ते हैं—

ध्वन्यालोकः

सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥ १७ ॥

परस्वादानेच्छाविरतमनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु । येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थपरिग्रहनिःस्पृहाणां स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते । सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविर्भावयति । एतदेव हि महाकवित्वं महाकवीनामित्योम् ।

इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालङ्कारशोभाभृतो

भगवती ही यथेष्ट वस्तु को घटित करती है ॥ १७ ॥

दूसरे के स्व (विषय) के ग्रहण से विरत मन वाले सुकवि के यह भगवती सरस्वती यथेष्ट वस्तु घटित कर देती है । जिन सुकवियों की प्रवृत्ति पूर्व जन्म के पुण्य और अभ्यास के परिपाक के कारण होती है । दूसरों द्वारा रचित अर्थ के ग्रहण में निःस्पृह सुकवियों को अपना व्यापार कहीं नहीं करना पड़ता । वही भगवती स्वयं अभिमत अर्थ को आविर्भूत करती है । यही महाकवियों का महाकवित्व है । ओम् ।

इस प्रकार अक्लिष्ट, रसके आश्रय से उचित गुण और अलङ्कार की शोभा वाले

लोचनम्

सुकवेरिति तृतीयः पादः । कुतः खल्वपूर्वमानयामीत्याशयेन निरुद्योगः परोपनिबद्धवस्तूपजीवको वा स्याहित्याशङ्क्याह—*सरस्वत्येवेति* । कारिकायां सुकवेरिति जातावेकवचनमित्यभिप्रायेण व्याचष्टे—*सुकवीनामिति* । एतदेव स्पष्टयति—*प्राक्तनेत्यादि न तेषामित्यन्तेन* । *आविर्भावयतीति* । नूतनमेव सृजतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

इतीति । कारिकातद्वृत्तिनिरूपणप्रकारेणेत्यर्थः । अक्लिष्टा रसाश्रयेण उचिता ये गुणालङ्कारास्ततो या शोभा तां बिभर्ति काव्यम् । उद्यानमप्यक्लिष्टः

'परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः' यह तृतीय पाद है । 'अपूर्व (वस्तु) को कहाँ से लाऊँ ?' इस आशय से निरुद्योग होकर दूसरों द्वारा उपनिबद्ध वस्तु का उपजीवक होगा, यह आशङ्का करके कहते हैं—सरस्वती—। कारिका में 'सुकवि' यह जाति में एकवचन है, इस अभिप्राय से व्याख्या करते हैं—सुकवियों की । इसे ही स्पष्ट करते हैं—पूर्वजन्म से लेकर उन (सुकवियों) को तक द्वारा । आविर्भूत करता है—अर्थात् नूतन ही सृजन करता है ॥ १७ ॥

इस प्रकार—। अर्थात् कारिका और उसकी वृत्ति के निरूपण के प्रकार से । अक्लिष्ट, रस के आश्रय से उचित जो गुण-अलङ्कार उससे जो शोभा उसे धारण करता है काव्य । उद्यान भी अक्लिष्ट, कालोचित सेकादिकृत जो रस उसका आश्रय अर्थात् तत्कृत

ध्वन्यालोकः

यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते ।
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ॥

जिस (काव्य नामक उद्यान) से सुकृती लोग समस्त सभी वस्तु को प्राप्त करते हैं, अखिल सौख्य के धाम काव्य नामक विबुधोद्यान में कल्पतरु की भांति महिमा वाला वह यह ध्वनि दिखाया गया सौभाग्यशाली लोगों का भोग्य बने ।

लोचनम्

कालोचितो यो रसः सेकादिकृतः तदाश्रयस्तत्कृतो यो गुणानां सौकुमार्यच्छायावत्त्वसौगन्ध्यप्रभृतीनामलङ्कारः पर्याप्तताकारणं तेन च या शोभा तां बिभर्ति । *यस्मादिति* काव्याख्यादुद्यानात् । *सर्वं समीहितमिति* । व्युत्पत्तिकीर्तिप्रीतिलक्षणमित्यर्थः । एतच्च सर्वं पूर्वमेव वितत्योक्तमिति श्लोकार्थमात्रं व्याख्यातम् । *सुकृतिभिरिति* । ये कष्टोपदेशेनापि विना तथाविधफलभाजः तैरित्यर्थः । *अखिलसौख्यधाम्नीति* । अखिलं दुःखलेशेनाप्यननुविद्धं यत्सौख्यं तस्य धाम्नि एकायतन इत्यर्थः । सर्वथा प्रियं सर्वथा च हितं दुर्लभं जगतीति भावः । विबुधोद्यानं नन्दनम् । सुकृतीनां कृतज्योतिष्टोमादीनामेव समीहितासादननिमित्तम् । विबुधाश्च काव्यतत्त्वविदः । *दर्शित इति* । स्थित एव सन् प्रकाशितः, अप्रकाशितस्य हि कथं भोग्यत्वम् । कल्पतरुणा उपमानं यस्य तादृङ्महिमा यस्येति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः । सर्वसमीहितप्राप्तिर्हि काव्ये तदेकायत्ता । एतच्चोक्तं विस्तरतः ॥

जो सौकुमार्य, छायावत्त्व, सौगन्ध्य प्रभृति गुणों का (जो) अलङ्कार अर्थात् पर्याप्तता का कारण उससे जो शोभा उसे धारण करता है । जिससे अर्थात् काव्य नामक उद्यान से । समस्त समीहित—। अर्थात् व्युत्पत्ति, कीर्ति, प्रीति रूप । यह सब पहले ही विस्तार करके कह चुके हैं इसलिए श्लोक अर्थमात्र का व्याख्यान किया है । सुकृती लोग—। अर्थात् जो कष्टकर उपदेश के बिना भी उस प्रकार के फल प्राप्त कर चुके हैं वे । अखिल सौख्य के धाम—। अर्थात् अखिल, दुःखलेश से भी जो अननुविद्ध सौख्य है उसके धाम अर्थात् एक आयतन । भाव यह कि जगत् में सर्वथा प्रिय और सर्वथा हित दुर्लभ है । विबुधोद्यान अर्थात् नन्दन । सुकृती अर्थात् ज्योतिष्टोम आदि किए हुए लोगों का ही समीहित के आसादन का निमित्त । और विबुध अर्थात् काव्यतत्त्वविद् लोग । दिखाया गया है—। स्थित होता हुआ ही प्रकाशित है, क्योंकि अप्रकाशित भोग्य कैसे हो सकता है ? कल्पतरु से उपमान है जिसका, उस प्रकार की महिमा है जिसकी यह बहुव्रीहिगर्भ बहुव्रीहि है । काव्य में सभी समीहितों की प्राप्ति एकमात्र उस (ध्वनि) के अधीन है । और इसे विस्तारपूर्वक कह चुके हैं ।

ध्वन्यालोकः

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत् ।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतो-
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः ॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके
चतुर्थ उद्द्योतः ।

सत्काव्य के तत्त्व का नीतिमार्ग जो परिपक्व बुद्धि वालों के मन में चिरप्रसुप्तकल्प था उसे 'आनन्दवर्धन' इस प्रथित अभिधान वाले ने सहृदयजनों के उदयलाभ के लिए व्याख्यान किया।

श्रीराजानक आनन्दवर्धनाचार्य विरचित ध्वन्यालोक में
चतुर्थ उद्योत समाप्त हुआ।

लोचनम्

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्म चिरप्रसुप्त-
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत् ।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोः

इति सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनोपसंहारः । इह बाहुल्येन लोको लोकप्रसिद्ध्या सम्भावनाप्रत्ययबलेन प्रवर्तते । स च सम्भावनाप्रत्ययो नामश्रवणवशात्प्रसिद्धान्यतदीयसमाचारकवित्वविद्वत्तादिसमनुस्मरणेन भवति । तथाहि—भर्तृहरिणेदं कृतम्—यस्यायमौदार्यमहिमा यस्यास्मिञ्छास्त्रे एवंविधस्सारो दृश्यते

(अन्तिम श्लोक के तीन पादों में) (ध्वनिस्वरूप और इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव) सम्बन्ध, अभिधेय (ध्वनिस्वरूप) और प्रयोजन (ध्वनिस्वरूप के ज्ञान से प्रीति) का उपसंहार है। यहाँ लोग बहुलतया लोकप्रसिद्धि द्वारा सम्भावना-प्रत्यय के बल से (अर्थात् लोगों में ख्याति देखकर गौरव की भावना के बल से) प्रवृत्त होते हैं। और सम्भावनाप्रत्यय नाम सुनने के कारण उसके अन्य प्रसिद्ध समाचार, कवित्व और विद्वत्ता आदि के सम्यक् अनुस्मरण से होता है। जैसा कि—'भर्तृहरि ने इसे रचा है', जिसकी यह औदार्यमहिमा है, जिसके इस शास्त्र में इस प्रकार का सार

लोचनम्

तस्यायं श्लोकप्रबन्धस्तस्मादादरणीयमेतदिति लोकः प्रवर्तमानो दृश्यते। लोकश्चावश्यं प्रवर्तनीयः तच्छास्त्रोदितप्रयोजनसम्पत्तये। तदनुग्राह्यश्रोतृजनप्रवर्तनाङ्गत्वाद् ग्रन्थकाराः स्वनामनिबन्धनं कुर्वन्ति, तदभिप्रायेणाह—*आनन्दवर्धन इति।* प्रथितशब्देनैतदेव प्रथितं यत्तु तदेव नामश्रवणं केषाञ्चिन्निवृत्तिं करोति, तन्मात्सर्यविजृम्भितं नात्र गणनीयम्, निश्रेयसप्रयोजनादेव हि श्रुतात्कोऽपि रागान्धो यदि निवर्तते किमेतावता प्रयोजनमप्रयोजनमप्यवश्यं वक्तव्यमेव स्यात्। तस्मादर्थिनां प्रवृत्त्यङ्गन्नाम प्रसिद्धम्।

स्फुटीकृतार्थवैचित्र्यबहिःप्रसरदायिनीम् ॥
तुर्यां शक्तिमहं वन्दे प्रत्यक्षार्थनिदर्शिनीम् ॥

आनन्दवर्धनविवेकविकासिकाव्या-
लोकार्थतत्त्वघटनादनुमेयसारम्।
यत्प्रोन्मिषत्सकलसद्विषयप्रकाशि-
व्यापार्यताभिनवगुप्तविलोचनं तत् ॥

श्रीसिद्धिचेलचरणाब्जपरागपूत-
भट्टेन्दुराजमतिसंस्कृतबुद्धिलेशः।

देखा जाता है उसका यह श्लोकप्रबन्ध है इसलिए यह आदरणीय है इस प्रकार लोग प्रवृत्त होते हुए देखे जाते हैं। और लोगों को उस शास्त्र में उक्त प्रयोजन की सम्प्राप्ति के लिए अवश्य प्रवृत्त करना चाहिए, इसलिए अनुग्राह्य श्रोताजनों के प्रवर्तन के अङ्ग होने के कारण ग्रन्थकार अपने नाम का निबन्धन करते हैं, उस अभिप्राय से कहते हैं—आनन्द-वर्धन—। 'प्रथित' शब्द से यही प्रकाशित किया है कि जो कि वही नाम श्रवण कुछ जनों को (प्रवृत्त करने के बजाय) निवृत्त करता है, वह मात्सर्य से विजृम्भित होने के कारण गणनीय नहीं है, क्योंकि यदि कोई रागान्ध व्यक्ति निःश्रेयस रूप प्रयोजन को सुनकर ही निवृत्त हो जाता है तो इससे क्या, प्रयोजन से अथवा अप्रयोजन, अवश्य ही कहना चाहिए। इसलिए नाम अर्थिजनों की प्रवृत्ति का अङ्ग है।

स्पष्ट किए हुए अर्थ-वैचित्र्य को बाहर प्रसार देने वाली, प्रत्यक्ष अर्थ का निदर्शन करने वाली तुर्या (वैखरी) शक्ति की मैं वन्दना करता हूँ।

आनन्दवर्धन के विवेक से प्रकाशित काव्यालोक के अर्थतत्त्वों को लगाने से अनुमेय रूप सार वाला जो (सहृदयों के हृदय में) प्रकाशमान सारे सद्विषयों को प्रकाशित करने वाला है वह अभिनवगुप्त का विशिष्ट 'लोचन' व्यापारित हुआ।

श्रीसिद्धिचेल (नामक गुरु) के चरणकमल के पराग से पवित्र भट्ट इन्दुराज की

लोचनम्

वाक्यप्रमाणपदवेदिगुरुः प्रबन्ध-
सेवारसो व्यरचयदध्वनि वस्तुवृत्तिम् ॥

सज्जनान् कविरसौ न याचते ह्लादनाय शशभृत्किमर्थितः।
नैव निन्दति खलान्मुहुर्मुहुर्धिक्कृतोऽपि न हि शीतलोऽनलः ॥
वस्तुतश्शिवमये हृदि स्फुटं सर्वतश्शिवमयं विराजते।
नाशिवं कचन कस्यचिद्वचस्तेन वश्शिवमयी दशा भवेत् ॥

इति महामाहेश्वराभिनवगुप्तविरचिते काव्यालोकलोचने
चतुर्थ उद्योतः।

मति से संस्कृत बुद्धिलेश वाले, वाक्य (मीमांसा), प्रमाण (न्याय) और पद (व्याकरण) को जानने वालों में श्रेष्ठ, प्रबन्ध सेवा में रस लेने वाले (अभिनवगुप्त ने) (ध्वनि के) मार्ग में (लोचन रूप) वस्तु वृत्ति की रचना की।

यह कवि सज्जनों से (अपने ग्रन्थ के अवलोचनार्थ) याचना नहीं करता, क्या प्रसन्न करने के लिए चन्द्रमा से प्रार्थना की जाती है? और (यह कवि) खलों की बार-बार निन्दा नहीं करता, (क्योंकि खल जनों द्वारा) तिरस्कार का पात्र बनकर भी अग्नि शीतल नहीं होता।

वास्तव में शिवमय हृदय में सर्वत्र स्पष्ट रूप से शिवमय तत्त्व विराजमान है कहीं किसी का वचन अशिव नहीं है इसलिए आप लोगों की स्थिति शिवमयी हो।

महामाहेश्वर अभिनवगुप्त द्वारा विरचित काव्यालोक लोचन में
चतुर्थ उद्योत समाप्त हुआ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः।

परिशिष्ट

ध्वनिकारिकार्धसूची

वृत्तिग्रन्थ-पद्यसूची

'लोचन' में उद्धृत उदाहरणपद्यों एवं वाक्यों की सूची

'ध्वन्यालोक' में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

'लोचन' व्याख्यान में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार